मूल्य
ढाई रुपये

मुद्रक
पूर्णिमा मुद्रणालय
प्रयाग

प्रकाशकीय

हिन्दुओ की समाज-व्यवस्था और उनके व्यक्तिगत एव सामाजिक जीवन के प्राय प्रत्येक क्षेत्र—जन्म-मरण, शिक्षा, विवाह, व्यवसाय, नीति, शासन, खान-पान, जात-पाँत, शौचाशौच आदि—मे धर्म का प्राधान्य है। धर्म का जितना व्यापक अर्थ और जितना विस्तृत क्षेत्र हिन्दुओ मे पाया जाता है, उतना ससार के किसी अन्य समाज, जाति या धर्मानुयायियों मे नही पाया जाता। इस दृष्टि से उसके स्वरूप की ठीक-ठीक व्याख्या करना और विविध धर्मग्रन्थों के आधार पर उसके नियमो, सिद्धान्तो आदि का विवेचन करते हुए धर्मशास्त्र के इतिहास की रूपरेखा प्रस्तुत करना बहुत ही कठिन काम है। वेदो से लेकर उपनिषदो, पुराणो, स्मृतियो, रामायण-महाभारत आदि मे इतनी प्रचुर सामग्री उपलब्ध है कि उसके सुचारु रूप मे अध्ययन, सकलन, सम्पादन आदि का भगीरथ प्रयत्न विलक्षण योग्यता वाले विद्वान् के ही बूते की चीज थी। महाराष्ट्र के धुरधर धर्मशास्त्रज्ञ श्री पाण्डुरग वामन काणे ऐसे ही अद्वितीय विद्वान् हैं जिन्होंने इस महासमुद्र का मन्थन कर धम का सारतत्त्व इन पृष्ठो मे 'गागर मे सागर' की तरह भर देने का स्तुत्य प्रयास किया है। अग्रेजी मे उनका यह विशाल ग्रन्थ छ जिल्दो मे समाप्त हुआ है। हिन्दी के पाठको के लाभार्थ उसके बहु-लाश का अनुवाद हिन्दी समिति द्वारा क्रमश प्रकाशित किया जा रहा है। प्रथम भाग के अनन्तर यह द्वितीय भाग भी आपके सामने है। इसमे ग्रन्थ के महत्त्वपूर्ण स्थल—राजधर्म, व्यवहार (न्याय-विधि), सदाचार, कलिवर्ज्य जैसे वैधानिक परिवर्तन आदि—का विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इसका अन्तिम शेषाश भी यथाशीघ्र प्रकाशित किया जायगा, जिसमे परिशिष्ट, अनुक्रमणिका आदि समाविष्ट किये जायँगे।

सुरेन्द्र तिवारी
सचिव, हिन्दी समिति

विषय-सूची

तृतीय खण्ड

उद्धरण-संकेत

अग्नि०=अग्निपुराण
अ० वे० या अथर्व०=अथर्ववेद
अनु० या अनुशासन०=अनुशासन पर्व
अन्त्येष्टि०=नारायण की अन्त्येष्टिपद्धति
अ० क० दी०=अन्त्यकर्मदीपक
अर्थशास्त्र, कौटिल्य०=कौटिलीय अर्थशास्त्र
आ० गृ० सू० या आपस्तम्बगृ०=आपस्तम्बगृह्यसूत्र
आ० घ० सू० या आपस्तम्बघम०=आपस्तम्बधर्मसूत्र
आप० म० पा० या आपस्तम्बम०=आपस्तम्बमन्त्रपाठ
आ० श्रौ० सू० या आपस्तम्बश्रौ०=आपस्तम्बश्रौतसूत्र
आश्व० गृ० सू० या आश्वलायनगृ०=आश्वलायनगृह्यसूत्र
आश्व० गृ० प० या आश्वलायन गृ० प०=आश्वलायन-गृह्यपरिशिष्ट
ऋ० या ऋग्०=ऋग्वेद, ऋग्वेदसंहिता
ऐ० आ० या ऐतरेय आ०=ऐतरेयारण्यक
ऐ० ब्रा० या ऐतरेय ब्रा०=ऐतरेय ब्राह्मण
क० उ० या कठोप०=कठोपनिषद्
कलिवर्ज्य०=कलिवर्ज्यविनिर्णय
कल्प० या कल्पतरु, कृ० क०=लक्ष्मीधर का कृत्यकल्पतरु
कात्या० स्मृ० मा०=कात्यायन स्मृतिसारोद्धार
का० श्रौ० सू० या कात्यायनश्रौ०=कात्यायनश्रौतसूत्र
काम० या कामन्दक=कामन्दकीय नीतिसार
कौ० या कौटिल्य० या कौटिलीय०=कौटिलीय अर्थशास्त्र
कौ०=कौटिल्य का अर्थशास्त्र (डॉ० शाम शास्त्री का संस्करण)
कौ० ब्रा० उप० या कौषीतकिब्रा०=कौषीतकिब्राह्मण-उपनिषद्
गं० भ० या गंगाभ० या गंगाभक्ति=गंगाभक्तितरंगिणी
गंगावा० या गंगावाक्या०=गंगावाक्यावली
गरुड०=गरुडपुराण
गृ० र० या गृहस्थ०=गृहस्थरत्नाकर
गौ० या गौ० ध० सू० या गौतमधर्म०=गौतमधर्मसूत्र
गौ० पि० सू० या गौतमपि०=गौतमपितृमेधसूत्र
चतुर्वर्ग०=हेमाद्रि की चतुर्वर्गचिन्तामणि या केवल हेमाद्रि
छा० उप० या छान्दोग्य-उप०=छान्दोग्योपनिषद्
जीमूत०=जीमूतवाहन
जै० या जैमिनि०=जैमिनिपूर्वमीमांसासूत्र
जै० उप०=जैमिनीयोपनिषद्
जै० न्या० मा०=जैमिनीयन्यायमालाविस्तर
ताण्ड्य०=ताण्ड्यमहाब्राह्मण
ती० क० या ती० कल्प०=तीर्थकल्पतरु
तीर्थ प्र० या ती०प्र०=तीर्थप्रकाश
ती० चि० या तीर्थचि०=वाचस्पति की सेतीर्थचिन्तामणि
तै० आ० या तैत्तिरीया०=तैत्तिरीयारण्यक
तै० उ० या तैत्तिरीयोप०=तैत्तिरीयोपनिषद्
तै० ब्रा०=तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै० सं०=तैत्तिरीयसंहिता
त्रिस्थली० या त्रि० से०=भट्टोजि का त्रिस्थलीसेतुसारसंग्रह
त्रिस्थली०=नारायण भट्ट का त्रिस्थलीसेतु
नारद० या ना० स्मृ०=नारदस्मृति
नारदीय० या नारद०=नारदीयपुराण
नीतिवा० या नीतिवाक्या०=नीतिवाक्यामृत
निर्णय० या नि० सि०=निर्णयसिन्धु
पद्म०=पद्मपुराण
परा० मा०=पराशरमाधवीय
पाणिनि या पा०=पाणिनि की अष्टाध्यायी
पार० गृ० या पारस्करगृ०=पारस्करगृह्यसूत्र
पू० मी० सू० या पूर्वमी०=पूर्वमीमांसासूत्र
प्रा० त० या प्राय० तत्त्व०=प्रायश्चित्ततत्त्व

प्रा प्र प्राय प्र या प्रायश्चित्तप्र —प्रायश्चित्तप्रकरण
प्राय प्रका या प्रा प्रकाश—प्रायश्चित्तप्रकाश
प्राय वि प्रा वि या प्रायश्चित्तवि —प्रायश्चित्त विवेक
प्रा म या प्राय म —प्रायश्चित्तमयूख
प्रा सा या प्राय सा —प्रायश्चित्तसार
ब पु —[illegible]
बृ या बृहस्पति —बृहस्पतिस्मृति
बृ उ या बृह उप —बृहदारण्यकोपनिषद्
बृ स या बृहत्स —बृहत्संहिता
बौ गृ सू या बौधायनगृ —बौधायनगृह्यसूत्र
बौ ध सू या बौधा ध या बौधायनधर्म—बौधायन धर्मसूत्र
बौ श्रौ सू या बौधा श्रौ सू —बौधायनश्रौतसूत्र
ब्र ब्रह्म या ब्रह्म —ब्रह्मपुराण
ब्रह्माण्ड ब्रह्माण्डपुराण
भवि पु या भविष्य —भविष्यपुराण
मत्स्य —मत्स्यपुराण
म पा या मद पा —मदनपारिजात
मनु या मनु —मनुस्मृति
मानव या मानवगृह्य —मानवगृह्यसूत्र
मिता मिताक्षरा (विज्ञानेश्वर कृत याज्ञवल्क्यस्मृति-टीका)
मी कौ या मीमांसाकौ —मीमांसाकौस्तुभ (खण्डदेव)
मेधा या मेधातिथि—मनुस्मृति पर मेधातिथि की टीका या मनुस्मृति के टीकाकार मेधातिथि
मैत्री-उप मैत्र्युपनिषद्
मै स या मैत्रायणी—मैत्रायणी संहिता
य ध स या यतिधर्म —यतिधर्मसंग्रह
या याज्ञ या याज्ञ याज्ञवल्क्यस्मृति
राज रघुनाथ की राजतरंगिणी
रा ध कौ या राज कौ —राजधर्मकौस्तुभ
रा नी प्र या राजनी प्र मित्र मिश्र का राजनीति प्रकाश
राज र या राजनीतिर —चण्डेश्वर का राजनीति-रत्नाकर
वाज सं या वाजसनेयी स —वाजसनेयी संहिता
वायु —वायुपुराण
वि चि या विवादचि —वाचस्पति मिश्र की विवाद-चिन्तामणि
वि र या विवादर —विवादरत्नाकर
विश्व या विश्वरूप—याज्ञवल्क्यस्मृति की विश्वरूपकृत टीका
विष्णु —विष्णुपुराण
विष्णु या वि ध सू —विष्णुधर्मसूत्र
वी मि —वीरमित्रोदय
वै स्मा या वैखानस —वैखानसस्मार्तसूत्र
व्यव त या व्यवहार —रघुनन्दन का व्यवहारतत्त्व
व्य नि या व्यवहारनि —व्यवहारनिर्णय
व्य प्र या व्यवहारप्र —मित्र मिश्र का व्यवहारप्रकाश
व्य म या व्यवहारम —नीलकण्ठ का व्यवहारमयूख
व्य मा या व्यवहारमा —जीमूतवाहन की व्यवहार मातृका
व्यव सा —व्यवहारसार
श ब्रा या शतपथब्रा —शतपथब्राह्मण
शातातप—शातातपस्मृति
शा गृ या शांखायनगृ —शांखायनगृह्यसूत्र
शा ब्रा या शांखायनब्रा —शांखायनब्राह्मण
शा श्री सू या शांखायनश्रौ —शांखायनश्रौतसूत्र
शान्ति —शान्तिपर्व
शुक्र या शुक्रनीति —शुक्रनीतिसार
शु कौ या शुद्धिकौ —शुद्धिकौमुदी
शु क या शुद्धिकल्प —शुद्धिकल्पतरु (शुद्धि पर)
शु प्र या शुद्धिप्र —शुद्धिप्रकाश
शूद्रक —[illegible]
श्रा क ल या श्राद्धकल्प —श्राद्धकल्पलता
श्रा क्रि कौ या श्राद्धक्रिया —श्राद्धक्रिया कौमुदी

श्रा० प्र० या श्राद्धप्र०=श्राद्धप्रकाश
श्रा० वि० या श्राद्धवि०=श्राद्धविवेक
स० श्रौ० सू० या सत्या० श्रौ०=सत्यापाढश्रौतसूत्र
स० वि० या सरस्वतीवि०=सरस्वतीविलास
सा० ब्रा० या साम० ब्रा०=सामविधान ब्राह्मण
स्कन्द या स्कन्दपु०=स्कन्दपुराण
स्मृ० च० या स्मृतिच०=स्मृतिचन्द्रिका
स्मृ० मु० या स्मृतिमु०=स्मृतिमुक्ताफल
स० कौ० या सस्कारकौ०=पस्कारकौस्तुभ
स० प्र०=सस्कारप्रकाश
स० र० मा० या सस्काररं०=पस्काररत्नमाला
हि० गृ० या हिरण्य० गृ०=हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र

इग्लिश नामो के संकेत

A G =ए० जि० (एश्येण्ट जियॉग्रफी आव इण्डिया)
Ain A =आइने अकबरी (अबुल फजल कृत)
A I R =आल इण्डिया रिपोर्टर
A S R =आर्क्यालॉजिकल सर्वेरिपोर्ट्स
A S W I =आर्क्यालॉजिकल सर्वे आव वेस्टर्न इण्डिया
B B R A S =बाम्बे ब्राच, रॉयल एशियाटिक सोसाइटी
B O R I =भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इस्टीट्यूट, पूना
C I I =कार्पस इस्क्रिप्शस इण्डिकेरम्
E I =एपिग्रैफिया इण्डिका (एपि० इण्डि०)
I A =इण्डियन एण्टिक्वेरी (इण्डि० ऐण्टि०)
I H Q =इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वाटरली
J A O S =जर्नल आव दि अमेरिकन ओरिएण्टल सोसाइटी
J A S B =जर्नल आव दि एशियाटिक सोसाइटी आव बेंगाल
J B O R S =जर्नल आव दि बिहार एण्ड उडीसा रिसर्च सोसाइटी
J R A S =जर्नल आव दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी (लन्दन)
S B E =सैक्रेड बुक आव दि ईस्ट (मैक्समूलर द्वारा सपादित)

३००—६०० (ई० उ०)	कुछ विद्यमान पुराण, यथा—वायु०, विष्णु०, मार्कण्डेय०, मत्स्य०, कूर्म०।
४००—६०० (ई० उ०)	कात्यायनस्मृति (अभी तक प्राप्त नही हो सकी है)।
५००—५५० (ई० उ०)	वराहमिहिर, पचसिद्धान्तिका, बृहत्सहिता, बृहज्जातक आदि के लेखक।
६००—६५० (ई० उ०)	कादम्बरी एव हर्षचरित के लेखक बाण।
६५०—६६५ (ई० उ०)	पाणिनि की अष्टाध्यायी पर 'काशिका'-व्याख्याकार वामन—जयादित्य।
६५०—७०० (ई० उ०)	कुमारिल का तन्त्रवार्तिक।
६००—९०० (ई० उ०)	अधिकाश स्मृतियाँ, यथा—पराशर, शख, देवल तथा कुछ पुराण, यथा—अग्नि०, गरुड०।
७८८—८२० (ई० उ०)	महान् अद्वैतवादी दार्शनिक शकराचार्य।
८००—८५० (ई० उ०)	याज्ञवल्क्यस्मृति के टीकाकार विश्वरूप।
८०५—९०० (ई० उ०)	मनुस्मृति के टीकाकार मेधातिथि।
९६६ (ई० उ०)	वराहमिहिर के बृहज्जातक के टीकाकार उत्पल।
१०००—१०५० (ई० उ०)	बहुत से ग्रन्थो के लेखक धारेश्वर भोज।
१०८०—११०० (ई० उ०)	याज्ञवल्क्यस्मृति की टीका मिताक्षरा के लेखक विज्ञानेश्वर।
१०८०—११०० (ई० उ०)	मनुस्मृति के टीकाकार गोविन्दराज।
११००—११३० (ई० उ०)	कल्पतरु या कृत्यकल्पतरु नामक विशाल धर्मशास्त्र-विषयक निबन्ध के लेखक लक्ष्मीधर।
११००—११५० (ई० उ०)	दायभाग, कालविवेक एव व्यवहारमातृका के लेखक जीमूतवाहन।
११००—११५० (ई० उ०)	प्रायश्चित्तप्रकरण एव अन्य ग्रन्थो के रचयिता भवदेव भट्ट।
११००—११३० (ई० उ०)	अपरार्क, शिलाहार राजा ने याज्ञवल्क्यस्मृति पर एक टीका लिखी।
१११४—११८३ (ई० उ०)	भास्कराचार्य, जो सिद्धान्तशिरोमणि के, जिसका लीलावती एक अश है, प्रणेता हैं।
११२७—११३८ (ई० उ०)	सोमेश्वर देव का मानसोल्लास या अभिलषितार्थचिन्तामणि।
११५०—११६० (ई० उ०)	कल्हण की राजतरगिणी।
११५०—११८० (ई० उ०)	हारलता एव पितृदयिता के प्रणेता अनिरुद्ध भट्ट।
११५०—१२०० (ई० उ०)	श्रीधर का स्मृत्यर्थसार।
११५०—१३०० (ई० उ०)	मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक।
११५०—१३०० (ई० उ०)	गौतम एव आपस्तम्बधर्मसूत्रो तथा कुछ गृह्यसूत्रो के टीकाकार हरदत्त।
१२००—१२२५ (ई० उ०)	देवण्ण भट्ट की स्मृतिचन्द्रिका।
११७५—१२०० (ई० उ०)	धनञ्जय के पुत्र, एव ब्राह्मणसर्वस्व के प्रणेता हलायुध।
१२६०—१२७० (ई० उ०)	हेमाद्रि की चतुर्वर्गचिन्तामणि।
१२००—१३०० (ई० उ०)	वरदराज का व्यवहारनिर्णय।
१२७५—१३१० (ई० उ०)	पितृभक्ति, समयप्रदीप एव अन्य ग्रन्थों के प्रणेता श्रीदत्त।
१३००—१३७० (ई० उ०)	गृहस्थरत्नाकर, विवादरत्नाकर, क्रियारत्नाकर आदि के रचयिता चण्डेश्वर।

१३००—१३८० (ई० उ०) वैदिक संहिताओं एवं ब्राह्मणों के भाष्यों के संग्रहकर्ता सायण।

१३००—१३८६ (ई० उ०) पराशरस्मृति की टीका पराशरमाधवीय तथा अन्य ग्रन्थों के रचयिता एवं सायण के भाई माधवाचार्य।

१३६०—१३९० (ई० उ०) मदनपाल एवं उसके पुत्र के संरक्षण में मदनपारिजात एवं महार्णवप्रकाश संगृहीत किये गये।

१३६०—१४४८ (ई० उ०) गंगावाक्यावली आदि ग्रन्थों के प्रणेता विद्यापति के जन्म एवं मरण की तिथियाँ। देखिए इण्डियन ऐण्टीक्वेरी (जिल्द १४, पृ० १९०-१९१) जहाँ देवसिंह के पुत्र शिवसिंह द्वारा विद्यापति को प्रदत्त बिसपी नामक ग्राम-दान के शिलालेख में चार तिथियों का विवरण उपस्थित किया गया है (यथा—शक १३२१, संवत् १४५५, ल० सं० २८३ एवं सन् ८०७)।

१३७५—१४४० (ई० उ०) याज्ञवल्क्य की टीका दीपकलिका, प्रायश्चित्तविवेक, दुर्गोत्सवविवेक एवं अन्य ग्रन्थों के लेखक शूलपाणि।

१३७५—१४५० (ई० उ०) विवाद निबन्ध धर्मतत्त्वकलानिधि (श्राद्ध, व्यवहार आदि के प्रकाशों में विभाजित) के लेखक एवं नागमल्ल के पुत्र पृथ्वीचन्द्र।

१४००—१४५० (ई० उ०) तन्त्रवार्तिक के टीकाकार सोमेश्वर की न्यायसुधा।

१४००—१५०० (ई० उ०) मिसरु मिश्र का विवादचन्द्र।

१४२५—१४५० (ई० उ०) मदनसिंह देव राजा द्वारा संगृहीत विशाल निबन्ध मदनरत्न।

१४२५—१४६० (ई० उ०) शुद्धिविवेक, श्राद्धविवेक आदि के लेखक रुद्रधर।

१४२५—१४९० (ई० उ०) शुद्धिचिन्तामणि, तीर्थचिन्तामणि आदि के रचयिता वाचस्पति।

१४५०—१५०० (ई० उ०) दण्डविवेक, गंगाकृत्यविवेक आदि के रचयिता वर्धमान।

१४९०—१५१२ (ई० उ०) दलपति का व्यवहारसार, जो नृसिंहप्रसाद का एक भाग है।

१४९०—१५१५ (ई० उ०) दलपति का नृसिंहप्रसाद, जिसके भाग हैं—श्राद्धसार, तीर्थसार, प्रायश्चित्तसार आदि।

१५००—१५२५ (ई० उ०) प्रतापरुद्रदेव राजा के संरक्षण में संगृहीत सरस्वतीविलास।

१५००—१५४० (ई० उ०) शुद्धिकौमुदी, श्राद्धक्रियाकौमुदी आदि के प्रणेता गोविन्दानन्द।

१५१३—१५८० (ई० उ०) प्रयोगरत्न, अन्त्येष्टिपद्धति, त्रिस्थलीसेतु के लेखक नारायण भट्ट।

१५२०—१५७५ (ई० उ०) श्राद्धतत्त्व, तीर्थतत्त्व, शुद्धितत्त्व, प्रायश्चित्ततत्त्व आदि तत्त्वों के लेखक रघुनन्दन।

१५२०—१५८९ (ई० उ०) टोडरमल के संरक्षण में टोडरानन्द ने कई सौख्यों में शुद्धि, तीर्थ, प्रायश्चित्त, कर्मविपाक एवं अन्य १५ विषयों पर ग्रन्थ लिखे।

१५६०—१६२० (ई० उ०) द्वैतनिर्णय या धर्मद्वैतनिर्णय के लेखक शंकर भट्ट।

१५९०—१६३० (ई० उ०) वैजयन्ती (विष्णुधर्मसूत्र की टीका), श्राद्धकल्पलता, शुद्धिचन्द्रिका एवं दत्तकमीमांसा के लेखक नन्द पण्डित।

१६१०—१६४० (ई० उ०) निर्णयसिन्धु तथा विवादताण्डव, शूद्रकमलाकर आदि २२ ग्रन्थों के लेखक कमलाकर भट्ट।

१६१०—१६४० (ई० उ०)	मित्र मिश्र का वीरमित्रोदय, जिसके भाग हैं तीर्थप्रकाश, प्रायश्चित्तप्रकाश, श्राद्धप्रकाश आदि।
१६१०—१६४५ (ई० उ०)	प्रायश्चित्त, शुद्धि, श्राद्ध आदि विषयों पर १२ मयूखों में (यथा—नीतिमयूख, व्यवहारमयूख आदि) रचित भगवन्तभास्कर के लेखक नीलकण्ठ।
१६५०—१६८० (ई० उ०)	राजधर्मकौस्तुभ के प्रणेता अनन्तदेव।
१७००—१७४० (ई० उ०)	वैद्यनाथ का स्मृतिमुक्ताफल।
१७००—१७५० (ई० उ०)	तीर्थेन्दुशेखर, प्रायश्चित्तेन्दुशेखर, श्राद्धेन्दुशेखर आदि लगभग ५० ग्रन्थों के लेखक नागेश भट्ट या नागोजिभट्ट।
१७९० (ई० उ०)	धर्मसिन्धु के लेखक काशीनाथ उपाध्याय।
१७३०—१८२० (ई० उ०)	मिताक्षरा पर 'बालम्भट्टी' नामक टीका के लेखक बालम्भट्ट।

तृतीय खण्ड

राजधर्म (शासक और शासन-व्यवस्था), व्यवहार, सदाचार

अध्याय १

प्रस्तावना

अति प्राचीन काल मे धर्मशास्त्र के अन्तर्गत राजधर्म की चर्चा होती रही है। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।९।२५। १) ने संक्षिप्त ढंग मे राजधर्म-विषयक बातो का उल्लेख किया है। महाभारत के शान्तिपर्व में विस्तार के साथ राज-धर्म पर विवेचन उपस्थित किया गया है (अध्याय ५६ से १३० तक अति विस्तारपूर्वक तथा कुछ अंशो मे अध्याय १३१ से १७२ तक)। मनुस्मृति ने भी सातवें अध्याय के आरम्भ मे राजधर्म पर चर्चा करने की बात उठायी है। शासन की कला एवं उसके शास्त्र पर ईसवी सन् की कई शताब्दियों पूर्व मे ही साहित्यिक परम्पराएँ गूँजती रही हैं और विचार-विमर्श होते रहे हैं। अनुशासनपर्व (३९।८) ने बृहस्पति एवं उशना के शास्त्रो का उल्लेख किया है। शान्ति-पर्व (५८।१-३) ने बृहस्पति, भरद्वाज, गौरशिरा, काव्य, महेन्द्र, मनु प्राचेतस एवं विशालाक्ष नामक राजधर्म-व्याख्या-ताओं के नाम गिनाये हैं। शान्तिपर्व (१०२।३१-३२) ने शम्बर एवं आचार्यों के मतो के विरोध की ओर संकेत किया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे पाँच सम्प्रदायो के नामो का, अर्थात्—मानवो, बार्हस्पत्यो, औशनसो, पाराशरो एवं आम्भियो का उल्लेख हुआ है, सात आचार्यो, अर्थात्—बाहुदन्तीपुत्र, दीर्घ चारायण, घोटकमुख, कणिक, भारद्वाज, कात्यायन, किञ्जल्क एवं पिशुनपुत्र के नाम एक-एक बार आये हैं (५।५ एवं १।८), भारद्वाज, कौणपदन्त, पराशर, पिशुन, वातव्याधि एवं विशालाक्ष के सिद्धान्तो की चर्चा कई बार हुई है। कौटिल्य ने आचार्यों के मतो का उल्लेख कम-से-कम ५३ बार किया है। शान्तिपर्व (१०३।४४) ने राजधर्म के एक भाष्य की ओर संकेत किया है। स्पष्ट है कि उस काल मे शासन-कला एवं शासन-शास्त्र की बातें पद्धतियो का रूप पकड चुकी थी। महाभारत, रामायण, मनु एवं कौटिल्य मे उल्लिखित विचार बहुत दिनो से चले आ रहे थे, यथा—सप्तांग राज्य, षाड्गुण्य (सन्धि, विग्रह आदि छ गुण-विशेष), तीन शक्ति, चार उपाय (साम-दान-भेद-दण्ड), अष्टवर्ग एवं पञ्चवर्ग (मनु ७।१५५), १८ तथा १५ तीर्थ (शान्तिपर्व ५।३८) आदि के नाम रूढि बन चुके थे (अयोध्याकाण्ड १००।६८-६९)।

राजधर्म को सभी धर्मों का तत्त्व या सार कहा गया है (शान्तिपर्व १४१।९-१०, ५६।३)।[1] राजा के कर्तव्यो की ओर कतिपय धर्मशास्त्र-ग्रन्थो मे प्रभूत संकेत मिलते हैं (देखिए गौतम १०।७-८, आपस्तम्बधर्मसूत्र २।५।१०।१३-१६, वसिष्ठ १९।१-२, विष्णु ३।२-३, नारद-प्रकीर्णक ५-७ एवं ३३-३४, शान्तिपर्व ७७।३३ एवं ५७।१५, मत्स्यपुराण २१५।६३, मार्कण्डेयपुराण २७।२८ एवं २८।३६)। इन ग्रन्थो के अवलोकन से पता चलता है कि राजधर्म विश्व का सबसे बडा उद्देश्य था और इसके अन्तर्गत आचार, व्यवहार, प्रायश्चित्त आदि के सभी नियम आ जाते थे। राजा को अपने

१ एवं धर्मान् राजधर्मेषु सर्वान्सर्वावस्थं संप्रलीनान्निबोध। सर्वा विद्या राजधर्मेषु युक्ता सर्वे लोका राजधर्मे प्रविष्टा। सर्वे धर्मा राजधर्मप्रधाना। शान्तिपर्व ६३।२५, २६, २९, राजमूला महाभाग योगक्षेमसु-वृष्टयः। प्रजासु व्याधयश्चैव मरणं च भयानि च॥ कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्च भरतर्षभ। राजमूला इति मतिर्मम नास्त्यत्र संशयः॥ शान्ति० (१४१।९-१०), सर्वस्य जीवलोकस्य राजधर्मः परायणम्। शान्ति० (५६।३)।

युग का निर्माता कहा गया है। राजा ही स्वर्ण-युग का प्रवर्तक है या देश में विपत्तियाँ, युद्ध या अशान्ति लाने वाला है (उद्योगपर्व १३२।१६, शान्तिपर्व ९१।७९, ९१।६ तथा ९, ६९।६ शुक्रनीतिसार ४।१।६०)।

धर्मशास्त्र के अन्तर्गत राजधर्म एक विशिष्ट महत्त्व रखने वाला विषय तो था ही, इसी लिए सभी धर्मशास्त्रकारों ने इसका सांगोपांग विवेचन किया है, किन्तु इस विषय की महत्ता इस बात से और अधिक प्रकट हो जाती है कि आदि काल से ही इस विषय पर पृथक् रूप से पुस्तकें आदि लिखी जाती रही हैं। शान्तिपर्व (अध्याय ५९) में आया है कि आरम्भ में कृतयुग में न तो राजा था और न दण्ड-व्यवस्था थी, जिसके फलस्वरूप मानवों में मोह, मत्सर आदि का प्रवेश हो गया। अतः धर्म को पूर्ण नाश से बचाने के लिए ब्रह्मा ने धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष (५९।३० एवं ७९) पर एक लाख अध्यायों वाला एक महान् ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ के नीति (शासन-शास्त्र) नामक भाग को शंकर विशालाक्ष ने संक्षिप्त करके दस सहस्र अध्यायों में किया (५९।८०) जिसे वैशालाक्ष की संज्ञा मिली। पुनः इसे इन्द्र ने घटाकर पाँच सहस्र अध्यायों में रखा और उसे बाहुदन्तक की संज्ञा दी गयी (५९।८१)। आगे चलकर बाहुदन्तक को बृहस्पति ने तीन सहस्र अध्यायों में संक्षिप्त किया जिसे लोगों ने बार्हस्पत्य नाम से पुकारा। पुनः बार्हस्पत्य को काव्य (उशना) ने एक सहस्र अध्यायों में रखा। कामसूत्र (१।५-८) में भी इसी से मिलती-जुलती एक गाथा कही है—प्रजापति ने एक लाख अध्यायों में एक महाग्रन्थ लिखा, जिसे मनु ने धर्म-शास्त्र के रूप में, बृहस्पति ने अर्थ-शास्त्र के रूप में तथा नन्दी ने काम-शास्त्र के रूप में एक-एक सहस्र अध्यायों में संक्षिप्त किया। शान्तिपर्व (५९।३१-७४) में ब्रह्मा के राजधर्म का जो निष्कर्ष उपस्थित किया है वह आश्चर्यजनक रूप से कौटिल्य के अर्थशास्त्र के प्रमुख विषयों से मेल खाता है।

नीतिप्रकाशिका (१।२१-२२) में आया है कि ब्रह्मा, महेश्वर, स्कन्द, इन्द्र, प्राचेतस मनु, बृहस्पति, शुक्र, भारद्वाज, वेदव्यास एवं गौरशिरा राजधर्म के व्याख्याता थे। ब्रह्मा ने एक लाख अध्यायों वाला राजशास्त्र लिखा जिसे उपर्युक्त लोगों ने क्रम से संक्षिप्त किया और गौरशिरा एवं व्यास ने उसे क्रम से पाँच सौ एवं तीन सौ अध्यायों में रखा। शुक्रनीतिसार (१।२-४) में आया है कि ब्रह्मा ने एक लाख श्लोकों में नीतिशास्त्र लिखा, जिसे आगे चलकर वसिष्ठ तथा अन्य लोगों ने (शुक्र ने भी) संक्षिप्त किया।

शासन-शास्त्र के लिए कतिपय शब्दों एवं नामों का प्रयोग हुआ है। सर्वोत्तम एवं उपयुक्त नाम राजशास्त्र है, जिसका प्रयोग महाभारत ने किया है। महाभारत ने बृहस्पति, भारद्वाज तथा अन्य लेखकों को "राजशास्त्र-प्रणेतार" कहा है। नीतिप्रकाशिका (१।२१-२२) ने शासन पर लिखने वाले मानव एवं देव लेखकों को "राजशास्त्राणां प्रणेतारः" की उपाधि दी है। अश्वघोष ने अपने बुद्धचरित (१।४६) में इसी नाम का प्रयोग किया है।[३] प्रो० एजर्टन द्वारा सम्पादित पञ्चतन्त्र के प्रथम श्लोक में मनु, बृहस्पति, शुक्र, पराशर एवं उनके पुत्र, चाणक्य तथा अन्य लोगों को नृपशास्त्र के लेखक कहा गया है। इसका एक अन्य नाम है दण्डनीति। शान्तिपर्व (५९।७९) ने इस शब्द का अर्थ किया है—"यह विश्व दण्ड के द्वारा अच्छे मार्ग पर लाया जाता है या यह शास्त्र दण्ड देने की व्यवस्था करता है, इसी से इसे

२. युगप्रवर्तको राजा धर्माधर्मप्रशिक्षणात्। युगानां न प्रजानां न दोषः किन्तु नृपस्य तु॥ शुक्रनीतिसार ४।१।६०।

३. यद्राजशास्त्रं भृगुरङ्गिरा वा न चक्रतुर्वंशकरावृषी तौ। तयोः सुतौ तौ च ससर्जतुस्तत्कालेन शुक्रश्च बृहस्पतिश्च॥ बुद्धचरित १।४६।

दण्डनीति की सज्ञा मिली है और यह तीनो लोको मे छाया हुआ है।"[४] शान्तिपर्व ने दण्डनीति को 'राजधर्म' से मिला दिया है (६३।२८)। कौटिल्य (१।४) ने व्याख्या उपस्थित की है—"दण्ड वह साधन है जिसके द्वारा आन्वीक्षिकी, त्रयी (तीनों वेदों) एव वार्ता का स्थायित्व एव रक्षण अथवा योगक्षेम होना है, जिसमे दण्ड-नियमा की व्याख्या होती है वह दण्डनीति है, जिसके द्वारा अलब्ध की प्राप्ति होती है, लब्ध का परिरक्षण होता है, रक्षित का विवर्धन होता है और विवर्धित (बढी हुई सम्पत्ति) का सुपात्रों मे बँटवारा होता है।" इसी अर्थ से मिलती उक्ति महाभारत मे भी पायी जाती है (शान्तिपर्व ६९।१०२)। नीतिसार (२।१५) का कहना है कि दम (नियन्त्रण या शासन) को दण्ड कहा जाता है, राजा को 'दण्ड' की सज्ञा इसी लिए मिली है कि उसमे नियन्त्रण केन्द्रित है, दण्ड की नीति या नियमों को दण्डनीति कहा जाता है और नीति यह सज्ञा इसलिए है कि वह (लोगों को) ले चलती है।[५] शान्तिपर्व (६९। १०४) का कहना है कि दण्डनीति क्षत्रिय (राजा) का विशिष्ट व्यापार है। वनपर्व (१५०।३२) मे आया है कि बिना दण्डनीति के सारा विश्व अपने बन्धन तोड डालेगा (और देखिए शान्तिपर्व १५।२९, ६३।२८, ६९।७८)। दण्डनीति सम्पूर्ण विश्व का आश्रय है और यह देवी सरस्वती द्वारा उत्पन्न की गयी है (शान्तिपर्व १२२।२५)।

'अर्थशास्त्र' शब्द 'दण्डनीति' का पर्याय माना जाता रहा है। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।५।१०।१६) मे राजा से कहा गया है कि वह धर्म एव अर्थ मे पारगत ब्राह्मण को पुरोहित के पद पर नियुक्त करे। स्पष्ट है, आपस्तम्ब ने यहाँ धर्मशास्त्र एव अर्थशास्त्र की ओर सकेत किया है। अनुशासनपर्व (३९।१०-११) में आया है कि बृहस्पति आदि ने अर्थशास्त्रों का प्रणयन किया था। द्रोणपर्व (६।१) ने मानवीय अर्थविद्या का उल्लेख किया है।[६] शान्तिपर्व ने अर्थशास्त्र के पालन की बात बडे गम्भीर शब्दों में चलायी है (७१।१४ एव ३०२।१०९)। रामायण (२।१००।१४) मे आया है कि राम के उपाध्याय सुधन्वा अर्थशास्त्र के पण्डित थे। कौटिल्य ने आरम्भ मे अपने अर्थशास्त्र को सभी अर्थशास्त्रों का सार माना है और अन्त मे इसे पृथिवी की प्राप्ति एव उसके सरक्षण का साधन घोषित किया है। कौटिल्य ने दण्डनीति के जो चार प्रमुख उद्देश्य रखे हैं [यथा (१) अलब्ध की प्राप्ति, (२) लब्ध का परिरक्षण, (३) रक्षित का विवर्धन एव (४) विवर्धित का सुपात्रों मे विभाजन] उन्हे मनु महाराज (मनुस्मृति ७।९९-१००) सदैव क्षत्रियों के समक्ष रखते हैं। यही बात शान्तिपर्व (१०२।५७, १४०।५), याज्ञवल्क्य (१।३१७), नीतिसार (१।१८) आदि मे भी पायी जाती है। कौटिल्य ने अन्त मे (१५।१) लिखा है—"अर्थ सम्पूर्ण मानवो का जीवन या वृत्ति है, अर्थात् मानवों से भरी हुई पृथिवी अर्थ है। वह शास्त्र, जो पृथिवी की प्राप्ति एव सरक्षण का साधन है, अर्थशास्त्र है।" मानव अपना जीवन-निर्वाह पृथिवी से करते है और सम्पत्ति पृथिवी मे ही उगती है। महाभारत एव रामायण मे (कुछ शताब्दियों) उपरान्त के लेखकों ने 'दण्डनीति' एव 'अर्थशास्त्र' को समानार्थक माना है। दण्डी ने 'दशकुमारचरित' (८) मे लिखा है कि विष्णुगुप्त ने मौर्य राजा के लिए छ सहस्र श्लोकों मे दण्डनीति का प्रणयन किया, किन्तु कौटिल्य ने आरम्भ मे ही अपने ग्रन्थ

४ दण्डेन नीयते चेयं दण्डं नयति वा पुन । दण्डनीतिरिति ख्याता त्रींल्लोकानभिवर्तते ॥ शान्तिपर्व (५९।७८), दण्डनीति स्वधर्मेभ्यश्चातुर्वर्ण्यं नियच्छति। प्रयुक्ता स्वामिना सम्यगधर्मेभ्यो नियच्छति ॥ शान्ति० ६९।७६।

५ दमो दण्ड इति ख्यातस्तात्स्थ्याद्दण्डो महीपति । तस्य नीतिर्दण्डनीतिर्नयनान्नीतिरुच्यते ॥ नीतिसार २।१५ एव शुक्र० १।१५७।

६ देखिए जायसवाल कृत "मनु एण्ड याज्ञवल्क्य" पृ० ५, ७, १६, २५, २६, ४१, ४२, ५०, ८४। इसमे जायसवाल ने 'मनु' एव 'अर्थ' की व्याख्या उपस्थित की है।

को अर्थशास्त्र की संज्ञा दी है। दण्डी ने कौटिल्य द्वारा उल्लिखित कुछ अर्थशास्त्रकारों के नाम भी दिये हैं। अमरकोष ने दोनों को समानार्थक ठहराया है। मनु (७।४३) की टीका में मेधातिथि ने 'दण्डनीति' की व्याख्या करते हुए लिखा है कि यह चाणक्य एवं अन्य लोगों द्वारा प्रणीत थी। याज्ञवल्क्य (१।३११) की टीका मिताक्षरा में दण्डनीति को अर्थशास्त्र के अर्थ में लिया गया है। शुक्रनीतिसार (४।३।५६) में आया है—"अर्थशास्त्र वह है जिसमें राजाओं के आचरण आदि के विषय में ऐसा अनुशासन एवं शिक्षण हो जो श्रुति एवं स्मृति से भिन्न हो और जिसमें बड़ी दक्षता के साथ सम्पत्ति-प्राप्ति के लिए शिक्षा दी गयी हो।

'अर्थशास्त्र' एवं 'दण्डनीति' शब्द दो दृष्टिकोणों से शासन-शास्त्र के लिए प्रयुक्त हुए हैं। कामसूत्र (१।२) में अर्थ की परिभाषा शिक्षा, भूमि, स्वर्ण, पशु, धान्य, बरतन-भाण्ड एवं मित्र तथा प्राप्त वस्तुओं के परिवर्धन से समन्वित की गयी है। अतः जब सभी प्रकार के धन एवं सम्पत्ति के उद्गम एवं वृद्धि के विवरण को शास्त्र की संज्ञा दी गयी तो इसके विषय-विवेचन को अर्थशास्त्र कहा गया, इसी प्रकार प्रजा-शासन एवं अपराध-दण्ड को विशिष्टता दी गयी तो शासन-शास्त्र को 'दण्डनीति' के नाम से कहा गया। यद्यपि कौटिलीय अर्थशास्त्र जैसे ग्रन्थों में धर्म को प्रभूत महत्ता दी गयी है किन्तु वे प्रधानतः केन्द्रीय एवं स्थानीय शासन, करग्रहण, साम एवं अन्य उपायों के प्रयोग, सन्धि, विग्रह तथा कर्मचारियों एवं दण्ड की नियुक्ति से सम्बन्धित हैं। अतः अर्थशास्त्र प्रमुखतः दृष्टार्थ-स्मृति है, जैसा कि भविष्यपुराण में कहा गया है (अपरार्क द्वारा उद्धृत पृष्ठ ६२६, स्मृतिचन्द्रिका पृ० २४ एवं वीरमित्रोदय परिभाषा पृ० १९)। मेधातिथि ने मनु (७।१) की टीका में धर्म को कर्तव्य (धर्मशब्दः कर्तव्यतावचनः) के अर्थ में लिया है, राजा के कर्तव्य या तो दृष्टार्थ (अर्थात् जिनके प्रभाव सांसारिक हों और देखे जा सकें) हैं या अदृष्टार्थ (जिन्हें देखा न जा सके किन्तु उनका आध्यात्मिक महत्त्व हो) यथा अग्निहोत्र। मेधातिथि ने स्पष्ट किया है कि राजनीति के नियम धर्मशास्त्र के धार्मिक ग्रन्थों के आधार पर नहीं बने हैं, प्रत्युत वे मुख्यतः सांसारिक लोगों के अनुभवों पर आधारित हैं।

शासन-शास्त्र की एक अन्य संज्ञा है नीतिशास्त्र या राजनीतिशास्त्र (शान्तिपर्व ५९।७४)। कामन्दक के नीतिसार (१।६) ने उस विष्णुगुप्त को नमस्कार किया है जिसने अर्थशास्त्र-ग्रन्थों के महार्णव से नीतिशास्त्र रूपी अमृत निकाला। पञ्चतन्त्र ने अर्थशास्त्र एवं नीतिशास्त्र को एक-दूसरे का पर्याय माना है। मिताक्षरा (याज्ञवल्क्य २।२१) ने अर्थशास्त्र को राजनीतिशास्त्र तथा धर्मशास्त्र का अभिन्न अंग माना है। 'राजनीति' शब्द कतिपय ग्रन्थों में आया है (रघुवंश १७।६८, भगवद्गीता—'नीति' १०।३८, आश्रमवासिकपर्व ६।५, मनु ७।१७७, शान्तिपर्व १११।७१, ११८।१९, ४१ एवं १९९, २६८।९ तथा द्रोणपर्व १५२।२९ आदि)। एक अन्य शब्द है नय, जिसका अर्थ है 'नीति की पद्धति'। अर्थशास्त्र (१।२) ने 'नय' एवं 'अनय' (बुरी नीति) को दण्डनीति के अन्तर्गत विवेचना करने का विषय ठहराया है। यह 'नय' शब्द कतिपय साहित्यिक ग्रन्थों में भी प्रयुक्त हुआ है (किरातार्जुनीय २।१, १९, ५४ एवं १३।१७)।

अब हम अर्थशास्त्र एवं धर्मशास्त्र के सम्बन्ध में कुछ चर्चा करेंगे। राजधर्म धर्मशास्त्र का महत्त्वपूर्ण विषय है। अर्थशास्त्र जो मुख्यतः राजा के अधिकारों, विशेषाधिकारों एवं उत्तरदायित्वों से सम्बन्धित है, धर्मशास्त्र का ही अंग माना गया है। धर्मशास्त्र के समक्ष ही इसका स्थान दैवी माना गया है। किन्तु जहाँ अर्थशास्त्र किसी देश के शासन के सभी स्वरूपों पर विस्तार के साथ प्रकाश डालता है, धर्मशास्त्र राजशास्त्र के प्रमुख विषयों एवं अंगों पर सामान्य रूप से ही विवेचना उपस्थित करता है। जिस प्रकार कामसूत्र (१।२।१४) ने धर्म को सर्वप्रधान लक्ष्य माना है और काम को तीनों पुरुषार्थों में सबसे हीन ठहराया है, उसी प्रकार अर्थशास्त्र ने अर्थ को सबसे महत्त्वपूर्ण जीवन-लक्ष्य (मुख्य) माना है। किन्तु कौटिल्य तथा अर्थशास्त्र के अन्य लेखकों ने धर्म पर सबसे अधिक बल दिया है। धर्म एवं अर्थ से सम्बन्धित मत-भेदों में धर्मशास्त्रकारों ने धर्म को अधिक महत्त्व दिया है (आपस्तम्बधर्मसूत्र १९।२४।२१, याज्ञ० २।२१, नारद-व्यवहारमातृका १।३)। धर्मशास्त्र को स्मृति (मनु २।१०) भी कहा गया है। किन्तु

अर्थशास्त्र को उपवेद की सज्ञा दी गयी है। विष्णुपुराण (३।६।२८), वायुपुराण (६१।७९), ब्रह्माण्डपुराण (३५।८८-८९) आदि ने आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद एव अथशास्त्र को चार उपवेद कहा है।

यद्यपि सिद्धान्त रूप से अर्थशास्त्र को धर्ममार्ग पर चलना चाहिए, किन्तु व्यावहारिक रूप मे महाभारत एव कौटिल्य ने कतिपय स्थलो पर नैतिकता के सिद्धान्तो की अवहेलना करने की वात कही है। शान्तिपर्व (१४०) मे ऐसी वातें आयी हैं, जिन्हे हम किसी रूप मे नैतिक अथवा धार्मिक नही कह सकते। दो-एक उदाहरण अवलोकनीय हैं—'वोलने मे मधुर एव विनम्र होना चाहिए, किन्तु भीतर (हृदय मे) तीक्ष्ण छुरी के सदृश होना चाहिए (शान्ति-पर्व १४०। १३), धन-सम्पत्ति की लालसा रखने वाले को हाथ जोडना चाहिए, शपथ खानी चाहिए, मधुर वाणी का प्रयोग करना चाहिए, चरण-चुम्वन करना चाहिए, यहाँ तक कि आँसू भी वहाने चाहिए, एक व्यक्ति अपने शत्रु को कधे पर भी ढोये, किन्तु काम हो जाने पर मिट्टी के वरतन के समान उसे प्रस्तर-खण्ड पर पटक कर तोड-फोड देना (मार डालना) चाहिए (शाति० १४०।१७।१८), आदि। इन वातो को पढकर पाठक महाभारत के विषय मे विचित्र धारणाएँ वना सकते हैं, किन्तु ये वातें आपत्तियो के समय करणीय मानी गयी हैं। युधिष्ठिर ने स्वय इन वातो का विरोध किया और भीष्म पितामह से कहा कि ये वातें घोर अनैतिक हैं। ये वातें सम्भवत भारद्वाज जैसे लेखको की उक्तियो से सम्वन्धित हैं। स्वय भीष्म ने आगे चलकर कहा है कि ये वातें 'शठे शाठ्य समाचरेत्' के नियम से सम्व-न्धित हैं, सामान्यत राजा ऋजु मार्ग का अनुसरण करता है। किन्तु दुष्ट, अनैतिक एव क्रूर शत्रुओ से वैसा करना नीति-विरुद्ध नही है। भीष्म ने कहा है कि सदा नैतिक वातो का पालन नही करना चाहिए, सुविचारणा एव तर्क का आश्रय लेना श्रेयस्कर होता है (शान्ति० ५।७, १७)। महाभारत ने स्थान-स्थान पर धर्मशास्त्र एव अर्थशास्त्र के सिद्धान्तो का समन्वय उपस्थित किया है।

कौटिल्य ने लिखा है कि अर्थशास्त्रकारो ने क्रूर, स्वार्थान्ध एव अनैतिक सम्मतियाँ देने मे कोई सकोच नही किया है। इन्होंने लिखा है कि भारद्वाज के अनुसार राजकुमार लोग कर्कट (केकडा) हैं जो अपने माता पिता को खा डालते हैं, अत यदि वे अपने पिता को न प्यार करें तो उन्हे गुप्त रूप से समाप्त कर देना चाहिए। किन्तु विशालाक्ष ने भारद्वाज की इस उक्ति की भर्त्सना की है और कहा है कि इस प्रकार राजकुमारो को समाप्त कर देना अनुचित, क्रूरता-प्रदर्शन एव क्षत्रिय-कुल-नाशक है, ऐसे राजकुमारो को एक ही स्थान पर वन्दी वना कर रखना कही श्रेयस्कर है। वातव्याधि ने लिखा है कि राजकुमारो को अति काम-वासना मे लगा देना चाहिए। कौटिल्य ने इस सम्मति की भर्त्सना की है। उन्होंने लिखा है कि गर्भाधान एवं उत्पत्ति के विषय मे उचित अवधानता रखी जानी चाहिए एव धर्म की शिक्षा-दीक्षा देनी चाहिए। भारद्वाज को उद्धृत कर कौटिल्य ने एक अन्य विचित्र नियम की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया है, जो उनके अर्थशास्त्र-प्रणयन के पूर्व कतिपय अर्थशास्त्रकारो द्वारा प्रतिपादित किया गया था। भारद्वाज ने लिखा था कि राजा की मृत्यु के समय मन्त्री को चाहिए कि वह राजकुमारो को एक-दूसरे के विरोध मे खडा कर दे और आगे चलकर अन्य सम्वन्धियो को भी उभाड दे। इस प्रकार सवका गुप्त रूप से हनन करके या उन्हें दवाकर उसे स्वय राज्य पर अधिकार कर लेना चाहिए। कौटिल्य इस मत के विरोधी हैं। किन्तु स्वय उन्होंने अधार्मिक या दुष्ट लोगो के नाश के लिए विष, दवाओ तथा मन्त्र-प्रयोगो का प्रतिपादन किया है (औपनिषदिक, १४)। कौटिल्य ने भी अनैतिक एव क्रूर नीतियो के पालन की वात चलायी है (१।१८, ५।१, ५।२)। खाली कोश को भरने के लिए उन्होंने राजा से कहा है कि वह मन्दिरो की सम्पत्ति भी हडप सकता है। स्वय कौटिल्य ने दुरभिसधियो की चर्चा की है और राजा की सुपुष्ट स्थिति की स्थापना के लिए शत्रुओ, राजकुमारो, सम्वन्धियो या विरोधी राजपुरुषो के गुप्त हनन की वात चलायी है।

राजधर्म-सम्वन्धी सस्कृत-साहित्य वहुत विशाल है। आपस्तम्व जैसे कतिपय धर्मसूत्रो मे भी सक्षेपत इसकी

चर्चा हुई है किन्तु निम्नलिखित ग्रन्थों को प्रभूत महत्त्व मिला है—महाभारत (वनपर्व १५ सभा ५, उद्योग ३३ ३४ शान्ति १ ११ आश्रमवासिक ५-७) रामायण (अयोध्या १५, १७ १ युद्ध १७-१८, ११) मनुस्मृति (७-९) *कौटिल्य का अर्थशास्त्र (यह ग्रन्थ राजधर्म पर सबसे महत्त्वपूर्ण है) याज्ञवल्क्य* (१।३१ ४ ३६७) वृद्ध-हारीत-स्मृति (७।१८८ २७१) बृहत्पराशर (१ पृ २७७-२८५) विष्णु-धर्मसूत्र (३) कामन्दक का नीतिसार, अग्निपुराण (२१८ २४२) पद्मपुराण (१ ८ ११५) मत्स्यपुराण (२१५ २४३) विष्णुधर्मोत्तर (२) मार्कण्डेयपुराण (२४) कालिका पु (८७) वैशम्पायन की नीतिप्रकाशिका शुक्रनीतिसार, सोमेश्वर की अभिलषितार्थचिन्तामणि या मानसोल्लास (प्रथम चार विंशतियाँ) भोज का युक्तिकल्पतरु, सोमदेव (९५९ ई) का नीतिवाक्यामृत बृहस्पति-सूत्र लक्ष्मीधर के कृत्यकल्पतरु का राजनीति-काण्ड चण्डेश्वर का राजनीतिरत्नाकर, मित्र मिश्र का राजनीतिप्रकाश नीलकण्ठ का नीतिमयूख अनन्तदेव का राजधर्मकौस्तुभ राजकुमार शम्भाजी का बुधभूषण तथा केशव पण्डित की दण्डनीति। कौटिलीय अर्थशास्त्र के प्रकाशन के उपरान्त अर्थशास्त्र-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं जिनकी तालिका देना यहाँ आवश्यक नहीं है।

अध्याय २

राज्य के सात अंग

प्राय सभी राजनीति-शास्त्रज्ञो ने राज्य के सात अग बतलाये है, यथा (१) स्वामी (शासक या सम्राट्), (२) अमात्य, (३) जनपद या राष्ट्र (राज्य की भूमि एव प्रजा), (४) दुर्ग (सुरक्षित नगर या राजधानी), (५) कोश (शासक के कोश मे द्रव्यराशि), (६) दण्ड (सेना) एव (७) मित्र।[1] अगो को प्रकृति भी कहा जाता है। राजनीति के ग्रन्थो मे 'प्रकृति' शब्द राज्या के मण्डल के अगो का भी द्योतक कहा गया है (देखिए मनु ७।१५६ एव कौटिल्य ६।२)। इस शब्द का सम्बन्ध मन्त्रियो से भी है (देखिए शुक्रनीतिसार २।७०–७३)। कही-कही इसका अर्थ 'प्रजा' भी है (देखिए खारवेल का अभिलेख, नारद, प्रकीर्णक ५, रघुवश ८।१८)। उन अगो के क्रम एव नामो मे कही-कही बहुत अन्तर पाया गया है। जनपद के लिए जन या राष्ट्र शब्दो का भी प्रयोग हुआ है। दण्ड के लिए बल तथा दुर्ग के लिए पुर का प्रयोग हुआ है। आश्रमवासिकपर्व (५।८) ने राज्य के आठ अग गिनाये है। राजनीतिज्ञो ने शासक (राजा) को सप्तागो मे सर्वश्रेष्ठ माना है। कौटिल्य ने तो राजा को ही सक्षेप मे राज्य कह डाला है।[2] किन्तु कौटिल्य का यह सूत्र फ्रास के राजा चौदहवें लुई के "ल इतात स एस्त म्वाइ" अर्थात् "मै ही राज्य हूँ" नामक सूत्र के समान नही है। कौटिल्य (८।१) ने स्पष्ट लिखा है कि राजा ही मन्त्रियो, कर्मचारियो एव अधीक्षको की नियुक्तियाँ करता है, वही अन्य प्रकृतियो पर विपत्तियाँ घहराने पर दु खमोचन या साहाय्य का प्रबन्ध करता है अर्थात् वही नियुक्त मन्त्रियो पर विपत्ति

१ स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोशदण्डमित्राणि प्रकृतय । कौटिल्य ६।१, पृ० २५७, स्वाम्यमात्यो जनो दुर्गं कोशो दण्डस्तथैव च। मित्राण्येता प्रकृतयो राज्य सप्ताङ्गमुच्यते॥ याज्ञवल्क्य १।३५३, स्वाम्यमात्यौ पुर राष्ट्र कोशदण्डौ सुहृत्तथा। सप्त प्रकृतयो ह्येता सप्ताङ्ग राज्यमुच्यते॥ मनु ९।२९४, स्वाम्यमात्यदुर्गकोशदण्ड-राष्ट्रमित्राणि प्रकृतय । विष्णुधर्मसूत्र ३।३३, स्वाम्यमात्यसुहृद्दुर्गकोशदण्डजना । गौतमसूत्र (सरस्वतीविलास द्वारा उद्धृत, पृ० ४५)। और भी देखिए शान्तिपर्व ६९।६४-६५, मत्स्यपुराण २२५।११ एव २३९, अग्निपुराण २३३।१२, कामन्दक १।१६ एव ८।१-२। 'प्रकृति' शब्द का अर्थ अपरार्क (पृष्ठ ५८८) ने सुन्दर ढग से किया है—यत कार्यमुत्पद्यतेऽवतिष्ठते नियमेन भवति सा प्रकृति । यथा हिरण्य कुण्डलस्य। राज्य च विना स्वाम्या-दिभिर्नोत्पद्यते, उत्पन्नमपि न तैर्विना चिरकालमनुवर्तते। ततो भवन्ति स्वाम्यादयो राज्याङ्गानि।

२ राजा राज्यमिति प्रकृतिसक्षेप । कौटि० ८।२, तत्कूटस्थानीयो हि स्वामीति। कौ० ८।१, सप्ताग-मुच्यते राज्य तत्र मूर्धा नृप स्मृत । दृगमात्य सुहृच्छ्रोत्र मुख कोशो बल मन ॥ हस्तौ पादौ दुर्गराष्ट्रौ०—शुक्र-नीति १।६१-६२, सप्तागस्यापि राज्यस्य मूल स्वामी प्रकीर्तित । राजनीतिप्र० पृ० १३३, सप्तागस्यास्य राज्यस्य त्रिदण्डस्येव तिष्ठत । अन्योन्यगुणयुक्तस्य क केन गुणतोऽधिक ॥ तेषु तेषु हि कालेषु तत्तदगं विशिष्यते। येन यत् सिध्यते कार्यं तत्प्राधान्याय कल्पते॥ शान्तिपर्व, मनु (९।२९६-२९७) ने भी सर्वथा यही बात कही है। परस्परोप-कारीद सप्ताग राज्यमुच्यते (मत्स्यपुराण २३९।१)।

जाने पर अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति करता है। यदि राजा सम्पत्तिमान अथवा समृद्धिशाली है तो वह अपनी प्रकृतियों को समृद्धि प्रदान करता है। प्रकृतियों को वही गौरव प्राप्त है जो राजा को है, अतः राजा सुस्थिर एवं अजेय शक्ति का केन्द्र है। शुक्रनीतिसार (२।४) ने लिखा है कि यदि राजा मनमाना कार्य करता है तो उसमें विपत्तियाँ बढ़ जाती हैं, मन्त्रियों की हानि होती है और अन्त में राज्य का नाश होता है।

शुक्रनीतिसार (१।६१-६२) ने राज्य के सप्तांगों की तुलना शरीर के अंगों से की है, यथा—राजा सिर है, मन्त्री कोष आँखें हैं, मित्र कान हैं, कोष मुख है, बल (सेना) मन है, दुर्ग (राजधानी) एवं राष्ट्र हाथ एवं पैर हैं। कामन्दक (४।१-२) ने लिखा है कि सातों अंग एक-दूसरे के पूरक हैं, यदि एक भी अंग दोषपूर्ण हुआ तो राज्य ठीक से चल नहीं सकता। शान्तिपर्व ने भी सभी अंगों की महत्ता स्वीकृत की है। मनु एवं महाभारत ने राज्य के अंगों में स्वाभाविक एकता देखी है। सभी अंगों को लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एक-दूसरे के साथ मिलकर कार्यशील होना ही होगा। सभी अंग महत्त्वपूर्ण हैं, कोई दूसरे से हीन नहीं है, एक की महत्ता अपने स्थान पर है, वह दूसरे से बढ़कर नहीं है (मनु ९।२९६)।

केवल जन-समूह से ही राज्य का निर्माण नहीं होता, प्रत्युत राज्य के लिए जन-समूह का भौगोलिक सीमाओं (राष्ट्र) के भीतर रहना परमावश्यक है, जन-समूह को किसी स्वामी के अनुशासन के अनुसार चलना होगा, राज्य के लिए एक विशिष्ट शासन-तन्त्र (अमात्य) होगा, उसके लिए एक सुव्यवस्थित आर्थिक व्यवस्था होगी (कोष), रक्षा के लिए बल होगा तथा होगी अन्तर्राष्ट्रीय मैत्री। राज्य के सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं (१) स्वामी (२) शासन-व्यवस्था (३) निश्चित भूमि एवं जन-संख्या। ये चारों तत्त्व अति प्राचीन सूत्रकारों को भी विदित थे। देखिए गौतम ११।१ (राजा), आप० २।१०।२५।१ (अमात्य), आप० २।१०।२५।११ (विषय, नगर, ग्राम), गौतम ११।५-८ (प्रजा)। अब हम सप्तांगों का क्रमानुसार वर्णन उपस्थित करेंगे।

स्वामी (१)

कतिपय ग्रन्थों में स्वामी या शासक की आवश्यकता पर बल दिया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण (१।१४) में आया है कि देवों ने राजा के न रहने पर अपनी दुर्दशा देखी और सभी एकमत से उसका चुनाव किया। इससे प्रकट होता है कि सामरिक आवश्यकताओं ने स्वामित्व या नृपत्व को जन्म दिया। मनु (७।३ = शुक्रनीतिसार १।७१) ने लिखा है—"जब सभी भयाकुल हो इधर-उधर दौड़ने लगे और विश्व में कोई स्वामी नहीं था तो विधाता ने इस विश्व की रक्षा के लिए राजा का प्रणयन किया।" मनु ने मात्स्यन्याय ("बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को निगल जाती हैं" अर्थात् "बली दुर्बल को दबा बैठता है" या "जिसकी लाठी उसकी भैंस" वाले सिद्धान्त) की ओर भी संकेत किया है (मनु ७।१४ एवं २०)। इस मात्स्यन्याय की विवेचना कौटिल्य, महाभारत तथा अन्य लोगों ने भी की है। शतपथब्राह्मण (११।१।६।२४) में आया है—"जब कभी अकाल पड़ता है तो बलवान् दुर्बल को दबा बैठता है, क्योंकि पानी ही न्याय है।" इसका तात्पर्य यह है कि जब वर्षा नहीं होती तब न्याय का राज्य समाप्त हो जाता है और मात्स्यन्याय कार्यशील हो जाता है। कौटिल्य का कहना है—"जब दण्ड का प्रयोग नहीं होता तो मात्स्यन्याय की दशा उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि दण्डधर के अभाव में बलवान् दुर्बल को खा डालता है।" कौटिल्य ने यह भी कहा है कि मात्स्यन्याय से अभिभूत होकर लोगों ने मनु वैवस्वत को अपना राजा बनाया। यही बात रामायण (२, अध्याय ६७), शान्तिपर्व १५।३ एवं ६७।१६)

१ (दण्डः) अप्रणीतो हि मात्स्यन्यायमुद्भावयति। बलीयानबलं हि ग्रसते दण्डधराभावे। कौ० १।४; मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजा मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे। कौ० १।१३; मत्स्या इव जना नित्यं भक्षयन्ति

कामन्दक (२।४०), मत्स्यपुराण (२२५।९), मानसोल्लास (२।१६, श्लोक १२९५) मे भी अपने ढग से कही गयी है। वहुत-से ग्रन्थो मे दण्ड की प्रशस्तियाँ गायी गयी हैं। राजा को दण्डधर की उपाधि दी गयी है (शान्ति० ६७।१६, कामन्दक १।१ एव गौतम ११।२८)। मत्स्यपुराण (२२५।१७), अग्निपुराण (२२६।१६) तथा शान्तिपर्व (१५।८) मे आया है कि दण्ड नाम इमलिए पडा है कि यह अनियन्त्रित लोगो को दवाता है और अभद्र तथा अनीतिमान् को दण्डित करता है।[४] दण्ड को मनु (७।२५=विष्णुधर्मसूत्र ३।९५=मत्स्य० २२५।८), याज्ञ० (१।३५४), शान्ति० (१२१।१५) ने देवत्व की स्थिति प्रदान की है।[५] दण्ड सव पर राज्य करता है, सवकी रक्षा करता है, यह न्याय के रक्षको के सो जाने पर भी जगा रहता है, वुद्धिमान् लोग इसे धर्म कहते हैं (मनु ७।१८=शान्ति० १५।२=मत्स्य० २२५।१४-१५)। स्पष्ट है, राज्य की इच्छा एव दण्ड-शक्ति व्यक्ति एव राष्ट्र को धर्म की सीमाओ के भीतर रखती है, आज्ञा के उल्लघन पर दण्ड देती है तथा सवका कल्याण करती है। देवगण, दानवगण, गन्धर्वगण, राक्षसगण तथा नागगण भी मानवो के आनन्द के योग्य हो जाते हैं, क्योकि वे दण्ड से दवा दिये जाते हैं (मनु ७।१३)। भगवद्गीता (१०।३८) मे आया है—"मैं उन लोगों के हाथो का दण्ड हूँ जो दूसरे को नियन्त्रित करते है, मैं विजेताओ की नीति (राजनीति) हूँ।" दण्ड के प्रभावो एव प्रशस्तियो के विषय मे विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए मनु (७।१४-३१), मत्स्य० (२२५।४-१७), कामन्दक (२।३८-४४)। किन्तु दण्ड का प्रयोग सीमा के भीतर ही होना चाहिए। न तो इसे अति कठिन होना चाहिए और न अति कोमल, प्रत्युत इसे अपराध के अनुसार होना चाहिए (कौटिल्य १।४, कामन्दक २।३७, मनु ७।१६, शान्ति० १५।१, ५६।२१, १०३।३४)। शान्तिपर्व (५७।४१) मे आया है कि सर्वप्रथम राजा की प्राप्ति करनी चाहिए, तव पत्नी और इसके उपरान्त धन का सञ्चय करना चाहिए, क्योकि राजा के अभाव मे न तो पत्नी रह सकेगी और न धन प्राप्त हो सकेगा। स्पष्ट है कि कुटुम्ब, धन की सस्थापनाएँ एव दुर्वल-रक्षा राजा के अस्तित्व के साथ सन्निहित हैं। कात्यायन (राजनीतिप्रकाश, पृ० ३०) का कहना है कि राजा असहायो का रक्षक, गृहहीनो का आश्रय, पुत्रहीनो का पुत्र एव पिताहीनो का पिता है।

राजकीय व्यापार की महत्ता को द्योतित करने के लिए कुछ ग्रन्थो ने ऐसा लिखा है कि राजा मे देवों के अश होते हैं। उदाहरणार्थ, मनु का कहना है—"विधाता ने इन्द्र, मरुत, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र एव कुवेर के प्रमुख अशो से युक्त राजा की रचना की, अत वह (राजा) राजमहिमा के कारण सभी जीवों मे आगे वढ जाता है (मनु ७।४-५, तुलना कीजिए मनु० ९।९६), वालक राजा का भी, यह सोचकर कि वह भी मानव ही है, अपमान नही करना चाहिए, क्योकि वह नररूप से देवता ही है (मनु ७।८, शान्ति० ६८।४०)। यही वात दूसरे ढग से गौतम (११।३२) एव आपस्तम्व० (२।११।२९।५) ने भी कही है। और भी देखिए मनु (७।३-४), शुक्रनीतिसार (१।७१-७२), मत्स्य-

परस्परम्। अयोध्या० ६७।३१, दण्डश्चेन्न भवेल्लोके विनश्येयुरिमा प्रजा। जले मत्स्यानिवाभक्ष्यन्दुर्वल वलवत्तरा ॥ शान्ति० १५।३०, राजा चेन्न भवेल्लोके पृथिव्या दण्डधारक। जले वलवत्तरा ॥ शान्ति० ६७-१६; दण्डाभावे परिध्वसी मात्स्यो न्याय प्रवर्तते। कामन्दक २।४०।

४ यस्माददान्तान्दमयत्यशिष्टान्दण्डयत्यपि। दमनाद्दण्डनाच्चैव तस्माद्दण्ड विदुर्वुधा ॥ शान्ति० १५।८, अग्नि० २२६।१६, मत्स्य० २२५।१७।

५ यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा। प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्यति ॥ मनु (७।२५ =मत्स्य० २२५।८=विष्णु० ३।९५), शान्ति० (१२१।१५-१६) ने यह लिखा है—नीलोत्पलदलश्यामश्चतुर्दंष्ट्रश्चतुर्भुज। एतद्रूप विभर्त्युग्र दण्डो नित्य दुरासद ॥

पुराण (२२६।१) आदि। मनु (९।३ ३–३११) ने उपर्युक्त देवों के साथ पृथिवी को जोड़कर उनकी विशिष्टताओं का वर्णन करके राजा के राज-गौरव का उल्लेख किया है। यही बात मत्स्य (२२६।९–१२) ने भी कही है। अग्निपुराण (२२६।१७–२) में आया है कि राजा सूर्य, चन्द्र, वायु, यम, वरुण, अग्नि, कुबेर, पृथिवी एवं विष्णु के कार्य करता है अतः उसमें इनके अंश पाये जाते हैं (और देखिए शुक्रनीतिसार १।७१–७९)। इन बातों से ऐसा नहीं समझना चाहिए कि राजा को दैवी अधिकार प्राप्त है अथवा उसकी उत्पत्ति दैवी है, प्रत्युत ऐसा समझना चाहिए कि राजा में इन देवों के कार्य पाये जाते हैं। नारदस्मृति (प्रकीर्णक-अध्याय, श्लोक २ –३१) में बहुत-से मनोरम वचन मिलते हैं।[६] इसके अनुसार राजा में अग्नि, इन्द्र, सोम, यम एवं कुबेर के कार्य पाये जाते हैं। यही बात मार्कण्डेयपुराण (२७।२१–२६) में भी कही गयी है (और देखिए शान्ति ६७।४)। शान्तिपर्व (६९) में आया है कि अन्य देवता अदृश्य हैं किन्तु राजा को हम देख सकते हैं। वायुपुराण (५७।७२) का कहना है कि अतीत एवं भविष्य के मन्वन्तरों में चक्रवर्ती राजा उत्पन्न हुए एवं होंगे और उनमें विष्णु का अंश होगा। मत्स्यपुराण (२२६।१–१२) एवं भागवतपुराण (४।१४।२६–२७) में भी राजा के देवांशों की चर्चा की गयी है। इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर कालान्तर के क्षत्रिय राजकुलों ने अपने को सूर्य तथा चन्द्र के वंशों से सम्बन्धित कहा है। बाद के क्षत्रियों ने अपने को इसी प्रकार अग्निकुल से उत्पन्न माना है। इसी कारण संस्कृत नाटकों में राजा को 'देव' कहकर सम्बोधित किया गया है। अशोक ने अपने को 'देवानां प्रिय' कहा है और कनिष्क तथा हुविष्क कुषाण राजाओं ने अपने को 'देवपुत्र' घोषित किया है। कौटिल्य (१।१३) ने गुप्तचरों द्वारा पौरों एवं जानपदों में राजा को इन्द्र एवं यम के समान दण्ड एवं कृपा देने वाला घोषित कराने को कहा है। और देखिए रामायण (३।१।१८–१९ एवं ७।७६।१७–४५), मार्कण्डेयपुराण (२४।२१–२८), विष्णुधर्मोत्तर (२।२।९) आदि। प्रत्येक राजा विष्णु है। पञ्चतन्त्र (१।१२, पृ० १९) में आया है—"मनु ने ऐसा घोषित किया है कि राजा देवों के अंश से बना है।"[७] राजकीय व्यापारों की प्रशस्ति के विषय में जानकारी के लिए विशेष रूप से देखिए मनु (७।९–१७), शान्ति (६१।२४–१ एवं ६८), कामन्दक (१।९–११) एवं राजनीतिप्रकाश (पृ० १७–११)।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर ऐसा नहीं समझना चाहिए कि राजा को दैवी अधिकार प्राप्त थे या प्रत्येक राजा को चाहे वह बुरा ही क्यों न हो, देवत्व प्राप्त था और वह मनमाना कर सकता था। राजनीतिप्रकाश (पृ० ८१) ने राजा के हट जाने पर राजकुमार के अभिषेक के समय के लिए कहा है कि 'स्वयं प्रजा विष्णु है'। दूसरी बात यह है कि ब्राह्मणों के विषय में राजा के अधिकार सीमित थे। गौतमधर्मसूत्र (११।१।० एवं ८) में आया है—"ब्राह्मणों के अतिरिक्त सब पर राजा शासन करता है, ब्राह्मणों को छोड़कर सभी अन्य लोगों को नीचे आसन पर बैठ-

६. राजेति शब्दमात्रेण भूपो साक्षात्सहस्रदृक्। प्रजानां विपुलोऽप्यर्थैः पुण्य एव प्रजापतिः ॥ पञ्च रूपाणि राजानो धारयन्त्यमितौजसः। अग्नेरिन्द्रस्य सोमस्य यमस्य धनदस्य च॥ असुर्निर्दहनात्तस्य भूतिर्भवति मानवः। भूतिर्दर्शनात्तु यि तस्मात् सर्व राजा न दैवतम्॥ नारदस्मृति प्रकीर्णक २ २२ एवं ५२। इदमेव प्रकुर्वते बहु राजानमिति भूमि। सर्वदेवमयस्तथा राजा तनुरयी मूर्तिमिच्छता॥ शान्ति ६७।४। कात्यायन का कहना है—सुराणामध्यक्ष स्वर्लोकपुरन्दरेव तिष्ठति। धर्मार्थं तेन तस्मिन् देव सर्व समाप्नुयात्॥ (राजधर्मकाण्ड द्वारा उद्धृत ३ पृ० १६)। यहाँ तत्त्व का अर्थ है गुरैश्वत्व।

७. सर्वदेवमयो राजा मनुना सम्प्रकीर्तितः। तस्मात्तमेव देववत्‌ न व्यलीकेन कर्हिचित्॥ पञ्चतन्त्र (१)। कुछ संस्करणों के 'तस्मात्तं देववत्पश्येत्' आया है।

कर राजा का सम्मान करना चाहिए, क्योकि राजा का आसन सबसे ऊँचा होता है। ब्राह्मणो को भी चाहिए कि वे राजा का सम्मान करें।"[8] ऐतरेयब्राह्मण (३७।५) के काल मे ही ब्राह्मणा एव राजा की एकरूपता की तथा राजा द्वारा ब्राह्मण की सम्मति का आदर करने की परम्परा चली आती रही है (ऐतरेयब्राह्मण ४०।१, गौतम० ८।१, ११।२७)। शुक्रनीतिसार (१।७०) मे आया है कि वह राजा जो प्रजा को कष्ट देता है या धर्म के नाश का कारण बनता है, अवश्य ही राक्षसो का अश होता है।[9] मनु (७।१११–११२) ने कहा है कि जो राजा प्रजा को पीडा देता है वह अपना जीवन, कुटुम्ब एव राज्य खो देता है। प्राचीन साहित्य मे ऐसे राजाओ की गाथाएँ पायी जाती है जो अपने अत्याचार के फल-स्वरूप मार डाले गये थे। राजा वेन को ब्राह्मणो ने मार डाला क्योकि वह देवद्रोही था, अपने लिए यज्ञ कराना चाहता था और अधर्मपालक था (शान्ति० ५९।९३–९५, भागवतपुराण ४।१४)। यही बात (अर्थात् प्रजापीडक, अत्याचारी एव भ्रष्ट राजाओ के मार डालने वाली बात) अनुशासनपर्व मे भी पायी जाती है।[10] मनु (७।२७–२८) का कहना है कि यदि दण्ड के सिद्धान्त भली भाति कार्यान्वित हो तो तीनो पुरुषार्थो की उन्नति होती है, किन्तु यदि व्यभिचारी, दुष्ट एव अन्यायी राजा दण्ड धारण करे तो वह दण्ड उसी पर घूम जाता है और उसके सम्बन्धियो के साथ उसका नाश कर देता है। कामन्दक (२।३८) ने लिखा है कि मूर्खतापूर्वक दण्ड धारण करने से मुनि लोगो का भी नाश हो जाता है। शान्तिपर्व (९२।१९) मे घोषित हुआ है कि झूठे एव दुष्ट मन्त्रियो वाले तथा अधार्मिक राजा को मार डालना चाहिए। तैत्तिरीयसहिता (२।३।१), शतपथब्राह्मण (१२।९।३।१ एव ३) ने भी ऐसा ही सकेत दिया है और लिखा है कि दुष्ट राजा निकाल बाहर किये जाते रहे हैं, यथा—दुष्टरीतु पौसायन, जिसके कुल का राज्य दस पीढियो मे चला आ रहा था, राज्य से निकाल दिया गया राज्य से हीन हो जाने के बाद ही सौत्रामणि इष्टि राज्य की पुन प्राप्ति के लिए की जाती रही है। शान्ति० (९२।६ एव ९), मनु (७।२७ एव ३४) तथा याज्ञ० (१।३५६) ने राजगद्दी छीन लेने की बात कही है। शुक्रनीति० (२।२७४–२७५) ने भी दुष्ट राजाओ को गद्दी से उतार कर गुणवान् व्यक्ति के राज्याभिषेक की चर्चा की है। नारद (प्रकीर्णक, २५) ने लिखा है कि पूर्व जन्मो मे सत्कर्मो के कारण ही राजपद मिलता है। यह कर्मवाद का सिद्धान्त है और इसका प्रतिपादन शुक्रनीति० (१।२०) ने भी किया है (और देखिए मनु ७।१११-११२, शान्ति० ७८।३६)। यदि ब्राह्मण लोग अत्याचारी राजा को हटाकर मार डालें तो इस कर्म मे पाप नही लगता (शुक्रनीति० ४।७।३३२-३३३)। यशस्तिलक (३, पृ० ४३१) ने प्रजा द्वारा मारे गये राजाओ के उदाहरण दिये हैं, यथा—कलिंग का राजा, जिसने एक नाई को अपना प्रधान सेनापति बनाया था।

८ राजा सर्वस्येष्टे ब्राह्मणवर्जम्। तमुपर्यासीनमधस्तादुपासीरन्नन्ये ब्राह्मणेभ्य। तेप्येन मन्येरन्। गौ० ११।१।७-८। गौ० (११।७) को मनु (७।६) की व्याख्या मे मेधातिथि ने उद्धृत किया है और यही कार्य राजनीतिप्रकाश (पृ० १७) ने भी किया है।

९ यो हि धर्मपरो राजा देवाशोऽन्यश्च रक्षसाम्। अशभूतो धर्मलोपी प्रजापीडाकरो भवेत्॥ शुक्रनीति० १।७०; नीचहीनो दीर्घदर्शी वृद्धसेवी सुनीतियुक्। गुणिजुष्टस्तु यो राजा स ज्ञेयो देवताशक॥ विपरीतस्तु रक्षोश स वै नरकभाजनम्। नृपाशसदृशा नित्य तत्सहायगणा किल॥ शुक्रनीति० १।८६-८७।

१० अरक्षितार हन्तार विलोप्तारमनायकम्। त वै राजकलि हन्यु प्रजा सन्नह्य निर्घृणम्॥ अह वो रक्षितेत्युक्त्वा यो न रक्षति भूमिप। स सहत्या निहन्तव्य श्वेव सोन्माद आतुर॥ अनुशासन० (६१।३२-३३)। असत्पापिष्ठसचिवो वध्यो लोकस्य धर्महा। शान्ति० ९२।९।

राजनीति-शास्त्र-सम्बन्धी सभी ग्रन्थों में राजाओं के अधिकारों एवं विशेषाधिकारों की अपेक्षा उनके कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों पर विशेष बल दिया गया है। कुछ ग्रन्थों में राजा प्रजा का नौकर कहा गया है जिसे रक्षा करने के कारण वेतन रूप में कर दिया जाता है (देखिए, बौधायनधर्मसूत्र १।१०।१, शुक्रनीति १।१८८, नारद-प्रकीर्णक ४८, शान्ति ७१।१०)। एक ओर तो ऐसा कहा गया है कि राजा को देवत्व प्राप्त है और दूसरी ओर बुरा कर्म करने पर उसे सिंहासन-च्युत करने या मार डालने की व्यवस्था दी गयी है। ऐसी विपरीत व्याख्याओं के मूल में दो दृष्टिकोण हैं। धर्म-धारा में वर्णों एवं आश्रमों की स्थिति को अक्षुण्ण रखने के लिए तथा आगे वाले कालों में सामाजिक कुव्यवस्थाएँ न उत्पन्न हों इसलिए राजा को देवत्व प्रदान किया जिससे कि लोग उसकी आज्ञाओं के अनुसार चलते रहें। यह बात सामान्य लोगों के लिए कही गयी है। किन्तु बुरे राजाओं एवं मन्त्रियों के अत्याचार का भी भय था ही। अतः राजा तथा उसके मन्त्रियों को नाश एवं मृत्यु की धमकी भी दे दी गयी थी।

कौटिलीय (५।३) में ये शब्द आये हैं—"समानविद्येभ्यस्त्रिगुणवेतनो राजा राजसूयादिषु क्रतुषु" अर्थात् राजसूय तथा अन्य वैदिक यज्ञों में राजा को उत्समान विद्वानों की अपेक्षा तिगुना वेतन मिलता है। डा० जायसवाल (हिन्दू पालिटी, भाग २, पृ० १३६) ने इस कथन के आधार पर राजा को भी मन्त्रियों एवं प्रधान सेनापति के समान वेतनभोगी की संज्ञा दी है। किन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है, क्योंकि कौटिल्य ने यहाँ पर राजा के विषय में नहीं प्रत्युत उसके प्रतिनिधि या सहायक की ओर संकेत किया है, जब कि राजा अश्वमेध-जैसे लम्बी अवधि वाले यज्ञ में संलग्न रहा करता था। आपस्तम्बश्रौतसूत्र (२०।१।१२), बौधायनश्रौतसूत्र (१५।४) एवं सत्याषाढश्रौतसूत्र (१४।१।२४-२५) में स्पष्ट आया है कि अश्वमेध यज्ञ में जब कि वह दो वर्षों तक चलता रहता था, अध्वर्यु नामक पुरोहित उसके स्थान पर कार्य करता था। अतः ऊपर जो बात राजा के वेतन के विषय में कही गयी है, वह अध्वर्यु के लिए सिद्ध होती है, जो कि यज्ञादि में राजा का प्रतिनिधि होता था। कौटिल्य (१०।३) ने लिखा है कि सदाचारी राजा को किसी युद्ध के आरम्भ में अपने सैनिकों को इस प्रकार प्रोत्साहित करना चाहिए— 'मैं भी तुम लोगों की भाँति वेतनभोगी हूँ, इस राज्य का उपभोग मुझे तुम लोगों के साथ ही करना है, तुम्हें मेरे द्वारा बताये गये शत्रु को हराना है।' यहाँ पर प्रकारान्तर से इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है कि राजा वेतनभोगी है या राज्य का नौकर है।

निरुक्त (२।३) में 'राजन्' शब्द 'राज्' धातु से निष्पन्न बताया गया है जिसका अर्थ है 'चमकना'। किन्तु महाभारत (शान्ति ५९।१२५) ने राजा को 'रञ्ज्' धातु से निष्पन्न बताया है जिसका अर्थ है 'प्रसन्न करना', अर्थात् वही राजा है जो प्रजा को प्रसन्न एवं सुखी या सन्तुष्ट रखता है। कालिदास (रघुवंश ४।१२) ऐसे कवियों ने महाभारत का अर्थ स्वीकृत किया है और क्षत्रिय शब्द का 'क्षत' तथा 'त्रै' धातु से निष्पन्न बताया है जिसका अर्थ है 'वह जो नाश या क्षय से रक्षा करता है।' (शान्ति ९।१२९, रघुवंश २।५३)।

हमारे प्राचीन ग्रन्थों में राजत्व के उद्भव के विषय में चार सिद्धान्त घोषित किये गये हैं। ऋग्वेद (१०।१७३) अथर्ववेद (६।८७ एवं ८८।१-२) में चुनाव की ओर संकेत मिलता है, ऐसा डा० जायसवाल का कहना है। किन्तु वास्तव में यह बात ठीक नहीं है। 'सभी लोग तुम्हें (राजा की भाँति) चाहें' (ऋग्वेद १०।१७३।१) इनके लिए आया

११. अन्यप्रकारादुर्भिक्षात् बहुधापालनात्। बलिः स तस्य विहितः प्रजापालनवेतनम्॥ नारद (प्रकीर्णक ४८); बलिषष्ठेन शुल्केन दण्डेनाथापराधिनाम्। शास्त्रानीतेन लिप्सेथा वेतनेन धनागमम्॥ शान्ति ७१।१०; स्वभागभृत्या दास्यत्वे प्रजानां च नृपः कृतः। ब्रह्मणा स्वामिरूपस्तु पालनार्थं हि सर्वदा॥ शुक्रनीति (१।१८८)।

है जो पहले से ही राजा है। अथर्ववेद (३।८।२) मे राजा के निर्वाचन की ओर सकेत मिलता है—"लोग (विश) राज्य करने के लिए तुम्हे चुनते हैं, ये दिशाएँ, ये पञ्चदेवियाँ तुम्हे चुनती हैं।" भद्र लोग, राजा-निर्माता या राजा के कर्ता, सूत, ग्राम-मुखिया, दक्ष रथकार, कुशल धातु-निर्माता राजा को चुनते थे, ऐसी ध्वनि अथर्ववेद (३।५।६ एव ७) मे मिलती है।[१२] अन्य वैदिक ग्रन्थों एव तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।७।३) मे राजा के निर्माता (राज-कर्ता) को 'रत्निन्' कहा गया है, "रत्नी लोग राष्ट्र (राज्य) राजा को देते हैं" (रत्निनामेतानि हवींपि भवन्ति। एते वै राष्ट्रस्य प्रदातार—तै० ब्रा० १।७।३)। इससे स्पष्ट होता है कि ऐसी धारणा थी कि राजा भद्र लोगो, उच्च कर्मचारियो तथा सामान्य लोगो से राज्य पाता था। अयोध्याकाण्ड (१ एव २) मे राजा दशरथ ने राम को युवराज पद देने के लिए सामन्तों, नागरिकों, ग्रामिकों आदि की सभा बुलायी थी और उन सभी लोगो ने प्रसन्नतापूर्वक अपना अभिमत राम के पक्ष मे दिया। इससे स्पष्ट है कि कालान्तर मे राजत्व-पद आनुवंशिक हो गया था, किन्तु सामान्य लोगों का अभिमत लेने की परम्परा अभी जाग्रत थी। किन्तु उपर्युक्त कथनो से यह नही प्रकट होता कि राजा लोगो द्वारा निर्वाचित सदस्यो की ससद् द्वारा निर्वाचित होता था। केवल इतना ही व्यक्त होता है कि लोग यो ही स्वेच्छया एकत्र हो सभा मे अपनी सम्मति दे देते थे। रामायण (२।६७) मे आया है कि दशरथ के दिवगत हो जाने पर मार्कण्डेय एव वामदेव जैसे मुनियो ने अमात्यो के साथ कुलपुरोहित वसिष्ठ के समक्ष यह उद्घोपित किया कि राम एव लक्ष्मण वन को चले गये, भरत एव शत्रुघ्न केकय देश मे हैं, अत इक्ष्वाकु कुल के किसी वशज को राजा चुनना चाहिए। इन मुनियो एव अमात्यो को 'राज-कर्तार' कहा गया है (७९।१)। आदिपर्व (४४।६) मे आया है कि परीक्षित की मृत्यु के उपरान्त राजधानी के सभी नागरिको ने एक स्वर से जनमेजय नामक बालक को राजा चुना और जनमेजय ने अपने मन्त्रियो एव पुरोहित की सहायता से राज्य किया। राजा के निर्वाचन के विषय मे ऐतिहासिक उदाहरण भी प्राप्त होते हैं। क्षत्रप राजा रुद्रदामन् सुराष्ट्र के लोगो द्वारा निर्वाचित हुआ था। कौटिल्य (११।१) के शब्दो मे सुराष्ट्र मे एक समय गणतन्त्र था। रुद्रदामन् के अभिलेख मे आया है कि उसने राज्य-प्राप्ति पर शपथ भी ली थी (देखिए एपिग्रैफिया इण्डिका, भाग ८, पृ० ३६)। पाल-वश के सस्थापक गोपाल का भी निर्वाचन हुआ था। लगता है, मुख्य मत्रियो एव ब्राह्मणो द्वारा राजा का नाम घोपित होता था और वे ही लोग "राज-कर्तार" कहे जाते थे। प्रसिद्ध चीनी यात्री युवान च्वांग (ह्वेन साग) ने लिखा है कि राज्यवर्धन की मृत्यु के उपरान्त मुख्य मन्त्री भण्डी ने मन्त्रियो की सभा की और मन्त्रियो एव न्यायाधिकारियो ने हर्ष को राजा बनाया। इसी प्रकार जब परमेश्वर वर्मा द्वितीय की मृत्यु के उपरान्त पल्लव-राज्य मे अराजकता फैल गयी तो प्रजा ने राजा चुना। राजतरगिणी (५।४६१-४६३) मे आया है कि यशस्कर पहले एक दरिद्र व्यक्ति था, ब्राह्मणो ने उसे राजा बनाया।

कही-कही रूसो द्वारा उद्घोपित 'सामाजिक समझौते' वाले सिद्धान्त की प्रतिध्वनि भी मिल जाती है। वर्तमान काल मे सामाजिक समझौते वाला सिद्धान्त दो स्वरूपो मे उपस्थित किया जाता है। पहला वह है जिसके द्वारा शासन एव जनता मे स्पष्ट अभिमत की कल्पना की गयी है और दूसरा वह है जिसके द्वारा यह व्यक्त होता है कि एक ऐसे राजनीतिक समाज का निर्माण हुआ जो व्यक्तियो का पारस्परिक समझौता था और जिसमे राजा का कोई हाथ नही था। सामाजिक समझौते वाला सिद्धान्त यह व्यक्त करता है कि शासन या सरकार जनता की स्वीकृति पर निर्भर रहती है। कौटिल्य (१।१३) ने उस किवदन्ती की ओर सकेत किया है जिससे प्रकट होता है कि वैवस्वत मनु लोगो द्वारा राजा बनाया गया और रक्षा करने के कारण लोगो ने उसको आय का छठा भाग कर देना स्वीकार किया।

१२ त्वा विशो वृणता राज्याय त्वामिमा प्रदिश पञ्च देवी। अथर्व० ३।४।२, ये राजानो राजकृत सूता ग्रामण्यश्च ये। उपस्तीन् पर्ण मह्य त्व सर्वान् कृण्वभितो जनान्॥ अथर्व० ३।५।७।

किन्तु कौटिल्य ने यह नहीं लिखा है कि मनु ने जनता के समक्ष कोई प्रण लिया कि नहीं। शान्तिपर्व (अध्याय ५९) में आया है कि किस प्रकार प्रथम राजा वैन्य (पृथु) ने देवों एवं मुनियों के समक्ष शपथ ली कि वह विश्व की रक्षा करेगा, राजनीति-शास्त्र द्वारा निर्धारित कर्तव्यों का पालन करेगा और अपने मन की कभी न करेगा।[1]

राजा के देवत्व अधिकार वाले सिद्धान्त की ध्वनि ऋग्वेद में भी है। ऋग्वेद (४।४२) में पुरुकुत्स के पुत्र त्रसदस्यु का वर्णन है। इस मन्त्र के कुछ विचार विलक्षण हैं। राजा त्रसदस्यु कहता है—"देव लोग वरुण की शक्ति पर निर्भर हैं, *किन्तु मैं लोगों का राजा हूँ, मैं इन्द्र एवं वरुण हूँ, मैं विशाल एवं गम्भीर स्वर्ग एवं पृथिवी हूँ, मैं अदिति का पुत्र हूँ।* यहाँ पर राजा अपने को वैदिक देवों में सर्वश्रेष्ठ देवों के समान कहता है। अथर्ववेद (६।८७।१-२) में आया है—"हे राजा, तुम्हें सभी लोग चाहें, तुम्हारे हाथों से राज्य न छीना जा सके, तुम इन्द्र के समान इस विश्व में सुस्थिर रहो और तुम राज्य धारण किये रहो।" शतपथब्राह्मण (५।१।५।१४) में वाजपेय यज्ञ में साम गाते समय ऐसा कहा गया है—"राजन्य प्रजापति का है, वह अकेला है, किन्तु बहुतों पर राज्य करता है।" यहाँ पर राजा की स्थिति का वर्णन प्रजापति के प्रतिनिधि रूप में है। विश्वरूप (याज्ञवल्क्य १।३५) ने एक लम्बे वैदिक अंश (ब्राह्मण) को उद्धृत कर ऐसा लिखा है—"देवों ने प्रजापति से कहा, हम लोग सोम, सूर्य, इन्द्र, विष्णु, वैश्रवण (कुबेर) एवं यम से क्रमानुसार महत्ता, दीप्ति, शक्ति, विजय, औदार्य एवं नियन्त्रण लेकर मानव रूप में राजा के लिए व्यवस्था करेंगे। जब इस प्रकार राजा बन गया तो उसने देवों से अपने मित्र के रूप में धर्म की याचना की, जिससे कि वह लोगों की रक्षा कर सके और तब देवों ने *धर्म (अर्थात् दण्ड) को मित्र के रूप में उसे दिया।*

राजत्व के उद्भव के सिद्धान्तों की जो चर्चा महाभारत में हुई है हम उसकी समीक्षा करेंगे। शान्तिपर्व ने इस विषय में दो स्थलों पर चर्चा की है (अध्याय ५९ एवं ६७)। ५९वें अध्याय में युधिष्ठिर ने महान् योद्धा एवं राजनीतिज्ञ भीष्म से पूछा कि 'राजा' की उपाधि का उद्भव क्या है और किस प्रकार अन्य मनुष्यों की भाँति ही दैहिक एवं मानस शक्तियों वाला एक मनुष्य सब पर शासन करता है। ये दो प्रश्न नहीं हैं, प्रत्युत एक ही प्रश्न के दो पहलू हैं। भीष्म ने उत्तर के रूप में कहा कि आरम्भ में कृतयुग (पूर्णता की स्थिति) था, न राजा था न राज्य, और न दण्ड था और न दण्ड देने वाला। क्रमशः लोगों में मोह उत्पन्न हुआ और तब लोभ, कामुक प्रेरणाओं एवं उद्दाम प्रवृत्तियों का उदय हुआ और वेदों एवं धर्म का विनाश हो गया। देवों को आहुतियाँ मिलनी बन्द हो गयीं और वे ब्रह्मा के पास गये। ब्रह्मा ने एक महान् ग्रन्थ का प्रणयन किया, जिसमें विश्व के कल्याण के हेतु जीवन के अस्तित्व के चार लक्ष्य प्रतिपादित किये गये और वह ज्ञान का उत्तमांश घोषित हुआ। इसके उपरान्त देव-गण विष्णु के पास गये और उनसे मनुष्यों में सर्वोत्तम व्यक्ति को राजा बनाने की प्रार्थना की। विष्णु ने अपने मन से विरजा नामक पुत्र उत्पन्न किया, जिसने राजा बनना स्वीकार नहीं किया। विरजा की पाँचवीं पीढ़ी में वेन उत्पन्न हुआ जिसने धर्म का नाश कर दिया और ब्राह्मणों ने उसे मार डाला। ब्राह्मणों ने फिर उसकी दायीं भुजा को मथकर सुन्दर, सुसज्जित तथा वेद-वेदांगों एवं दण्डनीति में पारंगत पृथु को उत्पन्न किया। देवों एवं ऋषियों ने उसे सुनिश्चित धर्म के पालन के लिए प्रेरित किया, अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण करने तथा शपथ लेने को कहा। उसे ही देवों एवं ऋषियों ने जन-रक्षण के लिए राज-पद दिया। स्वयं विष्णु ने उससे कहा—"हे राजा, तुम्हारी आज्ञा के विरोध में कोई नहीं जायगा।" ऐसा कहकर विष्णु पृथु में समा गये (श्लोक १२८) और इसी लिए लोग राजाओं को देवतुल्य मानकर उनके समक्ष माथा नवाते हैं। इस वृत्तान्त

1. प्रतिज्ञां चाधिरोहस्व मनसा कर्मणा गिरा। पालयिष्याम्यहं भौमं ब्रह्म इत्येव चासकृत्॥ यश्चात्र धर्मो नीत्युक्तो दण्डनीतिव्यपाश्रयः। तमशङ्कः करिष्यामि स्ववशो न कदाचन॥ शान्ति० ५९।१०६, १०८।

से पता चलता है कि पृथु को जो शपथ दिलायी गयी वह मानवा के समक्ष न होकर देवो के समक्ष हुई और उसने लोगो के समक्ष कोई प्रण नही किया। सम्भवत देवो के समक्ष ली गयी शपथ मनुष्यो के लिए भी ज्यो-की-त्यो मान ली गयी। किन्तु जो वृत्तान्त ऊपर आया है, उससे पता चलता है कि राजा का उद्गम दैवी था।

६७वाँ अध्याय उपर्युक्त विषय मे सक्षिप्त वृत्तान्त देता है। लगता है, यह विवेचन किसी पूर्ववर्ती ग्रन्थ या लेखक से सम्बन्धित था। इसमे आया है कि राज्य के लिए सबसे बडी बात है राजा प्राप्त करना, क्योकि राजा-विहीन देश मे धर्म, जीवन एव सम्पत्ति का नाश हो जाता है, इसी लिए देवो ने जन-रक्षार्थ राजा की नियुक्ति की। इस अध्याय मे आया है कि लोग एकत्र हुए और उन्होने इस आशय के नियम बनाये कि जो कोई निन्दा, मारपीट, बलात्कार तथा नियम भग करेगा वह त्याज्य होगा। वे सभी ब्रह्मा के पास गये और उनसे ऐसे शासक की नियुक्ति के लिए प्रार्थना की जो उनकी रक्षा कर सके और उनसे आदर-सम्मान प्राप्त कर सके। ब्रह्मा ने मनु की नियुक्ति की, किन्तु उन्होने प्रथमत यह कहकर अस्वीकार किया कि शासन एक कठिन व्यापार है, विशेषत मनुष्यो के बीच जो कि सदा कपटी होते है, मैं मनुष्यो के पापमय कर्मो से बडा भय खाता हूँ। मनुष्यो ने मनु से न डरने को कहा और कहा कि पाप केवल पापकर्मियो को ही प्रभावित करेगा (मनु को नही), उन्होंने अन्न का दसवाँ, पशु का पाँचवाँ, धर्म का चौथा भाग आदि देने का वचन दिया। तब मनु मान गये। उन्होंने विश्व का परिभ्रमण किया, दुष्कर्मियो को भयाक्रान्त किया और उन्हें धर्म के अनुसार चलने को बाध्य किया। कौटिल्य ने मनु एव मानव से सम्बन्धित यह बात अपने अर्थशास्त्र मे भी परिकल्पित की है (१।१३)। मनु ने अपनी ओर से कोई प्रण नही किया, यद्यपि मनुष्यो ने कर देने तथा अपने पापो को स्वय भोगने का प्रतिवचन दिया था। इसमे सन्देह नही है कि दोनो अध्यायो के वृतान्तो मे कुछ अन्तर अवश्य है। ६७वें अध्याय मे आरम्भिक कृतयुग, विशाल ग्रन्थ, शपथ आदि का उल्लेख नही है। इतना ही नही, एक अध्याय मे प्रथम राजा वैन्य है तो दूसरे मे मनु। दोनो धारणाएँ काल्पनिक एव देवताख्यान-सम्बन्धी है, किन्तु दोनो मे मुख्य तथ्य एक ही है। दोनो मे राजा की प्राप्ति देवों से ही हुई है, विशेषत उस समय जब कि जनो मे राजा नही था और चारो ओर अनैतिकता का साम्राज्य था। ६७वें अध्याय मे दैवी अधिकार एव राजा और लोगो के बीच आरम्भिक समझौते का सम्मिश्रण पाया जाता है। अस्तु, राजत्व के उद्गम के विषय मे दोनो अध्याय एक ही बात की ओर सकेत करते हैं, अर्थात् राजत्व का उद्गम दैवी था। शान्तिपर्व (६७।४) मे आया है—"सम्पत्ति एव समृद्धि के अभिकाक्षी को इन्द्र के सम्मान के समान ही राजा का सम्मान करना चाहिए।" ५९वें अध्याय (श्लोक १३९) मे आया है कि दैवी गुणो के कारण ही लोग राजा के नियन्त्रण मे रहते है। शान्तिपर्व के दोनो अध्यायो मे राजा एव मनुष्यो के बीच समझौते पर कोई स्पष्ट या सम्यक् सिद्धान्त नही है।

नारदस्मृति (प्रकीर्णक, २०, २२, २६, ५२) ने स्पष्ट रूप से दैवी अधिकार का प्रतिपादन किया है—"पृथिवी पर स्वय इन्द्र राजा के रूप मे विचरण करता है। उसकी आज्ञाओ का उल्लघन करके मनुष्य कही नही रह सकते। राजा सर्वशक्तिमान् है, वही रक्षक है, वह सब पर कृपालु है, अत यह निश्चित नियम है कि राजा जो कुछ करता है वह ठीक या सम्यक् ही रहता है। जिस प्रकार दुर्बल पति को भी उसकी पत्नी की ओर से सम्मान मिलता है, उसी प्रकार गुणहीन शासक को भी प्रजा द्वारा सम्मान मिलना चाहिए।"

अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दी डिवाइन राइटर आव किंग्स' (सन् १९३४, पृ० ५-६) मे श्री जे० एन० फिगिस ने दैवी अधिकार के सिद्धान्त के लिए चार प्रमेय स्वीकृत किये हैं, (१) राजत्व दैवी है अर्थात् इसकी सस्थापना मे दैवी हाथ है, (२) राजत्व पर आनुवशिक अधिकार है (३) राजा पूर्णरूपेण स्वतन्त्र है, वह केवल परमात्मा के प्रति उत्तरदायी है, (४) बिना किसी आग्रह के तथा पूर्ण आज्ञाकारिता के साथ राजाज्ञा माननी होगी, ऐसा ईश्वर द्वारा निर्धारित है, अर्थात् किसी भी दशा मे राजा का विरोध करना पाप है । यूरोप मे यह सिद्धान्त १६वी

एवं १८वीं शताब्दियों में भली भाँति प्रचलित था, क्योंकि उन दिनों वहाँ धर्मशास्त्र एवं राजनीति-शास्त्र एक-साथ मिलकर चल रहे थे।

अब हम यह देखेंगे कि उपर्युक्त सिद्धान्त एवं हिन्दू सिद्धान्त में किस रूप में समानता एवं विरोध है। प्रथम प्रमेय के विषय में यह कहना है कि मनुस्मृति, महाभारत आदि ग्रन्थों ने राजा को या तो साक्षात् ईश्वर माना है या ईश्वर का प्रतिनिधि, जो देवों के समान ही कर्म करता है। दूसरे प्रमेय के विषय में यह कहना है कि सभी स्मृति-ग्रन्थों ने राजत्व-प्राप्ति के आनुवंशिक अधिकार की घोषणा की है। किन्तु कुछ अपवाद भी पाये जाते हैं, जिनके विषय में आगे लिखा जायगा। हमारे प्राचीन ग्रन्थों ने तीसरे एवं चौथे प्रमेयों को पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं किया है। उनका कहना है कि राजा मनमानी नहीं कर सकता, उसको धर्म के अनुसार चलना होगा, नवीन नियमों के निर्माण में उसकी शक्ति सीमित है, इतना ही नहीं, यदि वह धर्म के नियमों के अनुसार नहीं चलेगा तो उसे गद्दी से उतार दिया जायगा, उसकी आज्ञाओं का उल्लंघन किया जायगा या वह मार डाला जायगा (देखिए ऊपर शुक्रनीति एवं अनुशासन के उद्धृत अंश)। मनु (७।१११-११२) एवं नारद (प्रकीर्णक १२ एवं ३२) की एतत्सम्बन्धी घोषणाएँ भी विचारणीय हैं।

ऐसा कहना कि "दैवी अधिकार" वाला सिद्धान्त "सामाजिक समझौता" वाले सिद्धान्त के विरोध में उत्पन्न हुआ, सर्वथा भ्रामक है। प्रथम सिद्धान्त प्राचीन काल में स्वभावतः प्रचलित हो सकता था, किन्तु दूसरा सिद्धान्त राजनीतिक विचार के प्रगतिशील स्तर का द्योतक है। वास्तव में दोनों सिद्धान्त अतर्क्य हैं, निरर्थकता एवं अनर्थकता में दोनों के पलड़े समान हैं। दैवी अधिकार वाले सिद्धान्त को एक अन्य अति प्राचीन सिद्धान्त दबा बैठता है। १८वीं शताब्दी में अमेरिका वालों ने अंग्रेजों के विरोध में स्वर ऊँचा उठाया कि "कर ग्रहण एवं प्रतिनिधित्व साथ-साथ चलते हैं।" प्राचीन हिन्दू राजनीतिज्ञों एवं धर्मशास्त्रकारों ने कहा— कर ग्रहण एवं रक्षण साथ-साथ चलते हैं। बौधायनधर्मसूत्र (१।१०।१) का कहना है— जो राजा छठे भाग (कर-ग्रहण) के लिए रखा जाता है, उसे चाहिए कि वह प्रजा की रक्षा करे। इसी प्रकार की बातें अन्य ग्रन्थों में कई लेखकों द्वारा कही गयी हैं (देखिए याज्ञ० १।३३४, १।३३७, शान्तिपर्व ५७।४४-४५, शुक्रनीति १।१२१, वसिष्ठ १।४४-४६, गौतम ११।११, विष्णुधर्मसूत्र ३।२८, उद्योगपर्व १३२।१२, शान्ति ७२।२, आपस्तम्बाधि १।४, अनुशासन ६१।३४ एवं ३६, नारदस्मृति २।१)। कर न देने वाले ऋषियों-मुनियों की भी रक्षा राजा को करनी पड़ती थी क्योंकि वह उनके पुण्यों का भागी होता था। और देखिए रामायण (३।६।१४), कालिदास (शाकुन्तल २।१३), आदिपर्व (२१३।), शान्तिपर्व (७१।२९)।

उपर्युक्त विवेचन से राजशास्त्र-शासन के विषय में निम्नलिखित तथ्य उपस्थित हो जाते हैं—(१) राजा में देवत्व है, (२) जीवन, स्वतन्त्रता एवं सम्पत्ति की रक्षा के लिए राजा या शासक की बड़ी महत्ता है, (३) दण्ड का भय (मनु ७।२२), (४) राजा एवं प्रजा में प्रारम्भिक समझौता, (५) शासक एवं शासित, राज्य के अन्योन्याश्रित अंग हैं। अन्तिम बात के विषय में देखिए मनु (९।२९४) की व्याख्या में मेधातिथि के वचन।

किसे राजा होना चाहिए? इस विषय में कई मत हैं। "राजा" शब्द का एक अर्थ है "क्षत्रिय"। मनु (७।१) ने क्षत्रिय को ही राजा के योग्य ठहराया है। धर्मशास्त्र-साहित्य में "राजा" शब्द उसके लिए आया है जो किसी देश पर शासन करता है या उसकी रक्षा करता है। पूर्वमीमांसासूत्र के अनुसार "राजा" शब्द किसी भी जाति के व्यक्ति के लिए प्रयुक्त हो सकता है। जो व्यक्ति प्रजा-रक्षण का कार्य करता है वह राजा है। यही बात अवेष्टि नामक इष्टि के सम्पादन के विषय में भी कही गयी है। अवेष्टि राजसूय यज्ञ का एक प्रमुख अंग है। राजा राजसूय यज्ञ करता था ('राजा राजसूयेन यजेत' अर्थात् राजसूय राजा द्वारा सम्पादित होना चाहिए)। अवेष्टि के सम्पादन के सिलसिले

मे ब्राह्मणो, क्षत्रियो एव वैश्यो की भी चर्चा हुई है। इससे प्रकट होता है कि राजसूय करने वाला राजा किसी भी जाति का हो सकता है।

बहुत से ब्राह्मण-वंशो ने राज्य एव साम्राज्य स्थापित किये थे। शुग-साम्राज्य का संस्थापक पुष्यमित्र ब्राह्मण-जाति का था (हरिवंश ३।२।३५)। शुगो के उपरान्त कण्व ब्राह्मणो ने तथा उनके उपरान्त वाकाटक, कदम्ब आदि ब्राह्मण-राजाओ ने राज्य किये। हमने इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग मे ब्राह्मणो की चर्चा करते हुए देख लिया है कि आपत्काल मे वे लोग अस्त्र-शस्त्र ग्रहण कर सकते थे। मनु (१२।१००) ने लिखा है कि वेदज्ञ ब्राह्मण राजा, सेनापति या दण्डाधिपति हो सकता है। जैमिनि (२।३।३) की व्याख्या मे कुमारिल ने लिखा है कि सभी जातियो के लोग शासक होते देखे गये है। पाल-वंश का सस्थापक गोपाल शूद्र था। मनु (४।६१) ने लिखा है कि शूद्र द्वारा शासित देश मे ब्राह्मणो को नही रहना चाहिए। शान्तिपर्व मे आया है कि जो भी कोई दस्युओ अथवा डाकुओ से जनता की रक्षा करता है और स्मृति-नियमो के अनुसार दण्ड-वहन करता है, उसे राजा समझना चाहिए। हरिवंश (३।३।६) तथा कुछ पुराणो मे आया है कि कलियुग मे अधिकतर शूद्र राजा होंगे और वे अश्वमेध यज्ञ करेंगे (देखिए मत्स्य० १४४।४० एव ४३ एव लिंग० ४०।७ एव ४२)। युवान च्वाँग ने अपने यात्रावृत्तान्त मे उल्लेख किया है कि सातवी शताब्दी के पूर्वार्ध मे सिन्ध पर शूद्र राजा का राज्य था।

यह एक सामान्य नियम-सा था कि केवल पुरुषवर्ग ही राजा हो सकता था। बहुत थोडे ही अपवाद पाये जाते है। शान्ति० (३३।४३ एव ४५) मे आया है कि विजित देश के सिंहासन पर राजा के भाई, पुत्र या पौत्र को बैठाना चाहिए, किन्तु राजकुमार के न रहने पर भूतपूर्व राजा की पुत्री को यह पद मिलना चाहिए। राजतरंगिणी (५।२४५ एव ६।३३२) ने सुगन्धा (९०४-९०६ ई०) एव दिद्दा (९८०-८१ ई०) के कुख्यात शासन का वर्णन किया है। तेरहवीं शताब्दी के गजाम ताम्रपत्र ने शुभाकर के मर जाने पर उसकी रानी तथा पुत्री दण्डी महादेवी के राज्य-पद सुशोभित करने का वर्णन किया है और दण्डी महादेवी को "परमभट्टारिका—महाराजाधिराजपरमेश्वरी" की उपाधि दी है। रघुवंश (१९।५५ एव ५७) मे आया है कि अग्निवर्ण राजा की विधवा रानी गद्दी पर आसीन हुई और वंशपरम्परा से चले आते हुए मन्त्रियो की सहायता से शासन-कार्य किया।

विजय एव निर्वाचन के कतिपय उदाहरणो को छोडकर राजत्व बहुधा आनुवंशिक था और ज्येष्ठ पुत्र को ही गद्दी मिलती थी। शतपथ ब्राह्मण (१२।९।३।१ एव ३) ने दस पीढियो तक चले आते हुए राजत्व का उल्लेख किया है। राजा के मर जाने या राज्य-पद से च्युत हो जाने पर सामान्यत उसका ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य-पद का अधिकारी होता था। वैदिक काल मे भी ज्येष्ठ पुत्रो एव पुत्रियो के अधिकारो की रक्षा की जाती थी। यही बात स्मृतियो के समयो मे भी थी। ऋग्वेद (१।५।६, ३।५०।३) ने इन्द्र के ज्यैष्ठ्य पद की ओर कई बार सकेत किया है। तैत्तिरीय सहिता (५।२।७) मे भी यह बात छिपी हुई है कि पिता की सारी सम्पत्ति ज्येष्ठ पुत्र को मिलती है। ऐतरेयब्राह्मण (१९।४) ने लिखा है कि देवो ने इन्द्र के ज्यैष्ठ्य पद को अस्वीकृत कर दिया था। अत इन्द्र ने बृहस्पति द्वारा द्वादशाह यज्ञ सम्पादित कर अपनी पूर्व स्थिति प्राप्त की। निरुक्त (२।१०) मे देवापि एव शन्तनु की कथा आयी है। छोटे भाई शन्तनु ने राज्य प्राप्त कर लिया अत देवापि ने तप करना आरम्भ किया। शन्तनु के राज्य मे १२ वर्षो तक वृष्टि नही हुई क्योंकि देवगण रुष्ट हो गये थे। शन्तनु से ब्राह्मणो ने कहा—"आपने बडे भाई का अधिकार हर लिया है, इसी से यह गति है।" शन्तनु ने अपने बडे भाई देवापि को राज्यपद देना चाहा। देवापि ने पुरोहित-पद स्वीकार कर यज्ञ आरम्भ कराया। जल बरसाने के लिए देवापि ने मन्त्र प्रकट किये, जो ऋग्वेद के १०।९८ के रूप मे हमारे समक्ष उपस्थित हैं। इस कथानक से स्पष्ट है कि निरुक्त के लेखक यास्क के पूर्व बडे भाई के अधिकारो को छीन लेना एक पाप समझा जाता था। उसी कथानक को दूसरे रूप मे बृहद्देवता (७।१५६-१५७ एव ८।१-९) ने उल्लिखित किया है। जब ययाति

ने अपने बड़े पुत्रों में यदु आदि के स्थान पर पुरु को अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहा तो ब्राह्मणों एवं नागरिकों ने कहा— ज्येष्ठ पुत्र के स्थान पर छोटा पुत्र कैसे राज्य कर सकता है? अर्जुन ने भीमसेन की भर्त्सना की है— धर्म का पालन करने वाले अपने बड़े भाई के विरुद्ध कौन जा सकता है? (सभापर्व ६८।८)। रामायण (२।११४) में आया है कि दशरथ ने राम को अपनी सबसे बड़ी रानी का ज्येष्ठ पुत्र समझकर उत्तराधिकार सौंपा था और वसिष्ठ ने भी राम से कहा है—"इक्ष्वाकुओं में ज्येष्ठ पुत्र को गद्दी मिलती है, ज्येष्ठ के रहते छोटा को राजा नहीं बनाया जाता (रामायण २।११ ।३६)। यही बात अयोध्याकाण्ड में कई स्थलों पर आयी है (८।२३-२४ १ ११ २)। कौटिल्य (१।१७) ने लिखा है कि आपत्काल को छोड़कर शेष ज्येष्ठ को ही राजा बनाना श्रेयस्कर समझते हैं। मनु (९।१) ने लिखा है कि ज्येष्ठ पुत्र की उत्पत्ति के उपरान्त मनुष्य पितृ ऋण से उऋण हो जाता है अतः ज्येष्ठ पुत्र अपने पिता से सब कुछ प्राप्त करता है। राजधर्मकौस्तुभ (पृ १३४ १३५) ने कालिकापुराण एवं रामायण को उद्धृत कर निम्न प्रमेय उपस्थित किये हैं—(१) ग्यारह प्रकार के गौण पुत्रों के स्थान पर औरस पुत्र को प्राथमिकता मिलती है चाहे वह अवस्था में बड़ा हो या छोटा (२) यदि (अपनी ही जाति की) छोटी रानी का पुत्र अवस्था में बड़ी रानी के पुत्र से बड़ा हो तो उसे प्राथमिकता मिलती है (३) यदि एक ही जाति की दो रानियों को एक ही समय पुत्र उत्पन्न हो तो बड़ी रानी के पुत्र को प्राथमिकता मिलती है (४) यदि बड़ी रानी को जुड़वाँ पुत्र उत्पन्न हों तो पहले उत्पन्न होने वाले पुत्र को प्राथमिकता प्राप्त होती है।

यदि ज्येष्ठ पुत्र अन्धा या पागल हो तो उसके स्थान पर उसका छोटा भाई राजा होता है (मनु ९।२ १)। महाभारत में आया है कि अन्धे होने के कारण धृतराष्ट्र को राज्य नहीं मिला (आदिपर्व १ ९।२५, उद्योगपर्व १४७। २९)। शुक्रनीतिसार (१।३४३-३४४) में आया है कि यदि ज्येष्ठ पुत्र बधिर, कोढ़ी गूँगा अन्धा या नपुंसक हो तो उसके स्थान पर उसका छोटा भाई या पुत्र राज्याधिकार प्राप्त करता है। और देखिए शुक्रनीतिसार (१।३४५ ३४६)। राजधर्मकौस्तुभ ने कुछ अतिरिक्त प्रमेय भी उपस्थित किये हैं—(१) यदि ज्येष्ठ पुत्र किसी शारीरिक या मानसिक दोष के कारण राजा न हो सके तो उसके पुत्र का अधिकार अबाधित रहता है (आदिपर्व १ ।९२ का उदाहरण भी दिया गया है)। यही बात बालम्भट्टी (याज्ञ १।३ ९) एवं राजनीतिप्रकाश (पृ ४) ने भी कही है। (२) यदि बड़े पुत्र की असमर्थता के कारण छोटा पुत्र राजपद पाये तो उसकी मृत्यु पर उसी का ज्येष्ठ पुत्र उत्तराधिकारी होता है न कि अक्षम का पुत्र (पाण्डु की मृत्यु के उपरान्त युधिष्ठिर को ही राजपद मिलना चाहिए था न कि धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन को)। नीतिवाक्यामृत (परिच्छेद २४ पृ २८९) ने उत्तराधिकार के विषय में निम्न क्रम रखा है पुत्र भाई, सौतेला भाई, चाचा उसी वंश का कोई पुरुष पुत्री का पुत्र कोई अन्य जन जो निर्वाचित हुआ हो या जिसने राज्य पर अधिकार कर लिया हो।

कभी-कभी किसी राजा ने अपने छोटे पुत्र को भी प्राथमिकता दी है। इस विषय में कतिपय ऐतिहासिक उदाहरण प्राप्त होते हैं। गुप्त वंश के सम्राट् चन्द्रगुप्त प्रथम ने छोटे पुत्र समुद्रगुप्त को ही राजा बनाया जिसने अपने पिता के चरण में औचित्य को आगे चलकर सिद्ध कर दिया। इसी प्रकार समुद्रगुप्त ने अपने छोटे पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय को ही अपना उत्तराधिकारी चुना था। ययाति ने पुरु को चुना क्योंकि वह यदु के बड़े एवं अन्य पुत्रों में सर्वश्रेष्ठ था आज्ञाकारी था और था कर्तव्यशील (आदिपर्व ८५वाँ अध्याय)। राज्याधिकार इस प्रकार से आनुवंशिक था कि एक छोटा बच्चा भी राजा बना दिया जाता था (रघुवंश १८।३९)।

अच्छे राजा के गुणों के विषय में सभी राजनीतिविषयक ग्रन्थों में चर्चा हुई है। देखिए कौटिल्य (६।१) मनु (७।३२ ४४) याज्ञ (१।३ ९ ३११ एवं ३३४) कामन्दकीय शान्ति (५७।१९ एवं ७)१ रामायण (१। २१-२२ ४।६ २४ १५।११) मानसोल्लास (२ ।१।२ ९ पृ ४९) मत्स्य (२१७-८५) विष्णुधर्मोत्तर (२।३)।

याज्ञ० (१।३०९-३११) के अनुसार राजा को शक्तिमान्, दयालु, दूसरों के अतीत कर्मों का जानकार, तप, ज्ञान एवं अनुभव वालों पर आश्रित, अनुशासित मन वाला, अच्छे एवं बुरे भाग्य में समान स्वभाव रहने वाला, अच्छे मातृकुल एवं पितृकुल वाला, सत्यवादी, मन एवं देह से पवित्र, कार्यपटु, शक्तिशाली, स्मृतिमान्, वचन एवं कर्म में मृदु, वर्णाश्रम धर्म के नियमों का पालक, दुष्कर्मों से दूर रहने वाला, मेधावी, साहसी, रहस्य को गोपनीय रखने में चतुर (भारुचि एवं अपरार्क के अनुसार शत्रुओं के भेदों को जानने में चतुर), अपने राज्य के दुर्बल स्थलों की रक्षा करनेवाला, तर्कशास्त्र, शासनशास्त्र, अर्थशास्त्र एवं तीनों वेदों में प्रशिक्षित होना चाहिए। उसे ब्राह्मणों के प्रति सहनशील, मित्रों के प्रति नम्र, शत्रुओं के प्रति क्रूर एवं सेवकों तथा प्रजा के प्रति पितृवत् होना चाहिए। मनु (७।३२) ने भी ऐसा ही कहा है। इस प्रकार के गुण अंतरंग (भीतरी तथा अपेक्षाकृत आवश्यक) कहे जाते हैं। याज्ञ० ने १।३१२ में आगे बहिरंग गुणों का वर्णन किया है, यथा—मन्त्रियों का चुनाव, पुरोहित एवं यज्ञ कराने वाले याजकों का चुनाव, योग्य ब्राह्मणों को दान, रक्षा आदि। कौटिल्य (६।१) ने राजा के गुणों की सूची कई दृष्टिकोणों से उपस्थित की है। उसमें सबसे पहले ऐसे गुणों का वर्णन है जिनके द्वारा राजा लोगों के हृदय को जीत सके, यथा—कुलीनता, धर्मपरायणता, प्रफुल्लता, वयोवृद्धों से सम्मति लेने की प्रवृत्ति, सदाचारिता, सत्यवादिता, वचनबद्धता, कृतज्ञता, विशाल चित्तता, उत्साह, अप्रमाद, सामन्तों को वश में रखने की क्षमता, दृढ़-संकल्पता, स्वानुशासनप्रियता, अच्छे मन्त्रियों का रखना आदि। इन गुणों को आभिगामिक गुण कहा गया है (देखिए दशकुमारचरित, ८)। राजा के बुद्धिविषयक गुण ये हैं—सीखने की अभिकांक्षा, अध्ययन एवं समझने की प्रवृत्ति तथा धारण करने की शक्ति, सुविचारणा, वाद-विवाद के उपरान्त सिद्धान्तों के प्रति श्रद्धा। यही बात कामन्दक (४।२२) ने भी कही है। कौटिल्य (६।१) द्वारा प्रयुक्त शब्द 'शक्यसामन्त' अग्निपुराण (२३९।४) में भी आया है। उत्साह-सम्बन्धी गुण ये हैं—पराक्रम, दूसरे के पराक्रम के प्रति असहिष्णुता, कार्यतत्परता एवं उद्योग। कामन्दक (४।२३) ने भी यही लिखा है। इन बातों के निरूपण के उपरान्त कौटिल्य ने राजा की आत्म-सम्पत् (उसके अपने विशिष्ट गुणों) की चर्चा की है। गौतम (११।२।४-६) के अनुसार राजा को शास्त्रविहित कार्य करना चाहिए, सत्य निर्णय देना चाहिए, बाहर-भीतर से पवित्र होना चाहिए, इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना चाहिए, अच्छे नौकरों वाला होना चाहिए, नीति-विषयक उपादानों का ज्ञान रखना चाहिए, प्रजा को समान दृष्टि से देखना चाहिए और प्रजा-कल्याण करना चाहिए। शंखलिखित ने कौटिल्य एवं याज्ञवल्क्य की लम्बी सूची के समान कुछ अधिक या कम बातें कही हैं। शान्ति० (७०) ने राजा के ३६ गुणों की सूची दी है, यथा—उसे परुष वचन नहीं बोलना चाहिए, उसे धर्मनिष्ठ होना चाहिए, दुष्टता से दूर रहना चाहिए, हठी नहीं होना चाहिए, प्रिय वचन बोलना चाहिए आदि। कामन्दक (१।२१-२२) ने १९ गुण बताये हैं, यथा—दण्ड-नीति का अध्ययन, मेधा, गम्भीरता, चातुर्य, साहसिकता, ग्रहण सामर्थ्य, क्षमता, वाग्विदग्धता, दृढ़ता, आपत्काल-सहिष्णुता, प्रभविष्णुता, पवित्रता, दयालुता, उदारता, सत्यवादिता, कृतज्ञता, कुलीनता, चारित्र्य एवं आत्मनिग्रह। कामन्दक (४।२४) ने लिखा है कि राजा के लिए दानशीलता, सत्यवादिता एवं पराक्रम ऐसे तीन गुण हैं जो उसे अन्य गुणों की प्राप्ति में सहायता देते हैं। मानसोल्लास (२।१।२-७) ने ४४ गुण बताये हैं जो कौटिल्य की सूची से बहुत-कुछ मिलते हैं, किन्तु इसने पांच विशिष्ट गुणों की भी चर्चा की है, यथा—सत्यवादिता, पराक्रम, क्षमाशीलता, दानशीलता एवं दूसरे की योग्यता को समझने की क्षमता। अग्निपुराण (२३९।२-५) ने २१ गुणों का वर्णन किया है, यथा—कुलीनता, चारित्र्य आदि। परशुरामप्रताप में ९६ गुणों की चर्चा हुई है। सभापर्व (५।१०७-१०९) एवं रामायण (२।१००।६५-६७) ने १४ दोषों से बचने के लिए उपदेश किया है, यथा—नास्तिकता, असत्यवादिता, क्रोध, अनवधानता, प्रमाद, समझदारों से न मिलना, आलस्य, पाँचों इन्द्रियों के सुखों में लगा रहना, मन्त्रियों से सम्मति न लेना, राजनीति-ज्ञान-विहीनों से सम्मति लेना, निर्णीत बातों के अनुसार न चलना, गुप्त नीति का पालन न करना, शुभ कार्य न करना, एक ही समय सभी प्रकार

की आज्ञा को अस्वीकार करना। इस विषय में और देखिए सभापर्व (२५।१५)। सभापर्व (५।१२५) में आया है कि राजा के लिए छः विपत्तियाँ ये हैं—निद्रा में माता, आलस्य, कायरता, रोग, मुकुमारता एवं दीर्घसूत्रता।

धर्मशास्त्रीय एवं अर्थशास्त्रीय ग्रन्थों में राजा की शिक्षा-दीक्षा के विषय में बहुत विस्तार किया है। गौतम (११।३) ने लिखा है कि राजा को त्रयी (तीनों वेदों) एवं आन्वीक्षिकी की शिक्षा लेनी चाहिए। आन्वीक्षिकी की व्याख्या कई प्रकार से की गयी है। कौटिल्य (१।२) का कहना है कि आन्वीक्षिकी के अन्तर्गत सांख्य, योग एवं लोकायत के विचार आते हैं। इसके अध्ययन से मन, वचन एवं कर्म में प्रौढ़ता एवं वैशारद्य आ जाता है। आन्वीक्षिकी से सभी विद्याओं पर प्रकाश पड़ता है। यह धर्म का मूल है। अमरकोश, मिताक्षरा (याज्ञ० १।३ ६), हरदत्त (गौतम ११।३) आदि के अनुसार आन्वीक्षिकी का अर्थ है तर्कशास्त्र। कामन्दक (२।७ एवं ११), मिताक्षरा (याज्ञ० १।३११), शुक्रनीति (१।१५८) के अनुसार यह 'आत्मविद्या' है। राजनीतिप्रकाश (पृ० ११८) एवं शुक्रनीति (१।१५२) ने कहा है कि यह तर्कशास्त्र है जो आत्मविद्या की ओर ले जाता है। नीतिमयूख (पृ० ३४) ने आन्वीक्षिकी के अन्तर्गत तर्कशास्त्र एवं वेदान्त को रखा है और त्रयी के अन्तर्गत मीमांसा एवं स्मृतियों को रखा है। बृहस्पतिसूत्र (२।५१) ने राजा को सम्मति दी है कि वह अर्थ की प्राप्ति के लिए लोकायतिक के सिद्धान्तों का अनुसरण करे और कामसाधन तथा अन्य इच्छाओं की प्राप्ति के लिए वह कापालिक शास्त्र के अनुसार चले।

राजा की शिक्षा के लिए उपयुक्त विद्याओं के विषय में कई मत हैं। मनुस्मृति (७।४३), शान्ति० (५९।३३), कौटिल्य (१।२), याज्ञ० (१।३११), कामन्दक (२।१), शुक्रनीति (१।१५२), अग्नि० (२३८।८) के अनुसार राजा की शिक्षा के विषय चार हैं, यथा—आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता एवं दण्डनीति। कौटिल्य ने टिप्पणी की है कि *मानवों के सम्प्रदाय के अनुसार विद्याएँ तीन हैं और आन्वीक्षिकी त्रयी की एक विशिष्ट शाखा है।* बार्हस्पत्यों के सम्प्रदाय के अनुसार विद्याएँ केवल दो हैं, यथा—वार्ता एवं दण्डनीति, क्योंकि त्रयी तो सांसारिक ज्ञान की प्राप्ति में आड़े आ जाता है। औशनसों के सम्प्रदाय के अनुसार राजा के लिए केवल दण्डनीति ही पर्याप्त है, क्योंकि अन्य विद्याएँ इससे ही सम्बद्ध हैं। स्पष्ट है कि औशनसों एवं बार्हस्पत्यों के मत से राजा के लिए धर्म-चर्चा एवं आत्मविद्या का ज्ञान आवश्यक नहीं है, उसे शासन-शास्त्र का व्यावहारिक अथवा लौकिक ज्ञान रखना चाहिए। दशकुमारचरित (८) ने चार विद्याएँ ग्रहण के योग्य मानी हैं, यथा—"चतस्रो राजविद्यास्त्रयी वार्तान्वीक्षिकी दण्डनीतिः" जो कौटिल्य के मतानुसार ही है। बार्हस्पत्यसूत्र (१।३) ने राजा के लिए केवल दण्डनीति (दण्डनीतिरेव विद्या) ही उचित ठहरायी है। कौटिल्य ने व्याख्या की है कि धर्म एवं इसके विरोधी तत्त्व तीन वेदों (ऋग्वेद, सामवेद एवं यजुर्वेद) में पाये जाते हैं, अथर्ववेद एवं इतिहासवेद (इतिहास एवं पुराण) अन्य वेद हैं, ये तथा छः अंग (वेदांग) त्रयी के अन्तर्गत आ जाते हैं।

१४. 'आन्वीक्षकी' शब्द भी प्रचलित है, किन्तु 'आन्वीक्षिकी' व्याकरण-सम्मत है।

लोकायत सिद्धान्त की ओर कतिपय संकेत मिलते हैं, यथा—पतञ्जलि-महाभाष्य (जिल्द ३, पृ० ३२५, पाणिनि ७।३।४५ की व्याख्या में)। आगे चलकर यह सिद्धान्त नास्तिकवाद का द्योतक माना जाने लगा। देखिए शंकर का वेदान्तभाष्य (३।३।१ तथा ३।३।५३ एवं ५४); तन्त्रवार्तिक (जैमिनि १।३।३); रामायण (अयोध्या-काण्ड १००।३८-३९); कामसूत्र (१।२।१); राजशेखर (काव्यमीमांसा पृ० १७); नीतिवाक्यामृत (पृ० ७९)। और देखिए अंग्रेजी में—जे० आर० ए० एस्० (१९२७, पृ० १७५, टिप्पणी १); जे० ए० ओ० एस्० (१९३१, पृ० ११२) धर्मशास्त्र का इतिहास (भाग—१, अध्याय ७, टिप्पणी); श्री डॉ० आर० दत्तिणामूर्ति, पूना का रजतजयन्ती ग्रन्थ पृ० १८६-१९७ जहाँ लोकायतों के विषय में कुछ ऐतिहासिक संकेत किये गये हैं।

शुक्रनीति (१।१५५) का कहना है कि १८ विद्याएँ (याज्ञ० १।३ मे उल्लिखित) त्रयी के अन्तर्गत आ जाती है। गौतम (११।१९) ने वेदो, धर्मशास्त्रो, वेदागो, उपवेदो एव पुराणो पर बल दिया है। रामायण मे आया है कि राम एव उनके भाई वेदो, वेदागो, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, राजविद्या आदि मे पारगत थे (१।१८।२४ एव २६, २।१।२०, २।२।३४-३५, ५।३५।१३-१४)। वनपर्व (७७।४) मे आया है कि राजकुमार वेदो एव उनके गूढ सिद्धान्तो तथा धनुर्वेद मे प्रवीण थे। और देखिए आदिपर्व (२२१।७२-७४), अनुशासनपर्व (१०४।१४६-१४७)। खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख मे आया है कि खारवेल लेखा (राजकीय लिखा-पढी), रूप (मुद्रा-शास्त्र), गणना, न्याय-शास्त्र, गान्धर्ववेद (सगीत) मे शिक्षित हुए थे। और देखिए रुद्रदामन् का अभिलेख (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द ८, पृ० ४४) एव समुद्रगुप्त का अभिलेख (गुप्त अभिलेख स० १, पृ० १२, १५-१६)। राजकुमार की शिक्षा के आदर्श पाठ्यक्रम के लिए देखिए डा० वेणीप्रसाद का ग्रन्थ "थ्योरी आव गवर्नमेण्ट इन ऐंशेण्ट इण्डिया", पृ० २१८, जहाँ उन्होने बौद्ध ग्रन्थ, अश्वघोष के सूत्रालकार का उद्धरण दिया है। नीतिवाक्यामृत (पृ० १६१) ने भी राजकुमार द्वारा प्राप्त किये जाने वाले गुणो की एक तालिका प्रस्तुत की है, यथा—सभी लिपियो का ज्ञान, रत्नो का मूल्याकन करना, अस्त्र-शस्त्र-ज्ञान आदि। अग्निपुराण (२२५।१-४) मे आया है कि राजकुमारो को धर्मशास्त्र, कामशास्त्र, अर्थशास्त्र, धनुर्वेद आदि का ज्ञान दिया जाना चाहिए यदि वे पढाये-लिखाये न जा सके तो उन्हे आमोद-प्रमोद के व्यापारो मे ग्रस्त कर देना चाहिए, जिससे कि वे राजा के शत्रुओ आदि से मिल न सकें। राजकुमारो को अपनी राजधानी या पास के किसी कालेज मे शिक्षा दी जाती थी। कभी-कभी उन्हे तक्षशिला जैसे प्रसिद्ध ज्ञान-केन्द्रो मे भेज दिया जाता था (देखिए फॉस्वॉल द्वारा सम्पादित जातक २।८७, २७८, ३१९, ३२३, ४००, ३।१५८, १६८, ४१५, ४६३)। वहाँ पढने के विषय थे तीनो वेद तथा १८ शिल्प या विद्याएँ (जातक, २।८७।३।११५)। कौटिल्य (१।८) का कहना है कि वार्ता मे कृषि, पशु-पालन, सोना, साधारण धातुओ, बेगार आदि का ज्ञान सम्मिलित था, जिसके ज्ञान से राजा कोश एव सेना बढाता था और शत्रुओ पर अधिकार रखता था। सभापर्व (५।७९) एव अयोध्याकाण्ड (१००।४७) मे आया है कि जब ससार वार्ता पर निर्भर रहता है तो वह बिना कठिनाई के समृद्धिशाली होता है। शान्तिपर्व (२६३।३) मे सावधान किया गया है कि यदि वार्ता की चिन्ता न की जायगी तो यह विश्व नष्ट हो जायगा, विश्व के मूल मे वार्ता है और यह तीनो वेदो द्वारा धारित है (६८।३५)। वनपर्व (१५०।३०) मे भी आया है कि यह सम्पूर्ण विश्व वार्ता अर्थात् वाणिज्य, खान, व्यापार, कृषि, पशु-पालन द्वारा धारित एव पालित है। और देखिए नीतिवाक्यामृत (पृ० ९३)। इन उद्धरणो से व्यक्त होता है कि समाज के आर्थिक ढाँचे एव कृषि पर बहुत बल दिया जाता था। इसी से अर्थशास्त्र मे आर्थिक विषयो पर प्रभूत चर्चा हुई है।

कौटिल्य (१।५) ने लिखा है कि तीन विद्याएँ दण्ड पर आधारित है और दण्ड सहज एव अर्जित नामक दो प्रकार के अनुशासन पर निर्भर रहता है। विद्याओ से अर्जित अनुशासन की प्राप्ति होती है। कौटिल्य ने लिखा है कि चौल कर्म के उपरान्त राजकुमार को लिखने एव अकगणित का ज्ञान कराना चाहिए, उपनयन के उपरान्त उसे शिष्ट लोगो (वेदज्ञो) से वेद एव आन्वीक्षिकी का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, विभिन्न विभागो के अधीक्षको से वार्ता, व्यावहारिक राजनीतिज्ञो एव व्याख्याताओ से दण्डनीति का अध्ययन करना चाहिए (और देखिए मनु ७।४३, मत्स्य० २१५।५४ एव अग्नि० २२५।२१-२२)। कौटिल्य ने लिखा है कि सोलह वर्षों तक चार विद्याओ का अध्ययन करके राजकुमार को विवाह करना चाहिए। उसे सदैव शिष्ट लोगो के बीच मे रहकर अपने ज्ञान को माँजते जाना चाहिए। राजा को दिन के प्रथम भाग मे हाथी, घोडे, रथ की सवारी तथा अस्त्र-शस्त्र का अभ्यास करना चाहिए, दिन के अगले भाग मे इतिहास अर्थात् पुराण, गाथाओ, प्रशस्तियो, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र का पाठ सुनना चाहिए। वह राजा, जिसकी मेधा इस प्रकार अनुशासित रहेगी, जो अपनी प्रजा को अनुशासित रखने मे सलग्न रहेगा तथा जो सबके कल्याण के लिए तत्पर रहेगा,

वह इस संसार पर राज्य कर सकेगा। राजा को विनयी होना चाहिए। नीतिवाक्यामृत (पृ० १९२) ने विनय की यह परिभाषा दी है—जो व्रतों एवं विद्याओं में प्रवीण तथा बड़ी अवस्था वाले हैं उनके प्रति आदर के भाव को विनय कहते हैं। मनु (७।३८-३९), कामन्दक (१।१९-२ एवं ५९-६१), शुक्रनीति (१। २९१) आदि ने विनय की महत्ता का वर्णन किया है। मनु (७।४०-४२) ने लिखा है कि बहुत-से राजा विनय के अभाव में शक्तिशाली रहने पर भी नष्ट हो गये। बहुत-से राजा विनय के कारण राजपद पर सुशोभित हुए और बहुत-से अविनयी राजा, यथा वेन, नहुष, सुदास, सुमुख, निमि आदि नाश को प्राप्त हो गये और पृथु, मनु जैसे राजा विनयी होने के कारण राजपद प्राप्त कर सके (और देखिए मत्स्य० २१५।५१)। प्राचीन भारतीय लेखकों ने राजपद के आदर्श को इतनी महत्ता दी है और कुमार की शिक्षा को इतना महत्त्व दिया है कि राजा को राजर्षि की उपाधि दे दी गयी है। कालिदास ने इसका बहुधा वर्णन किया है। (शाकुन्तल २।१४, रघुवंश १।५८)। सुकरात की भाँति भारतीय लेखकों ने भी राजाओं को दार्शनिक राजा या राजा-दार्शनिक कहा है (दार्शनिकों को राजा होना चाहिए या राजा को दार्शनिक होना चाहिए)। धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र ने राजा के लिए नैतिक अनुशासन, संवेगों एवं इच्छा का सम्यक् निर्देशन तथा परिमार्जन अत्यन्त आवश्यक माना है।

कौटिल्य (१।६) ने लिखा है कि ज्ञानेन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना विद्याओं की प्राप्ति, प्रवीणता तथा अनुशासन के लिए परम आवश्यक है और यह सब दुष्ट प्रवृत्तियों, यथा कामुकता, रोष, लोभ, अहंकार (मान), मद एवं अतिशय प्रसन्नता के त्याग से ही सम्भव है। उपर्युक्त दुष्ट प्रवृत्तियों (काम, क्रोध, मद, लोभ आदि) को शत्रु-षड्वर्ग या अरिषड्वर्ग कहा गया है। कामन्दक (१।५५-५८), शुक्रनीति (१।८४-१४६) ने भी ऐसा ही लिखा है। और देखिए मार्कण्डेय (२७।१२-१३), सुबन्धु की वासवदत्ता, उद्योगपर्व (७।११-१८), मनु (७।४४=मत्स्य २१५।५५) आदि। मनु (७।४७-५२) ने बहुत से दुर्गुणों की चर्चा की है जिनसे राजाओं को बचना चाहिए। कौटिल्य (८।३) ने राजाओं के लिए जुआ खेलना बहुत बुरा माना है। कामन्दक (१।५४) ने शिकार खेलना (मृगया), जुआ खेलना तथा मद्य पीना वर्जित माना है, क्योंकि इन्हीं दुर्गुणों से क्रम से पाण्डु, नल एवं वृष्णियों का नाश हुआ। शुक्र० (१।३३२-३३३) ने मृगया की अच्छी बातें मानी हैं किन्तु पशु-हनन को बुरा ठहराया है। और देखिए शुक्रनीति (१।१२१-१२२, १।११६, ११४ एवं १।१२८), कामन्दक (१४।४१)।

अध्याय २

राजा के कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व

सभी ग्रन्थकारो ने यह स्वीकार किया है कि राजा का प्रधान कर्तव्य है प्रजा-रक्षण। शान्तिपर्व (६८।१-४) का कहना है कि सातो राजशास्त्रप्रणेताओ ने राजा के लिए प्रजा-रक्षण सबसे बडा धर्म माना है। यही बात मनु (७।१४४), कालिदास (रघुवश १४।६७) आदि ने भी कही है। प्रजा-रक्षण का तात्पर्य है चोरो, डाकुओ आदि के भीतरी आक्रमणो तथा बाहरी शत्रुओ से प्रजा के प्राण एव सम्पत्ति की रक्षा करना।[1] गौतम (१०।७-८, ११।९-१०) का कहना है कि राजा का विशिष्ट उत्तरदायित्व है सभी प्राणियो की रक्षा करना, न्यायोचित दण्ड देना, शास्त्र-विहित नियमो के अनुसार वर्णाश्रम की रक्षा करना तथा पथभ्रष्ट लोगो को सन्मार्ग दिखाना। वसिष्ठ० (१९।१-२) का तो कहना है कि राजा के लिए रक्षण-कार्य जीवन-पर्यन्त चलने वाला एक सत्र है जिसमे उसे भय एव मृदुता छोड देनी होगी। और देखिए वसिष्ठ० (१९।७-८), विष्णुधर्मसूत्र (३।२-३)। शान्ति० (२३।१५) मे आया है कि जिस प्रकार सर्प बिल मे छिपे हुए चूहो को निगल जाता है, उसी प्रकार यह पृथिवी ऐसे राजा एव ब्राह्मण को निगल जाती है जो क्रम मे बाहरी आक्रामको से नहीं भिडते एव विद्या-ज्ञान के वर्धन के लिए दूर-दूर नही जाते।[2] इस विषय मे विशिष्ट रूप से पढिए मनु (९।३०६), याज्ञ० (१।३३५), कौटिल्य, नारद (प्रकीर्णक ३३), शुक्र० (१।१४), अत्रि (श्लो० २८), विष्णुधर्मोत्तर (३।३२३।२५-२६)।[3] इन स्थलो की बातो के अध्ययन से पता चलता है कि राजा के प्रमुख कर्तव्य ये थे—(१) प्रजा का रक्षण या पालन, (२) वर्णाश्रम-धर्म-नियम का पालन, (३) दुष्टो को दण्ड देना तथा (४) न्याय करना।

रक्षा के लिए युद्ध करना या मर जाना सम्भव था, अत धर्मशास्त्र के प्राचीन ग्रन्थों का कहना है कि क्षत्रिय

१ बृहस्पति। तत्प्रजापालन प्रोक्त त्रिविध न्यायवेदिभि । परचक्राच्चौरभयाद् बलिनोऽन्यायवर्तिन ॥ परानीकस्तेनभयमुपायै शमयेन्नृप । बलवत्परिभूताना प्रत्यह न्यायदर्शनै ॥ राजनीतिप्रकाश द्वारा उद्धृत, पृष्ठ २५४-२५५।

२ भूमिरेतौ निगिरति सर्पो बिलशयानिव। राजान चाविरोद्धार ब्राह्मण चाप्रवासिनम्॥ शान्ति० (२३।१५) द्वारा बृहस्पति की बात उद्धृत। यही बात एक अन्य स्थल पर (शान्ति० ५७।३) उशना की कही गयी है। और देखिए सभापर्व (५५।१४) एव शुक्रनीतिसार (४।७।३०३)।

३ तस्य धर्म प्रजारक्षा वृद्धप्राज्ञोपसेवनम्। दर्शन व्यवहाराणामुत्थान च स्वधर्मसु॥ नारद (प्रकीर्णक ३३), नृपस्य परमो धर्म प्रजानां परिपालनम्। दुष्टनिग्रहण नित्य न नीत्या ते विना ह्युभे॥ शुक्र० १।१४। दुष्टस्य दण्ड सुजनस्य पूजा न्यायेन कोशस्य च सप्रवृद्धि । अपक्षपातोऽर्थिषु राष्ट्ररक्षा पञ्चैव यज्ञा कथिता नृपाणाम्॥ अत्रि (श्लोक २८), मिलाइए—दुष्टदण्ड सता पूजा धर्मेण च धनार्जनम्। राष्ट्ररक्षा समत्व च व्यवहारेषु पञ्चकम्॥ भूमिपाना महायज्ञा सर्वकल्मषनाशना ॥ विष्णुधर्मोत्तर (३।३२३।२५-२६)।

का कर्तव्य है युद्ध करना और सबसे बड़ा आदर्श है समरांगण में मर जाना। मनु (७।८७-८८) का कहना है कि आक्रमण में प्रजा की रक्षा करते समय युद्ध-क्षेत्र से नहीं भागना चाहिए, जो राजा लोग युद्ध करते-करते मर जाते हैं, स्वर्ग प्राप्त करते हैं। सैनिकों को भी युद्ध करते-करते मर जाने पर स्वर्ग प्राप्ति होती है (याज्ञ० १।३२४)। और देखिए स्त्रीपर्व (२।१६ एवं १८ तथा २६।८-९), भगवद्गीता (२।३१-३७)। शान्ति (७८।३१) का कहना है कि जिस प्रकार अश्वमेध यज्ञ के उपरान्त राजा के साथ जो-जो स्नान करते हैं सभी पापमुक्त हो जाते हैं, उसी प्रकार सभी जाति वाले सैनिक युद्ध में मर जाने पर पापरहित हो जाते हैं। इस विषय में देखिए पराशर। दैवी नर्तकियाँ (अप्सराएँ) मरे हुए (वीरगति प्राप्त किये हुए) सैनिकों का सत्कार करती हैं (पराशर ३।३८)। ऋग्वेद (१०।१५४।३=अथर्ववेद १८।२।१७) में आया है कि युद्धों में प्राण गँवाने वाले सैनिक वही फल पाते हैं जो यज्ञ में सहस्रों गायों का दान करने वाले पाते हैं। सम्भवतः कौटिल्य (१०।३) ने सैनिकों को युद्ध के लिए प्रेरित करते हुए इसी वैदिक उक्ति की ओर संकेत किया है। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।१०।२६।२-३) ने भी राजा को प्रजा-रक्षार्थ युद्ध करने के लिए प्रेरित किया है। शान्तिपर्व (२९।१९ एवं ७७।२८ तथा ३०) ने कहा है कि गाय तथा ब्राह्मण की रक्षा करने में मर जाना श्रेयस्कर है। यही बात विस्तार से विष्णुधर्मोत्तर (३।४४-४६) में आयी है। भीष्मपर्व (१७।११) में भीष्म ने कहा है कि क्षत्रिय वीर के लिए घर में किसी रोग से मर जाना पाप है, परम्परा से चला आया हुआ नियम तो यह है कि वह लोहे से ही मृत्यु का वरण करे। यही बात दूसरे ढंग से शल्यपर्व (५।३२) एवं शान्तिपर्व (९७।२३ एवं २५) में भी आयी है।

कामन्दक (५।८२-८३) ने स्पष्ट किया है कि प्रजा को राजा के बड़े कर्मचारियों, चोरों, शत्रुओं, राजवल्लभों (रानी एवं राजकुमारों) एवं स्वयं राजा के लोभ से बचाना होता है। वास्तव में प्रजा के ये पाँच भय हैं। राजनीतिज्ञों ने इसी सिलसिले में यह भी कहा है कि उपर्युक्त कर्तव्यों के अतिरिक्त राजा को चाहिए कि वह विद्यार्थियों, विद्वान् ब्राह्मणों एवं बालकों का पालन करे। देखिए गौतम (१०।९-१२, १८।३१), कौटिल्य (२।१), अनुशासन (६१।२८-३१), शान्ति (१६५।५-७), विष्णुधर्मसूत्र (३।७९-८०), मनु (७।८२ एवं १३४), याज्ञ० (१।३१५ एवं ३२३ तथा ३।४४), मत्स्यपुराण (२१५।५८), अग्नि (२३९)। प्राचीन काल तथा मध्यकाल के राजाओं ने पर्याप्त उदारता के साथ उपर्युक्त सम्मति का पालन युगों तक किया। शासन के कार्य केवल शान्ति एवं सुव्यवस्था तक ही सीमित नहीं थे, प्रत्युत उनके द्वारा संस्कृति का प्रसार भी आवश्यक माना जाता था। राजा को असहायों, बूढ़ों, अन्धों, लँगड़े-लूलों, पागलों, विधवाओं, अनाथों, रोगियों, गर्भवती स्त्रियों की सहायता (दवा, वस्त्र, निवास-स्थान देकर) करनी पड़ती थी। देखिए वसिष्ठ (१९।३५-३६), विष्णुधर्मोत्तर (३।६५), मत्स्य

४. द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ। परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः॥ पराशर (३।३७)—मेधातिथि द्वारा (मनु ७।८९ की व्याख्या करते समय) उद्धृत।

५. आयुक्तकेभ्यश्चौरेभ्यः परेभ्यो राजवल्लभात्। पृथिवीपतिलोभाच्च प्रजानां पञ्चधा भयम्॥ पञ्चप्रकारमप्येतदपोह्यं नृपतेर्भयम्। कामन्दक (५।८२-८३)।

६. कृपणानाथवृद्धानां विधवानां च योषिताम्। योगक्षेमं च वृत्तिं च नित्यमेव प्रकल्पयेत्॥ शान्ति (८६।२४=मत्स्यपुराण २१५।६२=अग्निपुराण २२५।२५)। कृपणानाथव्याधितविधवाबालवृद्धानौषधावसथाशनाच्छादनैर्बिभृयात्। शङ्खलिखितौ (राजनीतिप्रकाश द्वारा उद्धृत पृष्ठ १३८)। कल्पितस्याश्च मूर्ख इव पशून् ...व्यवस्थापयेत्। स्त्रियं चापि गर्भिणीं तथा प्रव्रजितामपि॥ शान्ति ५।१२४।

(२१५।६२), अग्नि० (२२५।२५), आदिपर्व (४९।११), सभा० (१८।२४), विराटपर्व (१८।२४), शान्ति० (७७।१८) आदि। विष्णुधर्मोत्तर को उद्धृत करते हुए राजनीतिप्रकाश (पृ० १३०-१३१) ने लिखा है कि राजा को चाहिए कि वह पतिव्रता स्त्रियों का सम्मान एवं रक्षा करे। इस ग्रन्थ ने शखलिखित को उद्धृत करते हुए लिखा है कि यदि क्षत्रिय एवं वैश्य शास्त्रविहित उपायों से अपने को न सँभाल सकें तो उन्हें राजा से भरण-पोषण की व्यवस्था के लिए माँग करनी चाहिए और राजा को चाहिए कि वह उनकी सहायता करे और क्षत्रिय तथा वैश्य शास्त्रविहित कर्मों से उसकी सहायता करें, यहाँ तक कि पालित एवं पोषित होने पर शूद्र को भी अपने शिल्प द्वारा राजा की सहायता करनी चाहिए। विपत्ति एवं अकाल के समय में राजा को अपने कोश से भोजन आदि की व्यवस्था करके प्रजा-पालन करना चाहिए (मनु ५।९४ की व्याख्या में मेधातिथि)। वृद्धों, अन्धों, विधवाओं, अनाथों एवं असहायों की व्यवस्था तथा उद्योग या व्यवसाय द्वारा हीन क्षत्रियों, वैश्यों एवं शूद्रों को समयानुकूल सहायता देना आदि अत्याधुनिक परम्पराएँ हैं, किन्तु प्राचीन भारतीय राजाओं ने ऐसा क्रम चला रखा था। अतः यह स्पष्ट है कि धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों एवं दयालु राजाओं ने एक ऐसा वातावरण उपस्थित कर दिया था कि सामान्य राजा लोग भी अच्छे-अच्छे नियमों का पालन करते थे। अशोक महान् ने मनुष्यों एवं पशुओं के लिए अस्पताल खुलवाये थे (द्वितीय प्रस्तर अभिलेख)। उन्होंने धर्मशालाओं, अनाथालयों, पौसरों, छायादार वृक्षों, सिंचाई आदि की सुचारु व्यवस्था कर रखी थी। राजा खारवेल ने भी जलाशय खुदवाये थे। रुद्रदामन् ने सुदर्शन नामक झील का पुनरुद्धार किया था। अनुशासनपर्व में आया है कि अच्छे राजाओं को चाहिए कि वे सभा-भवनों, प्रपाओं, जलाशयों, मन्दिरों, विश्रामालयों आदि का निर्माण करायें।[7] और देखिए मत्स्य-पुराण (२१५।६४)।

राजा के प्रति दिन के कार्यों के विषय में हमने द्वितीय भाग के बाईसवें अध्याय में पढ़ लिया है (कौटिल्य १।१९, मनु ७।१४५-१५७, २१६-२२६, याज्ञ० १।३२७-३३३, शुक्रनीति १।२७६-२८५, अग्निपुराण २३५, विष्णुधर्मोत्तर २।१५१, भागवत १०।७०।४-१७, नीतिप्रकाश ८।९, राजनीतिप्रकाश पृ० १५३-१६९ आदि)। प्रति दिन शय्या से उठने पर राजा को तीनों वेदों में पारगत ब्राह्मणों की बातें सुननी होती थीं और उनके अनुसार चलना पड़ता था (मनु ७।३७ एवं गौतम० ११।१३-१४ तथा वसिष्ठ १।३९-४१)। प्रति दिन राजा को प्रजा के सम्मुख दर्शन भी देना पड़ता था (अयोध्या० १००।५१, सभापर्व ५।९०)।

कौटिल्य, महाभारत तथा अन्य ग्रन्थों ने राजा के समक्ष बहुत ही बड़ा आदर्श रख छोड़ा है। कौटिल्य का कहना है—"प्रजा के सुख में राजा का सुख है, प्रजा के हित में ही राजा का हित है ।"[8] विष्णुधर्मसूत्र (३) में भी यही बात कही गयी है।[9] जिस राजा ने अपनी प्रजा की भरपूर रक्षा की है उसे न तप करने की आवश्यकता है और न यज्ञ करने

७ शालाप्रपातडागानि देवतायतनानि च। ब्राह्मणावसथाश्चैव कर्तव्य नृपसत्तमं ॥ अनुशासनपर्व (पराशरमाधवीय, भाग १, पृ० ४६६ में उद्धृत)।

८ राज्ञो हि व्रतमुत्थानं यज्ञः कार्यानुशासनम्। दक्षिणा वृत्तिसाम्यं च दीक्षितस्याभिषेचनम्॥ प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्। नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्॥ अर्थशास्त्र १।१९।

९ प्रजासुखे सुखी राजा तद्दुःखे यश्च दुःखितः। स कीर्तियुक्तो लोकेऽस्मिन् प्रेत्य स्वर्गे महीयते॥ विष्णु-धर्मसूत्र (३, अन्तिम श्लोक राजधर्मकाण्ड द्वारा उद्धृत)। कृत्वा सर्वाणि कार्याणि सम्यक् संपाल्य मेदिनीम्। पाल-यित्वा तथा पौरान् परत्र सुखमेधते॥ किं तस्य तपसा राज्ञः किं च तस्याध्वरैरपि। सुपालितप्रजो यः स्यात्सर्वधर्म-विदेव सः॥ शान्ति० (६९।७२-७३)।

की (शान्ति ५९।७२-७३ एवं अंगिरा अर्थात् बृहस्पति)। ऐसा राजा सभी धर्मों का ज्ञाता है। कौटिल्य ने राजा की तुलना यज्ञ करने वाले से की है। राजा का सदैव क्रियाशील रहना ही व्रत है, शासन-कार्य के लिए अनुशासन पर चलना ही यज्ञ है, उसकी निष्पक्षता ही यज्ञ-दक्षिणा है, उसका राज्य-अभिषेक ही यज्ञ करने वाले का स्नान है। शान्ति-पर्व (५६।४४ एवं ४६) एवं नीतिप्रकाशिका (८।२) में लिखा है कि राजा को गर्भवती स्त्री की भाँति मनचाहा नहीं करना चाहिए, प्रत्युत उसे प्रजा-सुख के लिए शास्त्रविहित कार्य करना चाहिए, धर्म पर आश्रित रहना चाहिए।[10] मार्कण्डेय पुराण (११ ।११ १४) में राजा मरुत्त की माता महो ने उसे सावधान किया है—"राजा का शरीर आमोद प्रमोद के लिए नहीं बना है, प्रत्युत वह कर्तव्य-पालन करने तथा पृथिवी की रक्षा करने के प्रयत्न में कष्ट सहने के लिए है। भारतीय ग्रन्थकारों ने राजा के शासन को पितृवत् माना है। कौटिल्य (२।१) ने लिखा है कि जो लोग कर-मुक्ति के नियमों के बाहर हैं उनके साथ पितृवत् व्यवहार करना चाहिए। याज्ञ (१।३३४) ने लिखा है कि राजा को अपनी प्रजा तथा नौकरों के साथ पितृवत् व्यवहार करना चाहिए। यही बात शान्ति (१३९।१ ४ १ ५) में भी पायी जाती है। रामायण (२।२।२८ ४० तथा ५।३५।१ १४) में राम के गुणों का वर्णन करते हुए यह भी कहा गया है कि वे प्रजा के साथ पितृवत् व्यवहार करते थे, यदि प्रजा दुःखी रहती तो वे दुःखी हो जाते थे, यदि प्रजा-जन आमोद प्रमोद में मग्न होते थे तो उन्हें पिता के समान आनन्द मिलता था। इस विषय में और देखिए रामायण (३।६।११)। कालिदास ने भी इन बातों की ओर संकेत किया है (शाकुन्तल ५।५, ६।२३ एवं रघुवंश १।२४)। हर्षचरित (५) में आया है—"राजा प्रजा के लिए न केवल ज्ञाति (सम्बन्धी) है प्रत्युत बन्धु है।"[11] अशोक महान् अपने शिलालेखों में लिखता है—"सभी लोग मेरे पुत्र हैं।"

बहुत प्राचीन काल से ही राजाओं को कई श्रेणियों में बाँटा गया है। ऋग्वेद में कई स्थलों पर राजा शब्द आया है। यह शब्द मित्र एवं वरुण (ऋ ७।६४।२, १।२४।१२ एवं ११ तथा १ ।१७३।५) नामक देवों के लिए प्रयुक्त हुआ है। यह दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—(१) राजा के अर्थ में (ऋ १।६५।७, १।४३।५, यथा—राजा इन्द्र क्या आप हम लोगों का रक्षण करायेंगे? ७।७।१ ९।७।५, १ ।१७४।४) तथा (२) 'भद्र' व्यक्ति के अर्थ में, यथा—"वहाँ पौधे उसी प्रकार साथ आते हैं जिस प्रकार भद्र लोग सभा में आते हैं" "राजानः समिताविव" (ऋ ९।९२।६, १०।९७।६)। ऋग्वेद (८।२१।१८) में लिखा है—"वह चित्र जिसने सहस्रों एवं दस सहस्र दिये केवल वही राजा है, अन्य लोग सरस्वती के तट पर छोटे-छोटे सामन्त मात्र हैं।" सम्राट् शब्द ऋग्वेद में वरुण एवं इन्द्र (क्रम से ६।६८।९

10. नीचरत्नमिवोदाम राज्ञो धर्मः सनातनः। शान्ति ५७।११; यथा हि गर्भिणी हित्वा स्वं प्रियं मनसोऽनुगम्। गर्भस्य हितमाधत्ते तथा राज्ञाप्यसंशयम्॥ वर्तितव्यं कुरुश्रेष्ठ सदा धर्मानुवर्तिना। स्वं प्रियं तु परित्यज्य यद्यल्लोकहितं भवेत्॥ शान्ति ५६।४५-४६; अमोघ राजा भवति न कामकरणाय तु। धर्मे तिष्ठन्ति भूतानि धर्मो राजनि तिष्ठति॥ शान्ति ९०।३ एवं ५। नीरजानन्वयार्थं तु मनाग्वो नात्मनीरिता॥ राजानो हि धर्मं राजा च धारयन् प्रयच्छति। न स कल्पः कर्मभिरभ्युदयते महात्मा न च॥ उद्योग (११८।११ १४)।

11. राज्ञां शरीरग्रहणं न भोगाय महीपते। क्लेशाय महते पृथ्वीस्वधर्मपरिपालने॥ मार्कण्डेय (११ । ११ १४); पिता माता गुरुः भर्ता वह्निर्वैश्रवणो यमः। सप्त राज्ञो गुणानेतान्मनुराह प्रजापतिः॥ पिता हि राजा लोकस्य प्रजानां योऽनुकम्पिता। शान्ति (१३९।१ ४ १ ५); अकर्मं कुमाराणाम् नवीनस्य महीपतेः। यो हृष्ट वनितानाम न च रक्षति पुत्रकम्॥ अरण्यकाण्ड ६।११।

12. प्रजाभिस्तु बन्धुमन्तो राजानो न ज्ञातिभिः। हर्षचरित (५)।

एव ८।१६।१) की उपाधि के रूप में प्रयुक्त हुआ है। साम्राज्य शब्द भी उल्लिखित है (ऋ० १।२५।१०)। ऋग्वेद (८।३७।३) में इन्द्र को एकराट् भी कहा गया है। लगता है, ऋग्वेद-काल में एकछत्र राजा की कल्पना हो चुकी थी, जिसके अन्तर्गत अनेक राजा थे। हो सकता है कि ऋग्वेद (७।३७।३) में 'एकराट्' शब्द केवल एक रूपक के रूप में ही प्रयुक्त हुआ हो। ऋग्वेद (७।८३।७-८) में आया है कि दस राजा, जब कि उन लोगों ने एक मण्डल स्थापित कर लिया था, सुदास को पराजित नहीं कर सके।[13] यहाँ यह भी आया है कि दस राजाओं के युद्ध में (दाशराज्ञे) इन्द्र एव वरुण ने दस राजाओं से घिरे सुदास की सहायता की। बहुत-से स्थलों पर अनेक राजाओं के नाम आये हैं (ऋ० १।५३।८ एव १०, १।५४।६, १।१००।१७, ७।३३।२, ८।३।१२, ८।६।२)। इन राजाओं के अतिरिक्त बहुत-से गणों या गणराजों के नाम आये हैं, यथा—अनु, द्रुह्यु, तुर्वशु, पुरु, यदु (ऋ० १।१०८।८, ७।१८।६ एव ८।६।४६)। ये सभी शब्द बहुवचन में तथा कभी-कभी एकवचन में प्रयुक्त हुए हैं। एकवचन वाले शब्द 'राजा' या 'प्रमुख' के अर्थ में ही आये हैं (देखिए ऋ० ८।४।७, ८।१०।५, ४।३०।१७)। अथर्ववेद (३।४।१, ६।९८।१) में एकराट् एव अधिराज शब्द अपने उचित अर्थ में ही प्रयुक्त हुए हैं। अथर्ववेद (४।९।४, ३।४।३) में शक्तिशाली राजा के लिए उग्र उपाधि पायी गयी है (तुम रोग का पीछा उसी प्रकार करो जिस प्रकार कि उग्र या शक्तिशाली राजा अनेक राजाओं को दबा बैठता है)। तैत्तिरीय संहिता (१।८।१०।२) में आया है कि मनुष्य राजा द्वारा पालित या नियन्त्रित होते हैं (तस्माद् राज्ञा मनुष्या विधृता)। इस संहिता में प्रयुक्त 'आधिपत्य' एव 'जानराज्य' शब्दों का पारस्परिक सम्बन्ध नहीं ज्ञात हो पाता। ये शब्द वाजसनेयी संहिता (९।४० एव १०।१८) एव काठक० (१५।५) में भी उल्लिखित हैं। ऐतरेय ब्राह्मण (३९।१) में[14] ऐसा आया है—"जो कोई अन्य राजाओं पर प्रभुत्व जमाना चाहता है, सम्राट्-पद प्राप्त करना चाहता है और अभिलाषा करता है कि वह सबसे बड़ा शासक हो, जो समुद्र पर्यन्त पृथिवी का एकराट् होना चाहता है उसे शपथ लेने के उपरान्त ऐन्द्र-महाभिषेक से अभिषिक्त होना चाहिए।" इस मन्त्र में लोगों पर आधिपत्य होने के अर्थ में प्रयुक्त 'भौज्य', 'स्वाराज्य', 'वैराज्य', 'पारमेष्ठ्य' शब्दों का अर्थ स्पष्ट नहीं है। सम्भवत ये शब्द प्रभुत्व प्रदर्शित करने के हेतु अतिशयोक्तिपूर्ण एव भारी-भरकम शब्द-प्रयोग मात्र हों। वैदिक उक्तियों के अनुसार, ब्राह्मण भी यदि वह 'स्वाराज्य' अर्थात् 'प्रभुत्व' प्राप्त करना चाहता है तो, वाजपेय का सम्पादन कर सकता है। 'परमेष्ठी' का अर्थ है 'प्रजापति', अत 'पारमेष्ठ्य' का तात्पर्य हुआ दैवी शक्ति। शतपथ ब्राह्मण (५।१।१।१३) में 'राजा' एव 'सम्राट्' का अन्तर स्पष्ट हो गया है, "राजसूय के सम्पादन से राजा होता है और वाजपेय के सम्पादन से सम्राट्, राजा का पद निम्न एव सम्राट् का पद उच्च है।" यही बात अन्य स्थल पर भी कही गयी है (शतपथ० ९।३।४।८)। शतपथ ब्राह्मण में पुन आया है—"वृत्र को मारने के पूर्व इन्द्र केवल इन्द्र थे, यह सच है, किन्तु वृत्र को मार डालने के उपरान्त वे महेन्द्र हो गये, राजा भी विजय के उपरान्त महाराज हो जाता है (१।६।४।२१)। इन विवेचनों से स्पष्ट है कि सार्वभौम शासक की कल्पना का उद्भव वैदिक काल में हो गया था, किन्तु उसका विकसित रूप एव पूर्ण व्यवस्था ऐतरेय एव शतपथ ब्राह्मण-ग्रन्थों के प्रणयन के पूर्व हो चुकी थी।

१३ दश राजान समिता अयज्यव सुदासमिन्द्रावरुणा न युयुधु। दाशराज्ञे परियत्ताय विश्वत सुदास इन्द्रावरुणावशिक्षतम्॥ ऋ० ७।८३।७-८।

१४ स य इच्छेदेववित्क्षत्रियमय सर्वाल्लोकान्विन्देताय सर्वेषा राज्ञा श्रैष्ठ्यमतिष्ठा परमता गच्छेत साम्राज्य भौज्य स्वाराज्य वैराज्य पारमेष्ठ्य राज्य माहाराज्यमाधिपत्यमय समन्तपर्यायी स्यात्सार्वभौम सार्वायुष आन्तादापरार्धात् पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराळिति तमेतेनैन्द्रेण महाभिषेकेण क्षत्रिय शापयित्वाभिषिञ्चेत्। ऐ० ब्रा० ३९।

ऐतरेय ब्राह्मण में प्राचीन भारत के १२ सम्राटों एवं शतपथ ब्राह्मण (१३।५।४।१ १९) में १३ सम्राटों के नाम मिलते हैं। पाणिनि (५।१।४१ ४२) ने 'सार्वभौम' का अर्थ 'सम्पूर्ण पृथिवी का पति या स्वामी' लगाया है। अमरकोश का कहना है कि 'राजा' 'पार्थिव' 'क्ष्माभृत्' 'नृप' 'भूप' एवं 'महीक्षित्' एक दूसरे के पर्याय हैं और उनका अर्थ है शासक किन्तु वह शासक या राजा जिसके समक्ष सभी सामन्त झुक जाते हैं 'अधीश्वर' 'चक्रवर्ती' या 'सार्वभौम' की उपाधि पाता है और ये अन्तिम शब्द एक-दूसरे के पर्याय हैं। क्षीरस्वामी का कहना है कि चक्रवर्ती राजा वह है जो 'राजाओं के चक्र या वृत्त पर राज्य करता है' या जो अपनी आज्ञाएँ राजाओं के मण्डल पर चलाता है। 'चक्रवर्ती' शब्द 'सार्वभौम' शब्द के उपरान्त स्मृति में आया है किन्तु है यह भी अति प्राचीन (मैत्री उपनिषद् १।४ सामविधान ब्राह्मण ३।५।२)। गौतम बुद्ध ने अपने को धर्मराज कहा है और धर्म चक्र चलाने वाला माना है। नानाघाट अभिलेख (ई पू २) में 'अप्रतिहतचक्रस्' (चक्रस्य) शब्द आया है। खारवेल ने अपने को 'सुप्रवृत्तविजय चक्र' (सुपवतविजयचक) तथा 'पवृत्त चक्र' (पवत चक) कहा है (हाथीगुम्फा अभिलेख)। खारवेल की रानी ने अपने पति को कलिंग-चक्रवर्ती कहा है (मञ्चपुरी अभिलेख)। कौटिल्य (।१) ने चक्रवर्ती के राज्य की सीमा का उल्लेख यों किया है—"समुद्र से लेकर उत्तर में हिमालय तक जो एक सीधी पंक्ति में एक सहस्र योजन लम्बी है।" राजशेखर की काव्यमीमांसा में भी यही बात पायी जाती है। कौटिल्य ने "चतुरन्तो राजा" अर्थात् "पृथिवी की चारों दिशाओं का राजा" कहा है। शान्तिपर्व में ऐसे राजा का उल्लेख हुआ है जो सम्पूर्ण पृथिवी को अपने एक छत्र के अन्तर्गत रखता है। हर्षचरित (४) में हर्ष को सात चक्रवर्तियों का शासक बताया गया है। कुछ ग्रन्थों में छः चक्रवर्तियों के नाम इस प्रकार आये हैं—मान्धाता धुन्धुमार हरिश्चन्द्र पुरूरवा भरत कार्तवीर्य। सभापर्व (१५।१५ १६) ने पाँच प्राचीन सम्राटों के नाम लिये हैं यथा यौवनाश्व (मान्धाता) भगीरथ कार्तवीर्य भरत एवं मरुत्त। इस विषय में विस्तृत जानकारी के लिए देखिए डा एन एन ला की पुस्तक 'आस्पेक्ट्स आव ऐंश्यण्ट इण्डियन पोलिटी' (पृ १७–२१) जहाँ महाभारत शतपथ ब्राह्मण एवं अन्य ग्रन्थों से प्राचीन सम्राटों के नाम चुनकर रखे गये हैं। चक्रवर्तित्व का आदर्श सभी राजाओं के सामने उपस्थित रहता था इसका परिणाम यह हुआ कि राजा लोग चक्रवर्ती-पद के लिए आपस में सदैव लड़ा-भिड़ा करते थे। मान्धाता भरत आदि सम्राटों के आदर्शों की प्राप्ति में लगे हुए अनेकों राजाओं के पारस्परिक युद्ध-वर्णनों से हमारा इतिहास भरा पड़ा है। चन्द्रगुप्त अशोक पुष्यमित्र खारवेल शातकर्णि प्रवरसेन शशांक समुद्रगुप्त हर्ष आदि सम्राट् उपर्युक्त श्रेणी में ही आते हैं। मानी हुई बात है कि यदि चक्रवर्तित्व का आदर्श न भी रहा होता तो भी युद्ध बन्द न हुआ होता, क्योंकि प्राचीन काल में विश्व के सभी भागों में युद्ध के बादल मँडराया करते और कोई-न-कोई राजा सम्राट्-पद प्राप्त कर ही लेता था।

मत्स्यपुराण (११४ १) ने भारतवर्ष की लम्बाई चौड़ाई का ब्यौरा दिया है जो दक्षिण से उत्तर (कुमारी अन्तरीप से गंगा के उद्गम) तक एक सहस्र योजन लम्बा कहा गया है। भारतवर्ष का विस्तार दस सहस्र योजन था (चारों दिशाओं की सीमा का आकलन)। सभी सीमाओं पर म्लेच्छों का निवास था। पूर्व एवं पश्चिम में किरात एवं यवन रहते थे। जो राजा सम्पूर्ण भारतवर्ष को जीतता था उसे सम्राट्-पद प्राप्त होता था। और देखिए ब्रह्मपुराण (१७।८)। शुक्रनीतिसार (१।१८४ १८७) के अनुसार एक सामन्त की वार्षिक आय जो प्रजा को बिना पीड़ित किये १ से लेकर ३ लाख रजत के कर्ष माण्डलिक की आय की ४ से १० लाख कर्ष राजा की ११ से २० लाख कर्ष महाराज की २१ से लाख कर्ष स्वराट् की ५१ से १ करोड़ विराट् की १ करोड़ से १ करोड़ और सार्वभौम की आय की ११ करोड़ से ५ करोड़। आज भी आज इन आँकड़ों का कोई विशेष महत्त्व नहीं है किन्तु इनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सामन्त राजा तथा सम्राट् के क्या विभिन्न अन्तर था। सभापर्व (१५।२) का कहना है—"प्रत्येक घर में राजा हैं जो अपने मन को प्रसन्न करने वाला कार्य करते हैं किन्तु वे सम्राट्-पद नहीं प्राप्त करते क्योंकि यह अति कठिन है। वह राजा

जिसके प्रभुत्व के अन्तर्गत सारा ससार आ जाता है, सम्राट् हो जाता है।" ऐसे सभी स्थलो पर 'ससार' से तात्पर्य है केवल भारतवर्ष। प्राचीन काल मे सम्राट् लोग अनेक सामन्तो या छोटे-मोटे राजाओं पर आधिपत्य करने के स्थान पर दूसरो द्वारा अपनी शक्ति या प्रभुत्व अगीकार कर लेने को अधिक महत्त्व देते थे। दिग्विजयो का वर्णन (महाभारत के आदिपर्व मे पाण्डु की, सभापर्व मे अर्जुन तथा अन्य पाण्डवो की दिग्विजयो का वर्णन) यह प्रकट करता है कि वास्तव मे, सम्राट् देश पर देश जीतकर अपने राज्य मे सम्मिलित नही करते थे, प्रत्युत बहुत-से राजाओं को कर देने तथा प्रभुत्व स्वीकार कर लेने पर विवश करते थे। अर्जुन ने स्पष्ट कहा है कि वे सभी राजाओं से कर लेकर आयेंगे (सभापर्व २५।३)।

और हम जानते हैं कि विजित देशो के राजा लोग हीरे-जवाहरात, सोना-चाँदी, हाथी-घोडे, गाय आदि लेकर पाण्डव सम्राट् के पास आये थे। प्रयाग की स्तम्भ-प्रशस्ति से पता चलता है कि समुद्रगुप्त को भी प्रत्यन्त (सीमा वाले) राजाओं आदि ने उसी प्रकार कर भेंट, पुरस्कार आदि दिये थे। शान्तिपर्व (९६) का कहना है कि धर्म के अनुसार ही विजय करनी चाहिए। साम्राज्य का तात्पर्य यह नही था कि विजित देश पर भाषा या शासन-विधि लाद दी जाय, जैसा कि आजकल के बहुत-से साम्राज्यो ने किया है। यूरोपीय साम्राज्यवाद के साथ यूरोप की सभ्यता एव संस्कृति का विकास होता गया और विजित राष्ट्रो पर नयी संस्कृति का भार लाद दिया गया था। किन्तु प्राचीन भारतीय साम्राज्यवाद की गाथा कुछ और है, हम जिस पर आगे प्रकाश डालेंगे। कौटिल्य (१२।१) ने तीन प्रकार के आक्रामको के नाम गिनाये हैं, (१) **धर्मविजयी** (जो केवल अधीनता स्वीकार कर लेने पर शान्त हो जाते हैं), (२) **लोभविजयी** (जो कर एव भूमि पाकर सन्तुष्ट हो जाते हैं) तथा (३) **असुरविजयी**, जो न केवल कर एव भूमि से ही सन्तुष्ट होते, प्रत्युत विजित देशस्थ राजाओं के पुत्रो, पत्नियो एव प्राणो को भी हर लेते हैं। और देखिए नीतिवाक्यामृत (पृ० ३६२-३६३) एव युद्ध-समुद्देश, जिन्होंने इसी प्रकार की व्याख्या की है। प्रथम एव द्वितीय प्रकारो के विजित राष्ट्रो के शासन-प्रबन्ध आदि पर विजयी राष्ट्र का कोई प्रभाव नहीं पडता, उनकी व्यवस्थाएँ, संस्थाएँ एव शासन-विधि ज्यो-की-त्यो रह जाती है। अशोक ने अपनी विजय को **धर्मविजय** कहा है, अर्थात् उसने केवल अपने प्रभाव को अगीकार कराकर सन्तोष कर लिया था। पल्लवराज शिवस्कन्द वर्मा ने, जिसने अग्निष्टोम, वाजपेय एव अश्वमेध यज्ञ कर डाले थे, अपने को धम्म-महाराजाधिराज (धर्मविजयी सम्राट्) कहा है। पृथ्वीषेण को भी धर्मविजयी कहा गया है (प्रवरसेन द्वितीय का दुदिया नामक पत्रक, एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द ३, पृ० २५८)। समुद्रगुप्त की दक्षिण भारत वाली विजय धर्मविजय मात्र थी।

कालान्तर मे राजाओ ने भारी-भरकम उपाधियाँ धारण करना आरम्भ कर दिया था। अशोक ने, जिसका साम्राज्य अफगानिस्तान से बगाल की खाडी तक तथा दक्षिण मे मैसूर तक विस्तृत था, अपने को मात्र **राजा** कहा है। खारवेल को केवल महाराज एव कलिंगाधिपति कहा गया है (हाथीगुम्फा अभिलेख)। कुषाण सम्राट् हुविष्क ने अपने को **महाराज-राजातिराज-देवपुत्र** कहा है। समुद्रगुप्त को केवल **महाराज** कहा गया है। किन्तु कालान्तर के राजाओं ने अपने को **परमभट्टारक-महाराजाधिराज** या **परमभट्टारक-महाराजाधिराज-परमेश्वर** कहा है। प्राचीन काल के ग्रन्थो ने राजा या सम्राट् के विषय मे कुछ कहते हुए लम्बी-लम्बी उपाधियाँ नही लिखी है। शान्तिपर्व (६८।५४) का कहना है कि राजा को राजा, भोज, विराट्, सम्राट्, क्षत्रिय, भूपति एव नृप नामो से पुकारा जाता है। दशरथ को राजा (अयोध्याकाण्ड २।२) एव महाराज (१८।१५ एव ५७।२०) कहा गया है। राजनीतिरत्नाकर के अनुसार राजाओं की तीन कोटियाँ होती हैं, (१) सम्राट्, (२) वह जो कर देता है और (३) वह जो कर नही देता (किन्तु सम्राट् नही है)। इस ग्रन्थ ने कई प्रमाणो के आधार पर कहा है कि 'चक्रवर्ती', 'सम्राट्', 'अधीश्वर' एव 'महाराज' शब्द समानार्थक हैं। प्राचीन भारत मे सम्राट् की उपाधि के लिए राजा 'राजसूय' एव 'अश्वमेध' यज्ञ करते थे (सभापर्व १३।३०)। सेनापति पुष्यमित्र ने दो अश्वमेध किये थे। खारवेल (जैन राजा) ने भी अश्वमेध यज्ञ किया था। वाकाटक-राज प्रवरसेन प्रथम ने चार अश्वमेध यज्ञ किये थे। भारशिवो ने दस अश्वमेध करके अपने को प्रतिष्ठित किया। इसी प्रकार शालंकायन

राजा शिवस्कन्द वर्मा, चालुक्यराज पुलकेशी प्रथम आदि राजाओं ने अश्वमेध यज्ञ किये थे। सेनापति पुष्यमित्र ने राजसूय यज्ञ किया था (मालविकाग्निमित्र अंक ५)। कदम्बों ने भी अश्वमेध यज्ञ किये थे। विष्णुकुण्डी महाराज माधव वर्मा ने ११ अश्वमेध तथा १, अग्निष्टोम यज्ञ किये थे।

कौटिल्य (७।१६) का कहना है कि विजयी को विजित राष्ट्र की भूमि का लोभ नहीं करना चाहिए और न विजित राजा की पत्नियों पुत्रों धन-सम्पत्ति पर अधिकार करना चाहिए प्रत्युत उसे चाहिए कि वह विजित के सम्बन्धियों को उनके पूर्व स्थान पर पुन नियुक्त कर दे राजगद्दी पर मृतपूर्व राजा के पुत्र को बैठा देना चाहिए। जो राजा विजित देश के राजा को बन्दी बनाता है उसकी पत्नियों पुत्रों धन-सम्पत्ति आदि का लोभ करता है वह बहुत-से राजाओं के मण्डल को अपने विरुद्ध उभाड़ देता है। याज्ञवल्क्य (१।३४२-४३) ने लिखा है कि विजयी राजा को विजित राजा के राज्य की रक्षा अपने राज्य के समान ही करनी चाहिए, उसकी परम्पराओं रूढ़ियों रीतियों आदि पर अपनी संस्कृति का दुस्सह भार नहीं डालना चाहिए।

विष्णुधर्मसूत्र (३।४२ एवं ४७-४) ने लिखा है कि विजेता को विजित देश की परम्पराओं का नाश नहीं करना चाहिए। उसे चाहिए कि वह अपनी राजधानी में मृत राजा के कुल सम्बन्धियों को रखे और यदि राजवंश निम्न जाति का न हो तो उसका नाश न करे। यही बात मनु (७।२ २ २ १) एवं अग्निपुराण (२३६।२२) में भी कही है। रामायण (७।६२।१८ १९) में आया है कि विजयी को चाहिए कि वह विजित देश पर दूसरे राजा को प्रतिष्ठापित कर दे जिससे स्थायी शासन चल सके। और देखिए शान्तिपर्व (१३।४६ ४६)। कात्यायन (राजनीतिप्रकाश द्वारा उद्धृत पृ ४११) का कहना है कि यदि विजित राजा अपराधी हो तो भी उसके राज्य का नाश नहीं करना चाहिए। क्योंकि समस्त जनता की सम्मति लेकर उसने युद्ध नहीं किया था। स्पष्ट है कि विजित राजा के मन्त्रियों पर विपत्ति पड़ सकती है किन्तु प्रजा पर नहीं। यह सुन्दर आदर्श सामान्यत प्राचीन काल के विजयी सम्राटों द्वारा पालित होता था। रुद्रदामन् एवं समुद्रगुप्त ने इस आदर्श का पालन किया था उन्होंने विजित राज्यों पर उनके भूतपूर्व शासकों को पुनः राजा-रूप में स्वीकृत किया था।

अभिषेक

राज्याभिषेक एक बहुत ही पवित्र एवं महत्त्वपूर्ण संस्कार माना जाता था। हम यहाँ उसका विस्तृत वर्णन नहीं उपस्थित कर सकते। मध्य काल के ग्रन्थों में बहुत-सी विधियाँ उल्लिखित हैं। राजनीतिप्रकाश (पृ ४१ ११२) नीतिमयूख (पृ १ ११) एवं राजधर्मकौस्तुभ (पृ २१०-१०४) ने ऐतरेय ब्राह्मण गोपथ ब्राह्मण सामविधान ब्राह्मण ब्रह्मपुराण विष्णुधर्मोत्तर तथा अन्य ग्रन्थों के उद्धरण देकर राज्याभिषेक की विधियों का वर्णन किया है। राजधर्मकौस्तुभ (पृ २१९) का कथन है कि विष्णुधर्मोत्तर में बहुत विस्तार पाया जाता है यदि कोई चाहे तो उस पुराण की विधि अपना सकता है जो ऐसा न कर सके उसके लिए विकल्प है, या जो ऋग्वेद का अनुयायी है वह आश्वलायन का ढंग अपनाये और जो सामवेदी है वह सामविधान की परम्परा अपनाये या सभी लोग पुराण का ढंग अपनायें।

ऐतरेय ब्राह्मण (३८) में इन्द्र का महाभिषेक (ऐन्द्र महाभिषेक) वर्णित है। ऐतरेय ब्राह्मण ने इसी सिलसिले में यह भी बतलाया है कि किस प्रकार दक्षिण में सात्वत राजा लोग अभिषेक के उपरान्त भोज कहलाते पूर्व देशों के राजा सम्राट् पश्चिम के स्वराट् तथा उत्तर के (हिमालय के उस पार के अर्थात् उत्तर कुरु एवं उत्तर मद्र के) विराट् कहलाते। इस ब्राह्मण (३) ने यह बतलाया है कि ऐन्द्र महाभिषेक की विधि के अनुसार ही क्षत्रिय का शपथ लेनी चाहिए तथा मुकुट धारण करना चाहिए। पुरोहित के समक्ष क्षत्रिय जो शपथ लेता है वह इस प्रकार की है—"यदि मैं आपको घृणा की दृष्टि से देखूँ या आपसे प्रति असत्य कहूँ तो जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त जो कुछ यज्ञ या अच्छे कर्मों

द्वारा गुण अर्जित करूँ, वे मव तथा मेरे लोक, मेरे सत्काय, प्राण, सन्तति आदि सभी आप नष्ट कर दें।" इसके उपरान्त ऐतरेय ब्राह्मण ने राज्याभिषेक के सम्भारो (सामग्रियों) की सूची दी है (३९।२), यथा—न्यग्रोध, उदुम्बर, अश्वत्थ, प्लक्ष नामक वृक्षों के फल, छोटे अक्षत, बडे अक्षत, प्रियगु एव जौ, उदुम्बर का पलग, उदुम्बर का चतुमुख चमस, दही, घृत, मक्खन, वर्षा का जल। मन्त्रो का वर्णन ३९।३-४ मे है और दक्षिणा का ३९।६ मे है। राजसूय मे, जिसे केवल क्षत्रिय ही कर सकते हैं, प्रमुख कृत्य है अभिषेचनीय, जिसमे उदुम्वर के सत्रह बरतनो मे रखे गये सत्रह उद्गमो के जल मे स्नान किया जाता है। राजनीतिप्रकाश (पृ० ९२-१०७) ने ऐतरेय ब्राह्मण मे वर्णित राज्याभिषेक का वर्णन किया है। राजसूय मे जो बहुत-से कर्म होते है, उनमे एक है "रत्निना हवींषि" (१२ रत्निया के घरो मे आहुतियाँ)। ये रत्न प्रतीकात्मक महत्त्व रखते है। वास्तव मे, वह राजा, जिसका अभिषेक होता है, अपने राज्य के बडे कर्मचारियों की महत्ता स्वीकार करता है और वे रत्न लोग उसे राजा के रूप मे स्वीकार करते हैं। राजसूय के अभिषेचन-कृत्य के दो भाग हैं, (१) धार्मिक एव (२) लौकिक अर्थात् साधारण लोगो द्वारा सम्पादित होने वाला। सर्वप्रथम अध्वर्यु तथा/अन्य पुरोहित विभिन्न बरतनो मे रखे गये विभिन्न स्थानो मे प्राप्त जल से राजा के ऊपर जल-सिचन या अभिषेक करते हैं। इसके उपरान्त राजा का भाई, कोई मित्र क्षत्रिय, कोई वैश्य भी ऐसा ही करता है। इस अन्तिम अभिषेक-कृत्य का तात्पर्य है साधारण जनता द्वारा राज्याभिषेक का समर्थन, अथवा राज्याभिषेक का लौकिक महत्त्व।[15]

तैत्तिरीय सहिता (२।७।१५-१७) ने राज्याभिषेक का वर्णन किया है। इसमे सात आहुतियो के लिए सात मन्त्र दिये गये है। व्याघ्रचर्म पर राजा बैठाया जाता है। राजा पर ऐसे जल का अभिषेक होता है जिसमे जौ के अकुर एव दूर्वा-दल मिले रहते हैं। मन्त्रो के साथ राजा रथ पर चढता है। पुरोहित एव रथ को मन्त्रो के साथ सम्बोधित किया जाता है। अनुमति, पृथिवी (माता के रूप मे) एव स्वर्ग (पिता के रूप मे) से राज्याभिषेक के समर्थन के लिए प्रार्थना की जाती है। राजा सर्वप्रथम सूर्य की ओर देखता है और तब अपनी प्रजा की ओर। इसके उपरान्त राजा का क्षौरकर्म होता है और उसके सिर एव बाहुओ पर घृत-मिश्रित दूध मला जाता है।

नीतिमयूख (पृ० ४-५), राजनीतिप्रकाश (पृ० ४२-४३) एव राजधर्मकौस्तुभ (पृ० ३३५-३३५) ने गोपथ-ब्राह्मण मे दिये गये राज्याभिषेक के कृत्यो का उद्धरण इस प्रकार दिया है[16]—"आवश्यक सामग्री एकत्र करके, यथा १६ कलश, वेल के १६ फल, वल्मीक की मिट्टी (चीटियो या दीमको के ढूह की मिट्टी), सभी प्रकार के छाँटे हुए (जिनकी

१५ गृहे गृहे हि राजान स्वस्य स्वस्य प्रियकरा ॥ न च साम्राज्यमाप्तास्ते सम्राट्शब्दो हि कृच्छ्रभाक् ॥ सभा० १५।२, प्रभुर्यस्तु परो राजा यस्मिन्नेकवशे जगत्। स साम्राज्य महाराज प्राप्तो भवति योगत ॥ सभा० १४।९-१०।

१६ आथर्वणगोपथब्राह्मणे—अथ राज्ञोभिषेकविधि व्याख्यास्याम। विल्वप्रभृतीन्सम्भारान् सभृत्य षोडश कलशान् षोडश विल्वानि वल्मीकस्य च मृत्तिका सर्वान्न सर्वरसान् सर्ववीजानि। तत्र चत्वार सौवर्णाश्चत्वारो राजताश्चत्वारस्ताम्राश्चत्वारो मृन्मया कुम्भा। तान् ह्रदे सरसि वोर्ध्वस्रुतो नामनाम इत्युदकेन पूरयित्वा वेदिपृष्ठे सस्थाप्य कुम्भेषु विल्वमेकैक दद्यात्। सर्वान्न सर्वरसान् सर्ववीजानि च प्रक्षिप्याभयैरपराजितैरायुष्यै स्वस्त्ययनै सौवर्णेषु सपातान्, सस्राव्यै ससिक्तोयैश्चैव राजतेषु, नैयज्यैरहोमुच्यैस्ताम्रेषु, सयेशसवर्गाभ्या शन्तातीयै प्राणसूक्तेन च मृन्मयेषु। ततस्तान् कलशान् गृहीत्वा श्रोत्रियं पवित्रतम राजानमभिषिञ्चेत्। भूमिमिन्द्र च वर्धयित्वा क्षत्रिय म इति (इममिन्द्र वर्धय क्षत्रिय म इति ?) सिंहासनमारूढमभिमन्त्रयेत्। एवमभिषिक्तस्तु रसान्प्राश्नीयाद् विप्रेभ्यश्च दद्याद् गोसहस्र सवस्येभ्य कर्त्रे ग्रामवरम्। विपुल यश प्राप्नोति भुक्ते धरा जितशत्रु सदा भवेदिति ॥ राजनीति-प्रकाश, पृ० ४२-४३। राजधर्मकौस्तुभ पृ० ३३५-३३६, नीतिमयूख पृ० ४-५।

भूसी निकाल ली गयी हो) अन्न, सभी प्रकार के रस, सभी प्रकार के बीज-अन्न (जिनकी भूसी न निकाली गयी हो) सोने, चाँदी, ताँबे एवं मिट्टी के चार चार कलश रखे जायें। इन कलशों में किसी गहरे जलाशय से लेकर "मामैनाम" मन्त्र के साथ जल भरा जाय। उन कलशों को वेदिका पर रखकर, प्रत्येक में एक-एक बेल डाल दे। यह सब कार्य पुरोहित ही करे। वह उन कलशों में भूसी वाले तथा छाँटे हुए अन्न डाल दे। सोने के कलशों में यह सब डालते हुए पुरोहित अभय (अथर्ववेद १९।१५), अपराजित, आयुष्य (अथर्व० ११३) एवं स्वस्त्ययन (अथर्व० १।२१, ७।८२।१, ७।८६।१, ७।११७।१) नामक मन्त्रों का उच्चारण करे। इसी प्रकार चाँदी के कलशों के साथ सम्मान्य (अथर्व० १।१) एवं समितीय (अथर्व० २।२६) मन्त्रों का पाठ हो, ताँबे के कलशों के साथ भैषज्य (अथर्व० ७।४५) एवं महद्भुत् नामक मन्त्रों तथा मिट्टी के कलशों के साथ सर्वेण, नमस्य एवं वनातीय नामक मन्त्रों तथा अथर्ववेद (११।४) की प्राण नामक स्तुति का पाठ किया जाय। इसके उपरान्त पुरोहित सोलह (विद्वान् ब्राह्मणों) द्वारा पकड़े गये कलशों के जल से राजा का अभिषेक करे। तब वह सिंहासन पर बैठे हुए राजा का अभिषेक अथर्ववेद के इस मन्त्र के साथ करे—"हे इन्द्र, मेरे इस क्षत्रिय की अभिवृद्धि करो।" इस प्रकार बैठा हुआ राजा भाँति-भाँति के रत्नों का दान करता है, प्रमुख पुरोहित के सहायक पुरोहितों को एक सहस्र गाय देता है तथा प्रमुख पुरोहित को एक अच्छा गाँव देता है। इस प्रकार वह राजा विपुल यश की प्राप्ति करता है, इस धरा को भोगता है तथा अपने शत्रुओं का नाश करता है।

सामविधान ब्राह्मण ने राज्याभिषेक का संक्षिप्त वर्णन उपस्थित किया है, जिसे यहाँ देना आवश्यक नहीं जान पड़ता। बौधायनगृह्यसूत्र (१।२१) ने राज्याभिषेक का वर्णन उपस्थित किया है, जिसे बालम्भट्टी (भाग ११५ १ की टीका में मिताक्षरा की व्याख्या करते हुए) ने उद्धृत किया है और जिसे यहाँ स्थानाभाव के कारण प्रस्तुत नहीं किया जा रहा है।

अथर्ववेद (१७।१ १) के कौशिकसूत्र ने युवराज, माण्डलिक, सामन्त एवं सेनापति (१७।११ १४ में) के अभिषेक का तथा राजा के महाभिषेक का वर्णन उपस्थित किया है।

रामायण में राज्याभिषेक के कतिपय संकेत मिलते हैं। युद्धकाण्ड (१३१) में राम के राज्याभिषेक के विषय में विस्तार मिलता है। उसका कुछ स्वरूप यह है—'राम का क्षौर-कर्म किया गया, स्नान के उपरान्त उन्होंने मूल्यवान् परिधान धारण किये। सीता का भी यथोचित अलंकरण किया गया। राम रथ पर बैठकर राजधानी में घूमे। भरत ने हाथों में लगाम ली, शत्रुघ्न ने छत्र उठा रखा था और लक्ष्मण के हाथ में चामर था। इसके उपरान्त राम हाथी पर बैठे। दुन्दुभि बजी एवं मंगलध्वनि की गयी। शुभ शकुनों के रूप में माला, गौएँ, कुमारियाँ, ब्राह्मण, मिठाई लिये हुए पुरुष आदि राम के सामने से गये या लाये गये। नागरिकों के हाथ में पताकाएँ थीं, प्रत्येक घर पर झण्डे फहरा रहे थे। जाम्बवान्, हनुमान् और अन्य दो वानर चार कलशों में समुद्र-जल ले आये। इसी प्रकार पाँच सौ नदियों का जल कलशों में लाया गया। कुलपुरोहित एवं वृद्ध मुनि वसिष्ठ ने राम और सीता को रत्नजटित सिंहासन पर बैठाया। सर्वप्रथम वसिष्ठ एवं अन्य मुनियों ने राम पर पवित्र एवं सुगन्धित जल छिड़का। इसके उपरान्त यही कार्य कुमारियों, मन्त्रियों, योद्धाओं, वणिक् विशों ने क्रम से किया। वसिष्ठ ने राम के सिर पर अति प्राचीन मुकुट रखा। तब नाच एवं नृत्य का क्रम चला। राम ने पुरोहितों को दान दिया तथा वानरों, सुग्रीव, अंगद, विभीषण आदि को भेंट दी। सीता ने हनुमान् को पुरस्कार दिया। अयोध्याकाण्ड (१५) में इस बात से युवराज के रूप में अभिषिक्त होने की तैयारी का विवरण मिलता है। अथवा वनपर्व (अध्याय ७१।) ने पुत्र के पुत्र के राज्याभिषेक का उल्लेख किया है जिसमें स्वर्ण-कलशों से बाहर निकाले हुए जल से अभिषेक किया गया था। महाभारत में भी ऐसे ही वर्णन मिलते हैं। देखिए सभापर्व (३३, जहाँ दन्त तथा अन्य धातुओं के पात्र राजसूय के अवसर पर भरे गये थे) जिसमें युधिष्ठिर के राज्याभिषेक का वर्णन है। शान्तिपर्व (४० ... १३) में राज्याभिषेक के सम्भारों (सामग्रियों) का वर्णन मिलता है। लोगों के लिए देखिए

आदिपर्व ४४, ८५, १०१)। राज्याभिषेक के लिए सम्भारों की सूची प्रतिमा नाटक (सम्भवत भास-कृत) एव पञ्च-तन्त्र (३।७६) मे भी प्राप्त होती है।

अग्निपुराण के २१८वें अध्याय मे राज्याभिषेक का वर्णन तथा २१९वें अध्याय मे मन्त्रो की सूची है। उसमे निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं—स्नान (तिल एव सरसो से युक्त जल से), भद्रासन पर बैठना, अभय की घोषणा (रक्षा एव किसी को न मारने की घोषणा), बन्दी-गृह मे कुछ बन्दियो का छोडना, ऐन्द्री शान्ति, राजा द्वारा उपवास, मन्त्रोच्चारण, पर्वत-शिखर एव अन्य स्थलो मे लायी गयी मिट्टी से राजा के सिर एव अन्य अगो को परिशुद्ध करना, पञ्चगव्य छिडकना, चारो वर्णो के अमात्यो द्वारा सोने, चाँदी, ताँबे एव मिट्टी के चार घटो के जल से अभिषेक, मधु-मिश्रित जल से ऋग्वेदी द्वारा, कुश-मिश्रित जल से छन्दोग (सामवेदी) द्वारा, यजुर्वेदी एव अथर्ववेदी ब्राह्मणो द्वारा राजा के सिर एव कण्ठ को पीले रग से स्पर्श करते हुए अभिषेक, गान एव वाद्ययन्त्र बजाना, राजा के समक्ष पखे एव चमर पकडकर खडे रहने का कृत्य, राजा द्वारा घृत एव शीशे मे छाया-दर्शन, विष्णु तथा अन्य देवो की पूजा, व्याघ्रचर्म पर बैठना, जिसके नीचे सिंह, चीते, बिल्ली एव बैल के चर्म रखे गये हो, पुरोहित द्वारा मधुपर्क देना, राजा के सिर पर एक पट्ट बाँधना एव उस पर मुकुट रखना, प्रतिहार द्वारा मन्त्रियो को उपस्थित करना, राजा द्वारा पुरोहितो एव अन्य ब्राह्मणो को भेंट देना, अग्नि-प्रदक्षिणा, गुरुजनो को प्रणाम करना, बैल को स्पर्श करना, बछडे के साथ गाय की पूजा, अश्वारोहण, हाथी का सम्मान करना तथा उस पर आरोहण, राजधानी मे जुलूस निकालना तथा सभी लोगो का सम्मान करना और उनसे विदा लेना।

महाभारत मे युवराज के रूप मे भीम के (शान्ति० ४१) एव सेनापति के रूप मे भीष्म के (उद्योग० १५५। २६-३२), द्रोण के (द्रोण० ५।३९-४३) एव स्कन्द के (शल्य० ४५) अभिषेको का वर्णन मिलता है।

राजनीतिप्रकाश (पृ० ४९-८८), राजधर्मकौस्तुभ (पृ० ३१८-३६३) एव नीतिमयूख (पृ० १-४) ने विष्णु-धर्मोत्तर (द्वितीय खण्ड २१-२२ अध्याय) का उद्धरण देकर राज्याभिषेक के कृत्यो एव मन्त्रो का वर्णन किया है। विष्णु-धर्मोत्तर (२।१९) मे सर्वप्रथम इन्द्र के सम्मान मे पौरन्दरी या ऐन्द्री शान्ति नामक शान्ति-कृत्य का वर्णन पाया जाता है। यहाँ विस्तारपूर्वक वर्णन नही किया जा सकता, केवल कुछ बातो की ही चर्चा हो सकेगी। विष्णुधर्मोत्तर पुराण (२।२१) मे वैदिक मन्त्रो (स्वस्त्ययन, आयुष्य, अभय एव अपराजित मन्त्रो) एव अन्य कृत्यों का विशद वर्णन है। विष्णुधर्मोत्तर (२।२२) ने पौराणिक मन्त्रो (कुल मिलाकर १८२ श्लोको मे) द्वारा ब्रह्मा, नक्षत्रो (कृत्तिका से भरणी), ग्रहो, १४ मनुओ, ११ रुद्रो, विश्वे-देवो, गन्धर्वो अप्सराओ, दानवो, डाकिनियो, गरुड ऐसे पक्षियो, नागो, वेदव्यास ऐसे मुनियो, पृथु, दिलीप, भरत ऐसे सम्राटो, वेदो, विद्याओ, नारियो आदि का राजा को मुकुट पहनाने के लिए आह्वान किया गया है।

राजधर्मकौस्तुभ ने राज्याभिषेक का अत्यन्त विशद वर्णन उपस्थित किया है। सर्वप्रथम शान्ति-कृत्य का सम्पादन होता है। दूसरे दिन ईशान (रुद्र) को आहुति दी जाती है। तीसरे दिन ग्रहो, जलो के देवताओ, पृथिवी, नारायण, इन्द्र आदि की पूजा तथा नक्षत्रो का आह्वान होता है। चौथे दिन नक्षत्रो के लिए याग (यज्ञ) किया जाता है। पाँचवें दिन रात्रि मे निर्ऋति नामक देवी (काला परिधान धारण किये हुए, गदहे पर बैठी मिट्टी की मूर्ति) को आहुति दी जाती है। छठे दिन ऐन्द्री शान्ति का कृत्य होता है। इसके उपरान्त विष्णुधर्मोत्तर मे वर्णित कृत्यो का ब्यौरा उपस्थित किया गया है।

विष्णुधर्मोत्तर (२।१८।२-४) ने टिप्पणी दी है कि राजा के मर जाने पर उत्तराधिकारी के राज्याभिषेक के लिए किसी शुभ घडी की बाट नही जोहनी चाहिए। तिल एव सरसो से मिले जल से स्नान करा देना चाहिए। उसके नाम से घोषणा निकाल देनी चाहिए कि उसने उत्तराधिकार सँभाल लिया है। भूतपूर्व राजा के आसन के अतिरिक्त अन्य आसन पर विठला कर पुरोहित एव ज्योतिषी को चाहिए कि वे उसे जनता को दिखला दें। राजा को प्रजा का

सम्मान करना चाहिए, शान्ति एवं रक्षा की घोषणा करनी चाहिए, कुछ बन्दियों को छोड़ देना चाहिए और औपचारिक राज्याभिषेक की बाट जोहनी चाहिए। राजनीतिप्रकाश (पृ० ९२) के अनुसार राजा के मर जाने पर उत्तराधिकारी को मुकुट एक वर्ष के उपरान्त पहनाना चाहिए। किन्तु यदि कोई राजा गद्दी छोड़ दे तो उत्तराधिकारी को वर्ष भर जोहने के स्थान पर किसी शुभ दिन में राज्याभिषेक करा लेना चाहिए।

विष्णुधर्मोत्तर (२।७) में अग्रमहिषी के गुणों का वर्णन विस्तार के साथ किया है। राजनीतिकौस्तुभ (पृ० २४-२५) ने इसका उद्धरण दिया है। प्रमुख या पट्ट या अग्र रानी का राजा के साथ ही या अलग राज्याभिषेक हुआ कर देना चाहिए। मनु (७।७७) ने रानी के लिए भद्र कुल, समान जाति, सौन्दर्य, अच्छे गुण से सम्पन्न होना आवश्यक माना है। राजतरंगिणी (८।८२) ने टिप्पणी की है कि राजा उच्चल की रानी जयमती सदा पति के साथ आधे सिंहासन पर बैठती थी।

शिवाजी का राज्याभिषेक सन् १६७४ ई० में बड़ी धूमधाम से सम्पन्न हुआ था। इसके विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए 'शिव-छत्रपति महाराज-चरित' जिसका सम्पादन श्री मल्हार रामराव चिटनिस (सन् १८८२ पृ० १२०-१२५) ने मराठी भाषा में किया है। शिवाजी का उपनयन ज्येष्ठ शुक्ल पक्ष की पंचमी को हुआ था। सात दिनों तक भाँति-भाँति के कृत्य होते रहे। विनायकशान्ति, ग्रहशान्ति, ऐन्द्री एवं पौरन्दरी का सम्पादन हुआ और ज्येष्ठ शुक्ल पक्ष त्रयोदशी को उनके सिर पर मुकुट रखा गया।

प्रमुख मन्त्रियों द्वारा राजकीय प्रतीक, यथा छत्र, चमर एवं बेंत की छड़ी आदि राजा के सम्मुख रखे जाते थे। इन प्रतीकों को विशिष्ट ढंग से तैयार कराया जाता था। विशेष रूप से देखिए कालिदास का रघुवंश (३।१६) एवं बृहत्संहिता (अध्याय ७१ एवं ७२)।

कभी-कभी राज्याभिषेक के समय राजा दूसरा नाम धारण कर लेता था जिसे अभिषेक-नाम कहा जाता था। कुछ राजाओं ने अश्वमेध सम्पादन के समय भी नाम-परिवर्तन किये थे, यथा कुमारगुप्त प्रथम ने अपने को महेन्द्र नाम से घोषित किया। इस विषय में देखिए डा० आर० सी० मजुमदार की पुस्तक 'चम्पा' (पृ० १९७)।

विष्णुधर्मोत्तर (२।१६२) का कहना है कि प्रति वर्ष राज्याभिषेक के दिन वैसे ही कृत्य किये जाने चाहिए। ब्रह्मपुराण ने भी यही बात कही है (देखिए राजनीतिप्रकाश पृ० ११५, कौस्तुभ पृ० १७९, राजधर्मकाण्ड पृ० १)।

मनु (७।२१७-२२) ने राजा को विष से बचाने के नियम बतलाये हैं। उनका कहना है कि राजा को वही भोजन करना चाहिए जो भली भाँति परीक्षित हो चुका हो और जो पूर्ण विश्वासी व्यक्ति द्वारा तैयार किया गया हो और जिस पर विष शान्ति वाला मन्त्र पढ़ दिया गया हो। राजा को अपनी भोज्य वस्तुओं में विषमोचक वस्तुएँ मिला देनी चाहिए और ऐसे रत्न धारण करने चाहिए जो विष को मार सकें। वैसी ही स्त्रियों को राजा के स्नानार्थ, सेवार्थ, भोजनार्थ तथा स्पर्शार्थ नियुक्त करना चाहिए जो भक्त हों और जिनके वस्त्राभूषण आदि की भली भाँति परीक्षा की जा चुकी हो। राजा को अपनी सवारियों, शय्या, भोजन, स्नान, लेपन आदि के विषय में विशेष सतर्क रहना चाहिए। कामन्दक (७।८) एवं मत्स्यपुराण (२१९।१) ने भी मनु (७।२२) की ही बात कही है। कौटिल्य (१।१७) का कहना है कि राजा को सर्वप्रथम अपने पुत्रों एवं रानियों से व्यक्तिगत सुरक्षा करनी चाहिए और इसके उपरान्त अपने नातेदारों एवं शत्रुओं से अपने राज्य की रक्षा करनी चाहिए। कौटिल्य ने पुत्रों—राजकुमारों से सुरक्षा रखने के विषय में राजा को मन्त्रणा दी है। इस विषय में कई पूर्व राजनीतिज्ञों की सम्मतियाँ उद्धृत की गयी हैं, यथा—गुप्त वध (भारद्वाज के मतानुसार), एक स्थान पर रक्षकों के बीच रखना (विशालाक्ष), सीमा-रक्षकों के साथ एक दुर्ग में रखना (पराशर), अपने राज्य से दूर किसी सामन्त के दुर्ग में रखना (पिशुन), माता के कुल में भेजना (कौणपदन्त), राजकुमारों को विषयासक्त बना देना (वातव्याधि), जन्म के पूर्व एवं जन्म के उपरान्त उचित सावधानी एवं शिक्षा देना (स्वयं कौटिल्य)। इससे

स्पष्ट है कि प्राचीन राजनीतिज्ञों ने राजकुमारों से बचने के लिए राजा को कई आवश्यक मार्ग बता दिये थे, जिनमें कौटिल्य वाला मार्ग अपेक्षाकृत युक्तिसंगत एवं सम्भव प्रतीत होता है। मत्स्यपुराण (२२० वाँ अध्याय) ने भी राजकुमारों के प्रशिक्षण, अनुशासन तथा उत्तरदायित्व की बात चलायी है और कहा है कि बुरे राजकुमारों को सुरक्षित स्थान में उनकी स्थिति के अनुसार सुख एवं आराम की व्यवस्था करके बन्दी रखना चाहिए।[17]

कौटिल्य (१।२०) ने अग्नि एवं विष के विषय में कई व्यावहारिक संकेत दिये हैं, 'जिस घर में जीवन्ती, श्वेता एवं अन्य उपयोगी पौधे होते हैं, वहाँ विषैले सर्प नहीं आते, बिल्लियाँ, मोर, नेवले तथा चितकबरे हरिण साँप को खा डालते हैं, तोता, मैना आदि पक्षी विषैले साँपों को देखकर चीखने लगते हैं, क्रौंच (सारस) विष की सन्निधि में संज्ञाशून्य हो जाते हैं, जीवजीव पक्षी रुक जाता है, कोकिल का बच्चा मर जाता है, चकोर की आँखें लाल हो जाती हैं। इस विषय में देखिए कामन्दक (७।१०-१३), मत्स्यपुराण (२१९।१७-२२), यशस्तिलक (३, ५११-५१२) तथा शुक्र० (१।३२६-३२८)। कौटिल्य (१।२१), कामन्दक (७।१५-२६), मत्स्य० (२१९।१९-३२) का कहना है कि भोजन का कुछ अंश अग्नि में डालना चाहिए या पक्षियों को देना चाहिए, जिससे यदि विष हो तो उसका प्रभाव जाना जा सके। पाचक एवं वैद्य को, जो भोजन में विषमोचक पदार्थ डालते थे, सर्वप्रथम उसे चखना पड़ता था। राजा को अन्तःपुर में बहुत सावधानी बरतनी पड़ती थी। इसी प्रकार भेंट लेते समय, गाड़ी में बैठे हुए, घोड़े पर चढ़े हुए या नाव से यात्रा करते समय या उत्सवों में सम्मिलित होते समय सदा सावधान रहना चाहिए, ऐसा कौटिल्य (१।२०-२१), कामन्दक (७।२८-४७) ने कहा है। कौटिल्य (१।२०) एवं कामन्दक (७।४४ एवं ५०) ने राजा को चेतावनी दी है कि वह स्त्रियों का विश्वास न करे, यहाँ तक कि रानी का भी विश्वास न करे, जब रानी की जाँच ८० वर्षीय पुरुषों द्वारा या ५० वर्षीय स्त्रियों द्वारा हो जाय और यह ज्ञात हो जाय कि रानी सुरक्षित एवं शुद्ध है, तो वह उसके पास जाय। कौटिल्य (१।२०) एवं कामन्दक (७।५१।५२) ने ऐसे सात राजाओं के दृष्टान्त दिये हैं, जो रानी की दुरभिसंधि या शत्रुओं के शिकार हुए, भद्रसेन अपने भाई द्वारा, जो उसकी रानी के कक्ष में छिपा पड़ा था, मारा गया (वास्तव में राजा के भाई एवं उसकी रानी में प्रेम-भाव चल रहा था), राजा करूप अपने पुत्र द्वारा मारा गया, जो ऐसी रानी के शयन-कक्ष में छिपा था जो राजा से अपने पुत्र के उत्तराधिकार के विषय में रुष्ट थी, आदि-आदि। इस विषय में विस्तृत विवरण अन्यत्र देखिए, यथा—हर्षचरित ६, बृहत्संहिता (७७।१-२), मेधातिथि (मनु ७।१५३), नीतिवाक्यामृत (राजरक्षासमुद्देश ३५।३६, पृ० २३१-२३२)।

राजा को मन्त्रियों एवं अन्य राज्यकर्मचारियों के धोखे एवं प्रवंचना से बचना चाहिए। कौटिल्य (१।१०) ने लिखा है कि किस प्रकार प्राचीन शास्त्रियों ने मन्त्रियों की सदसद्-भावना की जाँच, उनके सामने विविध प्रकार के प्रलोभन आदि, यथा धर्म, धन, काम-प्रेरणाएँ, भय—रखकर करने की सम्मति दी है। कौटिल्य ने अपनी सम्मति दी है कि ऐसा प्रलोभन, जिसका सम्बन्ध या संकेत राजा या रानी से हो, मन्त्रियों के समक्ष नहीं रखना चाहिए। हर्षचरित

१७ गुणाधानमशक्यं तु यस्य कर्तुं स्वभावतः। बन्धनं तस्य कर्तव्यं गुप्तदेशे सुखान्वितम्॥ अविनीतकुमारं हि कुलमाशु विशीर्यते॥ अधिकारेषु सर्वेषु विनीतं विनियोजयेत्। आदौ स्वल्पे ततः पश्चात्क्रमेणाथ महत्स्वपि॥ मत्स्य० (२२०।५-७)। मिलाइए कामन्दक ७।२-६—राजपुत्रा मदोद्धृता गजा इव निरंकुशाः। भ्रातरं वाभिनिघ्नन्ति पितरं वाभिमानिनः। विनयोपग्रहान् भृत्यैः कुर्वीत नृपतिः सुतान्। अविनीतकुमारं हि कुलमाशु विनश्यति॥ विनीतमौरसं पुत्रं यौवराज्येऽभिषेचयेत्। दुष्टं गजमिवोद्वृत्तं कुर्वीत सुखबन्धनम्॥ और देखिए अग्निपुराण (२२५।३-४)।

(६) में आया है कि हस्तिसेना के सेनापति स्कन्दगुप्त ने सम्राट् हर्ष को शत्रु पर विश्वास करने से मना किया है और १९ ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि असावधानी के कारण तथा दुरभिसन्धियों के फलस्वरूप वे राजा विपत्तियों में फँसे। कुछ नाम ये हैं—वत्सराज उदयन, सौवीरराज, बृहद्रथ, काकवर्ण शैशुनागि (शैशुनागि ?), अग्निमित्र का पुत्र सुमित्र, शुङ्ग देवभूति, मौखरी राजा क्षत्रवर्मा। और देखिए कामसूत्र (५।५।३), नीतिवाक्यामृत (युद्धसमुद्देश पृ० १७१), यशस्तिलकचम्पू (२ पृ० ४११-४१२)।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह नहीं समझना चाहिए कि प्राचीन काल में भारतीय राजा असुरक्षित रहा करते थे और उनके प्राणों पर बहुधा आक्रमण हुआ करते थे। भारतवर्ष में एक ही समय बहुत-से राजा राज्य करते थे। यदि सहस्रों वर्षों के दौरान कुछ ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। अन्य देशों के इतिहास के पन्ने उलटे जायँ तो कुछ ही शताब्दियों में सैकड़ों ऐसे चित्र उपस्थित होंगे जहाँ कपटाचरण एवं दुरभिसन्धियों के कारण कतिपय शासक मार डाले गये। वास्तव में राजसत्तात्मक प्रणाली में राजा सारे राज्यचक्र की विवर्तन-कील (धुरा) था। मत्स्यपुराण (२१९।१४) में आया है कि राजा मूल है और प्रजा वृक्ष, अतः राजा को बचाने में सम्पूर्ण राज्य की समृद्धि बनी रहती है, अतः सबको मिलकर राजा की रक्षा का प्रयत्न करना चाहिए।

प्राचीन एवं मध्य काल में शासन-व्यवस्था वंशपरम्परागत एकराजात्मक थी। कौटिल्य (१।१७) ने स्पष्ट लिखा है कि विपत्तिकाल को छोड़कर सदैव ज्येष्ठ पुत्र को उत्तराधिकार मिलता रहा है और यह प्रणाली सदैव मान्य रही है। बुद्ध के समय के आस-पास तथा उसके कुछ शताब्दियों उपरान्त भी भारत में कुछ अल्पजनाधिपत्य-शासन या गणतन्त्र संस्थापित थे। किन्तु हमारे धर्मशास्त्र-विषयक ग्रन्थों या राजनीतिशास्त्र-विषयक ग्रन्थों में उनके विषय में बहुत कम संकेत प्राप्त होते हैं। शान्तिपर्व (१०७) में गणराज्यों के विषय में ऐसा लिखा है—"गणों के नाश का कारण है आन्तरिक कलह; जहाँ बहुत-से शासक हों, वहाँ नीति का रहस्य छिपा नहीं रह सकता; सभी सदस्य निर्धारित नीति को जानने के अधिकारी नहीं हो सकते, अतः गण के रक्षार्थ प्रमुख व्यक्तियों को आपस में विचार-विमर्श करना चाहिए; यदि गण के विभिन्न कुलों में कलह उत्पन्न हो जाय और कुलों के मुख्य लोग उसे सँभाल न सकें तो गण में गड़बड़ियाँ अवश्य उत्पन्न हो जायँगी। गणराज्यों के विषय में आन्तरिक झगड़ों का मिट जाना परमावश्यक है; बाहरी भय उतने गम्भीर नहीं होते जितने कि भीतरी। गण के सभी सदस्य जन्म एवं कुल-परम्परा में समान होते हैं किन्तु शौर्य, मेधा, शरीर-स्वरूप एवं धन में बराबर नहीं होते। आन्तरिक कलह उत्पन्न कर एवं घूस देकर बाह्य शत्रु गणों को तोड़ डालते हैं। अतः गणों की सुरक्षा एकता में ही पायी जाती है।" उपर्युक्त अध्याय द्वारा महाभारत कई व्यक्तियों द्वारा चलाये गये शासन के दोषों का वर्णन करता है, यथा—(१) भेद गुप्त नहीं रखा जा सकता, (२) लोभ एवं ईर्ष्या के कारण व्यभिचार बढ़ जाता है और नाश अवश्यम्भावी हो जाता है। एक अन्य स्थल पर महाभारत (शान्ति० ८१) ने वृष्णियों के संघ की ओर संकेत किया है। वृष्णि-संघ के अध्यक्ष थे कृष्ण। महाभारत में लिखा है कि संघ के नेता में चार गुण विशेष पाये जाने चाहिए, यथा दूरदर्शिता, सहिष्णुता, आत्म-निग्रह एवं धनप्रभृति-त्याग। महाभारत में गण एवं संघ शब्द एक-दूसरे के पर्याय माने गये हैं। पाणिनि (३।३।८६) ने संघ का अर्थ गण बताया है। पतञ्जलि (महाभाष्य, जिल्द २, पृ० १९६) ने संघ, समूह, समुदाय को समानार्थक कहा है। पाणिनि ने संघ के दो प्रकार बताये हैं, यथा (१) आयुधजीवी (युद्ध करके जीविका कमाने वाले ऐसे लोग जो आयुध रखते थे और समय-समय पर राजा द्वारा बुलाये जाने पर सेना में भर्ती होते थे या आवश्यकता पड़ने पर युद्ध करते थे) तथा अन्य लोग जो ऐसे नहीं थे। पाणिनि ने लिखा है कि वाहीक देश में संघों में ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा अन्य लोग पाये जाते हैं (५।३।११४)। आयुधजीवी संघों में थे वृक, त्रिगर्त, यौधेय तथा पर्शु (५।३।११५-११७)। कात्यायन ने अपने वार्तिक (४।१।१६८) में बताया है कि संघ और एकराजात्मकता में अन्तर है। कौटिल्य ने लिखा

है कि द्वैपायन मे मुठभेट होने पर वृष्णि-सघ का नाश हुआ। कौटिल्य (१।१७) ने लिखा है कि राज्य-शासन कुल द्वारा चलाया जा सकता है, क्योकि कुलसघ दुर्जय होता है, यह राजारहित राज्य की विपत्तियो मे दूर रहता है और बहुत दिनो तक चलता रहता है। सघो के साथ महत्त्वाकाक्षी राजा के व्यवहार किस प्रकार के होने चाहिए, इस पर कौटिल्य ने एक पूरा अधिकरण (११) लिख डाला है। सघो को अपनी ओर मिला लेना किसी सेना या मित्रो को अपनी ओर मिला लेने से कही उत्तम है। कौटिल्य ने इसी सिलसिले मे एक मनोरजक बात कही है—काम्भोज एव सुराष्ट्र मे क्षत्रिया एव अन्य लोगो की श्रेणिया "वार्ता-शस्त्रोपजीवी" हैं (अर्थात् कृषि, व्यापार आदि करने वाले एव युद्ध मे लडने की वृत्ति (पेशा) करने वाले हैं), किन्तु लिच्छिविका, वृजिको, मल्लको, मद्रका, कुकुरो, कुरुओ एव पाचालो के सघ 'राजशब्दोपजीवी' है (अर्थात् वे कृषक एव सैनिक नही हैं, प्रत्युत केवल सामन्त या प्रमुख लोग हैं)। वार्ता शस्त्रोप-जीवी लोग कृषि एव युद्ध दोनो करते थे, अर्थात् ये तो वे कृषक किन्तु समय पडने पर अपने राष्ट्र के रक्षार्थ सदैव उद्यत रहते थे। कौटिल्य बिना किसी विकल्प के कपटाचरण द्वारा सघो मे कलह उत्पन्न करने की सम्मति सम्राट् को देते है। सम्राट् चाहे तो सघो के सदस्यो, नेता या सघ-मुख्य मे फूट के बीज बो सकता है। कौटिल्य (८।३) ने लिखा है कि सघो के लोगो मे जुआ खेलने का अभ्यास होता है, अत उनमे कलह किसी भी क्षण उत्पन्न किया जा सकता है तथा सघ का नाश हो सकता है। ईसा मे ५००-६०० वर्षो के उपरान्त गण-राज्य कम होते चले गये और क्रमश उनका अन्त हो गया।

गणराज्यो के विषय मे हमे जो जानकारी है वह बौद्ध ग्रन्थो, यूनानी कथाओ (मेगस्थनीज की इण्डिका के स्फुट उद्धरण, जो अन्य यूनानी इतिहासकारो एव पर्यटको के ग्रन्थो एव भ्रमण-वृत्तान्तो मे पाये जाते हैं), सिक्को एव शिला-लेखो पर आधारित है। रुद्रदामन् (१५० ई० वाले जूनागढ के अभिलेख) ने सगर्व घोषित किया है कि उसने वीर यौधेयो को परास्त कर दिया। समुद्रगुप्त ने चौथी शताब्दी के उत्तरार्ध मे यौधेयो, मालवो, आर्जुनायना आदि का नाश किया। गुप्ताभिलेखो (सख्या ५८, पृ० २५१) से पता चलता है कि यौधेयगण ने महाराज-सेनापति को अपना नेता बनाया था। बृहत्सहिता ने कतिपय स्थलो पर (४।२५, ५।४०, ६७, ७५, १४।२५ एव २८, १६।२१, १७।१९) यौधेयो एव आर्जुनायना की ओर सकेत किया है और 'यौधेय-नृप' के बारे मे उल्लेख किया है (९।११)। यूनानी लेखको ने क्षुद्रको, मालवो, शिबियो, अम्बष्ठो आदि का उल्लेख किया है, जो गण-राज्य थे। बौद्ध ग्रन्थो मे लगभग ११ गणराज्यो के नाम उनकी राजधानियो के साथ मिलते है, यथा—शाक्य (कपिलवस्तु), मल्ल (कुसीनारा एव पावा), विदेह (मिथिला), लिच्छिवि (वैसाली) आदि (देखिए डा० जायसवाल कृत हिन्दू पालिटी, भाग १, अध्याय ८, पृ० ६३-७९, राइस डेविड्स कृत बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० १९)। राइस डेविड्स ने निष्कर्ष निकाला है—शाक्यो के शासन-सम्बन्धी एव न्याय-सम्बन्धी कार्य कपिलवस्तु के सथागार मे निश्चित होते थे। एक प्रमुख का चुनाव (कैसे और कितने दिनो के लिए, यह नही ज्ञात है) होता था, जो बैठको की अध्यक्षता करता था और राज्य करता था। उसकी उपाधि थी राजा। एक बार गौतम बुद्ध के चचेरे भाई भद्दिय भी राजा बनाये गये थे और उनके पिता शुद्धोदन भी राजा की पदवी से विभूषित थे। राइस डेविड्स (पृ० २६) ने लिखा है कि वज्जियो मे आठ माण्डलिक कुल थे, जिनमे लिच्छिवियो एव विदेहो को अधिक महत्ता प्राप्त थी। डा० जायसवाल का यह सिद्धान्त कि गौतम बुद्ध ने गणराज्यो की शासन-विधि को बौद्ध सघ की व्यवस्था के लिए अपना लिया, भ्रामक है। डा० डी० आर० भण्डारकर की सहमति भी उसी प्रकार निर्मूल है। बात यह है कि ऐसी उक्ति के लिए कोई स्पष्ट प्रमाण नही मिलता। बुद्ध ने अजातशत्रु से कहा था कि जब तक वज्जि लोग सात शर्तो का पालन करेंगे उनका नाश कठिन है। इस कथन के आधार पर ही यह सिद्धान्त निकाल लेना कि बौद्ध सघ के नियम वज्जि-सघ के नियमो पर आधारित है, बिना मूल की परिकल्पना मात्र है। अस्तु, वे सात शर्ते क्या थी? ये शर्ते महापरिनिब्बाण-सुत्त (अध्याय १) मे लिखित है—(१) बार-बार जन-

बैठकें बुलाना एवं करना; (२) मतैक्य के साथ मिलना एवं मतैक्य के साथ जो निर्णय हो उसे कार्यान्वित करना; (३) जो पूर्व प्रतिष्ठापित न हो उस पर नियम न बनाना तथा जो नियम बन चुका हो उसे समाप्त न करना तथा पूर्व काल से प्रतिष्ठापित प्राचीन नियमों के अनुसार कार्यशील होना; (४) वृद्धजनों का सम्मान एवं श्रद्धा करना तथा उनकी बातें मानना; (५) बलपूर्वक अपनी जाति की स्त्रियों या कन्याओं को न रोकना या बलात्कार न करना या उन्हें न भगा ले जाना; (६) वज्जि लोगों के तीर्थ-स्थानों का सम्मान करना, उनकी रक्षा करना तथा उनकी पूजा-अर्चना-सम्बन्धी क्रियाओं को समाप्त न होने देना तथा (७) उनमें पास आने वाले अर्हतों की रक्षा-सुरक्षा की चिन्ता करना।

किन्तु गणराज्य-सम्बन्धी कुछ अति आवश्यक बातों पर हमें कोई प्रकाश नहीं मिलता, यथा—कौन अभिमत (वोट) देने का अधिकारी था? राज्य-सभा की सदस्यता के लिए कौन-कौन-सी अनिवार्य शर्तें थीं? वोट कैसे पड़ता था? सदस्यता की अवधि क्या थी? क्या सदस्य जीवन भर के लिए या कुछ अवधि के लिए चुना जाता था या उसका चुनाव होता ही नहीं था? सभा की शक्तियाँ एवं विधियाँ क्या थीं? (देखिए डा० बेनीप्रसाद कृत 'हिन्दू पोलिटिकल थ्योरीज़', पृ० १५८)। राइस डेविड्स (बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० ४१) ने लिखा है कि जातकों के आधार पर वैशाली में ७७०७ राजा थे। एकपण्ण-जातक (फौसबॉल, जिल्द ४, पृ० १४८) में आया है कि वैशाली में गण के राजाओं (प्रमुखों) के कुल के स्नान के लिए एक तालाब था। महावस्तु में आया है कि लिच्छवियों में ८४ सहस्र के दुगुने राजा लोग थे। इससे स्पष्ट होता है कि कौटिल्य ने जो "राजशब्दोपजीविनः" लिखा है वह ठीक ही है। ये राजा शारीरिक कार्य यथा कृषि, व्यापार आदि नहीं करते थे। धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र की पुस्तकों में सभा के सदस्यों के चुनाव के नियमों के विषय में कोई प्रकाश नहीं मिलता (देखिए डा० डी० आर० भण्डारकर कृत पुस्तक 'सम आस्पेक्ट्स आव ऐंश्येंट हिन्दू पालिटी', १९२९, पृ० १०१-१२१, जहाँ गणराज्यों का संक्षिप्त विवेचन किया गया है)। दक्षिण भारत के उत्तरमल्लूर नामक अभिलेख से पता चलता है कि ग्रामों की सदस्यता के लिए कुछ भूमि-स्वत्व तथा वैदिक अध्ययन की शर्त थी और टिकट पर आवेदकों के नाम लिखे रहते थे। किन्तु ऐसी शर्तें बहुत पश्चात् की और थीं भी तो ग्राम-सभाओं के लिए। वास्तव में गणों की चुनाव-व्यवस्था के विषय में हमें अभी कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलते।

क्या किसी गणतन्त्र के अन्तर्गत निर्वाचित प्रतिनिधियों की सभाएँ थीं? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इस विषय में 'सभा' एवं 'समिति' शब्दों पर विचार करना आवश्यक है। ऋग्वेद (१।९१।२०) में आया है कि सोम ने एक ऐसा पुत्र प्रदान किया जो सादन्य, विदथ्य एवं सभेय है, जिससे प्रकट होता है कि 'सभा' शब्द 'विदथ' शब्द से भिन्न अर्थ रखता है। ऋग्वेद (२।२४।१३) में एक विप्र (पुरोहित या मन्त्र-प्रणेता) को सभेय (सभा में चतुर या प्रसिद्ध) कहा गया है। ऋग्वेद (१०।३४।६) में एक स्थल पर सभा का अर्थ "जुआ का घर" है। वाजसनेयी संहिता (३०।६) में लगता है, सभाचर का अर्थ धर्म सभ है अर्थात् न्याय-सम्बन्धी सभा का सदस्य। दूसरे स्थल (३०।१८) पर प्रतीकात्मक पुरुषमेध में सभास्थाणु ग्रामणी को दे देने का वर्णन आया है। वाज० (१६।२४) में सभाओं एवं सभापतियों (सभाओं के अध्यक्ष) को प्रणाम किया गया है। अथर्ववेद (७।१२।१) में 'सभा' और 'समिति' प्रजापति की दो पुत्रियाँ कही गयी हैं। जिससे यह तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि ये दोनों समान होती हुई भी एक-दूसरी से कुछ भिन्न हैं। अथर्ववेद में दूसरे स्थल (१५।९।२) पर 'सभा' एवं 'समिति' का उल्लेख पृथक् पृथक् हुआ है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।१४) में 'सभापाल' शब्द प्रयुक्त हुआ है और सायण ने 'सभा' का अर्थ "द्यूत-भवन" लगाया है। ऋग्वेद (१०।९७।६) एवं वाज० सं० (१२।८०) में ऐसा आया है कि 'विप्र' एवं वैद्य (भिषक्) है जिसमें ओषधियाँ उसी प्रकार एक-साथ आती हैं जिस प्रकार राजा लोग समिति (बैठक या युद्ध) में जाते हैं। ऋग्वेद में एक स्थल (१०।१९१।३) पर 'समिति' का अर्थ सभा या सभा-स्थल के अतिरिक्त और कुछ

नही प्रतीत होता। अथववेद मे एक स्थल (५।१९।१५) पर ऐसा आया है--"जो ब्राह्मण को तग करता है उसे समिति नही भाती," अर्थात् वह समिति पर विजय नही प्राप्त कर सकता। छान्दोग्योपनिषद् मे उल्लेख है कि श्वेतकेतु पञ्चाल देश की समिति मे गया, जहाँ राजा प्रवाहण जैवलि ने उससे पाँच प्रश्न पूछे जिनका उत्तर वह दे न सका। इसके उपरान्त वह दूसरे दिन प्रात काल सभा मे बैठे हुए राजा से मिला। यहाँ पर दो बार प्रयुक्त 'सभा' शब्द एक ही सभा के लिए है। वैदिक काल मे सभा या समिति का निर्माण कैसे होता था, यह कहना असम्भव है। हम इतना ही कह सकते हैं कि यह एक ऐसी जन-सभा थी जहाँ राजा, विद्वान् लोग तथा अन्य लोग जाते थे। यह निर्वाचित सस्था थी, ऐसा कहना अत्यन्त सन्देहात्मक है। सम्भवत यह ऐसे लोगो की अस्थायी सभा थी जो उसमे जाना या उपस्थित रहना पसन्द करते थे। डा० का० प्र० जायसवाल (हिन्दू पॉलिटी, भाग १, पृ० ११) का कहना है कि 'समिति' वैदिक काल मे (सभी लोगो की) एक राष्ट्रीय सभा थी और उसमे उपस्थित रहना राजा का कर्तव्य था, उसी प्रकार 'सभा' थोडे-से चुने हुए लोगो की स्थायी सस्था थी जो समिति के अधिकारो के भीतर ही काय करती थी (पृ० १२)। किन्तु ये सब कल्पनात्मक विचार हैं। स्वय डा० जायसवाल ने माना है कि सभा, वास्तव मे, समिति से सम्बन्धित थी, किन्तु इसका वास्तविक सम्बन्ध प्राप्त साधनो के आधार पर नही बताया जा सकता।[१८]

पौर एव जानपद

अब हम 'पौर' एव 'जानपद' शब्दो की व्याख्या उपस्थित करेंगे। 'पौर' शब्द ऋग्वेद मे एक स्थल (५।७४।४) पर तीन प्रकार से प्रयुक्त हुआ है—(१) अश्विनौ के साथ, (२) मुनि पौर (जो आत्रेय थे) के साथ, तथा बादल के साथ (सायण के अनुसार)। डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने 'हिन्दू पॉलिटी' (भाग २, पृ० ६०-१०८) मे इन दोनो शब्दो को लेकर जो लम्बा आख्यान बना डाला है, वह उनकी विद्वत्ता, परिश्रम एव युक्तिमत्ता का परिचायक है। उन्होंने 'पौर' एव 'जानपद' को निर्वाचित सस्थाएँ माना है। हम उनके निष्कर्ष को यो रखते हैं (पृ० १०८)—"यह दो प्रकार की या दोनो मिलकर एक प्रकार की पौर-जानपद सस्था, राजा को पदच्युत कर सकती थी, उत्तराधिकारी घोषित कर सकती थी, जिसके अध्यक्ष को मन्त्रि-परिषद् द्वारा निर्णीत नीति बता दी जाती थी। राजा नये कर के लिए मन्त्रि-परिषद् से विनम्र प्रार्थना करता था पौर-जानपद का अध्यक्ष राजा के विरोध मे भी नियम बना सकता था । अध्यक्ष राजा के शासन को सम्भव या असम्भव बना सकता था।" डा० जायसवाल का यह सिद्धान्त सत्य से बहुत दूर है। बहुत-से लेखको ने, यथा—डा० बी० के० सरकार (पोलिटिकल इस्टिच्यूशस एण्ड थ्योरीज आव दी हिन्दूज़, पृ० ७१) तथा डा० बेनीप्रसाद (दी स्टेट इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० ४९८-५००), ने डा० जायसवाल के

१८ डा० जायसवाल जैसे लोगों ने निर्वाचित सभाओ की उपस्थिति को सिद्ध करने का जो प्रयत्न किया है वह इसी लिए कि बहुत काल से बहुत-से विदेशी लेखकों ने यह विचार प्रकट कर रखा था और प्रचारित कर रखा था कि भारत में लोकनीतिक या जनतन्त्रात्मक सस्थाए स्थापित नहीं की जा सकतीं। वास्तव मे, यूरोपीय लेखकों को यह ज्ञात होना चाहिए कि उनके यहाँ भी निर्वाचन आदि की प्रथा अभी कल की है, अर्थात् ७ ८ शताब्दी प्राचीन। भारत मे वर्तमान स्वतन्त्रता के पूर्व एव उपरान्त निर्वाचन के उदाहरण जैसे सफल रहे हैं और यहाँ सन् १९४७ से जिस प्रकार जनतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली चल रही है वह विश्व को चकित करने वाली है। काश, वे लेखक यह देखने को जीवित बचे होते, जिन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि भारतवर्ष में निर्वाचन तथा लोकतन्त्रात्मक सस्थाए नहीं चल सकतीं।

नही कर मकता था। उत्तर यह है कि राजा पर नियन्त्रण था और राजा की सीमाएँ भी थी। यह नियन्त्रण तथा मीमाएँ कई प्रकार की थी। कात्यायन (१०) का कहना है कि जो राजा विना मोचे-समझे क्रोध करता है वह आधे कल्प तक रौरव नरक भोगता है। हमारे लेखको ने राजा पर धर्म का इतना दवाव रख छोडा है कि उसका राजा पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव हठात् पडता ही था। दण्ड को दैवी शक्ति प्राप्त थी, अत वह वुरे राजाओ पर स्वय घहरा सकता था, इमी से अनवस्थित राजा अपने को वन्धनो के वीच ही रखते थे (मनु ७।१९, २७, २८, ३०, याज्ञ० १।३५४-३५६)। लेखको ने यह स्पष्ट कर दिया है कि राजा मनमानी नही कर सकता, उमे शास्त्रानुकूल कार्य करके अपने पद की रक्षा करनी चाहिए, क्योकि राज्य एक पवित्र धरोहर है। इन विचारो ने एक जनमत प्रस्तुत कर रखा था और राजा उससे विमुख नही रह सकता था, अर्थात् राजा वास्तविकता की पहचान रखता था। मर्यादा-पुरुषोत्तम राम यह जानते थे कि सीता पवित्र हैं, किन्तु उन्होंने लोकापवाद की रक्षा कर मीता को निर्वासित कर दिया, क्योकि साधारण जनता यह समझती थी कि मीता रावण के वन्दीगृह मे रह चुकी थी (देखिए रामायण, ७।४५)। राजा को मन्त्रियो की सम्मति लेनी पडती थी। इन सव वातो के अतिरिक्त पुरोहित तथा अन्य विद्वान् ब्राह्मण थे जो सदा धर्म की वातें समझाते रहते थे, जिनकी वातो का मानना राजा के लिए परमावश्यक था, अन्यथा वे उसका नाश कर सकते थे, क्योकि धर्म एव जाति के अनुमार वे राजा की अपेक्षा अधिक पूत एव उच्च माने जाते थे (वसिष्ठ १।३९-४१, गौतम ११।१२-१४, मनु ९।३२०)। और देखिए इस ग्रन्थ का भाग २, अध्याय ३।

यह एक गहरा विश्वास था कि शास्त्रो (श्रौत एव स्मार्त धर्म) के नियम दैवी हैं और राजा से वहुत ऊपर है। धर्म-पालन सभी के लिए मामाजिक एव सास्कृतिक महत्त्व रखता था और राजा इससे अपने को वरी नही कर मकता था। धर्म से वढकर कुछ नही है (वृहदारण्यकोपनिषद् १।४।११-१४)। धर्म के वल पर एक निर्वल व्यक्ति भी सवल पर अधिकार कर सकता है। जो धर्म है वही मत्य है। धर्म एव सत्य एक ही हैं।[१९] कामन्दक (१।१४) ने कहा है कि यवन राजा ने भूतल पर वहुत दिनो तक शासन किया, क्योकि उमने धर्म की आज्ञाओ के अनुसार राज्य चलाया। न्याय-शासन मे राजा को निर्भीक न्यायाधीश एव सभ्यो के नियन्त्रण के अनुसार चलना पडता था (इस पर हम व्यवहार के अध्याय मे पुन विचार करेंगे)। न्यायाधीश एव सभ्य लोग निर्भीक होकर राजा की त्रुटियाँ वताते थे। इन सव वातो के अतिरिक्त श्रेणियाँ, निगम आदि शक्तिशाली समुदाय थे जो एक प्रकार मे स्व-शासन रखते थे। मनु (८।३३६ एव याज्ञ० २।३०७) ने तो यहाँ तक व्यवस्था दी है कि जव राजा अवैधानिक रूप से कुछ वलपूर्वक ग्रहण कर लेता है या दण्ड देता है, तो उसे भी दण्ड मिलना चाहिए और उसे पापियो से प्राप्त दण्ड-स्वरूप धन को ब्राह्मणो मे वाँट देना चाहिए (मनु ९।२४३-२४४)। अन्त मे, हमे यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जनता या प्रजा वुरे या अयोग्य राजा को त्याग सकती थी, या उसे मार डाल मकती थी (मनु ७।२७।२८, अर्थशास्त्र १।४)।[२०] कौटिल्य (८।३) ने लिखा है कि अनुशासनाभाव या अविनीतता के कारण राजा पर विपत्तियाँ घहरा सकती हैं, "क्रोध के वश मे रहने वाले राजा प्रजा

१९ स नैव व्यभवत्तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत धर्मं तदेतत्क्षत्रस्य क्षत्र यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्पर नास्ति। अथो अवलीयान्वलीयासमाशसते धर्मेण यथा राज्ञा। एव यो वै स धर्म सत्य वै तत् तस्मात्सत्य वदन्तमाहुर्धर्मं ववतीति धर्मं वा वदन्त सत्य वदतीत्येतद् ध्येवैतदुभय भवति। वृहदारण्यकोपनिषद् १।४।१४।

२० दुष्प्रणीत (दण्ड) कामक्रोधाभ्यामज्ञानाद्वानप्रस्थपरिव्राजकानपि कोपयति किमङ्ग पुनर्गृहस्थान्। अर्थशास्त्र १।४।

(या मन्त्रियों) द्वारा मार डाले गये हैं।"[21] हम कह सकते हैं कि जहाँ तक सिद्धान्त एवं सामान्य जनता का प्रश्न है राजा की शक्ति अपरिमित थी और वह सर्वसत्ता था, जैसा कि मनु (७।४-१२) एवं पराशर ने स्पष्ट कहा है—"राजा ब्रह्मा है, शिव है और विष्णु एवं इन्द्र है, क्योंकि वह प्रजा के कर्मों के अनुसार दाता, शासक एवं नियामक है।" किन्तु, जैसा कि हम अभी देख चुके हैं, राजा पर कुछ ऐसे नियन्त्रण थे जिनके फलस्वरूप वह मनमानी नहीं कर सकता था। किन्तु इन नियन्त्रणों को हम आधुनिक भाषा में वैधानिक नियन्त्रण नहीं कह सकते। नारद का कहना है कि प्रजा आश्रित है, राजा अनियन्त्रित है, किन्तु वह शास्त्रों के विरोध में नहीं जा सकता (देखिए गौतम ९।२ की टीका में हरदत्त)।

आधुनिक काल में राजा के तीन प्रधान कार्य हैं, राजनियम प्रबन्ध अथवा कार्यकारिणी-सम्बन्धी, न्याय-सम्बन्धी एवं विधान निर्माण-सम्बन्धी। प्राचीन भारतीय राजा के न्याय-सम्बन्धी कार्यों का विवेचन हम एक अन्य अध्याय में करेंगे। प्राचीन काल में राजा का विधान-सम्बन्धी कार्य बहुत सीमित था, क्योंकि उन दिनों हमारा समाज ही ऐसा था। आधुनिक काल में हम सभी वस्तुओं के पीछे कानून की मुहर लगा देना चाहते हैं। प्राचीन काल में ऐसी बात नहीं थी। मनु (७।१३) का कहना है कि राजा में सभी देवताओं की दीप्ति विद्यमान रहती है, अतः सम्यक् आचरणों एवं अनुचित आचरणों के विषय में वह जो कुछ नियम बनाता है उसका उल्लंघन नहीं करना चाहिए। मनु के इस वचन की टीका में मेधातिथि ने कुछ राजनियमों के ऐसे उदाहरण दिये हैं, यथा—'आज राजधानी में सभी को उत्सव मनाना चाहिए, मन्त्री के घर के वैवाहिक कार्य में आज सभी को जाना चाहिए, कसाइयों द्वारा आज के दिन पशु-हनन नहीं होना चाहिए, आज पक्षियों को नहीं पकड़ना चाहिए, इन दिनों महाजनों को चाहिए कि वे कर्जदारों को न सतायें, बुरे आचरण वाले मनुष्यों का साथ नहीं करना चाहिए, ऐसे लोगों को घर में नहीं आने देना चाहिए।' मेधातिथि का कहना है कि राजा को शास्त्रीय नियमों का विरोध नहीं करना चाहिए, अर्थात् उसे वर्णाश्रम धर्म के विरोध में नहीं जाना चाहिए, यथा—अग्निहोत्र आदि का विरोध नहीं करना चाहिए।[22] मेधातिथि की यह टीका राजनीतिप्रकाश (पृ० २३-२४) में ज्यों-की-त्यों पायी जाती है। कौटिल्य (२।१०) ने शासनों के प्रणयन के विषय में एक प्रकरण ही लिख डाला है। शुक्रनीतिसार (१।२९२-२९३) ने लिखा है कि राजा के शासन (फरमान या घोषणाएँ) डुग्गी पिटवाकर घोषित कर देने चाहिए, उन्हें चौराहे पर लिखकर रख देना चाहिए। राजा को घोषित कर देना चाहिए कि उसकी आज्ञा के उल्लंघन से कड़ा दण्ड मिलेगा। शुक्र (१।२९३-३११) ने इस विषय में निम्न उदाहरण प्रस्तुत किये हैं—"चौकीदारों को चाहिए कि वे प्रति डेढ़ घण्टे पर सड़कों पर घूम-घूमकर चोरों एवं लम्पटों को रोकें, लोगों को चाहिए कि वे दासों, नौकरों, पत्नी, पुत्र या शिष्य को न तो गाली दें और न पीटें, नाप-तौल के बटखरों, सिक्कों, धातुओं, घृत, मधु, दूध, मांस, आटा आदि के विषय में कपटाचरण नहीं होना चाहिए, राज-कर्मचारियों द्वारा घूस नहीं ली जानी चाहिए और न उन्हें घूस देनी चाहिए, बलपूर्वक कोई लेख प्रमाण नहीं लेना चाहिए, दुष्ट चरित्रों, चोरों, छिछोरों, राजद्रोहियों एवं शत्रुओं को शरण नहीं देनी चाहिए, माता-पिता, सम्माननीय लोगों, विद्वानों, अच्छे चरित्र वालों का असम्मान नहीं होना चाहिए और न उनकी खिल्ली उड़ायी जानी चाहिए, पति-पत्नी, स्वामी-भृत्य, भाई-भाई, गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र में कलह के बीज नहीं बोने चाहिए, कूपों, उपवनों, चहारदीवारियों, धर्मशालाओं, मन्दिरों, सड़कों तथा लूले-लँगड़ों के मार्ग में बाधा ना

२१. अविनीतो हि व्यसनदोषान्न पश्यति। तानुपदेक्ष्यामः। कोपजस्त्रिवर्गः कामजश्चतुर्वर्गः, तयोः कोपो गरीयान् सर्वत्र हि कोपश्चरति। प्रायशश्च कोपवशा राजानः प्रकृतिकोपैर्हताः श्रूयन्ते। अर्थशास्त्र ८।३।

२२. न त्वनिष्टोऽयमव्यवस्थायी वर्णाश्रमविरोधी राजा प्रभवति स्मृत्यन्तरविरोधप्रसङ्गात्। अविरोधे चास्मिन् विषये वचनस्यार्थवत्त्वात्। मेधातिथि (मनु ७।१३)।

नियन्त्रण नहीं सदा करना चाहिए, बिना राजाज्ञा के जुआ, आसव-विक्रय, मृगया, अस्त्र-वहन, क्रय-विक्रय, (हाथी, घोड़ा, भैंस, दास, अचल सम्पत्ति, सोना, चाँदी, रत्न, आसव, विष, औषध), वैद्यक कार्य आदि-आदि न करने चाहिए।" मेधातिथि (मनु ८।३९९) का कहना है कि अकाल के समय राजा भोजन-सामग्री का निर्यात रोक सकता है। शुक्रनीतिसार में जो बातें पायी जाती हैं वे शताब्दियों पूर्व से ही लागू थीं। अशोक ने यह सब बहुत पहले ही अपने शासनों द्वारा, जो शिला-स्तम्भों पर लिखित पाये जाते हैं, व्यक्त कर दिया था। स्मृतियों में आजकल की भाँति नियम निर्माण-विधि नहीं पायी जाती। गौतम (९।१९-२५) ने लिखा है कि राजा को निम्नलिखित ग्रन्थों के आधार पर नियम बनाने चाहिए, (१) वेद, धर्मशास्त्र, वेदांग (यथा व्याकरण, छन्द आदि), उपवेद, पुराण, (२) देश, जाति एवं कुलों की रीतियाँ, (३) कृषकों, व्यापारियों, महाजनों (ऋण देने वालों), शिल्पकारों आदि की रूढ़ियाँ, (४) तर्क एवं (५) तीनों वेदों के पण्डित लोगों की सभा द्वारा निर्णीत सम्मतियाँ।[23] रूढ़ियों, परम्पराओं, रीतियों के प्रमाण के विषय में हम आगे पढ़ेंगे। कारणों के निर्णय में चार तत्त्वों पर विचार होता था, धर्म, व्यवहार, चरित्र एवं राजशासन, जिनके विषय में भी हम आगे ही विवेचन उपस्थित करेंगे। स्पष्ट है कि सर्वप्रथम राजशासन या राजा के आदेश ही न्याय-कार्य में लागू होते थे, जो कालान्तर में नियमों के रूप में बँध गये। देखिए इस ग्रन्थ का भाग २, अध्याय २८, जहाँ धार्मिक बातों में परिषद् की सहायता की चर्चा है। याज्ञ० (१।९) एवं शंख ने भी परिषद् (विद्वानों की सभा) को धर्म की बातों में प्रमाण माना है।

राज-नियम-प्रबन्ध-सम्बन्धी बातों के बारे में हम आगे के अध्याय में सविस्तर पढ़ेंगे।

राजा के कार्यों को हम धार्मिक एवं लौकिक (धर्म-निरपेक्ष) दोनों रूपों में देख सकते हैं। प्रथम रूप में राजा देवताओं एवं अदृश्य शक्तियों को प्रसन्न रखने एवं भयों से दूर रहने के लिए पुरोहित एवं यज्ञिय पुरोहितों (गौतम ११।१५-१७, याज्ञ० १।३०८) की सहायता से कार्यशील होता था और उसे धर्म की रक्षा करनी पड़ती थी। उसके धर्म-निरपेक्ष या लौकिक या व्यावहारिक कार्य थे सम्पत्ति बढ़ाना, अकाल एवं अन्य प्रकार की विपत्तियों के समय में प्रजा की रक्षा करना, न्याय की दृष्टि में सबको समान जानना, चोरों, आक्रामकों आदि से जन एवं धन की रक्षा करना।

महाभारत में ऐसे उदाहरण हैं, जिनसे पता चलता है कि बहुत-से राजाओं ने अपने पुत्रों को उत्तराधिकार सौंप कर मुनि के समान वन का मार्ग अपनाया था। वनपर्व (२०२।८) में आया है कि बृहदश्व ने अपने पुत्र कुवलयाश्व को राजा बनाया। और देखिए वायु० (८८।३२)। धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर से कहा है कि उनके कुल में वृद्धावस्था में पुत्रों को शासन सौंपकर वन में चले जाने की परम्परा-सी रही है (आश्रमवासिक पर्व ३।३८)। व्यास ने कहा है कि सभी राजर्षियों ने ऐसा किया है (आश्रमवासिक ४।५)। आश्रमवासिक पर्व (२०) में बहुत-से ऐसे राजाओं के नाम आये हैं। और देखिए शान्तिपर्व (२१।२५)। अयोध्याकाण्ड (२३।२६, ९४।१९) में भी इस परम्परा का संकेत मिलता है। और देखिए कालिदास की उक्तियाँ (रघुवंश १।८, १८, ७, ९,२६, ८।११-२३)। जैन परम्पराओं से पता चलता है कि अन्तिम श्रुतकेवली जैन साधु (मुनि) भद्रबाहु ने, जिसे चन्द्रगुप्त मौर्य भी कहा जाता है, अपने पुत्र को राज्य सौंपकर श्रवण बेलगोडा का मार्ग पकड़ा था (इण्डियन एण्टिक्वेरी, जिल्द २१, पृ० १५६)। दिव्यावदान (२९, पृ० ४३१) में आया है कि अशोक महान् अन्तिम अवस्था में शक्ति एवं समृद्धि से रहित हो गया था। डा० फ्लीट का अनुमान है

२३ तस्य च व्यवहारो वेदो धर्मशास्त्राण्यङ्गान्युपवेदा पुराणम्। देशजातिकुलधर्माश्चाम्नायैरविरुद्धाः प्रमाणम्। कर्षकवणिक्पशुपालकुसीदिकारवः स्वे स्वे वर्गे। न्यायाधिगमे तर्कोऽभ्युपायः। विप्रतिपत्तौ त्रैविद्यवृद्धेभ्यः प्रत्यवहृत्य निष्ठां गमयेत् तथा ह्यस्य निःश्रेयसं भवति। गौ० ९।१९-२५।

कि सम्भवत उसने प्राचीन परम्परा का अनुसरण किया था और वृद्धावस्था मे राज्य त्याग किया था। बाघेल कुल के राजा लवणप्रसाद ने अपने पुत्र वीरधवल (१२३१-३८ ई) के पक्ष मे राजसिंहासन छोडा था (बम्बई गजेटियर, जिल्द १ भाग १, पृ १९८ २ २ ६)।

कौटिल्य (८।२) ने एक विलक्षण राजत्व की ओर सकेत किया है जिसे द्वैराज्य (दो का राज्य) कहते हैं। उन्होंने "द्वैराज्य एव वैराज्य मे अन्तर बताया है। अर्थशास्त्र की हस्तलिखित प्रतियो मे यही कुछ किया है यही कुछ किन्तु पाद-टिप्पणी मे डा शाम शास्त्री ने जो दिया है वह ठीक ज्ञात होता है। "द्वैराज्य एव "वैराज्य (विदेशी राज्य) मे प्रथम राज्य पारस्परिक कलह एव विरोध के कारण नाश को प्राप्त होता है दूसरा जब प्रजा के मन को जीत रखता है जैसा कि आचार्यों का कथन है तो चलता रहता है। किन्तु कौटिल्य का कथन है कि यही द्वैराज्य सामान्यत पिता एव पुत्र या भाई-भाई के बीच पाया जाता है दोनो का कल्याण एक ही है अत अमात्यो के प्रभाव से (दोनो का एक साथ शासन) चल सकता है किन्तु वैराज्य तो वह राज्य है जिसे कोई बाहरी राजा जीत कर हथिया लेता है बाहरी राजा सर्वथा यह सोचता रहेगा कि वह राज्य वास्तव मे उसका नही है अत वह इसे निर्धन बना देगा इसके धन को लूट कर ले जायगा इस क्रय की वस्तु समझेगा और जब वह समझेगा कि देश उससे विरक्त है तो उसे छोडकर चला जायगा। कौटिल्य के इस कथन मे विदेशी राजा की मनोवृत्ति पायी जाती है। मनु (७।१६) ने बहुत ही सरल एव सक्षिप्त ढग से कहा है कि किस प्रकार स्वतन्त्रता मे व्यक्तिगत एव राष्ट्रीय सुख छिपा रहता है। कालिदास के मालविकाग्निमित्र (५) मे भी द्वैराज्य का वर्णन मिलता है अग्निमित्र के राज्य करते समय उसकी दो पुत्रा यज्ञसेन एव माधवसेन को वरदा नदी के उत्तर एव दक्षिण मे सम्मिलित राजा बनाने की अभिकाक्षा की जा रही है। महाभारत (द्रोणपर्व १९१) मे विन्द एव अनुविन्द के द्वैराज्य का वर्णन मिलता है। मैकरिण्डल (इन्वेजन आव इण्डिया बाई अलेक्जैण्डर पृ २९६) ने डायोडोरस को उद्धृत कर बताया है कि अलेक्जैण्डर नदी से ऊपर की ओर जाता हुआ टौल (पटल) के पास पहुँचा जो एक अति प्रसिद्ध नगरी थी जहाँ का शासन स्पार्टा के समान था क्योकि इसमे शासन-सूत्र दो विभिन्न कुलो के वश-परम्परागत राजाओ के हाथ मे था और बृद्धजनो की परिषद् के हाथ मे सब अधिकार अवस्थित था। विशेष जानकारी के लिए पढिए डा जायसवाल की पुस्तक 'हिन्दू पॉलिटी' (भाग १ पृ ९६ ९७) एव डा डी आर भण्डारकर की पुस्तक 'ऐंश्यण्ट इण्डियन पॉलिटी' (पृ ९ १) जहाँ बौद्ध तथा अन्य सामग्रियो के आधार पर द्वैराज्य के विषय मे विस्तार से विवेचन उपस्थित किया गया है।

अध्याय ४

मन्त्रि-गण (२)

अमात्य—राज्य के सात अगो मे दूसरा है **अमात्य**, जिसे हम **सचिव** या **मन्त्री** भी कह सकते हैं। अमात्य, सचिव एव मन्त्री मे कभी-कभी कुछ अन्तर भी परिलक्षित होता है। इन तीनो मे 'अमात्य' शब्द अत्यन्त पुराना है। ऋग्वेद (४।४।१) मे इस शब्द का बीज या आरम्भिक रूप पाया जाता है, "हे अग्नि, मन्त्रियो (अमावान्) के साथ हाथी पर चढे हुए राजा के समान जाओ।"[1] 'अमात्य' शब्द भी ऋग्वेद (७।१५।३) मे आया है, किन्तु वहाँ यह विशेषण है, जिसका अर्थ है 'स्वय हमारा' या 'हमारे घर मे रहने वाला'। कुछ सूत्रो (यथा—बौधायनपितृमेधसूत्र १।४।१३, १।१२।७) मे 'अमात्य' शब्द 'घर मे पुरुष सम्बन्धियो के पास' के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।१०।२५।१०) मे 'अमात्य' शब्द 'मन्त्री' के अर्थ मे अर्थात् अपने वास्तविक अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है, "राजा को अपने गुरुओ (गुरुजनो या बुजुर्गो) एव अमात्यो से बढकर सुखपूर्वक नही जीना या रहना चाहिए" (गुरून्नमात्याश्चैव नातिजीवेत्)। ऐतरेय ब्राह्मण मे 'सचिव' शब्द आया है, जहाँ ऐसा लिखा है कि इन्द्र ने मरुतो को अपने सचिवो (सहायको या साथियो) के रूप मे माना। बहुत-से लेखको ने अमात्यो एव सचिवो की आवश्यकता सुन्दर शब्दो मे दर्शायी है। कौटिल्य (१।७, अन्तिम पाद) का कहना है—"राजत्व-पद सहायको की मदद से ही सम्भव है, केवल एक पहिया कार्यशील नही होता, अत राजा को चाहिए कि वह मन्त्रियो की नियुक्ति करे और उनकी सम्मतियाँ सुने।" मनु (७।५५=शुक्रनीति० २।१) का कहना है—"एक व्यक्ति के लिए सरल कार्य भी अकेले करना कठिन है, तो शासन कार्य, जो कि कल्याण करना परम लक्ष्य मानता है, बिना सहायको के कैसे चल सकता है?" मत्स्यपुराण (२१५।२) का कहना है—"राजा को, जब कि राज्याभिषेक के कारण अभी उसका सिर गीला ही है और वह राज्य का पर्यवेक्षण करना चाहता है, चाहिए कि वह सहायक चुन ले, क्योंकि उन्ही मे राज्य का स्थायित्व छिपा रहता है।" और देखिए मनु (७।५५=मत्स्य० २१५।३), विष्णुधर्मोत्तर (२।२४।२-३), शान्ति० (१०६।११) एव राजनीतिप्रकाश (पृ० १७४)। अर्थशास्त्र (१।७ एव ८), मनु (७।५४ एव ६०), कामन्दक (४।२५, २७, १३।२४ एव ६४) ने 'सचिव' एव 'अमात्य' शब्द समानार्थक रूप मे प्रयुक्त किये हैं। रुद्रदामन् (ई० १५०) के लेख मे 'सचिवो' को दो भागो मे विभक्त किया गया है, एक तो वे हैं जो सम्मति देने वाले थे और दूसरे वे जो निर्णीत बात को कार्यान्वित करते थे। इस लेख मे 'सचिव' एव 'अमात्य' एक-दूसरे के पर्याय हैं। अमरकोश (२) मे आया है कि 'अमात्य' जो 'धीसचिव' ('मतिसचिव') है, 'मन्त्री' कहलाता है और ऐसे अमात्य जो मन्त्री नही हैं 'कर्मसचिव' कहे जाते हैं। इन अन्तरो पर बहुधा ध्यान नही दिया जाता। रामायण (१।७।३) मे सुमन्त्र को अमात्य एव सर्वश्रेष्ठ मन्त्री कहा गया है (१।८।४)। अयोध्याकाण्ड (१।१।१७) मे 'अमात्य' एव 'मन्त्री' मे अन्तर बताया गया है। कौटिल्य (१।८) ने लिखा है कि 'अमात्यो' एव 'मन्त्रियो' मे अन्तर है। कौटिल्य

१ कृणुष्व पाज प्रसितिं न पृथ्वीं याहि राजवामवाँ इभेन। ऋ० ४।४।१, याहि राजा इव अमात्यवान् अभ्यमनवान् स्ववान् वा। निरुक्त ६।१२।

२५४), बुधभूषण (पृ० ३२५७-५८) ने अमात्या के गुणो की तालिका दी है। हम यहाँ केवल कौटिल्य की सूची प्रस्तुत करेंगे—मन्त्री देशवासी होना चाहिए, उच्च कुल का होना चाहिए, प्रभावशाली होना चाहिए और होना चाहिए कला-निपुण, दूरदर्शी, समझदार, अच्छी स्मृति वाला, सतत जागरूक, अच्छा वक्ता, निर्भीक, मेधावी, उत्साह एव प्रताप से परिपूर्ण, धैर्यवान्, (मन-कर्म से) पवित्र, विनयशील, (राजा के प्रति) अटूट श्रद्धावान्, चरित्र, बल, स्वास्थ्य एव तेजस्विता से परिपूर्ण, हठवादिता एव चाञ्चल्य से दूर, स्नेहवान्, ईर्ष्या से दूर। कौटिल्य के अनुसार अमात्य तीन प्रकार के होते है—उत्तम, मध्यम एव निम्न श्रेणी वाले, जिनमे प्रथम उपर्युक्त सभी गुणो मे सम्पन्न होते है और दूसरे तथा तीसरे प्रकार मे क्रम से उपर्युक्त गुणो के चौथाई तथा आधे का अभाव पाया जाता है। शान्ति० (८३।३५-४०) मे उन दुर्गुणो या दोषो का वर्णन है जिनके रहने से कोई मन्त्री का पद नही प्राप्त कर सकता, किन्तु ४१ से ४६ तक के श्लोको मे गुणो का वर्णन है जिनमे एक यह है कि उसे (मन्त्री को) पौरो एव जानपदो का विश्वास प्राप्त होना चाहिए। बहुत-से ग्रन्थो का कहना है कि मन्त्रियो को वशपरम्परानुगत होना चाहिए, किन्तु यह बात तभी सम्भव है जब कि पुत्र योग्य हो (मनु ७।५४, याज्ञ० १।३१२, रामायण २।१००।२६ = सभापर्व ५।४३, अग्निपुराण २२०।१६-१७, शुक्र० २।११४)। मत्स्यपुराण (२१५।८३-८४) एव अग्निपुराण (२२०।१६-१७) का कहना है कि वशपरम्परानुगत मन्त्रियो को अपने दायादो के मुकदमो को अपने हाथ मे नही लेना चाहिए। यही बात विष्णुधर्मोत्तर (२।२४।५५-५६) मे भी पायी जाती है। वशपरम्परा से चले आये हुए मन्त्रियो का उल्लेख अभिलेखो (उत्कीर्ण लेखो) मे भी मिलता है। देखिए समुद्रगुप्त की प्रयाग-स्तम्भ-प्रशस्ति, जहाँ महादण्डनायक हरिषेण का पिता ध्रुवभूति भी महादण्डनायक था, उदयगिरि गुहा-अभिलेख, जहाँ चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल मे वीरसेन 'अन्वयप्राप्तसाचिव्य' (जिसने वशपरम्परा से सचिव-पद प्राप्त किया था) कहा गया है। राजनीतिप्रकाश (पृ० १७६) ने मत्स्यपुराण को उद्धृत करते हुए लिखा है कि यदि भूतपूर्व मन्त्री का पुत्र या पौत्र अयोग्य हो तो वशपरम्परा का सिद्धान्त वहाँ त्याज्य समझना चाहिए, अयोग्य पुत्रो एव पौत्रो को उनकी बुद्धि के अनुरूप अन्य राज्य-कार्य सौपे जा सकते हैं।[2] मध्यकालिक लेखको मे अधिकाश का कथन है कि मन्त्रियो को ब्राह्मणो, क्षत्रियो एव वैश्यो मे से चुनना चाहिए, किन्तु शूद्र को मन्त्री होने का अधिकार नही है, भले ही वह सर्वगुणसम्पन्न ही क्यो न हो (शुक्र० २।४२६-४२७, नीतिवाक्यामृत, पृ० १०८)।[3]

मन्त्रि-परिषद् मे एकान्त मे परामर्श लेना अच्छा समझा जाता था। कौटिल्य (१।१५) ने लिखा है—मन्त्रियो से मन्त्रणा करने के उपरान्त ही शासन-सम्बन्धी कार्य आरम्भ किये जाने चाहिए। मन्त्रणा ऐसे स्थान में की जानी चाहिए जो सर्वथा एकान्त मे हो और जहाँ का स्वर बाहर न जा सके, और जिसे पक्षी भी न सुन सकें, क्योकि ऐसा सुनने मे आया है कि तोता, मैना, कुत्ता एव अन्य पशुओ द्वारा भेद खोल दिया गया है।[4] हर्षचरित (६) में आया है कि नाग वश के

२ मत्स्यपुराणेपि। गुणहीनानपि तथा विज्ञाय नृपतिः स्वयम्। कर्मस्वेव नियुञ्जीत यथायोग्येषु भागशः॥ अत्राय वाक्यार्थः। यदि मौला कुलीना अपि तथा पितृपैतामहपदयोग्यगुणहीनास्तास्तथाविधगुणहीनानपि विज्ञाय यथायोग्येष्वेव कर्मसु स्वय भागशः कर्मविभागेन नियुञ्जीत न तु तत्तत्पितृपैतामहपदेषु तत्र तत्र तेषामयोग्यत्वात्। रा० नी० प्र० पृ० १७६।

३ ब्राह्मणक्षत्रियविशामेकतम स्वदेशजमाचाराभिजनविशुद्धमव्यसनिनमव्यभिचारिणमधीताखिलव्यवहारतन्त्रमस्त्रज्ञमशेषोपाधिविशुद्ध च मन्त्रिण कुर्वीत। समस्तपक्षपातेषु स्वदेशपक्षपातो महान्। नीतिवाक्यामृत, पृ० १०८।

४ मन्त्रपूर्वाः सर्वारम्भाः। तदुद्देशः सवृतः कथानामनिस्रावी पक्षिभिरनालोक्यः स्यात्। श्रूयते हि शुक-

मनु (७।५८-५९) ने ऐसे विषयो की तालिका दी है जिनके बारे मे मन्त्रियो से मन्त्रणा करना आवश्यक है, यथा—शान्ति एव युद्ध, स्थान (सेना, कोश, राजधानी एव राष्ट्र या देश), कर के उद्गम, रक्षा (राजा एव देश की रक्षा), पाये हुए धन को रखना या उसका वितरण। राजा को मन्त्रियो की सम्मति लेना अनिवार्य है, पृथक्-पृथक् रूप मे या सम्मिलित रूप मे सम्मति लेकर जो लाभप्रद हो वही करना चाहिए। राजा को अन्त मे, नीतिविषयक छ साधनो के सम्बन्ध में (जो अति महत्त्वपूर्ण बातें हो, उनके विषय मे) किसी विज्ञ ब्राह्मण से (जो मन्त्रियो मे सर्वश्रेष्ठ हो) परामर्श करना चाहिए और उस पर विश्वास करना चाहिए एव नीति की सभी बातो मे उसकी सहमति से निर्णय करना चाहिए। याज्ञ० (१।३१२) भी चाहते हैं कि राजा मन्त्रियो से मन्त्रणा लेकर किसी ब्राह्मण (पुरोहित) से सम्मति ले, तब स्वय कार्य-निर्णय करे। कामन्दक (१३।२३-२४=अग्निपुराण २४१।१६-१८) के अनुसार मन्त्रियों के सोचने के मुख्य विषय ये हैं—मन्त्र, निर्धारित नीति से उत्पन्न फल की प्राप्ति (यथा किसी देश को जीतना और उसकी रक्षा करना), राज्य के कार्य करना, किसी किये जाने वाले कार्य के अच्छे या बुरे प्रभावो के विषय मे भविष्यवाणी करना, आय एव व्यय, शासन (दण्डनीय को दण्ड देना), शत्रुओं को दबाना, अकाल जैसी विपत्तियो के समय उपाय करना, राजा एव राज्य की रक्षा करना।[८]

याज्ञ० (१।३४३) का कथन है—"राज्य मन्त्र (मन्त्रियो के साथ मन्त्रणा एव विचार-विमर्श तथा परामर्श करने के उपरान्त नीति-निर्धारण) पर निर्भर है, अत राजा को अपनी नीति इस प्रकार गोपनीय रखनी चाहिए कि लोग उसे तब तक न जानें जब तक कार्य के फल स्वय न प्रकट होने लगें।" कौटिल्य (१०।६) ने मन्त्र का महत्त्व समझाया है, एक छोडा गया तीर किसी को मार सकता है या किसी को भी नही मार सकता अर्थात् चूक जा सकता है, किन्तु विज्ञ द्वारा निर्णीत कोई योजना उनको भी नष्ट कर सकती है जिनका अभी बीजारोपण मात्र हुआ है।[९] सभापर्व (५।२७) एव अयोध्याकाण्ड (१००।१६) मे एक ही बात पायी जाती है, "मन्त्र विजय का मूल है।"[१०] कौटिल्य एव नीतिवाक्यामृत (पृ० ११४) का कथन है कि मन्त्र मे निम्नलिखित कार्य होते हैं—"जो न प्राप्त किया जा सका हो उसका ज्ञान, जो प्राप्त किया जा चुका हो उसको निश्चित बल देना, द्विधा मे सन्देह मिटाना, एक ही अश को देखकर सम्पूर्ण बात की कल्पना कर लेना।"[११] बहुत-से ग्रन्थो, यथा—कौटिल्य (१।१५), कामन्दक (११।५६), अग्निपुराण (२४१।४), पञ्चतन्त्र (१, पृ० ८५), मानसोल्लास (२।९।६९७) मे कहा गया है कि मन्त्र के पाँच तत्त्व होते हैं, जिन पर विचार करना चाहिए—कर्म के आरम्भ का उपाय, मनुष्य एव प्रचुर सम्पत्ति, देशकाल विभाग,

८ मन्त्रो मन्त्रफलावाप्ति कार्यानुष्ठानमायति। आयव्ययौ दण्डनीतिरमित्रप्रतिषेधनम्॥ व्यसनस्य प्रतीकारो राजराज्याभिरक्षणम्। इत्यमात्यस्य कर्मेद हन्ति स व्यसनान्वित॥ कामन्दक (१३।२३-२४=अग्नि० २४१।१६-१८), आयो व्यय स्वामिरक्षा तन्त्रपोषण चामात्यानामधिकार। नीतिवाक्यामृत (अमात्यसमुद्देश) पृ० १८५।

९ एक हन्यान्न वा हन्यादिषु क्षिप्तो धनुष्मता। प्राज्ञेन तु मति क्षिप्ता हन्याद् गर्भगतानपि॥ अर्थशास्त्र १०।६, उत्तरार्ध यशस्तिलक (३, पृ० ३८६) द्वारा भी उद्धृत है।

१० मन्त्रो विजयमूल हि राज्ञा भवति राघव। अयोध्याकाण्ड १००।१६, विजयो मन्त्रमूलो हि राज्ञां भवति भारत। सभा० ५।२७।

११ अनुपलब्धस्य ज्ञानमुपलब्धस्य निश्चयबलाधानमर्थद्वैधस्य सशयोच्छेदमेकदेशदृष्टस्य शेषोपलब्धिरिति मन्त्रसाध्यमेतत्। तस्माद् बुद्धिवृद्धै सार्धमासीत मन्त्रम्। अर्थशास्त्र १।१५ एव नीतिवाक्यामृत, पृ० ११४।

विनिपात-प्रतीकार (बाधाओं को दूर करने के उपाय), कार्यसिद्धि (अर्थात् काम हो जाने पर राज्य एवं प्रजा का सुख)।

विभिन्न कालों में विभिन्न उच्च पदाधिकारी एवं कार्यालय प्रतिपालक रहे हैं। वैदिक काल में राजसूय के सम्पादन में कुछ ऐसी आहुतियाँ (सामान्यतः १२ आहुतियाँ) होती थीं जो "रत्निनां हवींषि" कही जाती थीं। उनके नामों एवं क्रमों में कालान्तर में कुछ हेर-फेर हो गया है, किन्तु बहुधा वे सभी ग्रन्थों में उसी रूप से पायी जाती हैं। राजा (यजमान) के अतिरिक्त ११ रत्नी लोग ये हैं—सेनापति, पुरोहित, बड़ी रानी, सूत, ग्रामणी (मुखिया), क्षत्ता (कञ्चुकी), संगृहीता (कोषाध्यक्ष), अक्षावाप (लेखाध्यक्ष), भागदुघ (करादाता), गोविकर्तन, दूत, परिवृक्ति (त्यागी हुई रानी) (शतपथ ब्राह्मण ५।३।१२)। तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।७।३) में इन रत्नियों को राज्य के दाता कहा गया है (एते वै राष्ट्रस्य प्रदातारः)। शतपथ ब्राह्मण (५।३।२।२) की तालिका से स्पष्ट है कि सेनापति एवं गोविकर्तन जैसे रत्नी लोग शूद्र थे। कालान्तर में कुछ पदाधिकारी तीर्थ नाम से पुकारे जाने लगे और उनकी संख्या १८ हो गयी (देखिए सभापर्व ५।३८—अयोध्याकाण्ड १ ।३६ एवं शान्ति ५९।५२)। कौटिल्य (१।१२) ने अठारह तीर्थों के नाम दिये हैं।[14] रघुवंश (१७।६८) में कालिदास ने तीर्थ शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त किया है। नीतिवाक्यामृत (पृ० २९) के कथनानुसार वे सहायक जो धर्म एवं राज्य के विषय में सहायता देते हैं तीर्थ कहलाते हैं। अशोक के शिलालेखों में उच्च पदाधिकारी को महामात्र (तेरहवें शिलालेख में धर्ममहामात्रों का भी उल्लेख है) तथा अन्य अधिकारियों को युक्त, रज्जुक एवं प्रादेशिक कहा गया है। युक्त लोग मन्त्रि-परिषद् के नीचे के अधिकारी थे। आगे चलकर लेखकों में, यथा अयोध्याकाण्ड (१ । ३६) की टीका में गोविन्दराज ने तथा यशस्तिलक (१, पृ० ९१) की टीका ने तीर्थों के नामों में अन्तर दिखाये हैं।

१२. कर्मणामारम्भोपायः, पुरुषद्रव्यसम्पत्, देशकालविभागः, विनिपातप्रतीकारः, कार्यसिद्धिरिति पञ्चाङ्गो मन्त्रः। अर्थशास्त्र १।१५। सहाया साधनोपाया विभागो देशकालयोः। विपत्तेश्च प्रतीकारः सिद्धिः पञ्चाङ्ग इष्यते॥ कामन्दक (? । ६)। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि कामन्दक ने 'कार्यसिद्धि' नामक अंग छोड़ दिया है किन्तु 'देशविभाग' एवं 'कालविभाग' को अलग-अलग करके पाँच की संख्या प्रस्तुत कर दी है।

१३. कच्चिदष्टादशान्येषु स्वपक्षे दश पञ्च च। त्रिभिस्त्रिभिरविज्ञातैर्वेत्सि तीर्थानि चारकैः॥ अयोध्या १ ।३६—सभा ५।३८—नीतिप्रकाशिका १।५२।

१४. तान् राजा स्वविषये मन्त्रि-पुरोहित-सेनापति-युवराज-दौवारिकान्तर्वंशिक-प्रशास्तृ-समाहर्तृ-संनिधातृ-प्रदेष्टृ-नायक-पौरव्यावहारिक-कार्मान्तिक-मन्त्रिपरिषदध्यक्ष-दण्डदुर्गान्तपालाटविकेषु श्रद्धेयदेशवेषशिल्पभाषाभिजनापदेशान् भक्तितः सामर्थ्ययोगाच्चापसर्पयेत्। एवं शत्रौ च मित्रे च मध्यमे चावपेच्चरान्। उदासीने च तेषां च तीर्थेष्वष्टादशस्वपि॥ अर्थशास्त्र १।१२। दौवारिक द्वारपाल है अर्थात् राजप्रासाद का द्वाररक्षक; आन्तर्वंशिक को आदिपर्व (२२१।) एवं सभा (२१।७२ एवं २४) में स्त्र्यध्यक्ष या स्त्र्याध्यक्ष कहा गया है और इसी को अशोक के शिलालेख (गिरनार या कालसी के १२वें शिलालेख) में स्त्र्यध्यक्ष महामात्र कहा गया है। मत्स्यपुराण (२१५।४२) में अन्तःपुराध्यक्ष भी इसी का द्योतक है। प्रशास्ता सम्भवतः न्यायाध्यक्ष है। समाहर्ता स्थापत्य-मन्त्री है। संनिधाता कोषपाल है। प्रदेष्टा का कार्य अभी अज्ञात है। नायक सम्भवतः नगराध्यक्ष है। पौर-व्यावहारिक प्रमुख न्यायाधीश है जो राजधानी में रहता था। कार्मान्तिक सभी खानों एवं मनुष्य-निर्मित वस्तुओं का अधीक्षक था। दण्डपाल सेना के सभी विभागों का अधिकारी था। दुर्गपाल (राष्ट्रपाल) सभी दुर्गों का अधिकारी था। अन्तपाल सीमा-प्रान्तों का अधिकारी था। आटविक वन एवं जंगली लोगों का अधीक्षक था। प्रदेष्टृनायक सम्भवतः कई प्रदेष्टाओं का नायक था।

राजतरगिणी (१।१२०) का कहना है कि प्राचीन काल मे केवल सात विभाग (कर्मस्थान) थे किन्तु कालान्तर मे वे १८ हो गये, और आगे चलकर इनमे ५ और जोड दिये गये (४।१४२-१४३ एव ५।१२), यथा—महाप्रतिहार, महासाधिविग्रह, महाश्वशाल, महाभाण्डागार, महासाधनभाग, और इनके पदाधिकारियो को 'अधिगत-पचमहाशब्द' कहा गया। शुक्रनीतिसार (२।६९-७०-२, ७४-७७, २।२७९, २।८४-८७, ८८-१०५ आदि) ने विशद रूप मे उच्च पदाधिकारियो के नाम, उनके वेतन तथा अन्य अधिकारियो के वेतन के विषय मे लिखा है, जिसे हम विस्तार-भय से यहाँ छोड रहे हैं। शुक्र० (१।३५३-३६१) ने राजा के दरबार का भी वर्णन किया है और दर्शाया है कि कौन-कौन कहाँ-कहाँ बैठते हैं। शुक्र० (१।३७४-३७६) ने राजा के कर्तव्यो के तथा उसके अधिकारीगण-सम्बन्धी कार्यों के विषय मे भी विस्तार के साथ लिखा है। एक अधिकारी एक स्थान पर तथा एक ही विभाग मे बहुत दिनो तक न रहने पाये, नहीं तो शक्ति-मोह उत्पन्न हो जायगा। राजा को सदा लिखित आज्ञा देनी चाहिए (२।२९०)। इसी प्रकार बहुत-से निर्देश शुक्रनीतिसार मे पाये जाते हैं।

अशोक के ये शब्द "पचसु पचसु वासेसु नियातु" सम्भवत उच्च पदाधिकारियो के पचवार्षिक स्थानान्तरणो की ओर सकेत करते हैं। सिद्धान्त एव व्यवहार मे राजा अपना आदेश मन्त्रियो की सम्मति या उपस्थिति मे निकालता था। पूर्वी चालुक्य वश के राजा राजराज प्रथम के एक दानपत्र से पता चलता है कि उसने मन्त्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, दौवारिक एव प्रधान की उपस्थिति मे वह दानपत्र निकाला था।

शुक्रनीतिसार (२।३६२-३७०) ने आदेश निकालने के विषय मे यह विधि बनायी है—सर्वप्रथम मन्त्री, प्राड्विवाक (मुख्य न्यायाधीश), पण्डित (धर्माध्यक्ष) एव दूत अपने विभागो से सम्बन्धित बातें लिखते हैं, जिसे देखकर अमात्य उस पर "साधु लेखनमस्ति" (अच्छा लिखा है) लिख देता है, उस पर सुमन्त "सम्यग् विचारितम्" (ठीक से सोचा-विचारा गया है) लिख देता है, तब प्रधान लिखता है—"सत्य यथार्थम्" (यह सत्य है, यह कार्य के अनुकूल ही है), फिर प्रतिनिधि लिखता है—"अङ्गीकर्तु योग्यम्" (स्वीकार करने योग्य है), उस पर युवराज लिखता है—"अङ्गीकर्तव्यम्" (यह स्वीकार कर लिया जाय), तब पुरोहित लिखता है—"लेख्य स्वाभिमतम्' (मैं इसका अनुमोदन करता हूँ)। सभी लोग ऐसा लिखकर अपनी मुहर लगाते हैं और तब राजा लिखता है—"अङ्गीकृतम्" (स्वीकृत हो गया) और अपनी मुहर लगा देता है।

राजतरगिणी (५।७३) मे आया है कि कभी-कभी नीच कुल के व्यक्ति भी मन्त्रि-पद पर पहुँच जाते हैं। अवन्तिवर्मा का अभियन्ता (इजीनियर) एक अपवित्र बालक था। इसी प्रकार एक चौकीदार आगे चलकर मुख्य मन्त्री बन गया (७।२०७)।

युवराज—राज्य के कतिपय बडे अधिकारियो के विषय मे कुछ लिख देना आवश्यक है। पहले हम **युवराज** पर लिखते हैं। कौटिल्य ने एक पूरा अध्याय (१।१७) राजकुमार के विषय मे सावधानता प्रदर्शित करने के लिए लिख दिया है। हमने राजकुमार की शिक्षा, राज्य-व्यापार मे उसके सम्बन्ध, राजकुमारो के साथ व्यवहार, अच्छे या बुरे युवराज के राज्याभिषेक पर पहले ही (गत अध्याय मे) लिख दिया है। राजा के शासन-काल मे ही छोटा भाई या ज्येष्ठ पुत्र युवराज घोषित हो जाता था (अयोध्या०, अध्याय ३-६, काम० ७।६, शुक्र० २।१४-१६)। राम ने राजा होने के अभिषेक के दिन लक्ष्मण के अस्वीकार करने पर भरत को युवराज बनाया (युद्धकाण्ड १३१।९३)। राज्य के विभिन्न भागो मे युवराज तथा राजकुमार राज्यपाल (प्रान्तीय शासक) बनाकर भेजे जाते थे। दिव्यावदान (२६, पृ० ३७) मे आया है कि अपने पिता बिन्दुसार द्वारा अशोक तक्षशिला मे शासक बनाकर भेजा गया था और स्वय अशोक ने अपने पुत्र कुणाल को वहाँ पर (अमात्यो के अत्याचार होने से विद्रोह उठ खडा होने पर) भेजा था (पृ० ४०७-८)। हाथी-गुम्फा अभिलेख मे पता चलता है कि स्वय खारवेल ९ वर्षों तक युवराज-पद पर अवस्थित था। मालविकाग्निमित्र से

हास, धर्मशास्त्र या दण्डनीति, ज्योतिष एव भविष्यवाणी-शास्त्र तथा अथर्ववेद मे पाये जाने वाले शान्तिक सस्कारो मे पारगत होना चाहिए, उच्च कुल का होना चाहिए और होना चाहिए शास्त्रो मे वर्णित विद्याओ एव शुभ कर्मो मे प्रवीण एव तप पूत। कौटिल्य (१।९) ने भी अधिकाश मे ये ही बातें कही हैं और कहा है कि राजा को उसकी सम्पत्ति का आदर उसी प्रकार करना चाहिए जिस प्रकार शिष्य गुरु की बात का, पुत्र पिता की बात का, नौकर स्वामी की बात का करता है। कौटिल्य ने यह भी कहा है कि ब्राह्मण द्वारा बढायी गयी, मन्त्रियो द्वारा मन्त्रदृढीकृत, शास्त्रविहित नियमो के समान शास्त्रो से सज्जित राज्य-शक्ति दुर्दमनीय एव विजयी हो जाती है। और देखिए आदिपर्व (१७०। ७४-७५, १७४।१४-१५), शान्ति० (७२।२-१८ एव अध्याय ७३), राजनीतिप्रकाश (पृ० ५९-६१ एव १३६-१३७), राजधर्मकौस्तुभ (पृ० २५५-२५७) जहाँ पुरोहित की पात्रता या गुण-विशिष्टता का उल्लेख किया गया है। कौटिल्य (१०।३) का कथन है कि युद्ध चलते समय प्रधान मन्त्री एव पुरोहित को चाहिए कि वे वेद-मन्त्रो एव सस्कृत-साहित्य के उद्धरणो द्वारा सैनिको का उत्साहवर्धन करते रहे और मरने वालो के लिए दूसरे जन्म मे अच्छे पुरस्कारो की घोषणा करते रहें। शुक्रनीतिसार (२।७८-८०) का कथन है कि पुरोहित को अन्य गुणो के साथ धनुर्वेद का जानकार, अस्त्र-शस्त्र मे निपुण, युद्ध के लिए सेना की टुकडियाँ बनाने मे दक्ष तथा प्रभावशाली धार्मिक बल वाला (जिससे वह शाप भी दे सके) होना चाहिए। पुरोहित ऋत्विक् नही है जो मात्र यज्ञ कराने वाला होता है (देखिए मनु ७।७८ एव याज्ञ० १।३१४)। पुरोहित के विषय मे अन्य ज्ञातव्य बातो के लिए देखिए मानसोल्लास (२।२।६०, पृ० ६४), राजनीति-रत्नाकर (पृ० १६-१७), विष्णुधर्मोत्तर (१।५), अग्नि० (२३९।१६-१७) आदि। कुछ ग्रन्थकारो ने पुरोहित को अमात्यो या मन्त्रियो (विज्ञानेश्वर, याज्ञ० १।३५३, शुक्र० २।६९-७०) मे गिना है और कुछ ने उसे मन्त्रियो से भिन्न माना है (याज्ञ० १।३१२)। कौटिल्य के अनुसार उसे अथर्ववेद मे उल्लिखित उपायो या साधनो से मानवी एव दैवी विपत्तियो को दूर करना चाहिए। कौटिल्य (४।३) के अनुसार भयकर दैवी विपत्तियाँ हैं अग्नि, बाढ, रोग अकाल, चूहे, जगली हाथी, सर्प एव भूत-प्रेत।[17] मनु (७।७८) के अनुसार पुरोहित का कार्य था श्रौत एव गृह्य सूत्रो से सम्बन्धित धार्मिक कृत्य करना, और आपस्तम्ब (२।५।१०।१४-१७) के अनुसार पुरोहित को अपराध करने वालो के लिए प्रायश्चित्त-व्यवस्था देने का पूर्ण अधिकार था। वसिष्ठ० (१९।४०-४२) का कहना है कि यदि अपराधी छूट जाय तो राजा को एक तथा पुरोहित को तीन दिनो तक उपवास करना पडता है। किन्तु यदि राजा निरपराध को दण्ड दे दे तो पुरोहित को कृच्छ्र नामक प्रायश्चित्त करना पडता था। अधिकाश लेखको का यही कहना है कि उसका कार्य अधिकतया धार्मिक ही था। न्याय-शासन की सभा के सम अगा मे उसका उल्लेख नही हुआ है। सरस्वतीविलास (पृ० २०) द्वारा उद्धृत कात्यायन के अनुसार पुरोहित को अर्थशास्त्र मे पारगत होना आवश्यक नही है, किन्तु मिता-क्षरा (याज्ञ० २।२) एव स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० १४) द्वारा उद्धृत कात्यायन के मत से राजा को न्याय-भवन मे विज्ञ ब्राह्मणो, मन्त्रियो, मुख्य न्यायाधीश, पुरोहित आदि के साथ प्रवेश करना चाहिए। याज्ञ० (१।३१२) एव मिताक्षरा (याज्ञ० १।३१२-३१३) के अनुसार लौकिक (व्यावहारिक) एव धार्मिक बातो मे सब मन्त्रियो से परामर्श ले लेने

शास्त्रानुगमस्त्रितम्॥ कौटिल्य १।९, राजा पुरोहित कुर्याद्‌दुदित ब्राह्मण हितम्। कृताध्ययनसपन्नमलुब्ध सत्य-वादिनम्॥ कात्यायन (सरस्वतीविलास पृ० २० मे उद्धृत)।

१७ दैवान्यष्टो महाभयानि—अग्निरुदक व्याधिर्दुर्भिक्ष मूषिका व्याला सर्पा रक्षासीति। तेभ्यो जनपद रक्षेत्। अर्थशास्त्र ४।३, अमानुष्योऽग्निवर्षमतिवर्ष मरकी (मरका ?) दुर्भिक्ष सस्योपघातो जन्तुसर्गो व्याधिर्भूतपिशाचशाकिनी-सर्पव्यालमूषकाश्चेत्यापद ॥ नीतिवाक्यामृत (पृ० १६०)।

एक ही प्रकार की मुद्रा से सम्बन्धित है, क्योंकि कौटिल्य ने कहीं भी विभिन्न अवधियों एवं धातुओं के विषय में कुछ भी नहीं कहा है। सामान्यतः 'पण' एवं 'कार्षापण' शब्द, जैसा कि मनु (८।१३६), मिताक्षरा (याज्ञ० १।३६५) एवं शुक्र० (४।१।११६) ने कहा है, ताम्र मुद्राओं की ओर ही संकेत करता है। मनु (८।१३५-१३६), विष्णुधर्मसूत्र (६।११-१२), याज्ञ० (१।३६४) द्वारा उपस्थापित एक तालिका यह भी है—२ कृष्णलाएँ या कृष्णल=एक (रजत) माष, १६ माष=एक (रजत) पुराण या धरण, धरण=एक (रजत) शतमान। यह तालिका चाँदी के सिक्कों के लिए है। इस प्रकार एक धरण=पल के $\frac{1}{10}$ भाग के, जैसा कि बृहत्संहिता (१०।१३, पलदशभागो धरणम्) ने लिखा है, बराबर है। नारद (परिशिष्ट ५७) ने स्पष्ट लिखा है कि चाँदी का कार्षापण दक्षिण में प्रचलित था, इससे व्यक्त होता है कि चाँदी का पण या कार्षापण सब स्थानों में नहीं था। एक सुवर्ण ८० गुंजाओं के बराबर तथा एक रजत-पण ३२ गुंजाओं के बराबर होता था। राइस डेविड्स (बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० १००) ने लिखा है कि बुद्ध के जन्म के आस-पास वस्तुओं का आदान-प्रदान कहापण (कार्षापण) से होता था जो चौकूटा (वर्गाकार) चाँदी का सिक्का था और तोल में १४४ ग्रेन के बराबर था, उस पर श्रेणियों एवं निगमों की मोहरें लगी रहती थीं। उस समय कार्षापण सिक्का के आधे एवं चौथाई भाग के भी सिक्के थे।"

उपर्युक्त विवेचन से यह कहा जा सकता है कि जब पण या कार्षापण शब्द बिना किसी विशिष्ट उपाधि के

---

१९ सुवर्ण, शतमान, निष्क आदि के विषय में दो-एक शब्द लिख देना आवश्यक जान पड़ता है। कृष्णल शब्द तैत्तिरीयसंहिता (२।३।२।१) में आया है। हिरण्यकार (सोनार) वाजसनेयी संहिता (३०।१७) में प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद में एक स्थल (१।१२६।२) पर एक सौ निष्कों एवं घोड़ों के दान का उल्लेख है और एक स्थल (४।३७।१) पर ऋभुओं को अच्छे निष्क धारण करनेवाले कहा गया है। अथर्ववेद (५।१४।३) में 'निष्क' शब्द आया है। ऐतरेय-ब्राह्मण (३९।८) में "निष्ककण्ठी" (जिनके कण्ठ निष्क के हारों से अलंकृत हैं) अप्सराओं को अन्य भेंटों के साथ उल्लिखित किया गया है। अतः निष्क सम्भवतः एक सोने का खण्ड या जो मुद्रा के या अलंकार के रूप में प्रयुक्त होता था। आज भी नारियाँ सोने के पत्तरों के सुन्दर-सुन्दर टुकड़ों से कण्ठहार बनवा कर पहनती हैं। ऋग्वेद (२।३३।१०) में रुद्र को 'विश्वरूप-निष्क' पहले व्यक्त किया गया है। सम्भवतः उस पर विभिन्न आकृतियों की मुहरें लगी थीं। एक स्थान (६।४७।२३) पर ऋषि का कथन है कि उसे दिवोदास से दस 'हिरण्यपिण्ड' मिले। ऋग्वेद में एक स्थल (८।७८।२) पर इन्द्र से एक सोने के 'मन' की प्राप्ति के लिए प्रार्थना की गयी है। सम्भवतः यह 'मन' शब्द 'शतमान' शब्द का अग्रेसर है। तैत्तिरीयसंहिता (६।६।१०।२) में भी यह शब्द आया है। पाणिनि (५।१।२७, २९, ३०) ने क्रम से शतमान (एक शतमान से जो क्रय किया जाता है उसे शातमान कहा जाता है), कार्षापण, निष्क का उल्लेख किया है और दूसरे स्थल (५।१।३४) पर पण, पाद एवं माष की ओर संकेत किया है। पतञ्जलि (महाभाष्य जिल्द ३, पृ० ३६९, पाणिनि ८।१।१२) ने दृष्टान्त दिया है "इस कार्षापण से यहाँ वाले दो व्यक्तियों को एक-एक माष दो।" पाणिनि का ५।२।१२० सूत्र (रूपाद्-आहतप्रशस्तयोर्-यप्) बताता है कि उन्हें यह ज्ञात था कि धातु के खण्ड पीट-पीट कर लम्बे-चौड़े किये जाते थे और उनसे सुन्दर धारी या किनारों वाले अर्थात् सुन्दर दीखने वाले सिक्के बनाये जाते थे। पाणिनि के ५।१।३३ सम्यक सूत्र के "काकिण्याश्चोपसंख्यानम्" वार्तिक से प्रकट होता है कि काकिणी उन दिनों सामान क्रय करने का एक माध्यम थी। काशिका में "रूप्यो दीनारः" एक उदाहरण आता है। निघातिका-ताडनादिना दीनारादिषु रूपं यदुत्पद्यते तदाहतमित्युच्यते। आहतं रूपमस्य रूप्यो दीनारः। रूप्यं कार्षापणम्। काशिका।

प्रयुक्त किये जायें तो उन्हें ताम्र का ही समझा जाना चाहिए। अतः कौटिल्य द्वारा कहा हुआ वेतन ताम्र-पणों में ही था। इस निष्कर्ष को हम कई बातों से सिद्ध कर सकते हैं। मनु (७।१२६) का कहना है कि निम्नतम श्रेणी के भृत्यों (यथा झाड़-बुहारू करने वाले या पानी भरने वाले नौकर) को प्रति दिन एक पण, उससे उच्च भृत्य को प्रति दिन ६ पण मिलने चाहिए, किन्तु प्रथम श्रेणी के भृत्यों को प्रति छठे मास एक जोड़ा वस्त्र, प्रति मास एक द्रोण (=१ २४ मुष्टि मिताक्षरा के अनुसार, याज्ञ० १।२७४) अन्न देना चाहिए। अर्थशास्त्र एवं मनुस्मृति का हम जो भी काल मानें दोनों के कालों की दूरी एक या दो शताब्दियों से अधिक की नहीं हो सकती। अतः यह कहा जा सकता है कि दोनों के समयों की आर्थिक दशाओं में विशेष अन्तर नहीं पाया जा सकता। ऐसा कहना असम्भव-सा प्रतीत होता है कि निम्नतम श्रेणी के भृत्य को प्रति दिन सोने का एक पण मिलता था और साथ-ही-साथ प्रति दिन ६ मुष्टियाँ (एक मास में १ २४ मुष्टियाँ) अन्न भी। यदि ऐसी बात होती भी तो कौटिल्य के समय में निम्नतम श्रेणी का भृत्य आज के निम्नतम श्रेणी के भृत्यों से सैकड़ों गुना अधिक वेतन पाता। १९वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में बम्बई ऐसे नगरों के निम्नतम श्रेणी के भृत्यों को बिना अन्न वाली ऊपरी आय के ५) से १) तक प्रति मास मिलता था। अतः कौटिल्य के पाँचवें अध्याय में पण सोने का नहीं है। कौटिल्य (५।३) का कहना है कि यदि कोष खाली हो गया हो तो राजा अपने कर्मचारियों का वेतन वन से उत्पन्न सामग्री, पशु या भूमि के रूप में थोड़े सिक्कों के साथ दे सकता है। यदि राजा किसी ऊसर भूमि को आबाद कर रहा हो तो उसे वेतन सिक्कों के रूप में देना चाहिए न कि खाद्य-धान्य के रूप में। इसी सिलसिले में कौटिल्य ने यह भी कहा है कि ६ पणों में अन्न का एक आढक मिलता है। एक आढक=२५६ मुष्टि (मुट्ठी) अन्न है। दुर्भिक्ष में भी एक आढक अन्न का मूल्य चाँदी के ६ पणों के बराबर नहीं हो सकता। सोने के पणों की बात तो निराली ही है। कौटिल्य (५।३) ने घोषित किया है कि एक दूत को एक योजन यात्रा के लिए दस पण तथा इसके आगे १ योजनों के लिए प्रति योजन पर २ पण मिलने चाहिए। कौटिल्य (२।२) के अनुसार एक योजन ८ धनुओं (अन्य भाषान्तर के आधार पर ४ धनुओं) के बराबर होता है, एक धनु चार अरत्नियों के बराबर होता है (एक अरत्नि २४ अंगुल के बराबर होती है)। अतः अधिकतम अंक लेते हुए हम कह सकते हैं कि एक योजन ९ या १ मील के बराबर था (या केवल ४½ या पाँच मील दूसरे भाषान्तर के अनुसार)। तो यह कहना कि एक साधारण दूत को दस मील (जिसे वह आधे या इससे भी कम दिन में तय कर सकता है) जाने के लिए १ स्वर्ण-पण दिये जाते थे तो यह पारिश्रमिक बहुत अधिक कहा जायगा। अतः कौटिल्य के कथन में (५।३) जो पण है वह ताम्र-पण ही है। अब यह निर्णय हो जाता है कि कौटिल्य (५।३) का पण ताम्र-पण है जो वेतन मासिक था इसमें कोई सन्देह नहीं है। कौटिल्य के वचनानुसार शिल्पकलाकारों एवं हस्तकलाकारों को १२ पण वेतन मिलता था। यदि यह वेतन वार्षिक होता तो उन्हें १ पण ही प्रति मास मिलता। अतः १२ ताम्र-पण मासिक वेतन था। वेतन भरसक मासिक रूप से ही दिया जाना अच्छा लगता है न कि वार्षिक। शुक्रनीति जैसे लेखकों ने सैनिकों के लिए मासिक वेतन की व्यवस्था दी है (राजनीतिप्रकाश पृ० २५२)। नासिक के १२वें शिलालेख (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द ८, पृ० ८२) से पता चलता है कि ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में ३५ कार्षापण बराबर होते थे एक सुवर्ण के। अस्तु,

क्रमशः पुरोहित की महत्ता में कमी आ गयी। आगे चलकर वह मन्त्रि-परिषद् से हट गया और उसका स्थान पण्डित ने ग्रहण कर लिया। बंगाल तथा अन्य देशों में उसके कार्यों को धर्माध्यक्ष या धर्माधिकरणिक करने लगे। मत्स्यपुराण (२१५।२४) में धर्माधिकारी के गुणों का वर्णन है। और देखिए एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द १४, पृ० १५६, वल्लालसेन का नैहाटी दान-पत्र, जिसमें पुरोहित एवं महाधर्माध्यक्ष दोनों के नाम हैं। परन्तु मदनपाल देव (एपि० इण्डि०, जिल्द २, पृ० ३ ९) में महाधर्माधिकरणिक का नाम आया है किन्तु पुरोहित का नहीं। इन दानों के अतिरिक्त एक अन्य अधिकारी है जिसका नाम 'सांवत्सर' (ज्योतिषी) था, पुरोहित के कुछ विभागों पर

छापा मार दिया। विष्णुधर्मसूत्र (३।७५) मे आया है—"राजा च सर्वकार्येषु सावत्सराधीन" अर्थात् सभी कार्यो मे राजा 'सावत्सर' पर निर्भर रहता है। बृहत्सहिता (२।९) मे आया है कि बिना सावत्सर के राजा अन्धे के समान मार्ग मे त्रुटियाँ करता है। यही बात अपने ढग से कामन्दक (४।३३) तथा विष्णुधर्मोत्तर (२।४।५-१६) ने भी कही है। कौटिल्य (९।४) ज्योतिष पर अधिक निर्भरता के विरुद्ध है।[20] किन्तु याज्ञ० (१।३०७) का कहना है कि राजा का उत्थान एव पतन नक्षत्रो के प्रभावो पर निर्भर रहता है।

सेनापति—बहुत-से ग्रन्थो मे सेनापति के गुणो का वर्णन किया गया है, यथा—कौटिल्य (२।३३), अयोध्या० (१००।३०=सभा० ५।४६), शान्ति० (८५।३१-३२), मत्स्य० (२१५।८-१०), अग्नि० (२२०।१), काम० (२८।२७-४४), विष्णुधर्मोत्तर (२।२४।४-६), मानसोल्लास (२।२)। सेनापति को ब्राह्मण या क्षत्रिय होना चाहिए (अग्नि० २२०।१, मत्स्य० २१५।१०)। शुक्र० (२।४२९-४३०) ने क्षत्रिय को उत्तम ठहराया है, किन्तु यदि वीर क्षत्रिय न मिले तो उसके अनुसार ब्राह्मण सेनापति बनाया जा सकता है, किन्तु शूद्र कभी भी नही। मानसोल्लास के अनुसार सेनापति के गुण निम्न हैं—अच्छा कुल-चरित्र, साहस, कई भाषाओं की योग्यता, अश्व एव हस्ती पर चढने एव अस्त्र-विद्या की चातुरी, शकुनो एव दवाओ का ज्ञान, अश्व-जातियो की पहचान, आवश्यक एव अनावश्यक के अन्तर का ज्ञान, उदारता, मधुर वाणी, आत्म-निग्रह, मेधा, दृढप्रतिज्ञता। महाभारत काल मे सेनापतियो का चुनाव होता था (उद्योग १५१, द्रोण ५, कर्ण १०) किन्तु आगे चलकर यह परम्परा समाप्त हो गयी। उसकी नियुक्ति स्वय राजा द्वारा की जाने लगी।

दूत—अति प्राचीन काल मे भी यह शब्द और इसका पद प्रचलित था। ऋग्वेद मे कई स्थलो (१।१२।१, १।१६१।३, ८।४४।३) पर अग्नि को दूत माना गया है और उसे यज्ञों मे देवो को बुलाने के लिए कहा गया है। इस शब्द के साथ चार-वृत्ति (गुप्तचर के कार्य) का अर्थ भी लगा हुआ है। ऋग्वेद (१०।१०८।२-४) मे आया है कि इन्द्र ने सरमा (देवो की कुतिया) को पणियो के धनो का पता लगाने के लिए भेजा था। उद्योगपर्व (३७।२७) मे दूत के आठ विशेष गुणो का उल्लेख है, यथा—उसे प्रनिनिविष्ट अर्थात् स्तब्ध (ढीठ) नही होना चाहिए, कायर नही होना चाहिए, दीर्घसूत्री (मन्द) नही होना चाहिए, उसे दयालु एव सुशील होना चाहिए, उसे ऐसा होना चाहिए कि दूसरे उसे अपने पक्ष मे न मिला सकें, रोगरहित होना चाहिए और होना चाहिए मधुरभाषी।[21] और देखिए शान्ति० (८५। २४, यहाँ केवल ७ गुणो का वर्णन है), अयोध्या० (१००।३५), मनु (७।६३-६४), मत्स्यपुराण (२१५।१२-१३)। दूत उतना ही बोले जितना उससे (राजा द्वारा) बोलने को कहा गया है, नही तो वह प्राणो से हाथ धो सकता है (उद्योग० ७२।७)। शान्ति० (८५।२६-२७) ने दूत के शरीर को पवित्र ठहराया है। कौटिल्य ने दूत के विषय मे एक अध्याय लिख डाला है (१।१६)। नीति-निर्धारण के उपरान्त दूत को उस राजा के पास भेजना चाहिए जिस पर आक्रमण किया जाने वाला हो (देखिए कामन्दक को भी १२।१)।

दूत के तीन प्रकार हैं, (१) निसृष्टार्थ (वह, जिसे जो कहना है उसे कहने के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता है), इस प्रकार के दूत को मन्त्री (अमात्य) का अधिकार रहता है, यथा पाण्डवो के दूत कृष्ण तथा आजकल के दूत (ऐम्बैसडर)। (२) परिमितार्थ (निश्चित कार्य के लिए भेजा गया, इन्वॉय), यह भी मन्त्री के बराबर रहता है किन्तु एक चौथाई

२० नक्षत्रमतिपृच्छन्त बालमर्थोऽतिवर्तते। अर्थो ह्यर्थस्य नक्षत्र कि करिष्यन्ति तारका ॥ अर्थशास्त्र ९।४।

२१ अस्तब्धमक्लीबमदीर्घसूत्र सानुक्रोश श्लक्ष्णमहार्यमन्यै । अरोगजातीयमुदारवाक्य दूत वदन्त्यष्टगुणोपपन्नम् ॥ उद्योग० ३७।२७।

क्रम। (३) शासनहर (केवल राजकीय पत्र एवं सन्देश ले जाने वाला)। इनमें मन्त्रियों के केवल आधे गुण पाये जाते हैं। मिताक्षरा (याज्ञ० १।३२८) ने बड़े सुन्दर ढंग से इन तीन प्रकारों का वर्णन किया है। कौटिल्य ने दूत-कार्य पर सविस्तार लिखा है, यथा—शत्रु-देश में उसे क्या-क्या देखना चाहिए, उसे कैसा व्यवहार करना चाहिए (स्त्रियों एवं आसव से दूर रहना चाहिए), उसे गुप्तचरों से किस प्रकार समाचार ग्रहण करने चाहिए आदि-आदि। स्थानाभाव के कारण हम विस्तार छोड़े दे रहे हैं। देखिए काम० (१२।२-२४) को भी। कामन्दक (१२।२३-२४) ने दूत-प्रसंग में निम्न बातें दी हैं—शत्रु के यहाँ के उन लोगों की अभिज्ञता प्राप्त करना जो उसके राजा के द्रोही हैं, शत्रु राजा के मित्रों एवं सम्बन्धियों को अपनी ओर मिला लेना, दुर्गों की संख्या एवं सावधानता की जानकारी प्राप्त कर लेना, शत्रु की आर्थिक स्थिति एवं सैन्य बल की अभिज्ञता प्राप्त कर लेना, शत्रु का अभिप्राय जानना, शत्रु-देश के प्रभावशाली अधिकारियों को अपनी ओर मिला लेना, युद्ध-क्षेत्र की पूर्ण जानकारी प्राप्त कर लेना जिससे उस स्थान के सीमान्त में साथ आगे निकला जा सके। मनु (७।६५) के कथनानुसार दूत ही सन्धि एवं विग्रह का कारण होता है। यदि दूत से सन्देश सुनकर राजा (शत्रु) रुष्ट हो जाय तो दूत को इस प्रकार कहना चाहिए—"सभी राजा आप और अन्य दूत के मुख से ही बातें जानते हैं। अतः अपनी विपत्ति आने पर भी दूत को सन्देश देना ही पड़ता है। नीच जाति के (चाण्डाल) दूतों को भी नहीं मारना चाहिए, उस दूत की तो बात ही क्या जो ब्राह्मण है? यह जो मैं कह रहा हूँ दूसरे का सन्देश है, इसे कह देना मेरा कर्तव्य है।"[21] रामायण (५।५२।१४-१५) का कहना है कि अच्छे लोग दूत-वध की आज्ञा नहीं देते, किन्तु कुछ अवसरों पर उसे कोड़े मारने, मुण्डित कर बाहर निकाल देने आदि की आज्ञा दे दी गयी है।

चर या चार (गुप्तचर) तथा दूत में अन्तर है, जैसा कि कौटिल्य, कामन्दक (१२।३२), याज्ञ० (१।३२८) ने लिखा है। कामन्दक (१२।३२) का कथन है कि दूत प्रकाश में कार्य करता है किन्तु चर छिपकर। आजकल के राजदूत एक प्रकार के सम्मानित दूत ही हैं, जो राज्यों के नियमों की सुरक्षा में रहते हैं। कौटिल्य ने गुप्तचरों पर चार अध्याय लिखे हैं (१।११-१४)। कामन्दक (१२।२५-४९) ने भी लिखा है। शुक्रनीतिसार (१।३३४-३३६) का कथन है कि प्रति रात्रि को राजा को चाहिए कि वह गुप्तचरों द्वारा प्रजा एवं कर्मचारियों के अभिप्रायों, मन्त्रियों, समूहों, सैनिकों, सभा के सदस्यों, सम्बन्धियों एवं अन्तःपुर की रानियों की सम्मतियों को जाने। कामन्दक (१२।२५) का कहना है कि चर में इतनी योग्यता होनी चाहिए कि वह लोगों के मन की बात जान ले, उसकी स्मृति शक्तिशाली होनी चाहिए, मधुरभाषी होना चाहिए, शीघ्रगामी होना चाहिए, उसमें विपत्तियों को सहन करने एवं कठिन परिश्रम करने की शक्ति होनी चाहिए, उसे प्रिय होना चाहिए और होना चाहिए प्रत्युत्पन्नमति। कौटिल्य (१।११) का कथन है कि गूढ़-पुरुष या गुप्तचर लोग ये हैं जो कापटिक (ऐसा चालाक विद्यार्थी जो लोगों के मन को पढ़ ले), उदास्थित (ऐसा कृत्रिम साधु जो साधुत्व के वास्तविक कर्तव्यों से च्युत हो, किन्तु हो बुद्धिमान् एवं पवित्र चरित्र वाला), गृहपतिक (ऐसा गृहस्थ या ऐसा कृषक हो जो अपनी जीविका न चला सके, किन्तु हो मेधावी एवं उत्तम चरित्र वाला), वैदेहक (ऐसा व्यापारी जो व्यापार में अपनी जीविका न चला सके, किन्तु हो मेधावी एवं शुद्ध चरित्र वाला), तापस (ऐसा गुप्तचर जो तपस्या कर रहा हो, जिसने सिर मुड़ा लिया हो या जटाएँ बढ़ा ली हों और अपनी जीविका चलाने का इच्छुक हो), सत्री (सहयोगी या सहपाठी), तीक्ष्ण (निराश व्यक्ति), रसद (विष देने वाला) एवं भिक्षुकी का वेश

२१. स ब्रूयात् दूतमुखा वै राजानस्त्वं चान्ये च। तस्मादुद्यतेष्वपि शस्त्रेषु यथोक्तं वक्तारस्तेषामन्तावसायिनो-ऽप्यवध्याः। किमङ्ग पुनर्ब्राह्मणाः। परस्यैतद्वाक्यमेष दूतधर्म इति। अर्थशास्त्र १।१६। नीतिवाक्यामृत (दूतसमुद्देश, पृ० १०१) एवं यशस्तिलक (१, पृ० ९६४) में ये ही शब्द लिखित हैं।

धारण कर कार्य कर सकें। इनमे से प्रथम पाँच को कौटिल्य ने पञ्चसस्था कहा है जिन्हे राजा द्वारा पुरस्कार एव सम्मान मिलना चाहिए, और उनके द्वारा राजा को अपने भृत्यों के चरित्र की पवित्रता की जाँच करनी चाहिए। कौटिल्य का कहना है कि उदास्थित नामक गुप्तचर को राजा द्वारा दी गयी भूमि पर कृषि-कर्म, पशु-पालन एव व्यापार करते रहना चाहिए और उसे पर्याप्त सोना एव चेले आदि दिये जाने चाहिए, जिससे वह सभी (वनावटी) साधुओं को भोजन, वस्त्र एव आवास दे सके और उन्हे विशिष्ट अपराधों एव समाचारो की टोह मे भेज सके। तापस नामक गुप्तचर को राजधानी के पास ही रहना चाहिए, उसके पास बहुत से चेले रहने चाहिए, उसे यह प्रसिद्ध कर देना चाहिए कि वह मास मे केवल एक बार खाता है या दो-एक मुट्ठी साग-भाजी या घास खाता है (वास्तव मे, छिपकर वह माल उडाता है या अपनी मनचाही थाली पर हाथ साफ करता रहता है)। उसके चेलो को यह घोषित कर देना चाहिए कि उनके गुरु महोदय की शक्तियाँ अलौकिक हैं और वे लाभ, अग्नि, डाका आदि के विषय मे भविष्यवाणी कर सकते हैं।

कौटिल्य (१।१२) ने सञ्चर (घुमक्कड) गुप्तचरो अर्थात् सत्त्रियो (जो अनाथ होते हैं और उनका पालन-पोषण राज्य द्वारा होता है और उन्हें हस्त-रेखा-विद्या, इन्द्रजाल, हस्तलाघव (हाथ की सफाई की विद्या) आदि मे पारगत किया जाता है) का भी वर्णन किया है। कौटिल्य ने तीक्ष्ण (जो जीवन से इतने निराश होते है कि धनोपार्जन के लिए हाथी से भी लड सकते हैं), रसद (जो अपने सम्बन्धियों के लिए भी कोई स्नेह नही रखते, आलसी एव क्रूर होते हैं), भिक्षुकी या परिव्राजिका (दरिद्र ब्राह्मण विधवा, चतुर एव जीविकोपार्जन की इच्छुक, जिसका अन्त पुर मे मान होता है और जो महामात्रो एव मन्त्रियों के कुटुम्बो मे प्रवेश पाती रहती है) का भी वर्णन किया है। उपर्युक्त गुप्तचर लोग १८ तीर्थों के भेदो को बताने के लिए तैनात रहते थे। तीर्थों के व्यक्तिगत चरित्रों की जानकारी एव जाँच के लिए ऐसे लोग नियुक्त किये जाते थे जो कुब्जो, वामनो, (नाटे लोगो) किरातो, बहरो, गूँगो, मूर्खों, जडो का अभिनय कर सकें या अभिनेता, नर्तक, गायक आदि हो। इस कार्य के लिए स्त्रियो की नियुक्ति भी होती थी। इनसे जो समाचार प्राप्त होते थे उनकी परीक्षा पञ्च सस्थाओं (ऊपर वर्णित) द्वारा करा ली जाती थी, किन्तु दोनो प्रकार के दल अपनी-अपनी जाँच अलग-अलग करते थे। इसके उपरान्त अन्य गुप्तचरो द्वारा परीक्षण कराया जाता था। यदि इस प्रकार के तीनो परीक्षणो का फल एक ही होता था तो समाचार को ठीक मान लिया जाता था, किन्तु यदि समाचारो मे भेद पड जाय तो गुप्तचरो को गुप्त रूप मे दण्ड दिया जाता था या उन्हें नौकरी से हटा दिया जाता था। विष्णुधर्मोत्तर (२।२४।६६-६७) मे भी इसी प्रकार के रहस्य-भेदन का वर्णन पाया जाता है। कौटिल्य (१।१३) ने सामान्य रूप से भी रहस्य-भेदन के विषय मे लिखा है (अर्थात् राजधानी तथा राज्य के अन्य भागो के विषय मे भी)। गुप्तचर लोग राज्य भर मे घूमा करते थे और गुप्त रूप से राजा के विषय मे एव शासन-कार्य के विषय मे सन्तोष या असन्तोष की बातो का पता लगाते थे। कौटिल्य (१।१४) ने विदेशो के रहस्य-भेदन के लिए भी गुप्तचर-व्यवस्था की चर्चा की है। गुप्तचर लोग वहाँ के राजा के मित्रो, शत्रुओ, विरोधी तत्त्वो आदि का पता लगाते थे और उन्हें अपनी ओर मिला लेने की व्यवस्था करते थे। राज्य मे चारो ओर गुप्तचरो का जाल बिछा रहता था, जैसा कि कामन्दक (१२।२८) ने राजा को "चारचक्षुर्महीपति" (गुप्तचर राजा की आँखें हैं) की उपाधि देकर प्रकट किया है। यही बात विष्णुधर्मोत्तर (२।२४।६३) एव उद्योगपर्व (३४।३४) ने क्रम से "राजानश्चारचक्षुष" एव "चारै पश्यन्ति राजान" के रूप मे कही है। कौटिल्य (४।४-६) ने समाहर्ता[२३] द्वारा नियुक्त कतिपय गुप्तचरो की चर्चा की है जो अशान्ति उत्पन्न करने

२३ समाहर्ता जनपदे सिद्धतापसप्रव्रजितचक्रचरचारणकुहकप्रच्छन्दककार्तान्तिकनैमित्तिकमौहूर्तिकचिकित्सकोन्मत्तमूकबधिरजडान्धवैदेहककारुशिल्पिकुशीलववेश-शौण्डिकापूपिकपाक्वमांसिकौदनिकव्यञ्जनान् प्रणिदध्यात्।

वालों को दबाने, घूस लेने वाले न्यायाधिकारियों एवं अन्य विभागों के अधीक्षकों का भेद बताने, अनधिकृत ढंग से मुद्रा बनानेवालों का पता लगाने, बलात्कार करने वालों, चोरों, डाकुओं एवं अपराधियों की खोज करने के लिए तैनात किये जाते थे। न्याय-विषयक कुछ विशेष जानकारी के लिए भी गुप्तचरों की व्यवस्था कौटिल्य ने की है। कौटिल्य (३।१) का कहना है— यदि साक्षियों के कारण वादी एवं प्रतिवादी दोनों का मुकदमा गड़बड़ हो जाय, तब दोनों पक्षों में किसी एक का पक्ष गुप्तचरों द्वारा असत्य सिद्ध हो जाय तो उसके विरोध में न्याय किया जायगा। द्रोणपर्व (७५।४) से पता चलता है कि दुर्योधन की सेना में कृष्ण के गुप्तचर नियत थे और यही बात दुर्योधन की ओर से भी की गयी थी। शान्तिपर्व (६९।८ १२ एवं १४ ।३९ ४२) में उन स्थलों के नाम दिये हैं जहाँ-जहाँ गुप्तचर नियत किये जाने चाहिए और इस बात पर भी बल दिया है कि गुप्तचर एक-दूसरे को न जान सकें।[२४] कौटिल्य ने गुप्तचर-विभाग का जो विस्तृत वर्णन उपस्थित किया है उससे चकित नहीं होना चाहिए। आधुनिक काल में सभी देशों में गुप्तचर-विभाग पर पर्याप्त धन व्यय किया जाता है। देश-विदेश में चारों ओर गुप्तचरों के जाल बिछे रहते हैं। भारत के राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री या किसी राज्य के मुख्यमन्त्री या मन्त्री जब विचरण करते हैं या किसी सभा में जाते हैं तो उनके रक्षार्थ चारों ओर जनता के वेश में गुप्तचर फैले रहते हैं।

ग्रामामात्यप्रधाना च सीमावासीनां विद्युः। अर्थशास्त्र ४।४। मिलाइए, नीतिवाक्यामृत (चारसमुद्देश) पृ० १७६, जहाँ गुप्तचरों के रूप में लोगों की लम्बी तालिका दी हुई है।

२४ चारणस्तत्तत्सार्थेन नगराणां निवेशयेत्। उद्यानेषु विहारेषु प्रपास्वावसथेषु च।। पानागारे प्रवेशेषु तीर्थेषु च सभासु च। शान्ति १४ ।३९-४२; यथा न विद्युरन्योन्यं प्रणिधेयास्तथा हि ते। शान्ति ६९।१।

अध्याय ५

राष्ट्र (३)

'राष्ट्र' शब्द ऋग्वेद (४।४२।१ "मम द्विता राष्ट्रं क्षत्रियस्य" अर्थात् "मेरा राष्ट्र दोनो ओर या दोनो गोलको मे है"—ऐसा त्रसदस्यु ने कहा है) मे भी आया है। वरुण को राष्ट्रो का स्वामी (राजा राष्ट्राणाम् ऋ० ७।३४।-११) कहा गया है। कई अन्य स्थलो पर भी यह शब्द प्रयुक्त हुआ है, यथा—ऋग्वेद ७।८४।२, १०।१०९।३ आदि। तैत्तिरीय संहिता (७।५।१८, वाजसनेयी संहिता २२।२२) मे आशीर्वचन आया है—"इस राष्ट्र मे राजा शूर, महारथी और धनुर्धर हो।"[1] और देखिए तै० ब्रा० (३।८।१३), जहाँ उपर्युक्त आशीर्वचन की व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। अथर्ववेद (१२।१।८) मे पृथिवी को माता कहा गया है और उसका आह्वान किया गया है कि वह राष्ट्र को बल एव दीप्ति दे। कामन्दक (६।३) का कहना है कि राज्य के सभी अगो का उद्भव राष्ट्र से होता है अत राजा को सभी सम्भव प्रयत्नो द्वारा राष्ट्र की वृद्धि करनी चाहिए। अग्निपुराण (२३९।२) के अनुसार राज्य के सभी अगो मे राष्ट्र सर्वश्रेष्ठ है। मनु (७।६९) का कहना है कि राजा को ऐसे देश मे घर बनाना (रहना) चाहिए, जहाँ पानी न जमा रहता हो, जहाँ प्रचुर अन्न उपजता हो, जहाँ अधिकतर आर्यो का वास हो, जहाँ (आधियो एव व्याधियो मे) उपद्रव न हो, जो (वृक्षो, पुष्पो एव फलो के कारण) सुन्दर हो, जहाँ के सामन्त अधिकार मे आ गये हो और जहाँ जीविका के साधन सरलता से प्राप्त हो सकें।[2] यही बात याज्ञ० (१।३२१) एव विष्णुधर्मसूत्र (३।४-५) मे भी दूसरे ढग से कही गयी है। इस विषय मे कामन्दक (४।५०-५६) के वचन पठनीय हैं—"राजा के राष्ट्र की समृद्धि इसकी मिट्टी के गुणो पर निर्भर रहती है राष्ट्र-समृद्धि मे राजा की समृद्धि होती है, अत राजा को चाहिए कि वह समृद्धि के लिए अच्छे गुणो से युक्त ऐसी भूमि का चुनाव करे, जिम मे प्रचुर अन्न उपजे, जहाँ खनिज हो, जहाँ व्यापार हो सके, खानो तथा अन्य वस्तुओ की भरमार हो, जहाँ पशु-पालन हो सके, प्रचुर जल हो, जहाँ सुसस्कृत व्यक्ति रहते हो, जो सुन्दर हो, जहाँ जगल हो, हाथी हो, जहाँ जल-स्थल के मार्ग हो, जहाँ केवल वर्षा के जल पर निर्भर न रहना पडे।"[3] वह भूमि जो कँकरीली एव पथरीली हो,

१ आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामास्मिन् राष्ट्रे राजन्य इषव्य शूरो महारथो जायता दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशु सप्ति पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठा सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायता निकामे निकामे न पर्जन्यो वर्षतु फलिन्यो न ओषधय पच्यन्तां योगक्षेमो न कल्पताम्। तै० स० ७।५।१८।१, वाज० स० २२।२२ (थोडे अन्तरों के साथ)।

२ अल्पोदकतृणो यस्तु प्रवात प्रचुरातप । स ज्ञेयो जाङ्गलो देशो बहुधान्यादिसयुत ॥ मनु (७।६९) की व्याख्या में कुल्लूक द्वारा उद्धृत, स्वल्पवृक्षोदकपर्वतो बहुपक्षिमृग प्रचुरवर्षातपश्च जाङ्गलो देश इति। एक स्मृति से नीतिप्रकाश (पृ० १९७) द्वारा उद्धृत। याज्ञ० (१।३२१) की व्याख्या के सिलसिले मे मिताक्षरा का कथन है—'यद्यप्यल्पोदकतरुपर्वतोद्देशो जाङ्गलस्तथाप्यत्र सजलतरुपर्वतो देशो जाङ्गलशब्देनाभिधीयते।'

३ अदेवमातृका चेति शस्यते भूर्विभूतये। काम० ४।५२। देशो नद्यम्बुवृष्ट्यम्बुसपन्नव्रीहिपालित । स्यान्नदीमातृको देवमातृकश्च यथाक्रमम् ॥ अमरकोश, अर्थात् जहाँ पर धान आदि की खेती केवल वर्षा-जल पर निर्भर

जहाँ जंगल ही जंगल हों, जहाँ चोरों का अड्डा हो, जो जलहीन हो, कँटीले पौधों एवं सर्पों से युक्त हो, राष्ट्र के चुनाव के लिए उपयुक्त नहीं है। उस देश को, जहाँ जीविका के साधन सरलता से उपलब्ध हो सकें, जहाँ की मिट्टी अच्छे गुणों वाली हो, जहाँ पर्याप्त मात्रा में जल हो, जहाँ पर्वतमालाएँ हों, जहाँ शूद्र, शिल्पकार एवं व्यापारी अधिक संख्या में हों, जहाँ के कृषक (भूमिसुधार-सम्बन्धी कार्यों में) विशेष रुचि रखते हों, जो राजा के प्रति सत्य एवं अनुकूल तथा शत्रु के प्रति प्रतिकूल हों तथा दुःखों (विपत्तियों) एवं कर के भार को वहन कर सकें, जो अति विस्तृत हो, जहाँ देश-विशेष के व्यक्ति निवास करते हों, जो सत्यमार्गी हों, जहाँ धन-धान्य एवं पशुओं का प्राचुर्य हो, जहाँ के मुख्य पुरुष न तो मूर्ख हों और न दुष्ट हों, अपेक्षाकृत अधिक अच्छा समझना चाहिए। उपर्युक्त उपयुक्तताओं से पता चलता है कि देश या राष्ट्र समृद्धिशाली हो, उसमें जीवन के साधन प्रचुर मात्रा में हों और वह सुरक्षा के उपादानों से भली भाँति परिपूर्ण। जन-संख्या के विषय में कुछ स्मृतिकारों के मतों में विभेद है। मनु (७।६९) के अनुसार देश में केवल आर्य हों, किन्तु विष्णुधर्मसूत्र (३।५) के अनुसार उसमें अपेक्षाकृत शूद्र एवं वैश्य अधिक हों। एक अन्य स्थान पर मनु (८।२२) का कहना है कि जिस देश में शूद्र अधिक हों, जहाँ नास्तिकों की संख्या अधिक हो और द्विज बिल्कुल न हों, वह देश व्याधियों एवं दुर्भिक्षों से आक्रान्त होकर नष्ट हो जाता है। यही बात मत्स्यपुराण (२१७।१-५), विष्णुधर्मोत्तर (२।२६।१-९), मानसोल्लास (२।३, श्लोक १५१-१५६), नीतिवाक्यामृत (जनपदसमुद्देश, पृ० १९, जिसमें 'राष्ट्र', 'विषय', 'देश', 'जनपद' आदि की परिभाषाएँ दी हुई हैं) में भी कही है। प्रथम दो ग्रन्थों का कहना है (एवंविधं यथालाभं राजा विषयमावसेत्) कि प्रत्येक राष्ट्र में उनके कथनानुसार गुणों का पाया जाना सम्भव नहीं है, अतः राजा को चाहिए कि वह जो कुछ प्राप्त है उसका सर्वोत्तम उपयोग करे। कौटिल्य (२।१) का कहना है कि राजा को ग्रामों को अथवा प्राचीन दूसरे या नवीन स्थानों पर बसवाना चाहिए, जिसमें अन्य देशों के लोग बसने को प्रेरित किये जायँ, जहाँ राष्ट्र के अधिक जन-संख्या वाले स्थानों से लोग बुलाकर बसाये जायँ, किन्तु प्रत्येक ग्राम में एक सौ से न कम और न ५०० से अधिक कुल बसाये जायँ और उसमें अधिकतर शूद्रकर्षकों (कृषकों) को बसाया जाय। प्रत्येक ग्राम का विस्तार (रकबा) एक या दो कोस (क्रोश) का हो और वह पड़ोसी ग्रामों की सहायता कर सके।

पौराणिक भूगोल के अनुसार द्वीप सात हैं, यथा—जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शाक एवं पुष्कर (विष्णुपुराण २।१।११) और प्रत्येक द्वीप वर्षों में विभाजित है। जम्बूद्वीप में ९ वर्ष हैं, जिनमें भारतवर्ष प्रथम है (विष्णु

रहती है उस देश को देवमातृक (देवो माता यस्य) कहते हैं, किन्तु जहाँ वह नदियों, तालाबों आदि पर निर्भर रहती है उसे नदीमातृक कहते हैं।

४. भूतपूर्वमभूतपूर्वं वा जनपदं परदेशापवाहनेन स्वदेशाभिष्यन्दवमनेन वा निवेशयेत्। शूद्रकर्षकप्रायं कुलशतावरं पञ्चकुलशतपरं ग्रामं क्रोशद्विक्रोशसीमानमन्योन्यारक्षं निवेशयेत्। अर्थशास्त्र २।१। इस कथन से व्यक्त होता है कि कौटिल्य ने 'जनपद' शब्द को 'देश' के अर्थ में प्रयुक्त किया है जहाँ जनसन्निवेश बनाया जाय और जो राज्य के अन्तर्गत हो अथवा न हो। डा० प्राणनाथ (स्टडी इन दी एकनॉमिक कण्डीशन आव ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० १७) की यह व्याख्या कि यह (अर्थात् 'जनपद') राज्य का एक भाग है, स्वीकृत नहीं की जा सकती, जैसा कि 'भूतपूर्वमभूतपूर्वम्' शब्दों से व्यक्त है। संस्कृत के लेखकों एवं पुराणों से व्यक्त होता है कि 'जनपद' का सीधा अर्थ है 'देश' और अमरकोश में यह देश एवं विषय का पर्याय कहा गया है। क्षीरस्वामी ने जनपद का अर्थ राष्ट्र से लगाया है। काव्यमीमांसा ने, जिस पर डा० प्राणनाथ देशों की संख्या के विषय में अपनी व्याख्या के लिए निर्भर हैं, 'जनपद' शब्द का प्रयोग भूमि की चारों दिशाओं में देशों के नामों के लिए किया है।

पुराण ७।७।१७)। महाभारत ने १३ द्वीपों के नाम लिये हैं (आदि० ७५।१९, वनपर्व ३।५२ एवं १३४।२०), एक स्थल (द्रोण० ७०।१५)पर १८ द्वीपों के नाम हैं। भारतवर्ष के विषय में देखिए इस ग्रन्थ का भाग २, अध्याय १। मनु (२।२०) ने पवित्र कुरुक्षेत्र-भूमि एवं मत्स्यों, पञ्चालों, शूरसेना की भूमि को सर्वोत्तम माना है, जहाँ के विद्वान् ब्राह्मण विचारों एवं क्रियाओं में सम्पूर्ण विश्व के लोगों के लिए नेता एवं आदर्श माने गये हैं। विष्णु० (२।३।२), ब्राह्म०, मार्कण्डेय तथा अन्य पुराणों ने भारतवर्ष को कर्मभूमि माना है। यह उस देशभक्ति का द्योतक है जो पाश्चात्य देशों में दुर्लभ है। अति प्राचीन काल से भारतवर्ष को बहुत देशों का झुण्ड कहा जाता रहा है। इसके देशों और उनके निवासियों के एक ही नाम चलते आये हैं (पाणिनि ४।१।१६८, ४।२।८१)। ऋग्वेद में निम्नलिखित राजकुलों के नाम आये हैं—यदुओं, तुर्वसुओं द्रुह्युओं, अनुओं एवं पुरुओं के राजकुल(ऋ० १।१०८।८, ८।१०।५ आदि)। चेदि(८।५।-३९), कीकट (३।५३।१४), ऋजीक (८।७।२९), रुशम (५।३०।१२), वेतसु (१०।४९।४) नामक देशों के नाम भी हैं। अथर्ववेद (५।२२) में बहुत से लोगों एवं देशों के नाम हैं, जिनमें बह्लिकों (५।२२।५ तथा ९), मूजवत् (५।२२।५ एवं ८), गन्धारि, अग, मगध (५।२२।१४) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ऐतरेय ब्राह्मण (३८।३) ने भारतवर्ष को पाँच भागों में, यथा—पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर (उत्तर कुरु एवं उत्तर मद्र) एवं मध्य(कुरु-पञ्चाल एवं वश-उशीनर) में बाँट दिया है। भारतवर्ष दो भागों में भी बँटा माना गया था, यथा—दक्षिणापथ (नर्मदा से दक्षिण तक) एवं उत्तरापथ। ईसा से कुछ शताब्दियों पूर्व ही यह धारणा बँध चुकी थी। हाथीगुम्फा अभिलेख में उत्तरापथ के कतिपय राजाओं के नाम आये हैं और महाभाष्य में दक्षिणापथ के कई तालाबों के नाम आये हैं।[5] ब्राह्मण-ग्रन्थों में कुरु-पञ्चालों (तै० ब्रा० १।८।४), उत्तर कुरु, उत्तर मद्र, कुरु-पञ्चालों, वश-उशीनरों (ऐत० ब्रा० ३८।३), कुरु-पञ्चालों, अग-मगधों, काशि-कोसलों, शाल्व-मत्स्यों, वश-उशीनरों (गोपथ-ब्राह्मण २।९) के नाम आये हैं। गन्धारों का उल्लेख छान्दोग्योपनिषद् (६।१४।१) में, विदेह का बृहदारण्यकोपनिषद् (३।१।१) में, मद्रों का बृहदारण्यकोपनिषद् (३।३।१) में हुआ है। महाभारत में कतिपय प्रसंगों में लगभग २०० देशों के नाम आये हैं (सभा० ४।२१-३२, २०।२६-३०, सभा २५, सभा ५२।१३-१९, ५३।५-९, विराट १।१२-१३, भीष्म ९।३९-६९, ५०।-४७-५३, द्रोण २।१५-१८, ७०।११-१३, आश्वमेधिक ७३-७८, ८३।१०)। बौधायनगृह्यसूत्र (१।१।७) ने सूर्य-पूजा के लिए एक मण्डल की व्यवस्था की है और आठ दिशाओं में आठ देशों तथा मध्य में एक देश को उस मण्डल के लिए प्रतिनिधि-देश माना है। इस प्रकार इस गृह्यसूत्र में ९ देशों के नाम हैं। पुराणों में भी देशों के नामों की तालिकाएँ मिलती हैं (मत्स्य० ११४।३४-५६, मार्कण्डेय० ५७।३२-६७ एवं अध्याय ५८, ब्राह्म० १७।१०-१५ एवं २५।२५-३९)। कभी-कभी एक ही देश के दो नाम आते हैं, यथा विदर्भ एवं क्रथकैशिक दोनों एक ही देश थे (रघुवंश ७।१ एवं ३२)। राइस डेविड्स (बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० २३) ने १६ देशों के नाम दिये हैं जो अंगुत्तरनिकाय (अध्याय १,पृ० २१३, ८,पृ० २५२) एवं दिग्घनिकाय (२,पृ० २००) में उल्लिखित हैं—अग, मगध, कासि, कोसल, वज्जि, मल्ल, चेटि (चेदि), वश (वत्स ?), कुरु, पञ्चाल, मत्स्य, शूरसेन, अश्मक, अवन्ति, गन्धार, कम्बोज। वराहमिहिर

५ महाभाष्य में निम्न देशों के नाम आये हैं—अजमीढ, अग, अम्बष्ठ, अवन्ति, इक्ष्वाकु, उशीनर, ऋषिक, कक्षेर, कलिंग, कश्मीर, काशि, कुन्ति, कुरु, केरल, कोसल, क्षुद्रक, गन्धार, चोड, जिह्नु, त्रिगर्त, दशार्ण, नीचक, नीप, नैश, पञ्चाल, पारस्कर, पुण्ड्र, मगध, मद्र, महिष, मालव, युगन्धर, वग, विदर्भ, विदेह, वृजि, शिवि, सुह्म, सौवीर। कुछ देशों के नाम पाणिनि (४।१।१७०—१७५, ४।२।१०८) ने भी दिये हैं। यथा—अवन्ति, अश्मक, कलिंग, कम्बोज, कुरु, कोसल, मगध, मद्र, साल्व, सौवीर।

की बृहत्संहिता बौधायनगृह्यसूत्र (१।१७) कामसूत्र (५।६ ११ ४१) बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र (३।८३ ११७) राजशेखर की काव्यमीमांसा (१७ वाँ अध्याय) ने बहुत-से देशों के नाम दिये हैं। अन्तिम पुस्तक भारत को पाँच भागों में बाँटती है और सभी चारों दिशाओं में ७ देशों के नाम देती है किन्तु मध्य भारत के देशों के नाम नहीं देती। मार्कण्डेय पुराण (पृ १ ९ ११) ने १४ देशों के नाम दिये हैं। उसका कहना है कि दक्षिणापथ भारतवर्ष का चौथाई है, और त्रेता एवं द्वापर के युगों में हिम से डरकर लोग दक्षिण में चले गये। कुछ ताम्रपत्रों में ५६ देशों के नाम आये हैं (देखिए इण्डियन कल्चर, जिल्द ८ पृ १३)। यादवप्रकाश की वैजयन्ती (एक कोश) में एक सौ से अधिक देशों के नाम तथा कुछ की राजधानियों के नाम आये हैं।

किसी राष्ट्र के लिए किसी परिमाण की भूमि एवं बड़ी जनसंख्या की आवश्यकता पड़ती है। थोड़ी-सी जनसंख्या एवं कुछ ग्रामों से राष्ट्र का निर्माण नहीं होता। ऊपर जिन राष्ट्रों के नाम आये हैं उनकी सीमाओं में विजय-पराजय के फलस्वरूप बहुत-से परिवर्तन होते रहे हैं।

प्राचीन भारत में आधुनिक राष्ट्रीयता की भावना नहीं थी। ग्रन्थकारों ने राज्य का नाम लिया है और राष्ट्र को उसका एक तत्त्व माना है। किन्तु उन लोगों में राष्ट्रीयता की भावना का पूर्ण अभाव था और उन्होंने राष्ट्रीय एकता के लिए कोई प्रयत्न भी नहीं किया। आजकल जिसे हम राष्ट्र कहते हैं वह एक भौतिक और आन्तरिक अनुभूति का विषय है। इस रूप में केवल १७-१८वीं शताब्दियों में कुछ दिनों के लिए महाराष्ट्रियों एवं सिक्खों ने राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत कर रखी थी। पूरे भारतवर्ष में धर्म दर्शन साहित्यिक विधियों (प्रणालियों) कलात्मक विधियों पूजा की विधियों तीर्थस्थानों की यात्रा आदि में एकरूपता थी किन्तु इन कारणों से भारतवर्ष में राष्ट्रीय एकता की भावना को जन्म न मिल सका। अधिकांश सूत्रकारों एवं स्मृतियों ने आर्यावर्त की पवित्र भूमि की सीमाएँ निर्धारित करने का प्रयत्न अवश्य किया है और इसे म्लेच्छों के देशों से पृथक् माना है (देखिए, इस ग्रन्थ का भाग २ अध्याय १)। विष्णु (२।३।१ २) मार्कण्डेय (५५।२१) आदि पुराणों में भारत की महत्ता के गीत गाने में सारी साहित्यिक शक्ति लगा दी है, और इसका कर्म-भूमि के रूप में वर्णन करते हुए लिखा है कि यह वह देश है जहाँ स्वर्ग एवं मोक्ष के अभिलाषी बसते हैं ('कर्मभूमिरियं स्वर्गमपवर्गं च गच्छताम्। या 'तत्कर्मभूमिर्नान्यत्र सम्प्राप्तिः पुण्यपापयो ॥'—मार्कण्डेय पुराण)। मनु (२।२) ने ब्रह्मावर्त कुरुक्षेत्र मत्स्य पञ्चाल एवं शूरसेन नामक पवित्र देशों के प्रति अपना अभिमान एवं श्रद्धा प्रकट की है। यही बात वसिष्ठ (१।१) ने भी कही है। शङ्खलिखित (याज्ञ १।२ की टीका में विश्वरूप द्वारा उद्धृत) का कथन है कि आर्यावर्त देश उत्तम गुणों से परिपूर्ण पुरातन और पूत है (देश आर्यो गुणवान् सनातन पुण्य)। स्मृतियों का प्रणयन विभिन्न समयों में होता रहा उनमें भारत के विभिन्न भागों की रीतियाँ स्थान पाती गयीं उन्होंने वेदों का अनुसरण करने वालों के लिए सामान्य बातों का उल्लेख किया किसी विशिष्ट देशभाग की परम्पराओं की विशेषता नहीं दी (आश्वलायनगृह्यसूत्र—यत् समान तद् वक्ष्याम)।

धार्मिक दृष्टिकोण से (राजनीतिक दृष्टिकोण से नहीं) सभी ग्रन्थकारों ने भारतवर्ष या आर्यावर्त के प्रति भावात्मक सम्बन्ध जोड़ रखा था और सारे राष्ट्र को एक मान रखा था इस तथ्य को स्वीकार करने में किसी को सन्देह नहीं हो सकता। आज हम 'राष्ट्रीयता' शब्द का जो अर्थ लगाते हैं उसके अनुसार प्राचीन भारतीय राष्ट्रीयता में हम शासन-सम्बन्धी अथवा राजनीतिक तत्त्व का अभाव पाते हैं। किन्तु इन बातों के साथ हमें एक अन्य तथ्य नहीं भूलना चाहिए और वह है सारे देश को एक छत्र के अन्तर्गत रखना अर्थात् किसी एक राजा के छत्र के अन्तर्गत सारे देश के लोगों को रखना। यह थी चक्रवर्ती सम्राट् की कल्पना जो आधुनिक साम्राज्यवाद की कल्पना एवं उसके व्यावहारिक रूप से पूर्णतया भिन्न थी। आज के साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने अपनी विस्तारवादी भावनाओं से अन्य राष्ट्रों पर भी

विपत्तियाँ एव कहर ढाहे हैं उसमे विश्व का इतिहास कलकित हो चुका है। हम यहाँ इस विपय मे कुछ विशेप कहना उचित नही समझते हैं।

अव हम प्रान्तीय एव स्थानीय शासन के विपय मे कुछ लिखेंगे। प्रत्येक राज्य मे कई एक देश थे और देशो की कई एक इकाइयाँ। राष्ट्र के शासक को 'राष्ट्रपति' या 'राष्ट्रिय' कहा जाता था।

अमरकोश के अनुसार देश, राष्ट्र, विषय एव जनपद शव्द पर्यायवाची हैं। इनके परिमाणो के विपय मे उत्कीर्ण लेखो के साक्ष्यो मे मतैक्य नही है। कभी-कभी 'विपय' देश का उपविभाग माना गया है (देखिए 'राष्ट्रपति-विपय-पति-ग्रामकूट'—इण्डियन एण्टिक्वेरी, जिल्द ८, पृ० २०, वही, जिल्द १२, पृ० २४७, २५१)। किन्तु हिरहडगल्ली दान-पत्र मे (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द १, पृ०५) 'विपय' पहले आया है और 'राष्ट्र' उसके उपरान्त, जिससे प्रकट होता है कि 'विपय' राष्ट्र से वडा क्षेत्र है। सह्याद्रिखण्ड (उत्तरार्घ, अध्याय ४) के अनुसार एक देश मे १०० ग्राम होते हैं, एक मण्डल मे चार देश, एक खण्ड मे १०० मण्डल और सम्पूर्ण पृथ्वी मे ९ खण्ड होते हैं। काम्वे दान-पत्र (९३० ई०) से पता चलता है कि मण्डल देश का एक भाग था (एपि० इण्डि०, जिल्द ७, पृ० २६)। वानगढ़ दान-पत्र (एपि० इण्डि०, जिल्द १४, पृ० ३२४) एव आमगाछी दान-पत्र से पता चलता है कि मण्डल विषय से छोटा था और विषय भुक्ति का एक भाग मात्र था। 'भोग' शव्द, जिसका निर्माण 'भुक्ति' शव्द के समान ही है, लगता है विपय का ही एक भाग है और विपय राष्ट्र का एक भाग है (यथा—राष्ट्रपति-विपयपति-भोगपतिप्रभृतीन् समाज्ञापयति, एपि० इण्डि०, जिल्द १४, पृ० १२१)। मिताक्षरा (याज्ञ० १।३१९) का कहना है कि केवल महीपति ही भूमि का दान कर सकता है न कि भोगपति (भोग का अधिकारी)। देश के किसी भाग का द्योतन 'आहार' भी करता है। (रूपनाथ-शिलालेख, सारनाथ स्तम्भ-लेख—कार्पस इंस्क्रिप्शन इण्डिकेरम्, जिल्द १, पृ० १६२ एव १६६, नासिक अभिलेख—स० ३ एव १२—गोवर्धनहार एव कापुराहार, एपि० इण्डि०, जिल्द ८, पृष्ठ ६५ एव ८२, कार्ले का अभिलेख स० १९, एपि० इण्डि० जिल्द ७, पृ० ६४—जहाँ मामलाहार नाम मिलता है)। स्थानाभाव के कारण देश के विभिन्न भागो का पूर्ण विवेचन यहाँ सम्भव नही है (विस्तृत विवेचन के लिए देखिए जे०, आर० ए० एस० सन् १९१२, पृ० ७०७ मे डा० फ्लीट की व्याख्या तथा जे० वी० वी० आर० ए० एस०, जिल्द २९, १९१४-१९१७, पृ०६४८-६५३ मे मेरा निवन्ध)।

कौटिल्य (२।१) का कथन है कि 'राज्य मे ग्रामो के दल वनाये जाने चाहिए, प्रत्येक दल मे एक मुख्य नगर (वस्ती) या दुर्ग होना चाहिए, दस ग्रामो के दल को सग्रहण, २०० ग्रामो के दल को खार्वटिक, ४०० ग्रामो के दल को द्रोणमुख कहा जाना चाहिए तथा ८०० ग्रामो के मध्य मे एक स्थानीय होना चाहिए।' 'स्थानीय' शव्द, लगता है, आधुनिक शव्द 'थाना' का द्योतक है। क्योकि शव्द-ध्वनि एव अर्थ मे दोनो में विचित्र समता है। मनु (७।११४) ने इसी प्रकार कहा है कि दो, तीन या पाँच ग्रामो के वीच मे, राजा को चाहिए कि वह रक्षको का एक मध्य-स्थान नियुक्त करे। इस मध्य स्थान को 'गुल्म' कहा गया है। इसी प्रकार एक सौ ग्रामो के वीच मे 'सग्रह' होता है। मनु (७।११५-११७), विष्णुधर्मसूत्र (३।७-१४), शान्ति० (८७।३), अग्नि० (२२३।१-४), विष्णुधर्मोत्तर (२।६१। १-६), मानसोल्लास (२।२।१५९-१६२) के अनुसार राजा द्वारा एक ग्राम में, १० ग्रामो के दल मे, २० ग्रामो, १०० ग्रामो एव १००० ग्रामो के दलो मे क्रम से एक से ऊँचे वढ़ते हुए अधिकारियो की नियुक्ति की जानी चाहिए, जिन्हे अपने-अपने अधिकार क्षेत्रो के समाचार से अवगत होना चाहिए और यदि वे कोई कार्य करने मे समर्थ न हो सकें तो उन्हें इसकी सूचना ऊपर वाले अधिकारी को दे देनी चाहिए। मनु (७।१२०) का कहना है कि राजा के किसी मन्त्री द्वारा इन अधिकारियों के कार्यों की एव उनके पारस्परिक कलह आदि की देखभाल होनी चाहिए। अशोक की राजाज्ञाओ से पता चलता है कि उसने एक के नीचे एक अधिकारी की नियुक्ति कर रखी थी, यथा—महामात्र, युक्त,

शासक। गुप्तकाल में भी ऐसी ही बात अपने ढंग से पायी जाती है। एपिग्रैफिया इण्डिका (जिल्द १५, पृ० १११; जि० १०, पृ० ३४५, जिल्द २१, पृ० ७८) में वर्णित दामोदरपुर, बैग्राम एवं अन्य दानपत्रों के अनुशीलन से पता चलता है कि गुप्त सम्राट् उपरिक महाराज नामक प्रान्तीय शासकों की नियुक्ति स्वयं करते थे और प्रान्तीय शासक या सम्राट् विषयपतियों (जिले के अधिकारियों) की नियुक्ति करते थे। विषयपतियों को शासन-सम्बन्धी कार्यों में नगर-श्रेष्ठी (बैंकर), सार्थवाह (मुख्य वणिक), प्रथम कुलिक (शिल्प-श्रेणी के प्रमुख) एवं प्रथम कायस्थ (प्रमुख सचिव) नामक चार सम्मतिदाता सहायता देते थे। विषयपतियों के प्रमुख कार्यालय-स्थान को अधिष्ठान कहा जाता था और उनके अन्य कार्यालयों (कचहरियों) को अधिकरण। भूमि-विक्रय के बारे में पुस्तपालों (लेखों की सम्पत्ति के लेखप्रमाण रखने वालों) से पूछा जाता था और वे अपनी ओर से प्रमाण आदि देते थे। कुमारगुप्त प्रथम के ताम्रपत्र (एपि० इण्डि०, जिल्द, १७, पृ० ३४५, ३४८) में 'ग्रामाष्ट-कुलाधिकरणम्' आया है, जिसका तात्पर्य है 'एक कार्यालय जिसका अधिकार-क्षेत्र ८ ग्रामों तक था। मनु (७।११९) का कहना है कि दस ग्रामों के अधिकारी को भूमि का एक कुल वेतन रूप में मिलता था। कुल्लूक के शब्दों में एक कुल उतनी भूमि को कहते हैं जिसे जोतने के लिए प्रति हल ६ बैलों वाले दो हल लगते थे। विष्णुधर्मसूत्र (३।१५) में आया है—"कुलं हलद्वयपर्याप्ता भूः।" शुक्रनीतिसार (१।१९१-१९२) का कहना है कि एक सौ ग्रामों के स्वामी को सामन्त कहा जाता है, एक सौ ग्रामों पर राजा द्वारा नियुक्त अधिकारी को अनुसामन्त तथा दस ग्रामों के अधिकारी को नायक कहा जाता है। मनु (७।६१ एवं ८१), याज्ञ० (१।३२२), काम० (५।७५), विष्णुधर्मसूत्र (३।१६-२१) एवं विष्णुधर्मोत्तर (२।२४।४८-४९) का कथन है कि राजा को चाहिए कि वह चतुर, सच्चे एवं अच्छे कुल के लोगों को राज्य के विभागों के अध्यक्षों के रूप में नियुक्त करे। इस विषय में और देखिए कौटिल्य (२।९), विष्णुधर्मसूत्र (३।१६-२१), विष्णुधर्मोत्तर (२।२४।४८-४९), शान्ति० (११८।२९) आदि[९] जहाँ ऐसा आया है—"उन लोगों को जो अमात्य के गुणों से सम्पन्न हैं, विभिन्न विभागों के अध्यक्षों के रूप में नियुक्त करना चाहिए, उनके कार्यों की सदा परीक्षा होनी चाहिए, क्योंकि मनुष्य स्वभावतः चञ्चल होते हैं और नियुक्त हो जाने पर अश्वों की भाँति अपना चित्त-परिवर्तन प्रकट करते हैं। धर्मिष्ठ लोगों को धर्मकार्य या न्यायकार्य में नियुक्त करना चाहिए, शूरों को समरकर्म में, अर्थ-विद्या में निपुण लोगों को राजस्व कार्य में तथा विश्वासी लोगों को खानों, नदियों, पुरी-स्थानों, वाटों एवं हस्ति-वनों में नियुक्त करना चाहिए।

कौटिल्य ने अपने द्वितीय अधिकरण में २८ विभागों या कार्यों तथा उनके अध्यक्षों की चर्चा के विषय में सविस्तर लिखा है। बड़े ही सूक्ष्म रूप से उन्होंने जो विवेचन उपस्थित किया है वह एक ज्ञानकोश का द्योतक है। शासन के सम्बन्ध में कौटिल्य का ग्रन्थ प्रामाणिक माना जाने लगा था और बहुत-से शिलालेखों में 'अध्यक्षप्रचार' नामक अधिकरण में वर्णित बातों के आधार पर ही अधिकारियों की नियुक्तियों का उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ हम भौमकरदेव के नैलपाद दान-पत्र (एपि० इण्डि०, जिल्द १२, पृ० ४) एवं विजयसेन के बैरकपुर दान-पत्र (एपि० इण्डि०, जिल्द १५, पृ० २८३) में यह पाते हैं—"अध्यक्ष सकलप्रचारोपजीविनोऽध्यक्षप्रचारोक्तान् इहाकीर्तितान्

९. अमात्यसम्पदोपेताः सर्वाध्यक्षाः शक्तितः कर्मसु नियोज्याः। कर्मसु चैषां नित्यं परीक्षां कारयेच्चित्तानित्यत्वान्मनुष्याणाम्। अश्वसधर्माणो हि मनुष्या नियुक्ताः कर्मसु विकुर्वते। कौ० २।९। धर्मिष्ठान् धर्मकार्येषु शूरान् संग्रामकर्मसु। निपुणानर्थकृत्येषु सर्वेषु च तथा शुचीन्॥ विष्णुधर्मोत्तर २।२४।४८। याज्ञ० (१।३२२) की टीका मिताक्षरा में भी ऐसा ही पद्य उद्धृत है।

पट्टमटजातीयान् जनपदान् क्षेत्रकराश्च।" हम यहाँ प्रत्येक अध्यक्ष के क्षेत्र के विषय में स्थानाभाव के कारण संक्षिप्त संकेत करने के अतिरिक्त और कुछ विशेष नहीं कह सकेंगे। सन्निधाता (२।५) का कार्य था राज्यकोष के गृह के निर्माण, व्यापारिक वस्तुओं के भाण्डार-गृह के निर्माण, अन्न, जंगल की वस्तुओं, पशुओं एवं आवागमन के मार्ग का निरीक्षण करना। समाहर्ता का कार्य था (२।३५) सम्पूर्ण राज्य को चार जनपदों में बाँटना तथा ग्रामों को तीन श्रेणियों में व्यवस्थित करना, यथा—(१) ऐसे ग्राम जो करमुक्त थे, (२) वे जो सैनिक देते थे तथा (३) वे जो अन्न, पशु, धन, वन की वस्तुओं, बेगार आदि के रूप में कर देते थे। समाहर्ता की अध्यक्षता में गोप का कार्य था ५ या १० ग्रामों के दल का निरीक्षण करना। गोप जनसंख्या का ब्योरा रखता था और देखता था कि वर्णों में तथा ग्रामों में कौन कर-दाता है, और कौन करमुक्त है, उसे कृषकों, ग्वालों, व्यापारियों, शिल्पकारों, मजदूरों, दासों, द्विपद एवं चतुष्पद पशुओं, धन, बेगार, चुंगी तथा अर्थ-दण्ड से प्राप्त धन, स्त्रियों, पुरुषों, वृद्धों एवं जवानों की संख्या, उनकी विविध वृत्तियों, रूढ़ियों, व्यय आदि के ब्योरे की बही रखनी पड़ती थी। राज्य के चार जनपदों में से प्रत्येक में एक स्थानिक होता था, जो वैसा ही कार्य करता था। अक्षपटलाध्यक्ष को गणक-कार्यालय का निर्माण इस प्रकार करना पड़ता था कि उसका द्वार उत्तर या पूर्व में हो, उसमें कुछ कोठरियाँ गणकों या लिपिकों के लिए तथा कुछ आलमारियाँ ऐसी हों जिन पर बहियाँ आदि रखी जा सकें। इस अधिकारी का कार्य था 'हिसाब-किताब' रखना, जमानतों के रुपये की देखभाल करना, गबन न होने देना, असावधानी या छल-कपट किये जाने पर अर्थ-दण्ड की प्राप्ति करना। आषाढ़ की पूर्णिमा को आय-व्यय के हिसाब-किताब का वार्षिक दिन माना जाता था। वर्ष में ३६४ दिन माने जाते थे और अधिक मास का वेतन पृथक्-रूप में दिया जाता था। अक्षपटलाध्यक्ष के महत्त्वपूर्ण कार्यों में एक था धर्म, न्यायिक विधि, देशों की रूढ़ियों, ग्रामों, जातियों, दुर्भिक्षों एवं संघों की तालिका को पंजीकृत रूप में रखना (देशग्रामजातिकुलसंघातानां धर्म-व्यवहार-चरित-संस्थानां निबन्ध-पुस्तकस्थं कारयेत्)।

कौटिल्य (२।८) ने राजकर्मचारियों द्वारा किये जाने वाले ४० प्रकार के गबन का उल्लेख किया है, जिस की ओर संकेत दशकुमारचरित (८) में मिलता है। कौटिल्य (२।९) ने एक महत्त्वपूर्ण एवं विलक्षण बात यह लिखी है कि जिस प्रकार पानी में रहती हुई मछलियों के बारे में यह जानना कि वे पानी कब पीती हैं, बड़ा कठिन है, उसी प्रकार राज्य के विभिन्न विभागों में नियुक्त कर्मचारियों एवं अधिकारियों के घूस लेने के विषय में जानना बड़ा कठिन है। कोषाध्यक्ष (२।११) योग्य व्यक्तियों की उपस्थिति में हीरे, मोती, कम या अधिक मूल्य की सामग्रियाँ, जंगली वस्तुएँ, यथा चन्दन-अगुरु आदि कोष में रखता था। खनिज पदार्थों के अध्यक्ष को धातु, पारा, रसों तथा गुफाओं, छिद्रों एवं पर्वतों के नीचे से निकलने वाले रसों की विद्या में पारंगत होना पड़ता था। उसके अन्तर्गत लोहाध्यक्ष (जो ताम्र आदि धातुओं के बरतन-भाण्डों के निर्माण-कार्य में लगा रहता था), लक्षणाध्यक्ष (जो टकशाला अर्थात् टकसाल में सोने, चाँदी या ताम्र के सिक्के ढलवाता था), रूपदर्शक (जो सिक्कों की परीक्षा करता था), खन्यध्यक्ष (हीरे, मोती, शंख, सीपी आदि के व्यापारों का निरीक्षण करने वाला) तथा लवणाध्यक्ष (नमक का अध्यक्ष) रहते थे। सुवर्णाध्यक्ष को स्वर्णकार की कर्मशाला का निर्माण कराना पड़ता था जिसमें सोने-चाँदी की वस्तुएँ बनती थीं। इस कर्मशाला में द्वार एक ही होता था, कक्ष चार होते थे और विश्वासी एवं दक्ष स्वर्णकार की नियुक्ति की जाती थी जो सड़क के ऊपर मुख्य भाग में अपनी दुकान रखता था। कर्मशाला के कर्मचारियों के अतिरिक्त अन्य कोई उसमें प्रवेश नहीं कर सकता था। जो कोई अनधिकृत ढंग से प्रवेश करता था, उसका सिर काट लिया जाता था। राजकीय स्वर्णकार को नागरिकों एवं ग्रामीणों के लिए अपने शिल्पकारों द्वारा चाँदी के सिक्के बनवाने पड़ते थे। भाण्डाराध्यक्ष (२।१५) को राजा की भूमि के अन्न, लोगों से प्राप्त कर, आकस्मिक राजस्व, चावल, तेल आदि

जहाजी मार्गों का निरीक्षण करता था, मल्लाहो, व्यापारियो आदि पर कर लगाता था। इस अध्यक्ष को यह देखना पडता था कि नौका-मार्गो से शत्रुओ के जहाज या नौकाएँ तो नही आ-जा रही हैं। पशुओ के अध्यक्ष को गायो, बैलो, भैंसों आदि के पालन-पोषण आदि की चिन्ता करनी पडती थी। अश्वाध्यक्ष को घोडो की जाति, वय, रग आदि गुणो की पहचान रखनी होती थी। कौटिल्य ने कहा है कि कम्बोज, सिन्धु, आरट्ट (पश्चिमी पजाब, अब पाकिस्तान) तथा वनायु (पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त) नामक स्थानो के घोडे उत्तम माने जाते थे, वाह्लीक, पापेय, सौवीर (पूर्वी सिन्ध तथा पश्चिमी राजस्थान) एव तैतिला के घोडे मध्यम श्रेणी के तथा अन्य स्थानो के निकृष्ट श्रेणी के माने जते थे। हस्त्यध्यक्ष को उन जगलो की रक्षा करनी पडती थी जहाँ हाथी पाये जाते थे। उसे हाथियो को पकडने, प्रशिक्षण देने, खिलाने आदि का प्रबन्ध करना पडता था। रथो एव पदातियों के अध्यक्ष को रथ-विभाग एव पैदल सैनिको के विभाग का निरीक्षण करना पडता था। पदाति-सेना मे ६ श्रेणियाँ थी। मुद्राध्यक्ष को देशी एव परदेशी लोगो को मुद्रा (अनुज्ञापत्र) देने की व्यवस्था करनी पडती थी। चरागाहों के अध्यक्ष भी मुद्रा देखते थे। एक मापक देने पर मुद्रा मिलती थी, और जो बिना मुद्रा या पास के आता या जाता था तो उसे पकडे जाने पर १२ पण अर्थ-दण्ड देना पडता था। चरागाह के अध्यक्ष लोग चोरो एव शत्रुओ के आगमन की सूचना शख बजाकर, मनुष्य भेजकर या तोतो के पैरो मे सदेश आदि बाँधकर या आग-धुआँ करके देते थे। नागरक लोग राजधानी या बडे-बडे नगरो की व्यवस्था रखते थे। गोप (नागरक के अन्तर्गत) २० या ४० कुलो की व्यवस्था करता था और स्थानिक नगर के चार भागो मे किसी एक की रक्षा करता था (पूरे नगर को चार भागो मे बाँट दिया जाता था और प्रत्येक भाग मे एक स्थानिक होता था)। याज्ञ० (२।१७३) का स्थानपाल कौटिल्य का स्थानिक ही है। सम्भवत स्थानिक से ही आधुनिक शब्द थाना बना है। गोप एव स्थानिक पुरुषो एव नारियो की जाति, गोत्र, नाम, वृत्ति, आय-व्यय का ब्यौरा रखते थे। दातव्य सस्थाओ के व्यवस्थापक आदि नास्तिको, धर्म-विरोधियो एव यात्रियो की सूची भेजा करते थे। उपर्युक्त बातो के विषय मे देखिए मनु (७।१२१), शान्ति० (८७।१०), काममूत्र (५।५।७-१२)। गुप्त-काल के प्रान्तीय शासन के विषय मे देखिए एपि० इण्डि० (जिल्द १५, पृ० १२७-१२८)।

एक, दस या इससे अधिक ग्रामो वाले राजकर्मचारियो के वेतन के विषय मे मनु (७।११८-११९) का कहना है— "ग्राम के मुखिया को वे ही वस्तुएँ मिलनी चाहिए, जो प्रति दिन राजा को मिलती हैं, यथा—भोजन, पेय पदार्थ, इँधन आदि। दस ग्रामो के अधिकारी को एक कुल[7], बीस ग्रामो से अधिक वाले को पाँच कुल, एक सौ ग्रामो के अधिकारी को

७ 'प्रत्यहम्' (प्रति दिन) शब्द मे वह भूमि-कर, जो वर्ष मे एक बार या जो किसी विशिष्ट समय में लगाया जाता है, सम्मिलित नहीं है। इसी प्रकार 'भोजन, पेय पदार्थ, ईंधन आदि' मे पशु, धन आदि सम्मिलित नहीं हैं। 'कुल' शब्द यहाँ पर पारिभाषिक अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ हो सकता है 'इतनी भूमि जो एक कुल (कुटुम्ब) की जीविका चला सके।' किन्तु मनु के टीकाकारों ने एक दूसरा अर्थ भी किया है। सर्वज्ञ नारायण (मनु ७।११९) ने उद्धरण देकर समझाया है कि कुल का तात्पर्य है "दो हल"। उसने एव कुल्लूक ने हारीत को उद्धृत कर बताया है कि एक हल मे (धर्म के अनुसार) आठ बैल लगते हैं, ६ बैल वाले हल से वे खेती करते हैं जो केवल जीविका-निर्वाह चाहते हैं, गृहस्थ ४ बैल वाले हल रखते हैं, किन्तु वे जो लोभी हैं और गम्भीर पाप करना चाहते हैं एक हल मे केवल दो बैल जोतते हैं। अत कुल का अर्थ है इतनी भूमि, जो दो हलो द्वारा, चाहे उनमे ८ बैल लगे हों या ६ बैल या ४ बैल, जोती जाती है। हल मे ६ या ८ या १२ बैल लगते हैं—ऐसा अथर्ववेद (६।९१।१) एव तै० स० (५।२।५२) मे भी आया है। 'हल तु द्विगुण कुलमिति वचनाद् द्वाभ्या हलाभ्या या कृष्यते भूस्ता भुञ्जीतेत्यर्थ । हलमान च—अष्टागव धर्महल षड्गव

उपर्युक्त विवेचन से प्रकट होता है कि कौटिल्य के समय की बहुत-सी बातें आधुनिकतम प्रणाली का स्मरण दिलाती हैं। शासन-काय की जटिल व्यवस्था तथा उच्च या निम्न पदाधिकारी-गण आदि आधुनिक राज्य की विधियों के सूचक है।

स्वायत्त ग्राम-सस्थाएँ

स्थानीय शासन के विषय मे कुछ कहना आवश्यक है। 'ग्राम' शब्द ऋग्वेद (१।११४।१) मे भी आया है।[९] ऋग्वेद (५।५४।८) मे आया है—"ग्रामजिता यथा नर" अर्थात् 'जिस प्रकार ग्रामो को जीतने वाले नायक (या मनुष्य)"। और भी देखिए ऋग्वेद (१०।६२।११, १०।१०७।५)। तैत्तिरीय सहिता (२।५।४।४) मे आया है—"विद्वान् ब्राह्मण, ग्रामणी (ग्राम-प्रमुख या मुखिया) एव राजन्य (लडनेवाला) तीनो समृद्धिशाली हैं।" इसी प्रकार देखिए तै० ब्राह्मण (१।१।४।८), शतपथ ब्राह्मण (५।८।४।१९) आदि, जहाँ ग्राम से सम्बन्धित मुख्य व्यक्ति अर्थात् ग्रामणी का उल्लेख हुआ है। हमने यह भी देख लिया है कि ग्रामणी की गणना रत्नियो मे होती थी (देखिए गत अध्याय ४)। 'ग्राम' का अर्थ 'गाँव' ही नही था, सम्भवत वह नगर का भी द्योतक था। ग्राम का मुखिया 'ग्रामणी', 'ग्रामिक', 'ग्रामाधिपति' (मनु ७।११५।११६, कौटिल्य ३।१०), ग्रामकूट एव पट्टकिल (एपि० इण्डि०, जिल्द ७, पृ० ३९, १८३, १८८, जिल्द ११, पृ० ३०४, ३१०, इण्डिएन ऐण्टीक्वेरी, जिल्द ६, पृ० ५१, ५३, जिल्द १८, पृ० ३२२)। पूना जिले के एक अभिलेख (१३वी शताब्दी) से पता चलता है (एपि० इण्डि०, जिल्द ७, पृ० १८३) कि 'पट्टकिल' शब्द आगे चलकर 'पट्टेल' हो गया और बिगडते-बिगडते आज का पाटिल (पटेल) शब्द बन गया। इसी प्रकार 'ग्रामकूट' शब्द बिगडकर 'गावुण्ड' हो गया (एपि० इण्डि०, जिल्द ७, पृ० १८३)। पैठीनसि को उद्धृत कर अपरार्क (पृ० २३९) ने लिखा है कि ग्रामकूट का भोजन ब्राह्मण नही खा सकता था। गाथासप्तशती मे ग्रामणी तथा उसके पुत्र के प्रेम का वर्णन मिलता है (१।३०-३१, ७।२४)। और देखिए कामसूत्र (५।५।५)। शुक्र० (१।१९३) के अनुसार एक ग्राम विस्तार मे एक कोस तक होता था और उससे १००० (चाँदी के) कार्षापण कर के रूप मे प्राप्त होते थे। ग्राम का अर्ध भाग पल्ली तथा चौथाई भाग कुम्भ कहलाता था। हेमाद्रि (दानखण्ड, पृ० २८८) ने मार्कण्डेय-पुराण को उद्धृत कर पुर, खेट, खर्वट एव ग्राम की परिभाषाएँ दी है। याज्ञ० (२।१६७) ने चरागाह के विस्तार को ध्यान मे रखकर ग्राम, खर्वट एव नगर का अन्तर बताया है। बौधायनसूत्र (२।३।५८ एव ६०) मे आया है कि धार्मिक ब्राह्मण को नगर मे नही रहना चाहिए, क्योकि वहाँ शरीर पर धूल जम जाती है और मुख एव आँखो मे चली जाती है, उसे जल, इंधन, भूसा, समिधा, कुश, पुष्प से युक्त एव धनिक, परिश्रमी आर्यो वाले ग्राम मे रहना चाहिए। सभापर्व (५।८४) मे ग्राम के पाँच प्रकार के अधिकारियो का उल्लेख हुआ है।

उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि ग्राम का अधिकारी वैदिक काल का रत्नी था, आगे चलकर वह केवल ग्राम का प्रभावशाली व्यक्ति मात्र रह गया और कालान्तर मे राजा द्वारा नियुक्त होने लगा और

पादहीना भृतिं त्वार्ते दद्यात् त्रैमासिकीं तत । पञ्चवत्सरभृत्ये तु न्यूनाधिक्य यथा तथा॥ षाण्मासिकीं तु दीर्घार्ते तदूर्ध्वं न च कल्पयेत्। नैव पक्षार्धमार्तस्य हातव्याल्पापि वै भृति ॥ चत्वारिंशत् समा नीता सेवया येन वै नृप। तत सेवा विना तस्मै भृत्यर्धं कल्पयेत्सदा॥ स्वामिकार्ये विनष्टो यस्तत्पुत्रे तद्भृतिं वहेत्। यावद् बालोन्यथा पुत्रगुणान् दृष्ट्वा भृतिं वहेत्॥ शुक्रनीति० (२।४०६–४१०, ४१३)।

९ यथा शमसद् द्विपदे चतुष्पदे विश्व पुष्ट ग्रामे अस्मिन्ननातुरम्॥ ऋग्वेद (१।११४।१)।

को ग्रामवासी, श्रेणियाँ, गण आदि मानते रहे। बाधाकाल या आपत्तिकाल के समय के उदाहरण ये हैं—अकाल के समय मे, नक्षत्रो के शान्त्यर्थ यज्ञ करने के लिए समय बनना चाहिए, अर्थात् सब लोगो को कुछ-न-कुछ धन देना चाहिए, या जब लूट-पाट का डर हो तो प्रत्येक घर मे तगडे एव अस्त्र-शस्त्रधारी व्यक्ति मिलने चाहिए।" धर्मकार्य के विषय मे भी बृहस्पति ने उदाहरण दिये है—"ग्रामवासियो को यह लिखित कर लेना चाहिए कि उन्हें क्या-क्या करना है, यथा सभागृह का जीर्णोद्धार, यात्रियो के लिए पानी पिलाने का प्रबन्ध अर्थात् पौसरे का निर्माण, मन्दिर, तालाब, वाटिका का निर्माण, दरिद्रो एव असहायो के (उपनयन, अन्त्येष्टि क्रिया आदि) संस्कार की व्यवस्था, यज्ञ के लिए दान-भेट, अकालपीडित कुलो को आने से रोकना (आदि)। इस प्रकार की परम्पराओ की मर्यादा बँधनी चाहिए और ग्रामो को इनका आदर करना चाहिए। समर्थ होते हुए भी जो लोग ऐसा नही करते हो उनका धन छीनकर उन्हे (ग्राम से) निष्कासित कर देना चाहिए।" बृहस्पति का कहना है, कुलो, श्रेणियो, गणो के प्रमुखो (अध्यक्षो), पुरो एव दुर्गो के निवासियो को पापकर्मियो को दण्डित करने का अधिकार है, वे दोनो प्रकार के दण्ड (अर्थात् भर्त्सना करना एव निष्कासित करना) दे सकते है और उनके इस प्रकार के कार्य (यदि वे नियमानुकूल किये गये हो) राजा द्वारा अनुमोदित होने चाहिए, क्योकि उनका यह अधिकार ऋषियो द्वारा नियोजित है।" कौटिल्य (३।१०) का कहना है कि यदि किसी को ग्राम-मुखिया या ग्राम बिना किसी अपराध के (उसने चोरी या बलात्कार न किया हो तो भी) निकाल दे तो उन्हे २४ पण का दण्ड देना पडता है।

उपर्युक्त बातो से स्पष्ट होता है कि स्थानीय ग्राम-शासन चलता रहता था, केन्द्र मे चाहे जो भी शासन या शासक हो, उससे उस पर कोई प्रभाव नही पडता था, ग्राम का स्थानीय शासन स्वत सचालित था। कर, आक्रमण-रक्षा आदि बातो के अतिरिक्त केन्द्रीय शासन किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करता था, केवल एक सामान्य नियन्त्रण मात्र था। ग्राम-सस्थाएँ मानो छोटे-छोटे राज्य के रूप मे कार्य करती थी। केन्द्रीय सरकार ने अपने बहुत-से अधिकार ग्राम-सस्थाओ को दे दिये थे। बहुत-से 'माल-फौजदारी' के मुकदमे भी उनके अधिकार मे थे, जैसा कि हम आगे देखेंगे। अन्य बातो की जानकारी के लिए देखिए डा० आर० सी० मजुमदार कृत "कॉरपोरेट लाइफ इन ऐंश्येण्ट इण्डिया", अध्याय २, पृ० १३५ एव फिक (पृ० १६१)। जिस प्रकार पूरे ग्राम की एक सामान्य व्यवस्था थी, उसी प्रकार वहाँ की श्रेणियो एव गणो के कार्य-परिचालन के लिए बहुत-से नियम एव रूढियाँ थी। कौटिल्य (११।१) ने काम्भोज एव सुराष्ट्र के क्षत्रियो की श्रेणियो की ओर सकेत किया है और लिखा है कि क्षत्रिय कृषि-कर्म या आयुध द्वारा (लडने का व्यवसाय करके) अपनी जीविका चलाते थे (काम्भोजसुराष्ट्रक्षत्रियश्रेण्यादयो वार्ताशस्त्रोपजीविन)। कौटिल्य (३।१४) ने भृत्यो के सघ (सघभृता) की भी चर्चा की है। मनु (१।११८) ने गणो का उल्लेख किया है। और देखिए मनु (८।४१), याज्ञ० (२।१९२)। नारद (समयस्यानपाकर्म, २।६) एव बृहस्पति (वीरमित्रोदय, व्यवहार मे उद्धृत) ने श्रेणी, गण आदि के विषय मे व्यावहारिक चर्चाएँ की हैं।[12] नारद का कहना है कि पाषण्ड-सम्प्रदायो, नैगमो (वणिको), श्रेणियो तथा

११ कुलश्रेणिगणाध्यक्षा पुरदुर्गनिवासिन । वाग्धिग्दम परित्याग प्रकुर्यु पापकारिणाम्॥ तै कृत च स्वधर्मेण निग्रहानुग्रह नृणाम्। तद्राज्ञोप्यनुमन्तव्य निसृष्टार्था हि ते स्मृता ॥ बृहस्पति (अपरार्क पृ० ७९४, स्मृति० २, पृ० २२५, सरस्वतीविलास पृ० ३२९ द्वारा उद्धृत, उद्धरणो मे कहीं-कहीं हेर-फेर है)।

१२ पाषण्डिनैगमश्रेणीपूगव्रातगणादिषु। सरक्षेत्समय राजा दुर्गे जनपदे तथा॥ यो धर्म कर्म यच्चैषामुपस्थानविधिश्च य । यच्चैषा वृत्त्युपादानमनुमन्येत तत्तथा॥ नानुकूल च यद्राजा प्रकृत्यवमत च यत्। बाधक च यदर्थानां तत्तेभ्यो विनिवर्तयेत्॥ मिथ सघातकरणमहित शस्त्रधारणम्। परस्परोपघात च तेषां राजा न मर्षयेत्॥ पृथग्गणाश्च

अन्य ग्राम या नगर के दलों की परम्पराएँ एवं रूढ़ियाँ राजा द्वारा संरक्षित होनी चाहिए। राजा को चाहिए कि वह उनके विशेष नियमों (यथा—सत्य बोलना), विशिष्ट कार्यों (यथा—बिना स्नान किये प्रातःकाल भिक्षा माँगना), मिलने के ढंग (दुन्दुभि बजने पर) एवं जीविकावृत्ति को माने, अर्थात् उन्हें वैसा करने दे। किन्तु ऐसे नियम या रूढ़ियाँ जो स्वयं राजा के विरोध में जायें, सामान्य लोगों द्वारा अच्छी न कही जायें या राजा के उद्देश्य के लिए बाधक सिद्ध हों तो उन्हें मान्यता नहीं मिलनी चाहिए, अर्थात् राजा उन नियमों को बन्द कर सकता है। उनके आपसी विभेद तथा एक-दूसरे के विरोध में जाने वाले वर्गगत विचार, लड़ाई-झगड़े आदि रोक दिये जाने चाहिए। कई संघों में झगड़ा उत्पन्न करने वालों को दण्ड देना चाहिए, क्योंकि उनके इस प्रकार के परस्पर-विरोधी कार्यों से भयंकरता उत्पन्न होती है। संघों, श्रेणियों आदि के विषय में हमने भाग-२ के अध्याय २ में विस्तार से पढ़ लिया है। शिलालेखों में निम्न महत्त्वपूर्ण हैं—आभीर ईश्वरसेन के समय का नासिक अभिलेख सं. १५ (एपि. इण्डि., जिल्द ८, पृ. ८८, जहाँ कुम्हारों, तेलियों एवं पानी लाने वालों की श्रेणियों को निक्षिप्त धन मिलने की बात लिखी है); जुन्नार बौद्ध गुफाओं के अभिलेख (आर्क्यॉलॉजिकल सर्वे आव वेस्टर्न इण्डिया, जिल्द ४, पृ. ९७, जहाँ बाँस से काम करने वालों, ठठेरों अर्थात् पीतल के बरतन आदि बनाने वालों की श्रेणियों में धरोहर या निक्षिप्त धन रखने की बात उल्लिखित है); गुप्त-अभिलेख सं. १६, पृ. ७० (तेलियों की श्रेणी में, जिसका मुखिया जीवन्त था, धन रखने की बात की चर्चा है); गुप्त-अभिलेख सं. १८, पृ. ७९ (रेशम बुननेवाले लाट से दशपुर में आकर सूर्य-मन्दिर बनाते हैं); एपि. इण्डि., जिल्द १५, पृ. २६३; वही, जिल्द १८, पृ. ३२६ एवं पृ. ३; वही, जिल्द १६, पृ. ३३२; वही, जिल्द १, पृ. १५५ (ग्वालियर में, जिसका प्राचीन नाम था गोपगिरि, तेलियों एवं मालियों की श्रेणियाँ थीं); वही, जिल्द १, पृ. १८४। राइस डेविड्स ने अपने ग्रन्थ 'बुद्धिस्ट इण्डिया' (पृ. ९०-९६) में १८ श्रेणियों की एक सूची उपस्थित की है। श्रेणियों के विषय में विशिष्ट जानकारी के लिए देखिए डा. आर. सी. मजुमदार कृत 'कारपोरेट लाइफ इन ऐंश्येण्ट इण्डिया' (अध्याय १) तथा 'इण्डियन कल्चर' (जिल्द १, पृ. १९४, ४२१-४२८)।

बहुत-से ग्रन्थों में सामान्य नौकरों (यथा—परिचार, भृत्य या अनुजीवी) के गुणों के विषय में भी चर्चा हुई है, यथा—उन्हें किस प्रकार रहना चाहिए, राजा प्रसन्न है या रुष्ट है, यह कैसे जानना चाहिए आदि-आदि। इस विषय में देखिए कौटिल्य (५।४), विराटपर्व (४।१२-९, जहाँ कई स्थलों पर 'स राजवसतिं वसेत्' आया है), मत्स्य (२१६, जो सम्पूर्ण रूप में राजधर्मकाण्ड पृ. २४-२७ एवं राजनीतिप्रकाश पृ. १८०-१९२ में उद्धृत है), अग्नि (२२१), विष्णुधर्मोत्तर (२।२५।२-२८), कामन्दक (५।१-११, ५।१४-१९, ११।६३, जिसका बहुलांश राजनीतिरत्नाकर, पृ. ५१-५८ में उद्धृत है), शुक्रनीतिसार (२।५४-६८, ९५-२५१)। याज्ञ. (१।३११) में 'अक्षुद्रपरिषद्' (मिताक्षरा ने इसे 'अक्षुद्रोऽपरुष' पढ़ा है) आया है, जिसकी व्याख्या में विश्वरूप ने एक श्लोक उद्धृत किया है—"हमें गृध्रों (लोभी नौकरों) से घिरे हुए हंस (अच्छे राजा) की अपेक्षा हंसों (पवित्र चरित्र वाले नौकरों) से घिरे गृध्र (लोभी राजा) को श्रेयस्कर मानना चाहिए। राजनीतिप्रकाश (पृ. १०५) ने इसी पद्य को संकलित कि

ये भिन्द्युस्ते विनेयाः स्युर्विशेषतः। आपद्येयुर्महाघोरं व्याधिवत्ते ह्युपेक्षिताः॥ नारद (समयस्यानपाकर्म २-६)। अमरावती के शिलालेखों (एपि. इण्डि., जिल्द १५, पृ. २६३) में "धम्मकतकस निगमस" शब्द आये हैं। इस स्थान के विषय में चर्चा हुई है (एपि. इण्डि., जिल्द ३, पृ. ९)। अमरकोश के अनुसार 'नैगम' एवं 'वणिज' समानार्थक हैं। अमर (२।९।७९) की टीका में क्षीरस्वामी का कथन है—'सार्थवाहवणिङ्मुख्यो नैगमः'। अमरार्थ (पृ. ७९६) में व्याख्या की है—"तत्र देशान्तरवाणिज्यार्थं ये नानाजातीया अविभक्तधनास्ते नैगमाः।

उद्धृत किया है और अपनी ओर से यह जोड़ा है—"राजा जिनसे घिरा रहता है, उन्हीं के गुणों की उत्पत्ति होती है और इन्हीं लोगों से एक दिन राजा का नाश हो जाता है। अतः राजा को नौकरों को रखने से पूर्व उनके शील, चरित्र एवं अच्छे कुल के विषय में निश्चय कर लेना चाहिए।" शुक्र (२।२८६-२८७) ने नौकरों की विश्वासपात्रता के विषय में निम्न महत्त्वपूर्ण बात कही है—"आपत्ति में पड़े हुए अपने अच्छे स्वामी को नहीं छोड़ देना चाहिए। एक बार भी सम्मान से जिसका नमक (अर्थात् भोजन) खा लिया, सदा उसके कल्याण के लिए सतत और (आवश्यकता पड़ने पर) शीघ्र चिन्ता नहीं करनी चाहिए ?"[14] इस प्रकार का भाव सामान्यतः राजभृत्यों में विद्यमान था, यहाँ तक कि विदेशी एवं दूसरे धर्म के अनुयायी राजाओं के लिए भी भारतीय भृत्यों के मन में यही भावना विराजमान थी। नौकरों के चुनाव के विषय में राजनीतिप्रकाश (पृ० १७६) ने निम्न चार प्रधान बातों पर बल दिया है—"(१) शिक्षा, (२) शील (चरित्र), (३) कुल एवं (४) कर्म। जिस प्रकार सोने की परीक्षा चार प्रकार से की जाती है, यथा (१) तौलकर, (२) कसौटी पर रगड़कर, (३) काटकर एवं (४) गर्म करके, उसी प्रकार उपर्युक्त बातों से भृत्यों को परीक्षित किया जाना चाहिए।

हमने गत चौथे अध्याय में यह देख लिया है कि घूस लेने वाले राज्य-कर्मचारियों की परीक्षा करने के लिए गुप्तचर नियुक्त थे। याज्ञ० (१।३३६, ३३८, ३३९) ने व्यवस्था दी है कि राजा को कायस्थों से एवं दुष्टों से प्रजा की रक्षा करनी चाहिए, गुप्तचरों द्वारा राज्य-कर्मचारियों के कार्यों की जाँच करानी चाहिए, जो लोग अच्छे आचरणयुक्त पाये जायँ उनको सम्मानित करना चाहिए, जो लोग असदाचरणशील पाये जायँ उनको दण्डित करना चाहिए तथा जो लोग घूस लेते हों उन्हें देश-निष्कासित कर देना चाहिए। इस विषय में और देखिए मनु (७।१२२-१२४), विष्णुधर्मोत्तर, पञ्चतन्त्र (१।३४३) एवं मेधातिथि (मनु ९।२९४)। मेधातिथि ने व्याख्या की है कि उस राज्य का नाश का भय नहीं है जहाँ से कण्टक (दुष्ट लोग) निकाल बाहर किये जाते हैं और न्याय की दृष्टि में सब समान समझे जाते हैं। मेधातिथि ने यह भी लिखा है कि अधिकतर कण्टकों को रानी, राजकुमार, राजा के प्रिय पात्रों एवं सेनापति के यहाँ प्रश्रय मिलता है (मनु ९।२९४)।

पशु-पालन और कृषि

अब हम प्रजा या जनता के प्रति राजा के उत्तरदायित्वों का वर्णन करेंगे। कौटिल्य (२।२९ एवं २।३४) से पता चलता है कि पशु-पालन के लिए प्रयत्न किये जाते थे तथा चरागाहों के प्रबन्ध एवं सुरक्षा के लिए राज्य की ओर

१३ तथा च शङ्खः। न हंसो गृध्रपरिवारः काम तु गृध्रो हंसपरिवारः स्यात्। विश्वरूप (याज्ञ० १।३०५), शङ्खलिखितौ। न गृध्नुपरिवारः स्यात्काम गृध्रो राजा श्रेयान्न हंसपरिवारो न हंसो गृध्नुपरिवारः। परिवाराद्धि दोषा प्रादुर्भवन्ति तेऽन्त्र विनाशाय। तस्मात्पूर्वमेव तत्परिवार लिखेच्छ्रुतशीलान्वयोपपन्नम्। राजनीतिप्र० पृ० १८५। यह उद्धरण अशुद्ध-सा लगता है। सम्भवतः हमें 'हंसपरिवार' के पूर्व जो 'न' आया है उसे छोड़ देना चाहिए। वसिष्ठ (१६।२१–२६, फुहरर्स की प्रति, १९१६) में भी ऐसा ही पाठ आया है, किन्तु वह अशुद्ध है। देखिए राजधर्मकाण्ड, पृ० २२, जहाँ यह वाक्य शङ्खलिखित का कहा गया है। इसी अर्थ में पञ्चतन्त्र ने भी कहा है (१।३०२)—'गृध्राकारोऽपि सेव्यः स्याद्धंसाकारः सभासदैः। हंसाकारोऽपि सत्याज्यो गृध्राकारैः स तैर्नृप ॥'

१४ आपद्गत सुभर्तारं कदापि न परित्यजेत्। एकवारमप्यशितं यस्यान्नं ह्यादरेण च। तदिष्टं चिन्तयेन्नित्य पालकस्याञ्जसा न किम्॥ शुक्रनीतिसार (२।२४६–२४७)।

थे, उदार नियम बने हुए थे। मनु (८।२३७), याज्ञ० (२।१६७) तथा मत्स्य० (२२७।२४) में भी गाँवों, बड़ी बस्तियों एवं नगरों के चतुर्दिक चरागाह बनाने की व्यवस्था दी है। कौटिल्य ने पशुओं के अध्यक्ष पर पशुओं को श्रेणियों में विभाजित करने (यथा—बछड़े, बूढ़ा, साँड़, पालतू, हल वाले बैल, गाड़ी वाले बैल, मांस वाले पशु, गर्भिणी गायें, दुधारू गायें आदि) का भार सौंपा था। अध्यक्ष को उन पशुओं पर चिह्न लगाने तथा उनको बही में लिख लेने की आज्ञा थी। जो लोग अनधिकृत ढंग से पशुओं को मार डालते थे या चोरी करते थे उन्हें शरीर-दण्ड देने की व्यवस्था दी गयी थी। कौटिल्य ने इस विषय में भी व्यवस्था दी है कि पशुओं को कितना भूसा, कितनी खली या कितना नमक दिया जाय और उनसे कितना काम लिया जाय। महाभारत (वनपर्व २३९।४) से पता चलता है कि राज्य के पशुओं की गणना एवं प्रबन्ध में राजकुमारों को भी कार्यशील होना पड़ता था। और देखिए वनपर्व (२४०।४-५)। महाभाष्य (२।१।४।१) ने भी पशु-धन एवं धन-धान्य पर देश के धन को आधारित माना है।

कृषि पर विशेष ध्यान दिया जाता था। सभापर्व (५।७७) में राजा से कहा गया है कि वह राज्य के विभिन्न भागों में सम्पूर्ण तड़ाग बनवाये और यह देखे कि कृषि केवल वर्षा-जल पर ही निर्भर न रहे। मेगस्थनीज (मैक्रिण्डिल, १ पृ० १) का कहना है कि उसके समय में भारत में सिंचाई का प्रबन्ध था और वर्ष में दो फसलें होती थीं। यही बात तै० सं० (५।१।७।३) में भी आयी है (तस्माद् द्विः संवत्सरस्य सस्यं पच्यते)। वाज० सं० (१८।१२) में १२ प्रकार के अनाजों की सूची दी है—चावल, जव (जौ), गेहूँ, माष, तिल, मुद्ग, मसूर आदि और बृहदारण्यकोपनिषद् (६।३।१३) ने दस प्रकार के अन्नों (ग्राम्याणि धान्यानि) का उल्लेख किया है। खारवेल राजा के हाथीगुम्फा अभिलेख से पता चलता है कि वह नहर जो नन्द राजाओं के १०३वें वर्ष (ईसा पूर्व चौथी शताब्दी) में बनी थी (खारवेल के) पाँचवें वर्ष में विस्तारित हुई (एपि० इण्डि०, जिल्द २०, पृ० ७१)। रुद्रदामन् ने बिना बेगार लगाये राज्यकोश से जूनागढ़ के पास सुदर्शन झील का जीर्णोद्धार कराया था (एपि० इण्डि०, जिल्द ८, पृ० ३६)। इस सुदर्शन झील का निर्माण चन्द्रगुप्त मौर्य एवं अशोक के प्रान्त-पतियों ने किया था और वह कालान्तर में बाढ़ के कारण टूट-फूट गयी थी। वैदिक काल से ही सिंचाई की व्यवस्था होती रही है। ऋग्वेद (७।४९।२) ने नदियों, झरनों के अतिरिक्त खुदी हुई जल-प्रणालियों (नहरों) की भी चर्चा की है। दक्षिण भारत के शिलालेखों से पता चलता है कि पल्लव राजाओं एवं अन्य कुलों के राजाओं ने बहुत-से तड़ाग खुदवाये जिन पर उनके अथवा स्थान-विशेष के व्यक्तियों के नाम लिखे हुए थे। इनमें से बहुत-से तड़ाग आज भी विद्यमान हैं (देखिए साउथ इण्डियन इंस्क्रिप्शंस, जिल्द २, भाग-३, पृ० ३५१; एपि० इण्डि०, जिल्द ४, पृ० १५२; साउथ इण्डियन इंस्क्रिप्शंस, जिल्द १, पृ० १५; एपि० इण्डि०, जिल्द ८, पृ० १४५)। कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा (८११-८५८) के अभियन्ता (इंजीनियर) सुय्य ने वितस्ता नदी को इस भाँति बाँधा कि जो चावल की खारी पहले २०० दीनारों में मिलती थी वह सिंचाई की सुन्दर व्यवस्था के कारण ३६ दीनारों में मिलने लगी (राजतरंगिणी ५।८४-११७)। कौटिल्य (२।२४) ने जल की सहायता से अन्न बढ़ाने की कई विधियाँ दर्शायी हैं और उनसे प्राप्त कर की मात्राएँ भी बतायी हैं, यथा—शारीरिक परिश्रम वाले श्रम का कर उपज का $\frac{1}{5}$ भाग, कंधे से जल ढोकर सिंचाई करने से उत्पन्न अन्न का कर उपज का $\frac{1}{4}$ भाग, स्वाभाविक जल-प्रपातों से जल-यन्त्र द्वारा सिंचाई करने से कर उपज का $\frac{1}{3}$ भाग और नदियों, झीलों, तालाबों एवं कूपों की सिंचाई से उपज का $\frac{1}{4}$ भाग लिया जाता था। कौटिल्य ने ईख की खेती को कठिन माना है, क्योंकि उसकी प्राप्ति में व्यय अधिक होता है और आपत्तियाँ भी कम नहीं होतीं। अथर्ववेद (१।३४।५) के काल में भी ईख की खेती होती थी। शुक्रनीतिसार (४।४।१) के मत से जल की समुचित व्यवस्था करना राजा का परम कर्तव्य था, यथा—कूप, बावलियाँ, बड़े जलाशय, तालाब, झीलें आदि खुदवाना। उसके कर्तव्यों एवं उनकी पूर्ति की ओर मेगस्थनीज की इण्डिका भी संकेत करती है। मेगस्थनीज (मैक्रिण्डिल, ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० ८६) का कहना है कि कुछ (राज्यकर्मचारी) कोष नदियों

का निरीक्षण करते थे, भूमि की माप (पैमाइश) कराते थे, जैसा कि मिस्र (ईजिप्ट) मे होता था, और कुछ लोग प्रमुख नहर से अन्य छोटी-छोटी नहरें निकलवा कर जल देने की व्यवस्था करते थे जिससे सबको यथोचित जल मिल जाय।

कौटिल्य ने राष्ट्रीय विपत्तियो से, यथा—अग्निकाण्ड, बाढ, रोग, दुर्भिक्ष, चूहे, जगली हाथियो (या पशुओं), साँपो एव भूत-प्रेतो से राज्य की रक्षा किस प्रकार की जाय, इस पर एक विशिष्ट अध्याय ही लिखा है। इन विपत्तियो से बचने के लिए मानवीय एव धार्मिक क्रियाओ एव कृत्यो के विषय मे उन्होंने व्यावहारिक निर्देश भी दिये हैं। दुर्भिक्ष के समय राजा को बीज एव भोजन देने की व्यवस्था करनी चाहिए, विपत्ति मे फँसे लोगो की सहायता के लिए कुछ निर्माण कार्य आरम्भ कर देना चाहिए, राज-भाण्डार या धनिक लोगो के भाण्डार या मित्र राष्ट्रो के भाण्डार से अन्न लेकर बँटवाना चाहिए, धनिको पर इतना कर लगाना चाहिए कि वे प्रचुर मात्रा मे धन दे सकें या ऐसे देश को चल देना चाहिए, जहाँ प्रचुर मात्रा मे अन्न हो। राष्ट्रीय विपत्तियाँ 'ईति' के नाम से पुकारी गयी हैं और उनके छ प्रकार है, यथा—अतिवृष्टि, अनावृष्टि, मूषक (चूहे), टिड्डी-दल (शलभ), तोते तथा परदेशी राजाओ का बहुत पास मे होना।[15] और भी देखिए कामन्दक (१३।२०, १३।६३-६४)। प्राचीन एव मध्य काल के दुर्भिक्षो के विषय मे बहुत-से सकेत प्राप्त हुए हैं। छान्दोग्योपनिषद् (१।१०।१-३) मे आया है कि जब देश पर उपलवृष्टि (या टिड्डियो का आक्रमण हुआ) तो उषस्ति चाक्रायण को उच्छिष्ट भोजन करना पडा। रोमपाद के शासन-काल मे अग देश दुर्भिक्ष से आक्रान्त हो गया था (बालकाण्ड, अध्याय ९)। निरुक्त (२।१०) से पता चलता है कि राजा शन्तनु के समय मे १२ वर्षों तक दुर्भिक्ष पडा था। महास्थान (प्राचीन पुण्ड्र नगर) मे प्राप्त मौर्य-अभिलेख से पता चलता है कि दुर्भिक्षपीडित लोगो मे 'गण्डक' नामक सिक्के एव अन्न बाँटे गये थे (जे० ए० एस० बी०, १९३२, पृ० १२३)। और देखिए इस विषय मे 'एनल्स आव बी० ओ० आर० इन्स्टीच्यूट', जिल्द ११, पृ० ३२, एपि० इण्डि०, जिल्द २२, पृ० १ एव जे० ए० एस० बी०, जिल्द ७ (१९४१), भाग २, पृ० २०३। राजतरगिणी मे कई बार दुर्भिक्षो की चर्चा हुई है (२।१७-५४, ५।२७०-२७८, ७।१२१९)। मणिमेखलै (अध्याय २८) ने दक्षिण भारत की काञ्चीपुरी मे बारह वर्षों के दुर्भिक्ष का वर्णन किया है। सन् १३९६ ई० मे दक्षिण भारत १२ वर्षों के उस भयकर अकाल से ग्रस्त था जिसे 'दुर्गादेवी' की सज्ञा दी गयी है (देखिए ग्रैण्ट डफ का ग्रन्थ 'हिस्ट्री आव दी मरहठास्', जिल्द १, पृ० ४३)। और देखिए एपि० इण्डि०, जिल्द १५, पृ० १२।

हमने इस ग्रन्थ के भाग २ (अध्याय ३, ७ एव २५) मे देख लिया है कि विद्वान् ब्राह्मणो की सहायता करना, कवियो एव ज्ञानवान् लोगो की गोष्ठियाँ करना, शिक्षण-सस्थाओ को भूमि-दान देना तथा विद्या की उन्नति के लिए सभी प्रकार के प्रयत्नो मे लगा रहना राजा का कर्तव्य था। वृद्ध-हारीत (७।२२९-२३०) का कहना है कि राजा को चाहिए कि वह केवल तप मे लीन विद्वान् ब्राह्मणो को ही अपने दानो का उचित पात्र समझे। कुछ ऐसे राजा भी हो गये हैं जो दान देने मे सीमा का अतिक्रमण कर देते थे। युवान-च्वाग ने पुष्यभूति हर्षवर्धन के दया-दाक्षिण्य का वर्णन किया

१५ अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषका शलभा शुका। अत्यासन्नाश्च राजान षडेता ईतय स्मृता॥ क्षीरस्वामी (अमरकोश की टीका मे) एव राजनीतिप्रकाश (पृ० ४४७), मिलाइए 'ईतयो न सन्ति मे।' उद्योगपर्व (६१।१७), हुताशनो जल व्याधिर्दुर्भिक्ष मरकास्तथा। इति पञ्चविध दैव व्यसन मानुष परम्॥ काम० १३।२० = बुधभूषण (पृ० ६०, श्लोक ३२९), अतिवृष्टि शुका। असत्करश्च दण्डश्च परचक्राणि तस्करा॥ राजानीकप्रियोत्सर्गो मरकव्याधिपीडनम्। पशूना मरण रोगो राष्ट्रव्यसनमुच्यते॥ काम० १३।६३–६४ = बुधभूषण (पृ० ५९, श्लो० ३२२–३२३।)

है। प्रति पाँचवें वर्ष राजा हर्ष प्रयाग में जाकर अपना सर्वस्व दान कर देता था (देखिए बील का ग्रन्थ "बुद्धिस्ट रेकर्ड्स आदि", जिल्द १, पृ० २१४-२१५)। शुक्रनीतिसार (१।३६८-३६९) में आया है कि राजा को विद्वान् व्यक्तियों की टोह (खोज) में रहना चाहिए, उनकी शिक्षा के अनुसार उन्हें अधिकारी के रूप में नियुक्त करना चाहिए, उन्हें, जो कला एवं विद्या में बहुत आगे बढ़ गये हों, प्रति वर्ष सम्मानित करना चाहिए और विविध कलाओं तथा विद्याओं के उत्कर्ष के लिए समुचित व्यवस्था करनी चाहिए। पाठकों को यह जानना चाहिए कि प्राचीन काल के राजा लोग इन वचनों का अक्षरशः पालन करते थे।

पश्चिमी देशों की भाँति भारत में भी राजा अवयस्क लोगों का रक्षक एवं अभिभावक माना जाता था। गौतम (१०।४८-४९) एवं मनु (८।२७) का कथन है कि जब तक लड़का वयस्क न हो जाय या गुरुकुल से लौटकर न आ जाय तब तक राजा को उसकी सम्पत्ति की रक्षा करनी चाहिए।[16] यही बात अपने ढंग से बौधायनधर्मसूत्र (२।२।४३), वसिष्ठ (१६।८-९), विष्णुधर्मसूत्र (३।६५), शंख-लिखित आदि ने भी कही है। नारद (ऋणादान ३५) ने घोषित किया है कि १६ वर्षों तक अवयस्कता रहती है। मनु (८।२८-२९), विष्णुधर्मसूत्र (३।६५) का कहना है कि राजा को बन्ध्या स्त्रियों, पुत्रहीन स्त्रियों, कुलहीन स्त्रियों एवं रोगियों की सुरक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए। नारद का कहना है कि किसी स्त्री के पति या पिता के कुल में कोई न हो तो राजा को चाहिए कि वह उसकी सुरक्षा का प्रबन्ध करे। कौटिल्य (२।१) के मत से ग्राम के वृद्धजनों का यह कर्तव्य है कि वे बालकों (अवयस्कों) एवं मन्दिरों के धन की वृद्धि का प्रबन्ध करें।[17]

राजा का एक विशिष्ट कार्य था यह देखना कि उचित माप के नाप-तौल के बटखरे आदि प्रयोग में लाये जाते हैं या नहीं। कौटिल्य (२।१९) ने नाप-तौल के बटखरों आदि के अध्यक्ष की चर्चा की है। वसिष्ठ (१९।१३) एवं मनु (८।४०३) का कहना है कि नाप-तौल के यन्त्रों एवं बटखरों पर मुहरें लगनी चाहिए, प्रति छमाही पर उनकी पुनः जाँच होनी चाहिए, जिससे कि गृहस्थों को लोग धोखा न दे सकें। याज्ञ० (२।२४०) एवं विष्णुधर्मसूत्र (५।१२२) ने उनके लिए कठिनातिकठिन दण्ड की व्यवस्था की है जो नाप-तौल के बटखरों, सिक्कों आदि में गड़बड़ी करते हैं या उन्हें अनधिकृत ढंग से बनाते हैं। इस विषय में देखिए नीतिवाक्यामृत (पृ० ९८) एवं अल्बरूनी (सचौ द्वारा अनूदित) की पुस्तक (जिल्द १, अध्याय १६, जहाँ ११वीं शताब्दी के बटखरों की चर्चा की गयी है)।

राजा का एक अन्य उत्तरदायित्व था चोरी न होने देना। केकय के राजा अश्वपति को इस बात का अभिमान था कि उसके राज्य में न तो कोई चोर था न कोई कृपण व्यक्ति था और न कोई शराबी (छान्दोग्योपनिषद् ५।११।५)। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।१०।२६।६-८) का कथन है कि राजकर्मचारियों को चोरों से नगर की रक्षा एक योजन तक

१६. रक्षेद् बालधनमाव्यवहारप्रापणात्। समावृत्तेर्वा। गौ० (१०।४८-४९)। रक्षेद्राजा बालानां धनमप्राप्तव्यवहाराणां श्रोत्रियवीरपत्नीनाम्। शंखलिखित विवादरत्नाकर पृ० ५९८ में उद्धृत; बालधनं राजा स्वधनवत्परिपालयेत्। अन्यथा पितृव्यादिबान्धवा अपि रक्षणीयं भवेद रक्षणीयमिति विवदेरन्। मेधातिथि (मनु ८।२७)। मेधातिथि ने मनु (८।२८) की व्याख्या में कहा है— न केवलमनाथस्तस्य सर्वस्वमपि राजा यत्नात् परिरक्षेत्। तथा चौराद्युपद्रवमात्र बलादयः।

१७. विनियोगात्मरक्षासु भरणे च स ईश्वरः। परिक्षीणे पतिकुले निर्मनुष्ये निराश्रये॥ तत्सपिण्डेषु वासत्सु पितृपक्षः प्रभुः स्त्रियाः। पक्षद्वयावसाने तु राजा भर्ता प्रभुः स्त्रियाः॥ मेधातिथि द्वारा मनु (५।१।२८) की व्याख्या में उद्धृत। बालद्रव्यं ग्रामवृद्धा वर्धयेयुराव्यवहारप्रापणात्। देवद्रव्यं च। कौटिल्य (२।१)।

तथा ग्रामों की एक कोस तक करनी चाहिए और उस सीमा के भीतर जो कुछ भी चोरी जायगा उन्हें (राजकर्मचारियों को) ही देना पड़ेगा। गौतम (१०।४६-४७), मनु (८।४०), याज्ञ० (२।३६), विष्णुधर्मसूत्र (३।६६-६७), शान्ति० (७५।१०) का कहना है कि राजा को चोरों से चोरी का माल लेकर उसके वास्तविक स्वामी को बिना जाति का विभेद किये, दिला देना चाहिए, यदि वह ऐसा न कर सके तो उसे राजकोष से उसकी पूर्ति कर देनी चाहिए, यदि प्राप्त किया हुआ धन वह स्वयं रख ले, या चोरों को पकड़ने का भरपूर प्रयत्न न करे या अपने कोष से चोरी के माल की पूर्ति न करे तो उसे पाप लगेगा। यही बात दूसरे ढंग से कौटिल्य (३।१६) ने भी कही है। और देखिए विश्वरूप (याज्ञ० २।३८) द्वारा बृहस्पतिस्मृति का उद्धरण। विष्णुधर्मोत्तर (२।६१-६२) का कहना है कि यदि कोई अपने नौकरों द्वारा लूट लिया जाय तो राजा को चोरी का माल प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए (मार-पीट कर या धमकी देकर), किन्तु अपने कोष से क्षतिपूर्ति नहीं करनी चाहिए। याज्ञ० (२।२७०-२७२), नारद (परिशिष्ट १६-२१) एवं कात्यायन ने कुछ और बातें कही हैं—चोर द्वारा सारी सम्पत्ति या उसका मूल्य दिला देना चाहिए, यदि चोर न पकड़ा जा सके तो राजकर्मचारी एवं परिरक्षक को चोरी के सामान का मूल्य चुकाना चाहिए, यदि चोर के पद-चिह्नों का पता न चल सके तो ग्रामाध्यक्ष को चोरी का सामान देना चाहिए, यदि चोरी चरागाह या जंगल में हो (और चोर का पता न चल सके) तो स्वयं राजा को ही धन देना चाहिए, यदि चोरी जंगल में न हो प्रत्युत मार्ग में (सड़क पर) हो तो चोरों का पता चलाने के लिए नियुक्त राजकर्मचारियों को क्षतिपूर्ति करनी चाहिए, यदि चोरी ग्राम में हो तो सबको मिलकर क्षतिपूर्ति करनी चाहिए, यदि ग्राम से हटकर एक कोस की दूरी पर चोरी हो तो चारों ओर के पाँच या दस ग्रामों को मिलकर क्षतिपूर्ति करनी चाहिए। याज्ञ० (२।२७१) एवं कात्यायन ने चोरों को पकड़ने वाले अधिकारी को 'चौरोद्धर्ता' (चोरोद्धर्ता) कहा है। बहुत-से शिलालेखों में 'चौरोद्धरणिक' अधिकारी का नाम आया है (एपि० इण्डि०, जिल्द ११, पृ० ८३)। नारायण पाल के शिलालेख में 'चौरोद्धरणिक' एवं 'कोट्टपाल' (आधुनिक कोतवाल) शब्द आया है (इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, जिल्द १५, पृ० ३०४)। कौटिल्य (४।१३) ने भी इसी प्रकार के नियम दिये हैं और 'चोररज्जुक' अधिकारी का नाम लिया है जिसे दो गाँवों में हुई चोरी तथा चरागाह के अतिरिक्त अन्य भूमिखण्ड में हुई चोरी की क्षतिपूर्ति करनी पड़ती थी।

याज्ञ० (१।३०९) एवं कौटिल्य (६।१) के मत से राजा का प्रथम गुण है 'महोत्साह' जो 'आभिगामिक' नामक गुणों में गिना जाता है। धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र से सम्बन्धित सभी ग्रन्थों ने इस बात पर अधिक बल दिया है कि राजा को सतत कार्यशील रहना चाहिए, उसे किसी भी दशा में प्रमादी एवं भाग्यवादी नहीं होना चाहिए। महाभारत में[18]

१८ (१) दैवं प्रज्ञाविशेषेण को निवर्तितुमर्हति। विधातृविहितं मार्गं न कश्चिदतिवर्तते॥ आदि० (१।२४६-२४७), दैवं पुरुषकारेण को निवर्तितुमुत्सहेत्। उद्योग० (१८६।१८), दैवमेव परं मन्ये पौरुषं तु निरर्थकम्। सभा० (४७।३६), दैवं पुरुषकारेण को वञ्चयितुमर्हति। दैवमेव परं मन्ये पुरुषार्थो निरर्थकः॥ वन० (१७९।२७, यह बात अजगर द्वारा पकड़ लिये जाने पर भीम ने कही है), न हि दिष्टमतिक्रान्तुं शक्यं भूतेन केनचित्। दिष्टमेव ध्रुवं मन्ये पौरुषं तु निरर्थकम्॥ उद्योग० (४०।३२), (२) दैवे पुरुषकारे च लोकोयं सम्प्रतिष्ठितः। आदि० (१२३।२१), जयस्य हेतुं सिद्धिर्हि कर्म दैवं च संश्रितम्। सभा० १६।१२, दैवे च मानुषे चैव संयुक्तं लोककारणम्। उद्योग० (७९।५), न ह्युत्थानमृते दैवं राज्ञामर्थं प्रसाधयेत्। साधारणं द्वयं ह्येतद् दैवमुत्थानमेव च॥ शान्ति० ५६।१४, न हि दैवेन सिध्यन्ति कार्याण्येकेन सत्तम। न चापि कर्मणैकेन द्वाभ्यां सिद्धिस्तु योगतः॥ सौप्तिक० २।३, (३) यत्नो हि सततं कार्यस्ततो दैवेन सिध्यति। शान्ति० (१५३।५०), तत्रालसा मनुष्याणां ये भवन्त्यमनस्विनः। उत्थानं ते विगर्हन्ति प्राज्ञानां

मानवीय प्रयत्न एवं दैव (भाग्य या नियति) पर कई स्थलों में चर्चाएँ हुई हैं। आदि (१।२४६ २४७ ८९।७-१) सभा (४९ १६, ४७।११ ५८।१४) वन (१७९।२७-२८) उद्योग (८।५२, ४ ।१२ १५९।८ १८१।१) आश्रमवासिक (१ ।२९) में दैव पर अधिक बल दिया गया है। किन्तु मध्यम मार्ग का निर्देश आदि (१२३।२१) सभा (१६।१३) उद्योग (७९।५ ६) शान्ति (५६।१४ १५) सौप्तिक (२।१) में आया है और कहा गया है कि सांसारिक कार्यों में पुरुषकार (प्रयत्न) एवं दैव दोनों की आवश्यकता है। कहीं-कहीं प्रयत्न पर अधिक बल दिया गया है और कहा गया है कि व्यक्ति को प्रयत्न करते जाना चाहिए और भाग्य के भरोसे नहीं बैठ रहना चाहिए (द्रोण १५२।२७ शान्ति २७।३२, ५८।१३-१६ १५३।५ अनुशासन ६।१ सौप्तिक २।१२ १३ एवं २१ २४)। शान्ति (५८।१३ १५) के अनुसार उत्साहपूर्ण कर्म ही राजधर्म का मूल है। इसी उत्साहपूर्ण कर्म अर्थात् उत्थान से देवों को अमृत की प्राप्ति हुई, असुरों का हनन हुआ एवं इन्द्र को श्रेष्ठ पद मिला। देखिए भगवद्गीता (१८।१३ १६) भी। कौटिल्य (१।१९) का कहना है— 'धन के मूल में उत्थान है उत्थान के विरोधी भाव से बुराई उत्पन्न होती है। उत्थान के अभाव में वर्तमान एवं भविष्य की प्राप्ति का नाश निश्चित है उत्थान के द्वारा राजा मनोवाञ्छित वस्तु एवं प्रचुर धन की प्राप्ति कर सकता है। याज्ञ (१।३४९ एवं ३५१) का कथन है कि किसी योजना की सफलता दैव (भाग्य) एवं मानवीय प्रयत्न दोनों पर निर्भर है किन्तु भाग्य कुछ नहीं है वह तो मानव के गत जीवनों के कर्मों का प्रतिफल है और (आज इस जीवन में) प्रभाव के रूप में अभिव्यक्त हो रहा है जिस प्रकार एक पहिया से रथ नहीं चलता उसी प्रकार बिना मानवीय प्रयत्न या कर्म के भाग्य से कुछ सम्भव नहीं है। इस विषय में देखिए मनु (७।२ ५) मत्स्य (२२१।१ १२) विष्णुधर्मोत्तर(२।६६) एवं राजनीतिप्रकाश (पृ ११३-११४) जहाँ याज्ञ (१।३४९ एवं ३५१) की बातें कही गयी हैं। मत्स्य (२२१।१२) में आया है—'तस्मात् सदोत्थानवता हि भाव्यम्। मत्स्य (२२१।२) में मानवीय प्रयत्न को उत्तम माना है। मेधातिथि (मनु ७।१९७) ने एक सुभाषित उद्धृत किया है—"प्रयत्न से हीन लोग ग्रहस्थिति पर निर्भर रहते हैं जो दृढ़प्रतिज्ञ और व्यवसायी होते हैं उनके लिए कुछ भी करना असम्भव नहीं है।"[19] कौटिल्य (९।४) एवं काम (५।११ एवं १३।१-११) ने सतत प्रयत्न करते रहने पर बल दिया है। यही बात शुक्रनीतिसार (१।४६-५८) में भी कही गयी है। और देखिए शुक्रनीतिसार (१।४८ ४९) राजनीतिप्रकाश (पृ ११२ ११५) नीतिमयूख (पृ ५२-५३) जहाँ दैव एवं प्रयत्न पर विशेष रूप से चर्चाएँ हुई हैं। महाभारत में एक स्थल (उद्योग १२७।१९) पर आया है कि मनुष्य को सदा प्रयत्न करते रहना चाहिए, उसे झुकना नहीं चाहिए प्रयत्न करना पुरुषार्थ है एक स्थल पर जहाँ सन्धि नहीं है मनुष्य टूट सकता है किन्तु उसे झुकना नहीं चाहिए। इस विषय में और देखिए बृहत्पराशरस्मृति (१ पृ २८२ २८३) वायुपुराण (९।१०-११) एवं मार्कण्डेयपुराण (२।११ १२ एवं २३।२५-२६)।

तस्य रोचते ॥ सुहृदां वचनं श्रुत्वा धीमानुत्थानं प्रयोजयेत्। उत्थानस्य फलं सम्यक् तदा स लभतेऽचिरात् ॥ सौप्तिक (२।११ एवं २१) उत्थानं हि नरेन्द्राणां बृहस्पतिरभाषत। राजधर्मस्य तन्मूलं श्लोकांश्चात्र निबोध मे ॥ उत्थानेनामृतं लब्धमुत्थानेनासुरा हताः। उत्थानेन महेन्द्रेण श्रैष्ठ्यं प्राप्तं दिवीह च ॥ उत्थानवीरः पुरुषो वाग्वीरानधितिष्ठति। उत्थानवीरान्वाग्वीरा रमयन्त उपासते ॥ शान्ति (५८।१३-१५)।

19. स्वमेव कर्म दैवाख्यं विद्धि देहान्तरार्जितम्। तस्मात्पौरुषमेवेह श्रेष्ठमाहुर्मनीषिणः ॥ मत्स्य (२२१।२); धीमन्तो वन्द्यचरिता मन्यन्ते पौरुषं महत्। अशक्ताः पौरुषं कर्तुं क्लीबा दैवमुपासते। दैवे पुरुषकारे च खलु सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ शुक्र (१।४८-४९); अपि च कस्यचित्सुभाषितम्। हीनाः पुरुषकारेण पश्यन्ति ग्रहस्थितिम्। सत्त्वसमर्थानां नासाध्यं व्यवसायिनाम् ॥ मेधा (मनु ७।१९७)।

अर्थशास्त्रकारो का एक प्रमुख सिद्धान्त उत्साह की आवश्यकता पर आधारित है। यह उत्साह, प्रभु (प्रभाव) एव मन्त्र नामक तीन शक्तियो वाला सिद्धान्त कहा जाता है। इन तीनो का उल्लेख महाभारत मे भी हुआ है (आश्रमवासिकपर्व ७।६)। सरस्वतीविलास (पृ० ४६) ने इनके सबन्ध मे गौतम के एक सूत्र (जो प्रकाशित अशो मे नही पाया जाता) का उद्धरण दिया है।[२०] कौटिल्य (६।२) ने मन्त्रशक्ति को ज्ञानवल, प्रभुशक्ति को कोषवल एव उत्साहशक्ति को विक्रमवल कहा है।[२१] कौटिल्य ने विश्लेषण एव तुलना करके प्रभुशक्ति को उत्साहशक्ति से तथा मन्त्रशक्ति को प्रभुशक्ति से महत्तर माना है। कामन्दक (१५।३२) ने इन शक्तियों की परिभाषा की है—"छ उपायो (सन्धि-विग्रह आदि) मे यथोचित नीति का निर्धारण ही मन्त्रशक्ति है, पूर्ण कोष एव सैन्यवल प्रभुशक्ति का द्योतक होता है तथा शक्तिशाली की क्रियाशीलता ही उत्साहशक्ति का परिचायक है। जिस राजा को ये शक्तियाँ प्राप्त रहती हैं वह विजयी होता है।"[२२] यही परिभाषा नीतिवाक्यामृत (षाड्गुण्यसमुद्देश, पृ० ३२२) मे भी पायी जाती है। इस विषय मे और देखिए दशकुमारचरित (८), परशुरामप्रताप, अग्निपुराण (२४१।१), मानसोल्लास (२।८-१०, पृ० ९१-९४), कामन्दक (१३।४१-५८)।[२३]

शक्तिशाली राजा को अपनी राज्य-सीमाएँ बढाने तथा प्रजा को अपने अधिकार मे रखने के लिए कई उपायों का सहारा लेना पडता था। रामायण (५।४१२-३), मनु (७।१०९), याज्ञ० (१।३४६), शुक्र (४।१।२७) आदि के मत से उपाय चार हैं, यथा—साम, दान, भेद एव दण्ड।[२४] खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख मे आया है कि खारवेल ने राज्याभिषेक के दसवें वर्ष मे दण्ड, सन्धि, साम की नीति के अनुसार अपनी सेना भरतवर्ष के विरोध मे भेजी और उसे जीत लिया तथा बहुत-से हीरे-जवाहरात (रत्न आदि) प्राप्त किये (एपि० इण्डिका, जिल्द २०, पृ० ७९, ८८)। यह अभिलेख ई० पूर्व दूसरी शताब्दी का माना जाता है, अत स्पष्ट है कि ईसा के कई शताब्दियो पूर्व से ही उपायों के सिद्धान्त का प्रचलन था। कुछ ग्रन्थकारो एव ग्रन्थो ने उपर्युक्त चार उपायो के अतिरिक्त कुछ अन्य उपायो की भी चर्चा कर दी है, यथा—काम० (१७।३), मत्स्य० (२२२।२), अग्नि० (२२६।५-६), बार्हस्पत्यसूत्र (५।१-३),

२० अत एव गौतमसूत्रम्। प्रभुमन्त्रोत्साहशक्तयस्तन्मूला इति। तन्मूला कोशमूला इत्यर्थ। सरस्वतीविलास, पृ० ४६।

२१ शक्तिस्त्रिविधः। ज्ञानवल मन्त्रशक्ति कोशवल प्रभुशक्ति विक्रमवलमुत्साहशक्ति। अर्थशास्त्र ६।२, पृ० २६१।

२२ मन्त्रस्य शक्ति सुनयोपचार सुकोशदण्डौ प्रभुशक्तिमाहु। उत्साहशक्ति बलवद्विचेष्टा त्रिशक्तियुक्तो भवतीह जेता॥ कामन्दकीय १५।३२।

२३ कोशदण्डवल प्रभुशक्ति। शूद्रशक्तिकुमारौ दृष्टान्तौ। विक्रमो वल चोत्साहशक्तिस्तत्र रामो दृष्टान्त। नीतिवाक्यामृत, पृ० ३२२—३२३, मन्त्रेण हि विनिश्चयोऽर्थानां प्रभावेण प्रारम्भ उत्साहेन निर्वहणम्। दशकुमारचरित (८,पृ० १४४), आज्ञारूपेण या शक्ति सर्वेषा मूर्धनि स्थिता। प्रभुशक्तिर्हि सा ज्ञेया सप्रभामहिमोदया॥ परशुरामप्रताप द्वारा उद्धृत। और देखिए पञ्चतन्त्र (३।२०)—'उत्साहशक्तिसम्पन्नो हन्याच्छत्रु लघुर्गुरुम्।'

२४ अल्पशेषमिदं कार्यं दृष्टेयमसितेक्षणा। त्रीनुपायानतिक्रम्य चतुर्थ इह दृश्यते॥ न साम रक्ष सु गुणाय कल्पते न दानमर्थोपचितेषु युज्यते। न भेदसाध्या वलदर्पिता जना पराक्रमस्त्वेव ममेह रोचते॥ सुन्दरकाण्ड (४१।२-३), उपायोपपन्नविक्रमोऽनुरक्तप्रकृतिरल्पदेशोऽपि भूपतिर्भवति सार्वभौम। न हि कुलागता कस्यापि भूमि, किन्तु वीरभोग्या वसुन्धरा। सामोपप्रदानभेददण्डा उपाया। नीतिवाक्यामृत, पृ० ३३२।

द्वारा सम्पत्ति-ग्रहण की सहमति, किसी नवीन वस्तु की भेंट, माँगने पर किसी वस्तु का दान, समय पर प्रतिश्रुत वस्तुओं को भेज देना। भेद मे निम्न बातें ज्ञातव्य हैं, यथा—मन्त्रियो या सामन्तो, युवराज तथा उच्चाधिकारियों को घूस या भेंट देना, राजा एव मन्त्रियो के बीच अविश्वास उत्पन्न करना, राजा को अन्य लोगो के विरोध मे कर देना, सुन्दर व्यक्तियों के विरोध मे राजा को यह कहकर उभाडना कि वे अन्त पुर मे आते-जाते है, धनिको एव राजा के बीच अविश्वास उत्पन्न करना आदि-आदि। भेद उपाय मे गुप्तचर लगे रहते है, जो दोनो पक्षो मे वेतन लेते हैं (उभय-वेतनभोगी)।[27] और देखिए कौटिल्य (११।१), मत्स्य० (२२३), शुक्र० (४।१।२५-५४)। दण्ड का अर्थ है अपने देश मे अपराधी को फाँसी देना, शारीरिक दण्ड देना या धन-दण्ड देना तथा शत्रुओं से युद्ध करना, शत्रु-देश का नाश करना, धन-धान्य, पशु, दुर्ग आदि पर अधिकार करना, ग्रामो, जगलो को जलाना, लोगो को वन्दी वनाना आदि।

राजा के वहुत-से विशेषाधिकार थे। हमने बहुत पहले देख लिया है कि गडे हुए धन पर राजा का अधिकार होता था। इस विषय मे कौटिल्य (४।१) ने लिखा है कि खानो, रत्नो एव गडे हुए धन की सूचना देने वाले को १/६ भाग मिलता था, किन्तु यदि सूचना देने वाला राजकर्मचारी होता था तो उसे १/१२ भाग ही मिलता था। एक लाख पणो के ऊपर वाला गडा धन सम्पूर्ण रूप मे राजा को ही प्राप्त होता था (बताने वाले को एक लाख पर ही १/६ भाग मिलता था)। ब्राह्मणो के अतिरिक्त अन्य लोगो के नि सन्तान मर जाने पर उनकी सम्पत्ति राजा की हो जाती थी (देखिए इस ग्रन्थ का भाग २, अध्याय ३)। इस विषय मे हम आगे 'व्यवहार एव न्याय' वाले अध्याय मे पुन लिखेंगे। त्यागी हुई सम्पत्ति पर भी राजा का ही अधिकार होता था (देखिए गौतम० १०।३६-३८, वसिष्ठ० १६।१९, मनु ८।३०-३३, याज्ञ० २।३३, १७३-१७४, शख-लिखित)। गौतम एव बौधायन (१।१०।१७) का कथन है कि धन प्राप्त होने के एक वर्ष के उपरान्त ही राजा को उस पर अधिकार करना चाहिए। इस बीच में उसे डुग्गी पिटवा कर लोगो को तत्सम्बन्धी सूचना दे देनी चाहिए। किन्तु मनु (अध्याय ८) ने इस विषय मे तीन वर्ष की अवधि दी है। मिताक्षरा (याज्ञ० २।३३) ने लिखा है कि यदि वास्तविक स्वामी अपना अधिकार सिद्ध कर देता है तो एक वर्ष के भीतर उसे सम्पूर्ण धन बिना कर दिये मिल जाता है, किन्तु दूसरे वर्ष मे उसे सम्पूर्ण धन का १/१२ भाग सुरक्षा मे रखे जाने के कारण कर के रूप मे दे देना पडता है और इसी प्रकार तीसरे वर्ष मे १/१० भाग देना पड जाता है। किन्तु यदि स्वामी तीन वर्षो के उपरान्त आता है तो उसे १/६ भाग देना पडता है। जो व्यक्ति धन का पता लगाता है उसे राजा के भाग का १/४ भाग मिल जाता है। यदि स्वामी नही आता है तो पाने वाले को १/४ भाग और राजा को ३/४ भाग मिल जाता है। यदि स्वामी तीन वर्षो के उपरान्त आये और इस बीच मे राजा उसके धन को प्राप्त कर ले तो उसे उस धन को उपर्युक्त नियम के अनुसार लौटाना पडता है। इसी प्रकार प्राप्त पशुओं के विषय मे भी नियम हैं।

राजा को साक्षी के रूप मे कोई नही बुला सकता था। देखिए कौटिल्य (३।२), मनु (८।६५) एव विष्णु-धर्मसूत्र (८।२)।

वैधानिक रूप से कोई भी व्यक्ति राजा के अन्याय पर उसे अपराधी नही ठहरा सकता था। किन्तु धर्मशास्त्रकारो ने कहा है कि धर्म राजाओं का भी राजा है (बृहदारण्यकोपनिषद् १।४।१४), वरुण राजाओ को भी दण्ड देने वाला है (मनु ९।२४५), अत स्पष्ट है कि उन्होंने राजा के उच्चतर स्वभाव एव अन्त करण की ओर सकेत किया है। यदि

२७ शत्रुस्यैरात्मपुरुषैर्गूढैरुभयवेतनै । भीतापमानितान् क्रुद्धान् भेदयेच्च नृसङ्गतान् ॥ प्राणापहो मानभगो धनहानिश्च वञ्चक । दाराभिलाषोऽङ्गभङ्ग इति भेदोऽत्र षड्विध ॥ मानसोल्लास २।१८, श्लो० ९८८–९८९, पृ० ११८।

राजा अन्यायपूर्वक किसी पर अर्थ-दण्ड लगाता है तो उसे उस दण्ड का तीस गुना वरुण को देना पड़ता है और वह उस धन को या तो जल में छोड़ देता है या ब्राह्मणों में बाँट देता है (याज्ञ० २।३०७)। जहाँ सामान्य अपराधी को एक कार्षापण दण्ड देना पड़ता था वहाँ राजा को एक सहस्र देना पड़ता था (मनु ८।३३६)। इस विषय में और देखिए कौटिल्य (४।१३ अन्तिम दो पद्य) मनु (९।२४५) एवं याज्ञ० (२।३०७)। विष्णु के नियम केवल धर्मशास्त्रकारों की सद्भावना के द्योतक हैं, कदाचित् ही किसी राजा ने अपने को दण्डित किया हो! इसी से मध्य काल के कुछ लेखकों ने इस विषय में प्रयुक्त "राजा" शब्द को सामन्त के बराबर माना है न कि किसी स्वतन्त्र राजा के अर्थ में।

रामायण (२।१००।४२-४६) में सुशासित राज्य का वर्णन यों हुआ है—"मैं आशा करता हूँ कि तुम्हारे राज्य में सौ चैत्य (पवित्र पूजा के लिए मण्डप या उच्च स्थल) होंगे, वहाँ के लोग भली भाँति रक्षित होंगे, वहाँ मन्दिर, प्रपा (पौसरा), तालाब आदि होंगे, नर-नारी गण सुखपूर्वक रहते होंगे, वहाँ मेले एवं उत्सव होते होंगे, वहाँ भूमि में पर्याप्त कृषि-कर्म होता होगा, वहाँ पशु बिना किसी भय के विचरण करते होंगे, वहाँ के खेत केवल वर्षा-जल पर ही निर्भर नहीं रहते होंगे (अर्थात् वहाँ नहरों, तालाबों, कूपों आदि की पूर्ण व्यवस्था होती होगी), जो सुन्दर होगा और हिंस्र पशुओं एवं अन्य भयों से विहीन, जहाँ खानें होंगी, जहाँ सौख्य एवं सम्पत्ति की प्रचुरता होगी और जो दुष्ट लोगों से विहीन होगा।" इस विषय में और देखिए आदिपर्व (अध्याय १०९)। विष्णुधर्मोत्तर (२।१३।२-१२) में प्राचीन अयोध्या का बहुत ही सुन्दर वर्णन उपस्थित किया गया है।

अध्याय ६

दुर्ग (किला या राजधानी) (४)

मनु (९।२९४) ने राजधानी को राष्ट्र के पूर्व रखा है। मेधातिथि (मनु ९।२९५) एवं कुल्लूक का कथन है कि राजधानी पर शत्रु के अधिकार से गम्भीर भय उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि वहीं सारा भोज्य पदार्थ एकत्र रहता है, वहीं प्रमुख तत्त्व एवं सैन्यतन्त्र का आयोजन रहता है, अतः यदि राजधानी की रक्षा की जा सकी तो परहस्त-गत राज्य लौटा लिया जा सकता है और देश की रक्षा की जा सकती है। भले ही राज्य का कुछ भाग शत्रु जीत ले किन्तु राजधानी अविजित रहनी चाहिए। राजधानी ही शासन-यन्त्र की धुरी है। कुछ लेखकों ने (यहाँ तक कि मनु ने भी, ७।६९-७०) पुर (राजधानी) या दुर्ग को राष्ट्र के उपरान्त स्थान दिया है। प्राचीन युद्ध-परम्परा तथा उत्तर भारत की भौगोलिक स्थिति के कारण ही राज्य के तत्त्वों में राजधानी एवं दुर्गों को इतनी महत्ता दी गयी है। राजधानी देश की सम्पत्ति का दर्पण थी और यदि वह ऊँची-ऊँची दीवारों से सुदृढ़ रहती थी तो सुरक्षा का कार्य भी करती थी। याज्ञवल्क्य (१।३२१) ने लिखा है कि दुर्ग की स्थिति से राजा की सुरक्षा, प्रजा एवं कोष की रक्षा होती है (जनकोषात्मगुप्तये)। मनु (७।७४) ने दुर्ग के निर्माण का कारण भली भाँति बता दिया है, दुर्ग में अवस्थित एक धनुर्धर एक सौ धनुर्धरों को तथा सौ धनुर्धर एक सहस्र धनुर्धरों को मार गिरा सकते हैं। देखिए पञ्चतन्त्र (१।२२९ एवं २।१८)। राजनीतिप्रकाश द्वारा उद्धृत बृहस्पति में आया है कि अपनी, अपनी रानियों, प्रजा एवं एकत्र की हुई सम्पत्ति की रक्षा के लिए राजा को प्राकारों (दीवारों) एवं द्वार से युक्त दुर्ग का निर्माण करना चाहिए।[1] कौटिल्य (२।३ एवं ४) ने दुर्गों के निर्माण एवं उनमें से किसी एक में राजधानी बनाने के विषय में सविस्तर लिखा है। उन्होंने चार प्रकार के दुर्गों का उल्लेख किया है, यथा—औदक (जल से सुरक्षित, जो द्वीप-सा हो, जिसके चारों ओर जल हो), पार्वत (पहाड़ी पर या गुफा वाला), धान्वन (मरुभूमि वाला, जलविहीन भूमिखण्ड पर जहाँ झाड़-झंखाड़ हो या अनुर्वर भूमि हो) तथा वन-दुर्ग, जहाँ खजन, जल-मुर्गियाँ हों, जल हो, झाड़-झंखाड़ और बेंत एवं बाँसों के झुण्ड हों। कौटिल्य का कहना है कि प्रथम दो प्रकार के दुर्ग जन-सकुल स्थानों की सुरक्षा के लिए हैं और अन्तिम दो प्रकार जंगलों की रक्षा के लिए हैं। वायु० (८।१०८) ने दुर्ग के चार प्रकार दिये हैं। मनु (७।७०), शान्ति० (५६।३५ एवं ८६।४-५), विष्णुधर्मसूत्र (३।६), मत्स्य० (२१७। ६-७), अग्नि० २२२।४-५), विष्णुधर्मोत्तर (२।२६।६-९, ३।३२३।१६-२१), शुक्र० (८।६) ने छः प्रकार बताये हैं, यथा—धान्व दुर्ग (जलविहीन, खुली भूमि पर पाँच योजन के घेरे में), महीदुर्ग (स्थल-दुर्ग, प्रस्तर-खण्डों या ईंटों से निर्मित प्राकारों वाला, जो १२ फुट से अधिक चौड़ा और चौड़ाई से दुगुना ऊँचा हो), जलदुर्ग (चारों ओर जल से आवृत), वार्क्ष-दुर्ग (जो चारों ओर से एक योजन तक कँटीले एवं लम्बे-लम्बे वृक्षों, कँटीले लता-गुल्मों एवं झाड़ियों से आवृत हो), नृदुर्ग (जो चतुरंगिनी सेना से चारों ओर से सुरक्षित हो), गिरिदुर्ग (पहाड़ों वाला दुर्ग, जिस पर कठिनाई से चढ़ा जा

१ बृहस्पतिराह। आत्मदारार्थलोकानां सञ्चितानां तु गुप्तये। नृपतिः कारयेद् दुर्गं प्राकारद्वारसंयुतम्॥ राजनीतिप्रकाश, पृ० २०२ एवं राजधर्मकाण्ड, पृ० २८।

सके और जिसमें केवल एक ही सकीर्ण मार्ग हो)। मनु (७।७१) ने गिरिदुर्ग को सर्वश्रेष्ठ कहा है, किन्तु शान्ति (५६।३५) ने नृदुर्ग को सर्वोत्तम कहा है, क्योंकि उसे जीतना बड़ा ही कठिन है। मानसोल्लास (२।५, पृ० ७८) ने प्रस्तरों, ईंटों एवं मिट्टी से बने अन्य तीन प्रकार के आकार वाले दुर्गों का उल्लेख किया है। मनु (७।७५), सभा (५।३६), अयोध्या (१।५३), मत्स्य (२१७।८), काम (४।६), मानसोल्लास (२।५, श्लो० ५५०-५५५), शुक्र (४।६।१२-१३), विष्णुधर्मोत्तर (२।२६।२०-८८) के अनुसार दुर्ग में पर्याप्त आयुध, अन्न, औषध, धन, घोड़े, हाथी, भारवाही पशु, ब्राह्मण, शिल्पकार, मशीनें (जो सैकड़ों को एक बार मारती हैं), जल एवं भूसा आदि सामान होने चाहिए। नीतिवाक्यामृत (दुर्गसमुद्देश पृ० १९९) का कहना है कि दुर्ग में गुप्त सुरंग होनी चाहिए, जिससे गुप्त रूप से निकला जा सके, नहीं तो वह बन्दी-गृह-सा हो जायगा, वे ही लोग आने-जाने पायें जिनके पास सत्यंकार-चिह्न हो और जिनकी तलाशी भली भाँति ले ली गयी हो। विशेष जानकारी के लिए देखिए कौटिल्य (२।३), राजधर्मकाण्ड (पृ० २८-३६), राजधर्मकौस्तुभ (पृ० ११५-११७) जहाँ उशना, महाभारत, मत्स्य, विष्णुधर्मोत्तर आदि से कतिपय उद्धरण दिये गये हैं।

ऋग्वेद में बहुधा नगरों का उल्लेख हुआ है। इन्द्र ने पुरुकुत्स के लिए सात नगर ध्वस्त कर डाले (ऋ० १।६३।७)। इन्द्र ने दस्युओं को मारा और उनके आयस (लौह 'हत्वी दस्यून् पुर आयसीर् नि तारीत्') के नगरों को नष्ट कर दिया (ऋ० २।२०।८)। स्पष्ट है, ऋग्वेद के काल में भी प्राकारयुक्त दुर्ग होते थे। किन्तु दीवारें मिट्टी या लकड़ी की थीं या पत्थर, ईंटों की थीं, कुछ स्पष्ट रूप से कहा नहीं जा सकता। देखिए कैम्ब्रिज हि० ऑफ इ०, जिल्द १, पृ० १०४-१०५। तैत्तिरीयसंहिता (६।२।३।१) ने असुरों के तीन नगरों का उल्लेख किया है, जो अयस्, चाँदी एवं सोने (हरिणी) के थे। शतपथब्राह्मण में वर्णित अग्निचयन में सहस्रों पक्की ईंटों की आवश्यकता पड़ती थी। सिन्धु घाटी की सभ्यता (मोहेनजोदड़ो एवं हड़प्पा) में पक्की ईंटों का प्रयोग होता था (मार्शल, जिल्द १, पृ० १५-२६)। ऋग्वेद काल में भी ऐसा पाया जाना असम्भव नहीं होगा। रामायण एवं महाभारत में प्राकारों (दीवारों), गोपुरों, अट्टालकों (ऊपरी मंजिलों), उपपुरस्थानों आदि का उल्लेख राजधानियों के सिलसिले में पाया जाता है। कभी-कभी नगरों के नाम पर ही द्वारों के नाम पड़ जाते थे। पाण्डव लोग हस्तिनापुर के बाहर वर्धमानपुर द्वार से गये (वनपर्व १।१)। महलों में नर्तनागार भी होते थे (विराटपर्व २२।३ एवं २५-२६)। और देखिए शान्ति (६९।६ एवं ८६।४-१५)। रामायण (५।२।५०-५१) में लंका के सात-सात एवं आठ-आठ मंजिल वाले प्रासादों एवं पच्चीकारी से युक्त फर्शों का उल्लेख मिलता है। बृहत्संहिता (अध्याय ५३) में वास्तुशास्त्र पर १२५ श्लोक आये हैं जिनमें भवनों, प्रासादों आदि के निर्माण के विषय में लम्बा-चौड़ा व्याख्यान पाया जाता है। इसमें दीवारों के लिए ईंटों या लकड़ी के प्रयोग की बात चलायी गयी है।

राजा की राजधानी दुर्ग के भीतर या सर्वथा स्वतन्त्र रूप से निर्मित हो सकती थी। मनु (७।७० एवं ७६), आश्रमवासिक (५।१९-२०), शान्ति (८६।४-१२), काम (४।५७), मत्स्य (२१७।९) एवं शुक्र (१।२११-२१७) ने राजधानी के निर्माण के विषय में उल्लेख किया है। कौटिल्य (२।४) ने विस्तार के साथ राजधानी के निर्माण की व्यवस्था दी है। कौटिल्य के मत से राजधानी के विस्तार-द्योतक रूप में पूर्व से पश्चिम तीन राजमार्ग तथा उत्तर से दक्षिण तीन राजमार्ग होने चाहिए। राजधानी में इस प्रकार बारह द्वार होने चाहिए। उसमें गुप्त भूमि एवं जल होना चाहिए। रथमार्ग, राजमार्ग एवं वे मार्ग जो द्रोणमुख, स्थानीय, राष्ट्र एवं चरागाहों की ओर जाते थे, चौड़ाई में चार दण्ड (१६ हाथ) होने चाहिए। कौटिल्य ने इसके उपरान्त अन्य कामों के लिए बने मार्गों की चौड़ाई का उल्लेख किया है। राजा का प्रासाद पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख होना चाहिए और लम्बाई एवं चौड़ाई में सम्पूर्ण राजधानी का १/९ भाग होना चाहिए। राजप्रासाद राजधानी के उत्तर में होना चाहिए। राजप्रासाद के उत्तर-पूर्व में राजा के आचार्य, पुरोहित, मन्त्रियों के गृह तथा यज्ञ-भूमि एवं जलाशय होना चाहिए। कौटिल्य ने इसी प्रकार राजप्रासाद के चतुर्दिक अन्यको

व्यापारियो, प्रमुख शिल्पकारो, ब्राह्मणो, क्षत्रियो, वैश्यो, वेश्याओ, बढइयो, शूद्रो आदि के आवासो का उल्लेख किया है। राजवानी के मध्य मे अपराजित, अप्रतिहित, जयन्त एव वैजयन्त के मूर्ति-गृह तथा शिव, कुवेर, अश्विनौ, लक्ष्मी, मदिरा (दुर्गा) के मन्दिर वने रहने चाहिए। प्रमुख द्वारो के नाम ब्रह्मा, यम, इन्द्र एव कार्तिकेय के नामो पर रखे जाने चाहिए। खाई के आगे १०० वनुषो (४०० हाथ) की दूरी पर पवित्र पेडो के मण्डप, कुञ्ज एव वाँव होने चाहिए। उच्च वर्णो के श्मशान-स्थल दक्षिण मे तथा अन्य लोगो के पूर्व या उत्तर मे होने चाहिए। श्मशान के आगे नास्तिको एव चाण्डालो के आवास होने चाहिए। दस घरो पर एक कूप होना चाहिए। तेल, अन्न, चीनी, नमक, दवाएँ, सूखी तरकारियाँ, इँधन, हथियार तथा अन्य आवश्यक सामग्रियाँ इतनी मात्रा एव सख्या मे एकत्र होनी चाहिए कि आक्रमण या घिर जाने पर वर्षो तक किसी वस्तु का अभाव न हो सके। उपर्युक्त विवरण से मत्स्यपुराण की वहुत-सी वातो का मेल नही वैठना (मत्स्य० २१७।९-८७)। राजनीतिप्रकाश (पृ० २०८-२१३) एव राजवर्मकाण्ड (पृ० २८-३६) ने मत्स्यपुराण को अधिकाश मे उद्धृत किया है। राजनीतिप्रकाश (पृ० २१४-२१९) ने देवीपुराण से नगर, पुर, हट्ट, पुरी, पत्तन, मन्दिरो के निर्माण के विषय मे बहुत-मे अश उद्धृत कर डाले हैं।[2] पाणिनि (७।३।१४) ने ग्राम एव नगर का अन्तर वताया है (प्राचा ग्रामनगराणाम्)। पतञ्जलि ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि ग्राम, घोष, नगर एव सवाह भाँति-भाँति के जन-अधिवसितो (बस्तियो) के या बस्तिया के दलो के नाम है। वायुपुराण (९४।४०) ने पृथक् रूप से पुरो (नगरो या पुरियो), घोषो (ग्वालो के ग्रामो), ग्रामो एव पत्तनो का उल्लेख किया है। राजवानी, प्रासाद, कचहरियो, कार्यालयो, खाइंयो आदि के निर्माण के विषय मे देखिए शुक्र० (१।२१३-२५८), युक्तिकल्पतरु (पृ० २२), वायु० (८।१०८), मत्स्य० (१३०)। शुक्र० (१।२६०-२६७) ने पद्या (फुटपाथ), वीथी (गली) एव मार्ग की चौडाई क्रम से ३, ५ एव १० हाथ कही है। अयोध्या की राजवानी के वर्णन के लिए देखिए रामायण (२।१००।४०-४२)। रामायण (६।११२।४२ सिक्तरथ्यान्तरायणा) एव महाभारत (आदि० २२१।३६) से पता चलता है कि सडको पर छिडकाव होता था। हर्ष-चरित (३) मे वाण ने स्थाण्वीश्वर (थानेश्वर) का सुन्दर वर्णन किया है। राजधानी के स्थानीय शासन के विषय मे देखिए कौटिल्य (२।३६) पहाडपुर पत्र (गुप्त सवत् १५९=४७८-९ ई०)। से पता चलता है कि नगर-श्रेष्ठी (राज-धानी के व्यापारियो एव धनागार-श्रेष्ठियो के प्रमुख) का चुनाव सम्भवत स्वय राजा करता था (एपि० इ०, जिल्द २०, पृ० ५९)। सम्भवत राजवानी के शासक को शासन-कार्य मे सहायता देने के लिए पौरमुख्यो या पौरवृद्धो की एक समिति (वोर्ड) होती थी। दामोदरपुर के पत्र (एपि० इ०, जिल्द १५, पृ० १३०, १३३, गुप्त सवत् १२९) मे नगर-सेठ (नगर-श्रेष्ठी) का उल्लेख है। मेगस्थनीज (मैक्रिंडिल की ऐंश्येण्ट इण्डिया, फ्रैगमेण्ट ३४, पृ० १८७) ने पालिवोथ्रा (पाटलिपुत्र) नगर तथा उसके शासन का वर्णन किया है। वह कहता है कि ५-५ सदस्यो की ६ समितियाँ थी, जो क्रम से (१) शिल्पो, (२) विदेशियो, (३) जन्म-मरण, (४) व्यापार, वटखरो, (५) निर्मित सामानो एव (६) वेची हुई वस्तुओ का दसवाँ भाग एकत्र करने अर्थात् चुगी का प्रवन्ध करती थी। मेगस्थनीज के कथन मे पता चलता है कि पाटलिपुत्र ८० स्टैडिया लम्वा एव १५ स्टैडिया चौडा था, इसका आकार समानान्तर चतुर्भुज की भाँति था और

२ मिलाइए "ग्रामा हट्टादिशून्या, पुरो हट्टादिमत्यः, ता एव महत्य पत्तनानि, दुर्गाण्यौदकादीनि। खेटा कर्षकग्रामा। खर्वटा पर्वतप्रान्तग्रामा इति।" श्रीधर (भागवत० ४।१८।३१), राजनीतिकौस्तुभ द्वारा उद्धृत (पृ० १०२)। शिल्परत्न (अ० ५) मे ग्राम, खेटक, खर्वट, दुर्ग, नगर, राजधानी, पत्तन, द्रोणिक, शिविर, स्कन्धावार, स्थानीय, विडम्बक, निगम एव शाखानगर की परिभाषाएँ दी गयी हैं। मय-मत (१०।९०) ने इनमे दस का उल्लेख किया है और (९।१०) ग्राम, खेट, खर्वट, दुर्ग तथा नगर के विस्तार का वर्णन किया है।

इसके चारों ओर लकड़ी की दीवारें थीं जिनमें तीर छोड़ने के लिए छिद्र बने हुए थे। राजधानी के सामने खाईं भी थी। एरियन (मैक्रिंडिल पृ० २०९, २१०) के अनुसार पाटलिपुत्र में ५७० स्तम्भ एवं ६४ द्वार थे। अपने महाभाष्य में पतञ्जलि ने पाटलिपुत्र का उल्लेख कई बार किया है (जिल्द १ पृ० ३८)। महाभाष्य में पाटलिपुत्र शोण के किनारे बताया गया है (पाणिनि २।१।१६) और इसमें इसके प्रासादों दीवारों का भी उल्लेख हुआ है (वार्तिक ४ पाणिनि ४।३।६६ एवं जिल्द २ पृ० ३२१ पाणिनि ४।३।१३४)। फाहियान (सन् ३९९-४१४ ई०) ने भी पाटलिपुत्र की शोभा का उल्लेख किया है और उसे प्रेतात्माओं द्वारा बनाया हुआ कहा है। और देखिए राइस डेविड्स (बुद्धिस्ट इण्डिया पृ० १४४)।

भागवतपुराण (४।१८।३०-३२) में आया है कि वेन के पुत्र पृथु ने सर्वप्रथम पृथिवी को समतल कराया और ग्रामों, नगरों, राजधानियों, दुर्गों आदि में लोगों को बसाया। पृथु के पूर्व लोग जहाँ चाहते थे रहते थे, न तो ग्राम थे और न नगर। राजनीतिकौस्तुभ के अनुसार धीवर द्वारा उद्धृत भृगु के मत से ग्राम वह बस्ती है जहाँ ब्राह्मण लोग अपने कर्मियों (मजदूरों) एवं शूद्रों के साथ रहते हैं। खर्वट नदी के तट की उस बस्ती को कहते हैं जहाँ मिश्रित लोग रहते हैं और जिसके एक ओर ग्राम और दूसरी ओर नगर हो। राजनीतिकौस्तुभ (पृ० १३४) द्वारा उद्धृत कौशिक के मत से खेट उसे कहते हैं जहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य रहते हैं। वह स्थान जहाँ सभी जातियाँ रहती हैं नगर कहलाता है। कौशिक के मत से ब्राह्मण गृहस्थों को श्वेत एवं सुगन्धित मिट्टी में, क्षत्रियों को लाल एवं सुगन्धित मिट्टी वाले नगरों में तथा वैश्यों को पीली मिट्टी वाले स्थानों में बसना चाहिए।

अध्याय ७

कोष (५)

कौटिल्य (२।१) का कहना है कि जिस राजा का कोष रिक्त हो जाता है वह नगरवासियो एव ग्रामवासियो को चूसने लगता है। कौटिल्य (२।८) ने ठीक ही कहा है कि राज्य के सारे व्यापार कोष पर निर्भर रहते हैं, अत राजा को सर्वप्रथम कोष पर ध्यान देना चाहिए।[1] गौतम (सरस्वतीविलास द्वारा उद्धृत, पृ० ४६) का कहना है कि कोष राज्य के अन्य छ अगो का आधार है। शान्ति० (११९।१६) ने भी कोष की महत्ता गायी है। काम० (१३।३३) ने तो यहाँ तक कहा है कि यह लौकिक प्रसिद्धि है कि राजा कोष पर आधारित है। विष्णुधर्मोत्तर (२।६१।१७) का कहना है कि कोष राज्य के वृक्ष की जड है। प्राचीन भारत के भारतीय राज्यो के दो स्तम्भ थे, राजस्व एव सैन्यबल। मनु (७।६५) का कहना है कि राज्य का कोष एव शासन राजा पर निर्भर रहता है, अर्थात् राजा को उन पर व्यक्तिगत ध्यान देना चाहिए। यही बात याज्ञ० (१।३२७-३२८) ने अपने ढग से कही है। और देखिए काम० (५।७७) एव शुक्र० (१। २७६-२७८)। राजतरगिणी (७।५०७-५०८) का कथन है कि कश्मीर का राजा कलश (सन् १०६३-१०८९ ई०) वणिक की भाँति आय-व्यय का ब्यौरा रखता था और बडी सावधानी बरतता था। उसके पार्श्व मे सदा एक लिपिक रहता था, जिसके हाथ मे लिखने के लिए खडिया एव भूर्ज (भोजपत्र) रहा करते थे।

कोष भरने का प्रमुख साधन है कर-ग्रहण, अत धर्मशास्त्रो द्वारा उपस्थापित कर-ग्रहण के सिद्धान्तो की व्याख्या कर लेना उचित है। **प्रथम सिद्धान्त** यह था कि स्मृतियो द्वारा निर्धारित कर के अतिरिक्त अन्य कर राजा नहीं लगा सकता था, अर्थात् राजा अपनी ओर से मनमानी नही कर सकता था। कर की मात्रा वस्तुओ के मूल्य एव समय पर निर्भर थी, क्योकि आक्रमण, दुर्भिक्ष आदि विपत्तियाँ भी घहरा सकती थी। गौतम (१०।२४), मनु (७।१३०), विष्णुधर्मसूत्र (३।२२-२३) ने घोषित किया है कि राजा साधारणतया उपज का छठा भाग ले सकता है, किन्तु कौटिल्य (५।२), मनु (१०।११८), शान्ति० (अध्याय ८७), शुक्र० (४।२।९-१०) ने छूट दे दी है कि आपत्तियो के समय राजा उपज का चौथाई या तिहाई भाग ले सकता है। किन्तु इस विषय में कौटिल्य ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि राजा को आपत्ति-काल मे भारी कर लगाने के लिए प्रजा से स्नेहपूर्ण याचना (प्रणय) करनी चाहिए और अनुर्वर भूमि पर तो भारी कर लगाना ही नही चाहिए। कौटिल्य ने यह भी कहा है कि एक आपत्ति-काल मे एक से अधिक बार कर नही लगाना चाहिए।[2]

१ कोशमूला· कोशपूर्वा सर्वारम्भा। तस्मात्पूर्वं कोशमवेक्षेत। कौ० २।२, कोशश्च सतत रक्ष्यो यत्न-मास्थाय राजभि। कोशमूला हि राजान· कोशो वृद्धिकरो भवेत्॥ शान्ति० (११९।१६), कोशमूलो हि राजेति प्रवाद· सार्वलौकिक·। काम० (१३।३३), यह बुधभूषण (पृ० ३६) में भी पाया जाता है, कोशस्तु सर्वथा अभिसरक्ष्य इत्याह गौतम। तन्मूलत्वात्प्रकृतीनामिति। सरस्वतीविलास (पृ० ४६)।

२ कोशमकोश प्रत्युत्पन्नार्थकृच्छ्र सगृह्णीयात्। जनपद महान्तमल्पप्रमाण वा देवमातृक प्रभूतधान्य धान्य-स्यांश तृतीय चतुर्थ वा याचेत। इति कर्षकेषु प्रणय। . इति व्यवहारिषु प्रणय। सकृदेव न द्वि प्रयोज्य·। अर्थशास्त्र (५।२)।

शान्ति (८७।२६ ३३) में आया है कि अधिक कर लगाने के पूर्व राजा को चाहिए कि वह प्रजाजनों के समक्ष भाषण करे यथा—"यदि शत्रु आक्रमण करता है तो तुम्हारा सब कुछ यहाँ तक कि तुम्हारी पत्नियाँ तक भी उठा ले जायगा शत्रु तुमसे जो छीन लेगा वह पुन तुम्हें वापस नहीं मिलेगा"। जूनागढ़ के अभिलेख में (एपि० इ० जिल्द ८,पृ० ३६ जिल्द २,पृ० १५ १६) भी 'प्रणय' शब्द का प्रयोग हुआ है। कर-ग्रहण के सिद्धान्तों में दूसरा सिद्धान्त बड़े कवित्व-पूर्ण एवं आलंकारिक रूप में रखा गया है जिसका तात्पर्य यह है कि करदाता को कर हल्का लगे जिसे वह बिना किसी कठिनाई के दे सके। उद्योग (३४।१७-१८) में आया है[3]—"जिस प्रकार मधुमक्खी मधु तो निकाल लेती है किन्तु फूलों को बिना पीड़ा दिये छोड़ देती है उसी प्रकार राजा को मनुष्यों से बिना कष्ट दिये धन लेना चाहिए। मधुमक्खी मधु के लिए प्रत्येक फूल के पास जा सकती है किन्तु उसे फूल की जड़ नहीं काट देनी चाहिए, माली के समान उसे व्यवहार करना चाहिए, न कि अंगारकारक (कोयला फूँकने वाले) के समान (जो कोयला बनाने के लिए सम्पूर्ण पेड़ जड़-सहित काट लेता है)। मनु (७।१२९ एवं १४०) ने संक्षिप्त रूप से इस प्रकार कहा है—"जिस प्रकार जोंक, बछड़ा एवं मधुमक्खी थोड़ा-थोड़ा करके अपनी जीविका के लिए रक्त, दूध या मधु लेते हैं उसी प्रकार राजा को अपने राज्य से वार्षिक कर के रूप में थोड़ा-थोड़ा लेना चाहिए। राजा को न तो अपनी जड़ (कर न लेकर) और न दूसरों की जड़ (अधिक कर लेकर) काटनी चाहिए। यही बात शान्ति (८८।४ ६) में दूसरे ढंग से कही है। और देखिए धम्मपद (अध्याय ४९)। राजा को मालाकार की भाँति न कि आंगारिक की भाँति कार्य करना चाहिए।[5] कर-ग्रहण का तीसरा सिद्धान्त यह है कि कर-वृद्धि क्रमशः और वह भी एक समय कम ही होनी चाहिए (शान्ति ८८।७-८)। करों को उचित समय एवं उचित स्थान पर उगाहना चाहिए (शान्ति ८८।१२ एवं काम० ५।८३-८४)।[6] व्यापारियों पर कर लगाते समय राजा को निम्न बातों पर ध्यान देना चाहिए वस्तुओं के क्रय में कितना धन लगा है राज्य में वस्तुओं की बिक्री कैसी होगी कितनी दूरी से सामान लाया गया मार्ग में खाने-पीने सुरक्षा आदि की व्यवस्था में कितना धन लगा (मनु ७।१२७, शान्ति ८७।१३-१४)। शिल्पियों पर कर लगाने के पूर्व उनके परिश्रम एवं कुशलता आदि पर ध्यान देना चाहिए (शान्ति ८८।१५)। राज्य के कोष के लिए सभी को कुछ-न-कुछ देना ही चाहिए। यहाँ तक कि दरिद्र लोगों को भी जो कोई वृत्ति करते हैं कर देना चाहिए। रसोई बनाने वाले बढ़इयों कुम्हारों आदि को भी मास में एक दिन की कमाई कर के रूप में देनी चाहिए (मनु ७।१३७-१३८)। और देखिए गौतम (१० ।३१ ३४) विष्णु धर्मसूत्र (३।३२)। विष्णु सूत्र (४।२।१२१) का कथन है कि मजदूरों एवं शिल्पियों को प्रत्येक मास में एक दिन की बेगार देनी चाहिए। गौतम (१० ।३४) का कहना है कि बेगार के दिन राजा द्वारा उन्हें भोजन मिलना चाहिए। काम-

[3] यथा मधु समादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः। तद्वदर्थान्मनुष्येभ्य आदद्यादविहिंसया॥ पुष्पं पुष्पं विचिन्वीत मूलच्छेदं न कारयेत्। मालाकार इवारामे न यथाङ्गारकारकः॥ उद्योग (३४।१७-१८)। यही बात पराशर (१।६१) में भी कही है। मिलाइए धम्मपद (४९)—'यथापि भमरो पुप्फं वण्णगन्धं अहेठयं। पलेति रसमादाय एवं गामे मुनी चरे॥'

[4] यथा राजा च कर्ता च स्यातां कर्मणि भागिनौ। संवेक्ष्य तु तथा राज्ञा प्रणेयाः सततं कराः॥ नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चापि तृष्णया। ईहाद्वाराणि संरुध्य राजा संप्रीतिदर्शनः॥ शान्ति (८७।१७-१८); मनु (७।१३९) ने भी आधा "नोच्छिन्द्यात् ... आदि" कहा है।

[5] मालाकारोपमो राजन् भव माङ्गारिकोपमः। शान्ति (७१।२०); और देखिए शुक्रनीतिसार (४।२।११२) जहाँ ऐसी ही उपमा दी गयी है।

[6] आददीत बलं काले त्रिवर्गपरिवृद्धये। यथा गौः पाल्यते काले दुह्यते च तथा प्रजा॥ काम० ५।८३-८४।

न्दक (४।६२।६४), शुक्र० (४।२-३), गौतम (१०।२८-२९), मनु (७।१२८, ८।३०६-३०८), नारद (प्रकीर्णक ४८) आदि ने कर लगाने के उद्देश्यों पर प्रकाश डाला है।[7] प्रजाजनो की रक्षा करने के लिए मानो कर राजा का वेतन है। राजा सूर्य के समान है जो समुद्र मे जल सोखकर पुन वर्षा करता है (रघुवश १।१८)। कर लेकर राजा राज्य की रक्षा करता है, आपत्तियों मे बचाता है, धर्म एव अर्थ नामक उद्देश्या की पूर्ति करता है।

कामन्दक (५।७८-७९) ने विभागाध्यक्षों के कार्यों द्वारा कोप के भरण के लिए आठ प्रमुख स्रोतो (अष्टवर्गों) का उल्लेख किया है, यथा—कृषि, जल-स्थल के मार्ग, राजधानी, जलो के बाँध, हाथियो को पकडना, खानो मे काम करना—सोना एकत्र करना, (धनिकों से) धन उगाहना, निर्जन स्थानों मे नगरो एव ग्रामो को बसाना। मानसोल्लास (२।४, श्लोक ५३९-५४०, पृ० ७७) ने कहा कि है राजा को वार्षिक कर का तीन चौथाई भाग साधारणत व्यय कर देना चाहिए और एक चौथाई बचा रखना चाहिए। शुक्र० (१।३१५-३१७) के मत मे राजा को अपनी वार्षिक आय का छठा भाग बचा रखना चाहिए, सम्पूर्ण का आधा भाग सेना पर, बीसवाँ भाग (पण्डितों, दरिद्रो एव असहायो आदि को) दान के रूप मे तथा मन्त्रिया, छोटे-मोटे कर्मचारियो, अपने लिए तया अन्य मदो मे व्यय करना चाहिए। शुक्र० (४।२। २६) का कथन है कि राजा को तीन वर्षों के लिए अन्न एकत्र रखना चाहिए। इस स्मृति ने तो एक यह भी असम्भव बात कह डाली है कि उसका कोप इतना परिपूर्ण होना चाहिए कि २० वर्षों तक बिना किसी प्रकार का कर उगाहे सेना का व्यय सँभाला जा सके। मानसोल्लास (२।४।३९४, ३९७, पृ० ६४) का कहना है कि कोप सोना, चाँदी, रत्नों, आभूषणों, बहुमूल्य परिधानो, निष्को (सिक्को) आदि से परिपूर्ण रहना चाहिए। कौटिल्य (४।३) के मत से दुर्भिक्ष मे राजा धनिकों से उनका धन ले सकता है। कौटिल्य (५।२) ने यह भी कहा है कि जब कोप खाली हो और कोई विपत्ति सामने आ खडी हो, तो राजा कृषको, व्यापारियो, मद्य-विक्रेताओ (कलवारो), वेश्याओ, सूअर बेचने वालो, अण्डा, पशु आदि रखने वाला से विशिष्ट याचना करने के उपरान्त धनिको से यथासामर्थ्य सोना देने का अनुरोध कर सकता है और उन्हे दरबार मे कोई ऊँचा पद या छत्र या पगडी या कोई उचित सम्मान देकर बदला चुका सकता है।[8] कौटिल्य ने राजा को यह छूट दी है कि वह आपत्काल मे देवनिन्दको के सघो एव मन्दिरो का धन छीन सकता है, अथवा किसी रात्रि मे अचानक किसी देवमूर्ति या पूत वृक्ष का चैत्य (उच्च मण्डप) स्थापित करने के लिए या अलौकिक शक्तियो वाले किसी व्यक्ति के लिए पवित्र स्थान की स्थापना के लिए या मेला या जन-समूह के आनन्दोत्सव के लिए आवश्यक धन एकत्र कर सकता है।[9] कौटिल्य ने और भी बहुत-सी बातें कही हैं, जिन्हे स्थानाभाव से हम यहाँ नही दे रहे हैं। उपर्युक्त

७ बह्वादानोऽल्पनिस्राव स्यात् पूजितदैवत। ईप्सितद्रव्यसपूर्णो हृद्य आप्तैरधिष्ठित ॥ मुक्ताकनकरत्नाढ्य पितृपैतामहोचित। धर्मार्जितो व्ययसह कोश कोशज्ञसमत ॥ धर्महेतोस्तथार्थाय भृत्याना भरणाय च। आपदर्थं च सरक्ष्य कोश कोशवता सदा ॥ काम० ४।६२-६४, राजनीतिरत्नाकर (पृ० ३४) द्वारा उद्धृत।

८ सारतो वा हिरण्यमाढ्यान्याचेत। यथोपकार वा स्ववशा वा यदुपहरेयु स्थानछत्रवेष्टनविभूषाश्चैषा हिरण्येन प्रयच्छेत्। अर्थशास्त्र ४।२।

९ पतञ्जलि (महाभाष्य, जिल्द २, पृ० ४२९, पाणिनि ५।३।९९) के अनुसार मौर्यों ने धन के लिए मूर्तियाँ स्थापित की थीं। राजतरंगिणी (५।१६६-१७७) ने कश्मीर के राजा शकरवर्मा की ज्यादतियों (बलपूर्वक ग्रहण) का वर्णन किया है। उसने निगरानी करने के बहाने से ६४ मन्दिरों का धन लूट लिया। उसने गृह्य कृत्यों (यथा—उपनयन-सस्कार, विवाह आदि) पर भी कर लगाया था। ग्यारहवीं शताब्दी में कश्मीर के राजा हर्ष ने अधिकाश मन्दिरों को लूट लिया था (राजतरंगिणी ७।१०९०)।

उपायो के पीछे कौटिल्य का मन्तव्य इतना ही है कि आपत्काल मे उपयुक्त सहायता प्राप्त हो सके। किन्तु कौटिल्य ने इस विषय मे इतनी सावधानी प्रदर्शित की है कि उचित धार्मिक स्वामी की सम्पत्ति न छीनी जा सके केवल अधार्मिक एव राजद्रोही लोगो की सम्पत्ति के साथ ही ऐसा व्यवहार किया जाय (५।२ एव दूष्येष्वधार्मिकेषु वर्तेत नेतरेषु)। रिक्त कोष की पूर्ति के विषय मे और देखिए नीतिवाक्यामृत (कोष-समुद्देश पृ २ ५)। परशुरामप्रताप (राजवल्लभ-काण्ड) ने तो ऐसा उद्धरण दिया है जिससे सिद्ध होता है कि कोष की पूर्ति के लिए रसायन धातुवाद आदि का प्रयोग किया जा सकता है।[10] शुक्र (४।२।११) ने ऋण पर धन लेने की बात भी चलायी है। शान्ति (८८।२९ ३) मे आया है कि राजा को चाहिए कि वह अपने राज्य के धनिकों को आदर-सम्मान दे क्योंकि वे राज्य के प्रधान तत्त्व होते हैं इतना ही नहीं उनसे प्रार्थना करनी चाहिए कि वे उसके साथ जनता पर अनुग्रह करें।[12]

राजा को कर देने के विषय मे बहुत-से कारण बताये गये हैं। गौतम (१ ।२८) का कहना है कि राजा रक्षा करता है अत उसके लिए कर देना चाहिए। कहीं-कहीं तो ऐसा प्रकट हुआ है कि कर मानो राजा का वेतन है। राजा मनु ने प्रजा से इसी प्रकार का समझौता किया था (देखिए शान्ति ६७ एव ७ ।१ बौधायनधर्मसूत्र १।१ ।१ नारद १८।४८ कौटिल्य १।१३)। कात्यायन (श्लोक १६ १७) का कहना है कि राजा भूमि का स्वामी है किन्तु धन के अन्य प्रकारों का नहीं वह उपज के छठे भाग का अधिकारी है मनुष्य भूमि पर निवास करते हैं अत वे साधारण रूप मे स्वामी-से लगते हैं (किन्तु, वास्तव मे उनका स्वामित्व दूसरे ढंग का है वास्तविक स्वामी तो राजा ही है)।[13]

धर्मशास्त्रों अर्थशास्त्रों एव शिलालेखों मे भाँति-भाँति के करों का उल्लेख हुआ है। राजा को जो कर दिया जाता है उसका प्राचीनतम नाम है 'बलि'। ऋग्वेद (७।६।५ एव १ ।१७३।६) मे साधारण लोगों के लिए 'बलिहृत' (राजा के लिए बलि शुल्क या कर लाने वाले) शब्द का प्रयोग हुआ है।[14] तैत्तिरीय-ब्राह्मण (२।७।१८।३) मे आया है— हरन्त्यस्मै विशो बलिम्" अर्थात् 'लोग राजा के लिए बलि लाते हैं'। ऐतरेय ब्राह्मण (३५।३) मे वैश्य को "बलिकृत्" (दूसरे को कर देने वाला) कहा गया है, क्योंकि ब्राह्मण एवं क्षत्रिय लोग अधिकाश मे कर-मुक्त थे। देखिए प्रो हाप्किंस की पुस्तक 'सोशल कण्डीशन आव दी रूलिंग कास्ट' (जे ए ओ एस जिल्द १३,पृ ८९) एव जिम (पृ ११९,जहाँ करों के सम्बन्ध मे वाक्यों का साक्ष्य (हवाला) दिया गया है। मनु (७।८) मत्स्य (२१५।५७) रामायण (३।६।११) विष्णुधर्मसूत्र (२२) मे 'बलि' शब्द का प्रयोग (राजा द्वारा लगाये गये कर के

१० धातुवादप्रयोगैश्च विविधैर्धनसंग्रहम्। तावेव तावभेद् सर्वे रौप्यं स्वर्णं साधयेत् ॥ परशुरामप्रताप (राज)।

११ धनिकेभ्यो भृतिं दत्त्वा स्वकार्ये तदृणं हरेत्। राजा स्वप्रजासमृद्धीर्धनिकतत्त्वं वदास्वमूद्धिकम् ॥ शुक्र (४।२।११)।

१२ धनिनः पूजयेन्नित्यं यानाच्छादनभोजनैः। वक्तव्याश्चानुगृह्णीध्वं प्रजाः सह मयेति वै ॥ अंगमेतन्महद् राज्ये धनिनो नाम भारत। ककुदं सर्वभूतानां धनस्थो नात्र संशयः ॥ शान्ति ८८।२९–३ ।

१३ कात्यायन। भूस्वामी तु स्मृतो राजा नान्यद्रव्यस्य सर्वदा। तत्फलस्य हि षड्भागं प्राप्नुयान्नान्यथैव तु ॥ भूतानां तन्निवासित्वात्स्वाम्यं तेन कीर्तितम्। राजनीतिप्रकाश (पृ २७१)। देखिए इस ग्रन्थ का भाग २, अध्याय २५, जहाँ राजा के भूमि-स्वामित्व पर विवेचन उपस्थित किया गया है।

१४ स नित्यमा महुषो यह्वी अग्निर्विशामध्वरे बलिहृत सहोभिः ॥ ऋ ७।६।५। अयो स इमा देवतोर्विशो बलिहृतस्करत् ॥ ऋ १ ।१७३।६। हरन्त्यस्मै विशो बलिम्। तै ब्रा २।७।१८।३।

रूप मे) षष्ठ भाग के लिए हुआ है। अशोक के रुम्मिन्देई स्तम्भ-लेख (कार्पस इन्स्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम्, जिल्द १, पृ० १६४) मे आया है कि लुम्मिनि ग्राम बलि-मुक्त कर दिया गया, किन्तु उसे उपज का $\frac{1}{8}$ भाग देना पड़ता था (लुम्मिनिग्राम उद्बलिके (उब्बलिके) कटे अठभागिये (अष्टभागिक) च)। यहाँ 'बलि' एवं 'भाग' मे अन्तर दिखाया गया है। उपहार अर्थ मे 'बलि' व्यापक शब्द है, 'कर' शब्द लगान (टैक्स) का सामान्य अर्थ प्रकट करता है। और देखिए आपस्तम्ब-धर्मसूत्र (२।१०।२६।१०), मनु (७।१२८, १२९, १३३), वसिष्ठ० (१९।२३), विष्णु-धर्मसूत्र (३।२६-२७)। 'भाग' शब्द साधारण करों के लिए प्रयुक्त हुआ है और इसका अर्थ है राजा का भूमि-खण्डों, वृक्षों, ओषधियों, पशुओं, द्रव्यों आदि पर भाग या हिस्सा। इस विषय में देखिए मनु (७।१३०-१३२।८।३०५), विष्णुधर्मसूत्र (३।२५)। 'भाग' का यह अर्थ अति प्राचीन है। भागदुघ, राजा के रत्नियों मे एक रत्नी था। अमरकोश मे बलि, कर, भाग पर्याय माने गये हैं।

शुल्क शब्द का अर्थ है चुंगी, जो क्रेताओं एवं विक्रेताओं द्वारा राज्य के बाहर या भीतर ले जाने या लाने वाले सामानों पर लगायी जाती थी (शुक्र० ४।२।१०८)। पाणिनि (४।३।७५) के 'आयस्थानेभ्यष्ठक्' सूत्र की व्याख्या करते हुए महाभाष्य ने 'शौल्किक' एवं 'गौल्मिक' उदाहरण दिये हैं, जिनसे प्रकट होता है कि शुल्क, जो चुंगी की चौकियों पर लिया जाता था, आय का एक रूप था।

राज्य की आय के प्रमुख एवं सतत चलने वाले साधन तीन थे, यथा—उपज पर राजा का भाग, चुंगी एवं दण्ड से प्राप्त धन (अपराधियों एवं हारे हुए मुकदमेबाजों से प्राप्त धन, अर्थात् उन पर लगाये गये आर्थिक दण्डों से प्राप्त धन)। इस विषय मे देखिए शान्ति० (७१।१०) एवं शुक्र० (४।२।१३)। प्रमुख करदाता थे कृषक, व्यापारी, श्रमिक एवं शिल्पकार (मनु १०।११९-१२०)। वर्धमान (पृ० ५) के दण्डविवेक में उद्धृत मनु (८।३०७) के अनुसार वह राजा, जो बिना रक्षा किये बलि, कर, शुल्क, प्रतिभोग (मुद्रित संस्करण में प्रतिभाग) एवं दण्ड (अर्थ-दण्ड या जुरमाना) लगाता है, सीधे नरक को जाता है। वर्धमान ने उसे कर कहा है जो प्रति माह ग्रामवासियों एवं नगर-वासियों से (कुल्लूक के मत मे प्रत्येक मास में, या वर्ष मे दो बार, भाद्रपद या पौष मे) लिया जाता है, व्यापारियों से प्राप्त $\frac{1}{20}$ भाग शुल्क तथा प्रति दिन बेचे गये फल, फूल एवं शाक पर लगने वाला प्रतिभोग कहा गया है। इन कतिपय तथा अन्य प्रकार के करों के विषय में यहाँ कुछ लिख देना आवश्यक जान पड़ता है।

मनु (७।१३०), गौतम (१०।२४), विष्णुधर्मसूत्र (३।२२), मानसोल्लास (२।३।१६३, पृ० ४४) एवं अन्य ग्रन्थों में राजा भूमि से प्राप्त अन्न के $\frac{1}{6}$, $\frac{1}{8}$ या $\frac{1}{12}$ भाग का (विष्णु० मे $\frac{1}{6}$, गौतम मे $\frac{1}{10}$ भाग भी) अधिकारी माना जाता है। बृहस्पति एवं विष्णुधर्मोत्तर (२।१।६०-६१) मे इन करों के उगाहने की दशाओं का वर्णन मिलता है। राजा शूकधान्य (ऐसे धान्य या अनाज जिनमे टूँड़ हो, यथा जौ गेहूँ आदि) का $\frac{1}{6}$ भाग, शिम्बीधान्य (ऐसे धान्य जिनके बीच मे बीज हो या बीजकोश) का $\frac{1}{8}$ भाग, वर्षों से न जोते गये खेत से उत्पन्न अन्न का $\frac{1}{10}$ भाग, वर्षा ऋतु मे उत्पन्न अन्न का $\frac{1}{8}$ भाग एवं वसन्त ऋतु मे उत्पन्न अन्न का $\frac{1}{6}$ भाग लेता है।[15] देश की परम्परा के अनुसार कर वर्ष मे या छः मास मे एक बार उगाहा जाता था। कौटिल्य द्वारा उपस्थापित विभिन्न कर-परिणामों की ओर सीताध्यक्ष के

१५ विष्णुधर्मोत्तरे। शूकधान्येषु षड्भागं शिम्बीधान्येष्वथाष्टमम्। राजा वल्यर्थमादद्याद्देशकालानुरूपतः ॥ शूकशिम्ब्यतिरिक्ते धान्ये मनुगौतमोक्तो द्वादशो दशमो वा भागः। तथा च बृहस्पतिः। दशाष्टषष्ठं नृपतेर्भागं दद्यात् कृषीवलम्। खिलाद्वर्षावसन्ताच्च कृष्यमाणाद्यथाक्रमम् ॥ स एवाह। देशस्थित्या बलिं दद्युर्भूतं षण्मास-वार्षिकम्। एष धर्मः समाख्यातः कीनाशानां पुरातनः ॥ राजनीतिप्रकाश (पृ० २६२—२६३) एवं राजधर्मकाण्ड (पृ० ६३, अन्तिम दो श्लोक)।

कार्यों के वर्णन (देखिए पृ० ६४६) में संकेत कर दिया गया है। शुक्र (४।२।१२१-१२२) ने एक सुन्दर नियम दिया है—'यदि कोई कृषक तालाब, कूप, आराम बनाता है या वर्षों से पड़े हुए (अकृष्ट अर्थात् न जोते गये) खेत को जोतता है तो उससे तब तक कर नहीं लिया जाना चाहिए, जब तक कि वह अपने व्यय किये हुए धन का दुगुना नहीं प्राप्त कर लेता।' कौटिल्य (२।१) ने लिखा है कि राजा को चाहिए कि वह कृषकों को बीज, पशु एवं धन अग्रिम दे दे, जिसे कृषक कई सरल किस्तों में लौटा सकता है। इस प्रकार की कृपा को अनुग्रह कहा जाता है। राजा को इस प्रकार अनुग्रह एवं परिहार (छूट) करना चाहिए कि कोष बढ़े न कि खाली हो जाय।[19] हम इसके पूर्व यह देख लिया है कि साधारणतः राजा को उपज का १/६ भाग मिलता था, किन्तु आक्रमण या अन्य प्रकार की आपत्ति की स्थिति में वह १/४ भाग तक कर प्राप्त कर सकता था। मेगस्थनीज (फ्रैग्मेण्ट १, पृ० ४२) का कथन है कि किसी को भूमि-स्वामित्व का अधिकार नहीं है, प्रत्येक व्यक्ति को भूमि-कर के अतिरिक्त उपज का १/४ भाग देना पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में कर अधिक देना पड़ता था, क्योंकि उन दिनों यूनानी आदि आक्रामकों को मार भगाने तथा विशाल सेना के लिए अधिक धन की आवश्यकता थी। मनु (७।१३०), गौतम (१०।२५), विष्णुधर्मसूत्र (३।२४), मानसोल्लास (२।३।१६६, पृ० ७४) आदि के मत से राजा को चरवाहों द्वारा पालित पशुओं तथा महाजनी पर १/५० भाग लेने का अधिकार था। अन्तिम बात से प्रकट होता है कि बहुत प्राचीन काल में आयकर (इनकम टैक्स) लेने की प्रथा भी कुछ रूप से विद्यमान थी। शुक्र (४।२।१२८) ने महाजनों द्वारा प्राप्त ब्याज पर १/३२ भाग लेने की व्यवस्था दी है।[20] विष्णु ने इस विषय में वस्तु-व्यापार की भी चर्चा की है। मनु (७।१३१-१३२), गौतम (१०।२७), विष्णुधर्मसूत्र (३।२५), विष्णुधर्मोत्तर (२।६१।६०-६१) एवं मानसोल्लास के अनुसार राजा को पेड़ों, मांस, मधु, घृत, चन्दन, ओषधियों के पौधों (यथा मुकुली), रसों (नमक आदि), पुष्पों, जड़ों (यथा हल्दी आदि), फलों, पत्तियों (यथा ताम्बूल आदि), शाकों (तरकारियों), चर्म, पात्रों, बाँस की बनी वस्तुओं, मिट्टी के बरतनों, प्रस्तर की वस्तुओं पर १/६ भाग मिलता था। विष्णु ने इस सूची में मृगचर्म भी जोड़ दिया है।

शुल्क के दो प्रकार हैं—(१) वह जो स्थलमार्ग द्वारा ले जाये जाने वाले सामानों पर लगता है और (२) वह जो जलमार्ग द्वारा ले जाये जाने वाले सामानों पर लगता है (मिताक्षरा, याज्ञ० २।२६१)। गौतम (१०।२६) एवं विष्णुधर्मसूत्र (३।२९) के अनुसार देश में क्रीत एवं विनिर्मित सामानों पर शुल्क १/२० भाग था, जिसे हरदत्त एवं नन्दपण्डित ने बिकी हुई वस्तुओं के दाम पर ५ प्रतिशत माना है और राजनीतिप्रकाश (पृ० २६४) ने क्रीत धन एवं विनीत धन के अन्तर अर्थात् लाभ के ५ प्रतिशत के रूप में माना है। विष्णुधर्मसूत्र (३।२९-३०) का कहना है कि राजा अपने देश में बने हुए सामानों पर १/१० भाग तथा दूसरे देश से आये हुए सामानों पर १/२० भाग कर लेता है। याज्ञ० (२।२६१) का कहना है कि सामानों का १/२० भाग कर के रूप में लिया जाता है। कौटिल्य (२।२१) ने शुल्काध्यक्ष के अध्याय में कुछ नियम दिये हैं जिनके विषय में कुछ मनोरंजक बातें ये हैं—विवाह सम्बन्धी सामानों, वधू द्वारा पिता के घर से श्वसुराल ले जाते हुए सामानों या भेंट की वस्तुओं पर, यज्ञ के सामानों, प्रसूति के सामानों, देवों की पूजा की वस्तुओं, चौल, उपनयन, गोदान, व्रत के उपकरणों, यज्ञ में दीक्षित करने के सामानों तथा इसी प्रकार अन्य प्रकार के विशिष्ट उत्सवों या क्रिया-संस्कारों में उपस्थित वस्तुओं पर कर नहीं लगता। वे वस्तुएँ, जो देश के लिए नाशकारी

१९. धान्यपशुहिरण्यैश्चैताननुगृह्णीयात् तान्यनुसुखेन दद्युः। अनुग्रहपरिहारौ चैभ्यः कोशवृद्धिकरौ दद्यात्। कौटिल्य २।१ पृ० ४७।

२०. वार्धुषिकाच्च कौसीदात् द्वात्रिंशांशं हरेन्नृपः। शुक्र ४।२।१२८।

हो अथवा निरर्थक हो, नष्ट कर देनी चाहिए, उन वस्तुओ पर जिनकी उपादेयता बहुत अधिक हो, वे बीज जो सरलता-पूर्वक प्राप्त नही होते, आदि आदि विना किमी शुल्क के दूमरे देश मे मँगा लिये जा सकते हैं।[१८] कौटिल्य (२।२२) ने आगे कहा है कि आयात-निर्यात पर शुल्क लगता है, आयात पर सामान्यत वस्तुओ का $\frac{1}{5}$ भाग कर-रूप मे लिया जाता है और अन्य प्रकार की वस्तुओ पर विभिन्न प्रकार के शुल्क लिये जा सकते हैं, यथा $\frac{1}{6}$, $\frac{1}{10}$, $\frac{1}{15}$, $\frac{1}{20}$ या $\frac{1}{25}$ भाग। कौटिल्य (२।२८) ने वन्दरगाहो के सामानो के शुल्कों की चर्चा की है जिसके विपय मे हमने पहले ही पढ लिया है।

नाव से पार होने या सामान ले जाने पर निम्न प्रकार के नियम वने थे। ब्राह्मणो, साधुओ, वच्चो, वूढा, रोगियो, राजदूतो, गर्मवती स्त्रियो पर नाव से पार होने ममय शुल्क नही लगा था। सामान तथा पशुओ के वच्चो या छोटे पशुओ वाले मनुष्यो को एक माप, गाय, घोडा वाले मनुष्यो को दो माप शुल्क देना पडता था। पशुओ की सख्या के अनुसार शुल्क वढता जाता था। मानमोल्लास (२।४, श्लोक ३७४-३७६, पृ० ६२) ने व्यवस्था दी है कि राजा को वेलापुरो (वन्दरगाहो) की सुरक्षा करनी चाहिए, और जव अपने देश के नाविक दूर देश से मामान लेकर वेलापुर पर आयें तो उनसे सामानो का $\frac{1}{10}$ भाग शुल्क के रूप मे लेना चाहिए और यदि उलटी हवाओं के कारण विदेशी नावे अपने वेलापुरो मे चली आयें तो उनका सारा सामान जव्त कर लेना चाहिए या थोडा-बहुत छोडकर सर्वस्व हरण कर लेना चाहिए। इस विपय मे एक मनोरजक शिलालेख का मी हवाला द्रष्टव्य है (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द १२, पृ० १९५)[१९]। काकतीयराज गणपतिदेव (१२४४-४५ ई० सन्) के मोटुपल्लि-स्तम्भ के अभिलेख मे एक अभय-शासन (सुरक्षा-सम्बन्धी राजानुशासन या सिक्योरिटी के चार्टर) का उल्लेख है। यह अनुशासन उन नाविको के विपय मे है, जो दूसरे-दूसरे देशो के नगरो, द्वीपो एव महाद्वीपो तक अपने पोत चलाया करते थे, यथा—"पुराने राजा लोग, उन पोतो के सामानो, यथा मोना, हाथी, घोडे आदि को छीन लेते थे, जो एक देश से दूसरे देश जाते समय दुर्वातो (विरोधी हवाओ) के कारण ऐसे स्थान मे आ लगते थे, जो उनका गन्तव्य न हो, किन्तु यह जानते हुए कि जीवन से धन अधिक प्यारा है, हम लोगो ने दयापूवक यह निश्चय किया है कि हम उन्हे मव कुछ ले जाने देंगे, केवल उनसे शुल्क मात्र लेंगे, (क्योकि) वे समुद्र पार करने का साहस करते हैं। ऐसा करके हम गौरव एव मचाई के अधिकारी होंगे। शुल्क इस प्रकार लिया जाता है ।" ममुद्र से आये हुए सामानो पर वौधायनधर्मसूत्र (१।१०।१५-१६) के अनुसार $\frac{1}{10}$ भाग शुल्क लगना चाहिए। देखिए एपिग्रैफिया इण्डिका (जिल्द ३, पृ० २९२)। शुक्रनीतिमार (४।२।१०९-१११) ने उचित शुल्क-निर्धारण किया है। एक देश मे एक वस्तु पर एक ही वार शुल्क लगेगा, राजा क्रय करने वाले या विक्रय करने वाले से $\frac{1}{16}$, $\frac{1}{20}$ या $\frac{1}{32}$ भाग ले सकता है। यदि विना लाम उठाये या घाटे पर सामान वेचा जाय तो उम पर शुल्क नही लगता, राजा को शुल्क लगाने के पूर्व यह देख लेना चाहिए कि वेचने वाला क्या वेचने जा रहा है और कितना लाभ प्राप्त हो रहा है। नारद (सम्भूयसमुत्थान, श्लोक १४-१५) का कहना है कि घर के काम के लिए सामानो पर श्रोत्रिय (वेदज्ञ) को शुल्क नही देना पडता, किन्तु उसके व्यापार के सामानो पर

१८. राष्ट्रपीडाकर भाण्डमुच्छिन्द्यादफल च यत्। महोपकारमुच्छुल्क कुर्याद् बीज तु दुर्लभम्॥ कौटिल्य (२।२१)।

१९. "पूर्वराजान पोतपात्रेष्वन्यदेशाद्देशान्तर प्रवृत्तेषु दुर्वातेन समापतितेषु भग्नेष्वतीर्यसगतेषु च सभृतानि करितुरगरत्नादीनि वस्तूनि सकलानि वलादपहरन्ति। वयमपि प्राणेभ्योऽपि गरीयो धनमिति समुद्रयानकृतमहासाहसेभ्य-स्तेभ्य क्लृप्तशुल्कादृते कृपया कीर्त्यै धर्माय च सर्वं वितराम इति। तत्शुल्कपरिमाणम्" । इसके उपरान्त शुल्कों के विषय में तेलुगु भाषा मे वर्णन है। देखिए एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द १२, पृ० १९५।

शुल्क लगता है, ब्राह्मणों को भेंट के सामानों पर शुल्क नहीं देना पड़ता है। इसी प्रकार अभिनेता की सम्पत्ति एवं कन्धे पर ढोये जाने वाले (बहँगी) सामानों पर शुल्क नहीं लगता। इस विषय में और देखिए इस ग्रन्थ का भाग २, अध्याय ३। गौतम (१०।९-१२), आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।१०।२६।१०-१७), वसिष्ठ (१।४२-४३ एवं १९।२३-२४) एवं मनु (८।३९४) ने विद्वान् एवं विद्वान् ब्राह्मणों, सभी जातियों की नारियों, युवा होने से पूर्व के बच्चों, गुरुकुल में रहने वाले छात्रों, धर्मज्ञ साधुओं, शूद्रों (जो सवर्ण लोगों का पैर धोते हैं), अन्धों, बहरों, गूँगों, रोगियों, लूलों एवं ७० वर्ष या अधिक अवस्था वालों को निःशुल्क बताया है। व्यापारी श्रोत्रियों को नारद (५।१४) के अनुसार शुल्क देना चाहिए।[20] याज्ञ० (२।४) की व्याख्या में मिताक्षरा का कथन है कि केवल विद्वान् ब्राह्मण ही करमुक्त हैं, न कि सभी ब्राह्मण। मनु (७।१३३) का कहना है कि भले ही राजा का सब कुछ नष्ट हो गया है उसे श्रोत्रिय पर कर कभी नहीं लगाना चाहिए। किन्तु रामायण (३।६।१४) में एक विचित्र विरोधी बात आयी है— मूल फल पर जीविका निर्वाह करने वाला मुनि जो धर्म करता है उसका भाग राजा का होता है।"[21] राजा पर इसी प्रकार दूसरा भार भी था, यदि वह ठीक से नियन्त्रण नहीं करता था और प्रजाजन अपराध या पाप करते थे तो राजा को उन पापों का आधा स्वयं भोगना पड़ता था (याज्ञ० १।३३७)। इसी प्रकार मनु, विष्णुधर्मसूत्र (३।२८), विष्णुधर्मोत्तर (२।६१।२५) आदि का कहना है कि राजा को अपनी प्रजा के पापों का १/६ भाग स्वयं भोगना पड़ता है।

कौटिल्य (२।१९) ने करों एवं शुल्कों के प्रकारों का वर्णन किया है। बहुत-से शब्दों का अर्थ बताना कठिन कार्य है। प्राचीन काल में दान देते समय राजाओं ने दान लेने वालों को बहुत-से करों से मुक्त किया है, जैसा कि उनके दानपत्रों से व्यक्त होता है। ऐसे अपवादों को परिहार (छूट) कहा जाता है। यह शब्द कौटिल्य एवं हाथीगुम्फा के लेख (एपि० इण्डि०, जिल्द २०, पृ० ७९) में आया है (बम्हणानं जाति परिहारं ददाति)। प्राचीन अभिलेखों में १८ परिहारों की चर्चा हुई है, यथा—विष्णुस्कन्दवर्मा (एपि० इण्डि०, जिल्द १, पृ० ९), विजयस्कन्दवर्मा (एपि० इण्डि०, जिल्द १५, पृ० २५) आदि। इस विषय में देखिए इस ग्रन्थ का भाग २, अध्याय २५।

इस ग्रन्थ के 'व्यवहार एवं न्याय' वाले अध्याय में हम अर्थ-दण्ड के विषय में पढ़ेंगे। राजा की आय के बहुत से उपादान थे। कौटिल्य (२।१२) ने खानों के अध्यक्ष के कार्यों का वर्णन किया है। खानों से निकाली हुई प्रत्येक वस्तु राजा की मानी जाती है (विष्णुधर्मसूत्र ३।५५)। मनु (८।३९) एवं उसके टीकाकार मेधातिथि के अनुसार राजा खानों से खोदी गयी वस्तुओं के अर्धांश का या कुछ वस्तुओं के १/६ आदि भाग का अधिकारी है, क्योंकि वह भूमि का स्वामी है और सुरक्षा प्रदान करता है। परशुरामप्रताप ने उद्धरण दिया है—"ब्रह्मा ने व्यवस्था दी कि राजा धन का स्वामी है, विशेष रूप से वह पृथ्वी के भीतर के धन का स्वामी है।" कात्यायन (१६।१७) का कथन है कि "राजा भूमि का स्वामी घोषित है, किन्तु सम्पत्ति के सभी प्रकारों का नहीं, अतः उसे पृथ्वी की उपज का छठा भाग मिलना चाहिए। किन्तु मनुष्य पृथ्वी पर रहते हैं अतः उनका विशिष्ट स्वामित्व भी घोषित है।" इस विषय में हमने पहले पढ़ लिया है (देखिए इस ग्रन्थ के भाग २ का अध्याय २५)। राज्य की ओर से नमक बनता था, अतः अन्य लोगों

[20] सदा श्रोत्रियवर्ज्यानि शुल्कान्याहुः मनीषिणः। गृहीतभाण्डं वणिजां न तु वाणिज्यकर्मणि॥ नारद ५।१४। ब्राह्मणेभ्यः करादानं न कुर्यात्। विष्णुधर्मसूत्र (३।२६)। इसकी टीका वैजयन्ती का कहना है—"परन्तु श्रोत्रियेभ्यः। विप्रमात्रेभ्यो करमिति व्याख्यानात्।

[21] यत्करोति परं धर्मं मुनिर्मूलफलाशनः। तत्र राजचतुर्भागः प्रजा धर्मेण रक्षतः॥ रामायण, अरण्य ६।१४।

द्वारा वनाये गये नमक पर वह अपना भाग लेता था, वह वाहर से आये हुए नमक का १/६ भाग कर-रूप मे लेता था। कौटिल्य ने खानो से प्राप्त कर के दस प्रकार वताये हैं। मानसोल्लास (२।३, श्लोक ३३२ एव ३६१) ने राजा से हीरे, मोने एव चाँदी की खानो की सुरक्षा के लिए कहा है और घोषित किया है कि विधाता ने उसे सम्पूर्ण सम्पत्ति का शासक वनाया है, विशेषत उन वस्तुओ का जो भूगर्भ मे हैं। रुद्रदामन् (१५० ई०) ने सगर्व कहा है कि उसने अपने कोष को शास्त्र के अनुसार लगाये गये वलि, शुल्क एव भाग से भरा है और उसे सोने, चाँदी, हीरो, मणियो तथा अन्य प्रकार के रत्नो मे भरपूर किया है (एपि० इण्डि०, जिल्द ८, पृ० ३६)। कौटिल्य (४।१) ने कहा है कि जो खानो की धूल वुहारता है वह १/३ भाग और राजा २/३ भाग तथा सभी रत्न पाता है। कुछ वातो मे राजा को एकाधिकार प्राप्त थे। केवल वही हाथियो को पकड सकता था (कौटिल्य २।३१-३२, मानसोल्लास २।३, पृ० ४४-५८)। मानसोल्लास में हाथियो के पकडने के कई उपाय वताये गये हैं। मेधातिथि (मनु ८।४००) ने हाथियो के अतिरिक्त अन्य वस्तुएँ, यथा—कुकुम, रेशम, ऊन, अश्व, मोती, रत्न आदि राजा के एकाधिकार के अन्तर्गत, गिनाये हैं।[२२] मेगस्थनीज (फ्रैग-मेण्ट् ३६, पृ० ९०) ने लिखा है कि राजा को छोडकर अन्य व्यक्ति हाथी या घोडा नही रख सकता था, क्योंकि ये पशु राजा की विशिष्ट सम्पत्ति के अन्तर्गत गिने जाते थे।

राजा अपने अन्तपालो (सीमा-प्रातो या सीमा के रक्षक या अभिभावक) के द्वारा भाग-कर लेता था, यथा—व्यापार के सामान से भरी एक गाडी पर १ १/४ पण, पशु पर १/२ पण, छोटे-छोटे चौपायो पर १/४ पण तथा मनुष्य के कधे पर ढोये गये सामान पर एक माष लगता था (कौटिल्य २।२१, पृ० १११)। शुक्र (४।२।१२९) ने मार्ग के जीर्णोद्धार के लिए पृथक कर की व्यवस्था दी है, आय के अन्य साधन भी थे, यथा—वटखरो पर मुहर लगाने, जुआ खिलाने वालो, नटो, सगीतज्ञो, वेश्याओ, जगलो, चरागाहो आदि मे आय अथवा कर की प्राप्ति होती थी। वृहत्पराशर (१०, पृ० २८२) ने कोष खाली हो जाने पर मन्दिरो पर भी कर लगाने की वात उठायी है, किन्तु समय का परिवर्तन हो जाने पर लिया गया धन लौटा देने की व्यवस्था दी है। इसी प्रकार इसने आपत्काल मे महाजनो (व्याज पर धन देने वालो), निम्न जातियों, अधार्मिको, वेश्याओ आदि का धन ले लेने की व्यवस्था दी है, क्योकि मन्दिरो एव अन्य लोगो की सम्पत्ति तथा उसकी विद्यमानता राजा पर ही निर्भर है।[२३]

राजतरगिणी (७।१००८) का कथन है कि गया का श्राद्ध करने वाले कश्मीरियो पर एक प्रकार का कर लगता था। विक्रमादित्य पञ्चम के एक शिलालेख (गदग के पास, सन् १०१२-१३ ई०) मे ऐसा सकेत मिला है कि उपनयन, विवाहो, वैदिक यज्ञो आदि पर भी कर लगता था (एपि० इण्डि, जिल्द २०, पृ० ६४)। अणहिलवाड के राजा सिद्ध-राज (१०९४-११४३ ई०) ने सीमान्त नगर वाहुलोद मे सोमनाथ-मन्दिर के यात्रियो पर जो कर लगता था और जिससे प्रतिवर्ष ७५ लाख की आय होती थी, अपनी माता के कहने पर उसे क्षमा कर दिया, अर्थात् उसे लेना रोक दिया (वाम्बे

२२ यानि भाण्डानि राजोपयोगितया यथा हस्तिन काश्मीरेषु कुकुमप्रायेषु पट्टोर्णादीनि प्रतीच्येष्वश्वा दाक्षिणात्येषु मणिमुक्तादीनि। मेधा० (मनु ८।४०)। आज भी कश्मीर का कुकुम प्रसिद्ध है। सरकपासुधावका सार-त्रिभाग लभरेन्। द्वौ राजा रत्न च। अर्थशास्त्र ४।१।

२३ नृपस्य यदि जातानि देवद्रव्याणि कोशवत्। आदाय रक्ष्य चात्मान ततस्तत्र च तत् क्षिपेत्।। वित्त वार्धुषिकाणा तु कदर्यस्यापि यद्भवेत्। पाषण्डिगणिकावित्त हरन्नातो न किल्विषी।। देवब्राह्मणपाषण्डिगणका गणिकादय। वणिग्वार्धुषिका सर्वे स्वस्थे राजनि सुस्थिता ।। वृहत्पराशर (१०, पृ० २८२)।

अध्याय ८

बल (सेना) (६)

कौटिल्य के अर्थशास्त्र एवं अन्य ग्रन्थों में बल को दण्ड भी कहा गया है। किन्तु सुमन्तु के मत से दण्ड का तात्पर्य है "शारीर दण्ड या अर्थ-दण्ड" और वे चतुरंगिणी सेना की गणना कोष के अन्तर्गत मानते हैं।[1] ऋग्वेद में सेना, अस्त्र-शस्त्रों, युद्धों आदि का वर्णन कई बार हुआ है। 'सेनानी' शब्द ऋग्वेद (१०।८४।२) में आया है जहाँ युद्धाक्रोश को सेनानी होने के लिए पुकारा गया है।[2] ऋग्वेद (६।७५) में धनुषों, बाणों, कवच (शिरस्त्राण आदि), प्रत्यञ्चाओं, तूणीर, सारथि, अश्वों, रथों आदि की चर्चा हुई है। कामन्दक (१३।३४-३७) का कथन है कि परिपूर्ण कोष के रहने पर राजा अपनी क्षीण सेना बढ़ाता है, अपनी प्रजा की रक्षा करता है और उस पर उसके शत्रुगण भी आश्रित रहते हैं। बलशाली सेना के रहने पर मित्रों एवं शत्रुओं की सम्पत्ति तथा स्वयं राजा के राज्य की सीमाएँ बढ़ती हैं, उद्देश्यों की शीघ्र एवं मनचाही पूर्ति होती है, प्राप्त की हुई वस्तुओं की सुरक्षा होती है, शत्रु की सेनाओं का नाश होता है तथा अपनी सेनाओं की टुकड़ियाँ एकत्र की जा सकती हैं। अधिकांश आचार्यों के मत से सेनाएँ छः प्रकार की होती हैं, यथा—मौल (वंशपरम्परानुगत), भृत या भृतक या भृत्य (वेतन पर रखे गये सैनिकों का दल), श्रेणी (व्यापारियों या अन्य जन-समुदायों की सेनाएँ), मित्र (मित्रों या सामन्तों की सेना), अमित्र (ऐसी सेना जो कभी शत्रुपक्ष की थी), अटवी या आटविक (जंगली जातियों की सेना)। इस विषय में देखिए कौटिल्य (९।२, प्रथम वाक्य), कामन्दक (१८।४), अग्नि० (२४२।१-२), मानसोल्लास (२।६, श्लोक ५५६, पृ० ७६)। इनमें प्रथम तीन ग्रन्थों के अनुसार उपर्युक्त छः प्रकारों में पूर्ववर्णित प्रकार आगे वाले प्रकारों से उत्तम हैं।[3] मौल दल आज की स्थायी सेना का द्योतक है। कौटिल्य ने इस सेना की प्रभूत महत्ता गायी है, क्योंकि यह राजा द्वारा प्रतिपालित होती है और इसके सैनिक सदा व्यायाम एवं अभ्यास करते रहते हैं। मौल सेना में ऐसे लोग रहते थे जिनके पूर्वजों को उनकी सैनिक सेवाओं के फलस्वरूप करमुक्त भूमि-खण्ड प्राप्त हुए थे। सभापर्व (५।६३) ने सेना के चार प्रकार (श्रेणी एवं अमित्र को छोड़ दिया है) एवं युद्धकाण्ड (१७।२४) ने पाँच प्रकार (श्रेणी को छोड़ दिया है) बताये हैं। आश्रमवासिकपर्व (७।७-८) के अनुसार सेना के पाँच प्रकार हैं (अमित्र को छोड़ दिया गया है) और मौल तथा मित्र नामक सेनाओं को अन्य प्रकारों से श्रेष्ठ कहा गया है तथा भृतक एवं श्रेणी सैन्य दलों को एक-दूसरे के समान ही कहा गया है। सेना के इन प्रकारों की चर्चा वलभी के राजा ध्रुवसेन प्रथम के शिलालेख (वलभी + गुप्त संवत् २०६) में भी हुई है (एपि० इण्डि०, जिल्द ११, पृ० १०६)।

१ दण्डः चतुरंगसैन्यं न भवति। अपराधानुसारेण शारीरोऽर्थदण्डः परिकल्पनीयः। अयमभिसन्धिः—सुमन्तुमते चतुरंगसैन्यस्य कोश एवान्तर्भाव इति। स० वि०, पृ० ४६।

२ अग्निरिव मन्यो त्विषित सहस्व सेनानीर्नः सहुरे हूत एधि॥ ऋ० १०।८४।२।

३ मौलभृतकश्रेणीमित्रामित्राटवीबलानां समुद्दानकालाः। पूर्वं पूर्वं चैषां श्रेयः सन्नाहयितुम्। कौटिल्य ९।२।

मानसोल्लास (२।६, श्लोक ५५९-५६ पृ ७९) ने भी सेनाओं के विषय में अपना मत दिया है। इसके अनुसार आटविक सेना में निषाद म्लेच्छ आदि पहाड़ी प्रदेशों में रहने वाली जातियों के लोग रहते हैं। अमित्र सेना वह है जिसमें विजित देश के सैनिक रहते हैं जो दास-रूप में भर्ती होते हैं। राजनीतिरत्नाकर (पृ १८) के अनुसार अरिबल वह है जिसके सैनिक अपने राजा को त्याग कर दूसरे राजा की सेना में आ मिलते हैं। कामन्दक (१८।७) के अनुसार आटविक दल स्वभावतः अधार्मिक लोभी अनार्य एवं सत्य से दूर रहने वाला होता है। लगता है, इस दल के लोग उत्तरकालीन मुगल-काल अथवा अंग्रेजों के शासन स्थापित होने के पूर्व के पिण्डारियों एवं ठगों के समान थे। कौटिल्य (९।२) एवं कामन्दक (१८।५ ९) ने विस्तार के साथ अमित्र एवं आटविक सेना की अपेक्षा मौल एवं अन्य सेनाओं की श्रेष्ठता प्रकट की है। कौटिल्य का कहना है कि किसी कार्य की सम्पन्नता में अमित्र सेना आटविक सेना से अच्छी है। दोनों प्रकार की सेनाएँ डाकेजनी करने को आतुर रहती हैं अतः यदि उनके लिए उनके स्वभावानुकूल अवसर न मिला तो वे सर्पों के समान भयंकर हो उठती हैं। कौटिल्य ने श्रेणी बल को युद्धप्रशिक्षित सैनिकों का दल माना है और उन्हीं के सैनिकों को उसने 'वार्ताशस्त्रोपजीविन' कहा है (कौटिल्य ११।१)। व्यापारीगण अपने सामानों की रक्षा के लिए दल सैनिकों का दल रखते थे। लगता है, समय पड़ने पर राजा इन व्यापारियों के सैनिक दलों को युद्ध में ले जाते थे इसी से यह सैन्य-बल मौल एवं भृत्य-बल से पृथक समझा जाता था। कौटिल्य ने अन्य आचार्यों का यह मत कि जो सैन्य दल क्रम से ब्राह्मणों क्षत्रियों वैश्यों एवं शूद्रों द्वारा गठित होते हैं वे उसी क्रम से अच्छे कहे जाते हैं, नहीं माना है।[४] उनके अनुसार सुन्दर ढंग से प्रशिक्षित क्षत्रियों का दल या वैश्यों या शूद्रों का दल ब्राह्मणों के सैन्य-बल से कहीं अच्छा होता है क्योंकि शत्रु लोग ब्राह्मणों के चरणों में झुककर उन्हें अपनी ओर फोड़ ले सकते हैं। ब्राह्मण सैनिक-कार्य कर सकते हैं कि नहीं इस विषय में देखिए इस ग्रन्थ के भाग २ का अध्याय ३। उद्योगपर्व (१६६।७ चित्रशाला संस्करण अध्याय ९४) में आया है कि राजा दम्भोद्भव प्रति दिन प्रात काल यही कहता था—"क्या कोई शूद्र, वैश्य क्षत्रिय या ब्राह्मण मेरे बराबर बलशाली है और मुझसे युद्ध कर सकता है?" इससे स्पष्ट है कि क्षत्रियों के अतिरिक्त अन्य जाति वाले भी महाभारत काल में सैनिक हो सकते थे। कामन्दक (७।६६ ६५ एवं ६७) के अनुसार मौल अथवा पितृ-पैतामह सेना में अधिकांश क्षत्रिय ही होने चाहिए। महाराज धारसेन द्वितीय (वलभी-संवत् ५७१-७२ ई) के मलिय नामक ताम्रपत्र में लिखा है कि वलभी-राज्य के संस्थापक भटार्क ने मौल, भृत मित्र एवं श्रेणी सेनाओं के द्वारा राज्य प्राप्त किया (गुप्ताभिलेख पृ १६५)। शुक्र (२।१३७-१३९) का कथन है कि शूद्र, क्षत्रिय वैश्य म्लेच्छ या वर्णसंकर कोई भी सैनिक हो सकता है किन्तु उसको साहसी नियमित शरीर से सुगठित विश्वासपात्र धार्मिक एवं शत्रुद्रोही होना आवश्यक है। शान्तिपर्व (१ १०१-२) ने बतलाया है कि गन्धार, सिन्धु एवं अन्य देशों के सैनिक तथा यवन एवं दक्षिणी सैनिक नखोंकर सबसे अच्छे होते हैं। इस पर्व (श्लोक ६) में आया है कि साहसी एवं सुदृढ व्यक्ति सभी स्थानों में पाये जा सकते हैं किन्तु सीमाप्रान्तों के मनुष्य (भिल्ल एवं कैवर्त जैसा कि नीलकण्ठ ने लिखा है) प्राणों की बाजी लगाकर लड़ते हैं और युद्धक्षेत्र से कभी नहीं भागते अतएव उन्हें सेना में भर्ती करना चाहिए (श्लोक १९)। यशस्तिलक (१ पृ ४६१ ४६७) ने औत्तरापथ (उत्तरापथ अर्थात् उत्तर भारत के लोगों) दाक्षिणात्य द्रमिल (दक्षिण भारत के) तिरहुत (तैरभुक्त) एवं गुजराती सैनिकों के गुणों की चर्चा की है।

४ ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रसैन्यानां तेजःप्राधान्यात् पूर्वं पूर्वं श्रेयः संनाहयितुमित्याचार्याः। नेति कौटिल्यः। प्रणिपातेन ब्राह्मणबलं परोऽभिहारयेत्। प्रहरणविद्याविनीतं तु क्षत्रियबलं श्रेयो बहुलसारं वा वैश्यशूद्रबलमिति। कौटिल्य ९।२।

सेना के चार भाग होते थे, हस्ती, अश्व, रथ एव पदाति और इस प्रकार की सेना की सज्ञा थी चतुरगिणी। कामन्दक (१८।२४) के मत से बल के छ प्रकार थे—हस्ती, अश्व, रथ, पदाति, मन्त्र (नीति) एव कोष। शान्तिपर्व (१०३।३८) मे सेना के छ अगो का उल्लेख हुआ है—हस्ती, अश्व, रथ, पदाति, कोष एव आवागमन के मार्ग। कौटिल्य (२।२, ७।११) एव कामन्दक (१९।६२) के मत से शत्रु-नाश हाथियो पर निर्भर रहता है।[5] शान्तिपर्व (१००।२४) का कहना है कि वह सेना सुदृढ है, जिसमे पैदल सैनिक अधिक हो, जब वर्षा न हो तो रथ एव घुडसवार भी अच्छे ही हैं। शान्ति० (५९।४१।४२) ने सेना के आठ अग बताये हैं—हस्ती, अश्व, रथ, पैदल (पादात), विष्टि (श्रमिक जो बेगार देते थे और जिन्हें भोजन के अतिरिक्त कोई पारिश्रमिक नही मिलता था), नाव, चर एव देशिक (पथप्रदर्शक)। और देखिए शाति० (१२१।४४)। महाभारत मे, जैसा कि वर्णन मिलता है, हाथियो के युद्धो का वर्णन रथो एव अन्य आयुधो की अपेक्षा बहुत ही कम है। विराटपर्व (६५।६) मे आया है कि अर्जुन से लडते समय विकर्ण हाथी पर बैठा था। भीष्मपर्व (२०।७) मे दुर्योधन हाथी पर बैठा दिखाया गया है और भीम से लडते समय भगदत्त हाथी पर ही सवार था (९५।३२-३३)। इस विषय मे महाभारत ने वैदिक परम्परा सँभाली है। मेगस्थनीज (फ्रैगमेण्ट १, पृ० ३०) के मत से प्राचीन भारत मे हाथी युद्धो के लिए प्रशिक्षित होते थे और जय-विजय के पलडे को इधर या उधर कर देते थे।

प्राचीन भारतीय राजा एव सम्राट् विशाल सेना रखते थे। लवणासुर से युद्ध करने के लिए शत्रुघ्न ४००० घोडो, २००० रथो एव १०० हाथियो को लेकर चले थे (रामायण ७।६४।२-४)। दशकुमारचरित (८) मे विहारभद्र ने अपने स्वामी को स्मरण दिलाया है कि उसके पास १००० हाथी, ३ लाख घोडे एव असख्य पैदल सैनिक थे। मेगस्थनीज (फ्रैगमेण्ट २७, पृ० ६८) ने सैंड्रकोट्टोस (चन्द्रगुप्त मौर्य) के शिविर का वर्णन किया है और कहा है कि उसमे ४,००,००० व्यक्ति थे। पालिब्रोथ्रा (पाटलिपुत्र) के राजा के पास निम्न सैन्य बल था—६ लाख पैदल, ३००० अश्व, ९००० हाथी (मैक्रिंडिल, पृ० १४१)। इसी प्रकार होराटी (सुराष्ट्र) के राजा के पास १,५०,००० पैदल, ५००० घोडे, १६०० हाथी थे (मैक्रिंडिल, पृ० १५०) और पाण्ड्य राज्य मे नारियो का राज्य था, जिसमे १,५०,००० पैदल,

५ हस्तिप्रधानो विजयो राज्ञाम्। कौटिल्य (२।२), हस्तिप्रधानो हि परानीकवध। कौटिल्य (७।११); नागेषु हि क्षितिभुजा विजयो निबद्धस्तस्माद् गजाधिकबलो नृपति सदा स्यात्। काम० १९।६२, मुख्य दन्तिबल राज्ञा समरे विजयैषिणाम्। तस्मान्निजबले कार्या बहवो द्विरदा नृपै ॥ मानसोल्लास २।८, श्लोक ६७८, पृ० ९०, यतो नागास्ततो जय। बुधभूषण, पृ० ४२, बलेषु हस्तिन प्रधानमङ्ग स्वैरवयवैरष्टायुधा हस्तिनो भवन्ति। नीतिवाक्यामृत (बलसमुद्देश, पृ० २०७)। हाथी के चारों पैर, दो दाँत, सूड एव पूंछ आठ आयुध हैं। यद्यपि बुधभूषण (पृ० ४२) ने हाथी की प्रभूत प्रशसा की है, नीतिवाक्यामृत का कहना है कि यदि हाथी भली भाँति प्रशिक्षित न हो, तो वे धन (क्योंकि वे बहुत अन्न और चारा खा जाते हैं) एव जन (युद्ध में से अपने ही सैनिकों को पैरो तले कुचल देते हैं) का नाश कर देते हैं—"अशिक्षिता हस्तिन केवलमर्थप्राणहरा" (२२।५, पृ० २०८)। यशस्तिलक (२, पृ० ४९१) का कथन है—"न विनीता गजा येषा तेषा ते नृप केवलम्। क्लेशायापि विनाशाय रणे चात्मवधाय च ॥" यह बात हम मुसलमानो एव अन्य बाहरी आक्रामको के युद्धो मे देख चुके हैं। इतिहास प्रमाण है (देखिए एलफिन्स्टन की हिस्ट्री आव इण्डिया, पाँचवाँ सस्करण, १८६६ ई०, पृ० ३०९, जहाँ सिन्ध के राजा दाहिर एव मुहम्मद बिन कासिम के युद्ध मे अग्निगोला लग जाने पर राजा दाहिर के हाथी के बिगड जाने का वर्णन है, कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव इण्डिया, जिल्द ३, १९२८, पृ० ५ एव १६, जहाँ महमूद गजनवी से लडते समय राजा अनगपाल के हाथी के बिगड जाने का उल्लेख है)।

बिल्ला (सकेत) था जिसे वे अपने वस्त्रो पर लगाये रहते थे, जिससे उनके पद एव स्थान का पता उचित रूप से चल सके। अयोध्याकाड (१००।३२ = सभापर्व ५।४८) मे आया है—"मैं समझता हूँ पात्रता के अनुसार प्रत्येक सैनिक को तुम उचित समय से भोजन-सामग्री एव वेतन देते हो और देरी नही करते हो।" नारदस्मृति (सम्भूय-२०) एवं बृहस्पतिस्मृति के मत से भाडे पर काम करने वालो मे सैनिक सर्वश्रेष्ठ होता है। मानसोल्लास (२।६।५,६६०-६९०) का कहना है कि राजा को मौल सेना के प्रमुखो को रत्नो, आभूषणो, बहुमूल्य परिधानो, मधुर शब्दो एव भोजन-सामग्री विशिष्ट उपकरणो से सम्मानित करना चाहिए, और उन्हे एक ग्राम या दो ग्राम या अधिक ग्राम या सोना आदि देना चाहिए। राजा को चाहिए कि वह भाडे पर काम करने वाले सैनिको को प्रति दिन, मासिक, त्रैमासिक, या जैसा भी सम्भव हो, वेतन समय से दे। मेगास्थनीज (फ्रैगमेण्ट ३४, पृ० ८८) ने भारतीय सेना के प्रबन्ध का उल्लेख किया है—"एक तीसरी प्रशासक सस्था सैनिक कार्यो की देखभाल करती थी, जिसके ६ भाग थे और प्रत्येक भाग मे ५ सदस्य थे। एक भाग नौ-सेना से सम्बन्धित था, दूसरा बैलगाडियो, भोजन-सामग्री तथा अन्य सामानो को ढोने के लिए, तीसरा पैदल सेना, चौथा घुडसवारो, पाँचवाँ रथो एव छठा हाथियो से सम्बन्धित था।" मध्यकाल मे रथो को मान्यता नही मिली और हर्षचरित मे भी जहाँ सेनाओं का विशद वर्णन मिलता है, रथो की चर्चा नही हुई है। महाभारत मे भारत के उत्तर-पश्चिम देशो के घोडो को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। कम्बोज एव गन्धार के घोडो का उल्लेख सभापर्व (५३।५) मे हुआ है, बाह्लीक के घोडो का उद्योग० (८६।६) मे, काम्बोज घोडो का द्रोण० (१२५।२५) एव सौप्तिक० (१३।२) मे हुआ है। हर्षचरित (२) ने वनायु, आरट्ट, कम्बोज, सिन्धु देश एव पारसीक से आये हुए घोडो को सर्वश्रेष्ठ कहा है।

शुक्र० (८।७।३७०-३९०) ने सेना के विषय मे कुछ व्यावहारिक नियम दिये हैं। सैनिको को ग्राम या बस्ती से दूर (किन्तु बहुत दूर नहीं) रखना चाहिए, ग्रामवासियो एव सैनिको मे धन के लेन-देन का व्यापार नही होने देना चाहिए, सैनिको के लिए राजा को पृथक् दुकानें खोलने का प्रबन्ध करना चाहिए, एक स्थान पर सैनिकों का आवास ... अधिक नही होना चाहिए, बिना राजा की आज्ञा के सैनिक ग्रामो के भीतर न जाने पाये, जो कुछ सैनिकों ... उसकी रसीद रख लेनी चाहिए और उनके वेतन का लेखा-जोखा रखना चाहिए। इनमे से कुछ ... हैं। उद्योगपर्व (३७।३०) मे आया है कि राजाओ के नौकरो एव सैनिको ने व्यवहार नहीं ...

राजा की सेना के प्रबन्ध आदि के विषय मे कौटिल्य के अर्थशास्त्र (९।१-७ एव १०।१-६) ... है, यथा—सेना-प्रबन्ध कैसा हो, आक्रमण के लिए प्रस्थान कब और कहाँ होना चाहिए, ... विपत्तियाँ तथा उन्हे दूर करने के क्या उपाय हैं, देशद्रोहियो एव शत्रुओं के ... बाढ, महामारी, दुर्भिक्ष आदि विपत्तियो मे क्या धार्मिक परिहार (देव- ... सार इन्द्रजालिक क्रियाएँ) होने चाहिए, सेनाओ का स्कन्धावार (... व्यूहरचनात्मक समर कैसे किया जाय, कौन-से युद्धस्थल अच्छे हैं। ... बेगार, व्यूह-रचना आदि पर विशद वर्णन मिलता है। ... सकते। दो-एक बातें यहा दे दी जाती हैं। राजा को ... या जब शत्रु किसी आपत्ति से ग्रस्त हो तब आक्रमण ... जाती है। जब कोई मन्त्री, पुरोहित, सेनापति ... त्तियो का जागरण होता है। ऐसी स्थिति मे ... सकेत करके सब कुछ शात कर देना ... डालना चाहिए (जब कोई अन्य ... आटविक या किसी विदेशी ...

(२।५।१०।१२), गौतम (१०।१७-१८), याज्ञ० (१।३२६), मनु (७।९०-९३), शान्ति० (९५।७-१४, ९६।३०, ९८।४८-४९, २९७।४), द्रोण० (१८३।८), कर्ण० (९०।१११-११३), सौप्तिक० (५।११-१२, ६।२१-२३), शङ्ख (याज्ञ० १।३२६ की व्याख्या मे मिताक्षरा द्वारा उद्धृत), बौधायनधर्मसूत्र (१।१०।१०-१२), वृद्ध-हारीत (७।२२६), बृहत्पराशर (१०, पृ० २८१), शुक्र० (४।७।३५४-३६२), युद्धकाण्ड (१८।२७-२८) आदि मे युद्ध-सम्बन्धी बडे उदात्त विचार व्यक्त किये गये हैं। इनमे से कुछ निम्नोक्त है।[७] गौतम (१०।१७-१८) का कहना है कि "जिन्होंने अश्व, सारथि, आयुध खो दिये हो, जिन्होंने हाथ जोड लिये हो, जिनके केश बिखर गये हो (भागते-भागते), जिन्होंने पीठ दिखा दी हो, जो भूमि पर बैठ गया हो, जो (भागते-भागते) पेड पर चढ गया हो, जो दूत हो, जो गाय या ब्राह्मण हो, इनको छोडकर किसी अन्य को समरागण मे मारना या घायल करना पाप नहीं है।" वृद्ध हारीत ने दर्शकों को भी वर्जित माना है। मनु (७।९०-९३) ने घोषित किया है—"कपटपूर्ण या गुप्त आयुधों के साथ नही लडना चाहिए और न विषाक्त या शूलाग्र या जलती हुई नोकों वाले आयुधो से लडना चाहिए। युद्धलिप्त उसे न मारे जो उच्च भूमि पर चढ गया हो या जो हिंजडा हो या जिसने (प्राण की रक्षा के लिए) हाथ जोड लिये हो, जो इतनी तेजी से भाग रहा हो कि उसके केश उड रहे हों, या जो भूमि पर बैठ गया हो और कह रहा हो, "मैं तुम्हारा हूँ," जो सोया हुआ हो, जिसका कवच छूट गया हो, जो नगा या बिना आयुध के हो गया हो, जो मात्र दर्शक हो, जो दूसरे शत्रु से लड रहा हो, जिसके आयुध टूट गये हो, जो दु खित हो या बुरी तरह घायल हो गया हो, जो डर गया हो और जो पीठ दिखाकर भाग चला हो।" शङ्ख ने लिखा है कि पानी पीते हुए सैनिक को भी नही मारना चाहिए और न भोजन करते हुए या जूता निकालते हुए को ही मारना चाहिए, स्त्री को, हथिनी को, सारथि को, भाट (चारण) को, ब्राह्मण को नही मारना चाहिए, और जो स्वय राजा नहीं है उसे किसी राजा को न मारना चाहिए। बौधायनधर्मसूत्र (१।१०।१०) ने विषाक्त वाणों (कर्णियो) से मारना निषिद्ध माना है, यही बात शान्ति० (९५।११) मे भी पायी जाती है। शान्ति० (९५।१३-१४) ने तो यहाँ तक व्यवस्था दे डाली है कि यदि शत्रु-पक्ष का सैनिक घायल हो गया हो तो उसकी दवा-दारू की जानी चाहिए और अच्छा हो जाने पर ही उसे जाने देना चाहिए।[८] शान्तिपर्व मे यह भी आया है कि सैनिक को चाहिए कि वह बच्चे, बूढे या पीछे से किसी को न मारे और न उसे मारे जिसने मुह मे तिनका ले लिया है (हार स्वीकार कर प्राणो की भिक्षा माँग रहा है)। ये नियम बडे उदात्त है, किन्तु कदाचित् ही व्यवहार मे पूर्णरूपेण माने जाते रहे हो। आजकल तो निहत्थी एव अनजान मे पडी जनता पर भी परमाणु बम छोड दिये जाते हैं और आये दिन उद्जन बम फेंकने की

७ न दोषो हिंसायामाहवे। अन्यत्र व्यश्वसारथ्यायुधकृताञ्जलिप्रकीर्णकेशपराङ्मुखोपविष्टस्थलवृक्षाधिरूढदूतगोब्राह्मणवादिभ्य। गौतम १०।१७–१८, न पानीय पिबन्त न भुञ्जान नोपानहौ मुञ्चन्त नावर्माण सवर्मा न स्त्रिय न करेणु न वाजिन न सारथिन न सूत न दूत न ब्राह्मण न राजानमराजा हन्यात्। शङ्ख (याज्ञ० १।३२६ की टीका में मिताक्षरा द्वारा उद्धृत), बद्धाञ्जलिपुट दीन याचन्त शरणागतम्। न हन्यादानृशस्यार्थमपि शत्रु परन्तप॥ आर्तो वा यदि वा दृप्त परेषां शरण गत। अरि प्राणान् परित्यज्य रक्षितव्य कृतात्मना॥ एव दोषो महानत्र प्रपन्नानामरक्षणे। अस्वर्ग्यं चायशस्य च बलवीर्यविनाशनम्॥ रामायण (६।१८।२७–२८, ३१), न वध पूज्यते लोके सुप्तानामिह धर्मत। सौप्तिकपर्व (५।११), वृद्धबालौ न हन्तव्यौ न च स्त्री नैव पृष्ठत। तृणपूर्णमुखश्चैव तवास्मीति च यो वदेत्॥ शान्ति० (९८।४८–४९)।

८ भग्नशस्त्रो विपन्नश्च कृत्तज्यो हतवाहन। चिकित्स्य स्यात् स्वविषये प्राप्यो वा स्वगृहे भवेत्॥ निर्व्रणश्च स मोक्तव्य एष धर्म सनातन। शान्ति० (९५।१३–१४)।

समझी दी जाती है। प्राचीन काल में युद्ध न करने वालों को अछूता छोड़ दिया जाता था। मेगस्थनीज (फ्रैग्मेण्ट १ पृ० ३२) ने लिखा है— कृषकगण मस्ती से निर्भय अपना कृषि-कर्म करते चले जाते थे और पास-पड़ोस में भयंकर युद्ध चला करते थे क्योंकि युद्धकर्ता लोग उनको किसी प्रकार भी तंग नहीं करते थे। मनु (७।१९२) ने राजा को अपने शत्रु के देश को तहस-नहस करने की आज्ञा दी है, किन्तु मेधातिथि ने इस वचन की व्याख्या में यह कहा है कि शत्रु के देश के लोगों की यथासम्भव विशेषतः ब्राह्मणों की रक्षा करनी चाहिए। गदायुद्ध का नियम यह था कि नाभि के नीचे कोई भी वार न करे (शल्यपर्व ६०।६)। किन्तु भीम ने इस नियम का उल्लंघन किया और दुर्योधन की जाँघ पर गदा-प्रहार कर ही दिया। दुर्योधन ने कृष्ण एवं पाण्डवों के कुकर्मों का वर्णन किया है (वही ६१) किन्तु कृष्ण ने मुँहतोड़ उत्तर दिया है कि उसने (दुर्योधन ने) कितनी ही बार नैतिकता की सीमाओं का उल्लंघन किया है और युद्ध-नियम भंग किये हैं (यथा—अभिमन्यु को घेरकर एक ही समय बहुत लोगों द्वारा मरवाना)। सूर्यास्त के उपरान्त युद्ध बन्द हो जाता था, यह एक सामान्य नियम था (भीष्म ४९।५२-५३)। किन्तु द्रोणपर्व (१५४ एवं १६३।१६) में हम रात्रि-युद्धों का उल्लेख मिलता है और यह लिखा हुआ है कि (ऐसे अवसरों पर) रथों, हाथियों एवं घोड़ों पर दीपक रहने चाहिए।

यह बात हमने देख ली है कि प्रत्येक क्षत्रिय एवं सैनिक का यह कर्तव्य था कि वह समरांगण में भले ही कट मर जाय किन्तु भागे नहीं। पुरस्कारों का मोह दिखाकर युद्ध-प्रेरणा दी जाती थी। पहला पुरस्कार था लूट-पाट का माल एवं भूमि की प्राप्ति (गौतम १०।४१, मनु ७।९६, गीता २।३७); दूसरा था क्षत्रिय रूप में अपने कर्तव्य का पालन (गीता २।३१-३३); आदर-सम्मान एवं यश (गीता २।३४-३६); स्वर्ग एवं अन्य भौतिक सुखों की प्राप्ति (याज्ञ० १।३२४, मनु ७।८८-८९) तथा ब्राह्मणों की शुश्रूषा (आपस्तम्बधर्मसूत्र २।१०।२६।२-३)। विष्णुधर्मसूत्र (३।४४-४५) में भी ऐसी ही बातें कही गयी हैं। शान्ति० (९८।४०-४१) का यह कहना है कि जो सैनिक युद्ध-क्षेत्र से भाग खड़ा होता है वह नरक में गिर पड़ता है। याज्ञवल्क्य (१।३२४-३२५) का कहना है कि जो अपने देश की रक्षा के लिए बिना विषाक्त बाणों से लड़ता हुआ बिना पीठ दिखाये समरांगण में मर जाता है वह योगियों के समान स्वर्ग प्राप्त करता है, उस व्यक्ति का प्रत्येक पग, जो अन्य साथियों के मर जाने पर भी युद्ध-स्थल से नहीं भागता, अश्वमेध-जैसे यज्ञों के बराबर है; जो लोग युद्ध-क्षेत्र से भाग जाते हैं और अन्त में मार डाले जाते हैं उनके सभी अच्छे पुण्य राजा को प्राप्त हो जाते हैं। यही बात मनु (७।९५) में भी पायी जाती है। यह बात न केवल क्षत्रियों के लिए है प्रत्युत सभी प्रकार के एवं जातियों के सैनिकों के लिए है। और देखिए राजनीतिप्रकाश (पृ० ४०७)। पराशर (३।३१) एवं बृहत्पराशर (१० पृ० २८१) का कहना है कि उस वीर के पीछे स्वर्ग की अप्सराएँ दौड़ती हैं और उसे अपना स्वामी बनाती हैं जो शत्रुओं से घिर जाने पर भी प्राण-भिक्षा नहीं माँगता और लड़ता-लड़ता गिरकर मर जाता है; उसे न नष्ट होने वाले लोक प्राप्त होते हैं। कौटिल्य (१०।३) ने पराशर का ३।३६ श्लोक उद्धृत किया है और प्रकट किया है कि सैनिकों को किस प्रकार युयुत्सु होने के लिए प्रेरणा दी जाती है। कौटिल्य (१०।३) में राजा को सम्मति दी है कि

९. यं यज्ञसंघैस्तपसा च विप्राः स्वर्गैषिणो यत्र यथैव यान्ति। क्षणेन यान्त्येव हि तत्र वीराः प्राणान् सुयुद्धेषु परित्यजन्तः॥ पराशर ३।३६; कौटिल्य (१०।३) ने दूसरे रूप से उद्धरण दिया है। कौटिल्य में उद्धृत दूसरा पद्य भी है— नवं शरावं सलिलस्य पूर्णं सुसंस्कृतं दर्भकृतोत्तरीयम्। तत्तस्य मा भून्नरकं च गच्छेद्यो भर्तृपिण्डस्य कृते न युध्येत्॥ यह उद्धरण प्रतिज्ञायौगन्धरायण (४।२) में भी, जिसे सम्भवतः भास ने लिखा है, पाया जाता है। पराशरमुनीद्दते क्षेत्र पी युद्धाय नियच्छति। स्वप्रसालौपिगुल्यानि भूत्यर्थमिव चेतसा॥ जितेन्द्रियस्य हि सजने विशालिन स्वर्गलिप्सवः। सौम्यनयेन

वह स्वयं तथा उसके मन्त्री एवं पुरोहित वेदों एवं साहित्यिक ग्रन्थों से उद्धरण देकर सैनिकों को प्रेरणा दें कि स्वामी के लिए लड़ाई में प्राण देने से पुरस्कार एवं पीठ दिखाकर भाग जाने से घोषित दण्ड मिलते हैं। ज्योतिषियों को शुभ ग्रहों की बातें कहकर प्रेरणा देनी चाहिए। युद्ध के एक दिन पूर्व राजा को उपवास करना चाहिए, अथर्ववेद के मन्त्रों के साथ अग्नि में आहुतियाँ देनी चाहिए और विजय-सम्बन्धी कल्याणकारी श्लोक आदि सुनने चाहिए। चारणों को वीरों के लिए पुरस्कार तथा कायरों के लिए नरक आदि बातों से सम्बन्ध रखने वाली कविताएँ सुनानी चाहिए तथा सैनिकों की जाति, श्रेणी, वंश, कर्म एवं चरित्र आदि की प्रशंसा के गीत गाने चाहिए। पुरोहितों के सहायकों को घोषित करना चाहिए कि उन्होंने शत्रु के विनाश के लिए जादूगरनियों एवं मायाविनियों को अपने वश में कर लिया है। सेनापति एवं उसके अन्य सहायकों को निम्नोक्त प्रकार से सेना के समक्ष भाषण करना चाहिए—"जो शत्रुपक्ष के राजा को मारेगा उसे एक लाख (पण) दिये जायेंगे, जो शत्रुपक्ष के सेनापति या युवराज को मारेगा उसे पचास सहस्र (पण) दिये जायेंगे पत्ति (बटालियन) के अध्यक्ष को मारने पर एक सौ, साधारण सैनिक को मारने वाले को बीस (पण) तथा सभी सैनिकों को लूटे हुए माल तथा उनके वेतन का दुगुना मिलेगा।" कामन्दक (१९।१८-२१) का कहना है कि जब सैनिक अपनी वीरता प्रदर्शित कर चुकें तो उन्हें पूर्वकथित पुरस्कारादि दे देने चाहिए। इस विषय में और देखिए मानसोल्लास (२।२०, श्लोक ११६३-११६७, पृ० १२३-१२४)। गौतम (१०।२०-२३) ने व्यवस्था दी है कि यदि कोई सैनिक व्यक्तिगत रूप से सम्पत्ति प्राप्त कर ले तो राजा को उसे सब कुछ दे देना चाहिए किन्तु घोड़ा या हाथी आदि ले लेना चाहिए, किन्तु यदि कई सैनिक साथ मिलकर कुछ प्राप्त करें तो राजा का चाहिए कि वह सर्वोत्तम वस्तु लेकर शेष को सैनिकों की सेवा के अनुसार उनमें बाँट दे। मनु (७।९६-९७) ने तो रथ, घोड़े या हाथी सैनिकों को ही दे देने को कहा है, यहाँ तक कि दासियाँ तक सैनिकों के पास रह सकती हैं, केवल सोना, चाँदी तथा अन्य रत्न आदि राजा को मिल जाने चाहिए। और देखिए काम० (१९।२१-२२) तथा शुक्र० (४।७।३७२)।

अस्त्र-शस्त्र

प्राचीन काल के आयुधों के विषय में भली भाँति चर्चा करने के लिए एक पृथक् ग्रन्थ के प्रणयन की आवश्यकता पड़ेगी। ऋग्वेद में भी कतिपय आयुधों या अस्त्र-शस्त्रों का उल्लेख हुआ है, यथा—ऋष्टि (ऋ० ५।५२।६, ५।५७।२ एवं ६, यह मरुतों के कंधों पर रहता था), बाण (५।५७।२, ६।७५।१७), तूणीर (५।५७।२), अंकुश (इन्द्र का, ८।१७।१०, १०।४४।९), परशु (१०।२८।८), कृपाण (१०।२२।१०), वज्र (अयस् से निर्मित, १०।४८।३, १०।११३।५)। अथर्ववेद ने विषाक्त बाणों का उल्लेख किया है (४।६।६)। अथर्ववेद (१।१६।२ एवं ४) में सीसे के किसी हथियार का वर्णन है—"यदि तुम हमारी गाय या अश्व या पुरुष को मारोगे तो हम लोग सीसे से भोंक देंगे और तुम हमारे शक्तिशाली सैनिकों को मारना बन्द कर दोगे।" तैत्तिरीयसंहिता (१।५।७।६) में कहा गया है कि जब अग्नि में समिधा "इन्धानास्त्वा शतं हिमा" नामक मन्त्र कहकर डाली जाती है तो यजमान अपने शत्रु के प्रति शतघ्नी (वह आयुध जो सैकड़ों को मारता है) छोड़ता है जो स्वयं वज्र के समान कार्य करती है।

डा० ओप्पर्ट ने नीतिप्रकाशिका की भूमिका (पृ० १०-१३) में उपर्युक्त तथा अन्य उक्तियों के आधार पर यह उद्घोष किया है कि प्राचीन भारतीय आग्नेय अस्त्र जानते थे और अथर्ववेद (१।१६।४) ने वर्तुलाकार वस्तुओं से सीसे

ते तुल्या इति वसिष्ठजोऽब्रवीत्॥ युध्यन्ते भूभृतो ये च भूम्यर्थमेकचेतसः। इष्टैस्ते बहुभिर्यागैरेव यान्ति त्रिविष्टपम्॥ बृहत्पराशर १०, पृ० २८१। (वसिष्ठज का तात्पर्य है पराशर)।

ने गोलक फेंकने की ओर संकेत किया है। देखिए डा० ओप्पर्ट का ग्रन्थ "वेपन्स, आर्मी आर्गनाइज़ेशन एण्ड पोलिटिकल मैक्सिम्स आव द ऐंश्येण्ट हिन्दूज़" (१८८०) जहाँ उन्होंने भाँति-भाँति के आयुधों का वर्णन किया है और विश्वास किया है कि १३वीं शताब्दी के बहुत पहले से भारत में बारूद का प्रयोग होता रहा है। इस विषय में श्री जी० टी० दाते की पुस्तक "आर्ट आव वार इन ऐंश्येण्ट इण्डिया" (लन्दन १९२९), डा० पी० सी० चक्रवर्ती का ग्रन्थ (१९४१ ढाका) एवं प्रो० दीक्षितार की पुस्तक (इसी विषय की) अवलोकनीय हैं। महाभारत (उद्योगपर्व १५५।३-९) में बहुत-से आयुधों का वर्णन है जिसे हम स्थानाभाव से यहाँ उल्लिखित नहीं कर रहे हैं। विस्तार से अध्ययन के लिए देखिए हाप्किन्स का लेख (ज० ए० ओ० एस्०, जिल्द १३, पृ० २६९-३०३)। प्रयाग के स्तम्भ पर समुद्रगुप्त की प्रशस्ति (चौथी शताब्दी ई०) में भी आयुधों की एक सूची है (कार्पस इंस्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम्, जिल्द ३, पृ० ६-७)।[1] शुक्र० (४।७।१९, ११९६, ४।७।२८) में अग्निचूर्ण (बारूद) एवं बन्दूक (४।७।२०९-२१९) की ओर संकेत किया है और बारूद का सूत्र (फार्मूला) भी दिया है (यथा—यवक्षार का पाँच पल, गन्धक का एक पल एवं कोयले के चूर्ण का एक पल मिलाकर बारूद या आग्नेय चूर्ण बनाया जाता है)। शुक्रनीतिसार सम्भवतः १३वीं या १४वीं शताब्दी में लिखित है, जब कि यूरोप में आग्नेयास्त्र (कैनन) सर्वप्रथम प्रयोग में लाया गया था। रामायण एवं महाभारत में शतघ्नी का उल्लेख बहुत बार हुआ है। शतघ्नी से सौ व्यक्ति मर जाते थे। युद्धकाण्ड (३।११) में आया है कि लंका के द्वारों पर देखने में भयंकर, तीक्ष्ण एवं शस्त्र-समान सैकड़ों लोहे की शतघ्नियाँ राक्षसों द्वारा सजायी गयी थीं। सुन्दरकाण्ड (३।२१-२२) में कवित्वपूर्ण रूप से कहा गया है कि लंका में शतघ्नियाँ एवं शूल लंका के सिर के केशों के समान थे। वनपर्व (१५) में शाल्व द्वारा घिरी हुई द्वारवती (द्वारका) का वर्णन है जहाँ कहा गया है कि राजधानी में बहुत-से स्तम्भ एवं शिरोगृह (प्राकार के शृंग या शिखर), चक्र, तोमर, अंकुश, शतघ्नी आदि थे। आदि० (२०७।३४), वन० (११६।२६, २८७।५, २९१।२४), द्रोण० (१५६।७), कर्ण० (११।८), शल्य० (४५।११) में शतघ्नी का उल्लेख है। किन्तु यह क्या था, बतलाना कठिन है। वनपर्व (२८४।३१) से पता चलता है कि हाथों द्वारा बड़े जोर से इसे फेंका जाता था, इसमें चक्र (पहिए) घोषक एवं प्रस्तर-खण्ड रहते थे। द्रोणपर्व (१७९।७६) में कहा गया है कि घटोत्कच की शतघ्नी में पहिए थे और वह चार घोड़ों को एक साथ मार सकती थी। द्रोणपर्व (१९९।१९) में पुनः आया है कि शतघ्नी में दो या चार पहिए होते थे। वनपर्व (२८७।८) में आया है कि सर्जरस (जलाने के लिए राल) प्रयुक्त किया गया है। हरिवंश (भविष्यपर्व ४४।२२) में आया है कि हिरण्यकशिपु द्वारा नरसिंह पर फेंके गये अस्त्रों में जलती हुई शतघ्नियाँ भी थीं (शतघ्नीश्च दीप्ताग्निर्वर्तिनीस्तुराशनी)। रामायण (७।१२।४४) में आया है कि मुसल नामक आयुध के सिरे पर अशोक के फूलों के समान अग्नि जलती थी। सुन्दरकाण्ड (३।१८) ने शतघ्नी एवं मुसल को एक साथ कर दिया है। सम्भवतः इसमें बारूद का प्रयोग नहीं होता था, क्योंकि शतघ्नियों से धूम निकलने की बात नहीं कही गयी है। हाप्किन्स (जे० ए० ओ० एस्०, जिल्द १३, पृ० २९९-३०३) ने लिखा है कि बारूद एवं बन्दूक का प्रयोग महाभारत के काल में नहीं होता था और आज तक हम जो कुछ जान सके हैं उसके आधार पर कहा जा सकता है कि यह कथन ठीक ही है।

नीतिप्रकाशिका (अध्याय २-५) ने बहुत-से आयुधों का वर्णन किया है और उन्हें चार श्रेणियों में बाँटा है—(१) मुक्त (फेंका या छोड़ा जानेवाला, यथा बाण), (२) अमुक्त (न छोड़ा या फेंका गया, यथा तलवार), मुक्तामुक्त (फेंका जाने वाला और न फेंका जाने वाला, यथा वे अस्त्र जो फेंके जाने पर पुनः लौटाये जा सकते हैं) एवं मन्त्रमुक्त (ऐसे

1. "परशु-शर-शंकु-शक्ति-प्रास-असि-तोमर-भिन्दिपाल-नाराच-वैतस्तिकाद्यनेकप्रहरणविरूढाकुल-व्रणशताङ्कशोभासमुदयोपचितकान्ततरवर्ष्मणः" (गुप्त इंस्क्रिप्शंस, पृ० ६-७)।

अस्त्र जो पुन लौटाये नही जा सकते)। अग्निपुराण (२४९-२५२) एव विष्णुधर्मोत्तर (२।१७८-१८२) ने धनुर्वेद (दोनो ने शब्दश एक ही बात कही है, किन्तु दूसरी पुस्तक मे कुछ अधिक श्लोक है) का निष्कर्ष दिया है और आयुधो के पाँच प्रकार बताये हैं—**यन्त्रमुक्त** (किसी यन्त्र या मशीन, यथा—ढेलवाँस, धनुष आदि मे फेंके जाने वाले आयुध), **पाणिमुक्त** (हाथ मे फेंके जाने वाले, यथा—पत्थर या तोमर), **मुक्तामुक्त** (प्रास के समान), **अमुक्त** (तलवार के समान) एव **नियुद्ध** या **बाहुयुद्ध** (कुश्ती या मल्लयुद्ध)। अस्त्रो का विज्ञान अलौकिक प्रकार का था। महाकाव्यो एव पुराणो मे आया है कि महारथी लोग अस्त्र-विद्या का ज्ञान गुरु से या अपने पिता से या तपस्या से प्राप्त करते थे, कभी-कभी (जैसा कि लव-कुश के अस्त्र-ज्ञान से पता चलता है) कुछ अस्त्रो का ज्ञान पुत्र को जन्मजात या पिता की आकांक्षा के कारण हो जाया करता था। धनुर्वेद की चर्चा पौराणिक चर्चा मात्र ही है, कोई लिखित पुस्तक नही रही है जिसके पढने मात्र से कोई महारथी या योद्धा उस शास्त्र मे प्रवीण हो जाय। अग्निपुराण (१३४-१३५) रण-विजय एव विश्व-विजय के विषय मे कुछ मन्त्र भी देता है। परशुरामप्रताप (राजवल्लभकाण्ड ९-१२) मे बहुत-से मन्त्रो, यन्त्रो एव मायावी उपायो का वर्णन है जो ब्रह्मयामल नामक तन्त्र-ग्रन्थ से लिये गये है।

महाभारत ने बडी सावधानीपूर्वक यह संकेत किया है कि सेना बल (शक्ति) का निकृष्ट प्रकार है। उद्योग-पर्व (३७।५२-५५) का कहना है कि बल के पाँच प्रकार होते हैं, (१) बाहुबल, (२) अमात्यलाभ (वह बल जो अमात्यो की प्राप्ति से हो), (३) धनलाभ (वह शक्ति या बल जो धन से प्राप्त होता है), (४) अभिजातबल (वह शक्ति जो अच्छे कुल मे उत्पन्न होने से होती है) तथा (५) प्रज्ञाबल (ज्ञान से प्राप्त बल) जो सर्वोत्तम कहा जाता है। यह उपर्युक्त बात बुधभूषण (पृ० ७९) द्वारा उद्धृत है। शान्तिपर्व (१३४।८) मे आया है कि शक्तिशाली के आगे कुछ भी असम्भव नही है, अर्थात् वह सब कुछ कर सकता है, और वह जो कुछ करता है वह पवित्र है।[11] एक अन्य स्थान पर आया है—"शक्तिशाली के लिए सब कुछ शुचि है" (आश्रमवासिक० ३०।२४)। आदिपर्व (१७५।४५) मे योद्धा की शक्ति की भर्त्सना की गयी है और ब्राह्मणो की आध्यात्मिक शक्ति (ब्रह्मतेज) को वास्तविक शक्ति कहा गया है।

---

११ यद् बलाना बल श्रेष्ठ तत्प्रज्ञाबलमुच्यते। उद्योग० (३७।५५), नास्त्यसाध्य बलवता सर्वं बलवता शुचि। शान्ति० (१३४।८), सर्वं बलवता पथ्य सर्वं बलवता शुचि। सर्वं बलवता धर्म सर्वं बलवता स्वकम्॥ आश्रमवासिक० (३०।२४), धिग्बल क्षत्रियबल ब्रह्मतेजोबल बलम्। बलाबले विनिश्चित्य तप एव पर बलम्॥ आदि० (१७५।४५-४६)। ये वचन प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक नीत्शे (Nietzsche, 'Beyond Good and Evil', Section 29) के वचन के सदृश हैं, "केवल थोडे ही स्वतन्त्र रहने का अधिकार रखते हैं, यह शक्तिशाली का विशेषाधिकार है" (It is the business of the very few to be independent, it is a privilege of the strong translated by H Zimmern)।

अध्याय ९

सुहृद् या मित्र (७)

मनु (७।२०८) ने मित्र बनाने की आवश्यकता पर बहुत बल दिया है और राजा के लिए अच्छे मित्र (सुहृद्) के गुणों का वर्णन किया है—"राजा सोना एवं भूमि पाकर उतना समृद्धिशाली नहीं होता जितना कि अटल मित्र पाकर, भले ही वह (मित्र) कम धन (कोश) वाला हो, क्योंकि भविष्य में वह शक्तिशाली हो जायगा। एक दुर्बल मित्र भी प्रशंसनीय है, यदि वह गुणवान् एवं कृतज्ञ हो, उसकी प्रजा सन्तुष्ट हो और वह अपने हाथ में लिये हुए कार्य को अन्त तक करने वाला अर्थात् दृढप्रतिज्ञ हो।" मनु (७।२०९) के मत से 'भूमि, सोना (हिरण्य) एवं मित्र राजा की नीति या प्रयत्नों के तीन फल हैं।' याज्ञ० (१।३५२) ने भी मनु (७।२०८) की बात मानी है। किन्तु कौटिल्य (७।९) ने इस विषय में कुछ दूसरी ही बात कही है— भूमिलाभ हिरण्यलाभ एवं मित्रलाभ से श्रेयस्कर है तथा हिरण्यलाभ मित्रलाभ से श्रेयस्कर है। महाभारत (शान्ति० १३८।११) का कथन है कि कोई भी किसी का न मित्र है न शत्रु, मित्र एवं शत्रु बल (या किसी व्यक्ति द्वारा किये जाते हुए कर्मों या स्वार्थों) द्वारा प्राप्त किये जाते हैं। यही बात कामन्दक (८।५२) ने भी कही है। शुक्र (४।१।८१) का कथन है—"शक्तिशाली साहसी एवं विनम्र के सामने अन्य लोग ऊपर से मित्रवत् व्यवहार करते हैं, किन्तु भीतर भीतर शत्रुता रखते हैं और अवसर की ताक में लगे रहते हैं (कि कब आक्रमण कर दें)। इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। क्या वे स्वयं भूमि की विजय-लिप्सा नहीं रखते? राजा का कोई मित्र नहीं और न वह किसी का मित्र है।" शान्ति० (८०।३) के मत से मित्र चार प्रकार के होते हैं—(१) समान ध्येय वाले (२) शरण एवं सुरक्षा चाहने वाले (३) स्वभाव से ही जो सुहृद् हैं (सहज) तथा (४) वे जो प्राप्त किये जाते हैं (कृत्रिम)। कर्णपर्व (८८।२८) ने मित्र के चार प्रकार भिन्न ढंग से दिये हैं—(१) सहज (२) जो प्रसन्नतादायक शब्दों द्वारा प्राप्त किये जाते हैं (३) जो धन द्वारा जीते जाते हैं तथा (४) वे जो शक्ति द्वारा आकृष्ट किये जाते हैं। कामन्दक (४।७४) के मत से चार प्रकार ये हैं—(१) औरस अर्थात् जन्म-जात (यथा माता, पिता, नाना, नानी आदि) (२) कृतसम्बन्ध (विवाह-सम्बन्ध से उत्पन्न) (३) वंशक्रमागत (पिता के मित्र) एवं (४) रक्षित अर्थात् विपत्तियों से जिनकी रक्षा की गयी हो। कामन्दक (४।७५

१ संहितप्रयाणे मित्रहिरण्यभूमिलाभानामुत्तरोत्तरो लाभः श्रेयान्। मित्रहिरण्ये हि भूमिलाभाद् भवतः। मित्रं हिरण्यलाभाद्वा लाभः सिद्धः श्रेयसोरन्यतरं साधयति। कौटिल्य ७।९।

२ न कश्चित्कस्यचिन्मित्रं न कश्चित्कस्यचिद्रिपुः। अर्थतस्तु निबध्यन्ते मित्राणि रिपवस्तथा।। शान्ति० (१३८।११); कारणेन हि जायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा। कामन्दक (८।५२); न सोऽस्ति यस्य रिपुर्नास्ति मित्रं नाम न विद्यते। समानार्थप्रयोजनाच्च मित्राणि रिपवस्तथा।। विष्णुधर्मोत्तर (२।१४५—शान्ति० १४।५); न राज्ञो विद्यते मित्रं राजा मित्रं न कस्य चै। शुक्र (४।१।१९)।

३ सहार्थो भजमानश्च सहजः कृत्रिमस्तथा। शान्ति० (८०।३)। भजमान का अर्थ 'पितृपैतामहक्रमागत' भी हो सकता है तथा सहज मित्र वे हैं जो सम्बन्ध से प्राप्त होते हैं, यथा अपनी मा की बहन के पुत्र (मौसी के पुत्र) आदि। औरसं संबन्धसम्बन्धं तथा वंशक्रमागतम्। रक्षितं व्यसनेभ्यश्च मित्रं ज्ञेयं चतुर्विधम्।। काम० (४।७४)।

७६) के अनुसार मित्र राजा के गुण ये है—(हृदय की) पवित्रता (स्वच्छता), दयालुता, वीरता, सुख-दुख मे साथ देना, प्रेम, (मित्र का कार्य सम्पन्न करने मे) जागरूकता, सचाई। सच्चे मित्र की विशेषता है मित्र द्वारा वाछित उद्देश्यो के प्रति श्रद्धा। मित्र बनाने का उद्देश्य होता है धर्म, अर्थ एव काम नामक तीन पुरुषार्थो मे से किसी एक की प्राप्ति (काम० ४।७२)।

उपर्युक्त चर्चा के सिलसिले मे मण्डल-सिद्धान्त की व्याख्या कर देना आवश्यक है। कौटिल्य (६।२ एव ७ प्रकरण), मनु (७।१५४-२११), आश्रमवासिक पर्व (६-७), याज्ञ० (१।३४५-३४८), काम० (८-९), अग्नि० (२३३ एव २४०), विष्णुधर्मोत्तर (२।१४५-१५०), नीतिवाक्यामृत (पृ० ३१७-३४३), राजनीतिप्रकाश, (पृ० ३१६-३३०), नीतिमयूख (पृ० ४४-४६) आदि ने मण्डल के सिद्धान्त एव छ गुणो पर विस्तार के साथ प्रकाश डाला है। इन ग्रन्थो मे कौटिलीय अर्थशास्त्र सम्भवत सबसे पुराना है, अत हम मण्डल-सिद्धान्त के विवेचन मे प्रमुखत उसी का सहारा लेंगे। नीति-वाक्यामृत (पृ० ३११-३१३) ने तो कौटिलीय के शब्दो को ज्यों-का-त्यो उद्धृत कर डाला है।

शम (शान्ति) एव व्यायाम (उद्योग) पर राज्य का योगक्षेम निर्भर रहता है। व्यायाम अर्थात् उद्योग से हाथ मे लिये हुए कार्य की पूर्ति होती है और शम से किये हुए कार्य से उत्पन्न फल का शान्तिपूर्वक उपभोग होता है। छ गुणो (सन्धि आदि) के सम्यक् उपयोग से ही शम एव व्यायाम उभरता है। छ गुणो से जो फल-प्राप्ति (उदय) होती है वह या तो सत्यानाश या गतिरोध या उन्नति के रूप मे परिणत होती है। उदय मानवीय एव दैविक कारणो पर निर्भर रहता है, क्योकि इन्ही दोनो के आधार पर विश्व का शासन चलता है। मानवीय कारण हैं नय एव अपनय। मानवीय कारणो की जानकारी हो सकती है और वे कार्य रूप मे परिणत भी होते हैं। नय (अच्छी नीति) उन मानवीय कारणो का फल है जिनसे (राज्य का) योगक्षेम प्राप्त होता है, अपनय (अविनम्र नीति) से हानि होती है। कौटिल्य (६।१) का कथन है कि जो राजा नय को समझता है और आत्मगुणो एव राज्य-तत्त्वो (प्रकृतियो) से सम्पन्न है वह सम्पूर्ण संसार का विजय कर सकता है, भले ही वह एक छोटे राज्य का ही अधिकारी क्यों न रहा हो। विजिगीषु (विजय की अभिलाषा रखने वाले या विजय करने वाले) के सम्बन्ध मे ही मण्डल-सिद्धान्त की व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। कामन्दक (८।६) ने विजिगीषु की परिभाषा यो की है—[४] "जो अपने राज्य का विस्तार करना चाहता है, जो राज्य के सातो तत्त्वो से सम्पन्न है, जो महोत्साही है और जो उद्योगशील है, वह विजिगीषु कहलाता है।" सभी ग्रन्थो मे इस बात की चर्चा है कि राजा के लिए अपने दुर्बल पडोसियो को धर-दबाना एव विजयाकाक्षी होना एक आदर्श है। विजिगीषु वही कहलाता है जो अच्छे गुणो (आत्मसम्पत्) से सम्पन्न हो और राज्य के विभिन्न तत्त्वो (प्रकृतियो) से परिपूर्ण हो। उसे नय-स्रोत होना चाहिए, अर्थात् उसकी नीति अच्छी हो जिसके बल पर वह सफलता की सीढ़ी पर चढता जाय।

विजिगीषु की राज्य-सीमाओ पर रहने वाले राजा अरि कहलाते हैं। इससे प्रकट है कि अरि कई हो सकते हैं। किन्तु इस विषय मे नीतिवाक्यामृत (पृ० ३२१) का यह कथन स्मरण रखना चाहिए कि यह कोई नियम नही होना चाहिए कि पडोसी सदा अरि ही हो और दूर का राजा मित्र ही। सान्निध्य एव दूरी शत्रुता एव मित्रता के कारण नही हैं, बल्कि उद्देश्य ही मुख्य है जिसके फलस्वरूप मित्र या शत्रु बनते हैं। हाँ, पडोसी राजा बहुधा अरि हो जाते हैं। मित्र वह है जो विजिगीषु के पडोसी शत्रु राजा की सीमा के उस पार हो। शत्रु वह है जो पड़ोसी हो और जो शत्रु-गुणो से सम्पन्न हो। देखिए कौटिल्य (६।१)। यातव्य (जिस पर विजिगीषु आक्रमण करता है) वह अरि है जो कठिनाइयो से ग्रस्त हो गया है। शत्रु वह अरि है जो आक्रमण का अवसर देता है। उस शत्रु को, जो विपत्तियो मे फँस गया है,

४ सपन्नस्तु प्रकृतिभिर्महोत्साह कृतश्रम। जेतुमेषणशीलश्च विजिगीषुरिति स्मृत ॥ कामन्दक (८।६)।

यातव्य कहा जाता है और उस पर आक्रमण किया जा सकता है। जिसका कोई आश्रय न हो या जिसका आश्रय दुर्बल हो उसका नाश कर देना चाहिए, किन्तु उस शत्रु को जो बलशाली हो या आश्रय वाला हो तब कर देना चाहिए, उसकी शक्ति क्षीण कर देनी चाहिए। आश्रय का तात्पर्य है शक्तिशाली दुर्ग या अच्छा मित्र (याज्ञ० ८।६)। इस प्रकार शत्रु के चार प्रकार हुए—यातव्य, उच्छेद्य, पीडनीय एवं कर्शनीय। जिसके पास मन्त्र एवं शक्तिशाली सेना नहीं होती उसे पीड़ित होना पड़ता है। जिसके पास मन्त्र एवं सेना की प्रबलता होती है उसे कर्शित किया जाता है, अर्थात् उसे दुर्बल बनाया जाता है।

शत्रु एवं मित्र के अन्य तीन प्रकार हैं—सहज, कृत्रिम एवं प्राकृत। सहज मित्र वे हैं जो माता-पिता के सम्बन्ध से प्राप्त होते हैं, यथा मामा या मौसा के पुत्र आदि। कृत्रिम मित्र वे हैं जो प्राप्त किये जाते हैं अर्थात् जो विजिगीषु को अपनी सहायता से अनुगृहीत करते हैं या जो स्वयं अनुगृहीत होते हैं, तथा प्राकृत मित्र वे हैं जो पड़ोसी राजा की सीमा से सटे हों (वे सप्तांग-सिद्धान्त के अन्तर्गत एक तत्त्व (प्रकृति) माने जाते हैं, इसी से उन्हें प्राकृत कहा जाता है)। सहज शत्रु वह है जो अपने ही कुटुम्ब में उत्पन्न हुआ हो, यथा विमाता-पुत्र, कृत्रिम वह है जो विरोधी है अथवा विरोध भावनाएँ बनाता रहता है (जिसने हानि की हो या जिसकी हानि स्वयं विजिगीषु ने कर डाली हो), तथा पड़ोसी राजा प्राकृत शत्रु है। मिताक्षरा (याज्ञ० १।३४५) ने उपर्युक्त बातों पर प्रकाश डाला है। विष्णुधर्मोत्तर (२।१४५।१५-१६) एवं अग्निपुराण (२३३।२१-२२) के मत से प्राकृत वास्तव में कृत्रिम है। कामन्दक (८।५६) ने भी केवल सहज एवं कृत्रिम का ही वर्णन किया है।

विजिगीषु बहुत-से राजाओं से घिरा रहता है, किन्तु जो अरि है वह विजिगीषु के पुरस्तात् (सम्मुख) कहा जाता है। अतः विजिगीषु के सम्मुख क्रम से अरि (पड़ोसी शत्रु), मित्र (अरि की सीमा से सटे राज्य वाला राजा), अरिमित्र (अरि का वह मित्र जो विजिगीषु के मित्र की सीमा का हो), मित्र-मित्र (मित्र का मित्र) तथा अरिमित्रमित्र (शत्रु के मित्र का मित्र) आते हैं। जब अरि विजिगीषु के सम्मुख रहता है तो विपरीत दिशा के राज्य का शासक पश्चात् होता है और उसे पार्ष्णिग्राह (वह जो पीछे से पकड़ सके या आक्रमण कर सके) कहा जाता है। वह वास्तव में शत्रु है, किन्तु यह उपाधि केवल उसी के लिए है। ऐसा शत्रु अभियान के समय या जब विजिगीषु कहीं आक्रमण करने जा रहा हो तब विपत्ति खड़ी कर देता है। पार्ष्णिग्राह के आगे के राज्य के राजा को आक्रन्द (जिसकी सहायता प्राप्त करने के लिए विजिगीषु प्रार्थना कर सकता है या उभाड़ सकता है) कहा जाता है। आसार वह मित्र है जो पार्ष्णिग्राह की सीमा से सटा रहता है। पार्ष्णिग्राह के मित्र (जो आक्रन्द से सटा रहेगा) को पार्ष्णिग्राहासार कहा जाता है। इसी प्रकार आक्रन्द के मित्र को आक्रन्दासार कहा जाता है। उसे मध्यम कहा जाता है जिसका राज्य विजिगीषु तथा अरि की राज्य-सीमा से सटा हुआ हो और जो दोनों अर्थात् विजिगीषु तथा उसके शत्रु (अरि) को सहायता दे सकता हो या

१. अरिसम्पद्युक्तः सामन्तः शत्रुः। व्यसनी यातव्यः अनपाश्रयो दुर्बलाश्रयो वोच्छेदनीयः। विपर्यये पीडनीयः कर्शनीयो वा। कौटिल्य ६।२; अरिः पुनश्चतुर्विधः। यातव्योच्छेत्तव्यपीडनीयकर्शनीयभेदेन। तत्र यातव्योऽनन्तरभूमिरसौ व्यसनी हीनबलो विरक्तप्रकृतिः। विद्युतो निराश्रयो दुर्बलाश्रयो वोच्छेत्तव्यः। पीडनीयो मन्त्रबलहीनः। प्रबलमन्त्रबलयुक्तः कर्शनीयः। निर्मूलनारम्भयोग्यं पीडनं बलक्षयणम्। सर्वमेतत् पुनः प्राह कौसल्यमनकर्शनम्॥ मिताक्षरा (याज्ञ० १।३४५)। ये भेद सरस्वतीविलास (पृ० ३६) में उद्धृत हैं।

२. यो विजिगीषौ प्रस्थितेऽपि प्रतिष्ठमाने वा पश्चात्कोपं जनयति स पार्ष्णिग्राहः। पार्ष्णिग्राहाद्यः पश्चिमः स आक्रन्दः पार्ष्णिग्राहमित्रमासार आक्रन्दमित्रं च। नीतिवाक्यामृत (पृ० ३१९)।

दोनो से भिड सकता हो। उदासीन राजा वह है जो विजिगीषु के राज्य की सीमा से बहुत दूर राज्य करता हो, जो राज्य तत्त्वो से सम्पन्न हो और उपर्युक्त तीनो प्रकारो को सहायता दे सकता हो या उनसे भिड सकता हो।[७] कुल्लूक (मनु ७।१५३) उपर्युक्त विवेचन को नही मानते। उनके अनुसार उदासीन वह शक्तिशाली राजा है जिसका राज्य विजिगीषु के राज्य के सम्मुख हो, पीछे हो या दूर हो और जो किसी कारणवश या विजिगीषु के कार्य-कलापो के कारण उदासीन हो उठा हो। मिताक्षरा (याज्ञ० १।३४५) का कथन है कि उदासीन भी तीन प्रकार का होता है और प्राकृत उदासीन उस राज्य का स्वामी होता है जो विजिगीषु के राज्य से दो राज्यो द्वारा पृथक् हो, मध्यम (नीतिवाक्यामृत पृ० ३१८ के अनुसार मध्यस्थ) वह है जो विजिगीषु तथा उसके अरि का पडोसी हो, किन्तु कुछ कारणो से दोनो के आपसी मतभेद या युद्ध से तटस्थ रहना चाहता हो।

अब तक के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि विजिगीषु, अरि, मध्यम एव उदासीन स्वतन्त्र श्रेणियो के द्योतक हैं और अन्य शेष चार, यथा—मित्र, मित्रमित्र, आक्रन्द, आक्रन्दासार विजिगीषु की श्रेणियो के तथा आगे वाले शेष चार, यथा—अरिमित्र, अरिमित्रमित्र, पार्ष्णिग्राह एव पार्ष्णिग्राहासार अरि की श्रेणियो के द्योतक हैं।[८] इसी लिए मनु (७।१५५-१५६) ने मण्डल-सिद्धान्त के मूल मे चार प्रकृतियों, यथा—विजिगीषु, शत्रु, मध्यम एव उदासीन को रखा है और कामन्दक (८।२०) ने मय के उद्घोष का उल्लेख किया है कि मण्डल मे ये ही चार पाये जाते है। कामन्दक (८।८६) के अपने मत से मण्डल मे मित्र, उदासीन एव रिपु पाये जाते हैं। कौटिल्य के मत से उपर्युक्त वारह प्रकृतियाँ मण्डल मे पायी जाती हैं। उशना का भी यही मत है (काम० ८।२२ एव ८।४१), उन्होंने बारह प्रकृतियों को माना है और अन्य शास्त्रियो के विभिन्न मतो की ओर सकेत भी किया है। कामन्दक (८।२०-४१) ने मण्डल के तत्त्वो एव राज्य के तत्त्वों के विभिन्न सम्मिलनो के आधार पर विभिन्न ग्रन्थकारो के मत प्रकाशित किये हैं और कहा है कि इस प्रकार के सम्मिलनो से मण्डल में १८, २६, ५४, ७२, १०८ प्रकृतियो एव अन्य सदस्यो का समावेश हो जाता है। सरस्वतीविलास (पृ० ३७-४१) ने भी उशना द्वारा प्रकाशित विभिन्न मतो का उल्लेख किया है और लिखा है कि इस प्रकार प्रकृतियो की सख्या १, २, ३, १०, २१, १०८ हो जाती है। अन्य ग्रन्थकारो ने भी ४, ५, ६, १४, १८, ३०, ३६, ४४, ६०, ७२ प्रकृतियो का उल्लेख किया है। मनु (७।१५७) ने भी राज्यतत्त्वो को मण्डल के बारह सदस्यो से मिलाकर ७२ सख्या बतायी है।[९] दशकुमारचरित (८, पृ० १४४) मे भी ७२ प्रकृतियो

७ अरिविजिगीष्वोर्भूम्यनन्तरः सहतासहतयोरनुग्रहसमर्थो निग्रहे चासहतयोर्मध्यमः। अरिविजिगीषुमध्यानां बहिः प्रकृतिभ्यो बलवत्तरः सहतासहतानामरिविजिगीषुमध्यमानामनुग्रहे समर्थो निग्रहे चासहतानामुदासीनः। कौटिल्य (६।२, पृ० २६१), देखिए अग्नि० (२४०।३-५) एव विष्णुधर्मोत्तर (२।१४५।११-१२।)—मण्डलाद् बहिरेतेषामुदासीनो बलाधिकः। अनुग्रहे सहताना व्यस्ताना च वधे प्रभुः॥ अग्नि० (२४०।४-५)। यही बात सरस्वती-विलास (पृ० ३९) में भी उद्धृत है।

८ देखिए मिताक्षरा (याज्ञ० १।३४५) 'पार्ष्णिग्राहाक्रन्दासारादयस्त्वरिमित्रोदासीनेष्वेवान्तर्भवन्ति सज्ञा भेदमात्र ग्रन्थान्तरे दर्शितमिति योगीश्वरेण न पृथगुक्ता।' इतिप्रकार बहुधा मण्डल परिचक्षते। सर्वलोकप्रतीत तु स्फुट द्वादशराजकम्॥ काम० ८।४१। यही बात सरस्वतीविलास (पृ० ४१) मे उशना के श्लोक के रूप मे उद्धृत है।

९ एव चतुर्मण्डलसक्षेपः। द्वादश राजप्रकृतयः षष्टिर्द्रव्यप्रकृतयः सक्षेपेण द्विसप्ततिः। तासा यथास्व सम्पदः शक्तिः सिद्धिश्च। बल शक्तिः, सुख सिद्धि। शक्तिस्त्रिविधा। कौटिल्य ६।२, पृ० २६१, मण्डलस्या च या चिन्ता राजन् द्वादशराजिका। द्विसप्ततिमतिश्चैव प्रोक्ता या च स्वयम्भुवा॥ शान्ति० (५९।७०-७१)।

की ओर संकेत किया गया है (द्विसप्ततिप्रकृतिकम् मण्डलमस्यति)। मण्डल के मूल में राज्यों के बीच शक्ति-सन्तुलन स्थापित करने की बात निहित है, कुछ राज्यों के बीच में मित्रता रहेगी तो स्वभावतः कुछ राज्य विरोधी भावों से प्रेरित हो एक गुट में मिल जायेंगे। कौटिल्य (६।२) ने भी ७२ संख्या की ओर संकेत किया है जिसमें १२ तो राजाओं द्वारा व्यवस्थित (राज-प्रकृति) हैं और ६ (१२ के साथ प्रत्येक के ५ राज्य-तत्त्वों के समावेश) को द्रव्य-प्रकृति कहा जाता है। शान्तिपर्व (५९।७०-७१) में भी १२ राजाओं के मण्डल एवं ७२ की संख्या की ओर संकेत है। इस विषय में विशेष अध्ययन के लिए देखिए एन्० एन्० ला की प्रसिद्ध पुस्तक 'स्टडीज इन ऐंश्येण्ट हिन्दू पालिटी' पृष्ठ १९९-२०८। सम्भावनाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि किसी राजा के पड़ोसी राजा लोग उसके अरि होते हैं और दूर-दूर के राजा लोग साथी। इससे यह निर्देश मिलता है कि स्थान एवं सम्भावनाओं के आधार पर ही कूटनीति का भवन खड़ा होता है। (नाम मात्र की सूची से मण्डल-सिद्धान्त और स्पष्ट हो जायगा।)

	अरिमित्रमित्र	
	मित्रमित्र	उदासीन
	अरिमित्र	
	मित्र	
मध्यम	अरि	
	विजिगीषु	
	पार्ष्णिग्राह	
	आक्रन्द	
	पार्ष्णिग्राहासार	
	आक्रन्दासार	

मनु (७।१७७ एवं १८०) ने घोषित किया है कि राजा को चाहिए कि वह अपने साधनों को इस प्रकार व्यवस्थित कर दे कि उसके मित्र, उदासीन एवं शत्रु उसकी हानि न कर सकें या उससे उच्च न हो जायें। मेधातिथि (मनु ७।१७७) ने लिखा है कि स्वार्थ आ पड़ने पर मित्र भी शत्रु हो जाता है (स्वार्थवशात् मित्रमप्यरिर्भवति)।

कौटिल्य (७।१) ने मण्डल-सिद्धान्त को शक्ति-सिद्धान्त एवं षाड्गुण्य से सम्बन्धित किया है। राजा अपनी शक्तियों को जिस सीमा तक कार्यान्वित करेगा उसी सीमा तक उसका एवं उसके राज्य का कल्याण होगा। महत्त्वाकांक्षी राजा को अपनी शक्तियों के साथ षड्-गुणों (नीति की विधियों) का उपयोग करना चाहिए। सारे राजाओं का मण्डल षड्-गुणों को उनके उपयोग की ओर अग्रसर करता है। वातव्याधि (जिन्होंने केवल सन्धि एवं विग्रह को ही महत्ता दी है) से मतभेद प्रकट करते हुए तथा एक बार अन्य आचार्यों से मतैक्य स्थापित करते हुए कौटिल्य ने षड्-गुणों को मान्यता दी है और उनकी व्याख्या उपस्थित की है। सरस्वतीविलास (पृ० ४२) ने कौटिल्य का एक सूत्र उद्धृत किया

१०. विजिगीषुः शक्त्यपेक्षः षाड्गुण्यमुपयुञ्जीत। कौटिल्य (७।१); षाड्गुण्यस्य प्रकृतिमण्डलं योनिः। सन्धिविग्रहासनयानसंश्रयद्वैधीभावाः षाड्गुण्यमित्याचार्याः। कौटिल्य (७।१); मण्डलानि समासाद्य विजिगीषो-र्भवन्ति। षाड्गुण्यमिह गुणा वार्याः सन्धिविग्रहचिन्तनम्॥ विष्णुधर्मोत्तर (२।१४५।६)।

है जो मुद्रित संस्करण में नहीं मिलता।" कौटिल्य ने ६ गुणों की व्याख्या की है—[12] "सन्धि का अर्थ है व्यवस्था अथवा ऐक्य (मेल) स्थापित करना, विग्रह का अर्थ है विरोध कर लेना, आसन का तात्पर्य है उदासीनता का भाव, यान का अर्थ (आक्रमण के लिए) तैयारी करना, संश्रय का तात्पर्य है (किसी शक्तिशाली राजा के यहाँ) आश्रय लेना तथा द्वैधीभाव का अर्थ है एक राजा से सन्धि करना तथा दूसरे से शत्रुता स्थापित करना।" कौटिल्य ने यह भी कहा है कि पडोसी राजा से हीन होने पर उससे सन्धि कर लेनी चाहिए, जो राजा उन्नति कर रहा हो उसे पडोसी से शत्रुता कर लेनी चाहिए, जो यह सोचे कि शत्रु मेरी हानि नहीं कर सकता और न मैं ही उसकी हानि कर सकता हूँ, तो उसे अपने राज्य में ही उदासीन बैठा रहना चाहिए, जो सब प्रकार से सुविधाजनक स्थिति में है वह अपने शत्रु पर आक्रमण कर सकता है, जो शक्तिहीन है उसे शक्तिशाली राजा का आश्रय ले लेना चाहिए तथा वह व्यक्ति द्वैधीभाव रख सकता है जिसकी कार्यसिद्धि मित्र द्वारा नहीं हो सकती।

कुछ ग्रन्थों ने अधिक स्पष्ट परिभाषा दी है और द्वैधीभाव का अर्थ और ही बताया है, यथा—द्वैधीभाव का अर्थ है अपनी सेना को दो भागों में बाँट देना। देखिए विष्णुधर्मोत्तर (२।१५०-३-५) एवं मिताक्षरा (याज्ञ० १। ३४६)।[13] कुछ लोगों के मत से संश्रय का तात्पर्य है उदासीन या मध्यम (मध्यस्थ) राजा की शरण जाना। कौटिल्य (७) ने छः गुणों की विशद व्याख्या की है और यही बात मनु (७।१६०), काम० (९-१६), विष्णुधर्मोत्तर (२।१४५-१५०), अग्नि० (२४०), मानसोल्लास (पृ० ९४-११६), राजनीतिप्रकाश (पृ० ३२४-४१३) में भी पायी जाती है। मनु (७।१६२-१६८) ने लिखा है कि प्रत्येक गुण दो प्रकार का होता है। काम० (९।२-१८) एवं अग्नि० (२४०) ने सन्धि के १६ प्रकार बताये हैं और उनकी परिभाषा दी है। कामन्दक की व्याख्या का आधार कौटिल्य (७।३) है। कौटिल्य (७।३) का कहना है कि यदि दुर्बल राजा पर सबल राजा (मण्डल का नेता) आक्रमण कर दे तो पहले को तुरन्त झुक जाना चाहिए और अपनी सेना, कोष, राज्य और स्वयं को उसे सौंप देना चाहिए। सेना उसके अधीन कर देने की बात पर सन्धि तीन प्रकार की होती है—आत्मामिष (अपनी सेना की उत्तम टोली लेकर स्वयं उपस्थित होना अर्थात् स्वयं अपने को शिकार की भाँति उपस्थित कर देना), आत्मरक्षण (अपनी रक्षा करना, अर्थात् स्वयं न जाना, सेनापति या युवराज के साथ अपनी सेना भेज देना) तथा अदृष्टपुरुष (जिसमें किसी विशिष्ट व्यक्ति की चर्चा न हो, जिसमें यह तय पाया हो कि कोई भी राजा की ओर से या स्वयं राजा आक्रामक के इच्छानुसार कहीं भी सेना लेकर चला आये)। इन सन्धियों को दण्डप्रणत (जिसमें सेना के साथ सन्धि की जाती है) सन्धि

११ तथा च गौतमसूत्रम्। चतुरुपायानवलम्ब्य सन्धिविग्रहयानासनद्वैधीभावसमाश्रयाख्यान्गुणान् परिकल्पयेत्। सरस्वतीविलास पृ० ४२।

१२ पणबन्धः सन्धिः, अपकारो विग्रहः, उपेक्षणमासनम्, अभ्युच्चयो यानम्, परार्पणं संश्रयः, सन्धिविग्रहोपादानं द्वैधीभावः। इति षड्गुणाः। परस्माद्धीयमानः सन्दधीत। अभ्युच्चीयमानो विगृह्णीयात्। न मां परो नाहं परमुपहन्तुं शक्त इत्यासीत। गुणातिशययुक्तो यायात्। शक्तिहीनः संश्रयेत्। सहायसाध्ये कार्ये द्वैधीभावं गच्छेत्। इति गुणावस्थापनम्। कौटिल्य ७।१। और देखिए रघुवंश (८।२१) जहाँ कालिदास ने लिखा है—'पणबन्धमुखान् गुणानजः षडुपायुङ्क्त समीक्ष्य तत्फलम्।'

१३ पणबन्धः स्मृतः सन्धिरपकारस्तु विग्रहः। जिगीषोः शत्रुविषये यानं यात्रा विधीयते॥ विग्रहेऽपि स्वके देशे स्थितिरासनमुच्यते। बलार्धेन प्रयाणं तु द्वैधीभावं तदुच्यते॥ उदासीने मध्यमे वा संश्रयात्संश्रयः स्मृतः। विष्णुधर्मोत्तर २।१५०।३-५, द्वैधीभावः स्वबलस्य द्विधाकरणम्। मिता० (याज्ञ० १।३४६)।

कहते हैं। वे सन्धियाँ जो कोष देने की शर्त पर की गयी हों परिक्रय (जिसमें कोष दे देने पर राज्य के अन्य तत्त्व सुरक्षित रह जाते हैं) उपग्रह (जिसमें एक मनुष्य के कन्धे पर ढोने के बराबर कोष दिया जाय) एवं कपाल (शाब्दिक अर्थ—किसी पात्र का टूटा अर्ध भाग अर्थात् जहाँ प्रभूत धन दिया जाय) नामों से पुकारी जाती हैं। इन सन्धियों को कोशोपनत सन्धियों की संज्ञा प्रदान हुई है। देशोपनत सन्धियाँ (जिनमें राज्य-भूमि देने की शर्त रहती है) के प्रकार हैं—आदिष्ट (जिसमें एक भाग देकर सारी राज्य-भूमि बचा ली जाती है) उच्छिन्न (जिसमें सारी राज्य-भूमि दे दी जाती है केवल राजधानी छोड़ दी जाती है और वह भी धनहीन) अवक्रय (जिसमें राज्य छोड़ दिया जाता है किन्तु उपज दी जाती है) तथा परिभूषण (जिसमें उपज से अधिक देने की बात निश्चित हो)।

कामन्दक (९।२१ २२) ने कुछ और प्रकार जोड़े हैं और कहा है कि केवल उपहार (भेंट देना) ही सन्धि है, अन्य सन्धियाँ इसके प्रकार (हेर-फेर) मात्र हैं। *इतना ही नहीं उन्होंने यह भी कहा है कि केवल मित्र-सन्धि* (बिना भूमि धन आदि दिये मित्रता की सन्धि) उपहार के अन्तर्गत नहीं आती। काम (९-२) एवं मानसोल्लास (२।११, पृ ९४ ५) में अन्य चार सन्धियों का उल्लेख हुआ है यथा—मैत्र परस्परोपकार (एक-दूसरे को सहायता देने की सन्धि) सम्बन्धज (कन्या देकर वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना) एवं उपहार। इस विषय में एक उदाहरण मिलता है सन् १२१२ ई (संवत् १२८८) में वैशाख पूर्णिमा के दिन सोमवार को देवगिरि के यादव राजा सिंघण ने (जिन्हें महाराजाधिराज की उपाधि दी गयी है) चालुक्य राजा जयन्तसिंह (लवणप्रसाद जिन्हें राणक एवं महामण्डलेश्वर की उपाधि मिली है) से सन्धि की और तय पाया कि वे एक-दूसरे पर आक्रमण नहीं करेंगे और किसी अन्य के आक्रमण करने पर एक-दूसरे की सहायता करेंगे। यह बात लेखपद्धतिका में लिखित है (देखिए, बाम्बे गजेटियर, जिल्द १ भाग १ पृ २)। काम (९।२३ २६) एवं अग्नि (२४ ।१०-११) ने ऐसे दस लोगों के प्रकार बताये हैं जिनके साथ सन्धि नहीं करनी चाहिए। कामन्दक (९।४५-५२) ने ऐसे सात लोगों के भी नाम बताये हैं, जिनके साथ सन्धि करनी चाहिए। इन बातों के लिए कामन्दक ने कारण भी बताये हैं। अपने से बराबर वालों के साथ (न केवल अपने से अधिक शक्तिशाली के साथ) भी सन्धि करनी चाहिए, क्योंकि रण-क्षेत्र में विजय संदिग्ध रहती है (काम ९-५९)। कौटिल्य ने एक सुन्दर उपमा दी है जब दो समान राजा एक-दूसरे से भिड़ जाते हैं तो वे कच्चे घड़े की भांति टूट जाते हैं। जब अधिक शक्तिशाली राजा सन्धि के लिए उद्यत न हो तो दुर्बल राजा को अपनी सेना लेकर शक्तिशाली राजा की सहायता के लिए चल देना चाहिए। कौटिल्य (७।१२) ने सन्धियों एवं दुर्ग-निर्माण सिंचाई के विषय में तथा अन्य बातों की चर्चा करते समय महत्त्वपूर्ण निर्देश दिये हैं स्थल-मार्ग जल-मार्ग से अच्छा है, दक्षिणी एवं उत्तरी मार्गों में प्रथम अच्छा है।[१४] कामन्दक (१ ।१५—अग्नि २४ ।१९) ने मत से वैर के पाँच प्रकार हैं विमाता से उत्पन्न भाई का भूमि (भूमि या घर पर अधिकार कर लेने से) या स्त्री से उत्पन्न (स्त्री को भगा ले जाने या एक ही स्त्री को प्यार करने के कारण) शब्दों के कारण (वाणी या अपमानात्मक शब्द अपनाने से) तथा त्रुटियों या अपकार करने से।

कामन्दक (१ ।२८-६—अग्नि २४ ।२०-२४) ने उन सोलह विधियों का वर्णन किया है जिनसे विग्रह उत्पन्न होता है यथा—राज्य पर अधिकार कर लेना स्त्री जनपद वाहन (हाथी घोड़ा) दूसरे का धन आदि छीन लेना गर्व करना उत्पीड़ित करना आदि। जब कोई राजा यह जान ले कि उसकी सेना का भली भाँति पालन-पोषण हो रहा

१४ स्थलपथेऽपि हैमवतो दक्षिणापथाच्छ्रेयान् हस्त्यश्वगन्धदन्ताजिनरूप्यसुवर्णपण्याः सारवत्तरा इत्याचार्याः। नेति कौटिल्यः। कम्बलाजिनाश्वपण्यवर्जाः शङ्खवज्रमणिमुक्तासुवर्णपण्याश्च प्रभूततरा दक्षिणापथे। कौटिल्य ७।१२।

है, उसकी प्रजा सन्तुष्ट है तथा दूसरे राजा की प्रजा एव सेना असन्तुष्ट है, और जव उसे इसका ज्ञान हो जाय कि उसे विग्रह के तीन फल (भूमि, मित्र एव धन, काम० १०।२६-२८) प्राप्त हो रहे हैं, तो उस (दूसरे राजा) पर आक्रमण कर देना चाहिए। कौटिल्य (७।१५) ने विजयी को सेना समर्पित किये जाने पर विजित की मन स्थिति तथा दण्डोपनायी (जो सैन्यवल से दूसरे राजा को झुका देता है) की मन स्थिति का वर्णन किया है (७।१६)। **यान** का तात्पर्य है उस विजिगीषु का आक्रमण-प्रयाण जिसकी प्रजा उसके गुणो के कारण अति सन्तुष्ट हो (काम० ११।१)। मत्स्यपुराण (२४०।२) एव अग्निपुराण (२२८।१-२) का कथन है कि जव शत्रु-पृष्ठभाग आक्रन्द द्वारा अभिभूत कर लिया जाय या जव शत्रु विपत्तियो से आक्रान्त हो जाय तो विजिगीषु को आक्रमण के लिए प्रयाण करना चाहिए। किन्तु **यातव्य** पर (जिस पर आक्रमण करना निश्चित हो चुका है) आक्रमण करने के पूर्व एक दूत (काम० १२।१) यह जानने के लिए भेज देना चाहिए कि वह (यातव्य) मुठभेड करना चाहता है या झुक जाना चाहता है। इससे स्पष्ट है कि विना वातचीत किये या अन्तिम वात कहे (यथा—यदि यह वात नही मानी जायगी तो लडाई छिड जायगी) लडाई नही की जाती थी। महाभारत (उद्योगपर्व ८३।५-७) में आया है कि श्री कृष्ण पाण्डवो की ओर से दूत के रूप मे कौरवो के यहाँ पहुँचे थे।

पुराणो एव मध्यकाल के निवन्धो मे आक्रमण करने के पूर्व-भावी धार्मिक एव आराधनापूर्ण कृत्यो के विषय मे वहुत-से नियम हैं। विष्णुधर्मोत्तर (२।१७६) एव अग्नि० (२३६।१-१८) के मत से आक्रमण के सात दिन पूर्व से ही आक्रामक राजा को देवी-देवो की पूजा करनी पडती थी। गणपति, दिक्पालो, नवग्रहो, आश्विनो, विष्णु, शिव तथा राजधानी के मन्दिरो के देवो की पूजा की जाती थी। आक्रामक को उन दिनो के स्वप्नो का अर्थ लगाना पडता था और वुरे स्वप्नो के लिए मार्जन आदि की व्यवस्था करानी पडती थी। अच्छे एव शुभ शकुनो तथा स्वप्न-विचार के विषय मे वहुत पुरानी परम्परा रही है। छान्दोग्योपनिषद् (५।२।८-९) मे आया है कि जव कोई किसी कार्य की सिद्धि के लिए पवित्र यज्ञो मे सलग्न रहने पर स्वप्न मे किसी स्त्री को देखता है तो उसे यह अनुभव करना चाहिए कि उसका कार्य अवश्य हो जायगा। इसी प्रकार ऐतरेय आरण्यक (३।२।४) मे आसन्न मृत्यु के सकेतो के विषय मे लिखा है कि जव कोई व्यक्ति स्वप्न मे किसी काले दाँत वाले काले व्यक्ति को देखे तो उसकी मृत्यु हो जायगी, ऐसा समझना चाहिए।[15] शकराचार्य ने वेदान्तसूत्रभाष्य (२।१।१४) मे उपर्युक्त वातो का उद्धरण दिया है। विष्णुधर्मोत्तर (२।१३२-१४४—जो गर्ग पर आधारित है, २।१६४), मत्स्यपुराण (२२८-२४१), अग्नि० (२३०-२३२) आदि ने स्वर्ग एव आकाश मे तथा पृथिवी और क्रियाओ में उत्पन्न अशुभ लक्षणो एव शकुनो तथा उन्हे दूर करने के उपायो के विषय मे लिखा है। मानसोल्लास (२।१३, पृ० ९७-११२) एव राजनीतिप्रकाश (पृ० ३३१-३५१) ने भी ये सव वातें कही हैं और ज्योतिष-सम्वन्धी चर्चा भी की है। उनमे कुछ वहुत ही मनोरजक हैं, यथा—विष्णुधर्मोत्तर (२।२३५) ने मूर्तियो के रोने एव नाचने की वात कही है। पूजा के छठे दिन अर्थात् आक्रमण-प्रयाण के एक दिन पूर्व राजा जयाभिषेक नामक स्नान करता है। इसका प्रभूत वर्णन राजनीतिप्रकाश (पृ० ३५१-३९५) मे मिलता है, जहाँ लिगपुराण से वहुत-से उद्धरण दिये गये हैं। जय-स्नान के कृत्य राज्याभिषेक के कृत्यो से वहुत अशो मे मिलते हैं। विशद चर्चा के लिए देखिए मत्स्य० (२४३ ।१५-१६) एव विष्णुधर्मोत्तर २।१६३।१८-३१)। मत्स्य० (२४३।२-१४) मे अशुभ दर्शनो की भी एक सूची दी गयी है।

१५ स यदि स्त्रियं पश्येत्समृद्धं कर्मेति विद्यात्। तदेष श्लोकः। यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति। समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने॥ छान्दोग्य० ५।२।८-९; न चिरमिव जीविष्यतीति विद्यात् ...अथ स्वप्नाः। पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्ति। ऐत० आर० ३।२।४।

प्रयाण के कुछ शुभ शकुन ये हैं—श्वेत पुष्प, जलपूर्ण घट, गायें, घोड़े, हाथी, अग्नि की ज्वाला, वेश्या, दूब, सोना, चाँदी, ताँबा, सभी रत्न, तलवार, छाता, ध्वजा, शव (जिसके साथ रुदन करते हुए लोग न हों), फल एवं स्वस्तिक चिह्न। अशुभ शकुन ये हैं—काला अनाज, रुई, सूखा गोबर, ईंधन, मुण्डित सिर या नग्न-बदन मनुष्य या बिखरे बालों वाला या लाल वस्त्रधारी व्यक्ति, पागल, चाण्डाल, गर्भवती नारी, टूटा घट, भूसा या चोकर, राख एवं हड्डियाँ। मानसोल्लास (२।११ श्लोक ८११-८२१ पृ० १२११) एवं नीतिमयूख (पृ० ५८-५९) में भी अशुभ एवं शुभ वस्तुओं एवं घटनाओं की सूची दी है। मत्स्य (२४३।२७) एवं विष्णुधर्मोत्तर (२।१६३।१२) ने बड़ी सावधानी से यह बात कही है कि पूर्ण विश्वास एवं प्रसन्न मुद्रा से युक्त मन विजय का सूचक होता है।[१९] गौतम (११।१५-१७) ने भी ज्योतिषियों तथा अशुभ लक्षणों को दूर करने में चतुर एवं दक्ष लोगों की बात मानने पर बल दिया है और शान्ति, स्वस्त्ययन, आयु आदि की व्यवस्था बतलायी है। कौटिल्य ने भी आसन्न विपत्तियों को दूर करने के लिए देव-पूजा, ब्राह्मण-सत्कार एवं अथर्ववेद द्वारा व्यवस्थित क्रिया-संस्कार करने को कहा है। मनु (७।८२) एवं याज्ञ० (१।३१५) ने लिखा है कि विद्वान् ब्राह्मणों को दी गयी भेंट राजा के लिए अक्षय सम्पत्ति होती है। राजधर्मकाण्ड (पृ० १९) ने ब्रह्मपुराण का उद्धरण देते हुए लिखा है कि राजा को प्रति वर्ष दो लक्ष-होम एवं कोटि-होम करने चाहिए। राजधर्मकाण्ड (पृ० ११३) एवं राजनीतिप्रकाश (पृ० १४४) ने उद्योगपर्व (३७।९३-९५) का हवाला देते हुए मनुष्य की अवनति के आठ लक्षण बताये हैं: ब्राह्मण-घृणा, ब्राह्मण-विरोध, ब्राह्मण-सम्पत्ति छीन लेना, उन्हें मार डालने या हानि पहुँचाने की इच्छा रखना, उन्हें अपमानित करने में आनन्द लेना, उनकी प्रशंसा से खिन्न होना, धार्मिक कृत्यों में उनका स्मरण न करना तथा उनके द्वारा प्रार्थना किये जाने पर आक्रोश प्रकट करना।

प्राचीन काल में रणक्षेत्र में जाने के पूर्व राजा किस प्रकार सजता या सन्नद्ध होता था, इसके विषय में मनोरंजक बातें ज्ञात हैं। आश्वलायनगृह्यसूत्र (३।१२) का कहना है कि जब लड़ाई होने वाली हो, पुरोहित को चाहिए कि वह राजा को कवच निम्न रूप से पहनाये। राजा के रथ के पश्चिम भाग में खड़े होकर पुरोहित को यह मन्त्र (ऋ० १०।१७३।१) पढ़ना चाहिए—"मैं तुम्हें ले आया हूँ" आदि। इसके उपरान्त ऋग्वेद (६।७५।१) के मन्त्र के साथ राजा को कवच देना चाहिए। पुनः पुरोहित दूसरे मन्त्र (ऋ० ६।७५।२—"धन्वना गा") के साथ राजा को धनुष देता है और मन्त्र (ऋ० ६।७५।३) का पाठ करने को कहता है एवं स्वयं मन्त्र (ऋ० ६।७५।४) पढ़ता है। इसके उपरान्त वह मन्त्र (ऋ० ६।७५।५) के साथ राजा को तूणीर देता है। जब संग्राम-क्रिया की ओर रथ चलने लगता है तो पुरोहित मन्त्र (ऋ० ६।७५।६) पढ़ता है और घोड़ों पर सातवाँ मन्त्र (ऋ० ६।७५।७) पढ़ता है एवं राजा से आठवाँ मन्त्र (ऋ० ६।७५।८) पढ़वाता है। इसी प्रकार मन्त्रों के पाठ के साथ अन्य क्रियाएँ की जाती हैं, जिन्हें हम स्थानाभाव से यहाँ नहीं दे रहे हैं। शेष बातें पाद-टिप्पणी में देखिए। बाण ने हर्षचरित (सातवें उच्छ्वास) में दिग्विजय के लिए हर्ष के प्रस्थान का बहुत ही सुन्दर एवं लम्बा वर्णन किया है।

१९. मनसस्तुष्टिरेवात्र परमं जयलक्षणम्। एकतः सर्वलिङ्गानि मनसस्तुष्टिरेकतः॥ मत्स्य (२४३। २७= विष्णुधर्मोत्तर २।१६३।१२)।

२०. संग्रामे समुपोढे राजानं संनाहयेत्। आ त्वा हार्षमन्तरभूरिति पश्चाद्रथस्यावस्थाय। जीमूतस्येव भवति प्रतीकमिति कवचं प्रयच्छेत्। उत्तरया धनुः। उत्तरां वाचयेत्। स्वयं चतुर्थीं जपेत्। पञ्चम्येषुधिं प्रयच्छेत्। अभिप्रवर्तमाने षष्ठीम्। सप्तम्याश्वान्। अष्टमीमिषूनवेक्षमाणं वाचयति। अहिरिव भोगैः पर्येति बाहुमिति तलं नह्यमानम्। [illegible]

प्रस्थान के पूर्व राजा को नीराजनाविधि करनी पडती थी, जिममे घोडो, हाथियो, पताकाओ, सेनाओ आदि के समक्ष दीपक घुमाये जाते थे। कौटिल्य (२।३०) ने लिखा है कि आश्विन के नवें दिन घोडो के समक्ष दीपक घुमाये जाने चाहिए और यही वात आक्रमण के आरम्भ एव अन्त मे तथा महामारियो के समय की जानी चाहिए। कौटिल्य (२।३२) ने चातुर्मास्य (आपाढ से आश्विन तक) तथा दो ऋतुओ की सघि के समय हाथियो के समक्ष नीराजनाविघि करने को कहा है। कालिदास ने रघुवश (४।२५) मे नीराजनाविधि की ओर सकेत किया है।[१८] इस विपय मे और देखिए कामन्दक (४।६६), वृहत्सहिता (अध्याय ४४), शौनकीय (२।८), अग्निपुराण (२६८), विष्णुधर्मोत्तर (२।१५९, राजनीतिप्रकाश, पृ० ४३४-४३८ मे विस्तार के साथ उद्धृत), कालिकापुराण (८८।१५), निर्णयसिन्धु (२, पृ० १६९), युक्तिकल्पतरु (पृ० १७८)। विस्तार से जानकारी के लिए पढिए वराहमिहिरकृत वृहत्सहिता (अध्याय ४४)।

शत्रु पर विजय प्राप्त करने के उपरान्त विजयी के कर्तव्यो के विपय मे (यथा—मृत राजा की गद्दी पर उसके पुत्र या किसी सम्बन्धी को बैठाना, विजित देश की रूढियो एव परम्पराओ का आदर करना आदि) वहुत पहले ही कहा जा चुका है (देखिए, इस भाग का अध्याय ३)। विजय हो जाने पर राज्य-भाग की प्राप्ति या सोने, चाँदी, घोडो, हाथियो, मोतियो, रत्नो, सुन्दर परिधानो आदि की प्राप्ति होती थी। विशेपत कम्बोज, वाह्लीक, गन्धार आदि उत्तर-पश्चिमी देशो के घोडो का वडा मूल्य था। देखिए सभा० (५१।१०, ५३।५), उद्योग० (८६।६), द्रोण० (१५६।४७), सौप्तिक० (१३।२) और सभा० (२७।२७, २८।६, भेट-स्वरूप घोडो के लिए)। सभा० (३०।२८-३०) मे उपर्युक्त भेटें भीम ने म्लेच्छ राजाओ से प्राप्त की थीं।

कौटिल्य ने व्यसन के विपय मे भी एक परिच्छेद (सातवाँ) लिख दिया है। 'व्यसन' का तात्पर्य है "गुणप्राति-

शाससौपर्णे। प्र धारयन्तु मधुनो घृतस्येति सौपर्णम्। सर्वा दिशोऽनुपरियायात्। आदित्यमौशनस वावस्थाय प्रयोधयेत्। उपश्वासय पृथिवीमुत द्यामिति त्र्यृचेन दुन्दुभिमभिमृशेत्। अवसृष्टा परापतेतीषून्विसर्जयेत्। यत्र वाणा सम्पतन्तीति युध्यमानेषु जपेत्। सशिष्याद्वा। आश्व० गृ० ३।१२। "आदित्यमौशनस वा" के साथ मिलाइए शान्तिपर्व (१००।२०)—"यतो वायुर्यत सूर्यो यत शुक्रस्ततो जय। पूर्वं पूर्वं ज्याय एषा सनिपाते युधिष्ठिर॥" इससे स्पष्ट है कि विजयी राजा को सूर्य या औशनस (शुक्र) की ओर मुख नहीं करना चाहिए, प्रत्युत इनको पीछे रखना चाहिए, विजयेच्छुक राजा के सामने तेज हवा भी नहीं होनी चाहिए, उसे उसके पीछे से वहना चाहिए। कुमारसम्भव (३।४३) मे कालिदास ने लिखा है—'दृष्टिप्रपात परिहृत्य तस्य काम पुर शुक्रमिव प्रयाणे', जिसकी व्याख्या में मल्लिनाथ ने उद्धरण दिया है—"प्रतिशुक्र प्रतिवुध प्रत्यगारकमेव च। अपि शक्रसमो राजा हतसैन्यो निवर्तते॥" युक्तिकल्पतरु (पृ० १७६, डा० ए१० एन्० ला द्वारा सम्पादित) मे आया है—"शस्तस्तु देवलमतेऽध्वनि पृष्ठतोऽर्क" (श्लोक ७९)।

१८ राज्ञा यात्राविधि वक्ष्ये जिगीषूणा परावनीम्। नीराजनाविधि कृत्वा सैनिकाश्चानयेत्तत। गजानन्यान् मृगानन्यानिति यान्त्राक्रमो मत॥ युक्तिकल्पतरु (पृ० १७८)। नीराजनामाश्वयुजे कारयेन्नवमेऽहनि। यात्रादाववयाने वा व्याधौ वा शान्तिके रत॥ अर्थशास्त्र २।३०, तिस्रो नीराजना कार्याश्चातुर्मास्यर्तुसन्धिषु। अर्थशास्त्र २।३२। उत्पल ने 'नीराजन' का अर्थ यों लगाया है—नीरेण जलेन अजन स्पर्शनम् (बृहत्सहिता ४३।१ के भाष्य में)। यह शब्द निर्+राजन (राज् से) से भी निकला हो सकता है। तस्मै सम्यग्घुतो वह्निर्वाजिनीराजनाविधौ। प्रदक्षिणार्चिर्व्याजेन हस्तेनेव जय ददौ॥ रघुवश ४।२५।

कोऽप्यसमवायः प्रदोषः प्रसङ्गः पीडा वा व्यसनं व्यस्यत्येनं श्रेयस इति व्यसनम्"—ऐसा कौटिल्य का वचन है (८।१)। और देखिए काम० (१३।१९) एवं नीतिवाक्यामृत (पृ० १७७)। 'व्यस्यत्यावर्तयत्येनं पुरुषं श्रेयस इति व्यसनम्' ऐसा नीतिवाक्यामृत में आया है। 'व्यसन' वह है जो मनुष्य को अच्छे कार्य से वञ्चित कर दे। कौटिल्य के अनुसार व्यसन गुणों (यथा कुलीनता, वंश-परम्परागत वीरता) का अभाव है, या अच्छे गुणों का विरोध है, या दोष (यथा—अत्यधिक क्रोध), अत्यन्त प्रसङ्ग (स्त्री आदि से), पीडा (आक्रमण या दुर्भिक्ष आदि से) आदि का द्योतक है। इस प्रकार व्यसन मोटे तौर से दो भागों में बाँटा जा सकता है, यथा—कामजनित व्याधियाँ एवं दोष तथा कोपजनित दोष। आचार्यों का कथन है कि राजा, मन्त्रियों, प्रजाजनों, दुर्ग, कोष, सेना एवं मित्र राष्ट्र के दोषों में पूर्व दल के दोषों के दोष क्रमशः उत्तर दल के लोगों के दोषों से बढ़ गिने जाते हैं। कौटिल्य आचार्यों के मत को स्वीकार करते हैं। उनका कथन है कि सभी दोष राजा के माथे जाने चाहिए, क्योंकि राजा ही मन्त्रियों, पुरोहित, अध्यक्षों आदि की नियुक्ति करता है। प्रजाजनों की उन्नति एवं अवनति राजा पर ही निर्भर है। इस विषय में कौटिल्य ने भारद्वाज से विरोध प्रकट किया है। कौटिल्य महोदय उन्मादविनाशियों को अधिक उत्तरदायी मानते हैं। उनका कहना है कि अन्धा राजा (जिसने शास्त्रों का अध्ययन न किया हो) उस चलितशास्त्र राजा से अच्छा है जो जान-बूझकर शास्त्रों के विरोध में जाता है; व्याधि-सहिष्णु राजा विजयी (नयी विजय करने वाले) राजा से अच्छा है, दुर्बल किन्तु कुलीन राजा सबल किन्तु अकुलीन राजा से अच्छा है। कौटिल्य ने राजाओं के बहुत-से दोष गिनाये हैं, जिनकी चर्चा (इस भाग के अध्याय-२ में) पहले ही कर दी गयी है। उन्होंने जुआ को मृगया से बुरा माना है और इसी प्रकार काम को जुआ से, मद्यपान को काम से बुरा कहा है। सभा की तोड़-फोड़ अर्थात् फूट के मूल में जुआ प्रधान कारण माना गया है। दैवी विपत्तियों (यथा—अग्नि, बाढ़, महामारी, दुर्भिक्ष) में बाढ़ सबसे अधिक प्रलयकारी है (८।४)। इसी प्रकार अग्नि, रोग एवं महामारियाँ दुर्भिक्ष से कम भयकर हैं तथा थोड़े-से विशिष्ट व्यक्तियों का नाश सहस्रों लोगों के नाश की अपेक्षा अधिक गम्भीर है। कौटिल्य का कथन है कि प्रियतमा रानी के षड्यन्त्र से युवराज का षड्यन्त्र कम महत्त्वपूर्ण है। कौटिल्य ने सेना एवं मित्र राष्ट्रों से उत्पन्न कठिनाइयों का विश्लेषण किया है। उन्होंने सेना से उत्पन्न ४१ कठिनाइयों के कारणों पर प्रकाश डाला है, यथा—सैनिकों को उचित आदर न देना, घृणा करना, समय पर वेतन न देना, रोग से रक्षा न करना, अत्यधिक स्त्री-प्रेमी सैनिकों को भर्ती करना आदि। इन बातों पर कौटिल्य ने सविस्तार प्रकाश डाला है जिसे हम स्थानाभाव से यहाँ उल्लिखित नहीं कर सकते।

राजधर्मकौस्तुभ, राजनीतिप्रकाश तथा अन्य ग्रन्थों में राजाओं के लिए बहुत-से क्रिया-संस्कारों, उत्सवों आदि के करने की व्यवस्था दी गयी है। ये कृत्य राष्ट्रीय उपद्रवों से रक्षार्थ, प्रजारञ्जन आदि के लिए किये जाते थे। राजधर्मकौस्तुभ (पृ० ११५-११६) एवं राजनीतिप्रकाश (पृ० ४१५-४१९) ने ब्रह्मपुराण के ३५ श्लोक उद्धृत करके बताया है कि राजा को वैशाख मास से लेकर एक या अधिक महीनों तक ब्रह्मा, देवताओं, गणों, विनायक, मातृओं, स्कन्द, आदित्यों, इन्द्र एवं रुद्र, माताओं (दुर्गा आदि), पृथिवी, विश्वकर्मा, विष्णु, वासुदेव, शिव आदि की पूजा क्रम से प्रतिपदा से लेकर १५ तिथियों तक करनी होती थी। इसको देवयात्रा कहा जाता है। उपर्युक्त ग्रन्थों ने स्कन्दपुराण से १८ श्लोक उद्धृत करके कौमुदी-उत्सवों, इन्द्रध्वज को फहराने आदि के कृत्यों का वर्णन किया है। देखिए इस ग्रन्थ का भाग २, अध्याय २४। इन ग्रन्थों ने देवीपुराण का हवाला देकर आश्विन की अष्टमी एवं नवमी तिथियों में देवी की पूजा का वर्णन किया है। इन तिथियों में पशु-हनन होता था। कार्तिक की अमावस्या को गो-पूजन का कार्य होता था। वसोर्धारा (सम्पत्ति की धारा) का कृत्य भी होता था। स्थानाभाव से यहाँ इसका वर्णन नहीं किया जायगा।

अध्याय १०

राजधर्म के अध्ययन का उद्देश्य एवं राज्य के ध्येय

इस भाग के गत अध्यायो मे हमने प्राचीन एव मध्य कालीन धर्मशास्त्रकारो एव अर्थशास्त्रकारो द्वारा प्रतिपादित शासन-पद्धति के सिद्धान्तो एव उनके प्रयोगो का चित्र उपस्थित किया है। अब हम राजधर्म के अध्ययन के उद्देश्य एव राज्य के ध्येयो पर प्रकाश डालेंगे। पाठको को गत पृष्ठो के अध्ययन मे ज्ञात हुआ होगा कि राजधर्म-सम्बन्धी सभी सिद्धान्तो एव आदर्शो पर धर्म का रग बडा गहरा था। दूसरी बात यह स्पष्ट हुई होगी कि राजाओ एव उनके कर्मचारियो के समक्ष जो आदर्श रखा गया है, वह उच्च नैतिकता की भावना से परिपूर्ण है। ग्रन्थकारो द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो एव प्रयोगो मे कतिपय दोष देखे गये हैं। ईसा के जन्म के पूर्व एव पश्चात्, कुछ शताब्दियो को छोडकर, एकराजतन्त्रात्मक व्यवस्था ही विद्यमान थी और भारतीय ग्रन्थकारो ने सामान्यत एकराजतन्त्र व्यवस्था का ही प्रतिपादन किया। इसका परिणाम यह हुआ कि राजा अन्त मे शासन एव राज्य का पर्यायवाची हो गया, यद्यपि उसके समक्ष उसके कर्तव्यो एव उत्तरदायित्वो के उच्च आदर्श रख दिये गये थे। दूसरी त्रुटि यह है कि राजनीतिज्ञो ने प्रजातन्त्रात्मक एव अल्पजनशासित व्यवस्था की व्याख्या भी कही उपस्थित नही की। इसके अतिरिक्त नये राजनीतिक विचारो की शून्यता भी देखी गयी, एक बार कुछ राजनीतिज्ञो ने जो कुछ प्रतिपादित कर दिया, वही चल पडा। लगभग दो सहस्र वर्षो तक, न तो नये-नये राजनीतिक विचारो की सृष्टि की गयी, न नयी-नयी धारणाओ की चर्चा की गयी और न विरोधी मान्यताओ पर सागोपाग उल्लेख किया गया। एक प्रकार की प्राचीन परिपाटी के यथावत् चलते रहने की व्यवस्था मात्र कर दी गयी। इस प्रकार सतत प्रवहमान विचारो एव क्रान्तियो के लिए कोई स्थान न बचा, समाज को केवल उसी प्राचीन ढर्रे पर चलाने का आग्रह किया गया। राजा एव सामान्य प्रजा के बीच मे न तो कोई शक्तिशाली एव विरोधी वर्ग था और न कोई शक्तिशाली धार्मिक सस्था। ब्राह्मणो की एक पवित्र जाति थी, किन्तु वे किसी एक सूत्र मे नही बँधे थे, उनकी शक्ति केवल पुस्तको मे बन्द थी, जिनमे यह प्रतिपादित किया गया था कि राजाओ पर उनका प्रभाव रहेगा। किन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि यह बात केवल भारत मे ही पायी जाती थी, वास्तव मे, वैसी स्थिति सम्पूर्ण ससार मे विद्यमान थी। यूरोप मे १५वी या १६वी शताब्दी तक छोटी-छोटी राजतन्त्रात्मक शक्तियो मे मुठभेड होती रहती थी और आये दिन वे एक-दूसरे पर आक्रमण किया करते थे। अत केवल भारतीय ग्रन्थकारो की न्यूनता दिखाने से काम न चलेगा। किन्तु इतना तो कहना ही पडेगा कि ईसा के जन्म के उपरान्त की प्रथम शताब्दी से लेकर ग्यारहवी शताब्दी तक सिथियनो, हूणो एव मुस्लिमो के लगातार आक्रमणो, लूट-पाट एव धार्मिक अत्याचारो के कटु अनुभव रहते हुए भी भारतीय विचारको, योद्धाओ एव राजनीतिज्ञो की आँखें नही खुली और उन्होने चतुर्दिक् बिखरे हुए छोटे-मोटे राज्यो को एक सूत्र मे बाँधने का प्रयत्न नही किया। यदि विचारको मे यह चेतना होती तो वे सारे भारत के विभिन्न भागो के राजा-महाराजाओ को उभाड कर बाह्य आक्रमणो, अत्याचारो, लूट-पाट एव व्यभिचारो को रोकते। सबमे समान सस्कृति के मन्त्र का फूँकना उनका कर्तव्य था। विजयनगर एव महाराष्ट्र मे कुछ प्रयत्न अवश्य हुए, किन्तु उन्हे भी व्यापकता नही प्राप्त हो सकी। यदि विचारको ने चाहा होता तो सामान्य जनता मे राष्ट्रीयता की भावना भर उठी होती। उन्होंने केवल अपने सिद्धान्त

परम लक्ष्य है। राजधर्म का भी यही अन्तिम लक्ष्य है। किन्तु प्राचीन भारत मे राज्य का तात्कालिक ध्येय था ऐसी दशाएँ एव वातावरण उत्पन्न कर देना कि सभी लोग शान्ति एव सुखपूर्वक जीवन-यापन कर सके, अपने-अपने व्यवसाय कर सकें, अपनी परम्पराओं, रूढियों एव धर्म का पालन कर सकें, निर्विरोध अपने कर्मों एव अपनी अर्जित सम्पत्ति का फल भोग सके। वास्तव मे, राजा शान्ति, सुव्यवस्था एव सुख की दशाओं को उत्पन्न करने का साधन था जो ईश्वर मे सहज रूप मे प्राप्त माना जाता था। यदि राजा निष्पक्ष होकर सब पर, चाहे वह अपना पुत्र हो या शत्रु हो, समान रूप से शासन करता है और उन्हे अपराध के अनुपात से ही दण्डित करता है, तो वह अपने तथा अपने प्रजाजनो के लिए इह एव पर दोनो लोक सुरक्षित रखता है। राजा एव प्रजा का कर्तव्य पालन स्वर्ग का द्वार खोल देता है। राज्य (या राज्य के प्रतिनिधि राजा) का कार्य था व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एव सम्पत्ति के अधिकारो की अवहेलना करने वाले को धमकी देकर या शक्ति से रोकना, जनता के परम्परागत रीति-नियमों को प्रतिपालित करने के लिए नियम बनाना तथा सद्गुणो एव धर्म की रक्षा करना। ये विचार कौटिल्य (३।१) के थे।[2] कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ के आरम्भ मे ही कहा है—"अत राजा को यह देखना चाहिए कि लोग कर्तव्य-च्युत न हो, क्योकि जो अपने धर्म मे तत्पर रहता है और आर्यो के लिए जो नियम बने हैं उनका पालन करता है, तथा वर्णो एव आश्रमो के नियमो का सम्मान करता है वह इहलोक एव परलोक दोनो मे प्रसन्न रहता है।"

कामन्दक (१।१३) एव शुक्र (१।६७) का कहना है कि जो राजा न्याय एव नियमो का सम्यक् पालन करता है, वह अपने एव प्रजाजन को त्रिवर्ग अर्थात् तीन पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ एव काम) देता है, यदि वह ऐसा नही करता है तो वह अपना एव प्रजा का सत्यानाश कर देता है।[3] यही बात शान्ति० (८५।२) एव मार्कण्डेयपुराण (२७।२९-३०)[4] मे भी पायी जाती है। अत स्पष्ट है कि राजा को प्रजा द्वारा वर्णाश्रम धर्म पालन करवाना पडता था, यदि कोई वर्णाश्रम-धर्म से च्युत होता था तो उसे दण्डित करना भी राजा का कर्तव्य था। शुक्र (४।४।३९) का कहना है कि प्रत्येक जाति को परम्परागत नियमो का पालन करना पडता था, यदि कोई ऐसा नही करता था तो उसे दण्ड का भागी होना पडता था। सभी मुख्य ग्रन्थो का कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने वर्ण एव आश्रम तथा स्वय अपने कर्तव्यो का पालन करना चाहिए, सभी को सामान्य धर्म, यथा—अहिंसा, सत्य आदि का पालन करना चाहिए (देखिए इस ग्रन्थ के भाग २ का अध्याय १)। राज्य का उद्देश्य था प्रत्येक व्यक्ति को उपर्युक्त कर्तव्य करने देना तथा उन लोगो को रोकना जो उसके कर्तव्य पालन मे बाधा डालते हैं। जो पीढियों से सम्पूज्य है और आदर्श है उसकी रक्षा करना भी राज्य का कर्तव्य था। किन्तु ग्रन्थकारो ने यह नही कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति सक्रिय रूप मे पूरे समाज के लिए कार्य करे। अन्तिम लक्ष्य था मोक्ष, अत परलोक की चिन्ता अधिक की जाती थी, व्यक्तिगत अर्जना (निपुणता) एव सन्यास या विरक्ति को अधिक महत्त्व दिया जाता था।

२ राज्ञ स्वधर्म स्वर्गाय प्रजा धर्मेण रक्षितु । दण्डो हि केवलो लोक पर चेम च रक्षति। राज्ञा पुत्रे च शत्रौ च यथादोष सम धृत ॥ कौटिल्य ३।१, तस्मात्स्वधर्म भूताना राजा न व्यभिचारयेत्। स्वधर्म सन्दधानो हि प्रेत्य चेह च नन्दति॥ व्यवस्थितार्यमर्याद कृतवर्णाश्रमस्थिति । त्रय्या हि रक्षितो लोक प्रसीदति न सीदति॥ कौटिल्य १।३, चतुर्वर्णाश्रमो लोको राज्ञा दण्डेन पालित । स्वधर्मकर्माभिरतो वर्तते स्वेषु वर्त्मसु॥ कौटिल्य १।४।

३ न्यायप्रवृत्तो नृपतिरात्मानमपि च प्रजा । त्रिवर्गेणोपसन्धत्ते निहन्ति ध्रुवम् यथा॥ काम० १।१३ एव शुक्र० १।६७।

४ वर्णधर्मा न सीदन्ति यस्य राज्ये तथाश्रमा । वत्स तस्य सुख प्रेत्य परत्रेह च शाश्वतम्॥ मार्कण्डेयपुराण २७।२९।

इसी लिए राज्य का ध्येय था व्यक्तियों को इस योग्य बनाना कि वे पुरुषार्थों विशेषतः प्रथम तीन की (धर्म, अर्थ, काम, क्योंकि मोक्ष केवल कुछ व्यक्तियों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, उसके लिए व्यक्तिगत अनुभूति एवं आध्यात्मिक शक्ति का होना अनिवार्य है) प्राप्ति कर सकें। यहाँ तक कि बार्हस्पत्य सूत्र (२।४३) का कहना है कि नीति का फल है धर्म, अर्थ एवं काम की प्राप्ति। सोमदेव ने अपने ग्रन्थ नीतिवाक्यामृत का शुभारम्भ उस राज्य को प्रणाम करके किया है जो धर्म, अर्थ एवं काम नामक तीन फल देता है। कामन्दक (१।१७) ने राज्य के सातों अंगों की व्याख्या का अन्त इस उद्घोष के साथ किया है कि सम्पूर्ण राज्य का उचित स्थायित्व धन (कोष) एवं बल (सेना) पर निर्भर है और जब वह निपुण मन्त्रियों द्वारा सँभाला जाता है तो त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ एवं काम की प्राप्ति होती है। कौटिल्य (१।७) ने कहा है कि हमें काम अर्थात् जीवनानन्द सर्वथा छोड़ नहीं देना है, प्रत्युत उसे इस प्रकार प्राप्त करना या भोगना है कि उससे धर्म एवं अर्थ की प्राप्तियों में विरोध न हो। कौटिल्य ने यह भी जोड़ दिया है कि मनुष्यों को इन तीनों ध्येयों की प्राप्ति बराबर मात्रा में करनी चाहिए, क्योंकि वे एक-दूसरे पर निर्भर हैं और एक के आधिक्य से अन्य दो एवं स्वयं उसकी हानि होती है। धर्मशास्त्रकारों का कहना है कि धर्म राज्य की परम शक्ति है और वह राजा के ऊपर की शक्ति है, राजा तो केवल एक यन्त्र या साधन है, जिसके द्वारा धर्म की प्राप्ति होती है। इन ग्रन्थकारों के मतानुसार राज्य स्वयं साध्य नहीं है, प्रत्युत वह साधन मात्र है जिसके द्वारा साध्य की प्राप्ति होती है। कौटिल्य अर्थशास्त्री थे, अतः उन्होंने अन्त में यही कहा है कि तीनों ध्येयों अर्थात् पुरुषार्थों में अर्थ प्रमुख है और अन्य दो अर्थात् काम एवं धर्म अपनी प्राप्ति में अर्थ पर ही निर्भर रहते हैं।

५. नीतेः फलं धर्मार्थकामावाप्तिः। धर्मार्थकामशरीरवेष्टी। बार्हस्पत्यसूत्र २।४३-४४।

६. अथ धर्मार्थकामफलाय राज्याय नमः। नीतिवाक्यामृत (पृ० ७)।

७. इति रूप राज्यं सकलं बलमीरितं यत्र प्रतिष्ठितस्य धर्मं सनातनम्। गुहीतमेतन्निपुणेन मन्त्रिणा त्रिवर्गनिष्पत्तिमुपैति शाश्वतीम्॥ काम० ४।७७।

८. धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत। न निःसुखः स्यात्। समं वा त्रिवर्गमन्योन्यानुबद्धम्। एको ह्यत्यासेवितो धर्मार्थकामानामात्मानमितरौ च पीडयति। अर्थ एव प्रधानम् इति कौटिल्यः। अर्थमूलौ हि धर्मकामाविति॥ कौटिल्य १।७।

व्यवहार (न्याय पद्धति)

अध्याय ११

'व्यवहार' का अर्थ, व्यवहारपद, न्यायालयो के प्रकार आदि

हमने इस भाग के तीसरे अध्याय मे देख लिया है कि निष्पक्ष न्याय करना एव अपराधी को दण्ड देना राजा के प्रमुख कार्यो मे था। राजा न्याय का स्रोत माना जाता था। कौटिल्य (१।१९) ने लिखा है कि दिन के दूसरे भाग मे (दिन को आठ भागो मे बाँटा गया था) राजा को पौर-जानपदो (नगरवासियो एव ग्रामवासियो) के झगडो को निपटाना चाहिए।[1] मनु (८।१-३) ने भी लिखा है कि लोगो के झगडो को निपटाने की इच्छा से राजा को ब्राह्मणो एव मन्त्रियो के साथ **सभा** (न्याय-भवन) मे प्रवेश करना चाहिए और प्रति दिन झगडो के कारणो को तय करना चाहिए। शुक्रनीतिसार (४।५।४५), मनु (८।१), वसिष्ठ० (१६।२), शखलिखित, याज्ञ० (१।३२७ एव २।१), विष्णुधर्मसूत्र (३।७२), नारद (१।२), शुक्र० (४।५।५), मानसोल्लास (२।२०, श्लोक १२४३) का कहना है कि न्याय-शासन राजा का व्यक्तिगत कार्य या व्यापार है। मिताक्षरा (याज्ञ० २।१) का कहना है कि प्रजा-रक्षण राजा का सर्वोच्च कर्तव्य है, यह कर्तव्य बिना अपराधियो को दण्डित किये पूर्ण नही हो सकता, अत राजा को न्याय (व्यवहारदर्शन) करना चाहिए। मेधातिथि (मनु ८।१) का भी कहना है कि लौकिक एव पारलौकिक (अदृष्ट) कष्टो को दूर करना ही प्रजा-रक्षण है। मनु (८।१२ एव १४=नारद ३।८९, पृ० ४२) ने न्याय-शासन को धर्म का प्रतीक माना है और कहा है कि जब न्याय होता है तो धर्म के शरीर मे उसे वेधनेवाला अधर्म नाम का बाण निकल जाता है। याज्ञ० (१।३५९-३६०) ने घोषित किया है कि निष्पक्ष न्याय मे वही फल मिलता है जो पवित्र वैदिक यज्ञो से मिलता है। स्पष्ट है, न्यायानुशासन एक बहुत ही पवित्र कर्तव्य था। मनु (८।१२८=वृद्ध हारीत ७।१९४) ने कहा है कि जो राजा निरपराध को दण्डित करता है और अपराधी को छोड देता है वह पाप करता है, निन्दा का भागी होता है और नरक मे जाता है। वसिष्ठ० (१९।४०-४३) ने अपराधी के छूट जाने पर राजा को एक दिन तथा पुरोहित को तीन दिन उपवास करने को कहा है तथा निरपराधी को दण्डित करने पर राजा को तीन दिन उपवास तथा पुरोहित को कृच्छ्र प्रायश्चित्त करने को कहा है। महाभारत (अनुशासन ६।३८ एव अध्याय ७०) एव रामायण (उत्तरकाण्ड ५३।१८, १९, २५) ने लिखा है कि जो राजा आनन्द-भोग मे लिप्त रहता है और प्रजा के झगडो का निपटारा नहीं करता, वह नृग की भाँति दुख भोगता है (जब दो ब्राह्मणो के गाय-सम्बन्धी झगडे का निपटारा नही हुआ तो उन्होंने राजा नृग को गिरगिट हो जाने का शाप दिया था—रामायण)।[2] शुक्रनीतिसार (४।५।८) ने भी यही बात कही है। मेगस्थनीज (फ्रैगमेण्ट २७, पृ० ७०-७१) ने लिखा है—

१ द्वितीये पौरजानपदाना कार्याणि पश्येत्। कौटिल्य (१।१९)।

२ अर्थिनामुपसन्नाना यस्तु नोपैति दर्शनम्। सुखे प्रसक्तो नृपति स तप्येत नृगो यथा॥ महाभारत—दण्डविवेक द्वारा उद्धृत, पृ० १३, अर्थिना कार्यसिद्ध्यर्थं यस्मात्त्व नैषि दर्शनम्। अदृश्य सर्वभूताना कृकलासो भविष्यसि॥ कार्यार्थिना विमर्दो हि राज्ञा दोषाय कल्पते। रामायण, उत्तरकाण्ड ५३।१८, १९, २५, पौरकार्याणि यो

'राजा दिन भर कचहरी में रहता है और उसके काम में कोई बाधा नहीं आने देता।' कौटिल्य (१।१९) में भी इस विषय में लिखा है— 'जब राजा कचहरी में रहे तो कार्यार्थियों (निपटारा कराने के लिए आये हुए लोगों अर्थात् मुवक्किलों) को द्वार पर बहुत देर तक नहीं खड़ा रहने दे, क्योंकि राजा तक पहुँच न हो सकने के कारण राजा के आस-पास के लोग उचित एवं अनुचित कार्यों में गड़बड़ी उत्पन्न कर देंगे और प्रजा में असन्तोष होगा, फलतः राजा शत्रु के हाथ में चला जायगा।' राजा की कचहरी या न्यायालय को धर्मासन (अवलिखित) या धर्मस्थान (नारद १।३४, मनु ८।२३ एवं शुक्र ४।५।४९) या धर्माधिकरण (वात्स्यायन एवं शुक्र ४।५।४४) कहा जाता था। कालिदास (शाकुन्तल ५) एवं भवभूति (उत्तररामचरित १) ने धर्मासन शब्द का प्रयोग किया है।

स्मृतिकारों का कहना है कि अति प्राचीन काल में स्वर्णयुग था, लोग नीतियुक्त आचरण करते थे, आगे चलकर उनके जीवन में बेईमानी घुस आयी तभी विद्वानों एवं राजा ने नियमों का निर्माण किया और कानूनों (व्यवहारों) का प्रचलन हुआ (सिकाइए गौतम ८।१)। मनु (१।८१-८२—शान्तिपर्व २११।२१, २४) ने लिखा है कि कृतयुग (सत्ययुग) में धर्म अपनी पूर्णता के साथ विराजमान था, किन्तु आगे चलकर चोरी, झूठ एवं धोखाधड़ी के कारण क्रमशः तीनों युगों (त्रेता, द्वापर एवं कलियुग) में धर्म की अवनति होती चली गयी। इस विषय में और देखिए शान्ति (५९। १३)। किन्तु इस प्रकार के कथन में कहीं-कहीं विरोध भी पाया गया है। मनुस्मृति एवं महाभारत में ही मात्स्यन्याय की भी चर्चा हुई है। इन बातों का तात्पर्य यही है कि स्मृतिकार चाहते थे कि जनता राजा के एकाधिकारों के समक्ष झुके। ऋग्वेद (१।११।१) के काल से लेकर आगे तक के सभी लेखकों ने यही विश्वास किया है कि धार्मिकता एवं नैतिकता में लगातार अवनति होती चली गयी है। कुछ ग्रन्थों में मात्स्यन्याय का जो वर्णन है वह केवल राजतन्त्रात्मक शासन की उच्चता घोषित करने के लिए है। नारद (१।१) का कहना है कि जब लोग धार्मिक एवं सत्यवादी थे उस समय न तो व्यवहार (कानून) की आवश्यकता थी और न द्वेष का मत्सर था। जब मनुष्यों में धर्म का ह्रास होने लगा तब धर्म एवं न्याय का प्रवर्तन हुआ और राजा झगड़ों को दूर करने वाला एवं दण्डधर (अपराधी को दण्ड देने वाला) घोषित हुआ। यही बात बृहस्पति ने भी कही है। प्राचीन काल में लोग की धारणा अब धर्म की भावना ने [illegible] की। बहुत समय

राजा न करोति सुखं निवसन्। व्यसनं स करोति घोरे यतते नाम लोकम्॥ शुक्र ४।५।८; देखिए उत्तररामचरित २।१६ जहाँ ऐसे ही शब्द हैं। दण्डविवेक—राजा स्वाधीनवृत्तिरनवरतमपरीक्षणः स्वयं कृत्यानुवर्ती विमर्शनिवृत्तिमवं प्रजानि पश्यति। राजनीतिप्रकाश, पृ० १२४।

३ उपस्थानगतः कार्यार्थिनामद्वारासङ्गं कारयेत्। दुर्दर्शो हि राजा कार्याकार्यविपर्यासमासन्नैः कार्यते। तेन प्रकृतिकोपमरिवशं वा गच्छेत्। अर्थशास्त्र (१।१९)।

४ धर्मस्थानं सभायां सिद्धि तस्याल्लक्षणं लक्षणोद्देशः स्यात्। बृहु (स्मृतिचन्द्रिका, अध्याय १, पृ० १९ में उद्धृत); धर्मशास्त्रविचारेण मूलसारविवेचनम्। यत्राधिक्रियते स्थाने धर्माधिकरणं हि तत्॥ कात्यायन (स्मृतिचन्द्रिका अध्याय १, पृ० १९ में उद्धृत) पराशरमाधवीय (३।१, पृ० २२); व्यवहारप्रकाश (पृ० ८) में आया है—"धर्मशास्त्रानुसारेण अर्थशास्त्रविवेचनम्।" यही बात शुक्रनीतिसार (४।५।७४) में भी कहा गया है। और देखिए सरस्वतीविलास (पृ० ११)—"यत्र स्थाने आवेदितव्यवहारविषयको धर्मशास्त्रविचारेण निर्णयो क्रियते इति धर्मस्थानम्। अस्यैव धर्माधिकरणमिति नामान्तरम्।

५ धर्मप्रधानाः पुरुषा यदासन् सत्यवादिनः। तदा न व्यवहारोऽभून्न द्वेषो नापि मत्सरः॥ नष्टे धर्मे मनुष्याणां व्यवहारः प्रवर्तते। द्रष्टा च व्यवहाराणां राजा दण्डधरः स्मृतः॥ नारद १।१।१-२। धर्मैकतानाः पुरुषाः पूर्वम् तत्र

ऋग्वेद मे परमोच्च या सर्वातिशायी नियम या व्यवहार (कानून) अथवा अखिल ब्रह्माण्ड की व्यवस्था का द्योतक है, जिसके द्वारा अखिल विश्व और यहाँ तक कि देवगण भी शासित होते हैं और जो यज्ञो मे अविच्छेद्य रूप मे सवन्वित है (देखिए ऋग्वेद १।६८।२, १।१०५।१२, १।१३६।२, १।१४३।७, १।१६४।११, २।२८।४, ४।२३।८-१०, जहाँ ऋत दस बार आया है एव १०।१९०।१)। इस विषय मे विशेष अध्ययन के लिए देखिए श्री वेरोल्झीमीर कृत पुस्तक 'दी वर्ल्ड्स लीगल फिलॉसफीज' (जाम्ट्रो द्वारा अनूदित, न्यूयार्क, १९२९) एव प्रो० वी० एम० आप्टे का ऋत सम्बन्धी लेख (भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इस्टीट्यूट की रजतजयन्ती जिल्द, पृ० ५५-६०)।

'व्यवहार' शब्द सूत्रो एव स्मृतियो द्वारा कई अर्थो मे प्रयुक्त हुआ है। इसका एक अर्थ है लेन-देन (उद्योगपर्व ३७।३०, आपस्तम्बधर्मसूत्र २।७।१६।१७, १।६।२०।११ एव १६)। इसका एक अन्य अर्थ है झगडा या मुकदमा (अर्थ, कार्य, व्यवहारपद) जिसकी ओर सकेत हमे शान्तिपर्व (६९।२८), मनु (८।१), वसिष्ठ० (१६।१), याज्ञ० (२।१), विष्णुधर्मसूत्र (३।७२), नारद (१।१) एव शुक्रनीतिसार (४।५।५) मे मिलता है। इसका तीसरा अर्थ है लेन-देन मे प्रविष्ट होने से सम्बन्धित न्याय्य (कानूनी) सामर्थ्य (गौतम १०।४८, वसिष्ठ० १६।८, शखलिखित)।[६] इसका चौथा अर्थ है 'किसी विषय को तय करने का साधन' (गौतम १०।१९, यथा—तस्य व्यवहारो वेदो धर्मशास्त्राणि अगानि, आदि-आदि)। इस अध्याय मे 'व्यवहार' शब्द को हम मुकदमा या कचहरी में गये हुए झगडे एव न्याय-सम्बन्धी विधि के अर्थ मे प्रयुक्त करेंगे। यह तात्पर्य बहुत प्राचीन भी है। अशोक के दिल्ली-तोपरा स्तम्भ के प्रथम अभिलेख मे 'वियोहालसमता' (व्यवहार-समता) तथा खारवेल के हाथीगुम्फा शिलालेख (एपी० इण्डि०, जिल्द २२, पृ० ७९) मे 'व्यवहार-विधि' शब्द आये हैं। महावग्ग (१।४०।३) एव चुल्लवग्ग (६।४।९) मे 'वोहारिक-महामत्त' शब्द आया है। मध्य काल के निबन्धो मे क़ानून एव कानून-विधि (लॉ एव प्रोसीड्योर) कभी-कभी एक ही ग्रन्थ मे लिखित हैं, यथा—वरदराजकृत व्यवहारनिर्णय तथा एक अन्य पुस्तक व्यवहारमयूख मे। कही-कही व्यवहार की विभिन्न बातें (विवाद आदि) एक ग्रन्थ मे तथा न्याय-विधि दूसरे ग्रन्थ मे वर्णित हैं। किसी-किसी पुस्तक मे 'व्यवहार' शब्द केवल न्याय्य विधि (जुडीशियल प्रोसीड्योर) के लिए प्रयुक्त हुआ है, यथा—जीमूतवाहनकृत व्यवहारमातृका एव रघुनन्दन-कृत व्यवहारतत्त्व। विवाद शब्द, जिसका अर्थ है झगडा (मुकदमा), कभी-कभी व्यवहार या व्यवहार-विधि के अर्थ मे प्रयुक्त होता रहा है। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।११।२९।५) एव नारद० (१।५) मे 'विवाद' का अर्थ है मुकदमा (लॉ—सूट)। मिसरू मिश्र के विवादचन्द्र एव कमलाकर के विवादताण्डव मे व्यवहार एव न्याय्य विधि (लॉ एव जुडिशियल प्रोसीड्योर) दोनो का वर्णन हुआ है। याज्ञवल्क्य (२।८ एव ३०५) ने समवत विवाद (लॉ—सूट) एव व्यवहार (जुडिशियल प्रोसीड्योर) मे भेद किया है।

कतिपय स्मृतियो एव टीकाकारो ने 'व्यवहार' शब्द की परिभाषा की है। कात्यायन ने दो परिभाषाएँ की हैं, जिनमे एक व्युत्पत्ति के आधार पर है और विधि की ओर प्रमुख रूप से सकेत करती है तथा दूसरी परम्परा के आधार पर झगडे या मुकदमे या विवाद से सम्बन्धित है। "उपसर्ग वि का प्रयोग 'बहुत' के अर्थ मे, अव का 'सन्देह' के अर्थ में तथा हार का 'हटाने' के अर्थ मे प्रयोग हुआ है, अर्थात् 'व्यवहार' नाम इसलिए पडा क्योकि यह बहुत से सन्देहो को

हिंसका। लोभद्वेषाभिभूताना व्यवहार प्रकीर्तित ॥ बृहस्पति० (स्मृतिचन्द्रिका, अध्याय २, पृ० १ एव व्यवहार-प्रकाश, पृ० ४ मे उद्धृत)।

६ रक्षेद् राजा बालाना धनान्यप्राप्तव्यवहाराणाम् आदि-आदि—शखलिखित (चण्डेश्वर का विवाद-रत्नाकर, पृ० ५९९ मे उद्धृत)।

	मनु		कौटिल्य		याज्ञवल्क्य (मिताक्षरा)		नारद		बृहस्पति (स्मृ० च० २, पृ० ९)
१	ऋणादान	५	ऋणादान	१	ऋणादान	१	ऋणादान	१	कुसीद
२	निक्षेप	६	उपनिधि	२	उपनिधि	२	निक्षेप	२	निधि
३	अस्वामिविक्रय	११	अस्वामिविक्रय	६	अस्वामिविक्रय	७	अस्वामिविक्रय	८	अस्वामिविक्रय
४	सम्भूय-समुत्थान	८	सम्भूय-समुत्थान	१७	सम्भूय-समुत्थान	३	सम्भूय-समुत्थान	४	सम्भूय-समुत्थान
५	दत्तस्यानपाकर्म	१०	दत्तस्यानपाकर्म	७	दत्ताप्रदानिक	४	दत्ताप्रदानिक	३	अदेयाद्य
६	वेतनादान	७	कर्मकरकल्प	११	वेतनादान	६	वेतनस्यानपाकर्म	५	भृत्यदान
७	संविद्-व्यतिक्रम	४	समयस्यानपाकर्म	१०	संविद्-व्यतिक्रम	१०	समयस्यानपाकर्म	१०	समयातिक्रम
८	क्रयविक्रयानुशय	९	विक्रीत-क्रीतानुशय	८ १६	क्रीतानुशय विक्रीयासम्प्रदान	९ ८	क्रीतानुशय विक्रीयासम्प्रदान	९	क्रयविक्रयानुशय
९	स्वामिपालविवाद		+	५	स्वामिपालविवाद		+		+
१०	सीमाविवाद	३	सीमाविवाद	४	सीमाविवाद	११	क्षेत्रजविवाद	७	भूवाद
११	वाक्पारुष्य	१३	वाक्पारुष्य	१३	वाक्पारुष्य	१५	वाक्पारुष्य	१५	वाक्पारुष्य
१२	दण्डपारुष्य	१४	दण्डपारुष्य	१४	दण्डपारुष्य	१६	दण्डपारुष्य	१६	दण्डपारुष्य
१३	स्तेय		+	१८	स्तेय		+	१२	स्तेय
१४	साहस	१२	साहस	१५	साहस	१४	साहस	१७	वध
१५	स्त्रीसंग्रहण		संग्रहण (४।१२)	१९	स्त्री-संग्रहण		+	१८	स्त्री-संग्रह
१६	स्त्रीपुंधर्म	१	विना नाम दिये व्याख्या (३।२-४)		+	१२	स्त्रीपुंसयोग	११	स्त्रीपुंसयोग
१७	विभाग	२	दायभाग	३	दायविभाग	१३	दायभाग	१३	दायभाग
१८	द्यूतसमाह्वय	१५	द्यूतसमाह्वय	१२	द्यूतसमाह्वय	१७	द्यूतसमाह्वय	१४	अक्षदेवन
	+		+	९	अभ्युपेत्याशुश्रूषा	५	अभ्युपेत्याशुश्रूषा	६	अशुश्रूषा
	+	१६	प्रकीर्णक	२०	प्रकीर्णक	१८	प्रकीर्णक	१९	प्रकीर्णक

उपर्युक्त तालिका से व्यक्त होता है कि याज्ञवल्क्य ने पति-पत्नी के कर्तव्यों को व्यवहार के १८ विषयों के अन्तर्गत नहीं रखा है, क्योंकि उन्होंने आचार वाले परिच्छेद में उसका उल्लेख कर दिया है, उन्होंने अभ्युपेत्याशुश्रूषा एवं प्रकीर्णक (मिले-जुले अथवा अन्य दोष) जोड़ दिये हैं, क्रय-विक्रयानुशय को दो भागों में कर दिया है और इस प्रकार सूची में २० विषय आ गये हैं। नारद (१।१६-१९) में मनु के समान (कुछ के नामों में अन्तर भी है) ही १५ विषय हैं, उसमें स्वामिपालविवाद, स्तेय एवं स्त्रीसंग्रहण छोड़ दिये गये हैं, अभ्युपेत्याशुश्रूषा, प्रकीर्णक आदि जोड़ दिये गये हैं और क्रयविक्रयानुशय को क्रीतानुशय एवं विक्रीयासम्प्रदान में बाँट दिया गया है। इसी प्रकार उपर्युक्त तालिका के अन्य भेद भी समझे जा सकते हैं। हम यह कह सकते हैं कि सर्वप्रथम मनुस्मृति ने १८ विषयों अर्थात् व्यवहारपदों के नाम गिनाये थे। गौतम (१२।१, १२।२-३, १२।१२-१३, १२।३९ एवं २८० का सम्पूर्ण), आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।९।२४, १।९।२५।१-२, १।१०।२८।१५-२०, २।१०।२६, १८, १।९।२५।४-११, २।६।१४, २।१०।२७।१४), वसिष्ठ० (२७।४०, २६।१३।१५, २६।३१, २७।१२-३९) ने भी अपने-अपने ढंग से विषयों की तालिका दी है और वर्णन किया है।

मे की है और कण्टकशोधन नामक परिच्छेद मे ऐसे विषयो की चर्चा की है जो प्रदेष्टा (आजकल के कोरोनरो एव पुलिस मजिस्ट्रेटो के समान) द्वारा फैसल होते थे। कौटिल्य ने लिखा है कि व्यवहारपदो का फैसला (निर्णय) धर्मस्थ (न्यायाधीश) लोग करते थे। 'कण्टक' का तात्पर्य है हानिकारक व्यक्ति (मनु ९।२५२ एव कौटिल्य ४)। कण्टकशोधन मे राजकर्मचारियो के अन्तर्गत निम्नलिखित बातें आती थी—बढई एव लोहार जैसे शिल्पकारो को सामान्य श्रेणियो मे कार्य करना पडता था और उन्हे लोगो से काम करने के लिए सामग्री मिला करती थी, यदि वे समय के भीतर बनाकर सामग्री नही देते थे तो उन्हें पारिश्रमिक का ¼ भाग कम मिलता था और पारिश्रमिक का दुगुना अर्थ-दण्ड देना पडता था। इसी प्रकार के नियम जुलाहो के लिए भी बने थे। धोबियो को लकडी के तख्तो या चिकने पत्थरो पर कपडा धोना पडता था, यदि वे इस नियम का उल्लघन करते थे तो उन्हे क्षतिपूर्ति के अतिरिक्त ६ पण अर्थ-दण्ड देना पडता था, उन्हे किसी अन्य को भाडे पर कपडा देने पर या बेचने पर १२ पण अर्थ-दण्ड देना पडता था। इसी प्रकार दर्जियो, सोनारो, वैद्यो, सगीतज्ञो, अभिनेताओ आदि के विषय मे कानून बने थे। और देखिए कौटिल्य के अर्थशास्त्र का अध्याय ४ जहाँ विभिन्न अपराधो के दण्डो की चर्चा है। यदि कोई सोनार किसी से (नौकर या दास से) बिना राजकर्मचारी को सूचित किये सोना-चाँदी क्रय करता है, उसे दूसरे रूप मे नही बदल देता है या बदलता है या किसी चोर से सामग्री खरीदता है, तो उसे क्रम से १२, २४ या ४८ पण दण्ड-रूप मे देने पडते थे। किसी **सुवर्ण** (सोने के सिक्के) से एक माषक (एक सुवर्ण का ¹⁄₁₆वाँ भाग) चुराने पर २०० पण दण्ड तथा एक **धरण** (चाँदी के सिक्के) मे एक माषक चुराने पर १२ पण दण्ड देना पडता था। ताँबा, सीसा, पीतल, काँसे के बरतन बनाने आदि मे उचित से कम तौल करने पर दण्ड देना पडता था। जाली सिक्का बनाने, लेने या दूसरो को देने मे १००० पण का दण्ड लगता था और राज्यकोष मे जाली सिक्का डालने पर मृत्यु-दण्ड मिलता था। यदि कोई वैद्य किसी रोगी के भयकर रोग की सूचना (राजकर्मचारी को) दिये बिना इलाज करता और रोगी मर जाता था तो उसे कठोर दण्ड मिलता था, यदि वैद्य की असावधानी मे रोगी मर गया तो उसे मध्यम दण्ड मिलता था। किन्तु यदि रोगी किसी भयकर कष्ट से आक्रान्त हो गया तो यह विषय **दण्डपारुष्य** (आक्रमण के अभियोग) के अन्तर्गत गिना जाता था। सगीतज्ञो एव अभिनेताओ (भाणो) को वर्षा ऋतु मे एक स्थान पर रहना पडता था, उन्हे अत्यधिक दान लेना अथवा किसी एक ही सरक्षक की प्रशसा करना मना था, यदि वे इन सब नियमो का उल्लघन करते थे तो उन्हे १२ पण दण्ड देना पडता था। ये ही नियम कठपुतली नचाने वालो तथा अन्य भिक्षुओ के लिए थे, किन्तु भिक्षुओ को पण-दण्ड के स्थान पर उतने ही कोडे लगते थे। कौटिल्य (४।२) ने कूट तुलामान आदि (गलत बटखरे, तराजू आदि) रखने पर दण्ड-व्यवस्था दी है। जो लोग बुरी लकडी, लोहे, रत्नो, रस्सियो, कपडो को बहुत अच्छा कहकर बेचते थे, जो व्यापारिक वस्तुओ के विक्रय मे गडबडी उत्पन्न करते थे, जो लोग अनाजो, तेलो, दवाओ आदि मे मिलावट करते थे तथा जो लोग स्थानीय एव बाह्य देशो की सामग्रियो की बिक्री मे वाणिज्य के अध्यक्ष द्वारा निर्धारित दाम से अधिक लेते थे, उन्हे दण्डित होना पडता था। कौटिल्य (४।३) ने अग्नि, बाढो, महामारियो, दुर्भिक्षो, चूहो, व्याघ्रो, सर्पो से सम्बन्धित आधियो, व्याधियो तथा विपत्तियो से बचने के लिए व्यवस्था दी है, यदि कोई चूहो को नष्ट करने के लिए रखे गये बिलावो (बिल्लियो) एव नेवलो को पकडता या घायल कर देता था, उसे १२ पण देना पडता था। कौटिल्य (४।४) ने जनता की दुष्ट जनो से रक्षा **समाहर्ता** द्वारा करने की व्यवस्था दी है, क्योकि कुछ लोग गुप्त रीति से लोगो को तग कर सकते थे। समाहर्ता अपने गुप्तचरो द्वारा ऐसे लोगो का पता लगाता रहता

की सज्ञा देते हैं, वैश्य हैं और उन्हें भी वे अधिकार मिलने चाहिए। यह निर्णय या तो "पाखण्ड विपर्यय" या "तद्-वृत्तिनियम" के अन्तर्गत आयेगा।

था। वेश परिवर्तित कर गुप्तचर लोग बाजार में राजकर्मचारियों की सच्चाई एवं बेईमानी का पता लगाते थे। इसी प्रकार वे अध्यक्षों, न्यायाधीशों, धर्माध्यक्षों, साक्षियों (गवाहों) की सच्चाई एवं बेईमानी का पता लगाते थे। इन विषयों में अपराधी सिद्ध होने पर साधारण देश-निष्कासन का दण्ड मिलता था। गुप्तचरों द्वारा तथा माता-पिता, भाई-बहन, माता के वेश में रखैलों द्वारा उन मनुष्यों का पता लगाया जाता था जो चोरी एवं डकैती करने की ओर झुकाव रखते थे। कौटिल्य (४.६ एवं ७) ने सन्देह में अपराध करते हुए पकड़े गए अपराधियों तथा अकस्मात् हुई मृत्युओं की जाँच-पड़ताल के विषयों पर लिखा है। कौटिल्य (४।८) ने अभियुक्तों के बयानों की जाँच साक्षी की उपस्थिति में करने की व्यवस्था दी है। बयानों में यह पूछा जाता था कि वे अभियुक्त से सम्बन्धी हैं या नहीं, या वे पूर्वपरिचित व्यक्ति हैं, इतना ही नहीं उनसे उनके देश, जाति, कुल, नाम, वृत्ति, सम्पत्ति एवं अभियुक्त के मित्र एवं उनके निवास स्थान के विषय में पूछा जाता था। कभी-कभी अपराध स्वीकार कराने के लिए यन्त्रणा दी जाती थी। यह कहा जाता है कि केवल उन्हीं को यन्त्रणा दी जाती थी जिनका अपराध एक प्रकार से सिद्ध हो चुका रहता था (आप्तदोषं कर्म कारयेत्)। जब अपराध गुरुतर नहीं होता अर्थात् हलका होता है या अपराधी छोटी अवस्था का होता है, वृद्ध या बीमार होता है, नशे में या मद में रहता है, पागल रहता है, भूख या प्यास या यात्रा की थकावट से व्याकुल रहता है, अधिक खाया हुआ है या अजीर्ण से बीमार है या दुर्बल है, या वह स्त्री गर्भिणी है जिसको अभी एक मास के भीतर ही बच्चा जना है, तो यन्त्रणा नहीं दी जाती थी। अन्य नारियों को पुरुष की अपेक्षा आधी यन्त्रणा दी जाती थी या केवल प्रश्न ही पूछा जाता था। विद्वान् ब्राह्मणों एवं साधुओं को अपराधी बनाए जाने पर उनके पीछे केवल गुप्तचर लगा दिये जाते थे। जो इन नियमों का उल्लंघन करने या औरों को ऐसा करने को उद्दीप्त करते या जो यन्त्रणा में किसी को मार डालते थे उन्हें कड़ा-से-कड़ा दण्ड दिया जाता था। अपराध करने पर चार प्रकार की यन्त्रणाएँ दी जाती थीं—(१) छः डण्डे (२) सात कोड़े (३) दो प्रकार से लटकाना तथा (४) नाक में नमकीन पानी डालना। कौटिल्य ने लिखा है कि जो किसी निर्दोष व्यक्ति को चोर बनाता है या जो चोर को छिपाकर रखता है वह चोर के समान ही दण्ड पाता है। कभी-कभी चोरी न करने वाला भी यन्त्रणा के डर से अपराध स्वीकार कर लेता है, जैसा कि माण्डव्य ने किया था।[११] कौटिल्य (४।९) ने लिखा है कि समाहर्ता एवं प्रदेष्टा को सभी विभागों के अध्यक्षों एवं उनके अधीन राजकर्मचारियों के ऊपर नियन्त्रण रखना चाहिए। जो लोग राज्य की खानों की सामग्रियों एवं रत्नों को चुराते थे या चुराने में हाथ बँटाते थे उन्हें प्राणदण्ड मिलता था। इसी प्रकार अन्य प्रकार के सामानों की चोरी या उन्हें हटाने-बढ़ाने पर भाँति-भाँति के दण्डों की व्यवस्था थी। कौटिल्य ने लिखा है कि ऐसे न्यायाधीशों को दण्ड दिया जाता है जो आवेदकों या प्रतिवेदकों (वादियों या प्रतिवादियों) को धमका कर, डाँटकर, धौंस दिखाकर चुप कर देते हैं या गाली देते हैं। जो न्यायाधीश ठीक से प्रश्न नहीं पूछते हैं, व्यर्थ में देरी करते हैं या सुने-सुनाये मुकदमे को व्यर्थ में पुनः सुनते हैं या जो

११ माण्डव्य की कथा आदिपर्व (६३।९२-९३, १०७-१०८), अनुशासनपर्व (१८।४६-४७), नारद (१।४२) एवं बृहस्पति (अपरार्क द्वारा उद्धृत, पृ० ५९९) में पायी जाती है। माण्डव्य एक निर्दोष व्यक्ति था। उसके पास ही चोरी की सामग्री छिपी थी और वह मौनव्रत में लीन था। प्रश्न पूछे जाने पर उसने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। अतः लोगों ने चोर सिद्ध किया—पूर्वं प्रोक्तं पुराणर्षिरचौरश्चौरशङ्कया। अणीमाण्डव्य इत्येव विख्यातः सुमहायशाः॥ आदि (६३।९२-९३)। कौटिल्य (४।८) ने माण्डव्य की कथा दूसरे ढंग से दी है। मार्कण्डेयपुराण (अध्याय १६) में अणीमाण्डव्य की कथा पायी जाती है। लगता है, दण्ड-विधि (क्रिमिनल लॉ) में माण्डव्य की कथा एक प्रसिद्ध गाथा रही है। मृच्छकटिक (अंक ९।३९) में भी यन्त्रणा की ओर संकेत मिलता है।

अपराधी को जेल में छुड़ाने के लिए या नारी से बलात्कार करने वाले अपराधी को अर्थ-दण्ड देकर छोड़ देते हैं, उन्हें दण्डित किया जाता है। कौटिल्य (४।१०) ने चोरी, मार-पीट, गाली-गलौज, मान-हानि करने, घोड़े या किसी अन्य सवारी पर चढ़कर राजा के प्रति अश्रद्धा प्रकट करने, स्वयं राज्यानुशासन निकालने आदि अपराधों में शरीरांग काटने के स्थान पर अर्थ-दण्ड देने की भी व्यवस्था दी है। उन्होंने मनुष्य-मांस बेचने पर मृत्यु-दण्ड की व्यवस्था दी है, मूर्तियों एवं पशुओं की चोरी पर मृत्यु-दण्ड की चर्चा की है तथा मनुष्यों को गुप्त कर देने, बलवश किसी की भूमि छीन लेने, घर, सोना, सोने के सिक्के, रत्नों एवं अन्न के पौधों की चोरी पर मृत्यु-दण्ड या अधिकारिक दण्ड देने की व्यवस्था दी है। किसी को झगड़े में मार डालने पर यन्त्रणा या बिना यन्त्रणा के मृत्यु-दण्ड दिया जाता था (किन्तु यदि घायल व्यक्ति झगड़े के १५ दिन या एक मास के उपरान्त मर जाता था तो अधिकाधिक अर्थ-दण्ड या ५०० पण या चिकित्सा में लगे धन के बराबर दण्ड लगता था)। किसी हथियार से घायल कर देने पर कई प्रकार के दण्ड दिये जाते थे। पुरुषों या नारियों को मार डालने पर शूली पर चढ़ाया जाता था, जो व्यक्ति राज्य-हरण करने के अपराधी होते थे या अन्तःपुर में बलपूर्वक प्रवेश करते पाये जाते थे, या जो आटविकों (जंगल में रहने वालों) को या शत्रुओं को आक्रमण करने के लिए उभाड़ते थे या देश, राजधानी या सेना में असन्तोष उत्पन्न करते थे, उन्हें जीवित जलाया जाता था। इस प्रकार के अपराध में पकड़े गये ब्राह्मण को जल में डुबा दिया जाता था या अँधेरे कमरे में अकेला बन्दी रखा जाता था। माता-पिता, गुरु या साधु को अपशब्द कहने पर जिह्वा काट ली जाती थी, बाँध, जलाशय को नष्ट करने वाले को जल में डुबा दिया जाता था, जो स्त्री अपने पति या बच्चे को या गुरुजन को मार डालती थी, विष दे देती थी या उन्हें आग में जला डालती थी, उसे बैल द्वारा फड़वा दिया जाता था (कौटिल्य ४।११)। कौटिल्य ने परनारी के साथ बलात्कार करने, अविकसित या विकसित लड़की के साथ सम्भोग करने पर दण्ड की व्यवस्था दी है। यदि कोई पुरुष किसी विकसित अथवा युवती लड़की के साथ उसकी इच्छा के साथ सम्भोग करता है तो पुरुष को ५४ पण तथा लड़की को २७ पण दण्ड देना पड़ता था। अपनी ही जाति की लड़की के साथ, जो तीन वर्ष पूर्व से यौवन प्राप्त कर चुकी है, किन्तु अभी अविवाहित है, सम्भोग करना बड़ा अपराध नहीं माना जाता था। दिखाने के समय कोई और, किन्तु विवाह के समय कोई अन्य कन्या प्रकट करने पर दण्डित होना पड़ता था। यदि प्रवासी व्यक्ति की पत्नी व्यभिचार करती है और उसका कोई सम्बन्धी या नौकर उसे नियन्त्रित रखकर उसके पति को उसके आने पर सौंप देता है तथा उसका पति उसे क्षमा कर देता है तो उसके प्रेमी के ऊपर अभियोग नहीं चलाया जाता, किन्तु यदि पति क्षमा नहीं करता है तो स्त्री के कान एवं नाक काट लिये जाते हैं और प्रेमी को मृत्यु-दण्ड दिया जाता है—कौटिल्य (४।१२)। इसी प्रकार कौटिल्य (४।१३) ने अन्य प्रकार के अपराधों की भी चर्चा की है जिन्हें स्थानाभाव से यहाँ नहीं दिया जा रहा है।

कौटिल्य ने बड़े विस्तार के साथ अपराधों का वर्णन किया है, उनकी तालिका की विशालता आधुनिक 'भारतीय दण्डविधान' की विशालता से कम नहीं है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अध्याय ४ के बहुत-से नियम एवं व्यवस्थाएँ याज्ञ० (२।२७३-३०४), नारद० (प्रकीर्णक तथा अन्य स्थानों में), मनु (८।३६५-३६८, ३९६-३९७, ९।२२५-२२६, २३१-२३२, २६१-२६७) में भी पायी जाती हैं। कौटिल्य ने बहुत-से अभियोगों की चर्चा **कण्टकशोधन** के अन्तर्गत की है न कि **धर्मस्थीय** परिच्छेद के अन्तर्गत। ऐसा क्यों किया गया है, इसका उत्तर देना कठिन है। यह सम्भव है कि कौटिल्य ने धर्मस्थीय के अन्तर्गत केवल उन्हीं अभियोगों, प्रतिवेदनों आदि को रखा, जो दो दलों के बीच के झगड़ों से सम्बन्धित थे। बहुत-से प्रतिवेदन, जिन्हें **वाक्पारुष्य, दण्डपारुष्य, संग्रहण** एवं **स्तेय** के अन्तर्गत रखा गया है, झगड़ों से सम्बन्धित थे और वैसे ही थे जो विशेषतः कण्टकशोधन परिच्छेद में रखे गये हैं। कण्टकशोधन वाले अभियोग राजा अथवा राजकर्मचारियों द्वारा उपस्थित किये जाते थे और वे राज्य से सम्बन्धित होने के कारण फौजदारी (क्रिमिनल) माने जाते थे, क्योंकि उसका सीधा लगाव विशेषतः अपराधों के नष्ट करने से था। कौटिल्य (३।२०) ने प्रकीर्णक के अन्तर्गत

कुछ अन्य बातें भी सम्मिलित कर ली हैं, यथा उधार ली हुई वस्तु को न लौटाना, ब्राह्मण होने के बहाने से घाट का किराया न देना, दूसरे की दीवाल से सम्बन्ध रखना, कर एकत्र कर स्वयं हड़प लेना, चाण्डाल का आर्य नारी को स्पर्श करना, देवों एवं पितरों के सम्मान में दिये गये भोज में बौद्ध, आजीवक या शूद्र साधु को निमन्त्रित करना, गम्भीर पाप न करने पर भी माता-पिता, बच्चे, पत्नी या पति, भाई या बहिन, गुरु या शिष्य को त्याग देना, किसी को अवैधानिक रूप से बन्दी बनाना आदि। कौटिल्य ने नारद, बृहस्पति एवं कात्यायन के समान उन सभी बातों को, जिन्हें राजा अपनी ओर से उठाता है, प्रकीर्णक के अन्तर्गत नहीं रखा है, बल्कि उन्हें कण्टकशोधन के अन्तर्गत रखा है। कौटिल्य ने स्पष्ट किया है (४।१ एवं १३) कि कण्टकशोधन के अन्तर्गत दिये गये विषय उन विषयों के समान ही हैं जो दण्डपारुष्य-जैसे हैं और धर्मस्थीय के अन्तर्गत वर्णित हैं। उदाहरणार्थ, हम ४।१ को देख सकते हैं, यथा—यदि वैद्य असावधानी से किसी रोगी के किसी मर्मस्थल की हानि कर देता है तो वह दण्डपारुष्य समझा जायगा। इससे स्पष्ट है कि नारद एवं बृहस्पति (जिन्होंने राजा द्वारा चलाये गये अभियोगों को प्रकीर्णक के अन्तर्गत रखा है) से बहुत पहले ही कौटिल्य ने न्याय्य शासन (जुडिशिएल एडमिनिस्ट्रेशन) की कल्पना कर ली थी।

माल और फौजदारी अभियोग

व्यवहारपदों का उल्लेख बहुत प्राचीन एवं प्रामाणिक है, किन्तु उनका वर्गीकरण वैज्ञानिक सिद्धान्त पर नहीं ही आधारित है। सरस्वतीविलास (पृ० ५१) में उल्लिखित एक लेखक [illegible] नामी निबन्धकार के अनुसार ऋणादान से लेकर दायविभाग तक के सारे व्यवहारपदों में जो माँग प्रस्तुत रहती है, वह न्याय-सिद्ध होने पर दूसरे पक्ष द्वारा देय मानी जाती है, किन्तु वाक्पारुष्य, दण्डपारुष्य, साहस, द्यूत एवं बाजी लगाने आदि में दण्ड के रूप में ही प्रमुख माँग की पूर्ति होती है। यहाँ पर माल (सिविल) एवं फौजदारी (क्रिमिनल) से सम्बन्धित मुकदमों की ओर संकेत मिल जाता है।[12] इसी से बृहस्पति ने व्यवहारों को दो प्रकारों में बाँटा है, यथा—(१) धन-सम्बन्धी एवं (२) हिंसा-सम्बन्धी। याज्ञवल्क्य (२।२१) ने अर्थविवाद (सिविल झगड़े) का उल्लेख किया है, अतः स्पष्ट है कि उन्होंने अर्थ-सम्बन्धी एवं मार-पीट सम्बन्धी झगड़ों को दो भागों में बाँटा है। धन या अर्थ से सम्बन्धित मुकदमे चौदह भागों में तथा हिंसा से उत्पन्न मुकदमे चार भागों में बँटे हुए हैं।[13] अन्तिम प्रकार के मुकदमों को वाक्पारुष्य (मानहानि अर्थात् अपमान तथा गाली-गलौज से सम्बन्धित), दण्डपारुष्य (आक्रमण अर्थात् मार-पीट करना या मर्दन करना), साहस (हत्या तथा अन्य प्रकार की हिंसाएँ) एवं स्त्रीसंग्रहण (व्यभिचार या परस्त्रीगमन) के नाम से पुकारा जाता है। यहाँ पर अर्थमूल या धनमूल (सिविल) तथा हिंसामूल (क्रिमिनल) नामक झगड़ों का अन्तर स्पष्ट हो गया है। कात्यायन ने भी कहा है कि झगड़ों

१२. तथा च श्रीकरमतम्—द्विरूपो व्यवहारो द्विविधः। व्यवहार उपलभ्यते। तत्र निबन्धकारैरेवोक्तम्—ऋणादानादिदायविभागान्तानां देयविषयत्वं वाक्पारुष्यादिद्यूतसमाह्वयान्तानां दण्डविषयत्वमिति द्विरूपत्वमिति। सरस्वतीविलास, पृ० ५१।

१३. द्विपदो व्यवहारः स्याद्धनहिंसासमुद्भवः। द्विसप्तकोऽर्थमूलस्तु हिंसामूलश्चतुर्विधः॥ पदान्यर्थसमुत्थानि पदानि तु चतुर्दश। पुनरेव अभिशापे क्रियाभेदादनेकधा। पारुष्ये द्वे साहसं च परस्त्रीसंग्रहस्तथा। हिंसोद्भवपदान्येवं चत्वार्याह बृहस्पतिः॥ स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० ९); व्यवहारमयूख (पृ० २८०); पराशरमाधवीय (३, पृ० २०-२१); सार्थं वादस्य मूलं स्यात्तादृशा अभियोजितम्। देवाश्रयत्वं हिंसा चेत्पुण्यानामनुपूर्व्यते॥ कात्यायन (१) स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० १४) में उद्धृत।

के मूल दो हैं, (१) जो देय है उसे न देना तथा (२) हिंसा। यद्यपि इस रीति से १८ प्रकार के अर्थमूल एव हिंसामूल झगडे थे, किन्तु उन्हें निपटाने के नियमादि एक-साथ ही थे, वे एक ही प्रकार की कचहरियो मे सुने-सुनाये जाते थे। आधुनिक काल की भाँति दो प्रकार की कचहरियो की परम्परा नही थी। बृहस्पति ने कहा है कि झगडो का निर्णय केवल शास्त्र-वर्णित नियमो के आधार पर ही नहीं होना चाहिए, प्रत्युत तर्क एव विवेक को भी महत्ता मिलनी चाहिए।

नारद० (१।८-२९), बृहस्पति, कात्यायन, अग्निपुराण (२५३।१-१२, जहाँ नारद के श्लोक ज्यो-के-त्यों उद्धृत हैं) तथा अन्य ग्रन्थो ने व्यवहार के विषय में कई एक निर्देश दिये हैं, यथा-यह द्विफल है, यह चतुष्पाद है आदि।—

(१) **चतुष्पाद**—चतुष्पाद का अर्थ है चार पाद अर्थात् **धर्म, व्यवहार, चरित्र एव राजशासन** (नारद १।१०) वाला। याज्ञवल्क्य (२।८) एव बृहस्पति के अनुसार चतुष्पाद हैं—**अभियोग, उत्तर, क्रिया एव निर्णय**। किन्तु कात्यायन (३१, अपरार्क पृ० ६१६ मे उद्धृत) के अनुसार चतुष्पाद हैं **अभियोग, उत्तर, प्रत्याकलित** एव **क्रिया**।[14]

धर्म तथा अन्य तीन, वास्तव मे अन्तिम निर्णय के चार पाद हैं। अन्तिम निर्णय व्यवहार की चार स्थितियो मे एक स्थिति या दशा है, अत गौण अर्थ मे या खीचातानी करने से ये व्यवहार के चतुष्पाद है। इनमे प्रत्येक के दो प्रकार हैं (देखिए, स्मृतिचन्द्रिका पृ० १०-११, पराशरमाधवीय ३, पृ० १९८-१९९, व्यवहारप्रकाश पृ० ८७-८८, जहाँ बृहस्पति के श्लोको की पूर्ण व्याख्या उपस्थित की गयी है)।

धर्म के अनुसार निर्णय का तात्पर्य यह है कि अपराधी अपना दोष मान ले और वादी को उसका धन मिल जाय या उसकी माँग की पूर्ति हो जाय। इसमे मुकदमा आगे नही चलता, अर्थात् साक्ष्य, लेख-प्रमाण आदि की क्रियाएँ नही होती। इसी प्रकार दिव्य (आर्डिएल) द्वारा प्रमाण एकत्र करके निर्णय देना भी धर्मपाद माना जाता है। दिव्य को सत्य भी कहा जाता है और दोनो को एक ही माना जाता है। इसमे अपराधी सत्य कहता है और इस प्रकार के निर्णय को धर्म का निर्णय कहा जाता है (देखिए, बृहदारण्यकोपनिषद् १।४।१४)। जब कचहरी मे साक्षियो द्वारा मुकदमा लडा

१४ अर्थशास्त्र (४।१) के अन्त में दो श्लोक आये हैं—धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्र राजशासनम्। विवादार्थश्चतुष्पाद पश्चिम पूर्ववाधक॥ तत्र सत्ये स्थितो धर्मो व्यवहारस्तु साक्षिषु। चरित्र सग्रहे पुसा राज्ञामाज्ञा तु शासनम्॥ यही बात कुछ हेर फेर के साथ नारद० (१।१०-११) एव हारीत (सरस्वतीविलास पृ० ५८ मे उद्धृत) मे भी है। इन श्लोको की व्याख्या विस्तारपूर्वक अपरार्क (पृ० ५९७), स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० १०-११), व्यवहारप्रकाश (पृ० ७, ८८-८९) तथा अन्य निवन्धों मे की गयी है। इन श्लोकों मे व्यवहार-सम्वन्धी विवादों के निर्णय के साधनों का वर्णन है। बृहस्पति का कहना है—धर्मेण व्यवहारेण चरित्रेण नृपाज्ञया। चतुष्प्रकारोऽभिहित सन्दिग्धेऽर्थे विनिर्णय॥ (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १०, पराशरमाधवीय ३, पृ० १६, व्यवहारप्रकाश पृ० ६), व्यवहारोऽपि चरित्रेण वाध्यते यथा—साक्षिभि साधितेऽप्याभीरस्त्रिया पुरुषान्तरोपभोगे तद्दण्डे च व्यवहारत प्राप्तेऽपि राजकुलाधिगतलिखिताभ्निवतते। एव हि तत्र लिखितम्—आभीरस्त्रीणा व्यभिचारेऽपि सति दण्डो न ग्राह्य इति। अपरार्क, पृ० ५९७ (याज्ञ० २।१७)।

अपरार्क (पृ० ६१६) के अनुसार प्रत्याकलित का अर्थ है न्यायाधीश एव सभ्यो का विचार-विमर्श, जिसके द्वारा प्रमाण एव प्रमाण की विधि का पता चलाया जाता है। मिताक्षरा (याज्ञ० २।८) के अनुसार इस अर्थ मे प्रत्याकलित व्यवहारपाद नहीं है, क्योंकि मुकदमेंवाजों से इसका सीधा सम्पर्क नहीं है। नारद (२।११) के मत से प्रत्याकलित का अर्थ है अभियोग या उसके उत्तर (अर्थात् लिखित पूरक वक्तव्य) मे जोडा हुआ भाग—वादिन्या लिखिताच्छेष यत्पुनर्वादिना स्मृतम्। तत्प्रत्याकलित नाम स्वपादे तस्य लिख्यते॥

जाता है तब उसे व्यवहार कहा जाता है। 'साक्षियों' का उल्लेख उदाहरणस्वरूप किया गया है और इसमें अन्य प्रमाण, स्वत्व या कब्जा तथा अन्य प्रमाण भी सम्मिलित हैं। जब प्रतिवादी (डेफेण्डेण्ट) सीधे ढंग से उत्तर न देने का अपराधी सिद्ध होता है अथवा उसके उत्तर दोषपूर्ण होने से स्वीकृत नहीं होते और निर्णय उसके विरुद्ध में जाता है, तब भी ऐसा निर्णय व्यवहार द्वारा ही किया गया माना जाता है। चरित्र से तात्पर्य है 'देश, ग्राम या कुल की परम्परा या रूढि (देशस्थितिः पूर्वकृता चरित्रं समुदाहृतम्—व्यास जैसा कि स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ११ एवं व्यवहारनिर्णय पृ० ११८ में उद्धृत किया है)। और देखिए नासिक अभिलेख सं० १२ (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द ८, पृ० ८२—'फलकवारे चरित्रतोति')। नारद ने प्रकीर्णक २४ में यही संकेत किया है, यथा—'नित्यार्थं पृथिवीपालैश्चरित्रविषया कृता।' चरित्र का अर्थ 'अनुमान' (अभिप्राय एवं पूर्वधारणा) भी है, 'अनुमानेन निर्णीतं चरित्रमिति कथ्यते' (बृहस्पति—व्यवहारनिर्णय पृ० ११९ एवं पराशरमाधवीय ३, पृ० १९८ में उद्धृत)। रूढ़ियों एवं परम्पराओं के आधार पर भी निर्णय किया जाता था और ऐसी स्थिति में स्मृतिसम्मत नियमों का विचार नहीं होता था। "चरित्रं पुस्तकरणे" का अर्थ है कि ऐसी रूढ़ियों को राजा द्वारा लिखित कर ली गयी हों, निर्णय के लिए प्रामाणिक मान ली जाती हैं। 'चरित्रं तु स्वीकरणे' का तात्पर्य है ऐसे प्रयोग या रूढ़ियाँ जो प्रजा एवं न्यायालयों द्वारा निर्णय के लिए प्रामाणिक मान ली गयी हों। राजशासन वह है जो राजा द्वारा दिया जाता है, किन्तु वह स्मृतिविरुद्ध नहीं होता और न स्थानीय रूढ़ियों के विरुद्ध होता है। यह राजा की मेधा का परिचायक होता है और तभी कार्यान्वित होता है जब कि दोनों पक्ष प्रबल हों और उनके पक्ष में जो प्रमाण हों वे शास्त्रीय एवं अकाट्य हों। उपर्युक्त चारों अर्थात् धर्म, व्यवहार, चरित्र एवं राजशासन का विवेचन बृहस्पति (पराशरमाधवीय ३, पृ० १४८) एवं कात्यायन (श्लोक १५-१८, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १, पराशरमाधवीय ३, पृ० १६-१७ एवं सरस्वतीविलास पृ० ७ में उद्धृत) में हुआ है। बृहस्पति ने चरित्र के दो अर्थ दिये हैं, (१) वह जो अनुमान द्वारा निर्णीत है तथा (२) देश की परम्परा या रूढि। ऐसा कहना कि इन चारों में एक के उपरान्त आने वाला दूसरा अपने पूर्व वाले का महत्त्व कम कर देता है, ठीक नहीं है। देखिए कात्यायन (४१, व्यवहारप्रकाश पृ० ९ द्वारा उद्धृत)। यदि कोई विवादी (मुकदमा लड़ने वाला) यह कहे कि वह अपना मुकदमा 'दिव्य' द्वारा तय कराना चाहता है और दूसरा कहे कि वह मानवीय साधनों (साक्षियों, लेखप्रमाणों आदि) द्वारा तय कराना चाहता है, तो 'दिव्य' का प्रयोग नहीं किया जाता, प्रत्युत साधारण ढंग अपनाया जाता है। इसके लिए देखिए कात्यायन २१८ (याज्ञ० २।२२ की व्याख्या में मिताक्षरा द्वारा उद्धृत)। यहाँ पर व्यवहार के पक्ष में धर्म की अवहेलना की गयी है। एक अन्य उदाहरण के लिए देखिए, पराशरमाधवीय ३ (पृ० १८)। चारों वर्णों में किसी एक वर्ण का एक व्यक्ति राजद्रोह करता है और कायरतावश अपना अपराध स्वीकार कर लेता है (यह दिव्य या सत्य है) किन्तु साक्षिगण (मनु के ८।११२ वचन पर विश्वास करके कि मृत्यु-दण्ड होते समय साक्षीगण झूठ बोल सकते हैं) का कहना है कि उसने राजद्रोह नहीं किया और अपराधी छूट जाता है। यहाँ पर भी व्यवहार (साक्षियों के वचन पर ही मुकदमा चलता है) के पक्ष में धर्म की अवहेलना हुई है। इसी के समान अन्य उदाहरण के लिए देखिए, स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० ११)। केरल में वेश्या का गर्हा जाना परम्परा से गर्हित नहीं माना जाता था। अतः यदि यह साक्षियों द्वारा प्रमाणित हो जाय कि केरल में किसी ने ऐसा किया तो स्थानीय राजा उसे अर्थ-दण्ड नहीं दे सकता था। या कल्पना कीजिए कि किसी ने किसी आभीर की पत्नी के साथ व्यभिचार किया और उस पर अभियोग चला और साक्षियों द्वारा यह सिद्ध भी हो गया। तब अभियोगी यह कह सकता है कि आभीरों में ऐसा नियम है कि उनकी स्त्रियों के साथ व्यभिचार करने पर दण्ड नहीं मिलता। इस प्रकार के मुकदमों में चरित्र (परम्परा या रूढि या देश प्रयोग) व्यवहार की अवहेलना कर देता है। किन्तु मान लीजिए कि अपनी प्रजा के कुछ लोगों के नैतिक उत्थान के लिए राजा आज्ञा निकालता है कि अमुक तिथि से जो किसी आभीर की पत्नी से व्यभिचार करता पाया जायगा उसे दण्ड दिया जायगा, तो यहाँ पर कहा जायगा कि राजशासन द्वारा चरित्र

की अवहेलना की गयी। ऐसी स्थिति में राजशासन ही निर्णय का कानून या निर्णय माना जायगा। इसी प्रकार जहाँ न साक्षी हों, न लेख-प्रमाण हो, न अधिकार हो, न दिव्य (सत्य) की ही गुंजाइश हो और न शास्त्रीय अथवा परम्परा की बातें या नियम हों, वहाँ राजा ही अपने ढंग से निर्णय करता है। देखिए, पितामह (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २८ में उद्धृत) तथा अन्य ग्रन्थ। कात्यायन (श्लोक ३९-४३, व्यवहारप्रकाश, पृ० ८९ में उद्धृत) ने उपर्युक्त बातों पर अपने ढंग से प्रकाश डाला है।

तो ये सब चतुष्पाद-सम्बन्धी बातें हुईं। अब हम व्यवहार के सम्बन्ध में आने वाले अन्य नियमों एवं अंगों पर प्रकाश डालेंगे।

(२) चतुःस्थान—अर्थात् चार आधार वाला, यथा— सत्य, साक्षी, पुस्तकरण एवं राजशासन।

(३) चतुस्साधन—चार साधन, यथा--साम, दान, भेद एवं दण्ड वाला।

(४) चतुर्हित—अर्थात् चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों को लाभ पहुँचाने वाला।

(५) चतुर्व्यापी—यह वह है जो चारों, अर्थात् विवादियों, साक्षियों, सभ्यों तथा राजा पर छाया रहे।

(६) चतुष्कारी—जो चार फल उत्पन्न करे, यथा धर्म (न्याय), लाभ, ख्याति एवं जनता के लिए प्रेम या आदर का भाव।

(७) अष्टांग—इसके आठ अंग या सदस्य हैं, यथा राजा, उसके अच्छे अधिकारी (उच्च न्यायाधीश), सभ्य (प्यूनी जज अर्थात् अवर न्यायाधीश), शास्त्र (कानून की पुस्तकें अथवा न्याय या व्यवहार-सम्बन्धी स्मृति-ग्रन्थ), गणक, लिपिक, अग्नि एवं जल।

(८) अष्टादश-पद—इसमें अठारह अधिकारों या स्वत्वों (ऋणादान तथा अन्य, जिनकी सूची ऊपर दी जा चुकी है) का वर्णन है।

(९) शतशाख—इसकी सौ शाखाएँ हैं। यह संख्या अनुमानतः है। नारद (१।२०-२५) का कहना है कि १८ स्वत्वों में १३२ उपशीर्षक (ऋणादान २५, उपनिधि ६, सम्भूयसमुत्थान ३, दत्ताप्रदानिक ४, अशुश्रूषा ९, वेतन ४, अस्वामिविक्रय २, विक्रीयादान १, क्रीतानुशय ४, समयस्यानपाकर्म १, क्षेत्रवाद १२, स्त्रीपुंसयोग २०, दायभाग १९, साहस १२, वाक्पारुष्य एवं दण्डपारुष्य ३, द्यूतसमाह्वय १, प्रकीर्णक ६) हैं।

(१०) त्रियोनि—जिसके तीन स्रोत या प्रेरणाएँ हों, यथा काम, क्रोध एवं लोभ।

(११) द्व्यभियोग—दो प्रकार के अभियोगों पर आधारित, यथा सन्देह या सच्ची घटना पर। नारद (१।२७) का कहना है कि ऐसे लोगों पर, जो कुख्याति वाले लोगों, यथा चोरों, जुआरियों, व्यभिचारियों आदि के साथ घूमते रहते हैं, सन्देहवश अभियोग लगाया जाता है तथा उन पर, जिनके पास चोरी गयी वस्तु पायी गयी (तत्त्वाभियोग) हो। यह अन्तिम प्रकार भी दो प्रकार का है, अभियोग ऋणात्मक (अभावात्मक) तथा धनात्मक (भावात्मक) हो सकता है। पहले में प्रतिवादी (डिफेण्डेण्ट) ने धन उधार लिया, किन्तु लौटाया नहीं, ऐसा भी अभियोग सम्भव है और दूसरे प्रकार के अभियोग में प्रतिवादी ने वादी (प्लेंटिफ) के स्वत्व को छीन लिया हो, ऐसा अभियोग लगा रहता है।[15] और देखिए मिताक्षरा (याज्ञ० २।५)।

१५ न्याय्यं नेच्छते कर्तुमन्याय्यं वा करोति च। न लेखयति यस्त्वेवं तस्य पक्षो न सिध्यति॥ कात्यायन (विश्वरूप द्वारा याज्ञ० २।६ में उद्धृत), स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० ३९), मिताक्षरा (याज्ञ०, २।५)। 'न्यायागतं मदीयं धनं गृहीत्वा न ददातीतिवत् प्रतिषेधरूपेण मदीयं क्षेत्रादिकमपहरतीति विधिरूपेण वा यो न लेखयतीत्यर्थः।' स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० ३९)।

रूप से कोई आवेदन न करे तब भी राजा ऐसे मामलों में अपनी ओर से तहकीकात (अनुसंधान) कर सकता है। संवत (स्मृतिचन्द्रिका १, पृ० २८, पराशरमाधवीय ३, पृ० ४४-४५ में उद्धृत) ने भी अपराधों की एक सूची दी है, जो उपर्युक्त सूची से कुछ भिन्न है। देवपाल देव के नालन्दा ताम्रपत्र (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द १७, पृ० ३१०, पृ० ३२१) में 'दशापराधिक' नामक अधिकारी का उल्लेख हुआ है। सातवीं शताब्दी के उपरान्त से सभी प्रकार के करों की माफी के विषय में जो भी दानपत्र आदि निकलते रहे हैं उनमें 'दशापराधों' का भी उल्लेख हुआ है (एपि० इण्डि०, जिल्द १, पृ० ८५, ८८, वही, जिल्द १७, पृ० ३१०, ३२१, गुप्ताभिलेख, स० ३९, पृ० १७९ में 'सदशापराध' का उल्लेख, एपि० इण्डि० जिल्द ७, पृ० २६, ४० में 'दशापराधादिसमस्तोत्पत्तिसहितो दत्त' का तथा एपि० इण्डि०, जिल्द ३, पृ० ५३, वही, जिल्द ३, पृ० २६३, २६६ में 'सदण्डदशापराध' का उल्लेख हुआ है)।

अब हम पदों की व्याख्या करें। ऊपर वर्णित २२ पद 'व्यवहारपदों' से भिन्न हैं। २२ पदों में कुछ ये हैं—तीक्ष्ण हथियार से किसी पशु का शरीर विदीर्ण करना, उपजती हुई खेती का नाश करना, अग्नि लगाना, कुमारी कन्या के साथ बलात्कार करना, गड़े हुए धन को पाकर छिपाना, सेतु, कण्टक आदि को नष्ट करना आदि।[19] राजा की उपस्थिति में सभ्य व्यवहार के विरोधी कार्य छल कहे जाते हैं और ये ५० हैं। पितामह ने इनके भी नाम गिनाये हैं। कुछ छल ये हैं—मार्गविरोध, धमकी देते हुए हाथ उठाना, दुर्ग की दीवारों पर बिना आज्ञा के कूदकर चढ़ जाना, जलाशय नष्ट करना, मन्दिर तोड़ना, खाईं बन्द करना आदि। शुक्र० (४।५।७३-८८) ने अपराधों, पदों एवं छलों से सम्बन्धित नारद एवं पितामह के श्लोक उद्धृत किये हैं और एक स्थान (३।६) पर दस पापों की सूची दी है, जिसमें कहे गये पाप इन अपराधों से भिन्न हैं।

न्याय-कार्य मुख्यतः राजा के अधीन था। राजा प्रारम्भिक एवं अन्तिम न्यायालय था। स्मृतियों एवं निबन्धों का कहना है कि अकेला राजा न्याय-कार्य नहीं कर सकता, उसे अन्य लोगों की सहायता से न्याय करना चाहिए। मनु (८।१-२) एवं याज्ञ० (२।१) का मत है कि राजा को बिना भड़कीले वस्त्र धारण किये, विद्वान् ब्राह्मणों एवं मन्त्रियों के साथ सभा (न्याय-कक्ष) में प्रवेश करना चाहिए तथा उसे क्रोधपूर्ण मनोभाव एवं लालच से दूर हटकर धर्मशास्त्रों के नियमों के आधार पर न्याय करना चाहिए। यही बात कात्यायन (जीमूतवाहन की व्यवहारमातृका, पृ० २७८ एवं याज्ञ० २।२ की व्याख्या में मिताक्षरा द्वारा उद्धृत) ने भी कही है और जोड़ा है कि जो राजा न्यायाधीश, मन्त्रियों, विद्वान् ब्राह्मणों, पुरोहित एवं सभ्यों की उपस्थिति में विवाद-निर्णय करता है, वह स्वर्ग का भागी होता है। और देखिए शुक्र० (४।५।५)। राजा को स्वयं अपने से निर्णय नहीं करना होता था, प्रत्युत उसे न्यायाधीश से सम्मति लेकर ऐसा करना पड़ता था, किन्तु सम्मति लेने के उपरान्त भी वास्तविक उत्तरदायित्व उसी का माना जाता था। (नैकः पश्येच्च कार्याणि, शुक्र० ४।५।६)। नारद ने लिखा है कि राजा को न्यायाधीश की सम्मति के अनुसार चलना चाहिए (प्राड्विवाकमते स्थितः)। ऐसा कहना कि बहुत समझदार होने पर भी न्याय अकेले नहीं करना चाहिए,

१९. उत्कर्ता सस्यघाती चाप्यग्निदश्च तथैव च। विध्वंसकः कुमार्याश्च निधानस्योपगोपकः।। सेतुकण्टकभेत्ता च क्षेत्रसंचारकस्तथा। आरामच्छेदकश्चैव गरदश्च तथैव च।। राज्ञो द्रोहप्रकर्ता च तन्मुद्राभेदकस्तथा। तन्मन्त्रस्य प्रभेत्ता च बद्धस्यैव च मोचकः।। भोगदण्डौ च गृह्णाति दानमुत्सेकमेव (? मुत्सर्गमेव) च। पटहाघोषणाच्छादी द्रव्यमस्वामिकं च यत्।। राजावलीढं द्रव्यं यद्यच्चैवाङ्गविनाशनम्। द्वाविंशति पदान्याहुर्नृपज्ञेयानि पण्डिताः।। ये पद्य पितामह के हैं, जिन्हें स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २८, पराशरमाधवीय ३, पृ० ४५, सरस्वतीविलास, पृ० ७३, व्यवहारप्रकाश पृ० ३७ ने उद्धृत किया है।

वृक्ष की लाठी लेकर बाल बिखेरे हुए दौड़कर राजा के पास पहुँच कर अपना पाप स्वीकार करना चाहिए और राजा से दण्ड माँगना चाहिए। राजा को ऐसी स्थिति में गदा या लाठी से अपराधी को मारना चाहिए। अपराधी उस चोट से मर जाय या जीवित रहे, वह पाप से मुक्त हो जाता है। राजा ही न्याय की सबसे बड़ी कचहरी या अदालत था। इस विषय में कई उदाहरण राजतरंगिणी काव्य में भी मिलते हैं (६।१४-४१, ६।४०-६९, ४।४२-१०८)।

यदि अन्य आवश्यक कामों के कारण राजा न्याय-कार्य देखने में अपने को असमर्थ पाये तो उसे तीन सभ्यों के साथ किसी विद्वान् ब्राह्मण को इस कार्य में लगा देना चाहिए। इस विषय में देखिए, मनु (८।९-१०), याज्ञ० (२।३), कात्यायन आदि। न्यायाधीश के गुणों का वर्णन बहुधा मिलता है। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।११।२९-५) के अनुसार न्यायाधीशों में विद्या, कुलीन वंशोत्पत्ति, वृद्धावस्था, चातुर्य तथा धर्म के प्रति सावधानी होनी चाहिए। नारद के अनुसार न्यायाधीश को अठारहों सम्पत्ति-विवाद-सम्बन्धी कानूनों में, उनके ८००० उपभेदों, आन्वीक्षिकी (तर्क आदि), वेद एवं स्मृतियों में पारगत होना चाहिए। जिस प्रकार वैद्य (शल्य-चिकित्सा में पारगत होने के कारण) शल्य-प्रयोग से शरीर में घुसे लोहे के टुकड़े को निकाल लेता है, उसी प्रकार कुशल न्यायाधीश को पेचीदे मामले में से धोखे की बातें अलग निकाल लेनी चाहिए।[25] इस विषय में और देखिए, कात्यायन, मृच्छकटिक नाटक (९।४) एवं मानसोल्लास (२।२, श्लोक ९३।९४)। न्यायाधीश को **प्राड्विवाक** या कभी-कभी **धर्माध्यक्ष** (राजनीतिरत्नाकर, पृ० १८) या **धर्मप्रवक्ता** (मनु ८।२०) या **धर्माधिकारी** (मानसोल्लास २।२, श्लोक ९३) कहते थे। 'प्राड्विवाक' अति प्राचीन नाम है (गौतम १३।२६, २७ एवं ३१, नारद १।३५, बृहस्पति)। 'प्राड्' शब्द 'प्रच्छ' धातु से बना है और 'विवाक' 'वाक्' से, क्रम से इनका अर्थ है (मुकदमेबाजों से) प्रश्न पूछना तथा (सत्य) बोलना या (सत्य का) विश्लेषण करना। इसी प्रकार 'प्रश्नविवाक' शब्द बना है। 'प्रश्नविवाक' शब्द वाजसनेयी संहिता एवं तैत्तिरीय ब्राह्मण में आया है। स्पष्ट है कि अति प्राचीन काल में भी न्याय-संबंधी बातें कार्यकारिणी एवं अन्य राजनीतिक बातों से पृथक् अस्तित्व रखती थीं।

प्रमुख न्यायाधीश प्रायः कोई विद्वान् ब्राह्मण ही होता था (मनु ८।९, याज्ञ० २।३)। कात्यायन (६७) एवं शुक्र० (४।५।१४) ने व्यवस्था दी है कि यदि कोई विद्वान् ब्राह्मण न मिले तो प्रमुख न्यायाधीश के पद पर धर्मशास्त्रों में पारगत किसी क्षत्रिय या वैश्य को नियुक्त करना चाहिए, किन्तु राजा को इस पर ध्यान देना चाहिए कि कोई शूद्र इस पद का उपयोग न कर सके। मनु (८।२०) ने यहाँ तक कहा है कि भले ही अविद्वान् ब्राह्मण इस पद पर नियुक्त हो जाय, किन्तु शूद्र धर्माध्यक्ष कभी न होने पाये, यदि कोई राजा शूद्र को नियुक्त करेगा तो उसका राज्य उसी प्रकार नष्ट हो जायगा जिस प्रकार कीचड़ में गाय फँस जाती है। यही बात व्यास (सरस्वतीविलास में उद्धृत, पृ० ६५) ने भी कही है। मनु (८।१०-११), याज्ञ० (२।३), नारद (३।४) एवं शुक्र० (४।५।१७) के अनुसार कम-से-कम तीन सभ्यों (प्यूनी जजों) की नियुक्ति करनी चाहिए जो प्रमुख न्यायाधीश से सहयोग कर सकें। कौटिल्य (३।१) ने लिखा है कि **धर्मस्थीय** (कचहरियों) में धर्मस्थ नामक तीन न्यायाधीशों की नियुक्ति करनी चाहिए। इन न्यायाधीशों को अमात्य की शक्ति प्राप्त थी और इनकी कचहरियाँ प्रान्तों की सीमाओं में तथा दस ग्रामों के समूह (संग्रहण) के लिए, जनपद (द्रोणमुख या ४०० ग्रामों) के लिए और प्रान्तों (स्थानीय या ८०० ग्रामों) के लिए अवस्थित थीं। बृह-

२५ विवादे विद्याभिजनसम्पन्ना वृद्धा मेधाविनो धर्मेष्वविनिपातिनः। आप० धर्मसूत्र (२।११।२९।५)। अष्टादशपदाभिज्ञस्तद्भेदाष्टसहस्रवित्। आन्वीक्षिक्यादिकुशलः श्रुतिस्मृतिपरायणः॥ यथा शल्यं भिषक्कायादुद्धरेद् यन्त्रयुक्तिभिः। प्राड्विवाकस्तथा शल्यमुद्धरेद् व्यवहारतः॥ नारद (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १४ में उद्धृत)।

स्पति (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १५) के मत से सभ्यों की संख्या ७, ५ या ३ हो सकती है। सभ्य भी प्रमुखतः ब्राह्मण ही होते थे किन्तु क्षत्रिय एवं वैश्य भी नियुक्त हो सकते थे। मनु (८।११) एवं बृहस्पति का कहना है कि जब किसी सभा में मुख्य न्यायाधीश के साथ वेद में पारंगत तीन ब्राह्मण बैठते हैं तो वह ब्रह्मा की सभा या यज्ञ के समान है। याज्ञ० (२।२), विष्णुधर्मसूत्र (३।७४), कात्यायन (५७), नारद (३।४-५), शुक्र० (४।५।१९-२०) तथा अन्य ग्रन्थकारों के अनुसार सभ्यों के गुण-शील ये हैं—वेदज्ञ होना, धर्मशास्त्र में पारंगत होना, सत्यवादी होना, मित्र-अमित्र के प्रति पक्षपातरहित होना, स्थिर होना, कार्यदक्ष होना, धर्मपरायण होना, बुद्धिमान होना, कुलपरम्परा से चला आना, धर्मशास्त्र में पारंगत होना आदि।[२६] ग्रन्थकारों ने राजा एवं सभ्यों में पक्षपातरहित होने के गुण पर बहुत बल दिया है (देखिए, वसि० १६।२-८, नारद ३।४, ३।५)। जो लोग वेदाचारों से अनभिज्ञ होते थे, नास्तिक होते थे, शास्त्रों में पारंगत नहीं होते थे, क्रोधी, लोभी, कामी एवं दरिद्र होते थे उन्हें सभ्य नहीं बनाया जाता था। राजा द्वारा नियुक्त एवं सभ्यों से युक्त प्राड्विवाक को न्यायालय कहा जाता था। हमने ऊपर देख लिया है कि राजा मुख्य न्यायाधीश, सभ्यों एवं ब्राह्मणों के साथ न्यायकक्ष में प्रवेश करता था। सभ्य लोग राजा द्वारा नियुक्त होते थे, अन्य ब्राह्मण धर्मशास्त्रों में पारंगत होते थे किन्तु वे अनियुक्त होते थे, केवल कठिन बातों में न्यायाधीश लोग उनकी बातों का सम्मान करते थे। सभी प्रकार के ब्राह्मणों को न्यायालय में बोलने का अधिकार नहीं था, केवल धर्मशास्त्रपारंगत ब्राह्मण ही कठिन-कठिन बातों पर अपनी सम्मति दे सकते थे। मनु (८।१३) का कहना है कि या तो व्यक्ति को सभा में जाना ही नहीं चाहिए, यदि वह सभा में प्रवेश करे तो उचित बात उसे कहनी ही चाहिए, वह व्यक्ति, जो सभा में उपस्थित रहने पर भी मौन रहता है या झूठ बोलता है, पाप का भागी होता है। जहाँ झूठ या सभी सभ्यों की सम्मति से चलते हुए राजा द्वारा न्याय नहीं हो पाता वहाँ सभी राजा के साथ पाप के भागी होते हैं। यदि राजा अन्याय कर रहा हो तो सभासदों का कर्तव्य है कि वे राजा को समय न्यायपथ की ओर ले जायँ (कात्या०, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २१ में तथा राजनीतिरत्नाकर पृ० २४-२५ में उद्धृत)। ब्राह्मणों के कर्तव्य की इतिश्री धर्मशास्त्रों में वर्णित नियमों को कह देने में है, वे सभ्यों के समान राजा को न्यायपथ की ओर लाने के अधिकारी नहीं हैं। सभा में उपस्थित अन्य लोगों को न्यायकार्य में किसी प्रकार की सम्मति देने का अधिकार नहीं है। किन्तु विद्वान् ब्राह्मण बिना नियुक्त होने पर भी न्याय के विषय में अपनी राय दे सकते हैं, ऐसा नारद एवं शुक्र का कहना है।[२७] नारद (३।१७) का कहना है कि सभी सभ्यों को एकमत होकर निर्णय देना चाहिए, तभी वादियों एवं प्रतिवादियों में किसी प्रकार की शंका नहीं रहेगी। व्यवहारप्रकाश (पृ० २७) ने जैमिनिसूत्र (१२।२।२२) का अनुसरण करते हुए कहा है कि बहुमत को मान्यता मिलनी चाहिए। अपरार्क (पृ० ५९९) की व्याख्या के अनुसार गौतम (११।२५) का कहना है कि यदि न्यायाधीशों में मतभेद हो तो राजा को अन्य विद्याओं में पारंगत होने के साथ सभी से विज्ञ लोगों से सम्मति लेनी चाहिए और मामले को अन्तिम रूप से तय कर देना चाहिए। कात्यायन (५८-५९) का कहना है कि अच्छे कुल वाले, मेधावी आदि अच्छे वणिक्

२६. स तु सभ्यैः स्थिरैर्युक्तः प्राज्ञैर्मौलैर्द्विजोत्तमैः। धर्मशास्त्रार्थकुशलैरर्थशास्त्रविशारदैः॥ कात्या० (मिताक्षरा द्वारा उद्धृत (याज्ञ० २।२), व्यवहारमयूख, पृ० २७५, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १५; श्रुताध्ययनसम्पन्ना धर्मज्ञाः सत्यवादिनः। सर्वशास्त्रप्रवीणाश्च सभ्याः कर्तव्या द्विजोत्तमाः॥ कात्या० (अपरार्क द्वारा उद्धृत पृ० ६०१) राजनीतिरत्नाकर पृ० २३। सभ्यगुणों की जानकारी के लिए देखिए शान्तिपर्व (८३।२)।

२७. नियुक्तो वानियुक्तो वा धर्मज्ञो वक्तुमर्हति। दैवीं वाचं स वदति यः शास्त्रमुपजीवति॥ नारद ३।२ (= शुक्र ४।५।२८)।

वाले, लम्बी अवस्था-वाले, धनी एव लोभरहित वणिको से न्यायकार्य मे सम्मति लेनी चाहिए। इससे स्पष्ट है कि क्रमश धनिको एव वणिको का प्रावल्य वढ रहा था।[२८] मृच्छकटिक नाटक मे न्यायाधीश के साथ श्रेष्ठी (सेठ) एव कायस्थ का सहयोग वर्णित है।

मुख्य न्यायाधीश तथा सभ्य लोग मुकदमा चलते समय मुकदमेबाजो से किसी प्रकार की बातचीत नही कर सकते थे। ऐसा करने पर वे दण्ड के भागी होते थे (कात्या०, ७०)। कौटिल्य (४।९) ने तो ऐसे धर्मस्थो (न्यायाधीशो) एव प्रदेष्टाओ को अर्थ-दण्ड एव शरीर-दण्ड देने की व्यवस्था दी है जो भ्रामक एव गलत न्याय करते या निर्णय देते थे और हानि या शरीर-दण्ड के कारण बनते थे। यदि सभ्य लोग स्मृति एव लोकाचार के विरुद्ध मित्रता, लोभ या भय के कारण निर्णय दें तो उन पर हारने वालो पर लगे दण्ड का दुगुना दण्ड लगना चाहिए (याज्ञ० २।४, नारद १।६७, कात्या० ७९-८०)। विष्णुधर्मसूत्र (५।१८०) एव बृहस्पति के अनुसार अनुचित न्याय करने वाले एव घूसखोर सभ्यो को देशनिष्कासन का दण्ड देना चाहिए या उनकी सारी सम्पत्ति हर लेनी चाहिए। कात्यायन (८१) का कथन है कि सभ्यो की त्रुटि के फलस्वरूप हारने वाले की जो हानि होती है उसे सभ्यो को ही देना चाहिए, किन्तु उनका निर्णय ज्यो-का-त्यो रह जायगा। इस विषय मे शुक्र० (४।५।६३-६४) की बातें अवलोकनीय हैं। प्राचीन काल मे न्यायाधीशो मे कुछ लोग घूसखोर हो जाया करते थे, ऐसा ऐतिहासिक एव साहित्यिक प्रमाण मिलता है। इस विषय मे देखिए दशकुमारचरित (८, पृ० २३१)। ऐसा विश्वास किया जाता था कि उचित न्याय करने मे राजा एव सभ्य लोग पापमुक्त होते थे और अपराधी पापमय, किन्तु जहाँ निर्णय अन्यायपूर्ण होता था, वहाँ पाप का एक चौथाई भाग वादी या प्रतिवादी को तथा अन्य शेष तीन चौथाई भाग साक्षियो, सभ्यो एव राजा को भुगतना पडता था। यही बात बौधायनधर्मसूत्र (१।१०।३०-३१), मनु (८।१८-१९) एव नारद (३।१२-१३) मे भी पायी जाती है। व्यवहारतत्त्व (पृ० २००) के कथनानुसार हारीत मे भी ये ही शब्द ज्यो-के-त्यो पाये जाते हैं। मत्तविलासप्रहसन (पृ० २३-२४) मे भी घूस देने की ओर सकेत मिलता है। कौटिल्य (४।४) ने समाहर्ता के लिए यह कर्तव्य निर्धारित किया है कि वह गुप्तचरो द्वारा धर्मस्थो (न्यायाधीशो), प्रदेष्टाओ (मजिस्ट्रेटो) की सचाई (ईमानदारी) की परख किया करे और दोष मिलने पर उनके लिए दण्ड की व्यवस्था करे।

सभा या न्यायालय

सभा के विषय मे इस भाग के तीसरे अध्याय मे हमने पढ लिया है। ऋग्वेद (१।१२४।७) के "गर्तारुगिव सनये धनानाम्" की व्याख्या मे निरुक्त (३।५) ने लिखा है कि गर्ता वह काठ का तख्ता है जो सभा मे रखा रहता है और जिस पर पुत्रहीन विधवा खडी होकर अपने पति के धन का अधिकार माँगती है।

न्यायालय के चार प्रकार थे, प्रतिष्ठित (जो किसी पुर या ग्राम मे प्रतिष्ठित हो), अप्रतिष्ठित (जो एक स्थान पर प्रतिष्ठित न हो, प्रत्युत नाना ग्रामो मे काल-काल पर अवस्थित हो सके), मुद्रित (जो राजा द्वारा नियुक्त हो और जो राजा की मुहर प्रयोग मे ला सके) तथा शासित या शास्त्रित (सरस्वतीविलास, पृ० ६८ एव पराशरमाधवीय ३, पृ० २४), अर्थात् वह न्यायालय जहाँ का न्याय स्वय राजा करे। शख एव बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १९

२८ कुलशीलवयोवृत्तवित्तवद्भिरमत्सरैः। वणिग्भिः स्यात्कतिपयैः कुलभूतैरधिष्ठितम्॥ श्रोतारो वणिजस्तत्र कर्तव्या न्यायदर्शिनः। कात्या० मिताक्षरा (याज्ञ०, पृ० २) द्वारा उद्धृत, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १७, पराशरमाधवीय ३, पृ० ३१, व्यवहारप्रकाश, पृ० ३१।

मे उद्धृत) के अनुसार राजप्रासाद के पूर्व में न्यायालय होना चाहिए और उसका मुख पूर्व ओर होना चाहिए। न्याय-कक्ष भाँति-भाँति के फूलों, मूर्तियों, चित्रों, देवमूर्तियों आदि से सुसज्जित होना चाहिए, उसमें धूप, बीज, अग्नि, जल आदि रखे रहने चाहिए।[29] सभा को धर्माधिकरण या केवल अधिकरण (मृच्छकटिक ९ एवं कादम्बरी ८५) कहा जाता था। इसे धर्मस्थान या धर्मासन या सदस् भी कहा गया है (वसिष्ठ १६।२)। कादम्बरी (८५) ने राज-प्रासाद का वर्णन किया है, जहाँ न्यायालय होता था, जिसमें धर्माधिकारी लोग वेदी के उच्च आसन पर बैठते थे। न्याया-लय के कार्य का समय प्रातःकाल होता था (मनु ७।१४५, याज्ञ० १।३२७)। कौटिल्य का कहना है कि राजा को दिन के दूसरे भाग में जनता के मामलों को देखना चाहिए और इसी लिए उसने दिन को आठ भागों में बाँटा है। यही बात दशकुमारचरित में भी पायी जाती है (८, पृ० १११)। कात्यायन के अनुसार प्रातः साढ़े सात बजे से दोपहर तक का समय उचित माना गया है। उसने भी दिन को आठ भागों में बाँटा है (११-१२)। छुट्टियों के दिन न्याय-कार्य नहीं होता था, यथा—अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा तथा अमावस्या के दिनों में। बृहस्पति के अनुसार सभा के दस अंग थे—राजा, राजा द्वारा नियुक्त मुख्य न्यायाधीश, सभ्य, स्मृति, गणक (एकाउण्टेण्ट), लेखक, सोना, अग्नि, जल तथा स्वपुरुष (साध्यपाल)। मुख्य न्यायाधीश व्यवहार (कानून) का उद्घोष करता है, राजा दण्ड देता है, सभ्य लोग मामलों की जाँच करते हैं, स्मृति अर्थात् धर्मशास्त्र निर्णय, हार एवं दण्ड की विधि बताता है, सोना एवं अग्नि शपथ के लिए होते हैं, जल प्यास लगने पर पीने के लिए होता है, गणक धन या मामले के विषय की गणना करता है, लिपिक (लेखक) कार्यवाही लिखता है, यथा—कथनोपकथन, निर्णय आदि, पुरुष सभ्यों, प्रतिवादी, साक्षियों को बुलाता है और जमानत न देने वाले वादी एवं प्रतिवादी की देख-रेख करता है। सभा के दस अंगों को क्रम से सिर, मुख, बाहु, हाथ, जंघाएँ (गणक एवं लेखक), आँखें (सोना एवं जल), हृदय एवं पैर कहा गया है (बृहस्पति, व्यवहारप्रकाश पृ० ११, हारीत, राजनीतिरत्नाकर, पृ० २)। न्याय-कक्ष में राजा पूर्वाभिमुख बैठता है, सभ्य, गणक एवं लेखक क्रम से उत्तर, पश्चिम एवं दक्षिण में बैठते हैं। कुछ ग्रन्थों में राजा एवं मुख्य न्यायाधीश की गणना नहीं की गयी है और सभा के केवल आठ अंग कहे गये हैं (सरस्वतीविलास, पृ० ७२)। मुख्य न्यायाधीश, सभ्य एवं विद्वान् ब्राह्मण लोग वृद्ध व्यक्ति होते थे (नारद १।८, उद्योगपर्व ३५।५८)।

प्राचीन भारतीय व्यवहार-पद्धति का परिचय मृच्छकटिक नाटक (अंक ९) में मिल जाता है। इस नाटक का काल ईसा के उपरान्त चौथी या पाँचवीं शताब्दी माना जाता है। इस नाटक में वर्णित बातों की तुलना नारद, बृहस्पति एवं कात्यायन की बातों से की जा सकती है, क्योंकि वे स्मृतिकार उक्त नाटक-काल के आसपास ही हुए थे। सामान्य बातें बहुत अंशों में मिलती हैं, केवल छोटी-मोटी बातों में ही कुछ हेर-फेर पाया जाता है। बातें निम्नोक्त हैं। न्यायालय कक्ष को अधिकरण कहा जाता था, मुख्य न्यायाधीश का नाम अधिकरणिक था, उसे श्रेष्ठी (प्रसिद्ध व्यापारी एवं वणिक लोग) एवं कायस्थ सहायता देते थे, इन तीनों को अधिकृत या नियुक्त (राजा द्वारा नियुक्त) भी कहा जाता था, यदि राजा निरंकुश होता था तो न्यायाधीश की स्थिति डाँवाडोल रहती थी, वह उसकी इच्छा पर निर्भर रहता था। एक भृत्य होता था जो आसन ठीक करता था और मुकदमेबाजों की टोह लेता था। यह भृत्य शास्त्रों में वर्णित

२९. माल्यधूपासनोपेतां बीजरत्नसमन्विताम्। प्रतिमालेख्यदेवैश्च युक्तामग्न्यम्बुना तथा॥ बृहस्पति (राज-धर्मकाण्ड, पृ० ९) स्मृतिचन्द्रिका १ पृ० १९ एवं व्यवहारनिर्णय पृ० ५१। सम्भवतः ऐसे ही प्रतिमा-चित्रपुष्पोल्लसित कक्ष का वर्णन मृच्छकटिक नाटक में आया है। देखिए कादम्बरी (८५)—अधिकरणमण्डपमिव [illegible] समीपस्थितैर्धर्माधिकारिभिर्महापुरुषैरधिष्ठितम् (राजकुलम्)।

पुरुष या साध्यपाल ही है। न्यायाधीश मुकदमो के विपय मे पूछताछ करते थे। मुन्य न्यायाधीश श्रेष्ठी तथा कायस्य मे वादी के मुकदमे की महत्त्वपूर्ण बातें लिख लेने को कहता था। कोई भी व्यक्ति (जो रिश्तेदार नही होता था) किमी हत्या का समाचार ला मकता था। वूढे तथा अन्य सम्मानित व्यक्ति आसन ग्रहण कर मकते थे। न्यायालय के पास ही मन्त्री, दूत, गुप्तचर, एक हाथी, एक अश्व (समाचार लाने के लिए, यथा—मरा हुआ व्यक्ति कथित स्थान पर है कि नही) एव कायस्थ लोग रहते थे। परिस्थितिजन्य साक्षी मिल जाने पर अपराधी मे अपराव स्वीकार करने को कहा जाता था, ऐसा न करने पर उसे कोडा मारा जा सकता था, न्यायाधीश को निर्णय की घोपणा करनी पडती थी और तदनुकूल दण्ड-विधान करना होता था एव राजा को उचित दण्ड के विपय मे अन्तिम निर्णय देना पडता था। मनुस्मृति को ही मर्वोच्चता प्राप्त थी। ब्राह्मण अपराधी को फाँसी का दण्ड नही मिलता था, किन्तु उसे धन के साथ निप्कासित किया जा सकता था। कुछ राजा इस नियम का पालन नही भी करते थे। चाडाल फाँसी देते थे। अग्नि, जल, विप एव तुला द्वारा निर्दोपिता मिद्ध की जा सकती थी, किन्तु साक्षियो एव परिस्थितिजन्य बातो की पुप्टि के रहते इन विधियो का महारा नही भी लिया जा सकता था।

ऊपर जिस न्यायालय का वर्णन हुआ है वह सवसे वडा न्यायालय था। स्मृतियो एव निवन्धो मे अन्य न्यायालयो का वणन भी मिलता है। याज्ञ० (१।३०) एव नारद (१।७) का कहना है कि मुकदमो का फैसला कुलो (गाँव की पचायतो), श्रेणियो, समाजो (पूगो) तथा गणों द्वारा भी होता था। उच्च से निम्न न्यायालयो का क्रम यो था—राजा, न्यायाधीश, गण, पूग, श्रेणी एव कुल। इन शब्दो की व्याख्या के लिए देखिए मेधातिथि (मनु ८।२), मिताक्षरा एव व्यवहारप्रकाश (पृ० २९), स्मृतिचन्द्रिका, अपरार्क, मनु (७।११९ पर कुल्लूक) गुप्त सवत् १२४ वाला दामोदरपुर पत्रक (एपिग्रैफिया इण्डिका १५, पृ० १३०), एपिग्रैफिया इण्डिका (१७, पृ० ३४८), व्यवहारमातृका (पृ० २८०), स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० १८), पराशरमाधवीय (३, पृ० ३५२) आदि। मेधातिथि के अनुसार 'कुलानि' का अर्थ है 'रिस्तेदारो का दल', कुछ लोग इससे 'मध्यस्थ पुरुष' समझते हैं। 'गण' का अर्थ है 'गृह-निर्माण करने वाले या मठो मे रहने वाले ब्राह्मण।' मिताक्षरा एव व्यवहारप्रकाश (पृ० २९) के मत से 'कुलानि' का तात्पर्य है 'रिस्तेदारो, एक ही कुल के लोगो एव सम्वन्धियो या मुकदमेवाजो की सभा या सघ।' स्मृतिचन्द्रिका के मत से इसका अर्थ है 'दलो (मुकदमा लडने वाले दलो) के कुटुम्ब (एक ही कुल या खानदान) के लोग। अपरार्क के अनुसार इसका अर्थ है 'कृपिकर्म करने वाले'। यह भी सम्भव है कि 'कुलानि' का तात्पर्य उन राजकर्मचारियो से हो, जो आठ या दस ग्रामो पर शासन करते थे और उन्हें वेतन के रूप मे भूमि मे उत्पन्न उपज का एक कुल प्राप्त होता था। मनु (७।११९), मनु के टीकाकार कुल्लूक एव दामोदरपुर पत्रक (गुप्त सवत् १२४) के अनुसार 'विपयपति' अर्थात् जिले के मालिक को 'नगरश्रेप्ठी', 'प्रथमकुलिक' एव 'प्रथम-कायस्थ' (एपिग्रैफिया इण्डिका १५, पृ० १३०) सहायता देते थे। इस विपय मे और देखिए एपिग्रैफिया इण्डिका, १७, पृ० ३४५ एव ३४८ जहाँ कुमारगुप्त प्रथम के शासनकाल मे 'ग्रामाष्ट-कुलाधिकरणम्' नामक वाक्याश के प्रयोग का उल्लेख मिलता है। चन्द्रगुप्त द्वितीय (गुप्त सवत् ९३ अर्थात् ४१२-१३ ई० सन्) के साँची वाले शिलालेख से प्रकट होता है कि 'पचायत' को उन दिनो 'पचमण्डली' (गुप्ताभिलेख, पृ० २९, ३१) कहा जाता था। वहुत-से टीकाकारो के मत से 'श्रेणी' का अथ है वह सघ या समुदाय जो एक ही प्रकार की वृत्ति (पेशा) या शिल्प करने वालो का हो, यथा—घोडो का व्यापार करने वालो, वरइयो (पान वेचने वालो), जुलाहो, खाल वेचने वालो का सघ। जीमूतवाहन कृत व्यवहारमातृका (पृ० २८०) के अनुसार 'श्रेणी' शिल्पकारो एव व्यापारियो का सघ है। 'पूग' एक ही ग्राम या वस्ती मे रहने वाली विभिन्न जातियो एव विभिन्न वृत्तियाँ करने वालो के समुदाय को कहते हैं। कात्यायन (२२५ एव ६८२) ने 'गण' एव 'पूग' मे भेद किया है और उन्हें क्रम से 'कुलो का सघ' तथा 'व्यापारियो का सघ' कहा है। व्यवहारप्रकाश (पृ० ३०) ने 'गण' एव 'पूग' को एकार्थक (पर्याय) माना है।

राजा अन्तिम न्यायकर्ता था और उसके नीचे का न्यायालय उसके द्वारा नियुक्त न्यायाधीशों का न्यायालय था। बृहस्पति का कहना है कि साहस नामक मामला के अतिरिक्त सभी प्रकार के मुकदमों का फैसला कुल, श्रेणी एवं गण कर सकते थे किन्तु निर्णयों को कार्यान्वित करने का अधिकार राजा को ही प्राप्त था।[१०] पितामह (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १९, पराशरमाधवीय ३, पृ० ८२) ने तीन प्रकार के न्यायालयों की ओर संकेत किया है, किन्तु याज्ञ० एवं नारद ने दो न्यायालयों की चर्चा की है (१) मुख्य न्यायाधीश का न्यायालय एवं (२) स्वयं राजा का न्यायालय। पितामह ने लिखा है—ग्राम में किया गया निर्णय नगर में पहुँचता है और नगर वाला निर्णय राजा के पास जाता है; राजा का निर्णय गलत है या सही, वही अन्तिम होता है।[११] बृहस्पति ने स्पष्ट किया है कि 'सम्य' लोग कुलों (कुलानि) तथा अन्य लोगों से श्रेष्ठ होते हैं, मुख्य न्यायाधीश सभ्यों से तथा राजा सबसे श्रेष्ठ होता है। उपर्युक्त न्यायालयों के अतिरिक्त कौटिल्य ने ग्रामिक (ग्रामकूट) का भी नाम लिया है। ग्रामिक लोगों को ग्राम से चोरी या मिलावट करने वालों (३।१) को बाहर कर देने का अधिकार था और वे छोटे-मोटे अपराधों को देख सकते थे (ग्रामकूटमध्यक्षं वा सभी कुर्यात् आदि ७।४)। स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० १८) में उद्धृत भृगु के मत तथा अन्य निबन्धों के मत से पता चलता है कि सामान्य लोगों के लिए दस प्रकार के न्यायालय थे—ग्राम-जन, राजधानी के नागरिकों की सभा, गण, श्रेणि, चारों वेदों या विद्याओं (आन्वीक्षिकी आदि) के पण्डित, 'वर्गों वाले' लोग, कुल, कुलिक, राजा द्वारा नियुक्त न्यायाधीश एवं स्वयं राजा। 'वर्ग वाले' लोगों के दल में गण, पूगों, व्रातों, श्रेणियों आदि के लोग सम्मिलित रहते थे। 'कुलिक' लोग वादी एवं प्रतिवादी के कुलों के श्रेष्ठ जन होते थे। दामोदरपुर पत्रक (एपिग्रैफिया इण्डिका १५, पृ० १३) में धृतिविष्णु नामक 'प्रथम कुलिक' का उल्लेख हुआ है।

राजा को स्मृतियों के अनुसार ही झगड़ों का निर्णय करना होता था। उसे वर्णों एवं १८ हीन जातियों (मनु ८।४१ एवं हारीत) के कर्तव्यों एवं परम्पराओं पर ध्यान देना पड़ता था। वर्णाश्रमों के अतिरिक्त अठारह हीन जातियों के नाम पितामह द्वारा गिनाये गये हैं—रजक (धोबी), चर्मकार, नट, बुरुड (बाँस के सामान बनाने वाली जाति), कैवर्त (केवट या मछुवा), म्लेच्छ, भिल्ल, आभीर, मातंग तथा अन्य भी जातियाँ (इनके नाम नहीं दिये जा रहे हैं, क्योंकि पितामह की स्मृति में उपलब्ध यह अंश अशुद्ध रूप में प्राप्त है)।

उपर्युक्त न्यायालय-कोटियाँ प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत में सदा एक-समान नहीं पायी जाती थीं। किन्तु एक बात स्पष्ट है कि राजा द्वारा नियुक्त मुख्य न्यायाधीश तथा स्वयं राजा के न्यायालय सर्वत्र पाये जाते रहे हैं। अन्य न्यायालय-कोटियों के विषय में परम्पराओं में अन्तर पाया जाता था।

न्याय-कार्यविधि

मनु (८।२३) के अनुसार राजा को भली भाँति सज्जित होकर, सभ्यों के साथ न्यायालय में जाना पड़ता था और देवों एवं आठ दिक्पालों को प्रणाम करने के उपरान्त न्याय-सम्बन्धी कार्य करना होता था। न्याय-कार्य के चार स्तर

१०. ग्रामस्थो विचरन्तैव विभागस्तादृशो स्मृतौ। कर्तव्यत्वमनुक्तौ राजास्वसानुमतादपि॥ राज्ञा ये विदिता सम्यक्कुलश्रेणिगणादयः। साहसस्तेयवर्ज्यानि कुर्युः कार्याणि ते नृणाम्॥ बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २; पराशरमाधवीय ३, पृ० १२; सरस्वतीविलास, पृ० ४८; व्यवहारसार, पृ० ९९)।

११. ग्रामे दृष्टः पुरं यायात्पुरे दृष्टस्तु राजनि। राज्ञा दृष्टः कुदृष्टो वा नास्ति तस्य पुनर्भवः॥ पितामह (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १९; पराशरमाधवीय ३, पृ० ४९)।

होते थे, किसी व्यक्ति से सूचना प्राप्त करना, उस सूचना को व्यवहारपदो के अनुकूल किसी एक मे रखना, दोनो दलो की बहसो एव साक्षियो पर विचार करना तथा निर्णय करना (नारद १।३६)। जब वादी समय पर उपस्थित होता है और प्रणाम करता है तो राजा या न्यायाधीश पूछता है—"क्या कार्य है? तुम्हे किस प्रकार की पीडा दी गयी है? बिल्कुल न डरो, बोलो किसने, कब और क्यो पीडा दी?" इस प्रकार पूछे जाने पर जो कुछ प्रत्युत्तर मिलता है उस पर न्यायाधीश सभ्यो एव ब्राह्मणो के साथ विचार करता है। यदि यह न्याय के भीतर रखे जाने योग्य समझा जाता है तो न्यायाधीश वादी को मुहरबन्द आदेश देता है या पुरुष द्वारा प्रतिवादी को बुला भेजता है। जो कुछ वादी द्वारा कहा जाता है, भले ही वह स्नेह, क्रोध या लोभ के आवेश मे आकर कहा गया हो, लिख लिया जाता है (नारद २।१८)। निम्नलिखित लोगों को न्यायालय मे नही बुलाया जाता था—'रोगी, नाबालिग, अत्यधिक वृद्ध (७० वर्षीय व्यक्ति), विपत्तिग्रस्त, धार्मिक कृत्य मे सलग्न व्यक्ति, जिसके आने से सम्पत्ति की हानि हो, दुर्भाग्य (मृत्यु आदि) ग्रस्त, राजकर्म मे लिप्त, नशे मे चूर, पागल, नौकर, स्त्री (नवयुवती, जिसका परिवार विपत्ति-ग्रस्त हो, जो उच्च कुल की हो या जिसने अभी हाल मे बच्चा जना हो या जो वादी की जाति से ऊँची जाति की हो)। नारद (१।५३) के मत मे गाय चराने की ऋतु मे गोरखियो (गोरक्षको या गाय चराने वालो), बोने के समय कृपको, शिल्पकारो (जब कि वे कार्य-सलग्न हो) एव युद्धसकुल योद्धाओ को स्वय उपस्थित होने के लिए नही बुलाना चाहिए। इन लोगो के स्थान पर उनके प्रतिनिधियो से काम चल जाता था। हत्या, चोरी, बलात्कार, निषिद्ध भोजन करने, सिक्का बनाने आदि के अपराधो मे अपराधियो को सुरक्षापूर्वक लाया जाता था। किन्तु वे नारियाँ जो अपने परिवार का भरण-पोषण स्वय करती थी, वे जो भ्रष्टचरित थी अथवा अकेली थीं या जो जातिच्युत थी उन्हे कचहरी मे स्वय आना पडता था। बुलाये जाने पर आने योग्य व्यक्तियो के न आने पर झगडे वाली सम्पत्ति के अनुसार उसे दण्ड भरना पडता था (देखिए कात्यायन १००-१०१, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ३४ एव अपरार्क पृ० ६०७)। जुर्माना लेने के पश्चात् एक मास तक प्रतीक्षा करने के उपरान्त प्रतिवादी के दोष के कारण वादी के पक्ष मे निर्णय दे दिया जाता था। किन्तु यदि निश्चित या नियत तिथि के उपरान्त प्रतिवादी उपस्थित होता था तो मुकदमा पुन खुल सकता था। इतना ही नहीं, शत्रु के आक्रमण, दुर्भिक्ष, महामारी या किसी रोग के समय राजा पुन बुलाने की सूचना देता था, न कि अनुपस्थित रहने पर दण्डित करता था। गम्भीर अपराधो मे अपराधी को स्वय उपस्थित होना पडता था।

वकील—क्या प्राचीन भारत मे वकील होते थे? स्मृतियो से तो यह बात नही प्रकट हो पाती, किन्तु यह स्पष्ट है कि स्मृति-विधानो मे पारगत लोग कचहरी मे नियुक्त रहते थे और वे किसी दल के मुकदमे की पैरवी अवश्य करते रहे होंगे। नारद, बृहस्पति एव कात्यायन द्वारा उपस्थापित विधान इतना नियमबद्ध था कि बिना दक्ष अथवा स्मृति-पारगत लोगो की सहायता के मुकदमे का कार्य नही चल सकता था। शुक्र० (४।५।११४-११७) मे निम्नलिखित बात पायी जाती है—जो व्यक्ति किसी पक्ष का प्रतिनिधित्व करता था उसे झगडे की सम्पत्ति का १/१६, १/२०, १/४०, १/८०, या १/१६० भाग मिलता था । प्रतिनिधि की नियुक्ति किसी पक्ष द्वारा ही होती थी, न कि यह राजा की इच्छा पर निर्भर रहती थी। यदि प्रतिनिधि के लोभ के कारण मुकदमे मे असफलता मिलती थी तो उसे अर्थ-दण्ड मिलता था। मिलिन्द पन्हो (जिल्द ३६, पृ० २३८) से भी प्रकट होता है कि प्राचीन काल मे वकील (वम्मपणिक) होते थे।

वादी चाहे तो प्रतिवादी की गतिविधि पर व्यवधान उपस्थित कर सकता था, क्योकि ऐसा न करने से प्रतिवादी भाग सकता है, कोई बहाना ढूँढकर झगडे वाली सम्पत्ति का दुरुपयोग कर सकता है। इस प्रकार के प्रतिरोध की आसेध सज्ञा थी। मिताक्षरा (याज्ञ० २।५) मे आसेध के चार प्रकार बताये गये हैं, (१) **स्थानासेध** (घर या मन्दिर से अन्यत्र न जाने की आज्ञा), (२) **कालासेध** (किसी नियत तिथि पर उपस्थित होने की आज्ञा), (३) **प्रवासासेध** (किसी प्रकार की यात्रा करने पर निषेध) तथा (४) **कर्मासेध** (यथा सम्पत्ति के बेचने या खेत जोतने का निषेध)। ये आसेध विवाद

सकते समय तक रहते थे। इस विषय में देखिए नारद (१।४७-५४) बृहस्पति (व्यवहारप्रकाश पृ० ७२, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १०-११ में उद्धृत) कात्यायन (१०९-११०)। किन्तु उन लोगों पर, जिन्हें नियमानुकूल उपस्थित होना कोई आवश्यक नहीं था, आसेध के नियम लागू नहीं होते थे।

जब प्रतिवादी बुलाया जाता था तो वादी के साथ उसे न्यायाधीश के समक्ष खड़ा कर दिया जाता था। तब दोनों की ओर से जमानतें (प्रतिभूति) होती थीं। प्रतिवादी के जमानतदार को प्रतिवादी पर क्या अर्थदण्ड देना पड़ता था (यदि प्रतिवादी अर्थ-दण्ड न दे और कहीं भाग जाय तभी ऐसा होता था)। यदि वादी का दावा झूठा सिद्ध हो जाय तो उसके जमानतदार को झगड़े की सम्पत्ति का दूना अर्थ-दण्ड देना पड़ता था (याज्ञ० २।११)। यदि जमानतदार न मिले तो वादी या प्रतिवादी को न्यायालय के आरक्षक की हिरासत में रहना पड़ता था और उसे आरक्षक को उसकी प्रति दिन की वेतन-रकम देनी पड़ती थी।[11] निम्नलिखित व्यक्ति जमानतदार नहीं हो सकते थे—स्वामी (यदि वादी या प्रतिवादी उसका नौकर हो), ऋणी, स्वामी द्वारा अधिकृत व्यक्ति, बन्दी, दण्डित व्यक्ति, बड़े-बड़े पापों एवं अपराधों के दोषी, कुटुम्ब-सम्पत्ति का साझीदार, मित्र, नैष्ठिक ब्रह्मचारी, जो राजा का कार्य करने के लिए नियुक्त किया गया हो, संन्यासी, जो उतना अर्थ-दण्ड न दे सके, जीवित पिता वाला व्यक्ति, वह जो जमानत वाले व्यक्ति को न जाने तथा जिसके विरोध में बहुत-सी बातें ज्ञात हों। यदि कोई व्यक्ति जमानत न मिलने पर हिरासत में रखा जाता तो उसे दिनचर्या-सम्बन्धी आवश्यक कार्य (यथा—स्नान, सन्ध्या, भोजन आदि) करने दिये जाते थे। यदि वह हिरासत से भाग जाता तो उसे आठ पण दण्ड के रूप में देने पड़ते थे (कात्यायन ११९, पराशरमाधवीय द्वारा उद्धृत ३, १८)।

जब प्रतिवादी न्यायालय में उपस्थित होता है तो वादी द्वारा दी गयी सूचना उसकी उपस्थिति में वर्ष, मास, पक्ष, दिन, दलों के नाम, जाति आदि के साथ लिखी जाती है (याज्ञ० २।६)। जब वादी प्रथम बार कचहरी में आता है तो केवल विवाद का विषय मात्र लिखा जाता है, जब प्रत्यर्थी अथवा प्रतिवादी आता है तो सारी बातें ब्यौरेवार लिखित होती हैं। इस कार्य को स्मृतियों में पक्ष, भाषा, प्रतिज्ञा आदि की संज्ञा से घोषित किया जाता है।[12] कहीं-कहीं पक्ष के लिए 'पूर्वपक्ष' लिखा जाता है (कात्यायन १११, नारद २।१)। 'वादी' एवं 'प्रतिवादी' शब्द सामान्यतः क्रम से 'प्लेंटिफ' एवं 'डिफेण्डेण्ट' के लिए प्रयुक्त होते थे, किन्तु कभी-कभी 'वादी' शब्द मुकदमेबाजों ('प्लेंटिफ' या 'डिफेण्डेण्ट' दोनों) के लिए भी प्रयुक्त होता था। 'अर्थी' (जो न्यायालय की सहायता की माँग करता है) एवं 'अभियोक्ता' 'वादी' के पर्याय शब्द हैं। इसी प्रकार 'प्रत्यर्थी' एवं 'अभियुक्त' 'प्रतिवादी' के पर्याय शब्द हैं। उपर्युक्त 'पक्ष', 'भाषा' एवं 'प्रतिज्ञा' शब्द 'प्लेण्ट' के द्योतक हैं। कात्यायन (११०-१११) के अनुसार न्यायाधीश पक्ष (भाषा, प्रतिज्ञा या प्लेण्ट) को बड़ी सावधानी से लिखित कराता है। इस विषय में विशेष वर्णन के लिए देखिए, कात्यायन (११५-१३१), व्यवहारतत्त्व (पृ० २०५), मृच्छकटिक (अंक ९), नारद (२।७), कौटिल्य (३।१) और देखिए, कात्यायन (१२७-१२८), मिताक्षरा (याज्ञ० २।६), अपरार्क (पृ० ६०८), बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका पृ० २१ एवं व्यवहारमयूख पृ० २९४)। ये नियम इण्डियन प्रोसीड्योर कोड, आर्डर ७, नियम १-५ में भी पाये जाते हैं।

11. अथ चेत्प्रतिभूर्नास्ति कार्ययोग्यस्तु वादिनः। स रक्षितो दिनस्यान्ते दद्याद् भृत्याय वेतनम्॥ कात्यायन (मिताक्षरा द्वारा उद्धृत याज्ञ० २।१० एवं व्यवहारप्रकाश द्वारा उद्धृत पृ० ७४)।

12. आवेदनसमये कार्यमात्रं लिखितं प्रत्यर्थिनोऽग्रतः सभासदादिविनिर्णयं लिख्यते इति विवेकः। भाषा प्रतिज्ञा पक्ष इति नामान्तरम्। मिताक्षरा (याज्ञ० २।६)।

शुल्क या फीस

यह वात ध्यान मे रखने योग्य है कि प्राचीन भारत मे मारपीट या फौजदारी के विवादो मे कोई न्यायालय-शुल्क नही देना पडता था। जो अपराधी सिद्ध होता था उसे स्मृतियो द्वारा निर्धारित एव निर्णीत दण्ड भरना पडता था। यही वात माल के विवादो मे भी लागू होती थी और आरम्भ मे कुछ भी नही देना पडता था। कौटिल्य (३।१), याज्ञ०, विष्णु-धर्मसूत्र, नारद आदि के कुछ नियमो द्वारा यह प्रकट होना है कि विवाद के निर्णय के उपरान्त कुछ ऐसा धन देना पडता था जिसे हम न्यायालय-शुल्क की सज्ञा दे सकते हैं। मनु (८।५९ एव १३९) ने भी इस विषय मे नियम दिये हैं। और भी देखिए, याज्ञ० (२।३३, १७१ एव १८८) तथा कौटिल्य (३।१)। आजकल न्यायालय-शुल्क आदि इतना अधिक है और विवाद-निर्णय मे इतना अधिक समय लगता है कि वादी एव प्रतिवादी नष्टप्राय हो जाते है। आजकल उचित रसीदी टिकट न लगने पर आवेदन अस्वीकृत हो जाते हैं। प्राचीन भारत मे इस विषय मे सुविधाएँ प्राप्त थी और विवादो के निर्णय मे अधिक समय नही लगता था। इस विषय मे देखिए, कौटिल्य (३।१), मनु (८।५८), याज्ञ० (२।१२), नारद (१।४५), पितामह (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ४२) जहाँ विवाद के स्थगन आदि के समय की ओर सकेत है। गौतम (१३।२८-३०), अपरार्क (पृ० ६१९), स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० ४२), पराशरमाधवीय (३, पृ० ६९-७२) ने विवाद-स्थगन के विपय मे नियम दिये हैं। देरी करने से न्याय की मृत्यु हो जाती है।[३४]

किसी भी मुकदमे का अनुक्रम निम्नलिखित प्रकार का है—सर्वप्रथम वादी, अर्थी या अभियोक्ता अपना आवेदन प्रस्तुत करता है, तब प्रतिवादी, प्रत्यर्थी या अभियुक्त प्रत्युत्तर उपस्थित करता है। इन दोनो क्रियाओ के उपरान्त न्यायालय के सदस्य विचार-विमर्श करते हैं और इसके उपरान्त न्यायाधीश बोलता है (कात्यायन १२१, अपरार्क पृ० ६११, पराशरमाधवीय ३, पृ० ५८)। ये ही **चार पाद** कहे जाते हैं। इन्ही को याज्ञ० (२।६-८) एव बृहस्पति ने **भाषा-पाद** (प्लैण्ट), **उत्तरपाद** (प्रत्युत्तर), **क्रियापाद** (साक्षी या प्रमाण उपस्थित करना) तथा **साध्यसिद्धि** या **निर्णय** के नामो से पुकारा है। कात्यायन (३१) ने इन्हें क्रम से **पूर्वपक्ष, उत्तर, प्रत्याकलित** एव **क्रिया** कहा है। प्रत्याकलित का अर्थ है प्रमाण या साक्षी के विषय मे सभ्यो के बीच विचार-विमर्श। यदि कई आवेदन एक साथ उपस्थित हो जाते हैं तो वर्ण के क्रम से उन पर विचार होता है, अर्थात् सर्वप्रथम ब्राह्मण के आवेदन पर विचार होता है (मनु ८।२४))। कौटिल्य (१।१९) ने यह क्रम दिया है—मन्दिर या मूर्ति, सन्यासी, वेदज्ञ ब्राह्मण, पशु एव तीर्थस्थान, नावालिग, बूढे, रोगग्रस्त या विपत्तिग्रस्त या असहाय एव स्त्री के मुकदमे इसी क्रम मे देखे जाने चाहिए, या जिसकी अत्यधिक गुरुता हो। किन्तु कात्यायन (१२२) ने उस विवाद को प्राथमिकता दी है जिसमे अपेक्षाकृत अधिक अनिष्ट हो अथवा जो सबमे अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो। इस विषय मे और देखिए कौटिल्य (३।२०)।

सभी प्रकार के भाषापाद नही भी उपस्थित हो सकते थे। समय, स्थान, द्रव्य आदि के स्पष्ट विवरण के अभाव मे बहुत-से दावे विचार के विषय नही बन सकते थे। देखिए कात्यायन (१३६, अपरार्क पृ० ६०९), मिताक्षरा (याज्ञ० २।६) एव पराशरमाधवीय (३,६१)। नारद (२।८) ने भी भाषापाद (प्लैण्ट) के दोष गिनाये हैं और उनकी व्याख्या की है (२।९-१४)। बृहस्पति ने लिखा है कि गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र, पति-पत्नी तथा स्वामी-सेवक के बीच मुकदमे नही हो सकते। किन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि इन जोडियो में मुकदमे नही होते, भाव केवल इतना ही है कि जहाँ

३४ न कालहरण कार्यं राज्ञा साधनदर्शने। महान् दोषो भवेत्कालाद् धर्मव्यापत्तिलक्षण॥ यथादेशानुरूप तु काल साधनदर्शने। उपाधि वा समीक्ष्यैव दैवराजकृत सदा॥ शुक्र० ४।५।१६७ एव २०९। यही बात कात्यायन (३३९) मे भी पायी जाती है (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ९२, व्यवहारमातृका, पृ० ३०६, सरस्वतीविलास, पृ० १४८)।

शत्रु आदि के विषय मे समाचार देना), **प्रतिलेख** (किसी से प्राप्त सन्देश पर राजा से विचार-विमर्श कर उत्तर देना) तथा **सर्वत्रग** (यात्रियो के कल्याण के लिए राजकर्मचारियो को आज्ञा देना)।

जानपद लेख के कई प्रकार होते हैं, बृहस्पति (अपरार्क पृ० ६८३, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ६०) के अनुसार सात, व्यास (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ५९) के अनुसार आठ प्रकार हैं। स्मृतिचन्द्रिका का कहना है कि इसके अन्य प्रकार भी सम्भव हैं, अत किसी विशिष्ट सख्या पर वल देना ठीक नही है। बृहस्पति, कात्यायन (२५४-२५७) तथा अन्य लोगो ने जानपद लेखो का विवरण दिया है—**भाग या विभागपत्र** (बँटवारे का लेखप्रमाण), **दानपत्र**, **क्रयपत्र** (सेलडीड), **आधानपत्र** (बधकपत्र), **स्थितिपत्र या सवित्पत्र** (किसी ग्राम, नगर या श्रेणी, पूग आदि के सदस्यो द्वारा निर्णीत परम्पराओ का लेखप्रमाण), **दासपत्र** (भोजन-वस्त्र के अभाव से गुलामी करने का लेखप्रमाण), **ऋणलेख या उद्धारपत्र** (व्याज के साथ भविष्य मे किसी तिथि तक लौटा देने वाले ऋण का लेख), **सीमापत्र** (तय हो जाने पर सीमा-निर्धारण का लेख), **विशुद्धिपत्र** (शुद्धि हो जाने पर साक्षियो के साथ लिखा गया लेख), **सन्धिपत्र** (अपराध स्वीकृति पर विशिष्ट लोगो की उपस्थिति मे समझौते का लेख), **उपगत** (ऋण दे देने पर मिली रसीद), **अन्वाधिपत्र** (बधक रखने वाले की ओर से लिखा गया पत्र)। निजी तौर से लिखा गया प्रमाणपत्र (जानपद) दो कोटियो का होता है, चिरक और चिरकहीन। चिरक वह प्रमाणपत्र है जिसे पुश्तैनी लिपिक लिखते हैं। ये पुश्तैनी लिपिक राजधानी मे रहते हैं और उनके पास दोनो पक्ष के लोग साक्षियो, पिताओ के हस्ताक्षर के साथ पहुँचते हैं। इस विषय मे देखिए, सग्रह (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ५९, पराशरमाधवीय ३, पृ० १२७, शुक्र० २।२९९-३१८, ४।५।१७२-१७७)। व्यास (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ५९) के अनुसार जानपद के आठ प्रकार हैं, चिरक, उपगत (रसीद), स्वहस्त (अपने हाथ मे लिखित पत्र), आधिपत्र, क्रयपत्र, स्थितिपत्र, सन्धिपत्र तथा विशुद्धिपत्र। कुछ ग्रन्थो मे 'चीरक' एव 'चिरक' दोनो प्रकार के प्रयोग हुए हैं। लगता है, यह पत्र भोजपत्र की छाल (भोज या भूर्ज के पत्र) या किसी अन्य वृक्ष की छाल पर लिखा जाता था। यदि यह शब्द चिरक है तो यह 'चिर' से बना होगा, क्योकि यह राजा द्वारा नियुक्त लिपिको द्वारा लिखित होता था और चिर काल तक चलता था। इस अर्थ मे चिरक शब्द 'स्थानकृत' के समान ही है।

नारद (४।१३६), विष्णुधर्मसूत्र (७।११) एव कात्यायन के अनुसार वही लेख-प्रमाण अखण्ड्य या सिद्ध माना जाता है जो देशाचार के विरुद्ध न हो, जो नियमानकूल लिखित हो और हो सदेहहीन एव अर्थयुक्त शब्दो से पूर्ण। स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० ५९) के अनुसार उसे **पञ्चारूढ** होना चाहिए, अर्थात् उस पर **ऋणी, ऋणदाता, दो साक्षियों एव लिपिक** के हस्ताक्षर हो। सामान्यत दो साक्षियो का होना आवश्यक माना गया है, किन्तु अति महत्त्वपूर्ण लेख-प्रमाणो पर दो से अधिक साक्षियो का होना आवश्यक है। यदि साक्षी आसव या मद पीने वाला हो, अपराधी या स्त्री हो, नाबालिग हो या बीमार या पागल हो या बलपूर्वक लिख रहा हो तो लेख-प्रमाण उचित नही माना जाता। देखिए नारद (४।१३७), विष्णुधर्मसूत्र (७।६-१०), कात्यायन (२७१)।

एव भोग एक-दूसरे पर अवलम्बित हो जाते हैं। नारद (४।७७) का कहना है कि आगम के पक्ष मे लेखप्रमाण एव साक्षियो के रहने पर भी भोग का अभाव, विशेषत अचल सम्पत्ति के विषय मे उसे उपयुक्त नही ठहराता। इसका तात्पर्य यह है कि विना भोग के स्थानान्तर, भले ही वह लिखित हो तथा साक्षीयुक्त हो, सशयात्मक माना जाता है, और आगम एव भोग एक-दूसरे को वल देते हैं (नारद ४।८४-८६, बृहस्पति, हारीत एव पितामह)।[1] नारद (४।८६-८७) का कथन है कि जो व्यक्ति विना आगम के केवल भोग सिद्ध करता है उसे चोर कहना चाहिए, क्योकि वह भोग-सम्वन्वी त्रुटिपूर्ण तर्क देता है (जैसा कि एक चोर भी कर सकता है), राजा को चाहिए कि वह ऐसे व्यक्ति को चोर का दण्ड दे जो विना आगम के सौ वर्षों तक भोग करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि भोग करने वाले व्यक्ति को उसकी वैधानिकता सिद्ध करनी चाहिए, उसे यह वताना चाहिए कि भोग का उद्गम उसके वश मे त्रुटिपूर्ण ढग से नही हुआ। प्राचीन काल मे स्वामित्व के स्थानान्तर की मुख्य विधि भोग से सम्वन्धित थी और भोग पर ही स्वामित्व की सिद्धि के लिए अधिक वल दिया जाता था।

याज्ञवल्क्य स्मृति (२।२७) की टीका मिताक्षरा ने इस स्थिति को और स्पष्ट किया है। दान एव क्रय के विषय में स्थानान्तर करने वाले का स्वामित्व (भोग) समाप्त हो जाना चाहिए और दान पाने वाले तथा क्रय करने वाले के स्वामित्व (भोग) का उदय होना चाहिए, किन्तु यह तभी होना चाहिए जब कि दान लेनेवाला तथा क्रय करने वाला सम्पत्ति को स्वीकार कर ले, अन्यथा नहीं। स्वीकृति मानसिक, वाचिक एव शारीरिक होती है, अर्थात् स्वीकार करने वाले को मन से स्वीकृति देनी चाहिए, कहकर स्वीकार करना चाहिए तथा वास्तविक रूप मे ग्रहण करना चाहिए। ये तीनो सोना, वस्त्र आदि चल सम्पत्ति के विषय मे लागू होती हैं। किन्तु खेत के मामले मे शरीर-स्वीकृति सम्भव नहीं होती जब तक उसके फल एव लाभ का उपभोग नही होता। अत दान एव क्रय को पूर्ण करने के लिए थोडा-बहुत भोग का होना परमावश्यक है। स्पष्ट है कि भोग के अभाव मे आगम शक्तिहीन हो जाता है। किसी भोग करने वाले के विरोध मे आगम सफल हो सकता है जब कि उसके पास आगम का अधिकार न हो। इतना ही नहीं, जो तीन पीढ़ियो तक भोग का अधिकारी नही रहा है उसके विरोध मे भी आगम सफल हो सकता है। यदि भोगकर्ता तीन पीढियो तक के स्वामित्व को सिद्ध कर देता है तो वह भोगहीन किन्तु आगम वाले के विरोध मे सफल हो जाता है। याज्ञ० (२।२३) के अनुसार यदि यह सिद्ध हो जाय कि एक व्यक्ति ने श्री क से कुछ क्रय किया, किन्तु स्वामित्व या भोग नही प्राप्त किया और आगे चलकर किसी अन्य व्यक्ति ने श्री क से क्रय किया और स्वामित्व भी प्राप्त कर लिया (किन्तु वह कालावधि तक लगातार भोग न कर सका) तो पूर्व का आगम भोगरहित होने पर भी उत्तरकालीन आगम से अच्छा माना जायगा। किन्तु यदि यह सिद्ध हो सके कि कौन-सा आगम पूर्वकालीन है और कौन-सा उत्तरकालीन, तो भोगकर्ता को ही सिद्धि प्राप्त होती है। जहाँ लगातार तीन पीढियो तक स्वामित्व स्थापित रहता है वहाँ किसी प्रकार का आगम बलहीन हो जाता है। अत-

३ पित्र्यलब्धक्रयाधानरिक्थशौर्यप्रवेदनात्। प्राप्ते सप्तविधे भोग सागम सिद्धिमाप्नुयात्॥ बृहस्पति (व्यवहारनिर्णय, पृ० १२६, व्यवहारप्रकाश, पृ० १५३; न मूलेन विना शाखा अन्तरिक्षे प्ररोहति। आगमस्तु भवेन्मूल भुक्ति शाखा प्रकीर्तिता॥ हारीत, नागमेन विना भुक्तिर्नागमो भुक्तिवर्जित। तयोरन्योन्यसम्वन्धात् प्रमाणत्व व्यवस्थितम्॥ पितामह (दोनो स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ७० एव सरस्वतीविलास, पृ० १३१ मे उद्धृत हैं)। व्यवहार-निर्णय ने, जिसने त्रिपुरुषभोग को ६० वर्ष के वरावर माना है, आगम एव भोग के बल को इस प्रकार व्यक्त किया है, आद्यविंशतावागमप्रावल्य भोगस्य तदानुगुण्यात्। द्वितीये भोगागमयो साम्यम्। तृतीये भुक्ते प्रावल्यम्। चतुर्थे पुरुषे पञ्चांगभोग एव प्रमाण नागमापेक्षेति सिद्धम्। पृ० १३२।

एवं मिताक्षरा तथा अन्य ग्रन्थों के अनुसार भी भोग स्वत्वान्तर के लिए सर्वथा अपरिहार्य नहीं माना जाता, किन्तु भोग-रहित आगम त्रुटिपूर्ण होता है, अतः भोग पर अधिक बल दिया गया है और इसे कानून के अधिकतर अनुकूल माना गया है। मिताक्षरा के मत से निष्कर्ष यों है—

(१) जब भोग अपेक्षाकृत अल्प समय का होता है और उसका सहायक कोई आगम नहीं है तो भोग पर अधिक बल नहीं दिया जाता और *आगम ही उसके विरोध में प्रबलतर सिद्ध होता है*, (२) तीन पीढ़ियों तक का लगातार भोग (यद्यपि उसे स्पष्ट करने के लिए कोई आगम न भी हो) लेखप्रमाण से युक्त आगम से प्रबलतर होता है तथा (३) तीन पीढ़ियों से कम भोग वाला पूर्वकालीन आगम (किन्तु कुछ भोग होना चाहिए) उत्तरकालीन भोग सहित आगम से प्रबलतर होता है। दीर्घकालीन भोग को बहुधा वैधानिक उद्गम वाला समझा जाता था, यद्यपि समय के व्यवधान के कारण उसे सिद्ध करना सम्भव नहीं है। दीर्घकालीन भोग के विषय में बड़ा विवाद रहा है। याज्ञ० (२।२४) का कहना है—"भूमि की हानि २० वर्षों में हो जाती है, यदि उस पर उसके स्वामी की आँखों के समक्ष बिना उसके किसी प्रकार के विरोध के किसी अन्य व्यक्ति का भोग स्थापित हो और चल सम्पत्ति की हानि (उन्हीं दशाओं में) दस वर्ष में हो जाती है।" मनु (८।१४७-१४८) एवं नारद (४।७९-८०) के दो श्लोक समान ही हैं और उनका तात्पर्य है—"किसी वस्तु का स्वामी यदि किसी प्रकार का विरोध न उपस्थित करे और कोई उसकी वस्तु का भोग करता रहे एवं यह दस वर्षों तक चलता रहे तो उसका स्वामित्व समाप्त हो जाता है। यदि स्वामी मूर्ख नहीं है और न नाबालिग है और उसकी सम्पत्ति पर उसकी दृष्टि के समक्ष किसी अन्य व्यक्ति का भोग है तो अन्त में वह भोग वाले की हो जाती है।" यही बात गौतम (१२।३४) में भी पायी जाती है। (चण्ड० विवादरत्नाकर, पृ० २०८) ने भी दस वर्ष की अवधि दी है। उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट है कि २० या १० वर्ष तक किसी व्यक्ति द्वारा वैधानिक रूप से स्वामित्व स्थापित कर लेने पर वास्तविक स्वामी का अधिकार समाप्त हो जाता है और अवास्तविक व्यक्ति वास्तविक स्वामी बन बैठता है।

किन्तु कुछ स्मृतियों के मत से सौ वर्षों तक अवास्तविक स्वामित्व-स्थापन से आगम प्राप्त नहीं हो जाता, प्रत्युत स्वामित्व-हानि के लिए अति दीर्घ अवधि अपेक्षित है। देखिए नारद (४।८६-८७)। नारद (४।८९) ने यह भी कहा है कि भोग के लिए स्मार्त काल (मानव-स्मरण) के भीतर ही आगम अपेक्षित है, किन्तु स्मार्त काल के बाहर तीन पीढ़ियों तक का भोग पर्याप्त है, भले ही उसके लिए लेखप्रमाण या कोई अन्य आगम न हो। यही बात विष्णुधर्मसूत्र (५।१८७) में भी कही गयी है। मिताक्षरा (याज्ञ० २।२७) के अनुसार स्मार्त काल १०० वर्षों का होता है, क्योंकि वेद में मनुष्य जीवन की अवधि १०० वर्षों तक मानी है। १०० वर्षों तक साक्षियों के लिए भोग के विषय में कह देना सम्भव है। अतः स्पष्ट है कि सौ वर्षों से कम भोग के उद्गम के लिए मौखिक साक्ष्य लिया जा सकता है और भोगकर्ता को आगम सिद्ध करना पड़ेगा, किन्तु यदि आगम के लिए कोई मौखिक साक्षी नहीं मिलेगा तो यह समझा जायगा कि आरम्भ से ही कोई आगम नहीं था। गौतम जैसे ऋषियों ने केवल भोग को ही स्वामित्व के लिए पर्याप्त साधन नहीं माना है। सरस्वती-विलास (पृ० १२४) में आया है कि दीर्घकालीन भोग से अनुमान लगाया जा सकता है कि इसका आरम्भ क्रय, दान आदि के आगम से हुआ होगा, अर्थात् ऐसी स्थिति से वैधानिक उद्गम का आभास मिल जाता है। अतः मिताक्षरा के

४. अजडापोगण्डधनं दशवर्षभुक्तं परैः सन्निधौ भोक्तुः॥ गौतम (१२।३४)। बालजडपौगण्डानामिति [illegible] दशवर्षभुक्तमन्यस्य राजकिल्बिषत्वात्। चण्ड० (चण्डेश्वर का विवादरत्नाकर, पृ० २०८)।

५. भुक्तिरपि [illegible] स्वत्वहेतुभूतक्रयाद्यागमानुमापकत्वात् [illegible]। [illegible]

अनुसार केवल भोग का आश्रय लेने के लिए १०० वर्ष का स्वामित्व पर्याप्त है। स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० ७२) ने १०० वर्ष के स्थान पर १०५ वर्ष अधिक युक्तिसंगत माना है, क्योंकि तीन पीढ़ियों (नारद के अनुसार) तक के लिए प्रति पीढ़ी को ३५ वर्षों तक चलना चाहिए और इस प्रकार १०० वर्ष के स्थान पर १०५ वर्ष होना चाहिए। विष्णुधर्मसूत्र (५१-१८७) एवं कात्यायन (३२७) ने लगातार तीन पीढ़ियों तक के भोग को चौथी पीढ़ी के लिए स्वामित्व का परिचायक माना है। इस विषय में और देखिए कात्यायन (३२१, याज्ञ० २।२७ की टीका मिताक्षरा द्वारा उद्धृत), अपरार्क (पृ० ६३६), बृहस्पति (२६-२८) आदि। "तीन पीढ़ियों तक" की अवधि सन्दिग्ध है। प्रपितामह, पितामह एवं पिता दस वर्षों के भीतर ही मर सकते हैं। ऐसी स्थिति में यदि पितामह गलत ढंग से किसी सम्पत्ति पर अधिकार कर ले और वह, उसका पुत्र तथा उसका पौत्र दस वर्षों के भीतर ही एक-दूसरे के पश्चात् स्वामित्व ग्रहण करके दिवंगत हो जायँ तो चौथी पीढ़ी वाला व्यक्ति अर्थात् प्रपौत्र यह कह सकता है कि तीन पीढ़ियों तक स्वामित्व स्थापित था और अब वह उस सम्पत्ति का वैधानिक रूप से स्वामी है। इसी से कात्यायन ने पृथक् रूप से अन्यत्र (३१८, अपरार्क पृ० ६३६ एवं व्यवहारप्रकाश पृ० १५५ द्वारा उद्धृत) कहा है कि ६० वर्षों तक चलती हुई तीन पीढ़ियों का भोग स्थिर हो जाता है, अर्थात् उसे स्वामित्व का स्वतन्त्र प्रमाण मिल जाता है। याज्ञ० (२।२७) के त्रिपुरुष-भोग या पूर्वक्रमागत भोग का भी यही अर्थ है।

अस्मार्त काल (मानव-स्मरण से ऊपर) का भोग कात्यायन, व्यास आदि के अनुसार ६० वर्ष तक का माना जाता है। नारद (अपरार्क, पृ० ६३६) के मत से भोग के सम्बन्ध में एक पीढ़ी २० वर्षों तक तथा बृहस्पति (स्मृति-चन्द्रिका, २, पृ० ७२) के मत से ३० वर्षों तक चलती है। स्पष्ट है कि पूर्वकालीन स्मृतिकार, यथा—गौतम, मनु एवं याज्ञवल्क्य ने २० वर्षों तक के अवैधानिक भोग को स्वामित्व के लिए पर्याप्त माना है तथा उत्तरकालीन स्मृतियों के लेखकों, यथा—नारद, कात्यायन आदि ने ६० वर्षों के भोग को। इस विरोधाभास को दूर करने के लिए टीकाकारों एवं निबन्धकारों ने मनु (८।१४८), याज्ञ० (२।२४) एवं अन्य स्मृतियों की बातों के विभिन्न अर्थ किये हैं। कम-से-कम तीन व्यवस्थाएँ अति प्रसिद्ध हैं। कुछ लोगों ने भोग पर बल दिया है तो कुछ लोगों ने आगम पर। अपरार्क (पृ० ६३१-६३२), कुल्लूक एवं रघुनन्दन ने शाब्दिक अर्थ लिया है और कहा है कि २० वर्ष के नाजायज भोग से स्वामित्व की हानि हो जाती है अर्थात् स्वत्वहानि हो जाती है। दूसरी व्याख्या याज्ञ० (२।२४) के कथन की एक व्याख्या है, किसी व्यक्ति द्वारा बीस वर्षों तक भोग करने के उपरान्त यदि स्वामी विवाद खड़ा करता है और अपने पक्ष में लेखप्रमाण का सहारा लेता है तो वह अपना स्वामित्व नहीं भी सिद्ध कर सकता, क्योंकि उसके विपक्ष में यह तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि यद्यपि उसके पास लेखप्रमाण था किन्तु अपने मौन से उसने भोग करने वाले को अवसर दिया और मौनरूप से स्वीकृति भी दी। याज्ञवल्क्य के कहने का तात्पर्य यह है कि स्वामी को उपेक्षा नहीं दिखानी चाहिए और जब कोई अज-नबी नाजायज भोग करता है तो उसे मौन नहीं रह जाना चाहिए। यह मत सर्वप्रथम विश्वरूप द्वारा घोषित किया गया और आजकल के सिद्धान्त "अपने अधिकारों के प्रति जागरूक रहना चाहिए" की ओर संकेत करता है।

तीसरी व्याख्या या मत यह है जिसे मिताक्षरा ने स्पष्ट किया है और जिसे व्यवहारमयूख, मित्रमिश्र तथा अन्य लोगों ने भी माना है कि स्वामित्व की हानि नहीं होती, प्रत्युत फलहानि होती है, अर्थात् यदि स्वामी अपनी दृष्टि के समक्ष किसी अन्य व्यक्ति को २० वर्षों तक भोगते देखता है और अन्त में विवाद खड़ा करता है तो वह अपनी सम्पत्ति

कल्पयतीत्यनुमानेऽर्थापत्तौ वान्तर्भवतीति प्रमाणमेव। सरस्वतीविलास, पृ० १२४, ये वाक्य स्पष्टतः व्यवहारनिर्णय, पृ० ७३ से लिये गये हैं।

या आगमन किन्तु वह भूमि के लाभ से हाथ धो देगा। मिताक्षरा, व्यवहारमातृका एवं व्यवहारप्रकाश (पृ० १५७-१६६) में लम्बा विवेचन प्रस्तुत किया है, किन्तु स्थानाभाव से उसे हम यहाँ नहीं प्रस्तुत करेंगे।

कुछ थोड़े-से ग्रन्थों ने बहुत छोटी अवधियों की चर्चा की है, यथा अचल सम्पत्ति के लिए तीन वर्ष (यदि आप्राप्ति उद्गम या लक्षातिक न हो) या चल सम्पत्ति जैसे अश्व, पशु आदि के लिए एक वर्ष की अवधि। ये मत केवल भोग की महत्ता मात्र प्रकट करते हैं। मरीचि का कहना है कि गायों, भारवाही पशुओं, आभूषणों को चार या पाँच वर्षों के भीतर शीघ्र लेना चाहिए, नहीं तो उनके स्वामित्व की हानि हो जाती है। यह मत मनु (८।१४६) एवं अन्य ग्रन्थों के विरोध में पड़ जाता है और इसकी व्याख्या इस प्रकार कर दी गयी है कि यह इसलिए दिया गया है जिससे स्वामी किसी शक्तिशाली व्यक्ति के न रहने पर अपनी वस्तुएँ शीघ्र से शीघ्र लौटा ले। प्राचीन रोम का कानून भी ऐसा ही था।

बृहस्पति एवं कात्यायन (३२५) दोनों को उद्धृत करके अपरार्क (पृ० ६३७) एवं व्यवहारप्रकाश (पृ० १६६) में कहा है कि जो सम्पत्ति किसी के अपने सम्बन्धियों एवं सजातियों द्वारा भोगी गयी है वह यों ही भोग के कारण उनकी नहीं हो सकती। पितामह का कहना है कि अजनबी का भोग शक्तिशाली होता है, किन्तु अपनी कुटुम्ब-सम्पत्ति का भोग उतना शक्तिशाली नहीं होता। गौतम (१२।३५) का कथन है कि किसी श्रोत्रिय, संन्यासी या राजकर्मचारी द्वारा भोगी गयी सम्पत्ति देने वाले के स्वामित्व का लोप नहीं करती। मिलाइए बृहस्पति।[1] मनु (८।१४९), नारद (१।८१), वसिष्ठ (१६।१८), याज्ञ०, बृहस्पति, कात्यायन (३३) ने दीर्घकालीन भोग के नियम के सम्बन्ध में निम्नोक्त अपवाद दिये हैं: बन्धक सम्पत्ति, सीमा, नाबालिग की सम्पत्ति, खुली प्रतिभूति, मुहरबन्द प्रतिभूति (धरोहर), स्त्रियाँ (दासियाँ), राजा का धन, श्रोत्रियसम्पत्ति दूसरे के भोग से समाप्त नहीं हो जाती (बीस वर्ष या दस वर्ष तक, जैसा कि मनु ८।१४७ एवं याज्ञ० २।२४ में लिखा है)। मनु (८।१४५) ने व्यवस्था दी है कि बन्धक एवं प्रतिभूति (धरोहर) समय के व्यवधान से समाप्त नहीं हो जाते, बहुत लम्बे काल के उपरान्त भी उन्हें लौटाया जा सकता है। याज्ञ० (२।२५) ने उपर्युक्त सूची में मूर्खों एवं स्त्रियों की सम्पत्ति की भी गणना कर दी है। नारद (४।८१) का कहना है कि यदि भोगकर्ता बिना किसी आगम (अधिकार) के भोग कर रहा हो तो स्त्रीधन एवं राज्य-सम्पत्ति सैकड़ों वर्षों के उपरान्त भी लौटायी जा सकती है। कात्यायन (३३) ने उपर्युक्त सूची में मन्दिर-धन एवं पिता तथा माता से प्राप्त धन को भी जोड़ दिया है। व्यवहारशास्त्र-सम्बन्धी सभी सिद्धान्तों ने नाबालिगों, पागलों तथा इसी प्रकार के अन्य लोगों की सम्पत्ति की रक्षा की है और उनकी अधिकार-हानि के लिए लम्बी अवधियाँ दी हैं। इस विषय में देखिए याज्ञवल्क्यस्मृति के २।२५ की टीका मिताक्षरा। कात्यायन (३३३, ३३४), स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० ६९) तथा पराशरमाधवीय (३, पृ० १४८) ने व्यवस्था दी है कि उस ब्रह्मचारी की, जो १२ वर्षों तक विद्याध्ययन में लगा हो तथा उस व्यक्ति की जो ५ वर्षों तक विदेश में रहता आया हो, सम्पत्तियाँ भोगकर्ता द्वारा हड़प नहीं की जा सकतीं। बन्दीगृह चले जाने पर बन्दी को भी समय की छूट मिलती है।

१. धर्मोद्यतस्य श्रोत्रियस्य स्याद् धर्मं स्यात् राजपुरुषे। स्त्रीधनं कुटुम्बसम्बन्धेषु भुक्तिर्भोगेन हीयते॥ बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ६९ एवं पराशरमाधवीय ३, पृ० १४९)।

अध्याय १३

साक्षी गण

'साक्षी' शब्द श्वेताश्वतरोपनिषद् (६।११) मे आया है जहाँ यह अखिल विश्व के एक मात्र द्रष्टा के लिए प्रयुक्त हुआ है।[1] पाणिनि (५।२।९१) ने इसका अर्थ किया है "वह जिसने साक्षात् देखा है।"[2] गौतम (१३।१), कौटिल्य (३।११), नारद (४।१४७) का कथन है कि जब दो व्यक्ति विवाद करते हैं और जब सन्देह या कोई विरोध उपस्थित होता है तब सत्य का उद्घाटन साक्षियों द्वारा ही सम्भव है। मनु (८।७४), सभापर्व (६८।८४), नारद (४।१४८), विष्णुधर्मसूत्र (८।१३), कात्यायन (३४६, व्यवहारमातृका पृ० ३१७ एव व्यवहारप्रकाश पृ० १६ मे उद्धृत) के अनुसार वही साक्ष्य उचित है जो ऐसे व्यक्ति द्वारा दिया जाय जिसने या तो देखा हो या सुना हो, या विवाद या मामले मे जिसने अनुभव प्राप्त किया हो। इसका तात्पर्य यह है कि साक्षी-प्रमाण साक्षात् किया हुआ या समक्ष वाला हो न कि सुना-सुनाया हो। मेधातिथि (मनु ८।७४) का कथन है कि जब कोई किसी ऐसे व्यक्ति से, जिसने स्वयं सुना हो, कुछ सुनता है और आकर साक्ष्य देता है तो वह वैधानिक साक्ष्य नही कहा जाता। और देखिए मनु (८।७६)। किन्तु विष्णुधर्मसूत्र (८।१२) ने एक अपवाद दिया है—यदि नियुक्त साक्षी मर जाय या विदेश चला जाय तो उसने जो कुछ कहा हो उससे सुननेवाला साक्ष्य दे सकता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि राजा को साक्षी-परीक्षा मे देर नही करनी चाहिए। कात्यायन (३४०–३४१, अपरार्क पृ० ६७५, ६७७, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ९२ तथा व्यवहारमातृका पृ० ३३१ में उद्धृत) का कथन है कि स्वय राजा (या मुख्य न्यायाधीश) को न्यायालय मे उपस्थित साक्षी की जाँच करनी चाहिए, सभ्यों के साथ उसके कथनो पर विचार करना चाहिए और जब किसी विवाद में वास्तविक साक्षी के विषय मे सन्देह उत्पन्न हो जाय तो आगे का समय देखकर वास्तविक साक्षी को बुलाकर प्रमाण ग्रहण करना चाहिए और जब वास्तविक साक्षी मिल जाय तो मामला चलने देना चाहिए। कात्यायन (३५२) का कथन है कि जब विदेश मे रहने के कारण साक्षी को बुलाना असम्भव हो तो किसी त्रिवेदज्ञ के समक्ष उसका दिया हुआ लिखित प्रमाण काम मे लाना चाहिए। गौतम (१३।२), मनु (८।६०), याज्ञ० (२।६९), नारद (४।१५३) आदि के मत से साधारणत किसी मुकदमे में कम-से-कम तीन साक्षी होने चाहिए। बृहस्पति का कथन है कि साक्षियो की संख्या ९, ७, ५, ४ या ३ हो सकती है अथवा केवल दो ही विद्वान् ब्राह्मण पर्याप्त हैं। विष्णुधर्मसूत्र (८।५) एव बृहस्पति ने बल देकर कहा है कि किसी विवाद के निर्णय में किसी एक ही साक्षी का सहारा नही लेना चाहिए। किन्तु याज्ञ० (२।७२), विष्णुधर्मसूत्र (८।९) एव नारद (४।१९२) का कथन है कि एक व्यक्ति भी, यदि वह नियमित रूप से धार्मिक कृत्य करता रहता हो और दोनो पक्षो को स्वीकार हो तो साक्षी का कार्य कर सकता है। बृहस्पति ने दूतक, गणक या उसे, जिसने अचानक साक्षात् देखा हो, राजा

१ एको देव सर्वभूतेषु गूढ साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च। श्वेताश्वतरोपनिषद् (६।११)।

२ साक्षाद् द्रष्टरि सज्ञायाम्। पाणिनि (५।२।९१)।

या मुख्य न्यायाधीश को अकेले साक्षी के रूप में स्वीकार किया है। व्यास का कथन है कि विशेषतः साहस नामक कार्यों में एक व्यक्ति भी, यदि वह शुचि, क्रियावान्, धार्मिक एवं सत्यवादी हो और पहले भी जिसकी सत्यता प्रमाणित हो चुकी हो, साक्षी का कार्य कर सकता है। कौटिल्य (३।११) का कहना है कि गुप्तरूप से लेन-देन के मामले में एक व्यक्ति भी (स्त्री या पुरुष) साक्षी हो सकता है, किन्तु राजा एवं तपस्वी ऐसा नहीं कर सकते। कात्यायन (३५१, ३५६, व्यवहारमातृका पृ० ३१, ३२, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ७५ एवं व्यवहारप्रकाश पृ० ११२, ११३ में उद्धृत) का मत है कि प्रतिभूति (धरोहर) रखने समय किसी विश्वस्त व्यक्ति का साक्ष्य हो सकता है। इसी प्रकार उस दूत का भी साक्ष्य हो सकता है जो आभूषण उधार लेने के लिए भेजा गया हो। सामान बनाने वाली स्त्री का साक्ष्य भी पहचान के लिए हो सकता है। यदि निर्णय हो चुका हो तो राजा या मुख्य न्यायाधीश, लिपिक या कोई सभ्य अकेले भी वादी या प्रतिवादी के कथन की पुष्टि कर सकता है।

साक्ष्य देने वालों की विशेषताओं का उल्लेख बहुत-से ग्रन्थों में हुआ है, यथा—गौतम (१३।२), कौटिल्य (३।११), मनु (८।६२-६३), वसिष्ठ (१६।२८), शंखलिखित (सरस्वतीविलास पृ० ११८ में उद्धृत), याज्ञ० (२।६८), नारद (४।१५३-१५४), विष्णुधर्मसूत्र (८।८), बृहस्पति, कात्यायन (३४० स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ७५ एवं व्यवहारप्रकाश पृ० १११ में उद्धृत)। प्रमुख विशेषताएँ ये हैं—कुलीनता, व्यापारस्थल से दूर का निवासी होना, सन्तानयुक्त पुरुष होना, धनी होना, चरित्रवान् होना, विश्वासपात्रता, धर्मज्ञता, लोभहीनता तथा दोनों पक्षों द्वारा स्वीकार किया जाना। कुछ स्मृतियों, यथा—कौटिल्य (३।११), मनु (८।६८—कात्यायन ३५१ एवं वसिष्ठ १६।३०), कात्यायन (३४८) ने व्यवस्था दी है कि सामान्यतः साक्षी को पक्ष के वर्ग या जाति का होना चाहिए, स्त्रियों के विवाद में स्त्रियों को ही साक्ष्य (गवाही) देना चाहिए, अन्त्यजों के विवाद में अन्त्यजों को साक्ष्य देना चाहिए, हीन जातियों को उच्च जाति के लोगों या ब्राह्मण को साक्षी बनाकर अपने मुकदमे की सिद्धि का प्रयत्न नहीं करना चाहिए (हाँ, जब ब्राह्मण किसी आपद में साक्षी रहा हो तो बात दूसरी है)। किन्तु बहुत-सी स्मृतियों ने (यहाँ तक कि गौतम एवं मनु ने भी) कहा है और विकल्प बतलाया है कि सभी जाति के लोग (यहाँ तक कि शूद्र भी) सभी के लिए साक्षी हो सकते हैं। देखिए गौतम (१३।३), मनु (८।६३), याज्ञ० (२।६९), नारद (४।१५४), वसिष्ठ (१६।२९) 'सर्व सर्वेषु वा'। नारद (४।१५५) एवं कात्यायन (३४९-३५, अपरार्क पृ० ६६६ में तथा व्यवहारप्रकाश पृ० १११-११२ में उद्धृत) ने व्यवस्था दी है कि ऐसे लोगों के दलों में जो अपने लिए विशिष्ट चिह्न (लिंग) रखते हैं, श्रेणियों (वणिकों के समाजों), पूगों (संस्थाओं), व्यापारियों के व्रातों (कम्पनियों) तथा अन्य लोगों में जो दलों में रहते हैं और इस प्रकार वर्गों की संज्ञा पाते हैं, तथा बाहरी चारणों (भाटों), मल्लों (कुश्ती वालों), हाथी की सवारी करने वालों, घोड़ा को प्रशिक्षण देने वालों एवं सैनिकों (आयुधजीवियों अर्थात् अस्त्र-शस्त्र धारण करके सैनिक रूप में जीविका चलाने वालों) में उनके नायक लोग (वर्गी लोग) उचित साक्षी कहे जाते हैं। गौतम (११।२१) का कहना है कि खेतिहरों, व्यापारियों, चरवाहों, महाजनों

३. 'दूतक' वह है जो भला व्यक्ति हो और जिसे दोनों पक्षों ने स्वीकार किया हो और जो दोनों पक्षों की बात सुनने को उस स्थान पर आ गया हो।

४. शुचिक्रियश्च धर्मज्ञः साक्षी यत्रानुभूतवाक्। प्रमाणमेकोऽपि भवेत्साहसेषु विशेषतः॥ व्यास (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ७५ एवं व्यवहारप्रकाश, पृ० ११२)।

५. रहस्यव्यवहारेष्वेका स्त्री पुरुष उपश्रोता उपद्रष्टा वा साक्षी स्याद्राजतापसवर्जम्। कौटिल्य (३।११)।

६. लिङ्गिनः श्रेणिपूगाश्च वणिग्व्रातास्तथापरे। समूहस्थाश्च ये चान्ये वर्गास्तानब्रवीद् भृगुः॥ कात्यायन-

(ऋणदाताओ), शिल्पकारो (बढइयो एव धोबियो) के वर्गो के सदस्यो के बीच विवादो मे उसी वृत्ति वाले सदस्य साक्षी होते एव मध्यस्थता का कार्य कर सकते हैं।

साक्ष्य देने मे अयोग्य ठहराये गये लोगो की सूचियाँ निम्न ग्रन्थो मे पायी जाती हैं—कौटिल्य (३।११), मनु (८।६४-६७), उद्योगपर्व (३५।४४-४७), याज्ञ० (२।७०-७१), नारद (४।१७७-१७८), विष्णुधर्मसूत्र (८।१-४), बृहस्पति (२९-३०), कात्यायन (३६०-३६४)। मनु (८।११८) ने इस विषय मे तर्क उपस्थित किया है कि मौखिक साक्ष्य क्योकर झूठे ठहराये जा सकते हैं, लोभ, विमोह, भय, आनन्देच्छा, क्रोध, मित्रता, अबोधता एव अल्पवयस्कता से गवाही झूठी पड सकती है। नारद द्वारा उपस्थापित सूची विस्तृत है, अत हम उसे ही उद्धृत करते हैं। ये लोग साक्ष्य के लिए अयोग्य ठहराये गये हैं—अर्थ से सम्बन्धित लोग (साझेदार), मित्र (या सम्बन्धी, यथा—चाचा), साथी (काम-धाम के), जिसने पहले झूठी गवाही दी हो, पापी, दास, छिद्रान्वेषी, अधार्मिक, बहुत बूढा (अस्सी वर्षीय व्यक्ति), अल्प-वयस्क, स्त्री, चारिक (तेली या भाट), शराबी, पागल, असावधान व्यक्ति, दु खित व्यक्ति, जुआरी, ग्राम-पुरोहित, लम्बी यात्रा करने वाला (लम्बी सडको पर), समुद्रयात्रा वाला वणिक्, सन्यासी, रुग्ण, अगभगी, जो अकेला साक्षी हो, वेदज्ञ ब्राह्मण, जो धार्मिक कृत्य न करता हो, नपुसक, अभिनेता, नास्तिक, व्रात्य (जिसका उपनयन सस्कार न हुआ हो), स्त्री-परित्यागी, जिसने अग्निहोत्र छोड दिया हो (श्रौत एव स्मार्त अग्नियो मे जिसने यज्ञ करना बन्द कर दिया हो), वैदिक यज्ञ के लिए अयोग्य लोगो की पुरोहिती करने वाला, जो उसी बरतन मे खाये जिसमे भोजन पकाया जाता है (जो किसी दल मे सलग्न हो), पूर्व शत्रु (अरिचर), गुप्तचर, सम्बन्धी, सहोदर, प्राग्दृष्ट-दोष (जिसके पूर्व जन्म का पाप किसी रोग के रूप मे प्रकट हो गया हो), नर्तक (शैलूष या जो अपनी स्त्रियो से अभिनय कराता है), विषविक्रेता, सर्प पकडने वाला, विष देने वाला, गृहदाही (आग लगाने वाला), कीनाश (कृपण एव दुष्ट व्यक्ति), किसी उच्च जाति के व्यक्ति से जनमा शूद्रा-पुत्र, उपपातकी, थका हुआ व्यक्ति, साहसिक, वीतराग, निर्धन (जुआ एव अन्य दोषो के कारण), शूद्र, दुष्ट जीवन बिताने वाला, ब्रह्मचारी जो अभी गुरु-गेह से लौट न सका हो, मूर्ख (जड), तेल-विक्रेता, जड-मूल बेचनेवाला, जिस पर भूत-प्रेत की सवारी होती हो, जिसे राजा घृणा की दृष्टि से देखता हो, ऋतु-सम्बन्धी भविष्यवाणी करनेवाला, ज्योतिषी, जो दूसरो के पापो की जनता मे घोषणा करे, जिसने धन के लिए अपने को बेच दिया हो, जिसके छोटे अग हो (यथा—चार अँगुलियो वाले हाथ का व्यक्ति), जो अपनी स्त्री के अनैतिक व्यवहार से अपनी जीविका चलाये, खराब नाखून वाला, काले दाँतो वाला, मित्रद्रोही, धूर्त, आसव-विक्रेता, मदारी, लोभी, क्रोधी, किसी श्रेणी या गण का विरोधी, कसाई, खाल विक्रेता, जालसाज (लेखप्रमाण, सिक्का या बटखरो के साथ जो कूट-व्यवहार करे), लूला-लँगडा, ब्रह्महत्यारा, जो मन्त्र या दवा-दारू मे अन्य को प्रभावित करे, जो सन्यास-मार्ग से च्युत हो (प्रत्यवसित), लुटेरा, राजभृत्य, मनुष्यो, पशुओ, मास, अस्थि, मधु, दुग्ध, जल, घी की बिक्री करनेवाला ब्राह्मण, तीनो उच्च जातियो वाले व्यक्ति जो रुपयो का लेन-देन करें, जिसने अपनी जाति का कर्तव्य छोड दिया हो, कुलिक (राजा द्वारा नियुक्त व्यक्ति जो विवाद आदि मे निर्णय दे), भाट, नीच जाति की नौकरी करने वाला, पिता से लडाई करने वाला तथा वह जो झगडा खडा करे। कौटिल्य (३।११), मनु (८।६५), विष्णुधर्मसूत्र (८।१) तथा अन्य स्मृतिकारो ने लिखा है कि राजा साक्ष्य का कार्य नही कर सकता (सम्भवत उस मामले को छोडकर जिसमे उसके समक्ष बातें हुई हो)।

उपर्युक्त अयोग्य साक्षियो की लम्बी सूची प्रकट करती है कि स्मृतिकार साक्षियो के विषय मे बडे ही सतर्क थे।

मल्लाना हस्त्यश्वायुधजीविनाम्। प्रत्येकैक समूहाना नायका वर्गिणस्तथा॥ तेषा वाद स्ववर्गेषु वर्गिणस्तेषु साक्षिण। कात्यायन (अपरार्क, पृ० ६६६ मे उद्धृत)।

गौतम (१३।) कौटिल्य (३।११) मनु (८।७२) याज्ञ (।७२) नारद (४।१८८-१८९) विष्णुधर्मसूत्र (८।६) उशना (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ ७) कात्यायन (३६५-३६६) ने इसी से स्पष्ट कहा है कि अर्थमूल या धनमूल (सिविल) विवादों में साक्षियों की कठिन जाँच आवश्यक है, किन्तु हिंसात्मक (क्रिमिनल) विवादों में साक्षी-सम्बन्धी अयोग्यता-निर्धारण में शिथिलता प्रदर्शित करनी चाहिए। इसी से दासों एवं स्त्रियों को भी, जो उपर्युक्त लम्बी सूची में साक्ष्य के लिए अयोग्य ठहराये गये हैं, गम्भीर हिंसामूलक मामलों में साक्ष्य के लिए उपयुक्त माना गया है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि मूर्ख, पागल जैसे लोग भी साक्ष्य दे सकते हैं। मनु (८।७०) ने घोषित किया है कि साहसिक केवल एक पुरुष साक्ष्य के योग्य ठहराया जा सकता है, किन्तु सम्भावित स्त्रियाँ नहीं, क्योंकि उनकी बुद्धि अस्थिर होती है। किन्तु कुछ परिस्थितियाँ, यथा—गृह के भीतर या जंगल में हुए या हत्या के मामले में स्त्री या अल्पवयस्क या अति बूढ़ा या शिष्य या सम्बन्धी, दास या किराये का नौकर भी योग्य साक्षी सिद्ध हो सकते हैं। यह वचन मनु (८।७) का ही है। ऐसा ही कात्यायन (३६७) ने भी कहा है। उशना (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ ७९ एवं व्यवहारप्रकाश, पृ १२) ने व्यवस्था दी है कि साहस के मामलों में दास, अन्धा, बहरा, कोढ़ी, स्त्री, अल्पवयस्क तथा अति बूढ़ा व्यक्ति भी साक्षी हो सकता है, बशर्ते वह किसी दल से सम्बन्धित न हो और न किसी का पक्षपात करनेवाला हो। नारद (४।१ १९१) का कथन है कि यद्यपि साहस के मामलों में साक्षी-सम्बन्धी बन्धन ढीले हो जाते हैं तथापि अल्पवयस्क (नाबालिग), स्त्री, एक ही व्यक्ति, धोखेबाज, सम्बन्धी तथा शत्रु को साहस के विवादों में साक्षी नहीं बनाना चाहिए, क्योंकि अल्पवयस्क अबोधता के कारण, स्त्री असत्य भाषण के स्वभाव के कारण, धोखेबाज बुरे कार्य में संलग्न रहने के कारण, सम्बन्धी स्नेह के कारण तथा शत्रु प्रतिशोध लेने के कारण झूठ का सहारा ले सकते हैं। मेधातिथि (मनु ८।६८) ने लिखा है कि जब वादी एवं प्रतिवादी दोनों पुरुष हों तो स्त्रियाँ साक्षी के उपयुक्त नहीं होतीं, किन्तु जहाँ विवाद किसी पुरुष एवं स्त्री में अथवा केवल स्त्रियों के बीच में हो तो स्त्री योग्य साक्षी होगी है।

नारद (४।१५५-१७२) के अनुसार अनुपयुक्त साक्षी-गण पाँच कोटियों में बाँटे जा सकते हैं—(१) कुछ लोग यथा—विद्वान् ब्राह्मण (श्रोत्रिय), अति बूढ़े, तापस, सन्यासी लोग (प्राचीन ग्रन्थों) के अनुसार अयोग्य ठहराये गये हैं, अन्यथा उनकी अयोग्यता के कोई अन्य कारण नहीं हैं। व्यवहारतत्त्व (पृ २१४) ने प्रकट किया है कि श्रोत्रिय एवं अन्य लोग साक्षी नहीं बनाये जा सकते, किन्तु वे असूत साक्षी (अर्थात् यदि वे चाहें तो किसी मामले में साक्षी होने योग्य) हैं। वे राजा के समान ही अनुपयुक्त हैं इसलिए नहीं कि वे विश्वसनीय नहीं हैं, प्रत्युत उन्हें कष्ट नहीं देना चाहिए। ऐसे लोग शिष्टाचारवश ऐसे व्यक्ति कहे जाते हैं। (२) चोर, लुटेरे, भयानक लोग, जुआरी, हत्यारे अनुपयुक्त माने जाते हैं, क्योंकि उनमें असत्य भाषण का दोष पाया जाता है। (३) भेद के कारण भी साक्षी की अयोग्यता होती है, क्योंकि एक ही प्रकार के मामले में परस्पर विरोधी बातें करने से भेद नामक अयोग्यता प्रकट होती है। (४) स्वयं (= स्वयमुक्ति नारद ४।१५७) जो बिना बुलाये स्वयं चला आये ऐसे लोग भी अयोग्य कहे जाते हैं। (५) मृतान्तर अर्थात् ऐसा साक्षी जो पक्ष वाले की मृत्यु के उपरान्त लाया जाय, ऐसे लोग कुछ बताने में पूर्णतया समर्थ नहीं हो पाते क्योंकि पक्ष की ओर से उन्हें पूरी सूचना नहीं प्राप्त हुई रहती। किन्तु अन्तिम कोटि के लिए नारद (४।९४) ने एक अपवाद दिया है कि जब मरते समय पिता पुत्र से ऐसा कहे कि 'अमुक-अमुक मामले में वे लोग साक्षी हैं' तो मृतान्तर साक्षी भी योग्य माना जा सकता है।

नारद ने साक्षियों के दो प्रकार बताये हैं, कृत अर्थात् पक्ष द्वारा नियुक्त तथा अकृत अर्थात् अनियुक्त। प्रथम के पाँच उपप्रकार हैं और दूसरे के छः। कृत साक्षी-गण ये हैं—(१) लिखित (२) स्मारित (जिसे लेखप्रमाण के बिना बार-बार स्मरण कराया जाय) (३) यदृच्छाभिज्ञ या यादृच्छिक अर्थात् जो लेन-देन के समय अचानक आ जाय और जिसे साक्षी बनने के लिए कह दिया जाय (४) गूढ़ साक्षी अर्थात् वह जो परदे या दीवार की आड़ में बैठ

लेन-देन की बातें सुने रहता है तथा (५) उत्तर साक्षी, अर्थात् जो किसी ऐसे व्यक्ति से सुने जो या तो दूर देश जा रहा हो या मरणतुल्य हो। छः प्रकार के अकृत ये हैं—(१) सीमा-विवादों में एक ही ग्राम के वासी, (२) मुख्य न्यायाधीश, (३) राजा (जिसके समक्ष कोई मामला चला था), (४) कार्य मध्यगत, अर्थात् वह जो दोनों पक्षों के लेन-देन के समय उपस्थित रहा हो, (५) दूतक (वह जो आभूषण लाने या कोई लेन-देन तय करने के लिए भेजा गया हो) तथा (६) बँटवारे जैसे मामलों में कुटुम्ब के अन्य सदस्य। बृहस्पति ने बारह साक्षियों के नाम दिये हैं जो नारद की सूची के समान ही हैं और उनका अतिरिक्त बारहवाँ है लेखित, जिसका नाम लेन-देन के समय किसी साक्षी के समक्ष लिख लिया जाता है। लिखित एवं लेखित में अन्तर यह है कि प्रथम अपना नाम स्वयं लिखता है और दूसरे का नाम किसी पक्ष द्वारा किसी साक्षी के समक्ष लिख लिया जाता है।

साक्ष्य देने के पूर्व विरोधी दल साक्षी की अयोग्यता सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। कात्यायन का कथन है कि विपक्ष को चाहिए कि वह साक्षी के गुप्त अथवा अप्रकट दोषों को व्यक्त कर दे, किन्तु स्पष्ट दोषों का वर्णन तो न्यायालय के सदस्यों द्वारा निर्णय देते समय किया जाता है।[७] इस विषय में व्यास का कथन अवलोकनीय है, "साक्षियों के दोषों को विपक्ष के लोगों द्वारा न्यायालय में लिखित करा देना चाहिए और साक्षियों द्वारा उनका उत्तर दिला देना चाहिए। यदि साक्षी-गण बतलाये हुए दोषों को मान लेते हैं तो साक्षी देने के अयोग्य ठहर जाते हैं। किन्तु ऐसा न होने पर साक्ष्यों द्वारा (अन्य प्रमाणों द्वारा) विपक्ष के लोगों को चाहिए कि वे उन साक्षियों को अयोग्य सिद्ध कर दें। यदि ऐसा नहीं होगा और विपक्ष के लोगों के अन्य साक्षियों द्वारा वे दोष प्रदर्शित होते चले गये तो अनवस्था (कभी भी न समाप्त होने वाला) दोष उत्पन्न हो जायगा, क्योंकि फिर तो दूसरा दल भी अपने विपक्षी के साक्षी-गणों के दोष-प्रदर्शन में ही लग जायगा और इस प्रकार कोई सीमा निर्धारित नहीं हो सकती।"[८] साक्ष्य देना आरम्भ कर देने पर विपक्षी या विरोधी दल साक्षी की अयोग्यता प्रदर्शित नहीं कर सकता, ऐसा करने पर वह दण्ड का भागी होता है। बृहस्पति का कथन है कि यदि वादी द्वारा उपस्थित साक्षी के दोष को प्रतिवादी सिद्ध नहीं कर सकता तो उसे विवाद के धन के बराबर दण्ड देना पड़ता है (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ८३ एवं सरस्वतीविलास, पृ० १४३)।

साक्ष्य देने के पूर्व साक्षी को जूते एवं पगड़ी उतारकर, दाहिना हाथ उठाकर तथा सोना, गोबर या कुश छूकर सत्य भाषण करने की शपथ लेनी पड़ती है (बृहस्पति)। वसिष्ठ एवं कात्यायन ने भी यही बात कही है।[९] आपस्तम्ब-धर्मसूत्र (२।११।२९।७), कौटिल्य (३।११), मनु (८।७९-८०), याज्ञ० (२।७३) आदि ने भी इस विषय में विभिन्न

७. प्रमाणस्य हि ये दोषा वक्तव्यास्ते विवादिना। गूढास्तु प्रकटा सभ्यैः काले शास्त्रप्रदर्शनात्॥ कात्यायन (अपरार्क, पृ० ६७१ में तथा स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ८३ में उद्धृत)। व्यवहारमयूख (पृ० ३९) का कहना है—"गूढा शास्त्रप्रदर्शने साक्षिवादात्पूर्वकाले वक्तव्या।"

८. साक्षिदोषाः प्रयोक्तव्याः संसदि प्रतिवादिना। पत्रेऽभिलेख्य तान् सर्वान् वाच्याः प्रत्युत्तरं तु ते॥ प्रतिपत्तौ न साक्षित्वमर्हति तु कदाचन। अतोऽन्यथा भावनीया क्रियया प्रतिवादिना॥ अन्यैस्तु साक्षिभिः साध्ये दूषणे पूर्वसाक्षिणाम्। अनवस्था भवेद्दोषस्तेषामप्यन्यसम्भवात्॥ व्यास (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ८३ एवं व्यवहारमयूख, पृ० ३८ में उद्धृत)।

९. विहायोपानदुष्णीषं दक्षिणं बाहुमुद्धरेत्। हिरण्यगोशकृद्दर्भान् समादाय ऋतं वदेत्॥ बृहस्पति, प्राङ्मुखोऽवस्थितः साक्षी शपथैः शापितः स्वकैः॥ हिरण्य दर्भानुपस्पृश्य वदेदृतम्॥ वसिष्ठ (सरस्वतीविलास, पृ० १५७, पराशरमाधवीय ३, पृ० ११२)।

नियम दिये हैं। गौतम (१३।१३) एवं कात्यायन (मिताक्षरा, याज्ञ० २।७३) आदि की बातें भी अवलोकनीय हैं। प्रमाता के समक्ष एवं शपथ लेकर कहने में झूठे साक्षी पर अपराध अवश्य लग जाता है। शपथ के दो भाग हैं (१) सच कहने की आवश्यकता एवं (२) असत्यता तथा अनिष्टकारकता। मुख्य न्यायाधीश के समक्ष ही शपथ ग्रहण की प्रथा का ग्रहण होता था। गौतम (१३।१२-१३) ने ब्राह्मण साक्षी के लिए शपथ लेना आवश्यक नहीं माना है, किन्तु मनु (८।११३=नारद ४।१९९) ने ऐसा नहीं कहा है। गौतम (१३।१४-२३), मनु (८।८१-८६ एवं ८०-१०१), विष्णुधर्मसूत्र (८।२४-२७) एवं नारद (४।२-२२८) ने शपथ के विषय में लम्बा विवरण उपस्थित किया है जिसे हम यहाँ नहीं दे सकेंगे। याज्ञ० (२।७३-७५), वसिष्ठ (१६।३२-३४), बौधायनधर्मसूत्र (१०।१९।१२), बृहस्पति, कात्यायन (३४३) एवं नारद (४।२) का विवरण छोटा है। न्यायाधीश को प्रातःकाल सन्ध्या के उपरान्त लेकर सत्य भाषण की महत्ता एवं असत्य भाषण से दोष आदि पर प्रकाश डालकर साक्षी को उचित कथन के लिए प्रेरित करना चाहिए। इस विषय में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि विभिन्न वर्णों के लिए विभिन्न बातें कही गयी हैं, यथा—ब्राह्मण के लिए "सत्य के लिए सत्य बोलो", क्षत्रिय साक्षी के लिए "जिस पशु की सवारी करते हो तथा जो आयुध ग्रहण करते हो उनकी शपथ लेकर सत्य कहो"—ऐसा विधान था, वैश्यों को अपने अन्न, पशुओं आदि की शपथ लेनी पड़ती थी तथा शूद्र को सभी पापकर्मों के लिए सिर छूकर शपथ लेनी होती थी। मिताक्षरा (याज्ञ० २।७३ एवं मनु ८।११३ की व्याख्या) में ऐसा आया है कि ब्राह्मण साक्षी को यह कहकर कि यदि 'तुम असत्य कहोगे तो तुम्हारी सत्ता नष्ट हो जायगी' शपथ दिलानी चाहिए, 'तुम्हारे वाहन एवं आयुध फलहीन होंगे यदि तुम असत्य बोलोगे' ऐसा क्षत्रिय साक्षी से कहना चाहिए, 'तुम्हारे असत्य वचन से तुम्हारे पशु, अन्न, सोना आदि नष्ट हो जायँगे' ऐसा वैश्य से कहना चाहिए तथा 'सभी पापों की गठरी तुम्हारे सिर पर होगी' ऐसा शूद्र से कहना चाहिए।

स्मृतियों एवं मृच्छकटिक नाटक (अंक ९) से प्रकट होता है कि मुख्य न्यायाधीश तथा न्यायाधीश ही साक्षियों से प्रश्न करते थे और प्रश्न-प्रति-प्रश्न का ढंग, जैसा कि आजकल के न्यायालयों में होता है, उन दिनों नहीं था। केवल साक्षी की अयोग्यता, अनुपयुक्तता या दोषों के प्रतिपादन या उद्घाटन में ही प्रश्न-प्रति-प्रश्न अथवा जिरह की परिपाटी लागू थी। साक्षियों को अनिवार्य रूप से न्यायालय में उपस्थित होना पड़ता था (कौटिल्य ३।११, मनु ८।१०७, याज्ञ० २।७७, बृहस्पति, कात्यायन, विष्णुधर्मसूत्र ८।३७)। कौटिल्य (३।११) ने साक्षियों के खाने-पीने के प्रबन्ध की व्यवस्था बतलायी है। क्या दोनों दलों को अपनी ओर से स्वयं साक्ष्य देने की छूट थी? इस विषय में स्पष्ट बातें नहीं ज्ञात हो पातीं। याज्ञ० (२।११-१५), कौटिल्य (४।८) एवं मृच्छकटिक (अंक ९) से तो प्रकट होता है कि ऐसी छूट थी। किन्तु शुक्र (४।५।१८४) ने साक्षी की जो व्याख्या की है उससे प्रकट होता है कि मुकदमेवालों को ऐसी छूट नहीं प्राप्त थी।

सामान्यतः साक्षियों की जाँच खुले न्यायालय में एवं दोनों दलों के समक्ष होती थी, किन्तु कात्यायन (३८०-३८९) का कहना है कि अचल सम्पत्ति के विवाद में सम्पत्ति के स्थान पर मौखिक साक्ष्य लिया जा सकता है और कुछ

१० पृष्टाः प्रसन्नमनसः... सत्यं प्रश्नं ब्रूयात्। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।११।२९।६); दैवब्राह्मणसान्निध्ये साक्ष्यं पृच्छेदृतं द्विजान्। उदङ्मुखान्प्राङ्मुखान्वा पूर्वाह्णे वै शुचिः शुचीन्॥ आहूय साक्षिणः पृच्छेन्नियम्य शपथैर्भृशम्। समस्तान् विदिताचारान् विज्ञातार्थान् पृथक्-पृथक्॥ कात्यायन ३४८-४९; मिताक्षरा (याज्ञ० २।७३); मनु (८।८७) एवं नारद (४।१९८)।

११ ततः पूर्वस्याह्नः प्रचारे राज्ञो निवर्तनं ... अनुयुञ्जीत। कौटिल्य।

विवादो मे न्यायालय एव अचल सम्पत्ति के स्थान के अतिरिक्त अन्य स्थानो मे भी ऐसा किया जा सकता है। पशुओ के शव या उनकी हड्डियो के समक्ष भी साक्ष्य लिया जा सकता है। बृहस्पति एव मनु (८।२५) के मत से साक्षियो के सत्य भाषण की जाँच उनके कथन के ढग, कांति-परिवर्तन, आँखो, हाव-भाव आदि से भी करनी चाहिए। शख-लिखित (व्यवहारप्रकाश, पृ० १२४), नारद (४।१९३-१९६), विष्णुधर्मसूत्र (८।१८), याज्ञ० (२।१३-१५), कात्यायन (३८६) ने झूठ बोलने वाले गवाह (साक्षी) की क्रियाओ एव व्यवहार-प्रदर्शन को इस प्रकार से व्यक्त किया है—वह परेशान अथवा अस्थिर या अशान्त (व्याकुल) दीख पडता है, स्थान-परिवर्तन करता रहता है, अधरो के कोणो को चाटता है, उसके मस्तक पर स्वेद-कण झलकते हैं, चेहरे का रग उड जाता है, वह बहुधा खाँसता है और लम्बी-लम्बी साँसें भरता है, पैर के अँगूठे से पृथ्वी (जमीन) कुरेदता है, हाथ एव वस्त्र हिलाता है, उसका मुख सूख जाता है और अस्त-व्यस्त बोलता है, बिना पूछे अनर्गल बातें करता है, प्रश्न का सीधा उत्तर नही देता, प्रश्नकर्ता की आँखो से बचता रहता है। इस प्रकार के साक्षी को झूठा समझा जा सकता है और राजा तथा न्यायाधीश को उसे अनुशासित करना चाहिए (जिससे कि वह झूठ बोलने से डरे)। किन्तु इन व्यवहारो के कारण ही साक्षी को झूठा नही कहा जा सकता था या उसे दण्डित नही किया जाता था, क्योकि इन चेष्टाओ से केवल असत्यता की सम्भावना मात्र प्रकट होती है न कि उसकी असगतता (मिताक्षरा—याज्ञ० २।१५ तथा व्यवहारप्रकाश, पृ० १२४)।

जब बहुत-से साक्षी हो और उनके कथनो मे अन्तर पाया जाय तब ऐसी दशा मे निर्णय के लिए कई नियम बने हुए थे। देखिए मनु (८।७३), विष्णुधर्मसूत्र (८।३९), याज्ञ० (२।७८), नारद (४।२२९), बृहस्पति एव कात्यायन (४०८)। वे नियम सक्षेप मे ये हैं—बहुमत स्वीकार कर लिया जाता था, यदि आधे लोग एक मत के पक्ष मे और आधे दूसरे मत के पक्ष मे हो तो उन लोगो के मत जो अधिक चरित्रवान् एव तटस्थ रहते थे, ग्रहण कर लिये जाते थे, किन्तु यदि ऐसे लोगो मे भी अन्तर पडता था तो सर्वोच्च लोगो का मत ग्राह्य माना जाता था। याज्ञ० (२।७२) ने सख्या की अपेक्षा गुण को महत्ता दी है। मिताक्षरा (याज्ञ० २।७८) ने भी यही स्वीकार किया है। कौटिल्य (३।११) ने उपर्युक्त मत स्वीकार करते हुए औसत निकालने को कहा है। नारद (४।१६०) एव कात्यायन (३५९) का मत है कि यदि तीन मे किसी एक साक्षी का मत भिन्न हो तो तीनो के मत विरोधी ठहरा दिये जाने चाहिए। ये मत मौखिक साक्षियो अथवा प्रमाणो के विषय मे प्रतिपादित किये गये हैं।

किसी पक्ष द्वारा उपस्थापित साक्षियो की कितनी बातें स्वीकार्य होनी चाहिए? याज्ञ० (२।७९), विष्णुधर्मसूत्र (८।३८), नारद (४।२७) एव बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ९१) ने एक सामान्य नियम दिया है कि वह दल, जिसका प्रतिवेदन साक्षियो द्वारा पूर्णत सत्य घोषित किया गया है, सफलता पाता है, और वह दल जिसका कथन सभी साक्षियो द्वारा झूठा कहा गया है, हार जाता है। इस विषय मे अन्य बातें देखिए, नारद (४।२३३) एव कात्यायन (३९९)। याज्ञ० (२।२०) मे एक महत्त्वपूर्ण बात कही गयी है, यदि किसी मामले का एक अश सत्य सिद्ध हो जाय तो सम्पूर्ण को सत्य मानना चाहिए। किन्तु यह तभी तक मान्य है जब तक विरोधी वादी के कथन के सभी अशो को असत्य मानता है। यह एक अनुमान मात्र है और राजा तथा न्यायाधीश इसका सहारा लेने पर दोषी नही ठहरते, यथा—'न्यायाधिगमे तर्कोऽभ्युपाय । तस्माद्राजाचार्यावनिन्द्यौ।' किन्तु याज्ञ० (२।२०) के कथन मे कात्यायन (४७२) का मत उलटा पडता है, 'किसी मामले के बहुत-से अशो मे वादी या प्रतिवादी उतने ही पर जय पाता है जितने को वह सिद्ध कर सकता है।' मिताक्षरा (याज्ञ० २।२०), स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० १२०-१२१), व्यवहारमातृका (पृ० ३१०-३१२) एव व्यवहारप्रकाश (पृ० ९८-१०२) ने उपर्युक्त मतो मे समझौता कराने का प्रयत्न किया है। हम स्थानाभाव के कारण विस्तार मे नही जा सकते। बलात्कार, साहस के

अपराधों एवं चोरी के मामलों में यदि एक अंश भी सिद्ध हो जाय तो सम्पूर्ण सत्य माना जाता है, ऐसा कात्यायन (१९७) ने कहा है।[१२]

नारद (४।१६५) का कथन है कि मुकदमा करने वाले को विरोधी के साक्षी के पास गुप्त रूप से नहीं जाना चाहिए और न उसे घूस या धमकी देकर अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि वह ऐसा करता है तो वह अपने को हीन अर्थात् हारने वाला वाद समझे।

देर से साक्षी उपस्थित करने के विषय में भी नियम बने हुए हैं। दुर्बल प्रमाणों के कारण यदि हार हो जाय तो पुनः सबल प्रमाण नहीं उपस्थित किये जा सकते। नारद (१।६२) का कथन है कि यदि मुकदमा बहुत आगे बढ़ गया हो, तो पूर्व से ही अनुपस्थित किये गये लेख्यप्रमाण, साक्षियों आदि निरर्थक हो जाते हैं। प्रतिवादी द्वारा प्रतिवेदन दे दिये जाने पर वादी को प्रमाण अर्थात् लेख्यप्रमाण, साक्षी आदि की सूची दे देनी होती है (याज्ञ० २।७)। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि वादी ऐसा नहीं करता और मामला आगे बढ़ जाता है तथा अन्य आवश्यक साक्षियों को नहीं बुला लेता या सभी प्रमाण नहीं एकत्र कर लेता और मामला जब समाप्तप्राय हो जाता है (किन्तु अभी निर्णय नहीं घोषित रहता) तो उस स्थिति में वह कोई नवीन प्रमाण नहीं उपस्थित कर सकता, क्योंकि ऐसी दशा में कोई नवीन प्रमाण उपस्थित किये जाने पर प्रतिवादी को दिक्कत हो सकती है और वह उसे अप्रमाणित सिद्ध करने के लिए समय की माँग रख सकता है, इतना ही क्यों तब वादी भी पुनः कोई नवीन प्रमाण उपस्थित कर सकता है और इस प्रकार दोनों पक्षों से लगातार समय की माँगें की जा सकती हैं और मामला अनन्त काल तक चलता जा सकता है। किन्तु यदि पहले से ही सभी साक्षियों की सूची दे दी गयी हो और केवल थोड़े की ही जाँच हुई हो और आगे चलकर वादी यह समझे कि कुछ साक्ष्य में त्रुटि हो गयी है, तो वह अन्य साक्षियों को बुलाने का अधिकार रखता है। यह छूट याज्ञ० (२।८०) ने दी है जिसके बल पर मिताक्षरा में कहा गया है कि आगे चलकर कुछ प्रतिष्ठित साक्षियों की जाँच की जा सकती है। नियम यह है कि जब तक साक्षी मिलते जायें दिव्य ग्रहण (दिव्य परीक्षा, ऑर्डियल) की नौबत न आने पाये। याज्ञ० (२।८०) ने बहुत-सी व्याख्याएँ करने के लिए अवसर दे दिया है। इस विषय में देखिए मिताक्षरा एवं अपरार्क, स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० ९४), व्यवहारप्रकाश (पृ० १३०-१३४)।

याज्ञवल्क्य (२।८२) ने व्यवस्था दी है कि यदि कोई साक्षी प्रतिवचन देने के उपरान्त पाँच के समक्ष मुकर जाता है तो उसे हारे हुए दल द्वारा दिये जाने वाले धन का आठ गुना दण्ड रूप में देना पड़ता है। यदि ऐसा अपराध किसी ब्राह्मण ने किया हो और उसके पास उतना धन न हो तो उसे देश-निष्कासन का दण्ड मिलता है या उसका घर गिरा कर मैदान के बराबर कर दिया जाता है। नारद (४।१९७) के अनुसार ऐसा साक्षी असत्यवादी साक्षी से भी बुरा होता है। मनु (८।१०७), याज्ञ० (२।७६) एवं कात्यायन (४०५) ने कहा है कि यदि कोई कलकदार साक्षी गवाही नहीं करता (मौन रह जाता है) और किसी रोग से पीड़ित या विपत्तिग्रस्त नहीं है तो उसे विवाद का धन दण्ड रूप में तथा उसका दशांश राजा को देना पड़ता है।

तर्क-ग्रहण के उपरान्त मुख्य न्यायाधीश एवं सभ्य लोग साक्षियों पर विचार-विमर्श करते हैं। न्यायालय को इसका पता चलाना पड़ता है कि किन साक्षियों पर विश्वास करना चाहिए और कौन-सा साक्षी झूठ या कपटी है। झूठे साक्षी को धर्मशास्त्रकारों ने बहुत बुरा कहा है। इससे लौकिक एवं पारलौकिक हानि होती है (आपस्तम्बधर्मसूत्र २।११।

१२. साध्यार्थांशेऽपि गदिते साक्षिभिः सकलं भवेत्। स्त्रीसंगे साहसे चौर्ये यत्साध्यं परिकीर्तितम्॥ कात्यायन (मिताक्षरा द्वारा याज्ञ० २।१९ में, अपरार्क द्वारा पृ० ६७८ में तथा स्मृतिचन्द्रिका द्वारा २, पृ० ९ में उद्धृत)।

२९।८-९, गौतम १३।७ एव २३)। मनु (८।११८) का कहना है कि यदि साक्षी-गण लोभ, भ्रामक विचार, भय मित्रता, काम-पिपासा, क्रोध, अज्ञान एव अल्पवयस्कता के वशीभूत होकर असत्य साक्ष्य देते है तो उन्हे दण्डित होना पडता है (८।१२०-१२२)। बृहस्पति ने घूसखोर न्यायाधीश, असत्य बोलने वाले साक्षियों एव ब्राह्मण-हत्यारे को एक समान ही पापी माना है। इस विषय में और देखिए याज्ञ० (२।८१), कात्यायन (४०७)।[13] मिताक्षरा (याज्ञ० २।८१) ने लिखा है कि मनु (८।३८०) का यह कथन कि अपराधी ब्राह्मण को मृत्यु-दण्ड तथा शारीरिक दण्ड नही देना चाहिए, केवल प्रथम बार किये गये अपराधो के विषय मे है, न कि अभ्यस्त अपराधी ब्राह्मणो के लिए। मनु (२।१०८) ने कहा है कि जब साक्ष्य देने के सात दिन के भीतर किसी साक्षी को रोग पकड लेता है, या उसके घर मे आग लग जाती है या उसके किसी सम्बन्धी की मृत्यु हो जाती है, तो उसे कूट साक्षी समझना चाहिए, उसे विवाद की सम्पत्ति के बराबर अर्थदण्ड देना पडता है तथा राजा को भी दण्ड-स्वरूप कुछ धन देना पडता है। इस विषय मे देखिए स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० ९४), कात्यायन (४१०)। मनु (८।११७=विष्णुधर्मसूत्र) का कथन है कि यदि यह सिद्ध हो जाय कि किसी मामले मे कूट साक्ष्य दिया गया है तो न्यायाधीश को चाहिए कि वह मुकदमे को पुन सुने और यदि निर्णय दिया जा चुका हो तो उसकी पुन जाँच होनी चाहिए।

गौतम (१३।२४-२५), वसिष्ठ (१६।३६), मनु (८।१०४), याज्ञ० (२।८३), विष्णुधर्मसूत्र (८।१५) के मत से, यदि सत्य बोलने से चारो वर्णो का कोई व्यक्ति मृत्यु-दण्ड पा सकता है तो साक्षी असत्य बोल सकता है। मनु (८।१०५-१०६), याज्ञ० (२।८३) एव विष्णुधर्मसूत्र (८।१६) ने व्यवस्था दी है कि इस प्रकार झूठ बोलने पर उच्च वर्णो के लोगो को प्रायश्चित्त-स्वरूप सरस्वती देवी के लिए अग्नि मे कूष्माण्ड (वाजसनेयी सहिता २०।१४-१६ या तैत्तिरीयारण्यक १०।३-५) मन्त्रो के साथ घृत की आहुतियाँ या पके चावल की आहुतियाँ देनी चाहिए। मन्त्रो के विषय मे कई विकल्प हैं। विष्णुधर्मसूत्र (८।१७) का कथन है कि शूद्र को वैसा करने पर दस गायो को एक दिन मे खिलाना पडता था। सचमुच, मृत्यु-मुख से बचाने के लिए धर्मशास्त्रकारो ने असत्य साक्ष्य की जो छूट दी है वह आश्चर्यजनक है। शान्तिपर्व (४५।२५, १०९।१९) मे जो आया है, सम्भवत वही भावना स्मृतिकारो के मन मे भी काम कर रही थी। शान्तिपर्व (१६५।३०) मे आया है कि पाँच बातो मे असत्य-भाषण से पाप नही लगता, स्त्री से (रति के समय) और विवाह के समय, हँसी-मजाक करते समय, अधिक धन नाश एव प्राण-रक्षा के समय झूठ बोलना पाप नही है। वसिष्ठ (१६।३६) ने इन पाँचो को कुछ भिन्नता के साथ रखा है।[14] मनु (८।११२) मे भी ऐसी ही व्यवस्था पायी जाती है। किन्तु प्राचीन ऋषि गौतम (२३।२९) ने इस प्रकार की छूट को ठीक नही माना है।[15]

नारद (४।२३५-२३६) का कथन है कि यदि ऋणदाता की असावधानी से लेखप्रमाण एव साक्षी न हो तो तीन

१३ कूट सभ्य कूटसाक्षी ब्रह्महा च समा स्मृता। बृहस्पति (व्यवहारप्रकाश, पृ० १३३), येन कार्यस्य लोभेन निर्दिष्टा कूटसाक्षिण। गृहीत्वा तस्य सर्वस्व कुर्यान्निर्विषय तत॥ कात्यायन (४०७, स्मृतिचन्द्रिका २, ९३ एव अपरार्क पृ० ६७२)।

१४ प्राणत्राणेऽनृत वाच्यमात्मनो वा परस्य च। गुर्वर्थे स्त्रीषु चैव स्याद्विवाहकरणेषु च॥ शान्ति० ३४।२५, न नर्मयुक्तमनृत हिनस्ति न स्त्रीषु राजन्न विवाहकाले। न गुर्वर्थे नात्मनो जीवितार्थे पञ्चानृतान्याहुरपातकानि॥ शान्तिपर्व १६५।३०, उद्वाहकाले रतिसप्रयोगे प्राणात्यये सर्वधनापहारे। विप्रस्य चार्थे ह्यनृत वदेयु पञ्चानृतान्याहुरपातकानि॥ वसिष्ठ १६।३६।

१५ विवाहमैथुननर्मार्तसयोगेष्वदोषमेकेऽनृतम्। गौतम २३।२९।

प्रकार की विधियों में कोई एक कार्य में लायी जा सकती है; चोदना प्रतिकालम् (बार-बार रुपया चुकाने के लिए तगादा करना) युक्तिलेश (तर्क देना) एवं शपथ (विशिष्ट शपथें एवं दिव्य प्रमाण)। कात्यायन (२११) ने भी ऐसा कहा है। नारद (१।२३८) के अनुसार युक्ति में है ऋणदाता को ऋणी के प्रति युक्तियाँ देनी चाहिए स्मरण करके तथा ऋणी को समय स्थान एवं दोनों के सम्बन्ध का स्मरण दिलाकर। युक्ति का अर्थ कई प्रकार से लगाया गया है न्यायसम्मत तर्क (कात्यायन २१४) आदि। बृहस्पति ने अनुमान को इस सिलसिले में तीन प्रकार का माना है किन्तु ये सब साक्षियों की तुलना में हीन हैं। व्यास (स्मृतिचन्द्रिका २ पृ ९९) का कथन है कि अनुमान तो हेतु एवं तर्क ही है। व्यवहारप्रकाश (पृ १९७) का कहना है कि दीर्घकालीन भोग एवं बार-बार ऋणदाता द्वारा प्रेरित करने से भागम (स्वत्वाधिकार) का अथवा ऋण लेने का अनुमान होता है और इसे युक्ति के अन्तर्गत मानना चाहिए (कात्यायन)। "कोे-बलीवर्द" की कहावत की भाँति कुछ विशिष्ट परिस्थितियों से उत्पन्न अनुमानों के अर्थ में ही युक्ति को लेना चाहिए। 'गो-बलीवर्द' की उक्ति का अर्थ 'न्याय' के अध्याय में किया जायगा। अतः युक्ति का अर्थ है परिस्थितिजन्य प्रमाण जो न्याय-कार्य में उत्पन्न किसी तथ्य के विषय में अनुमान करने से होता है। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।११।२९।६) का मत है कि सन्देह की स्थिति में न्यायाधीश को लिंगों (लक्षणों अर्थात् अनुमान) एवं दैवों या दिव्यों (धार्मिक) से निर्णय करना चाहिए। वसिष्ठ (१९।१९) का अन्य ऋषियों के वचनों के आधार पर मत है कि वह व्यक्ति जो शस्त्र-शास्त्र से सुसज्जित है या घायल है या चोरी के सामान के साथ पकड़ा गया है चोर है या अपराधी है। यही बात दूसरे ढंग से मनु (९।२७०=मत्स्यपुराण २२७।१९९) ने भी कही है। शंख-लिखित का कथन है कि जो व्यक्ति किसी स्त्री के साथ के साथ बैठा पकड़ा जाय तो वह व्यभिचारी (परस्त्रीगामी) समझा जाता है, जो किसी घर के पास हाथ में लकड़ी के साथ पकड़ा जाय तो उसे आग लगाने वाला समझा जाना चाहिए, जो व्यक्ति मारे गये व्यक्ति के पास हथियार के साथ पाया जाय तो उसे हत्यारा समझना चाहिए तथा उसे जो चोरी के सामान के साथ पकड़ा जाय चोर समझना चाहिए। कौटिल्य (४।१२) एवं याज्ञ (२।२८९) में इसी प्रकार कहा है कि पुरुष एवं स्त्री का व्यभिचार निम्न बातों से प्रमाणित हो जाता है हाथ में बाल हो अधरों पर नाखून एवं दाँत के चिह्न हों, स्त्री या दोनों की स्वीकारोक्ति हो।[19] नारद (१।१७२-१७५) ने कहा है कि निम्न छः प्रकार के विवाद लिंगों अथवा परिस्थितियों से प्रमाणित हो सकते हैं, यथा—अग्नि लगाना, हाथ में लकड़ी हो हत्या हत्या-स्थान पर हथियार-बन्द व्यक्ति हो बलात्कार, परस्त्री के बालों के साथ खेलता हुआ व्यक्ति हो जलाशय को तोड़ देना या बाँध तोड़ना, हाथ में कुदाल हो वृक्ष काटना हाथ में कुल्हाड़ी हो आक्रमण, हाथ में रक्तरंजित तलवार पाया गया हो। किन्तु नारद (१।१७६) ने संकेत किया है कि ऐसे विवादों में निर्णय पर पहुँचने के लिए बड़ी सावधानी की आवश्यकता होती है क्योंकि कभी-कभी कुछ व्यक्ति अन्य व्यक्ति को विरोध के कारण फँसाने के लिए अपने शरीर पर घाव या चोट के चिह्न उत्पन्न कर लेते हैं। कात्यायन (२१७-२१८) ने व्यवस्था दी है कि यदि मुकदमे में अपने विरोधी के खिलाफ घूस देने की बात सिद्ध कर देता है हस्ताक्षर मिटा दिया गया है (जिससे लेखप्रमाण शुद्ध न सिद्ध हो सके) विरोधी ने साक्षियों एवं सभ्यों को घूस देने का लोभ दिया है अपने धन को विरोधी ने छिपा लिया है (जिससे हारने पर उसका धन सुरक्षित रह जाय) आदि-आदि यदि सिद्ध हो जायें तो वादी का अभियोग मान लिया जा सकता है भले ही प्रतिवादी इनके विषय में अपने को निर्दोष सिद्ध करने का यत्न करे।

न्यायाधीश बहुधा घोषित करते हैं—"साक्षी-गण झूठ बोल सकते हैं किन्तु परिस्थितियाँ नहीं।" किन्तु यह कहावत अधिकतर भयानक सिद्ध होती है। परिस्थितियों से उत्पन्न प्रमाणों से ऐसे निर्णय हो जाते हैं जो अधिकतर भ्रामक

१९. केशाकेशि नखानखि। उपलिप्तगात्रः शरीरोपभोगानां तज्जातेभ्यः स्त्रीवचनाद्वा॥ कौटिल्य (४।१२)।

एव असत्य ठहर जाते हैं। इस प्रकार के निर्णयो की भ्रामकता से प्राचीन न्यायाधिकारी एव स्मृतिकार परिचित थे। नारद के कथन की ओर अभी ऊपर सकेत किया जा चुका है। कौटिल्य (४।८) ने घोपित किया है, जो चोर नही है वह भी चोर-मार्ग से अचानक गुजर सकता है, या जाता हुआ दिखाई पड सकता है, इसी प्रकार कोई निर्दोष भी चोरो की जमात मे उनके वस्त्र, हथियारो एव सामानो के साथ यो ही अचानक देखा जा सकता है अथवा चोरी के सामान के पास देखा जा सकता है, यथा—माण्डव्य, जो चोर नही थे, किन्तु उन्होंने मार-पीट की वेदना से वचने के लिए अपने को भी चोर कहा, अत राजा को सम्यक् परीक्षा के उपरान्त ही दण्ड देना चाहिए। परिस्थिति जन्य प्रमाण मात्र (सरकमस्टैंसिएल एविडैन्स) के आधार पर ही स्थित रहने के दोष को माण्डव्य का उदाहरण (लीडिंग केस) स्पष्ट करता है। बिना सम्यक् तर्क-विचार के ऋषि माण्डव्य को चोर सिद्ध किया गया था।[१७] मृच्छकटिक नाटक (अक ९) भी परिस्थिति जन्य प्रमाणो के आधार पर किये गये निर्णयो की भ्रामकता की ओर सकेत करता है।

नारद (४।२८९) ने व्यवस्था दी है कि जब परिस्थिति जन्य प्रमाण एव उन पर आधारित अनुमानो से निर्णय करने मे सफलता न हो तो न्यायाधीश को स्थान, समय एव विवादी की शक्ति के अनुकूल दिव्य या शपथ दिलानी चाहिए, यथा—अग्नि, जल, आध्यात्मिक फल-प्राप्ति आदि। यही बात मनु (८।१०९) ने भी कही है। दिव्य प्रमाण को **दैवी क्रिया या समय-क्रिया** कहा जाता है (विष्णुधर्मसूत्र ९।१)। कुछ स्मृतियो ने शपथो और दिव्यो (आर्डियल) मे भिन्नता घोषित की है, किन्तु मनु (८।१०९-११४) एव नारद (४।२३९) ने ऐसा नही किया है। मिताक्षरा (याज्ञ० २।९६) एव सरस्वतीविलास (पृ० १०६) ने शपथो एव दिव्य प्रमाण को दैव प्रमाण माना है। छोटे-छोटे विवादो मे सामान्यत शपथो की एव गम्भीर अपराधो मे दिव्य की आवश्यकता पडती थी। मिताक्षरा (याज्ञ० २।९६), व्यवहारमयूख (पृ० ४६) एव व्यवहारप्रकाश (पृ० १७०) का कथन है कि दिव्यो से सामान्यत तुरत निर्णय होता है, किन्तु शपथो से देर लगती है, क्योकि राजा को देखना पडता था कि शपथ लेने वाले पर एक सप्ताह या कुछ दिन के उपरान्त विपत्ति पडती है कि नही। व्यास (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ९६) ने शपथो एव दिव्यो को तुला (तराजू) माना है। शख-लिखित के अनुसार दिव्य-प्रमाण हैं तुला, विप-पान, अग्नि-प्रवेश, अग्नि मे तपे हुए लोहे को पकडना, यज्ञ एव दान से उत्पन्न फलो का त्याग तथा राजा द्वारा अन्य शपथें दिलाना। बृहस्पति का कथन है कि जब साक्षी, अनुमान एव परिस्थिति-जन्य प्रमाणो मे अन्तर पड जाय तो मामले का निर्णय दिव्य प्रमाण से करना चाहिए।

शपथ का आश्रय केवल व्यवहार अथवा न्याय-विधियो मे ही नही लिया जाता, प्रत्युत सामान्य बातो मे, यथा अपनी बात सिद्ध करने, अपने चरित्र एव प्रसिद्धि को भी प्रमाणित करने मे इसका आश्रय लिया जाता है। नारद (४।

१७ दृश्यते ह्यचोरोऽपि चोरमार्गे यदृच्छया सनिपाते चोरवेशशस्त्रभाण्डसामान्येन गृह्यमाणो दृष्ट, चोरभाण्डस्योपवासेन वा यथा हि माण्डव्य कर्मक्लेशभयादचोरश्चोरोऽस्मीति ब्रुवाण। तस्मात्समाप्तकरण नियमयेत्। कौटिल्य (४।८), केवल शास्त्रमाश्रित्य न कर्तव्यो हि निर्णय। युक्तिहीनविचारे हि धर्महानि प्रजायते॥ चौरोऽचौर साध्वसाधुर्जायते व्यवहारत। युक्ति विना विचारेण माण्डव्यश्चौरता गत॥ बृहस्पति (व्यवहारप्रकाश, पृ० १३-१४, पराशरमाधवीय ३, पृ० ३९)। स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० २५) ने नारद (१।४२) को उद्धृत किया है, यात्यचोरोपि चोरत्व चोरश्चायात्यचोरताम्। अचोरश्चोरता प्राप्तो माण्डव्यो व्यवहारत॥ माण्डव्य ने मौनव्रत धारण किया था, अत कठिन यातना के भय से उन्होंने मौन रूप से चोरत्व स्वीकार कर लिया, क्योंकि वे चोरी की गयी सम्पत्ति के पास पाये गये थे। आगे चलकर उनकी स्वीकारोक्ति का भण्डाफोड हुआ। माण्डव्य का यह वृत्तान्त एक प्रसिद्ध दृष्टान्त कहा जाता है और परिस्थितिजन्य प्रमाणो की भ्रामकता की ओर सकेत करता है।

२४३-२४४) में वसिष्ठ द्वारा यातुधान (राक्षस या ऐन्द्रजालिक) कहे जाने तथा सप्त ऋषियों द्वारा कमल-पुष्प चुराने का अपराध लगाये जाने पर शपथ लेने की बात कही है।[18] इस विषय में और देखिए मनु (८।११०) जहाँ उन्होंने पिजवन के पुत्र सुदास के समक्ष वसिष्ठ द्वारा शपथ लेने की चर्चा की है। वसिष्ठ पर विश्वामित्र द्वारा यह आरोप लगाया गया कि उन्होंने अपने सौ पुत्रों को खा डाला था। देखिए नारद (७।२४३) और मनु (८।११६) जहाँ ऋग्वेद (७।१०४।१५) का हवाला दिया गया है। मनु (८।११३) एवं नारद (७।१९९) ने जातियों के अनुरूप विभिन्न शपथों की ओर संकेत किया है। अपनी स्त्रियों एवं पुत्रों के सिर पर हाथ रखकर भी शपथ लेने की विधि थी (मनु ८।११४)। सत्य का सहारा लेकर शपथ लेने की चर्चा पाणिनि (५।७।६६, सत्याद् अशपथे) ने भी की है। नारद (७।२४९) ने गम्भीर अपराधों में दिव्यों का तथा कम महत्त्व वाले विवादों में शपथों का उल्लेख किया है। नारद (७।२४८) ने वर्णन किया है—जैसा कि मनु ने कहा है, शपथ की घोषणा सत्य अथवा हथियारों पशुओं अथवा सोना देव-चरणों पूर्वजों दान एवं सद्गुणों के नाम से की जाती है। बृहस्पति ने मनु एवं नारद की बात मान ली है और कहा है कि ये शपथ धर्ममूल एवं हिंसात्मक (सिविल एवं क्रिमिनल) छोटे-छोटे विवादों में प्रयुक्त होती हैं। इस विषय में और देखिए विष्णुधर्मसूत्र (९।५१ एवं ९।११-१२) मनु (८।१११) एवं याज्ञ० (२।२१६)।

आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।५।११।२) ने कहा है कि जब सन्देह उत्पन्न हो जाय तो अपराधी राजा द्वारा दण्डित नहीं होना चाहिए। इसी को आजकल 'सन्देह का लाभ' (बेनिफिट आव डाउट) कहते हैं। स्पष्ट है, यह सुन्दर उक्ति ईसा के जन्म के शताब्दियों पूर्व घोषित हुई थी।[19]

१८. अनुशासनपर्व (९३।११-१५) में आया है कि सात ऋषियों ने एक-दूसरे को कमल-पुष्प चुराने का अपराध लगाया और सभी ने बारी-बारी से शपथ ली। ब्रह्महत्या के विषय में अपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिए इन्द्र ने भी शपथ ली थी।

१९. न च सन्देहे दण्डं कुर्यात्। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।५।११।२)।

अध्याय १४

दिव्य

यहाँ पर दिव्यो का विवरण सक्षिप्त रूप मे उपस्थित किया जा रहा है। ऋग्वेद (१।१५८।४-५)[1] मे उचथ के पुत्र दीर्घतमा ने प्रार्थना की है कि दमगुनी लकडियो अथवा ईंधनो की अग्नि उसे जला न सके, वे नदियाँ, जिनमे वह हाथ-पाँव बाँधकर फेंक दिया गया है, उसे डुबा न सके। इस कथन में कुछ लोगो ने अग्नि एव जल के दिव्यो का सकेत पाया है। किन्तु लगता है, ऐसी बात है नहीं, यहाँ पर त्रैतन के नेतृत्व मे दासो द्वारा दीर्घतमा को दिये गये कठोर बर्ताव की ओर सकेत मात्र है। इसी प्रकार ऋग्वेद (३।५३।२२)[2] का यह कथन "वह कुल्हाडी गर्म कर रहा है", उस दिव्य की ओर सकेत नही करता जिसमे गर्म कुल्हाडी पकडी जाती है।[3] अथर्ववेद (२।१२।८) के कथन मे भी पश्चिमी विद्वानो को दिव्य की झलक मिली है, हाँ, आठवें मत्र मे कुछ ऐसा प्रकट होता है।[3] पचविश (या ताण्डय) ब्राह्मण (१४।६।६) ने वत्स की कथा कही है। वत्स की विमाता ने उसे शूद्रा मे उत्पन्न कहा और वत्स ने इसका विरोध कर कहा कि वह ब्राह्मण है। वह अपने कथन की पुष्टि के लिए अग्नि मे कूद पडा और बिना जले निकल आया। मनु (८।११६) ने भी इस कथा की चर्चा की है। सम्भवत सस्कृत साहित्य मे यह दिव्य का प्राचीनतम उदाहरण है। छान्दोग्योपनिषद् (६।१६।१) मे गर्म कुल्हाडी पकडे जाने की चर्चा हुई है, जो दिव्य-सम्बन्धी दूसरा प्राचीन उदाहरण है। आपस्तम्ब-धर्मसूत्र (२।११।२९।६) मे भी दिव्य की चर्चा है। एक अन्य स्थान (२।५।११।३) पर भी आपस्तम्ब ने ऐसा ही कहा है—दिव्य प्रमाण से एव (साक्षियो से) प्रश्न करके राजा को दण्ड देना चाहिए। शख-लिखित ने चार प्रकार के दिव्यो के नाम लिये हैं, यथा—तुला, विष, जल एव जलता हुआ लोह। मनु (८।११४) ने केवल दो के नाम लिये हैं, यथा—हाथ से अग्नि उठाना (अर्थात् जलता हुआ लोह पकडना) तथा जल में कूदना। किन्तु नारद (४।२५१) के कथनानुसार मनु ने दिव्य के पाँच प्रकार दिये हैं। याज्ञ० (२।९५), विष्णुधर्मसूत्र (९-१४) एव नारद (४।२५२) ने पाँच प्रकार दिये है, यथा—तुला, अग्नि, जल, विष एव कोश (पवित्र किया हुआ जल)। किन्तु दो अन्य प्रकार भी ज्ञात थे, तप्त माष (४।३४३) एव तण्डुल (४।३३७)। बृहस्पति एव पितामह ने नौ प्रकार दिये हैं (अपरार्क, क्रम मे पृ० ६२८ एव ६९४)।

पितामह द्वारा उपस्थापित दिव्य-सूची के विशद विवरण याज्ञ० (२।९५-११३), विष्णुधर्मसूत्र (९-१४), नारद (४।२३९-३४८), कात्यायन (४११-४६१) एव शुक्र (४।५।२३३-२७०) मे प्राप्त होते है। ईसा की आरम्भिक

१ मा मामेधो दशतयश्चितो धाक् प्र यद्वां बद्धस्त्मनि खादति क्षाम्॥ न मा गरन्नद्यो मातृतमा दासा यदीं सुसमुब्धमवाधु॥ ऋग्वेद (१।१५८।४-५)।

२ परशु चिद्वि तपति शिम्बल चिद्वि वृश्चति। उखा चिदिन्द्र येषन्ती प्रयस्ता फेनमस्यति॥ ऋग्वेद (३।५३।२२)।

३ आ दधामि ते पद समिद्धे जातवेदसि। अग्नि शरीर वेवेष्ट्वसु वागपि गच्छतु॥ (अथर्ववेद २।१२।८।)

शताब्दियों में दिव्यों का प्रचलन था जैसा कि मृच्छकटिक (९।४३) नाटक (जहाँ विष, जल, तुला एवं अग्नि का उल्लेख है) एवं बाण की कादम्बरी (४७) से प्रकट होता है। निबन्धों एवं टीकाओं में मिताक्षरा, स्मृतिचन्द्रिका, दिव्यतत्त्व (रघुनन्दनलिखित), व्यवहारमयूख एवं व्यवहारप्रकाश दिव्य-विवेचन में प्रमुख स्थान रखते हैं।

मानुष प्रमाण द्वारा न सिद्ध होने पर विवाद को निर्णय तक पहुँचाने में दिव्य सहायक होते हैं। इसी से दिव्य की परिभाषा यों दी गयी है—'मानुष-प्रमाण से निश्चित न होने पर जो विवाद को तय करता है उसे दिव्य कहते हैं' (व्यवहारमयूख) तथा 'जो मानुष-प्रमाण से न हो सके या न सिद्ध किया जा सके उसे जो सिद्ध करता है वह दिव्य कहलाता है' (दिव्यतत्त्व पृ० ५७४)। मनु (८।११६) की व्याख्या में मेधातिथि ने सत्य के उद्घाटन में दिव्य के आश्रय लेने के प्रश्न पर विचार किया है। यहाँ विरोध खड़ा होता है कि अग्नि एवं जल प्राकृतिक शक्तियाँ हैं जो एक समान रूप में कार्यशील होती हैं, वे ऐसी शक्तियाँ हैं जो जीवों की भाँति ऐसी बुद्धि नहीं रखतीं कि मनुष्यों को अपना मन परिवर्तन करने में प्रेरित कर सकें। अतः विरोधी कहता है कि दिव्य एवं शपथ इन्द्रजाल (जादू) के समान हैं जो लोगों को सत्य बोलने के लिए भयभीत करते हैं। इसका उत्तर यों है—'असफलताओं के उदाहरणों से दिव्य की उपयोगिता नहीं घटती क्योंकि वे अविश्वास से प्रयुक्त नहीं होते और न वे प्रत्यक्ष ही हैं और उनके आधार पर किये गये अनुमान अनिश्चयात्मक प्रतिफल लाते हैं इसी लिए वे अनुपयोगी हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता। इन दिव्यों पर विश्वास नहीं होना चाहिए, ऐसा कोई नहीं कह सकता। जिस प्रकार साक्षियों पर विश्वास किया जाता है (यद्यपि वे झूठे भी हो सकते हैं) उसी प्रकार दिव्यों पर भी विश्वास किया जा सकता है। यदि दिव्यों से असफलता मिले तो यह समझना चाहिए कि दिव्य लेने वाले के पूर्वजन्म का यह प्रतिफल है।' याज्ञ० (२।२२), नारद (२।२९, ४।२१९), बृहस्पति, कात्यायन (२१७) एवं पितामह ने दिव्यों के विषय में यह सामान्य नियम दिया है कि इनका प्रयोग तभी होना चाहिए जब कि अन्य मानुष-प्रमाण (यथा—साक्षी-गण, लेख-प्रमाण, भोग) या परिस्थितिजन्य प्रमाण उपस्थित न हों। कात्यायन (२१८, २१९) का कथन है कि यदि एक दल मानुष प्रमाण में विश्वास करे और दूसरा दिव्य प्रमाण पर, तो राजा (या न्यायाधीश) को मानुष प्रमाण स्वीकार करना चाहिए; यदि मानुष प्रमाण साध्य के किसी एक ही अंश को सिद्ध करे तो उसे ही मानना चाहिए न कि दिव्य प्रमाण का सहारा लेना चाहिए, भले ही दिव्य प्रमाण सम्पूर्ण साध्य से सम्बन्धित हो। नारद (२।[illegible]-२४१) का कथन है कि जब लेन-देन जंगल में, एकान्त में, रात्रि में, गृह के भीतर हो तब दिव्य प्रमाण ग्रहण करना चाहिए, यही नहीं, प्रत्युत साहस (हिंसा-कर्म) के मामलों में या जब निक्षेप (धरोहर) से इनकार हो तब भी ऐसा हो सकता है। कात्यायन (२२) ने एकान्त में (वेष बदल कर) किये गये साहस के मामलों में दिव्य ग्रहण की छूट दी है किन्तु यह भी तभी जब कि मानुष प्रमाण उपस्थित न हो। कात्यायन (२२९) ने अपवाद भी दिये हैं, साहस, आगमन

४ तत्र मानुषप्रमाणानिर्णेयस्यापि निर्णायकं यत्तद्दिव्यमिति लोकप्रसिद्धम्। अपिना मानुषप्रमाणसत्त्वेऽपि यत्र दैवं बलवत्स्वीकारस्तत्राप्येतद् भवतीति सूचितम्। दिव्यतत्त्व (पृ० ५७४)।

५ प्रमाणहीने वादे तु निर्णेता दैविकी क्रिया। बृहस्पति (व्यवहारप्रकाश पृ० १९९); अभावे साक्षिणां प्रभो दैविकीं वर्णयेत् क्रियाम्। कात्यायन (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ९१); यस्मिन् यस्मिन् विवादे तु साक्षिणां नास्ति सम्भवः। साहसेषु विशेषेण तत्र दिव्यानि दापयेत्॥ पितामह (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ९९)।

६ यद्येको मानुषीं ब्रूयादन्यो ब्रूयात्तु दैविकीम्। मानुषीं तत्र गृह्णीयान्न तु दैवीं क्रियां नृपः॥ यद्येकदेशव्याप्तापि क्रिया विद्येत मानुषी। सा ग्राह्या न तु पूर्णापि दैविकी वदतां नृणाम्॥ कात्यायन (मिताक्षरा याज्ञ० २।२२; व्यवहारमयूख पृ० ३१५)।

मानहानि तथा अन्य शक्तिप्रयोग के वादो मे मानुप प्रमाण अथवा दिव्य प्रमाण का आश्रय लिया जा सकता है।[७] नारद (४।२४२) ने स्त्री की पवित्रता के प्रश्न मे, साहस-विवादो, धन या धरोहर से इनकार करने के मामलो मे दिव्य की बात चलायी है। नारद के इस नियम से सीता का अग्नि-प्रवेश स्मरण हो आता है। बृहस्पति एव पितामह ने स्थावर सम्पत्ति के विवादो मे दिव्य प्रमाण-ग्रहण मना किया है।[८] यह एक सामान्य नियम था कि प्रतिवादी को ही दिव्य ग्रहण करना पडता था (कात्यायन ४११ =विष्णुधर्मसूत्र ९।२१)।[९] किन्तु याज्ञ० (२।९६) ने एक विकल्प दिया है कि दोनो पक्षो मे कोई भी पारस्परिक समझौते के फलस्वरूप दिव्य ग्रहण कर सकता है और ऐसा करने पर दूसरे पक्ष को हार जाने पर अर्थ-दण्ड देना पडता था या शारीरिक दण्ड सहना पडता था। इसका तात्पर्य यह होता है कि मानुप प्रमाण से साध्य का भावात्मक रूप तथा दिव्य प्रमाण से उसका अभावात्मक रूप सिद्ध करना पडता था, यथा प्रतिवादी को ऋण न लेने की बात को दिव्य-ग्रहण से सिद्ध करना पडता था। अर्थ-दण्ड देना या शारीरिक दण्ड सहना, शीर्षकस्थ या शिरस्थ कहलाता था (याज्ञ० २।९५, विष्णुधर्मसूत्र ९।२० एव २२, पितामह, नारद ४।२५७, कात्यायन ४१२-४१३)। याज्ञ० (२।९५) ने व्यवस्था दी है कि तुला, अग्नि, विप एव जल के दिव्य अधिक धन वाले विवादो मे ही लागू होने चाहिए। उन्होंने पुन कहा है कि १००० पण (ताम्र) को अधिक धन कहा जाता है (२।९९)। राजद्रोह एव पच महापातको मे बिना धन की परवाह किये उपर्युक्त दिव्यो मे कोई भी ग्रहण किया जा सकता है। जब वादी हार जाने पर दण्ड देने को सन्नद्ध रहे तो प्रतिवादी द्वारा कोई भी दिव्य ग्रहण किया जा सकता है। थोडे या कम सभी प्रकार के धन के विवादो मे कोश नामक दिव्य का ग्रहण मान्य था, चाहे वादी हार जाने पर दण्ड देने को प्रतिश्रुत रहे या न रहे।

याज्ञ० (२।९८) के मत से तुला नामक दिव्य स्त्रियो, अल्पवयस्को (१६ वर्ष से नीचे), बूढो (अस्सी वर्ष के), अन्धा, लूले-लँगडो, ब्राह्मणो एव रोगियो के लिए है, अग्नि (जलता हुआ हल का फाल या तप्त माप) क्षत्रियो के लिए, जल वैश्यो के लिए तथा विप शूद्रो के लिए है। यही बात नारद (४।३३५) ने भी कही है। नारद (४।२५६) ने कहा है कि व्रतधारियो, विपत्ति-ग्रस्त लोगो, तापसो एव स्त्रियो को दिव्य ग्रहण नही करना चाहिए। इस सूची मे पितामह ने नाबालिगो एव बूढो को जोड दिया है। किन्तु इस विपय मे स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० १०३) ने कहा है कि यह छूट केवल अग्नि, विप एव जल के लिए है। एक स्मृति (मिताक्षरा, याज्ञ० २।९८) के मत से तुला एव कोश नामक दिव्यो का ग्रहण स्त्रियो, नाबालिगो आदि के लिए भी मान्य है। इन उक्तियो मे मानव की दुर्बलताओ के प्रति सहिष्णुता, दयालुता एव अनुराग की गध मिलती है। कात्यायन (४२३) के मत से उच्च जातियो के चरवाहो (गोरक्षको या गोरत्रियो), व्यापारियो, शिल्पकारो, भाटो, नौकरो एव सूदखोरो को शूद्र वाला दिव्य ग्रहण करना चाहिए। कात्यायन (४२२) ने सभी वर्णो या जातियो के लिए सभी प्रकार के दिव्य की व्यवस्था दी है, केवल ब्राह्मण को विष नामक दिव्य से बरी रखा है। कात्यायन (४२४-४२६) के मत से लोहारो या कोढियो के लिए अग्नि, मल्लाहों या उनके लिए जो श्वास या

७ गूढसाहसिकाना तु प्राप्त दिव्यं परीक्षणम्। कात्यायन (मिताक्षरा, याज्ञ० २।२२ एव स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ५१)। प्रक्रान्ते साहसे वादे पारुष्ये दण्डवाचिके। बलोद्भूतेषु कार्येषु साक्षिणो दिव्यमेव वा॥ कात्यायन (मिताक्षरा, याज्ञ० २।२२, अपरार्क, पृ० ६२९ एव स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ५१)।

८. स्थावरेषु विवादेषु दिव्यानि परिवर्जयेत्। पितामह (मिताक्षरा, याज्ञ० २।२२, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ५३), वाक्पारुष्ये महीवादे निषिद्धा दैविकी क्रिया। बृहस्पति (अपरार्क, पृ० ६२९ एव स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ५३)।

९ न कश्चिदभियोक्तार दिव्येषु विनियोजयेत्। अभियुक्ताय दातव्य दिव्य दिव्यविशारदैः॥ कात्यायन (अपरार्क, पृ० ६९५, पराशरमाधवीय ३।१५३, व्यवहारप्रकाश, पृ० १७२)।

फाँसी से ग्रस्त हैं अतः, झाड़-फूँक करने वालों ओझियों, पित्त-ग्रस्त लोगों के लिए विष तथा मल्लाहों, विद्यार्थियों, जुआरियों एवं नास्तिकों के लिए कोश वर्जित माना गया है। यही नियम विष्णुधर्मसूत्र (९।११ एवं २९), नारद (४।१११ एवं ११२) में भी पाये जाते हैं। कात्यायन (४४७-४९) के मत से इन लोगों को स्वयं दिव्य-ग्रहण वर्जित है—पिता, माता, ब्राह्मण, गुरु, बालक, स्त्री एवं राजा के हन्ता, पंचमहापातकी, विशेषतः नास्तिक लोग, जो विशिष्ट सम्प्रदाय-चिह्न रखते हों, महादुष्ट लोग, झाड़-फूँक करने वाले तथा यौगिक क्रियाएँ करने वाले, विभिन्न वर्णों के संयोग से उत्पन्न सन्तान (वर्णसंकर) एवं बार-बार पाप करने वाले। इन लोगों के स्थान पर इनके द्वारा नियुक्त अच्छे लोग या अन्य लोगों के तैयार न होने पर उनके सम्बन्धी दिव्य ले सकते हैं। पर्श-विधान में भी मित्रों एवं सम्बन्धियों को प्रतिनिधि-रूप में दिव्य के लिए ग्राह्य माना है। कात्यायन (४११) का कथन है कि जब अस्पृश्य, हीन जाति के लोग, दास, म्लेच्छ एवं प्रतिलोमप्रसूत लोग (अर्थात् ऐसे लोग जो प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न हों, यथा शूद्र पुरुष तथा वैश्य नारी से या वैश्य पुरुष तथा क्षत्रिय नारी से उत्पन्न व्यक्ति) अपराधी हों, उनके अपराधों का निर्णय राजा द्वारा नहीं होना चाहिए, राजा को चाहिए कि वह प्रचलित दिव्यों की ओर निर्देश कर दे।[1] स्मृतिचन्द्रिका एवं पराशरमाधवीय का कथन है कि यह उसी मामले में लागू होता है जिसमें कि सम्बन्धी या अन्य व्यक्ति प्रतिनिधि रूप से प्रसिद्ध दिव्यों के लिए उपलब्ध नहीं होते। व्यवहारतत्त्व (पृ० ६०९) का कहना है कि म्लेच्छों एवं अन्य लोगों के लिए घट-सर्प आदि दिव्य लागू होते हैं। घट-सर्प दिव्य में एक घड़े में अँगूठी या सिक्का डालना पड़ता था और उसे निकालना पड़ता था जिसमें सर्प रखा रहता था। यदि सर्प न काटे अथवा काट लेने पर व्यक्ति न मरे तो उसे निरपराधी घोषित कर दिया जाता था (देखिए टिप्पणी सं० १)। याज्ञ० (२।९७) एवं नारद (४।२६८ एवं १२) का कथन है कि सभी प्रकार के दिव्य मुख्य न्यायाधीश के समक्ष सूर्योदय के समय या अपराह्न में राजा, सभ्यों एवं ब्राह्मणों के समक्ष सम्पादित होते थे। मिताक्षरा में लिखा गया है कि शिष्ट लोगों की परम्परा से रविवार उचित दिन माना जाता है। पितामह के अनुसार 'धट' दिव्य दोपहर के समय तथा 'विष' दिव्य रात्रि के अन्तिम प्रहर में होना चाहिए (मिताक्षरा, याज्ञ० २।९७)। इसी प्रकार कुछ ऋतुएँ एवं मास भी उपयुक्त या अनुपयुक्त समझे जाते थे, यथा—नारद (४।२५४) के अनुसार अग्नि दिव्य वर्षा ऋतु में उपयुक्त है, तुला शिशिर ऋतु में, जल ग्रीष्म ऋतु में तथा विष शीत ऋतु में। नारद (२।२५९) में जल के

१. अस्पृश्याधमदासानां म्लेच्छानां पापकारिणाम्। प्रातिलोम्यप्रसूतानां निश्चयो न तु राजनि ॥ तत्प्रसिद्धानि दिव्यानि संशये तेषु निर्दिशेत् ॥ कात्यायन (मिताक्षरा, याज्ञ० २।९९; स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १०४; पराशरमाधवीय ३, पृ० ११२; 'तत्प्रसिद्धानि सर्पघटादीनि' व्यवहारतत्त्व (पृ० ६०९); व्यवहारप्रकाश (१८०) 'तत्प्रसिद्धानि सर्पघटादीनि इति स्मृतितत्त्वे'। विक्रमादित्य षष्ठ (१०९८ ई०) के गदग नामक अभिलेख में (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द १५, पृ० ३४८, पृ० ३५) ऐसा आया है—"हम खौलता हुआ जल छूते हैं, हम घड़े में रखे गये बड़े सर्प को छोड़ते हैं या हम तुला पर चढ़ जाते हैं।" महामण्डलेश्वर कार्तवीर्य चतुर्थ के अभिलेख (१२०८ ई०) में (इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, जिल्द १९, पृ० २७२, पृ० २४६) आया है कि कुन्तलवती (कौण्डवती) के रट्टों के राजा लक्ष्मीधर की रानी चन्द्रिका (या चन्द्रलदेवी) पतिव्रता थी और उसे सम्मान से लिखी "भाति स्वाम्यनुना प्रतिक्रमारुदा देवी स्थिरं चन्द्रिका तप्तायसकरं समादिव्यं सततोपरोधवती।" फाब्से क्वेरियर (भाग ६, परिच्छेद २, पृ० ५९६ टिप्पणी ५) ने एशियाटिक रिसर्चेज (भाग १) का एक उद्धरण दिया है जिसमें ब्राह्मण के दिव्य का वर्णन मिलता है जब मैं सर्प रहता है, उसमें अँगूठी या कोई सिक्का डालकर निकाला जाता है। और देखिए १९२४ सन् वाली रिपोर्ट आव मारवाड़ इण्डियन एण्टिक्वेरी, जहाँ खौलते हुए घी या तेल में अँगुलियाँ डालने के दिव्य का उल्लेख है।

लिए शीत ऋतु, अग्नि के लिए ग्रीष्म, विष के लिए वर्षा एवं तुला के लिए तीक्ष्ण वायु को वर्जित माना है। मिताक्षरा (याज्ञ० २।९७) एवं पराशरमाधवीय (३, पृ० १६७) ने पितामह का उद्धरण देते हुए लिखा है कि चैत्र, वैशाख, मार्गशीर्ष सभी दिव्यों के लिए उपयुक्त हैं तथा कोश एवं तुला सभी मासों में किये जा सकते हैं।

स्थान के विषय में पितामह ने व्यवस्था दी है कि दिव्य-ग्रहण राजा या राजा द्वारा नियुक्त न्यायाधीश द्वारा विद्वान् ब्राह्मणों एवं जनता (या मन्त्रियों) के समक्ष होना चाहिए। कात्यायन (४३४-३५ एवं ४३७) ने लिखा है—गम्भीर पापों के मामलों में प्रसिद्ध मन्दिर में, राजद्रोह में राजद्वार के पास, वर्णसंकरों (प्रतिलोम विवाह में उत्पन्न) के लिए चौराहे पर और इनके अतिरिक्त अन्य मामलों में न्यायालयों में दिव्य प्रयोग किया जाना चाहिए। अनुपयुक्त स्थानों एवं कालों में तथा निर्जन में किये गये दिव्यों को अनुपयुक्त समझा जाता है अर्थात् वे मामलों के निर्णयों में कोई प्रभाव नहीं रखते। नारद (४।२६५) का कथन है कि तुला को न्यायालय में, राजद्वार पर, मन्दिर में या चौराहे पर रखना चाहिए।

दिव्य-विधि, जैसा कि मिताक्षरा (याज्ञ० २।९७ एवं ९९), व्यवहारमयूख (पृ० ५२-५५), व्यवहारप्रकाश (पृ० १८३-१८८), व्यवहारनिर्णय (पृ० १४८-१५३) में उल्लिखित है, इस प्रकार है—जिस प्रकार यज्ञों में अध्वर्यु होता है और उसी का निर्देशन सर्वोच्च एवं सर्वमान्य होता है, उसी प्रकार राजा का आदेश मुख्य न्यायाधीश के लिए दिव्य के विषय में होता है। मुख्य न्यायाधीश एवं दिव्य ग्रहण करने वाला अर्थात् शोध्य उपवास करता है। दोनों को प्रातःकाल स्नान करना होता है। शोध्य भीगे कपड़े पहने रहता है। न्यायाधीश देवों की अभ्यर्थना करता है और गाजे-बाजे के साथ पुष्प, चन्दन एवं धूप आदि देता है। वह हाथ जोड़कर पूर्वाभिमुख होकर दिव्य में उपस्थित होने के लिए धर्म की अभ्यर्थना करता है और इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर को पूर्व से लेकर सभी दिशाओं में स्थापित करता है, अग्नि एवं अन्य दिक्पालों को मुख्य कोणों के किनारे रखता है। आठों दिशाओं में आठ देवों पर (विभिन्न रंगों में, इन्द्र का पीत, यम का काला) ध्यान केन्द्रित करता है। वह आठ वसुओं को (उनके नाम लेकर) इन्द्र के दक्षिण, बारह आदित्यों को (उनके नाम लेकर) इन्द्र एवं ईशान के बीच (अर्थात् पूर्व एवं उत्तर-पूर्व के बीच) स्थान देता है, ग्यारह रुद्रों को अग्नि के पूर्व, सात मातृकाओं को यम एवं निर्ऋति के बीच (अर्थात् दक्षिण एवं दक्षिण-पश्चिम के बीच) स्थान देता है, गणेश को निर्ऋति के उत्तर सात मरुतों को वरुण के उत्तर स्थान देता है, दिव्यों के उत्तर दुर्गा का आह्वान करता है। इन सभी देवों का आह्वान उपयुक्त वैदिक मन्त्रों के साथ होता है (सभी मन्त्र व्यवहारमयूख में दिये गये हैं)। इसी प्रकार अन्य पूजा-अर्चन किये जाते हैं जिनका वर्णन यहाँ आवश्यक नहीं है। एक पत्ते पर दिव्य का उद्देश्य लिखकर उसे शोध्य के सिर पर मन्त्र के साथ रख दिया जाता है जिसका अर्थ यह है—सूर्य, चन्द्र, अनिल (वायु), अनल (अग्नि), स्वर्ग, पृथिवी, जल, हृदय, यम, दिन, रात्रि, दोनों सन्ध्याएँ एवं धर्म मानव के कार्यों से परिचित हैं। इस विषय में देखिए आदिपर्व (७४।३०), व्यवहारनिर्णय (पृ० १५३), मनु (८।८६)। अब हम नीचे कतिपय दिव्यों का संक्षिप्त वर्णन करेंगे।

तुला या घट का दिव्य

वैदिक मन्त्रों के साथ कोई यज्ञिय वृक्ष, यथा—खदिर या उदुम्बर, काट लिया जाता है। उसी वृक्ष के दो स्तम्भों पर अक्ष (तुलावार) लटका दिया जाता है। स्तम्भों को दो हाथ पृथिवी में गाड़ दिया जाता है और पृथिवी के ऊपर उनकी दूरी चार हाथ रहती है। ये खम्भे उत्तर-दक्षिण रहते हैं। एक हुक लगाकर अक्ष से तुला (तराजू) की डाँडी लटका दी जाती है। दो पलड़े लटका दिये जाते हैं। एक में शोध्य को बिठला दिया जाता है और उसे मिट्टी, ईंटों तथा प्रस्तर-खण्डों से तोला जाता है। यह सब विधिपूर्वक किया जाता है। विधियों का वर्णन यहाँ नहीं दिया जा रहा है। एक बार तोलकर शोध्य को उतार दिया जाता है। उसको असत्य-भाषण से उत्पन्न फल सुनाये

जाते हैं। इसके उपरान्त मन्त्रों के साथ वह पुनः बैठाया जाता है। एक ज्योतिषी पाँच पलों की गणना करता है। उसकी दूसरी बार की तौल से की जाती है। यदि वह दूसरी बार पहली बार की तुलना में कम ठहरता है तो उसे निरपराधी घोषित कर दिया जाता है। किन्तु यदि वह ज्यों-का-त्यों अथवा कुछ भारी ठहरता है तो अपराधी माना जाता है। बृहस्पति का कथन है कि बराबर तौल आने पर पुनः तौल की जाती है।

अग्नि का दिव्य

अग्नि, वरुण, वायु, यम, इन्द्र, कुबेर, सोम, सविता एवं विश्वेदेवों के नाम पर गोबर के ९ वृत्त पश्चिम से पूर्व बनाये जाते हैं। प्रत्येक वृत्त १६ अंगुल व्यास का होता है और वे एक-दूसरे से १६ अंगुल दूरी पर रहते हैं। प्रत्येक वृत्त में कुश रख दिये जाते हैं और प्रत्येक में शोध्य को अपना पाँव रखना पड़ता है। अग्नि में १ ८ बार घृत की आहुतियाँ दी जाती हैं। एक लोहार जाति का व्यक्ति तौल में ५ पल (दुर्बल व्यक्ति के लिए केवल १६ पल) तथा लम्बाई में आठ अंगुल का लौह-खण्ड अग्नि में तप्त करता है और इतना तप्त करता है कि उससे चिनगारियाँ निकलने लगती हैं। इसके उपरान्त सभी प्रकार के कृत्य, जिन्हें संक्षेप में तुला के सम्बन्ध में बताया गया है, सम्पादित होते हैं और शोध्य के सिर पर पत्र लिखकर रख दिया जाता है। मन्त्रों के साथ अग्नि का आह्वान किया जाता है। शोध्य पूर्वाभिमुख प्रथम वृत्त में खड़ा होता है। शोध्य के दोनों हाथों पर काले चिह्न बना दिये जाते हैं और उन पर चावल रख दिये जाते हैं। न्यायाधीश उसके हाथों पर अश्वत्थ (पीपल) की सात पत्तियाँ रख देता है और उनके साथ चावल और दही रखा जाता है। सबको सूत से बाँध दिया जाता है। न्यायाधीश चिमटे से तप्त लोहे को शोध्य के पत्तियों से बँधे हाथों पर रख देता है। शोध्य धीरे-धीरे आठ वृत्तों तक चलता है और नवें वृत्त में दोनों हाथों वाले तप्त लोहे को फेंक देता है। इसके उपरान्त न्यायाधीश शोध्य के हाथों को पुनः चावलों से रगड़ता है। यदि शोध्य ऐसा करने देने में कोई हिचकिचाहट नहीं प्रकट करता और उसके हाथों पर दिन के अन्त तक कोई दाग नहीं दीखता तो वह निरपराधी घोषित हो जाता है। कात्यायन (४४१) एवं याज्ञ (२।१ ७) ने व्यवस्था दी है कि यदि लौहखण्ड आठवें वृत्त तक पहुँचने के पूर्व ही गिर जाता है या कोई सन्देह उत्पन्न हो जाता है (उसका हाथ जला है कि नहीं) या वह लड़खड़ा पड़ता है या हाथ में कहीं और जल जाता है तो शोध्य को पुनः यह दिव्य करना पड़ता है।

जल का दिव्य

जल के दिव्य का वर्णन स्मृतियों एवं निबन्धों में जटिल है। स्मृतिचन्द्रिका ने (२ पृ ११६) जल एवं विष के दिव्यों को अपने काल में अप्रचलित कहकर छोड़ दिया है। किसी जलाशय के पास पहुँचकर न्यायाधीश उसके किनारे शोध्य के कान तक ऊँचा एक तोरण खड़ा करता है। वह वरुण (जल-देवता) अथवा के आकार के धनुष एवं तीन वाणों की (जिनकी नोकें लोहे की नहीं प्रत्युत बाँस की होती हैं) अर्चना चन्दन, धूप, दीप एवं पुष्प से करता है। तोरण से १५ हाथ की दूरी पर एक लक्ष्य निर्धारित कर दिया जाता है। किसी पवित्र वृक्ष का एक स्तम्भ लेकर तीन उच्च वर्णों का कोई व्यक्ति, जो शोध्य का वैरी नहीं होता, पूर्वाभिमुख होकर नाभि तक जल में खड़ा हो जाता है। तब न्यायाधीश शोध्य को जल में खड़ा करता है और धर्म से लेकर दुर्गा तक के देवताओं की अभ्यर्थना करता है एवं जयपत्र लिखकर शोध्य के सिर पर रखता है। इसके उपरान्त एक क्षत्रिय या ब्राह्मण (आयुधजीवी) जो पवित्र हृदय का होता है और उपवास किये रहता है, तोरण से लक्ष्य तक तीन वाण फेंकता है। शोध्य वरुण की उपासना करता है और कहता है—'हे वरुण, सत्य के द्वारा मेरी रक्षा करो।' तब तक एक पहीला युवक फिरे [illegible] दूसरे वाण के स्थान पर दौड़ जाता है और वाण को लेकर खड़ा हो जाता है। तोरण के पास दूसरा फुर्तीला व्यक्ति खड़ा हो जाता है। तब न्यायाधीश तीन

वार ताली बजाता है। तीसरी ताली के साथ ही शोध्य जल मे खडे व्यक्ति की जाँघ पकड कर डुबकी मारता है और तोरण के पास खडा व्यक्ति तेजी से दूसरे वाण वाले व्यक्ति के पास दौड जाता है। वाण वाला व्यक्ति तोरण के पास दौडकर आता है और यदि वह शोध्य को नही देखता या केवल उसके सिर का ऊपरी भाग मात्र देखता है तो शोध्य निर्दोष सिद्ध हो जाता है। यदि वह शोध्य का कान या नाक देख लेता है या उसे अन्यत्र वहते हुए देखता है तो शोध्य अपराधी सिद्ध हो जाता है।

विष का दिव्य

धूप, दीप आदि से महेश्वर की मूर्ति के समक्ष पूजा-अर्चना के उपरान्त तथा देवो की मूर्ति एव ब्राह्मणो के समक्ष विष रखकर विष-दिव्य सम्पादित किया जाता है। विष का चुनाव शार्ङ्ग (शृग पौधे से निकाले हुए) या वत्सनाभ (वत्स नामक पौधे से निकाले हुए) या हैमवत से किया जाता है (विष्णुधर्मसूत्र १३।३, नारद ४।३२२ आदि)। वर्षा ऋतु मे ६ यव, ग्रीष्म मे ५ यव, हेमन्त (एव शिशिर) मे ७ या ८ यव, शरद मे लगभग ६ यव के वरावर विष होना चाहिए। रात्रि के अन्तिम प्रहर मे विष देना चाहिए किन्तु दोपहर, अपराह्ण या सन्ध्याकाल मे कभी नही। विष मे ३० गुना घी मिला दिया जाता है। ब्राह्मण को छोडकर किसी को भी यह दिया जा सकता है। मन्त्र आदि से देवो का आह्वान किया जाता है। विष-पान के उपरान्त शोध्य छाया मे विना खाये-पीये सुरक्षा मे रहता है। यदि विष का प्रभाव उस पर नही होता तो वह निर्दोष सिद्ध हो जाता है। यदि विष अधिक हो और शोध्य ५०० तालियाँ बजाने तक विना प्रभाव के रह जाता है तो उसे निरपराधी मानकर उसकी दवा की जाती है (मिताक्षरा, याज्ञ० २।१११)। शोध्य को छल से बचाने के लिए (सम्भवत वह पूर्व उपचार-स्वरूप कुछ खा-पी सकता है) उसे पितामह के मत मे, तीन या पाँच रात्रियो तक राज-पुरुषो की अधीक्षकता मे रखना चाहिए और उसकी जाँच कर लेनी चाहिए, क्योकि विष से बचने के लिए गुप्त रूप मे वह दवाओ, मन्त्रो अथवा रत्न आदि का उपयोग कर सकता है।

कोश का दिव्य

शोध्य को उग्र देवताओ (यथा रुद्र, दुर्गा, आदित्य) की चन्दन, पुष्प आदि से पूजा करनी पडती है और उनकी मूर्तियो को स्नान कराना होता है। न्यायाधीश शोध्य से 'सत्येन माभिरक्ष' (याज्ञ० २।१०८) मन्त्र के साथ पवित्र जल का आह्वान कराता है और उस जल को तीन बार हाथ मे उसे पिलाता है। पितामह ने कुछ विशिष्ट नियम दिये हैं। वह जल या तो शोध्य के आराध्यदेव की मूर्ति का स्नान-जल हो सकता है, या यदि शोध्य सभी देवो को समान मानता है तो सूर्य की मूर्ति का स्नान-जल हो सकता है। दुर्गा के शूल को स्नान कराया जाता है, सूर्य के मण्डल तथा अन्य देवो के अस्त्रो को स्नान कराया जाता है। दुर्गा का स्नान-जल चोरो को तथा आयुधजीवियो को दिव्य के रूप मे दिया जाता है। किन्तु सूर्य का स्नान-जल ब्राह्मणो को नही दिया जाता। अन्य दिव्यो का फल शीघ्र ही घोषित होता है किन्तु कोश दिव्य के फल के लिए प्रतीक्षा करनी पडती है और यह अवधि विवाद की सम्पत्ति तथा अपराध की गुरुता पर निर्भर रहती है। याज्ञ० (२।११३), विष्णुधर्मसूत्र (१४।४-५) एव नारद (४।३३०) के मत से कोश दिव्य के चौदह दिनो के उपरान्त यदि शोध्य पर राजा की व्यवस्था या देवो के क्रोध के कारण कोई विपत्ति नही घहराती, या उसका पुत्र या स्त्री नही मरती, वह गम्भीर रूप से बीमार नही पडता, उसका धन नष्ट नही होता, तो वह निर्दोष सिद्ध हो जाता है। थोडी बहुत हानि से कुछ नही होता, क्योकि इस ससार मे यह अपरिहार्य है। बीमारी का स्वरूप महामारी नहीं हो सकती, केवल उस पर गिरी आपत्ति, रोग आदि पर ही विचार किया जाता है। पवित्र जल का पान (कोश-पान) केवल निर्दोषिता सिद्ध करने के लिए ही नही किया जाता, यह अन्य लोगो के समक्ष अपनी सचाई एव सद्विचार प्रकट करने के लिए भी किया जाता है (राजतरगिणी, श्लोक ३२६)।

ऐसा कहकर शोध्य मिट्टी के बरतन से एक पिण्ड निकलता है। यदि धर्म का पिण्ड निकल जाता है तो वह निर्दोप सिद्ध
हो जाता है। यह दिव्य भाग्य-परीक्षा के समान है।
अधिकतर सभी प्राचीन देशो मे दिव्य का कोई-न-कोई रूप प्रचलित था। इग्लैण्ड मे तप्त लोह-खण्ड को पक-
डना तथा खौलते हुए पानी मे हाथ डालना प्रचलित था। पानी मे डूबे रहना निर्दोषिता का तथा ऊपर तैरते रहना अप-
राध का चिह्न माना जाता था। स्टीफेंस (हिस्ट्री आव क्रिमिनल ला आव इग्लैण्ड, जिल्द १, पृ० ७३) ने लिखा है कि
जल का दिव्य सम्मानपूर्वक आत्महत्या समझा जाता था। नार्थेपटन के असाइज (११७६ ई०) ने जल-दिव्य को हत्या,
डकैती, चोरी, वचकता एव आग लगाने के अपराध मे लागू करने को कहा है। किन्तु सन् १२१५ ई० मे दिव्य अवैधानिक
करार दे दिये गये (वही, जिल्द १, पृ० ३००)। भारत मे दिव्यो की प्रथा अठारहवी शताब्दी तथा बहुत कम अशो मे
आगे तक प्रचलित थी, जैसा कि शिलालेखो, अभिलेखो तथा अन्य प्रमाणो मे प्रकट होता है।[11] देखिए किट्टूर स्तम्भ
अभिलेख (जे० बी० बी० आर० ए० एस्०, जिल्द ९, पृ० ३०७-३०९), सिलिमपुर प्रस्तर-खण्ड-अभिलेख (एपिग्रैफिया
इण्डिका, जिल्द १३, पृ० २८३, पृ० २९१-२९२) आदि। सातवी शताब्दी मे विष्णुकुण्डिराज माधववर्मा ने बहुत-से
दिव्य कराये थे, यथा "अवसित-विविध-दिव्य" (जर्नल आव आन्ध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसायटी, जिल्द ६, पृ० १७, २०,

११ बील के 'बुद्धिस्ट रेकर्ड्स आव दी वेस्टर्न वर्ल्ड' (जिल्द १, पृ० ८४) एव वाटर्स के 'युवान् च्वाग की यात्रा'
(जिल्द १, पृ० १७२) नामक ग्रन्थों मे चार प्रकार के दिव्य प्रचलित कहे गये हैं, यथा—जल, अग्नि, तुला एव विष।
जल के दिव्य में अपराधी को पत्थर के बरतन के साथ एक गठरी मे रखकर जल मे फेंक दिया जाता था। यदि व्यक्ति
डूब जाता और पत्थर तैरता रहता तो वह अपराधी कहा जाता था, किन्तु यदि व्यक्ति तैरता रहता और पत्थर डूब
जाता तो वह निर्दोष सिद्ध हो जाता था। अग्नि का दिव्य इस प्रकार का था, लोग लोहे की चद्दर को गर्म करते थे,
अभियुक्त को उस पर बैठाते थे और पुन उस पर उसका पाँव रखाते थे, फिर उस पर उसकी हथेलियाँ रखाते थे,
इतना ही नहीं, अभियुक्त को उस पर अपनी जिह्वा भी रखनी पडती थी। यदि वह न जलता था तो वह निर्दोष माना
जाता था, यदि उसके शरीर पर जलने के दाग आ जाते थे तो वह अपराधी सिद्ध होता था। तुला के दिव्य मे एक व्यक्ति
और उसी के बराबर पत्थर तराजू में रखे जाते थे। यदि अभियुक्त निरपराधी है तो पत्थर उठ जाता था, यदि वह
अपराधी है तो व्यक्ति उठ जाता था और पत्थर झुक जाता था। विष के दिव्य मे एक भेड की दाहिनी जाँघ मे छेद
कर दिया जाता था जिसमे सभी प्रकार के विषों के साथ अभियुक्त के भोजन का एक अश भर दिया जाता था। यदि
अभियुक्त दोषी है तो विष प्रभाव करता था और भेड मर जाती थी, यदि नहीं तो विष का कोई प्रभाव नहीं होता था
और पशु जी जाता था। इस विवरण से प्रकट होता है कि इस प्रकार के दिव्यो की बहुत-सी बातें स्मृतियो एव निबन्धो
मे लिखित बातों से मेल नहीं खातीं। विष दिव्य के सम्बन्ध मे दी गयी बील महोदय की बातें स्मृतियो मे बिल्कुल नहीं पायी
जातीं। अलबेरुनी (सचौ द्वारा अनूदित, जिल्द २, पृ० १५९-१६०) ने सम्भवत विष दिव्य को निम्न शब्दो में व्यक्त
किया है, "अभियुक्त को ब्राह्मण नामक विष पीने को बुलाया जाता है।" सम्भवत यहाँ पर अलबेरुनी ने ब्रह्मा की सन्तान
विष की ओर सकेत किया है, जैसा कि याज्ञ० (२।११०) एव नारद (४।३२५) मे कहा गया है। जल के दिव्य मे अभि-
युक्त को गहरी और तीक्ष्ण धार वाली नदी मे या गहरे कुएँ मे फेंक दिया जाता था, यदि वह नहीं डूबता था तो उसे
निर्दोष समझा जाता था। उसने कोश एव तुला दिव्यो का वर्णन यथातथ्य किया है। अन्तर केवल इतना ही है कि
उसके कथन के अनुसार यदि सत्य कहा गया है तो वह (अभियुक्त) पहले की अपेक्षा तुला मे अधिक भारी हो जाता
था। उसने तप्त-माष (खौलते हुए घृत से सोना-खण्ड निकालना) एव तप्त-लोह का यथातथ्य वर्णन किया है।

२४)। और देखिए एपिग्रैफिया कर्नाटिका (जिल्द ६, माण्डया तालुका अभिलेख सं० ७९, पृ० ४७) वही जिल्द ४ पृ० २७ (मेकनूर जागीर अभिलेख सं० २ पृ० २७ सन् ११५८ ई० के लगभग) सन् १९११ की इण्डियन ऐण्टीक्वेरी (जिल्द ९, पृ० १०९) एवं रिपोर्ट आव साउथ इण्डियन एपिग्रैफी (सन् १९०७ पैरा २७)।

मराठा राजाओं के समय में दिव्यों की प्रथा थी। उदाहरणार्थ देखिए, पेशवा की दिनचर्या (पेशवाज़ डायरीज़ जिल्द २, पृ० १५, सन् १७६४-६५) श्री पी० बी० मावजी एवं श्री डी० बी० पारसनिस द्वारा सम्पादित 'शतपत्रें' 'निवाडपत्रें' आदि (पृ० ४६-५१)। अन्तिम पुस्तक (पृ० ३६-४१) में मुसलमान विवादियों द्वारा किये गये दिव्यों का वर्णन है। मुसलमानों ने १५ दिनों तक दीप जलाकर अपनी मसजिद में दिव्य किये थे (सन् १७४२ ई०)। बहुत-से अन्य शासनपत्रों में भी दिव्यों का वर्णन है।

डा० दिनेशचन्द्र सरकार के एक लेख 'दी सक्सेसर्स आव दी सातवाहनस' (अपेंडिक्स पृ० ३५४-३७६, कलकत्ता १९३९) में दिव्यों का वर्णन है। उन्होंने (एशियाटिक रिसर्चेस, जिल्द १) का उद्धरण देते हुए लिखा है कि अली इब्राहीम खाँ नामक मजिस्ट्रेट ने बनारस में किये गये कतिपय दिव्य (सन् १७८३ ई०) से घोषित दो विवादों की रिपोर्ट गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स को भेजी थी। श्री भास्कर वामन भट ने 'तृतीय-सम्मेलन-वृत्त' (पृ० १८-२१) एवं 'चतुर्थ-सम्मेलन-वृत्त' (पृ० १ — १५४) में जो पूना की प्रसिद्ध 'भारत इतिहास-संशोधक-मण्डल' नामक संस्था से निकले हैं दो विचारोत्तेजक एवं विद्वत्तापूर्ण लेख दिये हैं जिनमें (मराठी भाषा में) मराठों के समय की व्यवहार शासन-विधि में दिव्यों के स्थान एवं प्रयोग का वर्णन है।

१२ यह आश्चर्यजनक बात है कि डा० सरकार ने बृहस्पति को 'दिव्यतत्त्व' का लेखक माना है (सक्सेसर्स आव सातवाहनस, अपेंडिक्स पृ० ३६)। रघुनन्दन का 'दिव्यतत्त्व' अति प्रसिद्ध है। कहीं भी बृहस्पतिलिखित दिव्यतत्त्व का उल्लेख नहीं मिलता।

अध्याय १५

सिद्धि (निर्णय)

व्यवहार-विधि का अन्तिम (चौथा) स्तर सिद्धि (याज्ञ० २।८) अथवा निर्णय है। यदि प्रत्याकलित को व्यवहार का पाद कहा जाय (सर्वसम्मति से चार ही पाद होते हैं) तो निर्णय (साध्यसिद्धि) किसी विवाद (ला-सूट, मुकदमे) का पाद नहीं है, प्रत्युत उसका फल है (व्यवहारप्रकाश पृ० ८६)। प्रमाण की उपस्थिति के उपरान्त राजा (या मुख्य न्यायाधीश) सभ्यो की सहायता से वादी की जय या पराजय का निर्णय करता है।[1] नारद (२।४२) का कहना है कि सभ्यों को चाहिए कि वे दण्ड-निर्णय करते समय दोनो पक्षों को न्यायालय से बाहर चले जाने को कह दें। व्यास एव शुक्र (४।५।२७१) के मत से निर्णय के आधार के आठ स्रोत हैं (शुक्र के मत से केवल छ स्रोत हैं)—तीन प्रमाण (भोग, लेखप्रमाण एव साक्षी), तर्कसिद्ध अनुमान (हेतु), देश-परम्पराएँ (सदाचार), शपथ (शपथ एव दिव्य), राजा का अनुशासन एव वादियों की स्वीकारोक्ति (वादिसंप्रतिपत्ति)।[2] पितामह का कथन है कि जिस विवाद में साक्षी, भोग, लेखप्रमाण न हो और दिव्य से निर्णय न हो सके, उसमें राजा की आज्ञा ही निर्णय का रूप धारण करती है, क्योकि वह सबका स्वामी है।[3]

नारद (२।४१ एव ४३) मे आया है कि चाहे कोई पक्ष स्वीकारोक्ति के कारण या अपने कर्तव्य या आचार (व्यवहार) के कारण (यथा—झूठी गवाही या कूट लेख्य प्रमाण के कारण) हार गया हो, या चाहे पूर्ण व्यवहार-विचार (जाँच, ट्रायल) एव प्रमाण के उपरान्त हार गया हो, सभ्यो (न्यायाधीशो) के लिए यह उचित है कि वे इसे घोषित कर दें और उपयुक्त ढग से लिखकर सफल पक्ष को जयपत्र दे दें। नारद के कई पद्यो (अपरार्क पृ० ६८४), बृहस्पति, कात्यायन (२५९-२६५), वृद्ध वसिष्ठ (मिताक्षरा, याज्ञ० २।९१, अपरार्क पृ० ६८४) एव व्यास (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ५७) ने निर्णय के विषयो का विवरण दिया है। उसमे पूर्वोत्तर क्रियापाद, प्रमाण, परीक्षा, साक्षी, साक्षियों पर विचार-विमर्श, तर्क-युक्ति, उपयुक्त स्मृति-वचन, सभ्यो की सम्मति, छूट, न्यायाधीश का हस्ताक्षर एव राजमुद्रा का अकन

१ उक्तप्रकाररूपेण स्वमतस्थापिता क्रिया। राज्ञा परीक्ष्य सभ्यैश्च स्थाप्यौ जयपराजयौ॥ सग्रहकार (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १२०, पराशरमाधवीय ३, पृ० १९९)।

२ प्रमाणैर्हेतुचरितैः शपथेन नृपाज्ञया। वादिसंप्रतिपत्त्या वा निर्णयोऽष्टविधः स्मृत ॥ व्यास (व्यवहारनिर्णय पृ० १३८, व्यवहारप्रकाश पृ० ८६, शुक्रनीति (४।५।२७१)। शुक्र० मे "षड्विध स्मृत" ऐसा आया है, स्पष्टतया शुक्र ने प्रमाण को अकेला माना है।

३ लेख्य यत्र न विद्येत न भुक्तिर्न च साक्षिण । न च दिव्यावतारोस्ति प्रमाण तत्र पार्थिव ॥ निश्चेतु येन शक्या स्युर्वादा सन्दिग्धरूपिण । तेषा नृप प्रमाण स्यात्स सर्वस्य प्रभुर्यत ॥ पितामह (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २६, पराशरमाधवीय ३, पृ० ९३, व्यवहारसार पृ० ४३, मदनरत्न)।

चाहिए होने चाहिए। वसिष्ठ (१९।१) ने पूर्व निर्णयों का हवाला (अर्थात् पूर्वदृष्टान्त) भी देने को कहा है। मिताक्षरा (याज्ञ० २।९१) ने एक स्मृति का हवाला देकर कहा है कि उपस्थित (न्यायाधीश के अतिरिक्त) सभ्य लोगों को भी निर्णय पर हस्ताक्षर कर देना चाहिए जिससे यह सिद्ध हो जाय कि वह निर्णय उन्हें भी मान्य है। किन्तु ऐसा करना आवश्यक नहीं है जैसा कि विवादचन्द्र (पृ० १४९) ने कहा है। कात्यायन ने (२५६) जयपत्र शब्द का प्रयोग उस निर्णय के लिए किया है जिसमें उपर्युक्त चारों बातें पायी जायँ और जो पूर्ण विवाद के उपरान्त दिया गया हो। उन्होंने जयपत्र को केवल उस लेख्य (न्यायाधीश द्वारा दिये गये) के लिए प्रयुक्त किया है जो उस वादी को दिया जाता है जो हीनवादी (जो अपने विवाद के विषय में परिवर्तन कर देता है) कहलाता है अथवा जब विवाद का पूर्ण व्यवहार-विचार (जाँच) नहीं हुआ हो ऐसे लेख्य में केवल घटना मात्र का वर्णन रहता है। नीतिवाक्य (३।१९) ने पत्रकारक शब्द का प्रयोग दूसरे अर्थ में किया है हत्या के अपराध में व्यक्ति यदि अभियुक्त होने पर उसी दिन उत्तर नहीं देता तो वह अपराधी सिद्ध हो जाता है यही पत्रकारक है। मिताक्षरा (याज्ञ० २।१) ने कात्यायन के मत दिया है। उसमें आया है कि जयपत्र में आवेदन उत्तर साक्षी एवं निर्णय का विवरण मात्र होता है और जब वादी अपने आवेदन के विषय में कोई परिवर्तन करता है और उसका बचाव उपस्थित करता है या जो कुछ कहता है उसे नहीं कहता या लेख्य प्रमाण नहीं उपस्थित कर पाता तो इस प्रकार के लेख्य को हीनपत्रक कहा जाता है।

खेद की बात है कि आज तक कोई लिखित (संस्कृत में) प्राचीन जयपत्र नहीं प्राप्त हो सका है। प्राचीन जावा की भाषा में लिखित एक जयपत्र का निष्कर्ष डा० जाली ने प्रकट किया था (कलकत्ता वीकली नोट्स २९) जो जावा द्वीप में ताम्रपत्र पर लिखित प्राप्त हुआ था और जिसे डा० वेल्टीम ने एक पत्र में प्रकाशित किया था। उस जयपत्र (सन् ९२८ ई०) में एक सुवर्ण के विवाद का उल्लेख है और यह लिखा हुआ है कि व्यवहार-विचार (जाँच) में अनुपस्थित रहने के कारण वादी हार गया था। उस जयपत्र के अन्त में चार साक्षियों के हस्ताक्षर हैं और उसे जयपत्र की संज्ञा दी गयी है। इसके विषय में देखिए जे० बी० ओ० आर० एस० (जिल्द ७ पृष्ठ ११७)। डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने 'कलकत्ता वीकली नोट्स' (२४) में अनुवाद एवं अपने निबन्ध में मिथिला के हिन्दू न्यायालय द्वारा उपस्थापित एक जयपत्र (सन् १७९४ ई०) का उल्लेख किया है (जे० बी० ओ० आर० एस० जिल्द ६ पृ० २४९-२५८) जो स्मृतियों एवं निबन्धों में उल्लिखित विधि का सम्पूर्ण रूप खड़ा करता है और बहुत ही पुस्तकीय पारिभाषिक एवं नियमनिष्ठ ऋजु भाषा में लिखा हुआ है। यह एक दासी से सम्बन्धित स्वामित्व के विवाद के विषय में है। वादी ने सर्वप्रथम उपस्थिति-सम्बन्धी दोष प्रदर्शित किया (अर्थात् वह समय से न्यायालय में उपस्थित नहीं हो सका) जयपत्र में इसका उल्लेख हुआ है और उसमें यह भी लिखा है कि अभियोग या व्यवहार-विचार पुनः खोला गया (अर्थात् मुकदमा पुनः खुला)। प्रतिवादी ने विरोध खड़ा किया कि केवल एक साक्षी से विवाद का निर्णय देना न्यायोचित नहीं है। वह विरोध स्वीकृत हो गया। इसके उपरान्त वादी ने दिव्य-ग्रहण की आज्ञा माँगी किन्तु वह अनसुनी कर दी गयी क्योंकि मानुष प्रमाण सम्भव था। अन्त में वादी अपना मुकदमा हार गया। जयपत्र पर सचल मिश्र नामक न्यायाधीश का हस्ताक्षर है यह अन्य सभ्यों को जिन्हें धर्मोपाध्याय एवं पण्डित की संज्ञा दी गयी है और जिनके नाम में लेख्य के शीर्षभाग में अपनी सम्मति व्यक्त की है सम्बोधित किया गया है। अठारहवीं एवं उन्नीसवीं शताब्दी के भी संस्कृत जयपत्रों के लिए देखिए जर्नल आव दी बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी (जिल्द २८ सन् १९४२)।

मिताक्षरा (याज्ञ० २।१) एवं व्यवहारमातृका (पृ० ३) के मत से जयपत्र विशेषतः इसलिए दिया जाता है कि वह विवाद पुनः न खड़ा हो सके हीनपत्रक इसलिए दिया जाता है कि उस पक्ष को आगे चलकर अर्थ-दण्ड

देना पड़े। जब विवाद का निर्णय कुल के न्यायाधिकरण (डोमैस्टिक ट्राइबुनल) द्वारा किया जाता है तो जयपत्र नहीं दिया जाता, केवल निर्णयपत्र से काम चल जाता है।[4]

असफल पक्ष को राजा के लिए अर्थ-दण्ड देना पड़ता था और सफल पक्ष राजा तथा न्यायाधीश द्वारा सम्मानित होता था तथा उसे विवाद की वस्तु पर अधिकार प्राप्त हो जाता था। मनु (८।५१) का कहना है कि धन-सम्बन्धी मामलो (अथमूल विवादो अर्थात् सिविल झगड़ो) मे असफल पक्ष को राजा की आज्ञा द्वारा सफल पक्ष के लिए निर्णय-ऋण (जजमेण्ट डेट) और शक्ति के अनुसार राजा को जुरमाना देना पड़ता था। मनु (८।१३९) ने यह भी कहा है कि यदि प्रतिवादी न्यायालय मे पाँच प्रतिशत दण्ड देने की बात स्वीकार करता है, जिसे उसे राजा को देना है (और आगे चलकर) नकार जाता है और फिर यह बात सिद्ध हो जाती है तो उसे दूना (दस प्रतिशत) दण्ड देना पड़ता है। यही न्यायालय का शुल्क (कोर्ट फी) कहा जाता है। यदि दोनो दलो ने शर्त बदी हो कि यदि हार जायेंगे तो इतना (यथा १०० पण) देंगे, तब हारने पर उन्हे उतना धन दण्ड के साथ राजा को देना पड़ता था और विवाद का धन सफल पक्ष को मिलता था (याज्ञ० २।१८ एव नारद २।५)। ऐसे ही नियम विष्णुधर्मसूत्र (५।१५३।१५९) मे भी मिलते हैं। हिंसामूल (क्रिमिनल) विवादो मे जो दण्ड दिये जाते थे उनका वर्णन हम आगे करेंगे।

अब हमे यह देखना है कि किन मामलो मे निर्णयो का पुनरवलोकन किया जाता था। सामान्य नियम मनु (९।२३३) द्वारा दिये गये हैं—"जब कोई व्यवहार-सम्बन्धी विधि सम्पन्न हो चुकी हो (तीरित) या वहाँ तक जा चुकी हो जब कि असफल पक्ष से दण्ड लिया जा सकता है, तब बुद्धिमान् राजा उसे काट नही सकता।" तीरित एव अनुशिष्ट शब्दों की व्याख्या कई प्रकार से की गयी है।[5] तीरित शब्द बहुत पुराना है और अशोक के दिल्ली स्तम्भाभिलेख (४) मे भी आया है (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द २, पृ० २५३) यथा—'तिलित-दण्डानम'। इसका अर्थ है 'ऐसे पुरुष जो वन्दीगृह मे बन्द हैं।' मेधातिथि एव कुल्लूक ने इसका अर्थ क्रम से यो दिया है—'शास्त्रीय नियमो के अनुसार निर्णीत' तथा 'सफल पक्ष से दण्ड लेने के रूप मे।' कात्यायन ने कुछ और ही कहा है (४९५)—'जब कोई पक्ष सभ्यो द्वारा बिना साक्षियो पर विचार किये सत्य या असत्य रूप मे निर्णीत होता है तो उसे तीरित कहा जाता है और जो साक्षियो के आधार पर निर्णीत होता है उसे अनुशिष्ट कहा जाता है।' वैजयन्ती कोश ने कात्यायन का अनुसरण किया है—'जब सभ्यो द्वारा कोई पक्ष हरा दिया जाता है तो वह तीरित कहा जाता है, और जब साक्षियो के बल पर असत्य एव सत्य का निर्धारण होता है तो वह अनुशिष्ट कहलाता है।' (भूमिकाण्ड, वैश्याध्याय, श्लोक ११-१२)। नारद (२।६५) ने इन शब्दो का प्रयोग किया है जिन्हे मिताक्षरा (याज्ञ० २।३०६) ने क्रम से यो समझाया है—'जब विवाद उपलब्ध प्रमाण एव साक्षियो से निर्णीत होता है किन्तु दण्ड उगाहने का निर्णय नही हुआ रहता तो यह तीरित है, और जब असफल पक्ष से दण्ड उगाह लेने तक का निर्णय होता है तो वह अनुशिष्ट कहलाता है।' अन्य व्याख्याओं के लिए देखिए अपरार्क (पृ० ८६६) एव व्यवहारप्रकाश (पृ० ९०)।

४ कुलादिभिर्निर्णये जयपत्राभावान्निर्णयपत्र तत्र कार्यं परत्तपत्रमिति यावत्। व्यवहारनिर्णय, पृ० ८५।

५ तीरित समापित निर्णयपर्यन्त प्रापितमिति यावत्। अनुशिष्ट अर्थि-प्रत्यर्थिनौ प्रति कथित जयपत्रे चारोपितम्। व्यवहारप्रकाश (१०९०), तीरित समाप्तम् अनुशिष्ट साक्षिभिरुक्तम्। दीपकलिका (याज्ञ० २।३०६); तीरित समापित निर्णीतमिति यावत्। अनुशिष्ट साक्षिभिरुक्तम्। मदनरत्न, सदेवामत्कृत सभ्यैस्तीरित साक्षिणा तु चेत्। अनुशिष्टमयो लेखो लेख्य दिव्य तु दैविकम्॥ वैजयन्तीकोश।

अपने पूववर्ती के निर्णय को, जब वह न्यायानुकूल न हुआ हो अथवा अबोधता का परिचायक हो, फिर से दुरुस्त कर सकता है (याज्ञ० २।३०६)।

याज्ञ० (२।४ एवं ३०५) ने व्यवस्था दी है कि यदि पक्षपात, लोभ या भय से सभ्यों ने निर्णय किया हो तो विवाद का राजा द्वारा पुनरवलोकन होना चाहिए और यदि सन्देह की पुष्टि हो जाय तो सभ्यों एवं पूर्व-जयी पक्ष पर उस दण्ड का दूना दण्ड लगाना चाहिए जो विजित दल पर लगता है। यही बात नारद (१।६६) ने भी कही है। मनु (९।२३१ = मत्स्यपुराण २२७।१५८ एवं २३४) ने व्यवस्था दी है कि न्यायाधिकारीगण घूस लेकर विवादियों को हरा दें तो राजा द्वारा उनकी सारी सम्पत्ति छीन ली जानी चाहिए, और यदि अमात्य लोग या मुख्य न्यायाधीश किसी विवाद का निर्णय ठीक से न करें (किन्तु घूस न लें) तो राजा को चाहिए कि वह विवाद को फिर से देखे और ठीक निर्णय देकर उन अमात्यों या मुख्य न्यायाधीश पर १००० पण का दण्ड लगाये।

यद्यपि किसी स्मृति में एक न्यायालय या न्यायाधीश से दूसरे न्यायालय या न्यायाधीश के पास विवाद का स्थानान्तरित करने का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु व्यवहार में यह पद्धति अवश्य लागू की जाती रही होगी (किन्तु इसका व्यवहार बहुत कम होता था)। 'सेलेक्शन्स फ्राम पेशवाज दफ्तर' (जिल्द ४३, पृष्ठ १०८) नामक ग्रन्थ में एक पत्र का हवाला दिया गया है जिसे प्रसिद्ध मन्त्री नाना फडनवीस ने पेशवा माधवराव को लिखा था। नाना फडनवीस ने माधवराव से स्थानान्तरण के लिए दिये गये आदेश को लौटाने के लिए आग्रह किया था। रामशास्त्री एक अत्यन्त पक्षपातरहित एवं कठोर जीवन के व्यक्ति थे। उन्हीं के न्यायालय से विवाद उठाकर किसी अन्य न्यायाधीश के न्यायालय में ले जाने का आदेश माधवराव ने दिया था, क्योंकि विवादियों में एक को भय था कि रामशास्त्री किसी एक विवादी का पक्ष करेंगे। मनु (८।१७४-१७५) का कथन है कि जो राजा अपनी प्रजा के विवादों को अन्यायपूर्वक तय करता है वह शत्रुओं द्वारा शीघ्र ही विजित हो जाता है और वह राजा, जो अपने मनोभाव को रोककर पक्षपातरहित झगडों का निपटारा करता है और शास्त्रविहित नियमों का पालन करता है, वह प्रजा के मन से उसी प्रकार मिल जाता है जिस प्रकार नदियाँ समुद्र से मिल जाती हैं। उचित न्याय करने एवं सम दृष्टि रखने से राजा को लौकिक एवं पारलौकिक लाभ प्राप्त होता है, अर्थात शास्त्रानुकूल निर्णय देने से उसे इस लोक में यश और परलोक में स्वर्ग प्राप्त होता है (बृहस्पति एवं नारद १।७४)।

अपराध वह क्रिया या अतिक्रम है जिससे कानून टूटता है और जन-दण्ड प्राप्त होता है। किन्तु सभी प्रकार के व्यवहार-भंगों से दण्ड नहीं मिलता, केवल थोडे ही ऐसे होते हैं। जो अतिक्रम अथवा भंग समाज की प्रचलित दशाओं में गडबडी उत्पन्न करते हैं, जिन्हें समाज, राजा या व्यवहार-विधि रोकना चाहती है, उन्हें ही अपराधों की संज्ञा दी जाती है। गडबडी अथवा अपकार किसी विशिष्ट क्रिया में नहीं, प्रत्युत उस क्रिया में निहित परोक्ष अथवा अप्रत्यक्ष व्यवहार में पाया जाता है। एक अतिक्रम कभी अपराध घोषित हो सकता है और वही किसी दूसरे समय अथवा किसी देश में अपराध नहीं भी कहा जा सकता। यथा भारतीय व्यवहार-विधि (इण्डियन पेनल कोड, परिच्छेद ४९७) में व्यभिचार अथवा बलात्कार अपराध माना जाता है, किन्तु वही इग्लैंड के कानून की दृष्टि में अपराध न होकर मात्र गलत आचार (सिविल राग) है।

बहुत-से अपराध एवं दोष पापों की श्रेणी में आते हैं और उनसे लौकिक दण्ड एवं धार्मिक अनुशासन (प्रायश्चित्त) प्राप्त होते हैं। इस विषय में देखिए मनु (९।२३६ एवं २४०), बृहस्पति एवं पैठीनसि (दण्डविवेक, पृ० ७६)। मेन ने अपनी पुस्तक 'ऐंश्येण्ट लॉ' (अध्याय १०, सन् १८६६ का सस्करण) में यूनान एवं रोम की व्यवहार-पद्धतियों की जाँच करके एक सामान्य बात कह देनी चाही है—"प्राचीन जातियों की दण्डविषयक विधि या कानून अपराध-सम्बन्धी कानून नहीं है, प्रत्युत वह अपकारों या दुष्टताओं से सम्बन्धित कानून है जिसे अंग्रेजी में टार्ट्स कहा जाता है। जिस

व्यक्ति का अपकार हुआ रहता है वह अपकारी के विरुद्ध एक साधारण आचार-सम्बन्धी क्रिया के रूप में विवाद खड़ा करता है और जयी होने पर क्षतिपूर्ति के रूप में धन पाता है। डा० प्रियनाथ सेन ने 'हिन्दू जरिस्प्रूडेंस' पर अपने 'टैगोर ला लेक्चर्स' (सन् १९१८ व्याख्यान १२) में एक तथ्य उपस्थित किया है कि मेन महाशय का यह सामान्यीकरण भारत के प्राचीन व्यवहार-शास्त्र पर नहीं लागू होता। हमने बहुत पहले ही देख लिया है कि राजा स्वयं अपनी ओर से कर्मों, कर्त्तों एवं अपराधों की छानबीन करा सकता है और यह स्पष्ट है कि चोरी, आक्रमण, व्यभिचार, बलात्कार, नर-हत्या के अपराधों में केवल धन देकर अन्याय-ग्रस्त व्यक्ति की क्षतिपूर्ति नहीं की जाती, प्रत्युत उसके साथ शारीरिक दण्ड भी दिया जाता है। इस विषय में देखिए मनु (८।२८७), याज्ञ० (२।२२२), बृहस्पति, कात्यायन (७८७) जहाँ यह व्यवस्था दी हुई है कि शरीर को घायल करने या अंगभंग करने के जुर्म में अपराधी को दण्ड के साथ घाव अच्छा करने के लिए व्यय करना पड़ता था और पीड़ित को सन्तोष देना पड़ता था। आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।९।२४।१ एवं ४) का कथन है कि क्षत्रिय के हत्ता को शत्रुता दूर करने के लिए (उसके सम्बन्धियों को क्षतिपूर्ति के रूप में) एक सहस्र गौएँ देनी पड़ती थीं और प्रायश्चित्त-स्वरूप एक बैल भी देना पड़ता था। छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार उन दिनों चोरी के अपराध में मृत्यु-दण्ड दिया जाता था। तैत्तिरीय संहिता (२।६।१०।२) में आया है कि वह जो ब्राह्मण को धमकी देता है उसे एक सौ देना पड़ता है, जो उसे पीट देता है उसे एक सहस्र देना पड़ता है। किन्तु यहाँ यह प्रकट नहीं हो पाता कि ये सौ या सहस्र की संख्याएँ दण्ड के रूप में थीं या केवल तुष्टि प्रदान के लिए। ऋग्वेद (२।३२।४ तैत्तिरीय संहिता ३।३।११।५) में कवि राका (पूर्णमासी के प्रतीक) की अभ्यर्थना करता है कि वह प्रसन्न होकर ऐसा वीर पुत्र दे जो शतदाय हो। सायण ने शतदाय को "प्रचुर दाम-युक्त या प्रचुर सम्पत्ति-युक्त" के अर्थ में लिया है, जो उपयुक्त जँचता है। तैत्तिरीय संहिता (३।३।११।५) के 'शतदाय वीरम्' का अर्थ यों कीथ ने लगाया है—'वह वीर जो हत्या किये जाने पर सौ मुद्राएँ दिला सके।' किन्तु यह युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि यह विचित्र-सा लगता है कि देवी से पुत्र के लिए अभ्यर्थना की जाय तो साथ-ही-साथ यह भी अभिलाषा कि उसकी हत्या होने पर इतना धन क्षतिपूर्ति में मिले।

अपराधों के लिए दण्ड की व्यवस्था के उपचारों के विषय में स्मृतिकार सतर्क थे, किन्तु उन्होंने किसी दण्ड-शास्त्र का निर्माण नहीं किया। जिसका अपकार होता है वह प्रतिशोध लेने की प्रबल इच्छा रखता है और अन्य लोग भी उसके साथ सहानुभूति रखते हैं। सभ्य देशों के लोग कानून को अपने हाथ में नहीं लेते, अतः राज्य का कर्तव्य होता है कि वह यथासम्भव अपराधी को उचित दण्ड देकर उन्हें अपकार के बदले में सन्तोष दे। याज्ञ० (२।१६) एवं नारद (१।४६) ने लिखा है कि जब कोई व्यक्ति अपनी हानि के विषय में बिना न्यायानुकूल आचरण किये अपकारी से कुछ वसूल करना चाहता है या सन्देह कर रहा है तो उसे दण्ड मिल सकता है और वह अपनी चाही हुई वस्तु भी नहीं प्राप्त कर सकता। सभी प्राचीन समाजों में प्रतिशोध की भावना पायी गयी है, और प्रतिशोध (दण्ड-उद्देश्य) का कानून भी पाया जाता है, यथा आँख के बदले आँख लेना एवं दाँत के बदले दाँत लेना। मनु (८।२८०), नारद (पारुष्य, श्लोक २५), याज्ञ० (२।२१५), विष्णुधर्मसूत्र (५।१९) एवं शंख-लिखित ने व्यवस्था दी है कि यदि हीन जाति का कोई व्यक्ति ब्राह्मण के किसी अंग को चोट पहुँचाता है तो उसका चोट पहुँचाने वाला अंग काट लेना चाहिए।

एक अन्य दण्ड-उद्देश्य यह था कि वैसा अपराध पुनः न होने पाये। अपराधी को दण्ड देकर अन्य लोगों के समक्ष उदाहरण रखा जाता था कि वे वैसी हिंसा अथवा अपराध करने से हिचकें। राजधर्म वाले अध्याय में हमने इस विषय पर लिखा है। समाज-रक्षा तथा समाज-गुण की स्थापना ही दण्ड का उद्देश्य था। शान्तिपर्व (१५।५ ६) में आया है कि राजदण्ड, यम-यातना एवं परलोक के भय से लोग पाप नहीं करते। यही बात मत्स्यपुराण (२२५।११ १०) ने भी कही

जाती है।[7] गौतम (११।२८) ने 'दण्ड' शब्द को 'दम्' धातु से निकाला है, जिसका अर्थ होता है रोकना या निवारण करना। मृच्छकटिक (अंक १०) में वसन्तसेना की तथाकथित हत्या के अपराध में चारुदत्त को जो दण्ड मिला उसकी घोषणा जल्लादों ने नागरिकों में की थी। एक अन्य दण्ड-उद्देश्य था पहले से ही प्रतिकार करना, अर्थात् यदि अपराधी को बन्दी बना लिया जाता है तो वह पुनः वही अपराध करने से रोक लिया जाता है या कम-से-कम कुछ दिनों तक उसी प्रकार के अपराध में वह लिप्त नहीं होता, किन्तु यदि उसे प्राणदण्ड मिलता है तो उसके अपराधों से छुटकारा मिल जाता है। एक अन्य उद्देश्य था सुधार या अपराधियों का परित्राण पाना। दण्ड एक प्रकार की पाप-निष्कृति भी है जो पापकर्ता को पापकर्म न करने की प्रेरणा देती है और उसका चरित्र सुधर जाता है। मनु (८।३१८=वसिष्ठ १९।४५) ने लिखा है कि जो लोग पाप करने के कारण राजा से दण्ड पाते हैं वे अच्छे कर्म करने वालों के समान पवित्र होकर स्वर्ग जाते हैं। मेधातिथि ने इसकी व्याख्या में लिखा है कि यह श्लोक केवल शारीरिक दण्ड के लिए ही प्रयोजित है न कि धन-सम्बन्धी दण्ड के लिए। आरम्भिक सूत्रों एवं मनुस्मृति से प्रकट होता है कि प्राचीन हिंसा-सम्बन्धी व्यवहार (कानून) अत्यन्त कठोर एवं निर्मम था। किन्तु याज्ञवल्क्य, नारद एवं बृहस्पति के कालों में वह अपेक्षाकृत कम कठोर होता चला आया और बहुधा बहुत-से अपराधों में आर्थिक दण्ड मात्र दिया जाने लगा। फाहियान (३९९-४०० ई०) ने भी मध्य देश में ऐसी स्थिति देखी थी। उसके ७०० वर्ष पूर्व प्रचलित कठोर दण्डों का वर्णन मेगस्थनीज ने किया है। इतिहास के विद्यार्थी दोनों कालों के इन विदेशियों के वर्णनों से परिचित होंगे। अशोक ने धौली के प्रस्तर-अभिलेख में कठोर दण्ड न देने की ओर संकेत किया है।

मनु (८।१२९), याज्ञ० (१।३६७) एवं बृहस्पति ने दण्ड की चार विधियाँ बतायी हैं, यथा मधुर उपदेश, कड़ी झिड़की, शारीरिक दण्ड एवं अर्थ-दण्ड। ये विधियाँ पृथक्-पृथक् या अपराध की गुरुता के अनुसार साथ ही प्रयुक्त हो सकती थीं। प्रथम विधि में इस प्रकार कथन होता है—'तुमने उचित नहीं किया है।' दूसरी विधि का रूप यों है—'तुम्हें धिक्कार है, क्योंकि तुम पापी हो और दुष्ट कर्म करने वाले एवं अधर्म के अपराधी हो।' बृहस्पति का कथन है कि गुरुजनों, पुरोहितों एवं पुत्रों को शाब्दिक झिड़की नहीं दी जाती, बल्कि अन्य अभियोगियों को ऐसा कहा जाता है या अर्थ-दण्ड दिया जाता है तथा जो लोग महापातकों के अपराधी होते हैं उन्हें शारीरिक दण्ड दिया जाता है। शाब्दिक उपदेश अथवा झिड़की रूप दण्ड की दो विधियाँ यह स्पष्ट करती हैं कि प्राचीन लेखक इस बात पर ध्यान देते थे कि अति भावुक लोगों के लिए तथा भावुक समाज के बीच में दण्ड के उद्देश्य की सफलता के लिए शाब्दिक धिक्कार पर्याप्त है। बृहस्पति का कथन है कि प्रथम दो विधियों का कार्यान्वित करना ब्राह्मण (न्यायाधीश के पद पर नियुक्त) का विशेषाधिकार था, किन्तु अर्थ-दण्ड एवं शारीरिक दण्ड देना राजा का कार्य था (न्यायाधीश के कहने पर, 'प्राड्विवाकमते स्थित')। मृच्छकटिक (९) में यह बात स्पष्ट होती है—'हमें केवल निर्णय की घोषणा करने का अधिकार है, अन्य बातों के विषय में राजा ही अन्तिम अधिकारी है' (निर्णये वयं प्रमाणं शेषे तु राजा)। गौतम (१२।५१), वसिष्ठ (१९।९), मनु (७।१६, ८।१२६), याज्ञ० (१।३६८=वृद्ध-हारीत ७।१९५-१९६), बृहत्पराशर (पृ० २८४) एवं कौटिल्य (४।१०) ने व्यवस्था दी है कि दण्ड देना अपराधी की मनोवृत्ति, अपराध-स्वरूप, काल एवं स्थान, शक्ति, अवस्था, आचार (कर्तव्य), विद्वत्ता एवं धन-स्थिति पर निर्भर रहता था (अर्थात् इन बातों पर विचार करके दण्ड-

७ राजदण्डभयादेके पापा पापं न कुर्वते। यमदण्डभयादेके परलोकभयादपि॥ परस्परभयादेके पापा पापं न कुर्वते। दण्डस्यैव भयादेते मनुष्या वर्त्मनि स्थिता॥ शान्तिपर्व (१५।५-६)। और देखिए मत्स्यपुराण (२२५।१६-१७)।

निर्धारित होता था) और यह भी देखा जाता था कि अपराध की पुनरावृत्ति तो नहीं हुई है। इसका अर्थ यह है कि धर्मशास्त्र की दृष्टि में एक ही प्रकार का दण्ड एक ही प्रकार के अपराध में सबके लिए समान नहीं था, प्रत्युत यह देखा जाता था कि अपराधी के पिछले कार्य कैसे हैं, उसकी विशेषताएँ क्या हैं, उसकी शारीरिक एवं मानसिक स्थिति क्या है। धर्मशास्त्र सदैव पारम्परिक की परिस्थितियों पर ध्यान देता था। किन्तु कौटिल्य (१।४) का कुछ और ही मत है, 'वह राजा जिसका नियन्त्रण एवं दण्ड बहुत कठोर है उससे उसकी प्रजा घृणा करती है, जो राजा मृदु दण्ड देता है उसे लोग अवमानना की दृष्टि से देखते हैं, किन्तु जो राजा अपराधियों की पात्रता के अनुसार दण्ड देता है वह आदर का पात्र होता है। कुछ धर्मशास्त्रकारों ने जो मृदु दण्ड के पक्षपाती हैं कर्मविपाक का सिद्धान्त निर्धारित किया है (अर्थात् जो व्यक्ति पापी होते हैं वे दूसरे जन्म में रोगी, शारीरिक अङ्ग-भङ्ग के दोषी, नीच या गन्दे पशु-पक्षियों की योनि को प्राप्त होते हैं)। देखिए मनु (१२।४९-५२), याज्ञ० (३।२०७-२१६), विष्णुधर्मसूत्र (४४-४५)। इस सिद्धान्त के विषय में हम पातकों एवं प्रायश्चित्तों के प्रकरण में पढ़ेंगे। गौतम (१२।४८) ने दण्ड देते समय उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त विद्वान् ब्राह्मणों की सभा से भी पूछ लेने की सम्मति दी है। दण्डविवेक (पृ० ११) ने (एक उद्धरण द्वारा) दण्ड देने के समय विचार करने के लिए ये बातें कही हैं—अपराधी की जाति (मनु ८।३३७-३३८, चोरी में), विवाद का मूल्य, सीमा या मात्रा (मनु ८।३२), अपराध के अनुकूल उपयोग या उपयोगिता (मनु ८।२८५), वह व्यक्ति जिसके प्रति अपराध हुआ हो (मूर्ति, मन्दिर, राजा या ब्राह्मण), अवस्था (दण्ड देने की) योग्यता, गुण, काल, स्थान, अपराध-स्वरूप (वह कितनी बार हुआ है)। और देखिए राजतरंगिणी (८।१५८)।

आजकल अपराध-शास्त्र सम्बन्धी नयी विचार हैं। कुछ लोगों का कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति अपराध करने या न करने में स्वतन्त्र है, वह अपने कार्य का स्वयं उत्तरदायी है। किन्तु कुछ लोगों का कथन है (और ये लोग नीयतिवादी हैं) कि अपराध-कार्य के कारण हैं जैव (बायोलॉजिकल), शारीरिक (फिजियोलॉजिकल), मानसिक (साइकोलॉजिकल) तथा सामाजिक (सोशियोलॉजिकल) दशाएँ। ये लोग निश्चिततावाद या भाग्यवाद के पोषक हैं। प्राचीन भारतीय लेखक इन पचड़ों में नहीं पड़ते। जब वे ऐसा कहते हैं कि काल, स्थान तथा अन्य परिस्थितियों पर ध्यान देना चाहिए तो वे उपर्युक्त दूसरे मत की ओर संकेत करते हैं।

अर्थ-दण्ड नियत या अनियत (परिवर्तनशील) होता है। यह काकिणी से लेकर सम्पूर्ण धन के जब्त करने तक हो सकता है। नियत अर्थ-दण्ड या जुरमाना तीन प्रकार का था—प्रथम साहस, मध्यम साहस एवं उत्तम साहस (सबसे अधिक)। इनकी व्याख्या कई प्रकार से की गयी है। शंख-लिखित के अनुसार उनकी सीमाएँ ये हैं—(१) २४ पणों से ९१ पणों तक, (२) २ से ५ तक तथा (३) ६ से १ तक। किन्तु यह विवाद-धन या क्षति के अनुपात में होता है। मनु (८।१३८—विष्णुधर्मसूत्र ४।१) के मत से ये क्रमशः ये हैं—२५०, ५ तथा १ पण। याज्ञ० (१।३६६) में उनका क्रम यों है—२७०, ५४० एवं १०८० पण। मिताक्षरा का कथन है कि मनु की क्रम संख्याएँ बिना किसी निश्चित उद्देश्य के किये गये अपराधों के लिए हैं। नारद (साहस ७-८) के अनुसार सबसे कम कठोर साहस के लिए १ पणों, सबसे कम मध्यम साहस के लिए ५ पणों तथा सबसे कम गम्भीर साहस के लिए १ पणों का दण्ड समझना चाहिए (अन्तिम में मृत्यु-दण्ड, सम्पूर्ण सम्पत्ति की जब्ती, देश-निष्कासन, दाग से जलाना अथवा अंगविच्छेद तक हो सकता है)। कात्यायन (४० ।४९१) का निम्न कथन है—स्मृतिकारों ने जो अर्थदण्ड लगाया है वह ताम्रपणों में या उनके बराबर अन्य सिक्कों में दिया जा सकता है, जब दण्ड १/४ या १/२ माष है तो वह सोने का माष है, जब वह माषों (बहु) में है तो उसे चाँदी में समझना चाहिए और जब वह कृष्णला में घोषित किया जाय तब भी उसे चाँदी में समझना चाहिए। एक माष बराबर होता है १/२ कार्षापण

के।[८] स्त्रियो पर अपेक्षाकृत कम दण्ड लगता था। कात्यायन (४८७) ने लिखा है—एक ही प्रकार के अपराध मे पुरुष की अपेक्षा स्त्री को आधा दण्ड देना पडता है। मृत्यु-दण्ड न देकर उसका कोई अग काट लिया जाता है। कौटिल्य (३।३) के मत मे स्त्री १२ वर्षो मे तथा पुरुष १६ वर्षो मे वयस्क हो जाते हैं और लेन-देन कर सकते हैं। यदि वे वयस्क होने पर नियम का उल्लघन करते है तो स्त्री को १२ पण तथा पुरुष को उसका दूना दण्ड देना पडता है। अगिरा (मिताक्षरा द्वारा याज्ञ० ४।२४३ मे उद्धृत) का कहना है कि अस्सी वर्षीय बूढे, सोलह वर्ष से नीची अवस्था वाले बच्चे, स्त्रियो एव रोगग्रस्त पुरुषो को आधा प्रायश्चित्त करना पडता है। इसी स्थान पर शख का उद्धरण है कि पाँच वर्ष से कम अवस्था का बच्चा किसी क्रिया द्वारा न तो अपराध करता है और न पाप, उसे न तो दण्ड मिलता है और न प्रायश्चित्त करना पडता है।[९] आधुनिक भारतीय दण्ड-विधान मे सात वर्ष तक के बच्चे द्वारा अपराध नही माना जाता। दण्ड की गम्भीरता जाति पर भी निर्भर थी।

चोरी के मामलो मे वैश्य, क्षत्रिय एव ब्राह्मण को शूद्र की अपेक्षा क्रम से दूना, चौगुना तथा अठगुना दण्ड देना पडता था, क्योकि उन्हे अपेक्षाकृत अपराध की गुरुता अधिक ज्ञात रहती है (गौतम १२।१५।१६, मनु ८।३३८-३३९)। इसे कात्यायन (४८५) एव व्यास ने सभी अपराधो मे सामान्य नियम के रूप मे माना है। मानहानि के मामलो मे दण्ड के लिए उच्चतर जातियो के साथ पक्षपात पाया जाता है। गौतम (१२।१, ८-१२), मनु (८।२६७-२६८=नारद, पारुष्य १५-१६), याज्ञ० (२।२०६।२०७) का मत है कि क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र जब ब्राह्मण की अवमानना (मानहानि) करते हैं तो उन्हे क्रम से १००, १५० पणो का दण्ड तथा शारीरिक दण्ड (जीभ काट लेना) मिलता है, जब ब्राह्मण किसी क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र की मानहानि करता है तो उसे क्रम से ५०, २५ या १२ पण देने पडते हैं (गौतम १२।१३ के अनुसार अन्तिम के लिए कुछ भी नही देना पडता)। व्यभिचार एव बलात्कार के मामले मे अपराधी की जाति एव तत्सम्बन्धी नारी पर ध्यान दिया जाता था। अपनी जाति की नारी के साथ व्यभिचार करने पर याज्ञ० (२।२८६) ने सबसे अधिक दण्ड-व्यवस्था दी है, यदि अपराधी ऊँची जाति का है तो दण्ड मध्यम होता है, किन्तु यदि पुरुष नीच जाति का हो तो मृत्यु-दण्ड होता है और स्त्री के कान काट लिये जाते है। पीडा देने, अग-भग करने या मार डालने पर शारीरिक दण्ड कई विधियों से दिये जाते थे। प्रथम प्रकार के अपराध मे निम्नाकित दण्डो की व्यवस्था थी, बन्दी बनाना, पीटना, हथ-

८ दण्ड वाले सिक्कों की धातु के विषय मे कई मत हैं। विज्ञानेश्वर के मत से मनु (८।३७८) के दण्ड-सबधी पण ताम्र के हैं। भारुचि (सरस्वतीविलास, पृ० १५०) के अनुसार ये सिक्के सोने के हैं। सरस्वतीविलास ने इस विषय मे लोकाचार को श्रेष्ठता दी है। व्यवहारमयूख (पृ० २५५) का कथन है कि जहाँ सिक्के का नाम नहीं है वहाँ उसे पण समझना चाहिए एव चाँदी का मानना चाहिए और उसे एक कर्ष की तोल का समझना चाहिए तथा एक कर्ष बराबर होता है १/४ पल के। बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ९९) का कथन है कि मनु (८।१३२-१३६) की तालिका झाँझी मे सलग्न धूलि-कण से लेकर कार्षापण तक दिव्यो एव दण्ड के सबन्ध मे लागू होती है। अपराधो एव दण्डों के विषय मे चालुक्य विक्रमादित्य चतुर्थ (शक स० ९३४) के गदग अभिलेख ने प्रकाश डाला है, जिसके अनुसार मान-हानि, आक्रमण, छुरा निकालने, छुरा भोंकने एव व्यभिचार (कुमार द्वारा) के मामले में क्रम से २ पण, १२ पण, ३ गद्याण, १२ गद्याण एव ३ गद्याण दण्ड-रूप में देने पडते थे (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द २०, पृ० ६४)।

९ नारद (४।८५) के अनुसार बच्चा शिशु कहलाता है और वह आठ वर्ष तक गर्भस्थ-जैसा माना जाता है तथा १६ वर्षो तक बाल या पोगण्ड कहलाता है।

कड़ी या बेड़ी पहनाना, उपहास कराना (सिर मुंडा देना, अपराधी को साथ लेकर ढोढ़ी पिटवाना, गधे पर बैठाकर चारों ओर घुमाना), उस पर अपराधों के चिह्न गोद देना। मनु (८।१२५) ने तीन उच्च जातियों के दस अंगों पर दण्ड देने की व्यवस्था दी है, यथा—गुप्तांग, पेट, जिह्वा (पूरी या आधी), हाथ, पाँव, आँखें, नाक, कान, धन एवं सम्पूर्ण शरीर पर, किन्तु ब्राह्मण को इस प्रकार के दण्ड न देकर देश से निकाल देते थे। बृहस्पति ने इस सूची में परदन, अँगूठा एवं तर्जनी, मस्तक, अधर, शिश्न, मांस, नितम्ब एवं आधा पाँव भी जोड़ दिया है और सम्पत्ति एवं सम्पूर्ण शरीर को छोड़ दिया है। गौतम (१२।४६), कौटिल्य (४।८), मनु (८।१२५, ३८०-३८१), याज्ञ० (१।२७), नारद (साहस ९-१०), विष्णु (५।१-८), बृहस्पति, वृद्ध-हारीत (७।१९१) ने व्यवस्था दी है कि किसी भी अपराध में ब्राह्मण को मृत्यु-दण्ड या शारीरिक दण्ड नहीं दिया जाना चाहिए, यदि वह मृत्यु-दण्ड वाला अपराध करे तो उसका सिर मुंडा देना चाहिए, उसे देश-निकाला (नगर-निष्कासन, नारद के मत से) देना चाहिए, उसके मस्तक पर उसके द्वारा किये गये अपराध चिह्न का दाग लगाकर गधे पर चढ़ाकर उसे घुमाना चाहिए। यम (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ३१७) एवं व्यवहारप्रकाश (पृ० ३९१) ने व्यवस्था देते हुए कहा है कि ब्राह्मण को शारीरिक दण्ड नहीं देना चाहिए, उस अपराधी को किसी एकान्त स्थान में बन्द रखना चाहिए और उसे केवल साधारण जीविका का साधन प्रदान करना चाहिए, या राजा उससे एक मास या एक पक्ष तक कारबाई का कार्य करने को बाध्य करे या उससे ऐसा कार्य ले जो ब्राह्मण के लिए योग्य न हो। मिताक्षरा (याज्ञ० २।२७०) ने कहा है कि यदि अपराधी (चाहे वह ब्राह्मण हो या अन्य कोई) ने महान् अपराधों के कारण प्रायश्चित्त न किया हो तो उसके मस्तक पर स्त्री के गुप्तांगों (गुरु की शय्या अपवित्र करने के कारण) का चिह्न, मद्यपात्र (सुरा पीने के कारण) का चिह्न, कुत्ते के पैर का चिह्न (चोरी के अपराध में) तथा सिरहीन शव का चिह्न (ब्रह्महत्या के अपराध में) दाग देना चाहिए। इस विषय में देखिए राजतरंगिणी (४।९१-९२)। और भी देखिए गौतम (१२।४७) एवं मनु (९।२४१)। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।१०।२७।१६-१७) का कथन है कि यदि ब्राह्मण हत्या, चोरी करता तथा किसी की सम्पत्ति बलवश छीन लेता था तो जीवन-भर उसे कपड़े से आँख बन्द रखनी पड़ती थी (किन्तु इन अपराधों में शूद्र को मृत्यु-दण्ड मिलता था)। और देखिए वृद्ध-हारीत (७।२०-२१)। ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि ब्राह्मण के मृत्यु-दण्ड के सम्बन्ध में सभी स्मृतिकार समान मत रखते हैं। कात्यायन (८०९) का कहना है कि भ्रूण-हत्या (गर्भपात कराना), सोने की चोरी, ब्राह्मण स्त्री की किसी तीक्ष्ण हथियार से हत्या या पतिव्रता स्त्री की हत्या के अपराधों में ब्राह्मण को भी मृत्यु-दण्ड दिया जा सकता है। कौटिल्य (४।११) ने कहा है कि राज्य-कामुक, अन्तःपुरप्रधर्षक, राजा के विरोध में जंगली जातियों एवं शत्रुओं को उभाड़ने वाले, क्रान्ति करने वाले ब्राह्मण को जल में डुबा देना चाहिए। मृच्छकटिक नाटक में ब्राह्मण चारुदत्त को राजा पालक ने मृत्यु-दण्ड की आज्ञा दी थी। जातकों में ब्राह्मण के मृत्यु-दण्ड का उल्लेख मिलता है (फिक 'सोशल ऑर्गनाइजेशन', पृ० २१२)।

शान्तिपर्व (अध्याय २६८) में राजा द्युमत्सेन एवं उनके पुत्र राजकुमार सत्यवान् के बीच मृत्यु-दण्ड के विषय में हुए मनोरंजक वाद-विवाद की चर्चा पायी जाती है। इस बातचीत में मृत्यु-दण्ड के विरोधियों का मत व्यक्त है। राजकुमार ने मृत्यु-दण्ड का विरोध करते हुए तर्क दिये हैं कि गम्भीर अपराधी में भी दण्ड हलका होना चाहिए, क्योंकि जब डाकुओं को मृत्यु-दण्ड दिया जाता है तो बहुत-से निरपराधियों की हानि होती है, यथा—उनकी स्त्री, माता-पिता आदि की। अतः जो अपराधी पुरोहितों के समक्ष पुनः अपराध न करने की सौगन्ध खा लेते हैं तो प्रायश्चित्त के उपरान्त उन्हें छोड़ देना चाहिए, यदि बड़े व्यक्ति कुमार्ग में जायँ तो उनको दण्ड उनकी मर्यादा के अनुसार ही देना चाहिए। राजा ने प्रत्युत्तर दिया कि प्राचीन काल में जब लोग सत्यवादी एवं मृदु स्वभाव के थे तो 'धिक्कार' शब्द ही दण्ड-रूप में पर्याप्त था और वाणी का प्रतिरोध एवं भर्त्सना के साथ धन आता था, किन्तु

कलियुग में मृत्यु-दण्ड एवं अन्य शारीरिक दण्ड आवश्यक हो गया है, यहाँ तक कि कुछ लोग मृत्यु-दण्ड से भी भय नहीं खाते।

प्रत्येक दण्ड-विधि के विषय में कुछ कहना आवश्यक है। बड़े-बड़े गम्भीर अपराधों में भी मृत्यु-दण्ड का भर-सक त्याग किया जाता था (कामन्दकीय नीतिशास्त्र (१४।१६, शक्र ४।१।९३), किन्तु राज्य उलट देने के मामले में ऐसा नहीं होता था। महापातकों में ब्राह्मणों के अतिरिक्त सभी को मृत्यु-दण्ड मिलता था (विष्णुधर्मसूत्र ५।१)। किन्तु मनु (९।२३६) के अनुसार प्रायश्चित्त न करने पर ही ऐसा किया जाना चाहिए। तीक्ष्ण हथियार से मार डालने पर ही मृत्यु-दण्ड देना चाहिए, ऐसा कौटिल्य (४।११) ने कहा है। वृद्ध-हारीत (७।१९०) ने आग लगाने वाले, विष देने वाले, हत्यारे, डकैतों, दुराचारियों, शठों, महापातकियों के लिए मृत्यु-दण्ड की व्यवस्था दी है। कई प्रकार से मृत्यु-दण्ड दिया जाता था, विष देकर, हाथी के पैर से कुचलवा कर, तीक्ष्ण हथियार (तलवार) से, जलाकर या डुबाकर। रात्रि में सेंध लगाकर चोरी करने पर पहले चोर के हाथ काटकर शूली पर चढ़ा दिया जाता था (मनु ९।२७६)। यही बात याज्ञ० (२।२७३) ने उनके लिए कही है जो किसी दूसरे को बन्दी बनाते हैं, घोड़ा या हाथी चुराते हैं या बलपूर्वक किसी को मार डालते हैं। हारीत (७।२०३) ने ब्रह्म-हत्या करने, स्त्री, बच्चों या गाय को मारने पर शूली देने की बात कही है। मराठों के काल तक हाथी के पाँवों तले कुचलकर मार डालने की प्रथा प्रचलित थी। दण्डविवेक (पृ० २०) के अनुसार शुद्ध मृत्यु-दण्ड दो प्रकार का था, **अविचित्र** (जब अपराधी का सिर काट लिया जाता था) तथा **चित्र** या **विचित्र** (जब अपराधी जला दिया जाता था या उसे शूली पर चढ़ा दिया जाता था), वह मृत्यु-दण्ड, जिसमें हाथ या पैर या अंगभंग करके तब मारा जाता था, **मिश्र** कहलाता था। मनु ने शुद्ध मृत्यु-दण्ड उन लोगों के लिए प्रयुक्त माना है जो चोरों की जीविका चलाकर उनकी सहायता करते थे या उन्हें सेंध लगाने के यन्त्र देते थे या उन्हें छिपाकर रखते थे (९।२७१)। यदि हीन जाति का कोई व्यक्ति ऊँची जाति की स्त्री के साथ उसकी सहमति से या असहमति से व्यभिचार करता है या किसी युवती को ले भागता है तो उसे मृत्यु-दण्ड मिलता था (मनु ८।३६६, याज्ञ० २।२८६-२८८-२९४)। वसिष्ठ (२१।१-५) ने उस शूद्र, वैश्य या क्षत्रिय के लिए, जो ब्राह्मण स्त्री के साथ व्यभिचार करता है, भयानक मृत्यु-दण्ड की व्यवस्था दी है, उन्हें क्रमशः **वीरण** घास, लाल **दर्भ** घास एवं सरकंडे के पत्रों से ढककर जला डालना चाहिए। इसी प्रकार उन्होंने शूद्र को क्षत्रिय या वैश्य स्त्री के साथ व्यभिचार करने तथा वैश्य को क्षत्रिय स्त्री के साथ व्यभिचार करने पर जलाकर मार डालने की व्यवस्था दी है। सहमति वाली स्त्री को वसिष्ठ (२१।१-३) ने माथा मुड़वा और सिर में घृत लगवा कर, गधे पर नंगा करके बैठाने एवं घुमाकर मृत्यु-यात्रा के लिए भेज देने की व्यवस्था दी है। गौतम (२३।१४) एवं मनु (८।३७१) ने अपने से छोटी जाति के व्यक्ति से व्यभिचार करने पर उस स्त्री को, जिसे रूप का गर्व है या जो माता-पिता के धन पर गर्व करती है, कुत्तों से कटवा कर मार डालने को कहा है। शंख ने हीन जाति के पुरुष को उसी प्रकार मार डालने को कहा है तथा इस प्रकार की स्त्रियों को जलाकर मार डालने की व्यवस्था दी है। वृद्ध-हारीत (७।१९२) ने व्यभिचारिणी या गर्भपात-कारिणी स्त्री को पति द्वारा नाक-कान या अधर कटवा कर निकाल देने को कहा है, श्लोक २२०-२२१ में आया है कि व्यभिचारिणी नारी को कटाग्नि (सरपत की अग्नि) में जला डालना चाहिए। आगे चलकर ये भयानक दण्ड कुछ हलके कर दिये गये। मनु (९।२७९) ने जलाशय, झील या बाँध तोड़ देने (जिससे कि वे सूख जायँ) वाले को डुबाकर मृत्यु-दण्ड देने को कहा है और किसी स्त्री ने अपना बच्चा मार डाला हो, या किसी पुरुष को मार डाला हो, या बाँध या जलाशय तोड़ दिया हो, उसे गरदन में पत्थर बाँध कर डुबा देने को कहा है (यदि वह गर्भवती न हो तो)। यही बात याज्ञ० (२।२७८) ने भी कही है। जो स्त्री विष से किसी को मार डालने या आग लगाने की अपराधिनी है, या जिसने पति, गुरुजनों एवं अपने बच्चे को मार डाला है, (यदि वह उस समय गर्भवती नहीं है तो) याज्ञ० (२।२७९=मत्स्यपुराण २२७।२००) के अनुसार उसे नाक, अधर,

कान काटकर बैलों के सींगों में बाँधकर लहू-लुहान करते हुए मार डालना चाहिए।[1]" याज्ञ० (२।२८२) ने बड़ी सेना, बड़ी जनसंख्या वाले गाँव, चरागाहों को जला डालने तथा सम भूमि को तोड़ डालने वाला या राजपत्नी-दूषक को घास में रखकर जला डालने को कहा है। नारद (पारुष्य ३१) के मत से जो राजा पर, भले ही उसी का दोष हो, हथियार से चोट करता है, उसे काटकर आग में भून डालना चाहिए। मनु (८।२७२) नारद (पारुष्य २४) विष्णुधर्मसूत्र (५।२४) ने व्यवस्था दी है कि यदि कोई शूद्र ब्राह्मणों को धर्म की शिक्षा देने की अहम्मन्यता प्रदर्शित करे तो उसके मुँह एवं कानों में खौलता हुआ तेल डाल देना चाहिए।

चोरों, सेंधकारों एवं गाँठ-कतरों के विषय में हाथों, पाँवों या अंगुलियों को काटकर दण्ड देने की व्यवस्था थी (मनु ९।२७६, २७७; नारद-परिशिष्ट १२; याज्ञ० २।२७४)। जब कोई शूद्र गम्भीर आक्षेप लगाकर ब्राह्मण या क्षत्रिय की अवमानना करता था (आपस्तम्बधर्मसूत्र २।१०।२७।१४; मनु ८।२७०; एवं नारद-पारुष्य २२) या जब वह द्विजों के साथ वेद का उच्चारण करता था (गौतम १२।४) या जब वह राजा को गाली देता था (नारद-पारुष्य ३) या जब राजा को न पचने वाली गाली बात बार-बार कहता था या राजा की गुप्त नीति का भेद खोल देता था तब उसकी जीभ काट ली जाती थी (याज्ञ० २।३०२)। जब कोई शूद्र उच्च जाति की स्त्री के पास मैथुन के लिए पहुँचता था (गौतम १२।२) या कोई व्यक्ति पर-नारी से बलात्कार करता था (वृद्ध-हारीत ७।२ १) तो उसकी जननेन्द्रिय काट ली जाती थी। इसी प्रकार उसके साथ भी किया जाता था जो माता, मौसी, चाची, बहिन, मित्र या शिष्य की स्त्री, बेटी, पतोहू, गुरु-स्त्री, शरणार्थी स्त्री, रानी, संन्यासिनी, धाई (शिशुपालिनी) या किसी भी पतिव्रता नारी या किसी उच्च वर्ण की नारी के साथ बलात्कार करता था (नारद, स्त्रीपुंसयोग ७३-७५)। यदि कोई कसाई तौल या वर्जित मांस (यथा—कुत्ते का मांस) बेचता था तो उसके नाक, कान, हाथ काट लिये जाते थे (याज्ञ० २।२९७)। दागने के बारे में देखिए गौतम (१२।४७) बौधायनधर्मसूत्र (१।१।१९) नारद (साहस १) मनु (९।२३७—मत्स्यपुराण २२७।१६) विष्णुधर्मसूत्र (५।३-७)। दण्डविवेक (पृ० ४७) के मत से जब प्रायश्चित्त नहीं किया जाता था या जान-बूझकर अपराध किया जाता था तो दाग लगाया जाता था। इस विषय में और देखिए याज्ञ० (२।२ २।२९४) एवं दक्ष (७।३३) राजतरंगिणी (६।१०८ ११२)। दण्डनीतिप्रकरण में केशव पण्डित ने (पृ० ९) मन्त्र पण्डित की वैजयन्ती का उद्धरण देते हुए बताया है कि ब्राह्मणों के लिए चिह्नों के रूप में तथा अन्य लोगों के लिए लोह-शलाका को लाल करके दाग लगाया जाता था।

मनु (७।३७) ने सिर मुंडन उस स्त्री के लिए उचित माना है जो किसी कुमारी को अपवित्र कर देती है।

१. यह एक सामान्य नियम था कि किसी भी प्रकार स्त्रियों को नहीं मारना चाहिए। हमने इस विषय में इस ग्रंथ के द्वितीय भाग में पढ़ लिया है। किन्तु इस विषय में स्त्रियों के कुछ अपराध अपवाद थे और उनके विषय में भी वसिष्ठ (२१।१) एवं याज्ञ० (३।२९) ने कुछ निष्कर्ष दिया है, यथा—स्त्रियाँ, जब कि स्त्री किसी नीच जाति के पुरुष के संसर्ग से गर्भवती हो जाय या पति को मार डाले या गर्भपात करे। मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२८६) के मत से स्त्री को मृत्यु-दण्ड देने के कारण राजा को प्रायश्चित्त करना पड़ता था। अठारहवीं शताब्दी में पेशवा के प्रसिद्ध न्याया-धीश रामशास्त्री ने ब्रह्म-हत्या की अपराधिनी एक स्त्री को तीर्थ-यात्रा एवं नासिक के पास त्र्यम्बकेश्वर पर्वत की परिक्रमा करने के प्रायश्चित्त की न्यायालय-आज्ञा दी थी। इण्डियन क्रिमिनल प्रोसीजरकोड (परिच्छेद ३८२) में भी आया है—यदि मृत्यु-दण्ड की अपराधिनी गर्भवती है तो हाईकोर्ट समय को स्थगित कर सकता है और यदि वह उचित समझे तो, मृत्यु-दण्ड के बजाय आजन्म कारावास दण्ड दे सकता है।

नारद (साहस १०) ने ऐसा उस ब्राह्मण के लिए लिखा है जो जाति के कारण मृत्यु-दण्ड नहीं पाता तथा शंख-लिखित ने (अपरार्क पृ० ८०७) उसके लिए, जो राजपुरुषों, ब्राह्मणों एवं गुरुजनों की अवमानना करता है। और देखिए मेगस्थनीज़ (फ्रैगमेण्ट्स २७, पृ० ७२)।

आजीवन बन्दीगृह-सेवन का दण्ड किसी की आँखें निकाल लेने (विष्णु० ५।७१) या तीन बार से अधिक वही अपराध करने (शुक्र ४।१।८८) पर मिलता था। विष्णुधर्मसूत्र (५।१०५) ने उस स्त्री को, जो जान-बूझकर ऋतुमती की अवस्था में उच्च वर्णवालों को छूती है, कोड़ा लगाने को कहा है। यह दण्ड दासों, आश्रितों, स्त्रियों, अल्पवयस्कों, पागलों, बूढ़ों, दरिद्रों तथा रोगियों को भी अपराध करने पर दिया जाता था।

देश-निष्कासन का दण्ड मृत्यु-दण्ड पाने वाले ब्राह्मणों को दिया जाता था (गौतम १२।४४, मनु ९।२४ एवं ८।३८०, विष्णुधर्मसूत्र ५।३ एवं ८, बौधायनधर्मसूत्र १।१०।१९, याज्ञ० २।२७०)। देश-निष्कासन के साथ कभी-कभी दाग भी लगा दिया जाता था। देश-निष्कासन घूस लेने पर (याज्ञ० २।२३९), ब्राह्मणों द्वारा कूट साक्ष्य (झूठी गवाही) देने पर (याज्ञ० २।८१), व्यापारियों के धन का गबन करने तथा किसी संघ या ग्राम के स्वीकृत नियमों का उल्लंघन करने पर (याज्ञ० २।१८७, मनु ८।२१९, वि० ध० सू० ५।१६७-१६८), गलत पासा फेंकने पर (याज्ञ० २।२०२, नारद, द्यूतसमाह्वय ६), ब्राह्मण द्वारा गम्भीर अपराध किये जाने पर (शान्तिपर्व १४।११६) किया जाता था। शुक्र (४।१।९८-१०८) में इसकी लम्बी सूची है।

सम्पूर्ण सम्पत्ति की जब्ती निम्न अपराधों में होती थी, ब्राह्मणों के अतिरिक्त (जब वे अनजाने ऐसा करते थे) अन्य लोगों द्वारा महापातक करने पर (मनु ९।२४२), कूट साक्ष्य देने पर एवं सभ्यों द्वारा घूस लेने पर (वि० ध० सू० ५।१७९-१८०)। नारद (प्रकीर्णक, १०-११) ने व्यवस्था दी है कि सम्पूर्ण सम्पत्ति की जब्ती पर अपराधियों के यन्त्र, यथा सैनिकों के हथियार, शिल्पकारों के औज़ार, नर्तकियों के आभूषण, संगीतज्ञों के वाद्ययन्त्र आदि नहीं छीनने चाहिए। यही बात शंख-लिखित (व्यवहाररत्नाकर पृ० ६५६) में भी दी हुई है। दण्ड की वृद्धि एक से अधिक बार अपराध करने पर होती थी। वि० ध० सू० (३।९३) ने लिखा है कि दूसरी बार अपराधी को नहीं छोड़ना चाहिए (पहली बार झिड़की देकर छोड़ा भी जा सकता था)। कौटिल्य (४।१०), मनु (९।२७७), याज्ञ० (२।२७४), वि० ध० सू० (५।१३६) में जो आया है वह एक समान ही है। कौटिल्य का कहना है कि यदि अपराधी ने किसी पवित्र स्थान में पहली बार चोरी की है या वह जेबकतरा है या उसने छत तोड़कर चोरी की है तो उसकी तर्जनी एवं अँगूठा काट लेना चाहिए या उस पर ५४ पण दण्ड लगाना चाहिए, दूसरी बार ऐसा करने पर सब अँगुलियाँ काट ली जायँ या १०० पण दण्ड दिया जाय, तीसरी बार का दण्ड है दाहिना हाथ काट लिया जाना या ४०० पण अर्थ-दण्ड लगाना तथा चौथी बार मृत्यु-दण्ड, जिस रूप में राजा उचित समझे। देखिए व्यभिचार के लिए ऐसा ही आपस्तम्बधर्मसूत्र में। यदि कोई व्यक्ति किसी को मारने या घायल करने की दुरभिसंधि करे तो किसी एक व्यक्ति द्वारा किये जानेवाले अपराध का दूना दण्ड लगता है (कौटिल्य ३।९, याज्ञ० २।२२१ एवं वि० ध० सू० ५।७३)।

कौटिल्य (४।४) ने जादू-टोने द्वारा धर्मविरुद्ध प्रेम-स्थापन के मामले का पता चलाने के लिए गुप्तचरों के प्रयोग की व्यवस्था दी है। उनका कहना है कि ऐसा जादू-टोना करने वाले को देश-निष्कासन का दण्ड देना चाहिए और यही व्यवहार उनके साथ भी होना चाहिए जो इस क्रिया द्वारा अन्य लोगों को क्लेश या चोट पहुँचाते हैं। पेशवाओं के काल में भी डाइनों, भूत-प्रेत करने वालों को मृत्यु-दण्ड, सम्पत्ति की जब्ती, अंगुली काट लेने के दण्ड दिये जाते थे (सेलेक्शन्स फ्राम पेशवाज रेकर्ड्स, जिल्द ४३, पृष्ठ २५-२६ एवं पेशवाज डायरी, जिल्द २, पृ० ७)। इंग्लैण्ड में भी १८वीं शताब्दी के आरम्भ तक (डाइनों के रूप में) दुष्ट प्रकृति वाली स्त्रियों को मृत्यु-दण्ड दिया जाता रहा है। मनु (९।२९० = मत्स्यपुराण २२७।१८३) ने मन्त्र-बल से मारने वालों, जादू एवं भूत-प्रेत करने वालों पर केवल २०० पण

का हलका दण्ड लगाया है। मिताक्षरा एवं कुल्लूक का कहना है कि यदि आयु समाप्त हो जाय तो दण्ड मृत्यु-दण्ड तक पहुँच सकता है। बृहस्पति ने जड़ी-बूटियों से गर्भपात सिद्ध करनेवालों के लिए देश-निष्कासन का दण्ड भी व्यवस्था दी है।

कौटिल्य (२।५) ने व्यवस्था दी है कि राजधानी में स्त्रियों एवं पुरुषों के लिए अलग-अलग एवं सुरक्षित प्रवेशद्वार वाले बन्दीगृहों की योजना होनी चाहिए। उन्होंने (२।३६) यह भी कहा है कि शासक राजा के जन्म-दिन के उपलक्ष्य में तथा प्रति मास पूर्णिमा को अल्पवयस्क, बूढ़ों, रोगियों एवं असहायों को छोड़ दे, या वे लोग जो दयालु हैं उनका अर्थ-दण्ड दे दें या अन्य लोग उन बन्दियों को छुड़ाने के लिए जामिन हो जायें। बन्दियों को प्रति दिन काम करने या पाँच दिनों में एक दिन काम करने या कोड़े आदि शारीरिक दण्ड या धन देने पर छोड़ देना चाहिए। वे नया देश जीतने, राजकुमार के जन्म अथवा राज्याभिषेक के दिन छोड़ दिये जा सकते हैं। ये छूटें कौटिल्य द्वारा ही दी गयी हैं। कौटिल्य की ये बातें बहुत अंशों में अशोक से कार्यान्वित की थीं (देखिए अशोक स्तम्भाभिलेख सं० ४, ५, कार्पस इंस्क्रिप्शनम इण्डिकेरम जिल्द १ पृ० १२३ पृ० १२६-१२८ एवं एपिग्रैफिया इण्डिका जिल्द २ पृ० २५१-५४ एवं पृ० २५८ २५)।

मनु (९।२८८) ने कहा है कि बन्दीगृह राजमार्ग पर बनाना चाहिए जिससे लोग क्लेश एवं दुर्दशा में पड़े अपराधियों को देखकर स्वयं अपराध करने से बचें। कालिदास (मालविकाग्निमित्र अंक ५, रघुवंश १७।१९) ने बन्दियों के छोड़ने एवं मृत्यु-दण्ड की क्षमा के लिए राज्याभिषेक आदि का दिन शुभ माना है। और देखिए बृहत्संहिता (४७।८१) मृच्छकटिक (१०) हर्षचरित (२) जहाँ बन्दियों की मुक्ति का उल्लेख है।

मनु (९।२४३) ने लिखा है कि राजा को महापातकी की सम्पत्ति नहीं लेनी चाहिए, अन्यथा लोभ के कारण ऐसा करने से अपराध का प्रभाव उस पर भी पड़ जायगा। ऐसे दण्ड-धन को वरुण की अभ्यर्थना के लिए जल में डाल देना चाहिए या गुणी एवं विद्वान् ब्राह्मणों को दान कर देना चाहिए क्योंकि वरुण राजाओं का राजा है और एक ब्राह्मण अखिल विश्व के स्वामी हैं (मनु ९।२४४-२४५)। मनु (९।२४६-२४७) ने आगे कहा है कि जिस देश के राजा दुष्ट पापियों की सम्पत्ति लेना नहीं चाहते उसके निवासी दीर्घ आयु वाले होते हैं, वहाँ अन्न उपजते हैं, शिशु-मृत्यु नहीं होती आदि।

ऋण के पुनर्लाभ के अतिरिक्त (इसका वर्णन आगे होगा) किसी अन्य विषय में कानून अपने हाथ में न लेना एक सामान्य नियम था। किन्तु नारद (पारुष्य ११-१४) में आया है—'यदि श्वपाक (कुत्ता खानेवाला) मेद (एक वर्णसंकर जाति) चण्डाल, अंग-भंगी, वध-वृत्ति (पशु मारकर जीविका चलानेवाला) हस्तिप (हाथीवान) व्रात्य (उपनयन संस्कार न करने पर जातिच्युत) दास, गुरुजनों एवं आध्यात्मिक गुरु की अवमानना करनेवाले आदि अपनी सीमा के बाहर जायँ तो उन्हें वे लोग (जिनके प्रति ऐसे लोग मर्यादाहीन रहते हैं) उसी समय दण्डित कर सकते हैं। ऐसे मामलों में राजा कुछ नहीं कहता। ऐसे लोग मानवता के मल हैं और उनकी सम्पत्ति भी अपवित्र है। राजा उन्हें शारीरिक दण्ड दे सकता है (कोड़ा मारना आदि) किन्तु उन पर अर्थ-दण्ड नहीं लगा सकता। मिताक्षरा (याज्ञ० २।२७०) ने वृद्ध-मनु का इसी अर्थ में उद्धरण देकर कहा है कि गम्भीर अपराधों में राजा को अर्थ-दण्ड लेने से दूर रहना चाहिए।

लेन-देन आदि के अवधि-सम्बन्धी व्यवहार (कानून) के विषय में भी कुछ कहना चाहिए। अनेक कारणों से स्मृतियों एवं निबन्धों में अवधि-सम्बन्धी नियमों को उतनी प्रधानता नहीं मिली है। ऋणी के अतिरिक्त उसके पुत्रों, पौत्रों एवं प्रपौत्रों को भी ऋण चुकाना पड़ता था। इसका एक धार्मिक पहलू भी था जिसे हम आगे पढ़ेंगे (ऋणादान वाले प्रकरण में)। ऋणादान के सिलसिले में किसी निश्चित अवधि का निर्धारण नहीं होता था। बिना धन दिये धन

करना ऋण लेने के बराबर था। केवल समय के व्यवधान से ही कोई अपने उत्तरदायित्व से बच जाय, ऐसा नही होता था, प्रत्युत अधिकाश स्मृतियो एव धर्मशास्त्रो ने, धार्मिक एव अन्य पारलौकिक बातो के कारण, ऋण चुकाने अथवा ऋणोद्धार के लिए समय की कोई अवधि नही मानी है। किन्तु कुछ लेखको ने सीमा निर्धारित कर दी है। कौण्डिन्य (व्यवहारमातृका, पृ० ३४१) के अनुसार दस वर्षो के उपरान्त ऋणोद्धार नही हो सकता, केवल अल्पवयस्क, अति बूढे, स्त्री, रोगी, शत्रु के आक्रमण (यदि ऋणी कही चला गया) के मामले मे ऋणावधि नही होती थी। कुछ अवधि-सम्बन्धी नियम इस प्रकार हैं—

(१) मनु (८।१४८), याज्ञ० (२।२४), गौतम (१२।३५), वसिष्ठ (१६।१७), नारद (४।७९) आदि ने कहा है कि वास्तविक स्वामी की दृष्टि मे अथवा बिना विरोध के यदि कोई अचल सम्पत्ति का उपभोग करे तो स्वामित्व टूट जाता है और यही बात इस स्थिति मे चल सम्पत्ति के दस वर्षो के उपभोग मे होती है।

(२) किन्तु अपवाद भी है। पण (करार), सीमाओ, निक्षेपो (धरोहरो), अल्पवयस्को, मूर्खों, राज्य, स्त्रियो एव श्रोत्रियो (वेदज्ञ ब्राह्मणो) की सम्पत्ति के विषय मे उपर्युक्त नियम नही लागू होता। देखिए गौतम (१२।-२५-३६), वसिष्ठ (१६।१८), मनु (८।१४९), याज्ञ० (२।२५), नारद (४।८१), बृहस्पति आदि।

(३) नारद (उपनिधि, १४) के मत मे शिल्पकारो को दी गयी सामग्रियो (उधार या बनाने के लिए), अन्वाहित (स्त्रीधन), न्यास (ट्रस्ट), प्रतिन्यास के मामलो मे भी कोई अवधि नही थी। देखिए मनु (८।१४५-१४६), याज्ञ० (२।५८), वि० ध० सू० (४।७-८)। किन्तु यहाँ भी कुछ अपवाद हैं, मरीचि (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ६९) के मत से गायो, भारवाही पशुओ, गहनो आदि के मामलो मे जब कि वे मित्रता के रूप मे दिये गये हो, चार या पाँच वर्ष की अवधि पर्याप्त है और इसके उपरान्त उनकी हानि मान ली जानी चाहिए। व्यास (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ६७) के मत मे इस नियम का प्रयोग मित्रो, सम्बन्धियो, ब्राह्मणो तथा प्रार्थना पर राजपुरुषो को दिये गये पदार्थों के लिए नही होता।

(४) कात्यायन (२९८-३००) के मत मे २० वर्षो तक किसी अशुद्ध लेख-प्रमाण (जब कि उसे लिखनेवाले ने देखा हो, जाना हो) की अवधि हो सकती है। इसी प्रकार २० वर्षो तक भोगी हुई सम्पत्ति का लेख अपरिहार्य माना जाता है जब कि विरोधी द्वारा जान बूझकर किसी प्रकार का विरोध न खडा किया गया हो (भले ही सभी साक्षी मर गये हो तथा मिलाने के लिए कोई अन्य लेख आदि न हो)।

(५) सीमा-निर्धारण-सम्बन्धी लेख भी २० वर्षो के उपरान्त अमिट हो जाता है (कात्यायन ३०१)।

(६) भले ही साक्षी-गण जीवित हो, किन्तु ३० वर्षो के ऊपर वाले लेख का विवाद टिक नही सकता, जब कि वह उतने दिनो तक किसी को दिखाया नही गया, और न ऋणदाता ने किसी को पढकर सुनाया। देखिए बृहस्पति (३०८)।

गत पृष्ठो मे हमने न्याय-विधि, प्रमाण एव समयावधि के विषय मे अवलोकन किया। कोई भी निष्पक्ष पाठक कह सकता है कि भारतीयो ने गत शताब्दियो के भीतर अपनी निजी न्याय-विधि का एक महत्तर रूप खडा किया है। भारतीय वस्तु-सबन्धी व्यवहार के विषय मे नारद, बृहस्पति एव कात्यायन ने बहुत सम्मानार्ह कार्य किया। ये लेखक ६०० ई० के पूर्व हुए थे और प्रथम दो तो इस काल के कई शताब्दियो पूर्व हुए थे। इन्होने न्यायाधीश की नियुक्ति, उसके कर्तव्यो, उपयुक्त न्याय-विधि-कार्य, प्रमाण एव कालावधि-सम्बन्धी कानून, जयपत्र और उसका कार्यान्वयन, अपराध एव दण्ड के विषय मे बडा सुन्दर अनुक्रम उपस्थित किया है। भारतीय व्यवहार-शास्त्र ससार मे १८वी शताब्दी तक प्रचलित सभी व्यवहार-विधियो के समकक्ष आता है।

कहा है कि ऋण-सम्बन्धी अथवा अन्य व्यवहार-विषयो के समयो मे अन्तिम क्रिया ही निर्णायक कहाती है, किन्तु दान बन्धक या क्रय मे प्रथम समय अधिक महत्त्व रखता है।[1]

ऋण चुका देने की भावना का उदय भारत मे बहुत प्राचीन काल मे ही हो चुका था। ऋग्वेद (८।४७।१७) में ऋषि ने कहा है—जिस प्रकार हम ऋण चुकाते है उसी प्रकार बुरे स्वप्नो के बुरे प्रभावो को हमे दूर भगाना चाहिए। ऋग्वेद (१०।३४।१०) मे आया है कि जुआरी छिप-छिपकर (क्योकि उसने बहुतो से ऋण ले रखा है) रात्रि मे अन्य लोगों के यहाँ धन-प्राप्ति के लिए जाता है। ऐतरेय ब्राह्मण (३३।१) ने 'सन्नयति' शब्द का प्रयोग किया है जो ऋग्वेद (८।४७।१७) मे आया है, यथा—'ऋण सन्नयामसि।' अथर्ववेद (६।११७।३) एव तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।७।९।८) मे इस लोक, परलोक (अर्थात पितृ-ऋण) एव देव-लोक (देव-ऋण) के ऋणो से मुक्त होने की चर्चा है।[2] तैत्तिरीय संहिता (३।३।८।१-२) ने 'कुसीद' शब्द का प्रयोग किया है जो धर्मशास्त्रो एव स्मृतियो मे 'ऋण देने-वाले' या व्याज पर लेन-देन करने वाले के लिए प्रयुक्त हुआ है। शतपथ ब्राह्मण (१३।४।३।११) के पारिप्लव प्रकरण मे 'कुसीदी' को अभिचार कर्म से सम्बन्धित कहा गया है। निरुक्त (६।३२) ने ऋग्वेद (३।५३।१४) पर टिप्पणी करते हुए वहाँ प्रयुक्त 'प्रमगन्द' शब्द का अर्थ यो लगाया है—'वह जो अति सूदखोर कुल मे उत्पन्न हो।'[3] पाणिनि ने 'उत्तमर्ण' (ऋण-दाता) (१।४।३५), 'आधमर्ण्य' (ऋणलेने वाले की स्थिति) (२।३।७०), 'प्रतिभू' (जामिन) (२।३।३९), 'वृद्धि' (व्याज) (५।१।४७) का प्रयोग किया है। पाणिनि (६।४।३१) ने 'कुसीदिक' एव 'कुसीदिकी' की व्युत्पत्ति बतायी है। पाणिनि ने वार्धुपिक शब्द का प्रयोग नही किया है, जैसा कि आपस्तम्बधर्मसूत्र, बौधायनधर्मसूत्र ने किया है तथा कात्यायन ने पाणिनिसूत्र (४।४।३०) के वार्तिक मे किया है। पाणिनि ने 'द्वैगुणिक' या 'त्रैगुणिक' का, जो दुगुना या तिगुना सूद लेने की ओर सकेत करते हैं, प्रयोग किया है। ऋग्वेद (२।२४।१३) मे ब्रह्मणस्पति को ऋणमादधि (ऋण लौटा लेनेवाला) कहा गया है और आदित्यो को, जो ऋत (अखिल नियम) के रक्षक हैं, ऋण इकट्ठा करने वाले कहा गया है (२।२७।४)। ऋग्वेद (८।३२।१६) मे आया है कि सोमरस निकालनेवाले पुरोहितो को देव-ऋण नही देना पड़ता। और भी देखिये ऋग्वेद (६।६१।१)।

इन बातो से स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक काल मे देव-ऋण एव पितृ-ऋण की वृहत् कल्पना निर्धारित हो चुकी थी और इन ऋणो को क्रम से यज्ञ एव पुत्रोत्पत्ति से चुकाया जा सकता है, ऐसा एक सामान्य विचार उत्पन्न हो गया था। देव-ऋण, ऋषि-ऋण एव पितृ-ऋण को क्रम से यज्ञाराधना, अध्ययनाध्यापन एव सन्तानोत्पत्ति से चुकाना चाहिए, इसकी परिकल्पनाएँ स्पष्ट रूप से ऋग्वेद, तैत्तिरीय सहिता (६।३।१०।५), शतपथ ब्राह्मण (१।७।२।११), ऐतरेय ब्राह्मण

१ उदाहरणार्थ, यदि क यह सिद्ध करता है कि उसने ख को ऋण दिया, किन्तु यदि ख यह सिद्ध करता है कि उसने ऋण लौटा दिया है तो यह पश्चात्कालीन कार्य निर्णयात्मक होगा। यदि क ऋण पर कोई खेत ख को बन्धक-स्वरूप देता है और पुन वही खेत ग को बन्धक रूप में देता है, तो ख के साथ किया गया बन्धक-कार्य अपेक्षाकृत न्याय-सिद्ध माना जायगा। यह नियम आज के ट्रांस्फर आव प्रापर्टी ऐक्ट (४, सन् १८८२) के ४८वें परिच्छेद के समान ही है।

२ अनृणा अस्मिन्ननृणा परस्मिन् तृतीये लोके अनृणा स्याम। ये देवयाना उत पितृयाणा सर्वान्पथो अनृणा आक्षीयेम॥ तै० ब्रा० ३।७।९।८, अथर्ववेद (६।११७।३) मे भी यह आया है थोड़े-से अन्तर के साथ।

३ मगन्द कुसीदी मागन्दो मामागमिष्यतीति ददाति तदपत्य प्रमगन्द अत्यन्त कुसीदिकुलीन। निरुक्त (६।३२)।

है (वसिष्ठ २।४१)। स्पष्ट है, यहाँ इसे एक पातक रूप मे माना गया है। किन्तु यदि प्रति मास व्याज (सूद) मूल का १/८० भाग लिया जाय तो वह धर्म्य (उचित) ठहराया गया है (गौतम १२।२६, वसिष्ठ २।५०, कौटिल्य ३।२ एव मनु ८।१४०-१४१)।[8]

मेगस्थनीज़ (फ्रै० २८, पृ० ७२) ने लिखा है—'भारतीय न तो व्याज लेते हैं और न यही जानते हैं कि ऋण कैसे लिया जाता है।' किन्तु उसे इस विपय मे भ्रम हो गया है, क्योकि वह पुन लिखता है (पृ० ७३) 'जो अपना ऋण या धरोहर नही प्राप्त कर पाता उसे न्याय से सहायता नही मिलती। ऋणदाता को किसी दुष्ट पर विश्वास करने पर अपने को दोषी ठहराना चाहिए।'

नारद (४।१) ने **ऋणदान** के सात प्रमुख रूप दिये हैं—(१) **कौन-सा ऋण दिया जाना चाहिए**, (२) **कौन-सा नहीं**, (३) **किसके द्वारा**, (४) **कहाँ**, (५) **किस रूप मे**, (६) **ऋण देते समय एव** (७) **लौटाते समय के नियम**। इनमे प्रथम पाँच का सम्बन्ध **ऋणदाता** से है और अन्तिम दो का **ऋणी** से। वृहस्पति का कहना है कि कुछ लोगो ने **वृद्धि** (व्याज या सूद) के चार प्रकार, कुछ ने पाँच तथा कुछ ने छ प्रकार दिये हैं। नारद (४।१०२-१०४) ने ये चार प्रकार दिये हैं—(१) **कारिता** (जो ऋणदाता द्वारा निश्चित की जाय), (२) **कालिका** (प्रति मास दी जानेवाली वृद्धि), (३) **कायिका** (एक पण या चौथाई पण जो प्रति दिन दिया जाय किन्तु मूल ज्यो-का-त्यो पडा रहे) एव (४) **चक्रवृद्धि** (वह वृद्धि जो व्याज पर भी लगती है)। मनु (८।१५२) ने भी इन चारो का उल्लेख किया है, किन्तु टीकाकारो ने इन्हे विभिन्न रूपो मे लिया है। वृहस्पति एव व्यास (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १५४) ने **कायिका** को ऐसा व्याज माना है जो शरीर से ग्रहण किया जाय, यथा—ऋण मे दी हुई गाय का दूध, अथवा दास या बैल से काम लेना। वृहस्पति ने अन्य प्रकार भी जोडे हैं, यथा—**शिखावृद्धि** (शिखा की भाँति बढने वाला सूद, अर्थात् जिस प्रकार सिर की शिखा प्रति दिन बढती जाती है) एव **भोगलाभ** (यथा—गृह का उपयोग, भूमि का अन्न-ग्रहण, जैसा कि **बन्धक** मे होता है)। गौतम (१२।३१।३२) ने छ प्रकार दिये हैं, किन्तु **भोगलाभ** के स्थान पर **आधिभोग** लिखा है, जिसे कात्यायन (५०१) ने बन्धक मे दी हुई सम्पत्ति के पूर्ण उपभोग के ऋण के रूप मे लिया है।[9] कात्यायन (४९८-५००) ने कारिता, शिखावृद्धि एव भोगलाभ की व्याख्या की है।

वृहस्पति का कहना है कि ऋणदाता को चाहिए कि वह प्रतिज्ञापत्र या बन्धक (किसी परस्पर-मित्र के पास)

८ कुसीदवृद्धिर्धर्म्या विंशति पञ्चमाषिकी मासम्। **गौतम** (१२।२६), सपादपणा धर्म्या मासवृद्धि पणशतस्य। कौटिल्य (३।२)।

९ वृद्धिश्चतुर्विधा प्रोक्ता पञ्चधान्यैः प्रकीर्तिता। षड्विधास्मिन् समाख्याता तत्त्वतस्तां निबोधत॥ वृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १५४, व्यवहारनिर्णय पृ० २२४), कायिका कर्मसयुक्ता मासग्राह्या तु कालिका। वृद्धेर्वृद्धिश्चक्रवृद्धि कारिता ऋणिना कृता॥ प्रत्यह गृह्यते या तु शिखावृद्धिस्तु सा स्मृता॥ गृहात्तोप (स्तोम ५।१) शद क्षेत्राद् भोगलाभ प्रकीर्तित॥ वृहस्पति (अपरार्क पृ० ६४२, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १५४, पराशर-माधवीय ३, पृ० २२०-२२१)। व्यवहारनिर्णय (पृ० २२५) ने इसे नारद की उक्ति माना है—शिखेव वर्धते नित्य शिरश्छेदान्निवर्तते। मूले दत्ते तथैवैषा शिखावृद्धिस्तत स्मृता॥ हरदत्त (गौतम १२।३२) एवं सरस्वतीविलास (पृ० २३३) मे कात्यायन की उक्ति इस प्रकार है—आधिभोगस्त्वशेषो यो वृद्धिस्तु परिकल्पित। प्रयोगो यत्र चैव स्यादाधिभोग स उच्यते॥ कात्यायन (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १५४, विवादरत्नाकर पृ० १२, विवादचिन्तामणि पृ० ४)।

अथवा कोई निक्षेप या प्रतिभूति लेकर ही लेख्यप्रमाण के साथ या साक्षियों की उपस्थिति में ऋणी को ऋण दे।" ब्याज या तो ऋण देते समय लिखित होना चाहिए (कृत) या (अकृत) अलिखित होना चाहिए, जैसा कि विष्णुधर्मसूत्र (६।४) में आया है। याज्ञवल्क्यस्मृति (२।३८) एवं विष्णु (६।२) में एक सामान्य नियम आया है कि सभी जातियों के ऋणियों को चाहिए कि वे सभी जातियों के ऋणदाताओं को ब्याज दें जो पारस्परिक समझौते से तय किया जाय और जिसमें प्रतिज्ञापत्र एवं ब्याज-दर आदि सम्मिलित हों। यद्यपि यह एक सामान्य नियम था किन्तु मनु (८।१५२) एवं बृहस्पति ने पूर्वनिश्चित ब्याज-दर से अधिक अथवा एक वर्ष से अधिक समय तक अधिक ब्याज लेने, चक्रवृद्धि ब्याज लेने या मूल धन के दुगुने से अधिक धन लेने आदि की भर्त्सना की है।

स्पष्ट है कि स्मृतिकारों ने ब्याज लेने की प्रवृत्ति की भर्त्सना की है और उसे ब्रह्म-हत्या से अधिक पातक इस माना है (देखिए बौधायनधर्मसूत्र १।५।९३ वसिष्ठ २।४०-४२ विवादचिन्तामणि पृ० ६ गृहस्थरत्नाकर पृ० ४४५ विवादरत्नाकर पृ० १४)। कई दृष्टिकोणों के आधार पर ब्याज-दर के विषय में स्मृतियों ने नियम दिये हैं। गौतम (१२।२९) याज्ञ० (२।३७) बौधायन (१।५।९२) मनु (८।१४०—नारद ४।९९) बृहस्पति वृद्ध-हारीत (७।२३९) आदि ने सर्वप्रथम वसिष्ठ द्वारा उपस्थित किये गये नियम की ओर संकेत किया है और कहा है कि प्रति मास मूल धन का १/८ भाग लेना चाहिए, जिससे छः वर्ष आठ महीने में मूलधन दूना हो जाय। वृद्ध-हारीत का कथन है कि दूना ब्याज तभी लिया जाना चाहिए जब कि ऋण उगाहने के लिए कुछ प्रतिज्ञा न की गयी हो। याज्ञवल्क्य एवं व्यास ने व्यवस्था दी है कि यह नियम तभी उचित है जब कि प्रतिभूति के रूप में कोई वस्तु प्रतिज्ञापित हो चुकी हो। याज्ञ० (२।३७) मनु (८।१४२—नारद ४।१) विष्णु (६।२) ने विकल्प भी दिया है कि वर्णों के अनुसार २, ३, ४ या ५ प्रतिशत प्रति मास ब्याज के रूप में लिया जाना चाहिए (अर्थात् ब्राह्मण से २ प्रतिशत, क्षत्रिय से ३ प्रतिशत आदि)। याज्ञ० (२।३७) ने लिखा है कि ये ब्याज-दरें तभी मान्य हैं जब कि प्रतिभूति (बन्धक) के रूप में कुछ प्रतिज्ञापित न हो। व्यास (पराशरमाधवीय ३ पृ० २२१) ने लिखा है कि मासिक दर मूलधन की १/८ तब होनी चाहिए जब कि ऋण के लिए कुछ बन्धक रखा गया हो और १/६ तब होनी चाहिए जब कि प्रतिभूति के रूप में कुछ रखा गया हो और दो प्रतिशत प्रति मास तब होनी चाहिए जब कि केवल व्यक्तिगत प्रतिभूति हो। अनुशासनपर्व (११७।२) ने अधिक ब्याज लेनेवाले को नरक का भागी माना है। कौटिल्य (३।२) ने अधिक ब्याज लेनेवाले पर दण्ड लगाया है।

१ परिपूर्णं गृहीत्वापि बन्धं वा साधुलग्नकम्। लेख्यारूढं साक्षिमद्वा ऋणं दद्याद्धनी सदा॥ (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ११५; पराशरमाधवीय ३, पृ० २२) परिपूर्णं समृद्धिकमूल्यद्रव्यपर्याप्तमित्यर्थः। स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ११५। अमरकोश एवं बृहस्पति ने आधि एवं बन्ध को समानार्थक माना है। कुछ लोगों ने दोनों में अन्तर बताया है आधि चलद्रव्य या अचल सम्पत्ति का प्रतिज्ञापत्र या बन्धक (भोग या बिना भोग का) है तथा बन्ध वह है जो विश्वास उत्पन्न करने के लिए किसी परस्पर-मित्र के पास ऋणी की कोई वस्तु रख देने से सम्बन्धित है। 'विश्वस्तं बन्धकमाख्यातमिह नारदः। निक्षेपो मित्रहस्तस्थो बन्धो विश्वासकः स्मृतः॥' इति। नारद (व्यवहारप्रकाश पृ० २२४)। व्यवहारमयूख (पृ० १६६) के अनुसार बन्ध एक प्रकार का वह अंगीकार है जो ऋणी द्वारा किया जाता है कि वह तब तक अपनी भूमि, घर या कोई सम्पत्ति नहीं बेच सकता जब तक वह ऋणदाता को ऋण चुका न दे। और देखिए मदनरत्न।

११ याज्ञवल्क्य (२।३९) की टीका में विश्वरूप ने बृहस्पति को उद्धृत करते हुए लिखा है कि वर्णों के अनुसार ब्याज-दर लगनी चाहिए। यथा—पादोत्तरमतस्त्वेषां ब्रह्मणादेरेषाम्।

और देखिए कात्यायन (४९८)। व्याज-दर देश-काल पर भी निर्भर थी। मनु (८।१४१=नारद ४।१००) का कहना है कि प्रति मास दो प्रतिशत व्याज लेना अनुचित है। मध्यकाल मे व्याज अधिक लिया जाता था। येव्र् अभिलेख (एपिग्रैफिया इण्डिका १२, पृ० २७३) मे २५ प्रतिशत व्याज का उल्लेख है। याज्ञ० (२।३८) ने घने वनो एव समुद्र से होकर जानेवाले ऋणियो पर क्रमश १० प्रतिशत एव २० प्रतिशत व्याज लगाने की छूट दी है, क्योकि ऐसे ऋणी जलपोतो की हानि या डाकुओ की लूट से सब कुछ खो सकते है और ऋणदाताओ का मूल धन भी समाप्त हो सकता है। मनु (८।१५७) ने ऐसे विषयो मे ऋण लगाने की बात चतुर ऋणदाताओ पर ही छोड दी है। इस विषय मे और देखिए कौटिल्य (३।२)।[12]

स्मृतियो मे ऋण-सम्बन्धी अन्य नियमो का भी प्रतिपादन हुआ है। इस विषय मे सभी एकमत हैं कि ऋण-दाता ऋणी से ऋण का दुगुना (मूल धन और व्याज दोनो के रूप मे) एकवारगी नही प्राप्त कर सकता। देखिए कौटि-ल्य (३।२), मनु (८।१५१), गौतम (१२।२८), याज्ञ० (२।३९), विष्णु० (६।११), नारद (४।१०७) एव कात्या-यन (५०९)। इस नियम को द्वैगुण्य की सज्ञा दी गयी है। आजकल इसे 'दामदुपट' कहा जाता है। इसके विषय मे हम नीचे पढ़ेंगे। वस्तुओ के व्याज के रूप मे सामग्री आदि के विषय मे मतैक्य नही है। इस विषय मे विस्तार के साथ कहने की आवश्यकता नही है। मनु (८।१५१) का कथन है कि अनाज, फल, ऊन, भारवाही पशुओ तथा घृत-दूध आदि के ऋणो मे पाँच गुने से अधिक नही लिया जा सकता। याज्ञ० (२।३९) के अनुसार पशुओ एव दासियो के विषय मे उनकी सन्तानें लाभ रूप मे ली जाती हैं, तेल, घृत के ऋण मे अधिक-से-अधिक आठ गुना प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु परिधानो एव अन्नो के ऋण मे क्रमश चौगुना एव तिगुना लिया जा सकता है। वसिष्ठ (२।४४-४७) का कहना है कि अन्नो, पुष्पो, जडो (कन्दो या मूलो), फलो एव तेलो मे तिगुना तथा तोलकर दी जाने वाली वस्तुओ मे आठ गुना लिया जा सकता है। और देखिए विष्णु० (६।१२-१५)। विष्णु० (६।१७) का कथन है कि जहाँ कोई नियम न हो वहाँ ऋण का अधिक से अधिक दुगुना लिया जा सकता है (अनुक्ताना द्विगुणा)। कात्यायन (५७०-५७२) के अनुसार बहुमूल्य रत्नो, मोतियो, सीपियो, सोना, चाँदी, फलो, रेशम, ऊन पर ऋण के रूप मे दुगुना तथा तैलो, पेय पदार्थो, घृत, खाँड, नमक तथा भूमि पर आठ गुना तथा साधारण धातुओ पर पाँच गुना लाभ लिया जा सकता है। और देखिए बृहस्पति एव व्यवहारनिर्णय (पृ० २२९)।

आधुनिक 'दाम-दुपट' के विषय मे मनु (८।१५१) एव गौतम (१२।२८) ने इस प्रकार कहा है—'एक बार ही मूल धन एव व्याज के रूप मे जो कुछ लिया जाता है वह ऋण के दूने से अधिक नही हो सकता।' ऋण केवल ऋणी से ही नही बल्कि उसकी तीन पीढियो से भी प्राप्त किया जा सकता है, अत ऋण चुकाने की कोई अवधि नही थी और ऋणदाता स्वभावत चाहता था कि व्याज बढता जाय। इसी से ऋषियो ने यह नियम बना दिया कि ऋण की वसूली दूने से अधिक नहीं हो सकती। इस नियम मे ऋणदाता के अति लोभ पर नियन्त्रण लग गया। इस विषय मे छूट के लिए देखिए मनु (८।१५१) की विभिन्न टीकाएँ एव अन्य निबन्ध, यथा मिताक्षरा (याज्ञ० २।३९), व्यवहारमयूख तथा मनु (८।१५४-१५५) एव याज्ञ० (२।३९)। एक मत यह है कि (१) यदि व्याज प्रति दिन, प्रति मास या प्रति वर्ष लिया जाय और एकवारगी न माँगा जाय तो व्याज की अधिकता मूल धन से कई गुनी बढ़ जायगी। (२) यदि व्याज कुछ समय तक बढता जाय और एक नया समझौता हो कि अब से मूल धन के साथ व्याज मिलकर ऋण माना

१२ सपादपणा धर्म्या मासवृद्धि पणशतस्य। पञ्चपणा व्यावहारिकी। दशपणा कान्तारकाणाम्। विंशति-पणा सामुद्राणाम्। तत पर कर्तु कारयितुश्च पूर्व साहसदण्ड। श्रोतृणामेकैकं प्रत्यर्धदण्ड। अर्थशास्त्र (३।२)।

जायगा तो आगे चलकर ऋण के दुगुने से अधिक मिल सकता है। मनु (८।१५४-१५५) एवं बृहस्पति ने ऐसा समझौता मान लिया है। किन्तु यदि ऋणी ऐसा समझौता नहीं करता तो दामदुपट का नियम लागू होगा। (३) यदि ऋण दूना हो जाय और ऋणी के स्थान पर कोई दूसरा व्यक्ति ऋण चुकाने का भार ले ले तो ऋणदाता को दूने से अधिक प्राप्त हो सकता है। (४) यदि ऋणी ऋण का कुछ भाग दे देता है और ऋणदाता कुछ छूट दे देता है जिसे मिताक्षरा (याज्ञ० २।३९) ने ठीक कहा है और सम्पूर्ण प्राप्ति को कम कर देता है या ऋणदाता कुछ अतिरिक्त धन पाता है जिसे मिताक्षरा ने ठीक कहा है और यह मौलिक ऋण में जोड़ दिया जाता है और एक नवीन समझौता हो जाता है, तब 'दामदुपट' का नियम नहीं लागू होता।

यदि काल निश्चित न हो या पहले से निश्चित काल व्यतीत हो गया हो या ब्याज बढ़कर मूल के बराबर हो गया हो तो माँगने पर ऋण लौटा देना पड़ता है। यदि लौटाने पर ऋणदाता ऋण न स्वीकार करे तो ब्याज का बढ़ना बन्द हो जाता है और ऋणी उसे किसी तीसरे व्यक्ति के पास रख देता है (गौतम १२।३ याज्ञ० २।४४)। वसिष्ठ (२।४९) का मनोरंजक वचन है कि राजा के मरने पर ब्याज रुक जाता है किन्तु उत्तराधिकारी के राज्याभिषेक के उपरान्त पुनः बढ़ना आरम्भ कर देता है।[11] नारद (२।३९) का वचन है कि विशेष या स्पष्ट समझौता न हुआ हो तो सामग्रियों के मूल्यों, पारिश्रमिकों, प्रतिभूति, अर्ध-दण्ड, भाट चारणों को दिये जाने वाले धन तथा जुए पर हारी बाजी पर ब्याज नहीं लगता। यही बात कात्यायन (५०८) ने भी कही है किन्तु उन्होंने इस सूची में शुल्को, अर्थ, दैव, बधू-मूल्य एवं प्रतिभूति को जोड़ दिया है। कौटिल्य (३।२) के अनुसार जब ऋणी दीर्घकालीन वैदिक यज्ञ में लगा हो या किसी रोग से ग्रस्त हो या अल्पावस्था का (नाबालिग) हो या निर्धन हो (अर्थात् जीविका के साधन से विहीन हो) तो उस पर ब्याज नहीं लगता। नारद (४।१०८) के मत में मित्रता के बल पर दिये गये ऋण पर ब्याज नहीं लगता, जब तक कि कुछ लिखित न हो किन्तु छः मास बीत जाने पर ब्याज लग जाता है। यही बात कात्यायन (५०९) में भी पायी जाती है। और देखिए नारद (४।१०९)। ऐसी स्थिति में यदि ऋणी ऋण न लौटाये तो पाँच प्रतिशत ब्याज लगने लगता है। कात्यायन (५२५-५२४) ने याचितक (अल्पकाल के लिए लिये गये धन या वस्तु के ऋण) के विषय में तीन व्यवस्थाएं दी हैं—(१) जब कोई याचितक का बिना चुकाये दूसरे देश चला जाता है तो बिना माँगे ही एक वर्ष के उपरान्त ब्याज बढ़ने लगता है (२) ऐसी स्थिति में माँगने पर भी जब ऋणी दूसरे देश में चला जाता है तो माँगने के तीन मास उपरान्त ब्याज बढ़ने लगता है (३) यदि माँगने पर ऋणी धन न लौटाये तो राजा को चाहिए कि माँगने के दिन से लगातार ब्याज की वसूली कराये भले ही ऋणी अपने देश में हो और ब्याज के विषय में पहले से कुछ न लिखित हो। इस विषय में मदनरत्न का कथन है कि ब्याज-दर याज्ञ० (२।३७) एवं विष्णु (६।४) के अनुसार होगी अर्थात् प्रति मास १/८ भाग (अकृतामपि वत्सरातिक्रमेण यथाविहिताम्)।

आधि का तात्पर्य है चल सम्पत्ति के विषय में न्यास (धरोहर) या अचल सम्पत्ति के विषय में बन्धक। नारद (४।१२०) का कथन है कि ऋण देने में आधि एवं प्रतिभूति दो प्रकार के विश्वसनीय हेतु हैं तथा साक्षी एवं लेख्य दो प्रमाण हैं। आधि नाम इसलिए पड़ा है कि ऋणदाता को उस पर अधिकार मिल जाता है (नारद ४।१२४ एवं याज्ञ० २।५८ पर मिताक्षरा)। आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।६।१९।८।१) गौतम (१२।२९) कौटिल्य (३।१२) ने आधि का उल्लेख किया है। मनु (८।१४९) ने बन्धक के अर्थ में आधान का प्रयोग किया है। बृहस्पति के मत से आधि के चार प्रकार हैं—जंगम, स्थावर, गोप्य (प्रतिज्ञा कराने वाले के पास रखा जानेवाला) एवं भोग्य (जिसका भोग किया जाय)।

[11] राजा तु मृतभावेन द्रव्यवृद्धिं विनाशयेत्। पुना राजाभिषेकेण द्रव्यमूलं च वर्धते॥ वसिष्ठ (२।४९)।

नारद (४।१२४) ने प्रथमत आधि को दो भागो मे बाँटा है, (१) जो कुछ काल तक ही रखा जाय एव (२) जो पूरा ऋण चकाये जाने तक रहे। नारद ने पुन इन दोनो को पृथक्-पृथक् **गोप्य** एव **भोग्य** दो भागो मे बाँटा है। इस अन्तिम विभाजन को गौतम (१२।३२), मनु (८।१४३), याज्ञ० (२।५९) एव कात्यायन (५७६) भी मानते हैं। इस विषय मे विस्तार के साथ देखिए मिताक्षरा (याज्ञ० २।५८), मेधातिथि (८।१४३), कुल्लूक (मनु ८।१४३) एव प्रजापति (पराशरमाधवीय ३, पृ० २४२)।

आधि के विषय मे सामान्य नियम यह है कि चाहे वह जगम हो या स्थावर, यदि वह **भोग्य** है तो उस पर व्याज नही लगता और ऋणी को धन (ऋण) लौटा देने पर अपनी सम्पत्ति पुन प्राप्त हो जाती है। व्यास एव भरद्वाज (सरस्वतीविलास, पृ० २३२-२३४) के अनुसार **भोग्य आधि** के विषय मे सम्पत्ति की आय पूर्ण व्याज तथा मूल के कुछ भाग के रूप मे ग्रहण कर ली जाती है। इसी को **सप्रत्यय भोग्याधि** कहते हैं। जहाँ सम्पत्ति-आय केवल व्याज के रूप मे ली जाती है उसे **अप्रत्यय भोग्याधि** कहा जाता है। मिताक्षरा (याज्ञ० २।६४) का कथन है कि **अप्रत्यय भोग्याधि** को **क्षयाधि** भी कहा जाता है।

वसिष्ठ (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १४५) के मत मे यदि कोई अपनी सम्पत्ति बन्धक रखकर उसे पुन बेच देता है तो क्रयकर्ता को बन्धक का उत्तरदायित्व ग्रहण करना पडता है, अर्थात् वह ऋण का देनदार होता है। यदि कोई बन्धक रखे और उसी दिन उसे बेच दे या किसी को भेंट रूप मे भी दे दे तो प्रतिग्रहण करने वाले को एक तिहाई मिलता है और बन्धक रखने वाले तथा क्रयकर्ता को शेष दो-तिहाई मे बराबर-बराबर मिलता है। भरद्वाज (व्यवहारनिर्णय पृ० २४५) के मत से यदि किसी को कई ऋण देने हो, यथा—कुछ **आधि** या बन्धक वाले और कुछ प्रतिभूति या व्यक्तिगत न्यास वाले को, तो अन्तिम को सबसे पहले मिलता है और बन्धक वाले को कालान्तर मे।

कात्यायन (५५२) के मत मे यदि भूमि या घर या गाँव की सीमा के विषय की (चौहद्दी आदि) सारी बातें उल्लिखित हो जायँ तो आधि सबल हो उठती है। केवल साक्षी-गण के समक्ष की अपेक्षा लिखित प्रमाण प्रबलतर होता है (कात्यायन ५१८)। यदि पृथक् रूप से एक ही वस्तु कई जगह बन्धक रखी जाय तो जो पहले अधिकार कर लेता है उसको प्रमुखता मिलती है (विष्णु० ५।१८५ एव बृहस्पति, पराशरमाधवीय ३, पृ० २३३)। इससे स्पष्ट है कि हिन्दू न्याय के अनुसार स्वामित्व या भोग अधिक प्रबल था। इस विषय मे देखिए याज्ञ० (२।६०), नारद (४।१३९)। यदि कोई बन्धक किसी एक के पास साक्षी-गण के सामने रखा जाय और दूसरे के पास लिखित रूप मे, तो दूसरे को पहले की अपेक्षा प्रामाणिकता दी जाती है (कात्यायन ५१८, पराशरमाधवीय ३, २३५, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १४४, सरस्वतीविलास पृ० २३७)। यदि ऋणी एक ही वस्तु किसी दूसरे को बन्धक रूप मे दे और पहले का ऋण न चुकाये तो विष्णु० (५।१८०-१८२) के मत से उसे शरीर-दण्ड या कैद की सजा दी जा सकती है और यदि बन्धक वाली भूमि **गोचर्म** हो या अति विस्तृत हो तो भी यही दण्ड दिया जाता है, किन्तु भूमि कम हो तो १६ सुवर्ण का दण्ड दिया जाता है। इन स्थितियो मे कात्यायन (५१७) ने उसे चोर की सजा देने की व्यवस्था दी है। अन्य बातो के लिए देखिए कात्यायन (५१९-५२१)।

यदि **आधि** का मूल्य कम हो जाय और वह मूल एव व्याज के बराबर हो या नष्ट-भ्रष्ट हो जाय तो ऋणी को दूसरी वस्तु बन्धक मे रखनी पडती है या ऋण लौटा देना पडता है (याज्ञ० २।६०, कात्यायन ५२४)। ऋणदाता को प्रतिभूत या बन्धक की वस्तु बडी सावधानी से रखनी चाहिए (मिताक्षरा, याज्ञ० २।६०, बृहस्पति)। यदि रखी हुई वस्तु को समझौते के प्रतिकूल उपयोग मे लाया जाय तो व्याज बन्द हो जाता है और यदि वह नष्ट हो जाय तो ऋणदाता को उसे उसी रूप मे लौटाना पडता है या उसके मूल्य की दूसरी वस्तु देनी पडती है। इसी प्रकार उपयोग मे लायी जानेवाली बन्धक-वस्तु नष्ट या खराब हो जाय तो ऋणदाता का व्याज बन्द हो जाता है और उसे उस वस्तु को लौटाना

पड़ता है या ऋण समाप्त हो जाता है। इस विषय में देखिए याज्ञ० (२।५९) एवं उसी पर मिताक्षरा एवं नारद (४।१२५-१२७)। अन्य बातों के लिए देखिए कात्यायन (५२१), नारद (४।१२५-१३), याज्ञ० (१।५९), विष्णु (६।६), गौतम (१२।३९) एवं बृहस्पति। निक्षेप को सावधानी से रखने के विषय में देखिए नारद (निक्षेप १४), याज्ञ० (२।६७), मनु (८।१)। निक्षेप का अर्थ है धरोहर या बन्धक जो ऋण लेने के लिए रखा जाय।

पारस्परिक समझौता या निर्णय हो जाने के उपरान्त ऋणी समय से पूर्व आधि या बन्धक माँग नहीं सकता, हाँ पुनः नये समझौते से प्राप्त कर सकता है। किन्तु यदि ऋणदाता समय के उपरान्त उसे नहीं लौटाता है तो उस चोर वाला दण्ड मिल सकता है (याज्ञ० २।६२)। ऐसी स्थिति में कौटिल्य (३।१२) ने १२ पण का अर्थ-दण्ड घोषित किया है। जब गोप्य आधि हो या मूल धन एवं ब्याज मिलकर दूना धन हो गया हो और समय की छूट के उपरान्त भी किसी प्रकार की देन न हुई हो या निश्चित समय बीत गया हो और ब्याज आदि न दिया गया हो (चाहे धन दूना हुआ हो या नहीं) तब बन्धक का स्वामित्व ऋणदाता को प्राप्त हो जाता है (मिताक्षरा, याज्ञ० २।५८)। किन्तु यदि लिखा-पढ़ी में स्वामित्व के नष्ट होने की बात न लिखित हो, केवल धन तथा ब्याज के मिलने की बात हो तो स्वामित्व बना रहता है। ऐसी स्थिति में ऋणी को बन्धक बेच देने का अधिकार रहता है। यही बात भोग्याधि में भी है, और इस स्थिति में ऋणी या उसके उत्तराधिकारी किसी भी समय धन देकर बन्धक की वस्तु प्राप्त कर सकते हैं और बन्धक वस्तु का स्वामित्व समाप्त नहीं हो सकता। याज्ञ० (२।६३) एवं बृहस्पति के मत से ऋणदाता ऋणी के सम्बन्धियों तथा साक्षियों के समक्ष आधि बेच सकता है जब कि धन दूना हो चुका हो या निश्चित समय बीत चुका हो या ऋणी मर गया हो या अनुपस्थित हो या धन लौटा न सका हो। कात्यायन (५२) के मत से ऐसी स्थिति में ऋणदाता बन्धक बेचकर शेष राजा को (सम्भवतः राज्य के न्यायालय में) लौटा देता है। कौटिल्य (३।१२) का कथन है कि यदि ऋणदाता को अपने धन की हानि की सम्भावना हो और आधि के व्यापार-मूल्य में वह अधिक हो तो धर्मस्थों की आज्ञा से वह ऋणी की उपस्थिति में उसे बेच सकता है या वह विश्वास के लिए धरोहर या प्रतिभूति या प्रत्यय की माँग कर सकता है। उपर्युक्त बातों से स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में न्यायालय के द्वारा अथवा व्यक्तिगत रूप में बन्धक की बिक्री न्यायानुकूल थी।

याज्ञ० (२।६१) में आधि के दो अन्य प्रकार भी लिखे हैं—चरित्रबन्धक एवं सत्यंकार। प्रथम आधि में यदि ऋणदाता अच्छे चरित्र (ईमान) का हो तो अधिक मूल्य की आधि भी दी जा सकती है या यदि ऋणी अच्छे चरित्र का हो तो कम मूल्य वाली आधि भी स्वीकृत हो सकती है। इन स्थितियों में दी हुई सम्पत्ति की हानि नहीं होती और राजा या न्यायालय केवल ब्याज का दूना दिला सकता है। दूसरा अर्थ यह है कि इसमें अपूर्व या पुण्य उत्पन्न होता है अर्थात् गंगा-स्नानयात्रा या अग्निहोत्र यज्ञ करने के फल का ही विश्वास या प्रत्यय पर्याप्त है। ऐसी स्थिति में ऋणदाता को दूना मिल जाता है और आधि की हानि नहीं होती। दूसरे प्रकार की आधि अर्थात् सत्यंकार में लिखने समय केवल यह लिखा जाता है— मैं केवल दूना दूँगा। आधि की हानि नहीं होती। इसका दूसरा अर्थ यह है—जब केवल कोई चिह्न (अँगूठी आदि) दिया जाय और ऋणी अपना प्रतिवचन न निबाहे तो उस उस प्रतिभूति का दूना देना पड़ता है।

यदि ऋणदाता मर जाय या विदेश में हो और ऋणी धन लौटाना चाहता हो तो वह उसके कुटुम्ब को देकर आधि प्राप्त कर सकता है। यदि ऐसी स्थिति में ऋणदाता का कोई सम्बन्धी न हो तो धन किसी ब्राह्मण (यदि ऋणदाता ब्राह्मण हो) को दिया जा सकता है और यदि कोई ऐसा ब्राह्मण न मिले तो धन जल में फेंका जा सकता है (याज्ञ० २।६२, नारद ४।११२-११३)। नीतिवाक्यामृत (४५।३६-८०) में आया है कि ऐसी स्थिति में अर्थात् जब ऋणदाता मर गया हो और उसका कोई उत्तराधिकारी न हो तो धन श्मशान में या चौराहे पर रख दिया जा सकता है। मनु का कथन है कि ऐसी स्थिति में धन श्मशान में रखने पर स्पष्टतः तैत्तिरीय संहिता के ३।३।८।१-२ मन्त्र पाठ के साथ ऋण

में बहाया जा सकता है। मिताक्षरा (याज्ञ० २।६३) में लिखा है कि जब ऋणदाता अनुपस्थित हो तो ऋणी को चाहिए कि वह आधि का मूल्य निर्धारण करके ऋणदाता के यहाँ रहने दे और आगे का ब्याज न दे और ऋणदाता के आने पर उसे ले ले तथा उसके नष्ट हो जाने पर उसका मूल्य ले ले।

प्रतिभू—प्रतिभू या लग्नक (बृहस्पति एवं कात्यायन ५३०) का अर्थ है औपनिधिक या जामिन। गौतम (१२।३८) में प्रातिभाव्य एवं पाणिनि (२।३।३९) में प्रतिभू आया है। प्रतिभू में तीन व्यक्ति आते हैं, ऋणदाता, ऋणी (मुख्य ऋणी) तथा वह व्यक्ति जो जामिन होता है, अर्थात् विश्वास दिलाता है कि यदि ऋणी नहीं देगा तो वह देगा। मनु (८।१६०) ने प्रतिभू का उल्लेख उपस्थित होने तथा ऋण देने के सिलसिले में किया है। प्रतिभू के तीन उद्देश्य हैं, समय पर उपस्थित होना, धन देना तथा ईमानदारी का प्रदर्शन, अर्थात् ऋणी को उपस्थित कराने के लिए, ऋणी के धन न देने पर स्वयं धन देने के लिए तथा यह विश्वास दिलाने के लिए कि ऋणी पर विश्वास किया जा सकता है। इन बातों के अर्थ के लिए देखिए याज्ञ० (२।५३) पर मिताक्षरा, स्मृतिचन्द्रिका २ (पृ० १४८)। बृहस्पति ने याज्ञवल्क्य द्वारा उपस्थापित उपर्युक्त तीन प्रतिभूओं के अतिरिक्त एक और बतलाया है, वह व्यक्ति जो ऋणी का विभव (यथा—आभूषण तथा अन्य सामान आदि) दिला देने की जिम्मेदारी ले। कात्यायन (५३०) ने लिखा है कि लग्नक (प्रतिभू) ऋणी द्वारा ऋण लौटाने, उसकी उपस्थिति (उपस्थान), उसकी ईमानदारी तथा शपथ (या दिव्य) दिलाने आदि में काम आता है। हारीत के मत में प्रतिभू के पाँच उद्देश्य होते हैं, अभय या शान्ति रखने के लिए, ईमानदारी के लिए, ऋण दिलाने के लिए, ऋणी की सम्पत्ति दिला देने के लिए तथा उसकी उपस्थिति के लिए।[१४] आजकल इन पाँचों प्रकारों को कार्यान्वित किया जाता है। व्यवहारप्रकाश (पृ० २४८) ने व्यास द्वारा कथित सात प्रकारों को तीन ही प्रकारों में रख दिया है। किन्तु ईश्वर या राजा द्वारा उपस्थापित बाधाओं में प्रतिभू होनेवाले को छूट भी मिली है (मनु ८।१५८ एवं कात्यायन ५३२-५३३)।

इसमें सन्देह नहीं कि प्रतिभू बनने वाले को ऋणी का उत्तरदायित्व ग्रहण करना पड़ता था, किन्तु उसकी मृत्यु के उपरान्त उसकी सन्तानों को ऋणी की उपस्थिति या प्रत्यय (ईमानदारी) का भार नहीं ढोना पड़ता था। किन्तु यदि प्रतिभू होनेवाला व्यक्ति ऐसा करने के लिए ऋणी से कुछ प्रतिभति स्वयं ग्रहण कर लेता था तो उसकी सन्तान को उसे लौटाना पड़ता था। पुत्रों एवं पौत्रों द्वारा चुकाये जानेवाले प्रतिभू-उत्तरदायित्वों के विषय में हम आगे लिखेंगे। यदि प्रतिभू होनेवाले कई व्यक्ति हों, तो उन्हें अनुपात के अनुसार ही चुकाना पड़ता था। किन्तु यदि सभी प्रतिभू व्यक्तियों ने सम्मिलित रूप में जिम्मेदारी ली हो तो ऋणदाता किसी एक पर भी सम्पूर्ण धन का दावा कर सकता है (याज्ञ० २।५५ एवं नारद ४।१२०)। अन्य बातों के लिए देखिए कात्यायन (५३८-५३९), याज्ञ० (२।५६), नारद (४।१२१) एवं विष्णु० (६।४४)।

ऋण चुकाने के कई प्रकार थे। मनु (८।४७-४८) के मत में राजा किसी भी प्रकार से ऋणी द्वारा ऋणदाता को धन दिलाने की व्यवस्था कर सकता है। यदि ऋण लेने की बात अस्वीकार हो तो एक मात्र ढंग था न्यायालय में मुकदमा चला देना। किन्तु ऋण स्वीकार कर लेने पर मनु (८।४९=नारद ४।१२२) एवं बृहस्पति ने ऋण उगाहने के पाँच प्रकार बताये हैं—(१) धर्म (अनुरोध, अनुनय करना, समझाना-बुझाना), (२) व्यवहार (न्यायालय की शरण जाना), (३) छल या उपधि (चालाकी), (४) आचरित (धरना, ऋणी के द्वार पर बैठ जाना) तथा (५)

१४ अभये प्रत्यये दाने उपस्थाने प्रदर्शने। पञ्चस्वेव प्रकारेषु ग्राह्यो हि प्रतिभूर्बुधैः॥ हारीत (स्मृतिचन्द्रिका २, १४८, व्यवहारप्रकाश २४८)।

दे सकता है (याज्ञ० २।९३, नारद ४।११४, विष्णु० ६।२६)। यदि ऋणदाता ऋणी की प्रार्थना पर रसीद न दे, तो वह अपने शेष ऋण से हाथ धो सकता है। नारद (४।११५, बृहस्पति) के मत मे यदि ऋणदाता धर्म आदि प्रकारो से प्राप्त धन को प्रमाणपत्र पर या पृथक् रूप से नही लिखित करता तो स्वय ऋणी को व्याज मिलने लगता है। ऋण चुक जाने पर प्रमाणपत्र फाड दिया जाता था या एक दूसरा प्रमाणपत्र लिख दिया जाता था कि ऋण समाप्त हो गया। साक्षियो के समक्ष दिया गया ऋण उनके ही समक्ष लौटाया जाता था (याज्ञ० २।९४, विष्णु० ६।२४-२५, नारद ४।११६)।

अव यह देखना है कि ऋण चुकाने का उत्तरदायित्व किन लोगो पर पडता है। तीन स्थितियो पर ध्यान दिया जाता था—(१) धार्मिक, (२) न्याय्य एव नैतिक तथा (३) व्यावहारिक (कानूनी)। धार्मिक सिद्धान्तो के अनुसार पुत्रो एव पौत्रो को पितृ-ऋण चुकाना पडता है (कौटिल्य ३।२, याज्ञ० २।५०, नारद ४।४, बृहस्पति, कात्यायन ५६०, वृद्ध-हारीत ७।२५०-५१, विष्णु० ४।२७)। क्या यह उत्तरदायित्व प्रपौत्रो पर भी है? बृहस्पति ने स्पष्ट लिखा है कि प्रपौत्रो को प्रपितामह का ऋण नही चुकाना पडता। यही बात विष्णु० (६।२८) ने दूसरे ढग से कही है। नारद (४।४), कात्यायन आदि के मत मे चौथी पीढ़ी के उपरान्त ऋण देने का उत्तरदायित्व समाप्त हो जाता है। किन्तु 'चौथी पीढ़ी' का तात्पर्य क्या है? इसमे प्रथम ऋणी (मौलिक ऋणी) सम्मिलित है अथवा नही? सम्भवत चार पीढियो मे मौलिक ऋणी सम्मिलित है, क्योकि अधिकाश स्मृतियो मे 'प्रपौत्र' स्पष्ट रूप से उल्लिखित नही है। मनु (९।१३७), बौधायन (२।९।६) एव वसिष्ठ (१५।१६) के मत से पुत्र, पौत्र एव प्रपौत्र अपने पूर्वपुरुषो को सर्वोत्तम आध्यात्मिक लाभ देते है। मनु (९।१८६) एव नारद (४।६) के अनुसार श्राद्ध मे तीन पीढियो के लोग पिण्डदान करते हैं। गौतम (१२।३७), याज्ञ० (२।५१), नारद (४।२३) एव विष्णु० (१५।४० एव ६।२९) के मत से जो वसीयत पाता है वह पिण्डदान करता है और पितृ-ऋण चुकाता है। स्पष्ट है, सम्पत्ति-अधिकार के साथ पिण्डदान करना एव ऋण चुकाना एक सामान्य नियम-सा रहा है। जो सन्तान या सतति वसीयत नही पाती उसका उत्तरदायित्व क्योकर रहेगा? इस विषय मे देखिए याज्ञ० (२।५०) की टीका मिताक्षरा, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १७१, वीरमित्रोदय (व्यवहार-प्रकाश) आदि। स्मृतियो मे निम्नलिखित सिद्धान्त प्रकट होते हैं। (१) वशानुक्रम से प्राप्त सम्पत्ति वाली तीन पीढियो (पुत्र, पौत्र एव प्रपौत्र) को ऋण चुकाना चाहिए (मिताक्षरा, याज्ञ० २।५१, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १७१, व्यवहार-प्रकाश पृ० २६४)। (२) यदि आगे की पीढियो को वसीयत न मिली हो तो पुत्र को मूलधन तथा व्याज चुकाना चाहिए, पौत्र को केवल मूलधन तथा प्रपौत्र को, यदि वह न देना चाहे, कुछ नही देना पडता (विष्णु० ६।२७-२८, बृहस्पति, कात्यायन ५५६)। वीरमित्रोदय मे ये दोनो सिद्धान्त बडी सूक्ष्मता से दिये गये हैं।[१६] (३) तीसरा सिद्धान्त उपर्युक्त दोनो सिद्धान्तो का अपवाद है, पिता के अनैतिक एव अवैधानिक ऋण को पुत्र भी नही दे सकता। इस सिद्धान्त के विषय मे हम आगे कहेंगे। (४) चौथा सिद्धान्त यह है—पिता के रहते कुछ परिस्थितियो मे पुत्र, पौत्र एव प्रपौत्र को पिता तथा वशानुक्रम से आते हुए ऋण को चुकाना चाहिए। याज्ञ० (२।५०) का कथन है कि पुत्रो एव पौत्रो को पिता के मरने या विदेश चले जाने या न अच्छे होनेवाले रोग मे पीडित होने पर ऋण चुकाना चाहिए। नारद (४।१४), विष्णु० (६।२७), कात्यायन (५४८-५५०)[१७] का कथन है कि यदि पास मे रहता एव जीवित पिता सन्यासी (विष्णु० के मत से) हो जाय, रोग-

१६ पुत्रेण रिक्थग्रहणाग्रहणयो सवृद्धिकमेव देयम्। पुत्राभावे पौत्रेण रिक्थग्रहणे सोदय देयम्। अग्रहणे मूलमेव। प्रपौत्रेण तु रिक्थाग्रहणे मूलमपि न देयम्। व्यवहारप्रकाश, पृ० २६४।

१७ धनग्राहिणि प्रेते प्रव्रजिते द्विदश समा प्रवसिते वा तत्पुत्रपौत्रैर्धन देयम्। विष्णु० (६।२७), विद्यमानेपि रोगार्ते स्वदेशात्प्रोषितेपि वा। विंशात्सवत्सरादेयमृण पितृकृत सुतै ॥ व्याधितोन्मत्तवृद्धाना तथा दीर्घप्रवा-

में। अत अन्य दान-कर्मो मे जहाँ होमाग्नि नही जलायी जाती (यथा कूप-दान या वाटिका-दान आदि मे), उनके पृथक्-पृथक् अधिकार हैं। और देखिए सरस्वतीविलास, (पृ० ३५३)।

पुत्र के व्यक्तिगत ऋण के लिए पिता देनदार नहीं होता, और न पत्नी के ऋण के लिए पति, उसी तरह पति तथा पुत्रों के ऋण के लिए पत्नी देनदार नही होती। किन्तु यदि ऋण कुटुम्बार्थ लिया गया हो तो पुत्र, पति तथा पत्नी एक-दूसरे के ऋण के उत्तरदायी होते हैं (याज्ञ० २।४७, नारद ४।१०-११ एव कात्यायन ५४५ तथा ५७९)।[21] किन्तु यदि पिता पुत्र का ऋण चुकाने के लिए प्रतिश्रुत हो या उसकी स्वीकृति दे तो वह देनदार होता है। मनु (८।१६७), याज्ञ० (२।४५), नारद (४।१२), बृहस्पति तथा कात्यायन (५८५) का कथन है कि यदि कुटुम्ब के लिए घर के मालिक की अनुपस्थिति मे पुत्र, भाई, चाचा, पत्नी, माता, शिष्य, नौकर या दास द्वारा ऋण लिया जाय तो घर का मालिक उसका देनदार होता है। कौटिल्य (३।२) का कथन है कि यदि पति, पत्नी द्वारा लिये गये ऋण को लौटाने की व्यवस्था किये बिना विदेश-यात्रा करना चाहता है तो उसे पकड लेना चाहिए (उससे काम लेना चाहिए)।

याज्ञ० (२।४८), विष्णु० (६।३७) एव नारद (८।१९) के मत से यदि पतियो की आय एव गृह-व्यय पत्नियो पर निर्भर रहे तो पति ग्वालो, कलालो, अभिनेताओं, धोबियो एव शिकारियो आदि के निमित्त गृहीत ऋण के देनदार होते हैं। यह एक अपवाद है, क्योकि सामान्यत पति पत्नी के ऋण का देनदार नही होता। इसी प्रकार इस नियम के कि पत्नी पति के ऋण की देनदार नही होती, अपवाद भी हैं, जहाँ वह प्रतिश्रुत हुई हो, यथा—पति के मरते समय, उसके विदेश जाते समय तथा जहाँ दोनो ने सम्मिलित रूप मे ऋण लिया हो।

व्यक्ति की मृत्यु के उपरान्त किन व्यक्तियो को किस क्रम मे ऋण लौटाना पडता है, इसके विषय मे याज्ञ० (२।५०), नारद (४।२३), बृहस्पति, कात्यायन (५६२ एव ५७७) एव विष्णु० (६।२९-३०) की घोषणाएँ हैं।[22] जो भी कोई (पुत्र या सपिण्ड उत्तराधिकारी) मृत व्यक्ति का धन पाता है उसे उसके ऋण चुकाने पडते हैं, किन्तु यदि बिना सम्पत्ति छोडे ऋणी मर जाता है तो जो उसकी पत्नी को ग्रहण करे उसे ऋण चुकाने पडते हैं, किन्तु यदि सम्पत्ति न हो और न उसकी पत्नी को ग्रहण करने वाला कोई हो, तो उक्त ऋण का पुत्र को देनदार होना पडता है। यह सिद्धान्त नैतिकता पर आधारित है। यदि कई पुत्र हो और उनमे कोई जन्मान्ध हो तो उसके बिना अन्यो को देनदार होना पडता है। "मृत की पत्नी के ग्रहणकर्ता को ऋण चुकाना पडता है", इस कथन से यह अर्थ नही निकालना चाहिए कि पुरातन ऋषि-महर्षि विधवा-विवाह के पक्षपाती थे। मनु (५।१६२) ने विधवा-विवाह की भर्त्सना की है। किन्तु मिताक्षरा (याज्ञ० २।५१) मे उल्लिखित है कि कुछ जातियो मे विधवाओ का पुनर्ग्रहण परम्परा मे प्रचलित है और विधवा रखैला को रख लेने मे किसी को मना नही किया जा सकता। पत्नी पति की अर्धांगिनी होती है अत वह पति की सम्पत्ति है

२१. प्रोषितस्यामतेनापि कुटुम्बार्थमृण कृतम्। दासस्त्रीमातृशिष्यैर्वा दद्यात्पुत्रेण वा भृगु ॥ कात्यायन ५४५ (अपरार्क पृ० ६४८, पराशरमाधवीय पृ० २६८, विवादरत्नाकर ५६)। पितृव्यभ्रातृपुत्रस्त्रीदासशिष्यानुजीविभि । यद् गृहीत कुटुम्बार्थे तद् गृही दातुमर्हति॥ बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १७४)।

२२ धनस्त्रीहारिपुत्राणामृणभाग्यो धन हरेत्। पुत्रोऽसतो स्त्रीधनिनो स्त्रीहारी धनिपुत्रयो ॥ नारद ४।२३, पूर्व दद्याद्धनग्राह पुत्रस्तस्मादनन्तरम्। योषिद्ग्राह सुताभावे पुत्रो वात्यन्तनिर्धन ॥ कात्यायन (५७७, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १७२, व्यवहारप्रकाश पृ० २७१), रिक्थहर्त्रा ऋण देय तदभावे च योषिता। पुत्रैश्च तदभावेऽन्यै रिक्थभाग्भिर्यथाक्रमम्॥ कात्यायन (५६२, विश्वरूप—याज्ञ० २।४७), धनस्त्रीहारिपुत्राणा पूर्वाभावे यथोत्तरमाधमर्ण्य तदभावे क्रमशोऽन्येषा रिक्थभाजाम्—बृहस्पति (विश्वरूप, याज्ञ० २।४७)।

(नारद ४।२२) और इसलिए उसको ग्रहण करनेवाले को ऋण का देनदार माना गया है। वैजयन्ती में विष्णुधर्म-सूत्र (६।१) की व्याख्या के सिलसिले में याज्ञ० (२।५१) एवं नारद (४।२१) का विश्लेषण किया गया है। इसके मत से 'पुत्र' शब्द रिक्थग्राह (जिसे वसीयत मिली हो) योषिद्ग्राह (विवाहित) एवं अनन्याश्रितद्रव्य (बिना पत्नी एवं पुत्र वाला तथा वह जिसे वसीयत न मिली हो क्योंकि उसके या तो नहीं थी या सम्पत्ति थी ही नहीं) नामक तीन विशेषणों से युक्त है। अतः पुत्रों में जिसे रिक्थ (वसीयत) मिलता है वह ऋण का देनदार होता है ऐसे पुत्र के अभाव में विवाहित को ऋण देना पड़ता है तथा विवाहित के अभाव में जो पत्नीहीन या पुत्रहीन होता है या सम्पत्तिहीन होता है वह ऋण का देनदार होता है।

निक्षेप (धरोहर)—'निक्षेप' 'उपनिधि' एवं 'न्यास' शब्द कभी-कभी पर्यायवाची मान लिये गये हैं जैसा कि अमरकोष में आया है।[23] अन्य प्राचीन ग्रन्थों में इनके विभिन्न अर्थ किये गये हैं। याज्ञ० (२।६५) के मत से किसी मंजूषा (बक्स) में कुछ रखकर तथा उसे बताकर या किसी के पास रख दिया जाता है उसे उपनिधि कहा जाता है। याज्ञ० (२।६७) में न्यास एवं निक्षेप को उपनिधि से भिन्न माना गया है। नारद को उद्धृत करते हुए मिताक्षरा (याज्ञ० २।६५) ने उपनिधि को ऐसी धरोहर माना है जो किसी मुहरबन्द बरतन में बिना गिने किसी व्यक्ति की उपस्थिति में रखी जाती है और वह नहीं बताया जाता कि क्या रखा गया है, किन्तु उसने निक्षेप का उस रूप में वर्णित किया है जब कि वस्तु गिन कर व्यक्ति की उपस्थिति में रखी जाती है। मनु (८।१४९=वसिष्ठ १६।१८) गौतम (१२।१२) ने निक्षेप एवं उपनिधि को पृथक्-पृथक् घोषित किया है। क्षीरस्वामी ने न्यास को खुली धरोहर तथा निक्षेप को किसी शिल्पकार को बनाने के लिए दी गयी सामग्री ठहराया है। नारद (५।१ एवं ५) ने प्रत्यय (विश्वास) के रूप में रखी गयी सामग्रियों को निक्षेप कहा है तथा याज्ञ० (२।६५) ने समान उपनिधि की व्याख्या की है। विश्वरूप (याज्ञ० २।६१) ने सुरक्षा के निमित्त दिये गये खुले सामान का न्यास कहा है और एक व्यक्ति द्वारा तीसरे को देने के लिए दूसरे को दिये गये सामान को निक्षेप की संज्ञा दी है। कात्यायन (५९२) ने उपनिधि को अमानत देने का एक सामान्य रूप माना है, यथा—मोल ली गयी वस्तु को विक्रेता के हाथ में रख छोड़ना, धरोहर रखना, प्रतिज्ञा-पत्र देना, एक के लिए दूसरे को अमानत देना, अल्प काल के उपयोग के लिए किसी वस्तु को उधार रूप में लेना, किसी प्रतिनिधि को किसी के लिए सामान देना। याज्ञ० (२।६७) में मिताक्षरा ने न्यास की परिभाषा घर के मालिक (गृहस्वामी) की अनुपस्थिति में घर के किसी अन्य सदस्य को उसे दे देने के लिए देने के रूप में की है और निक्षेप को निक्षेप करने वाले की उपस्थिति में रखी जानेवाली धरोहर के रूप में स्वीकार किया है। व्यवहारप्रकाश (पृ० २८) ने निक्षेप, उपनिधि एवं न्यास का अन्तर्विभेद बताया है।[24]

निक्षेप या उपनिधि प्रत्यय (विश्वास) के लिए अमानत मात्र है और आधि ऋण के लिए धरोहर या ब्याज उत्पन्न करने के लिए प्रतिभूति है। प्रथम दोनों केवल सुरक्षा के रखे जाने का प्रत्यय मात्र है।[25] बृहस्पति का कथन है कि एक

२३. पुंसामुपनिधिर्न्यासः प्रतिदानं तदर्पणम्। अमरकोश; स्यात्‌ निक्षेपोपनिधि। [illegible] [illegible] वस्तुं समर्पितम्। द्रव्यमुपनिधिर्न्यासः प्रकाशं स्थापितं तु यत्। निक्षेपः शिल्पिहस्ते तु भाण्डं संस्कर्तुमर्पितम्॥ क्षीरस्वामी।

२४. प्रभुकस्य समक्षं गणयित्वा स्थापितं निक्षेपः। गृहस्वामिनोऽसमक्षं गणितमगणितं वा तद्गृहस्थे प्रत्यर्पणीयमित्युक्त्वार्पितं तत्पुत्रादेर्हस्ते यत्तु न्यासः। मुद्रादिकं सम्यक्तमर्पितं स्थापितमुपनिधिरिति। व्यवहारप्रकाश (पृ० २८)।

२५. पूर्वमुपयुक्तापेक्षया परहस्ते यत्तु तदपेक्षया रक्षणार्थमेवाप्यहस्ते द्रव्यमुपनिधिरिति व्यवहारत-मन्तरमुपनिधेरवधारः। सरस्वतीविलास (पृ० २६५)।

प्रकार की धरोहर किसी दूसरे को तब दी जाती है जब कि कोई अपना घर छोड़कर कहीं जाता है या राजा से डरता है या अपने सम्बन्धियों को वंचित करना चाहता है।[२६] मनु (८।१७९, नारद ५।१२) का कहना है कि धरोहर कुलीन, चरित्रवान्, धार्मिक, सत्यवादी, दीर्घकुटुम्बी, धनी एवं ऋजु व्यक्ति के पास रखनी चाहिए। जो धरोहर को अपने यहाँ रखता है वह सामान्यतः कुछ पाता नहीं, अतः स्मृतियों में उसे पुण्यभागी माना गया है और उसे सोने आदि धातुओं के दान का फल मिलता है। किन्तु जो व्यक्ति धरोहर का दुरुपयोग करता है या प्रमाद या अनवधानता के कारण उसे खो बैठता है वह पापी कहा गया है। धरोहर रखने वाले को अपनी सम्पत्ति के समान ही उसकी रक्षा करनी होती है। यदि वह दैवसंयोग से, राजा के कारण या चोरी के कारण नष्ट हो जाय तो उसे रखने वाला देनदार नहीं होता (मनु ८। १८९, याज्ञ० २।६६, नारद ५।९ एवं १२, बृहस्पति एवं कात्यायन ५९३—स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १७९ एवं व्यवहार-प्रकाश पृ० २८३)। नारद (५।६) एवं बृहस्पति के मत से धरोहर (निक्षेप, उपनिधि या न्यास) साक्षियों के समक्ष भी रखी जा सकती है, यद्यपि यह कोई नियम नहीं है, और उसे उसी दशा में लौटा दिया जाता है। किन्तु यदि कोई विवाद उत्पन्न हो जाय तो साक्षियों के अभाव में दिव्य ग्रहण किया जा सकता है।[२७] धरोहर सील (मुहर) या मुद्रांक के साथ ही लौटानी चाहिए (याज्ञ० २।६५)। और देखिए मनु (८।१८५), बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १८१, पराशर-माधवीय ३, पृ० २८१)। यदि धरोहर देनेवाला मर जाय तो धरोहर रखनेवाले (महाजन) को उसे उसके अन्य सम्बन्धियों को बिना माँगे दे देना चाहिए (मनु ८।१८६=नारद ५।१०)। कभी-कभी धरोहर रखनेवाला उसका दुरुपयोग या स्वयं उपयोग कर सकता है या प्रमाद या असावधानता के कारण उसे खो सकता है। ऐसी स्थिति में उसे पूरा-पूरा लौटाना पड़ता है। किन्तु कात्यायन (५९०) ने कुछ अन्तर बताया है, यदि उसका उपभोग हो जाय तो मूल तथा ब्याज के साथ लौटाना चाहिए, यदि असावधानी के कारण नष्ट हो जाय तो उसका मूल्य देना चाहिए ब्याज नहीं, किन्तु यदि अज्ञान के कारण नष्ट हो जाय तो मूल्य में कुछ कम (एक चौथाई कम) देना चाहिए। देखिए नारद (५।८), बृहस्पति (पराशरमाधवीय ३, पृ० २८३)। यदि धरोहर देनेवाला जान-बूझकर किसी असावधान व्यक्ति को महाजन चुनता है, तो धरोहर रखने वाला (महाजन) देनदार नहीं है (कात्यायन ५९९)। यदि धरोहर को तुरत माँगा जाय और महाजन उसे लौटा न सके, या वह किसी कारण नष्ट हो जाय तो उसे उसका मूल्य देना पड़ता है और ऐसा न करने पर उसे अर्थ-दण्ड भी देना पड़ सकता है (याज्ञ० २।६६, नारद ५।७)। और देखिए याज्ञ० (२।६७) एवं नारद (५।८)।

कात्यायन (५०६) का कथन है कि यदि कोई धरोहर, ब्याजावशेष, क्रय-धन (क्रय कर लेने पर सामग्री का मूल्य), विक्रय-धन (बेच देने पर भी सामान न देना) माँगने पर न दे तो उस पर पाँच प्रतिशत ब्याज लगना आरम्भ हो जाता है। और देखिए इस विषय में मनु (८।१९१), नारद (५।१३) एवं कात्यायन (७०१)।

याज्ञवल्क्य (२।६७), नारद (५।१४), बृहस्पति आदि ने निक्षेप-सम्बन्धी इन नियमों को अन्य प्रकार की अमानतों के लिए भी लागू किया है यथा—याचितक (किसी उत्सव के अवसर पर माँगी गयी वस्तु, यथा—आभूषण

२६. स्थानत्यागाद्राजभयाद् दायादानां च वञ्चनात्। स्वद्रव्यमर्प्यतेऽन्यस्य हस्ते निक्षेपमाह तम्॥ बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १७८), राजचौरारातिभयाद् दायादानां च वञ्चनात्। स्थाप्यतेऽन्यगृहे द्रव्यं न्यासः स परिकीर्तितः॥ बृहस्पति (व्यवहारप्रकाश पृ० २७९)।

२७. रहो दत्ते निधौ यत्र विसंवादः प्रजायते। विभावकं तत्र दिव्यमुभयोरपि च स्मृतम्॥ बृहस्पति (अपरार्क पृ० ६६४ एवं व्यवहारप्रकाश पृ० २८४)।

आदि) अन्वाहित (जो तीसरे को दी जाय जब कि वह दूसरे की हो और प्रतिश्रुत हो चुकी हो) न्यास, उपनिधि शिल्पिन्यास (बनाने के लिए दिया गया सामान यथा आभूषण बनाने के लिए सुनार को दिया गया सोना आदि) प्रतिन्यास (एक-दूसरे को दिया गया सामान)। इस विषय में देखिए कौटिल्य (३।१२)। यदि दैवसंयोग से राजा या चोरी के कारण याचितक या अवक्रीत (उधार लिया गया सामान) नष्ट हो जाय तो लेनेवाला उत्तरदायी नहीं होता। कात्यायन (६१) के मत से यदि उधार ली हुई वस्तु माँगने पर न लौटायी जाय तो वह जोर-जबरदस्ती से ली जा सकती है, अपराधी को अर्थ-दण्ड देना पड़ता है या ब्याज के साथ वस्तु का मूल्य देना पड़ता है। समय के भीतर माँगने पर मूल्य नहीं दिया जा सकता किन्तु समय के उपरान्त न देने पर मूल्य तथा नष्ट हो जाने पर ब्याज सहित मूल्य देना पड़ता है। और देखिए कात्यायन (६ ९)।

शिल्पिन्यास के विषय में भी विशिष्ट नियम हैं। कात्यायन (६ ३ ६ ४) का कथन है कि यदि शिल्पकार समय के उपरान्त सामग्री रख लेता है और दैवसंयोग से वह नष्ट हो जाती है तो वह मूल्य का देनदार होता है यदि सामग्री दोषपूर्ण होने के कारण नष्ट हो जाय तो वह देनदार नहीं होता किन्तु यदि सामग्री दोषरहित हो और शिल्पकार द्वारा नष्ट हो जाय उसकी चमक आदि नष्ट हो जाय तो वह मूल्य देने का उत्तरदायी होता है।

अल्पवयस्क के धन के संरक्षक को भी सावधानी रखनी पड़ती है। ऐसा न करने पर वह धन का देनदार होता है। देखिए नारद (५।१५)।[28]

२८. प्रतिगृह्णाति पौगण्डं धनं तत्र नरः। तस्याप्येष भवेद्धर्मः यदीदं विपद्यते तथा॥ नारद (५।१५)। नारद (१।३५) ने पौगण्ड को सोलह वर्ष के भीतर का बालक माना है—बाल आषोडशाद्वर्षात्पौगण्डश्चेति शब्द्यते। गौतम (१२।३४) एवं मनु (८।१४८) ने भी इस शब्द का प्रयोग किया है।

अध्याय १७

अस्वामिविक्रय

स्वामित्व की विविध विधियो के विषय मे हमने इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग, अ० ९, मे पढ लिया है और इस विषय म दायभाग के अन्तर्गत पुन पढेंगे। यहाँ हम सक्षेप मे अस्वामिविक्रय का विवेचन उपस्थित करेंगे। नारद (७।१) एव बृहस्पति के मतानुसार गुप्त रूप मे निम्नलिखित की बिक्री अस्वामिविक्रय के अन्तगत आती है, यथा—खुला निक्षेप, मुद्राङ्कित निक्षेप (मुहरबन्द धरोहर), दूसरे को दी जानेवाली सामग्री, चोरी की वस्तु, किसी उत्सव के लिए ली गयी वस्तु, प्रतिभूति, किसी की छूटी हुई वस्तु आदि।[1] इस प्रकार की बिक्री करनेवाला व्यक्ति अधिकारी विक्रेता नही कहा जाता। यही बात व्यास ने भी लिखी है। इस प्रकार के विक्रय मे दूसरे के धन को गुप्त रूप मे दान रूप मे देना या उस पर प्रतिश्रुत होना या उत्तरदायी (देनदार) होना भी सम्मिलित है। ऐसी बिक्री यदि खुले आम भी की जाय तब भी उसे अस्वामिविक्रय की ही सज्ञा मिलती है। कात्यायन (६१२) के मत से यदि अस्वामी विक्रय, दान आदि करता है तो उसे राजा अथवा न्यायाधीश द्वारा विनिवर्तन कराना (लौटवा देना) चाहिए। यही बात मनु (८।१९९), नारद (स्मृ० च० २, पृ० २१३, व्य० प्र० पृ० २९१) मे भी पायी जाती है। याज्ञ० (२।१६८) एव नारद (७।२) का कथन है कि अस्वामी द्वारा विक्रय की हुई वस्तु पर स्वामी का अधिकार हो सकता है। यदि खरीद करनेवाला व्यक्ति अस्वामी का माल चोरी मे (गुप्त रूप मे) खरीदता है तो वह दण्ड का भागी होता है, यदि वह ऐसे लोगो मे खरीद करता है जिनके पास सामान बेचने के साधन न हो (यथा—नौकर मे, जो बिना स्वामी की आज्ञा के बेचता है) या बहुत कम दाम मे खरीदता है या अर्ध रात्रि मे या ऐसे समय खरीद करता है जब कि लोग ऐसा नही करते, या दुश्चरित्र लोगो से खरीद करता है, तो उसे चोर के दण्ड का भागी होना पडता है (याज्ञ० २।१६८, विष्णु० ५।१६६, नारद ७।३, मनु ८।२०२ आदि)। इस प्रकार की बिक्री छद्म-व्यवहार या बेईमानी की सज्ञा पाती है। यदि कोई व्यक्ति अज्ञानवश प्रकाश मे ऐसी खरीद करता है तो वह क्षम्य हो जाता है, किन्तु उसे सामान लौटाना पडता है (विष्णु० ५।१६८-१६९)। यदि खरीद करनेवाला पूरा भेद खोल देता है तो वह बच जाता है। किन्तु ऐसा न करने पर उसे चोर का दण्ड भुगतना पडता है। (मनु ८।२०२, नारद ७।४)। बृहस्पति, मनु (८।२०१) एव याज्ञ० (२।१७०) का कथन है कि यदि क्रेता द्वारा विक्रेता उपस्थित कर दिया जाय तो वह कानून के पजे मे छूट जाता है और विक्रेता पर कार्रवाई होने लगती है और जब उसके विपक्ष मे फैसला होता है तो उसे क्रेता को वस्तु का मूल्य, राजा को अर्थ-दण्ड तथा वस्तु के स्वामी को उसकी वस्तु

1 निक्षिप्त वा परद्रव्य नष्ट लब्ध्वापहृत्य वा। विक्रीयतेऽसमक्ष यद् विज्ञेयोऽस्वामिविक्रय ॥ नारद (७।१), निक्षेपान्वाहितन्यासहृतयाचितवन्धकम्। उपाशु येन विक्रीतमस्वामी सोभिधीयते॥ वृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २१३, व्यवहारप्रकाश पृ० २९०), याचितान्वाहितन्यास हृत्वा चान्यस्य यद्धनम्। विक्रीयते स्वाम्यभावे स ज्ञेयोऽस्वामिविक्रय ॥ व्यास (व्यवहारमयूख पृ० १९५, व्यवहारप्रकाश पृ० २९०)।

पृ० ७७५ एव स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २१७) मे भी लिखित है। बृहस्पति का कथन है कि यदि मुकदमे म प्रमाण न ... राजा वादियो एव प्रतिवादियो के कथनो के अधिक, सम या न्यून रूपो पर विचार करके निर्णय देना है।[5] राज... अधिकारियों द्वारा नष्ट एव प्राप्त वस्तुओ के विषय मे पहले लिखा जा चुका है (देखिए इस भाग के अध्याय ५ के अ... पृष्ठ)।

मूल्यं तु प्रगृह्णीत स्वक धनम्। अर्घं द्वयोरपहृत तत्र स्याद् व्यवहारत ॥ अविज्ञातक्रयो दोषस्तथा चापरिपालनम्। एतद् द्वय समाख्यात द्रव्यहानिकर बुधै ॥ बृहस्पति (अपरार्क पृ० ७७५, कुल्लूक, मनु ८।२०२, कात्यायन, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २१६-२१७, पराशरमाधवीय ३, पृ० २९७ एव ३००, व्यवहारप्रकाश पृ० २९५-२९६)।

"कानून जागरूक की सहायता करता है।"

५ प्रमाणहीनवादे तु पुरुषापेक्षया नृप । समन्यूनाधिकत्वेन स्वय कुर्याद्विनिर्णयम्॥ बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २१६ एव विवादरत्नाकर पृ० १०८)।

अध्याय १८

सम्भूय-समुत्थान[1] (साझेदारी, सहकारिता)

जब अनेक व्यापारी अथवा अन्य लोग (यथा अभिनेता, संगीतज्ञ या शिल्पकार आदि) परस्पर मिलकर कोई व्यापार करते हैं तो वह कार्य या व्यवसाय सहकारिता, सम्भूयकारिता या सम्भूयसमुत्थान की संज्ञा पाता है (नारद ३।१ एवं कात्यायन ६२४)। बृहस्पति का कथन है कि कुलीन, दक्ष, अनलस, प्राज्ञ, नाणकवेदी (सिक्कों की जानकारी रखने वाले), आय-व्ययज्ञ, शुचि (ईमानदार), शूर (साहसी होकर व्यापार करनेवाले) व्यक्तियों के साथ साझा करना चाहिए, न कि इनके विपरीत लोगों के साथ।[3] भले ही ये समस्त गुण सब में विद्यमान न हों किन्तु कुछ गुणों का होना सम्भूय-समुत्थान के लिए आवश्यक है। आय, व्यय, हानि, लाभ परिश्रम के आधार पर ही जिसने जितना धन या पेय पदार्थ दिया हो उसके आधार पर बँटवारा होना चाहिए (बृहस्पति—स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १८५; व्यवहारप्रकाश पृ० २२८; अपरार्क पृ० ८१२)। प्रत्येक साझेदार का यह कर्तव्य है कि वह अन्य साझेदारों के साथ चाहे वे उपस्थित हों या अनुपस्थित, खरीद-फरोख्त (क्रय-विक्रय) में ईमानदारी बरते। बृहस्पति का कथन है कि अन्य लोगों द्वारा अनुमति होने पर एक साझेदार जो कुछ सम्पत्ति बेचता है या परिवर्तित करता है या जो कुछ प्रमाण या लेख-पत्र लेन-देन के रूप में कार्यान्वित करता है वह सभी साझेदारों द्वारा किया हुआ माना जाता है। किसी सन्दिग्ध परिस्थिति में स्वयं साझेदार ही आपस में निर्णय करते हैं और गवाही या परीक्षण से निपटारा करते हैं। जब वह सन्देह

१ 'सम्भूय' शब्द 'सम्' के साथ 'भू' से बना है, जिसका तात्पर्य है "एक साथ होना"। 'समुत्थान' का तात्पर्य है "व्यवसाय या व्यापार या कर्म"। अतः दोनों का सम्मिलित अर्थ हुआ वह कार्य या व्यापार या व्यवसाय जिसमें साझा (परिश्रम, धन या दोनों) हो।

२ समवेतास्तु ये केचिच्छिल्पिनो वणिजोऽपि वा। अविभज्य पृथग्भूताः [illegible] सह तत्॥ कात्यायन (६२४; अपरार्क पृ० ८११ एवं पराशरमाधवीय ३, पृ० २१४)।

३ कुलीनदक्षानलसैः प्राज्ञैर्नाणकवेदिभिः। आयव्ययज्ञैः शुचिभिः शूरैः कुर्यात्सह क्रियाम्॥ अशक्तालसरोगार्तमन्दभाग्यनिराश्रयैः। वाणिज्याद्याः सहैतैस्तु न कर्तव्या बुधैः क्रियाः॥ बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १८४; अपरार्क पृ० ८११-८१२)।

४ समवायसमर्थं [illegible] परस्परम्। नानादेश्यानुसारात्ते प्रभुत्वं [illegible]॥ व्यास (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १८५, अपरार्क पृ० ८१२)।

५. बहूनां सम्मतो यस्तु दद्यादेको धनं नरः। करणं कारयेद्वापि सर्वैरेव कृतं भवेत्॥ परीक्षकाः साक्षिणस्तु त एवोक्ताः परस्परम्। सन्दिग्धेऽर्थे वञ्चनायां न चेद्विद्वेषसंयुताः॥ यः [illegible] विवादः [illegible]। सर्वैः सोऽपि प्रोच्यः स्यात् सर्वकार्येष्वयं विधिः॥ बृहस्पति (व्यवहारमयूख पृ० [illegible]; विवादरत्नाकर पृ० १११; व्यवहारप्रकाश पृ० २२९)। इसका तात्पर्य यह है कि जब कोई साझेदार कोई विरोध उपस्थित करता है तब वह अनुमान से निर्णीत होता है, मानो उसमें व्यापार में सभी साझेदार व्यापारगामी हैं।

उत्पन्न होता है कि किसी ने वञ्चना या कपटाचरण किया है तो उसे किसी विशिष्ट शपथ या दिव्य की शरण लेनी पड़ती है। याज्ञ० (२।२६०), नारद (६।५) एवं बृहस्पति का कथन है कि जब कोई असावधान रूप से या बिना किसी सलाह-मशविरे के अज्ञानवश कोई ऐसा कार्य कर बैठता है जिससे हानि होती है, तो उसे हरजाना देना पड़ता है। यदि कोई साझेदार दुर्दैव, राजा या चोर आदि से साझे के सामान की रक्षा करता है तो उसे विशेष पुरस्कार उसके विशिष्ट अंश के रूप में दिया जाता है, जो बचायी गयी सम्पत्ति के दशम भाग के रूप में होता है (याज्ञ० २।२६०, कात्यायन ६३१, नारद ६।६)।[6] यदि कोई साझेदार दुष्टता करे या छल प्रपंच करे तो बिना लाभांश दिये उसे साझे से पृथक् किया जा सकता है। यदि कोई साझेदार स्वयं कार्य न कर सके तो वह दूसरे द्वारा साझे में कार्य करा सकता है (याज्ञ० २।२६५)। याज्ञ० (२।२६४) एवं नारद (६।६ एवं १७-१८) के मत से यदि कोई साझेदार विदेश चला जाता है और मर जाता है तो उसका भाग उसके उत्तराधिकारियों (पुत्र आदि) या सम्बन्धियों या सजातियों को दिया जा सकता है। यदि कोई उत्तराधिकारी अधिकार न जताये तो दस वर्षों तक प्रतीक्षा करने के उपरान्त उसका भाग स्वयं साझेदार ले सकते हैं और उनके ऐसा न करने पर स्वयं राजा उसे प्राप्त कर सकता है।

कात्यायन (६३२) का कथन है कि शिल्पियों के बारे में जो नयी विधियों के नियामक होते हैं उन्हें चार भाग, जो दक्ष या कुशल होते हैं उन्हें तीन भाग, जो आचार्य होते हैं उन्हें दो भाग तथा जो शिष्य होते हैं उन्हें एक भाग मिलता है।[7] बृहस्पति के मत से नर्तकों, संगीतज्ञों, गायकों में संगीतज्ञों को बराबर भाग मिलता है, केवल लय मिलाकर बाजा बजाने वालों को आधा भाग मिलता है। इसी प्रकार किसी भवन या मन्दिर के निर्माण में राजों को दो भाग मिलते हैं। शिल्पी उनको कहते हैं जो सोना, चाँदी, सूत, लकड़ी, पत्थर, खाल आदि से सामान बनाते हैं या ६४ शिल्प-कलाओं में किसी एक के आचार्य होते हैं।[8] यदि राजा ने अपने प्रजाजनों में कुछ लोगों के दल को शत्रु-देश में जाकर लूटपाट करने की आज्ञा दी हो तो राजा को लूट के धन का छठा भाग (बृहस्पति), शेष के चार भाग नेताओं को, वीरों को तीन भाग, अधिक योग्य लोगों को दो भाग तथा अन्यों को एक भाग मिलता है। यदि कोई पकड़ा जाय तो उसे छुड़ाने में जो व्यय होता है उसे सबको वहन करना पड़ता है (विवादरत्नाकर पृ० १२५, कात्यायन ६३३-६३५)। यदि व्यापारियों, कृषकों, चोरों एवं शिल्पियों में पहले से कोई समझौता न हुआ हो तो वे परस्पर निर्णय कर सकते हैं।

यह एक मनोरंजक बात है कि गौतम, आपस्तम्ब एवं बौधायन आदि प्राचीन सूत्रकारों ने सम्भूयसमुत्थान के विषय में कुछ नहीं लिखा है। मनु (८।२०६-२११) ने पुरोहितों की दक्षिणा के विभाजन के विषय में नियम बनाये हैं और लिखा है कि अन्य साझे के कार्यों में भी ये ही नियम लागू होते हैं, यथा—प्रत्येक को उसकी महत्ता एवं कार्य-परिमाण के अनुसार मिलना चाहिए। पुरोहितों की दक्षिणा के विषय में मनु ने विस्तार के साथ नियम दिये हैं, जिन्हें हम यहाँ नहीं लिख रहे हैं। नारद (६।१०) एवं बृहस्पति (विवादरत्नाकर पृ० १२०) ने पुरोहितों के तीन

६ चोरत सलिलादग्नेर्द्रव्य यस्तु समाहरेत्। तस्यांशो दशमो देय सर्वद्रव्येष्वय विधि ॥ कात्यायन ६३१ (पराशरमाधवीय ३, ३०५ एव विवादरत्नाकर पृ० ११४)।

७ शिष्यकाभिज्ञकुशला आचार्याश्चेति शिल्पिन । एकद्वित्रिचतुर्भागान् हरेयुस्ते यथं.त्तरम् ॥ कात्यायन ६३२ (व्यवहारमयूख पृ० २०१, अपरार्क पृ० ८३८, विवादरत्नाकर पृ० १२४)।

८ हिरण्यरूप्यसूत्राणा काष्ठपाषाणचर्मणाम्। सस्कर्ता च कलाभिज्ञ शिल्पी चोक्तो मनीषिभि ॥ बृहस्पति (विवादरत्नाकर पृ० १२३, व्यवहारप्रकाश पृ० ३०४)।

अध्याय १९

दत्तानपाकर्म

इस अध्याय के शीर्षक को **दत्ताप्रदानिक** भी कहा जाता है। नारद (७।१) ने इसकी यह परिभाषा दी है कि जब कोई व्यक्ति कुछ देने के उपरान्त उसे पुन लौटा लेना चाहता है, क्योंकि उसने ऐसा करके नियम का अतिक्रमण किया था (अर्थात् वह कार्य न्यायानुकूल न होने के कारण अनुचित था) तो इसे **दत्तानपाकर्म** कहा जाता है।[1] नारद (७।२) ने इसे चार भागो मे बाँटा है—(१) जो न दिया जा सके, (२) जो दिया जा सके, (३) जो देना न्यायानुकूल हो तथा (४) जो देना न्यायानुकूल न हो। नारद (७।३-५) एव बृहस्पति के मत से निम्न आठ वस्तुएँ नही दी जा सकती (अदेय)—अन्वाहित, वरोहर, याचितक, निक्षेप, साझे की सम्पत्ति, पुत्र एव स्त्री, सन्तान वालो की सम्पूर्ण सम्पत्ति तथा प्रतिश्रुत वस्तु। अधिक विस्तार के लिए देखिए कौटिल्य (३।१६), याज्ञ० (२।१७५) एव कात्यायन (६३८)। ये वस्तुएँ नही दी जा सकती, क्योकि इन पर सम्पूर्ण अधिकार नही रहता और इनका दान ऋषियो द्वारा वर्जित है।[2] पुत्र एव पत्नी नही दी जा सकती, क्योकि स्मृतियो ने यह वर्जित किया है। जो देय है उसके विषय मे सामान्य नियम याज्ञ० (२।१७५), नारद (७।६), बृहस्पति एव कात्यायन (६४०) ने दिये हैं—जो सम्पत्ति अपनी है, कुटुम्ब के भरण-पोषण का अश छोडकर, उसको दिया जा सकता है।[3] मनु (९।९-१०), नारद (७।६), बृहस्पति ने उन लोगो की भर्त्सना की है जो अन्य लोगो के प्रति दयाशील होने के लिए अपने कुटुम्ब या नौकरो को निर्धन बना देते है।

१ मेधातिथि (मनु ८।२१४) ने लिखा है—'अपक्रिया क्रियापाय तस्य तत्राप्रतिवेध । दानमेव न चलित भवति। एषैव दाने स्थितिरिति यावत्। कथ प्रतिश्रुत्यादीयमाने धर्मो न नश्यतीति नैषा शका कर्तव्या। एष एवात्र धर्मो यन्न दीयते दत्त च प्रत्यादीयते।' अत इसके अनुसार दत्तस्यानपाकर्म का तात्पर्य है—जो कुछ दिया गया है या दिये जाने के लिए प्रतिश्रुत-सा है उसका उचित आदान या अपहरण। मिताक्षरा (याज्ञ० २।१७५) ने दत्ताप्रदानिक तथा दत्तानपाकर्म की भी व्याख्या की है—'दत्तस्य अप्रदान पुनर्हरण यस्मिन्दानाख्ये तद् दत्ताप्रदानिक नाम व्यवहार-पदम्। दत्तस्य अनपाकर्म अपुनरादान यत्र दानाख्ये विवादपदे तद्दत्तानपाकर्म।' इसके अनुसार दत्तानपाकर्म का तात्पर्य यह है—वह जिसमे जो दिया गया है पुन नहीं लौटाया जा सकता, क्योंकि दान न्यायानुकूल है (इसका विपरीत अर्थ भी स्पष्ट है)।

२ सर्वस्व पुत्रदारमात्मान प्रदायानुशयिन प्रयच्छेत। अर्थशास्त्र (३।१६)। सामान्यपुत्रदाराधिसर्वस्व-न्यासयाचितम्। प्रतिश्रुत तथान्यस्मैत्यदेय त्वष्टधा स्मृतम्॥ बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १८९, व्यवहार-प्रकाश पृ० ३०६), नारद (७।४-५) एव दक्ष (३।१९-२०)।

३ सर्वस्व गृहवर्ज तु कुटुम्बभरणाधिकम्। यद् द्रव्य तत्स्वक देयमदेय स्यादतोन्यथा॥ कात्यायन ६४० (पराशरमाधवीय ३, पृ० २१४, विवादरत्नाकर पृ० १२९, सरस्वतीविलास पृ०२८३)। कात्यायन ने उस मनुष्य को, जिसके पास एक ही घर हो, घर बेचने से मना किया है।

जो ऐसा करते हैं वे पापी होते हैं। और देखिए मनु (९।७=नारद ७।७) वसिष्ठ (८।१) याज्ञ (१।१२४) विष्णु (५९।८)।

नारद (७।८) के मत से दत्त दान सात प्रकार के हैं। दत्त वे हैं जिन्हें लौटाया नहीं जा सकता तथा जिन पर देनेवाले का पूर्ण अधिकार है और जो देय माने गये हैं। ये हैं क्रीत वस्तुओं का मूल्य, पारिश्रमिक, आनन्दोत्सव (नृत्य संगीत मल्लयुद्ध) के लिए जो दिया जाय, स्नेह-दान, श्रद्धा-दान, वधू के सम्बन्धियों को दिया गया धन, आध्यात्मिकता या दानशीलता के उपयोग का धन। बृहस्पति के अनुसार दत्त धन आठ प्रकार के हैं।

नारद (७।९-११) ने अदत्त (जो न्यायानुकूल न हो) दान के १६ प्रकार लिखे हैं, जिनके विषय में हमने इस ग्रन्थ के दूसरे भाग में पढ़ लिया है। और देखिए कात्यायन (६४७)। दत्त एवं अदत्त में अन्तर यह है कि प्रथम प्रकार में वर्णित होने के कारण वे दान हैं जो पूर्णरूपेण वैध हैं, दूसरे प्रकार (अदत्त) में वे दान हैं जो परित्याज्य हैं और दाता के आवेदन पर न्यायालय द्वारा निषिद्ध ठहराये जा सकते हैं, क्योंकि वे दाता की अयोग्यता के परिणाम मात्र हैं, यथा—उन्मत्तता, पागलपन, वृद्धता, अल्पवयस्कता, त्रुटि आदि के कारण। कात्यायन (६४९) एवं कौटिल्य (३।१६) का कथन है कि यदि प्राण-संशय में कोई व्यक्ति अपने रक्षक को सम्पूर्ण सम्पत्ति दान कर देता है तो वह बाद चलकर दक्ष लोगों की सम्मति से केवल पुरस्कार मात्र देकर अपने पूर्व प्रण को तोड़ सकता है।

कात्यायन (६५०-६५१) ने उत्कोच (घूस) को निम्न रूप से व्यक्त किया है: किसी व्यक्ति को चोर या आततायी कहकर प्रत्युत्तर देने के द्वारा या किसी को व्यभिचारी कहकर, या वधमाता की ओर संकेत कर या किसी के विषय में भ्रामक अफवाह उड़ाकर जो धन लिया जाय वह उत्कोच है। कात्यायन ने आगे कहा है कि घूस देनेवाले को दण्डित नहीं करना चाहिए, बल्कि मध्यस्थ को दण्डित करना चाहिए। यदि घूस लेनेवाला राजा का कर्मचारी हो तो उसे घूस लौटानी पड़ती है और उसका ग्यारह गुना अर्थ-दण्ड देना पड़ता है। यदि कोई राजकर्मचारी न होते हुए घूस (उत्कोच) लेता है तो उसे दण्डित नहीं किया जाता, क्योंकि उसे जो कुछ मिलता है वह पुरस्कार या कृतज्ञता-प्रकाशन के रूप में मिलता है।

हारीत का कथन है कि प्रतिश्रुत होने पर यदि दान नहीं दिया जाता तो नरक में गिरना होता है और इस लोक एवं परलोक में ऋणी बनकर रहना पड़ता है। अतः राजा को चाहिए कि वह प्रण-कर्ता को प्रतिश्रुत दान देने को बाध्य करे और ऐसा न करने पर उसे दण्डित करे। कात्यायन (६४९) का कथन है कि यदि कोई ब्राह्मण को दान देने का वचन देकर उसे पूरा न करे तो वह दान ऋण रूप में देना पड़ता है, और यदि कोई किसी धार्मिक कार्य के लिए निरोग या स्वस्थ अवस्था में दान करने का वचन देता है किन्तु उसे पूरा करने के पहले ही मर जाता है तो उसके पुत्र या उत्तराधिकारी को वह देना पड़ता है (६६६)। स्पष्ट है प्राचीन न्यायालयों द्वारा ब्राह्मणों एवं धार्मिक कृत्यों के लिए किये गये दान

४. भृत्या तुष्ट्या पण्यमूल्यं स्त्रीशुल्कमुपकारिणे। श्रद्धानुग्रहं प्रीत्या दत्तमष्टविधं विदुः॥ बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १९६)।

५. प्रतिश्रुत्याप्रदानेन दत्तस्याच्छेदनेन च। विविधान्नरकान् याति तिर्यग्योनौ च जायते॥ वाचैव यत्प्रतिज्ञातं कर्मणा नोपपादितम्। ऋणं तद्धर्मसंयुक्तमिह लोके परत्र च॥ हारीत (व्यवहारप्रकाश पृ० ११; विवादचन्द्र पृ० १६; स्मृतिचन्द्रिका २ पृ० १९२)।

६. स्वेच्छया यः प्रतिश्रुत्य ब्राह्मणाय प्रतिग्रहम्। न ददाति ऋणं दाप्यः प्राप्नुयात्पूर्वसाहसम्॥ कात्यायन (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १९२, सरस्वतीविलास पृ० २८५, व्यवहारप्रकाश पृ० ११)। स्वस्थेनार्तेन वा देयं श्रावितं

दिये जाते थे। गौतम (५।२१) का कथन है कि यदि दानपात्र अधार्मिक हो तो दाता के द्वारा प्रतिश्रुत दान नहीं भी दिया जा सकता, अर्थात् उसके उत्तराधिकारी उसे नहीं भी दे सकते। नारद (७।१२) एवं बृहस्पति का कथन है कि जो अदत्त दान ग्रहण करते हैं अथवा जो वर्जित दान करते हैं, दोनों को राजा द्वारा दण्डित होना पड़ता है।[7]

दान का तात्पर्य है दाता का उसके प्रति अस्वामित्व तथा लेनेवाले का उस दान के प्रति स्वामित्व हो जाना (जब वह दान को स्वीकार कर ले)। स्वीकार मानसिक, शाब्दिक एवं शारीरिक रूप से होता है। इस विषय में जीमूतवाहन जैसे लेखकों के विचार अवलोकनीय हैं (दायभाग १।२१-२८, पृ० १३-१५)।

धर्मकारणात्। अदत्त्वा तु मृते दाप्यस्तत्सुतो नात्र संशयः॥ कात्यायन (विवादचिन्तामणि पृ० १६, पृ० ३१३, सरस्वतीविलास पृ० २८७, विवादचन्द्र पृ० ३७), प्रतिश्रुत्याप्रदातारं सुवर्णं ... (२२७।८, व्यवहारप्रकाश पृ० ३१०)।

७ प्रतिश्रुत्याप्यधर्मसंयुक्ताय न दद्यात्। गौतम (५।२१)। अदत्तभोक्ता दण्ड्य ... बृहस्पति (सरस्वतीविलास पृ० २२८)।

करने पर पारिश्रमिक मे कटौती हो मकती है (नारद ९।४)। यदि नौकर पारिश्रमिक ले लेने के उपरान्त कार्य करने के योग्य होने पर भी कार्य न करे तो उमे वह लौटाना पडता है और उमका दूना दण्ड देना पडता है। इसी प्रकार यदि पारिश्रमिक न भी मिला हो किन्तु भृत्य विना किसी कारण के कार्य न करे तो उमे पारिश्रमिक के अनुरूप दण्ड देना पडता है (याज्ञ० २।१९३, नारद ९।५ एव बृहस्पति)। कौटिल्य (३।१४) के मत मे काम करने का प्रण करके तथा वेतन पाकर यदि भृतक उसे सम्पादित न करे तो उमे १२ पण का दण्ड देना पडता है और कार्य करना पडता है।[3] और देखिए नारद (९।५), कात्यायन (६५७), वृद्ध-हारीत, मनु (८-२१५, २१७), बृहस्पति, मत्स्यपुराण (२२७।९) आदि, जहाँ अर्थ-दण्ड के विभिन्न नियम दिये गये हैं। यदि भृतक बीमार हो या सकट-ग्रस्त हो तो उसको छूट दी जा सकती है अथवा वह अपना प्रतिनिधि दे सकता है (कौटिल्य ३।१४)। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।११।२८।२-४) के मत से यदि नौकर, कर्षक या ग्वाला काम न करे तो उमे शरीर-दण्ड देना चाहिए और उससे पशु आदि छीन लेने चाहिए। किन्तु इस नियम का आगे चलकर बहिष्कार हुआ। कौटिल्य (३।१३) का कथन है कि यदि स्वामी या नियोजक वेतन न दे तो उस पर छ पण का, या उचित पारिश्रमिक के दसवें भाग का या पूर्वनिश्चित वेतन का अर्थ-दण्ड लगता है। यदि भृतक वेतन ले लेने पर न पाने का अभियोग लगाये तो उम पर १२ पण का या वेतन के पाँचवें भाग का अर्थ-दण्ड लगता है।[4] कौटिल्य (३।१४) का कथन है कि समझौता हो जाने पर अवधि के भीतर स्वामी को न तो दूसरा नौकर रखना चाहिए और न नौकर को दूसरा स्वामी।

याज्ञ० (२।१९७), नारद (९।९), कात्यायन (६५९), विष्णु० (५।१५५-१५६) के मत से यदि ढोनेवाले की असावधानी से (दैवसयोग या राजा के कारण नही) सामान नष्ट हो जाय या खराब हो जाय तो उमे हरजाना देना पडता है।[5] वृद्ध-मनु का कथन है कि यदि असावधानी के कारण नौकर से मामान नष्ट हो जाय तो सामान का मूल्य देना पड़ता है, किन्तु यदि द्रोह से नष्ट हो जाय तो दूना मूल्य देना पडता है। अन्य समझौतो के लिए देखिए याज्ञ० (२।१९७), नारद (९।८), कात्यायन (६५८), वृद्ध-मनु (विवादरत्नाकर पृ० १६३)।

यदि किसी अवधि के भीतर काय समाप्त करने के समझौते के आधार पर एक बार ही वेतन लेना निश्चित करके भृतक पहले ही काम छोड देता है तो वह वेतन से हाथ धो बैठता है, किन्तु यदि स्वामी की झिडकियो के फलस्वरूप (अपना दोप न रहने पर) वह कार्य करना छोड देता है तो उसे जितना कार्य हो गया है उसके अनुरूप वेतन मिल जाता

३ गृहीतवेतन कर्म न करोति यदा भृत। समर्थश्चेद् दम दाप्यो द्विगुण तच्च वेतनम्॥ बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २०२, विवादरत्नाकर प० १५९), कर्मारम्भ तु य कृत्वा सिद्ध नैव तु कारयेत्। बलात्कारयितव्योऽसावकुर्वन् दण्डमर्हति॥ कात्यायन ६५७ (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २०३, विवादरत्नाकर पृ० ११०), गृहीत्वा वेतन कर्माकुर्वतो भृतकस्य द्वादशपणो दण्ड। सरोधश्चाकारणात्। अर्थशास्त्र (३।१४)।

४ वेतनादाने दशबन्धो दण्ड षट्पणो वा। अपव्ययमाने द्वादशपणो दण्ड पञ्चबन्धो वा। अर्थशास्त्र (३।१३)।

५ भाण्ड व्यसनमागच्छद्यदि वाहकदोषत। स दाप्यो यत्प्रणष्ट स्याद्दैवराजकृतादृते॥ नारद (९।९), न तु दाप्यो हृत चौरैर्दग्धमूढ जलेन वा। कात्यायन (६५७, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २०३, अपरार्क पृ० ७९९, सरस्वतीविलास पृ० ३००)। प्रमादान्नाशित दाप्य सम द्विर्द्रोहनाशितम्। वृद्ध-मनु (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २०३, विवादरत्नाकर पृ० १६२), तद्दोषेण यद्विनश्येत् तत्स्वामिने। अन्यत्र दैवोपघातात्। विष्णुधर्मसूत्र (५।१५५-१५६), विघ्नयन् वाहको दाप्य प्रस्थाने द्विगुण दमम्। कात्यायन (६५८, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २०३, पराशरमाधवीय ३, पृ० ३२७)।

अध्याय २०

वेतनस्यानपाकर्म, अभ्युपेत्याशुश्रूषा एवं स्वामिपालविवाद

इस अध्याय में वेतन पर रखे गये भृत्यों (नौकरों) को पारिश्रमिक देने या न देने के विषय में चर्चा होगी। बृहस्पति ने इस विषय में अभ्युपेत्याशुश्रूषा, वेतनस्यानपाकर्म एवं स्वामिपालविवाद के प्रश्नों को उठाया है। मनु एवं कौटिल्य ने इनमें प्रथम की चर्चा नहीं की है। यहाँ वेतनस्यानपाकर्म की चर्चा सबसे पहले की जायगी और बाद को अन्य दो की पृथक्-पृथक् चर्चा होगी। ये तीनों स्वामियों एवं नौकरों या नियोजकों एवं नियुक्तों से सम्बन्ध रखते हैं। नौकरी की अवधियों एवं पारिश्रमिकों तथा उनसे सम्बन्धित कार्यों के विषय में विभिन्न नियम बने हुए हैं। ये नियम ईसापूर्व छठी शताब्दी से लेकर ईसा के उपरान्त पाँचवीं शताब्दी तक की कालावधि में बिखरे पड़े हैं (अर्थात् गौतम एवं आपस्तम्ब से लेकर बृहस्पति एवं कात्यायन तक)। इन नियमों में स्वामियों एवं नौकरों के उत्तरदायित्वों का वर्णन है।

नारद (९।२) के मत से पहले से निश्चित पारिश्रमिक कार्य करने के आरम्भ में, मध्य में या अन्त में दिया जा सकता है। किन्तु यदि पहले से कुछ तय न पाया हो तो नारद (९।३) याज्ञ० (२।१९४) एवं कौटिल्य (३।१३) के अनुसार व्यापारी के प्रतिनिधि, ग्वाला एवं कर्षक को क्रम से लाभ, दूध एवं अन्न का दशांश मिलना चाहिए। स्मृतिचन्द्रिका (२, २, १) के मत से यह नियम तभी लागू होता है जब कि अन्न सरलता से उत्पन्न हो जाता है। किन्तु बृहस्पति का वचन है कि यदि नियोजक नौकर को भोजन-वस्त्र देता है तो पारिश्रमिक निश्चित न रहने पर कर्षक नौकर को अन्न का पाँचवाँ भाग तथा जिसे भोजन-वस्त्र नहीं मिलता उसे तिहाई भाग मिलता है। यदि वेतन या पारिश्रमिक पूर्व में निश्चित न हो तो वृद्ध-मनु के मत से कुशल व्यापारियों (यदि विवाद व्यापार से सम्बन्धित है) की सम्मति में काल, स्थान एवं उद्देश्य के अनुसार उसे तय करना चाहिए। यदि पारिश्रमिक या वेतन पूर्व से निश्चित भी हो तो कुछ बातों में कुछ कम या अधिक दिया जा सकता है, यथा—यदि भृत्य काल एवं स्थान से सम्बन्धित नियमों का उल्लंघन करे जिससे घाटा हो जाय तो कम तथा यदि अधिक लाभ हो जाय तो अधिक दिया जा सकता है (याज्ञ० २।१९५)।

यदि दो या इससे अधिक भृत्य रोग या किसी अन्य कारण से कम काम करें तो मध्यस्थ द्वारा तय करके कार्य के अनुरूप वेतन दिया जाना चाहिए और यदि सम्पूर्ण कार्य समाप्त हो जाय तो सम्मिलित रूप से दिया जाना चाहिए (याज्ञ० २।१९६)। काम करने के बरतन, औजार आदि की रक्षा अपने बरतनों के समान ही करनी चाहिए, ऐसा न

१. अदेयादिक्रमात्पश्चात् भृत्यानामुच्यते विधिः। अशुश्रूषाभ्युपेत्यैतन्त्यवसायाह्वयौ निगद्यते॥ वेतनस्यानपाकर्म तदनु स्वामिपालयोः। क्रमशः कथ्यते वादो भृत्येवाद्यं विवादम्॥ बृहस्पति (विवादरत्नाकर पृ० १३८, विवादचिन्तामणि पृ० ४१)।

२. भक्ताच्छादभृतः सीरात् भागं गृह्णीत पञ्चमम्। जातसस्यात् त्रिभागं तु प्रगृह्णीयादथाभृतः॥ बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ९२ व्यवहारप्रकाश पृ० ३१४ एवं सरस्वतीविलास पृ० २९८)।

करने पर पारिश्रमिक में कटौती हो सकती है (नारद ९।८)। यदि नौकर पारिश्रमिक ले लेने के उपरान्त कार्य करने के योग्य होने पर भी कार्य न करे तो उसे वह लौटाना पड़ता है और उसका दूना दण्ड देना पड़ता है। इसी प्रकार यदि पारिश्रमिक न भी मिला हो किन्तु भृत्य बिना किसी कारण के कार्य न करे तो उसे पारिश्रमिक के अनुरूप दण्ड देना पड़ता है (याज्ञ० २।१९३, नारद ९।५ एवं बृहस्पति)। कौटिल्य (३।१४) के मत से काम करने का प्रण करके तथा वेतन पाकर यदि भृतक उसे सम्पादित न करे तो उसे १२ पण का दण्ड देना पड़ता है और कार्य करना पड़ता है।[3] और देखिए नारद (९।५), कात्यायन (६५७), वृद्ध-हारीत, मनु (८-२१५, २१७), बृहस्पति, मत्स्यपुराण (२२७।९) आदि, जहाँ अर्थ-दण्ड के विभिन्न नियम दिये गये हैं। यदि भृतक बीमार हो या संकट-ग्रस्त हो तो उसको छूट दी जा सकती है अथवा वह अपना प्रतिनिधि दे सकता है (कौटिल्य ३।१४)। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।११।२८।२-४) के मत से यदि नौकर, कर्षक या ग्वाला काम न करे तो उसे शरीर-दण्ड देना चाहिए और उससे पशु आदि छीन लेने चाहिए। किन्तु इस नियम का आगे चलकर बहिष्कार हुआ। कौटिल्य (३।१३) का कथन है कि यदि स्वामी या नियोजक वेतन न दे तो उस पर छः पण का, या उचित पारिश्रमिक के दसवें भाग का या पूर्वनिश्चित वेतन का अर्थ-दण्ड लगता है। यदि भृतक वेतन ले लेने पर न पाने का अभियोग लगाये तो उस पर १२ पण का या वेतन के पाँचवें भाग का अर्थ-दण्ड लगता है।[4] कौटिल्य (३।१४) का कथन है कि समझौता हो जाने पर अवधि के भीतर स्वामी को न तो दूसरा नौकर रखना चाहिए और न नौकर को दूसरा स्वामी।

याज्ञ० (२।१९७), नारद (९।९), कात्यायन (६५९), विष्णु० (५।१५५-१५६) के मत से यदि ढोनेवाले की असावधानी से (दैवसंयोग या राजा के कारण नहीं) सामान नष्ट हो जाय या खराब हो जाय तो उसे हरजाना देना पड़ता है।[5] वृद्ध-मनु का कथन है कि यदि असावधानी के कारण नौकर से सामान नष्ट हो जाय तो सामान का मूल्य देना पड़ता है, किन्तु यदि द्रोह से नष्ट हो जाय तो दूना मूल्य देना पड़ता है। अन्य समझौतों के लिए देखिए याज्ञ० (२।१९७), नारद (९।८), कात्यायन (६५८), वृद्ध-मनु (विवादरत्नाकर पृ० १६३)।

यदि किसी अवधि के भीतर कार्य समाप्त करने के समझौते के आधार पर एक बार ही वेतन लेना निश्चित करके भृतक पहले ही काम छोड़ देता है तो वह वेतन से हाथ धो बैठता है, किन्तु यदि स्वामी की झिड़कियों के फलस्वरूप (अपना दोष न रहने पर) वह कार्य करना छोड़ देता है तो उसे जितना कार्य हो गया है उसके अनुरूप वेतन मिल जाता

३. गृहीतवेतनः कर्म न करोति यदा भृतः। समर्थश्चेद् दमं दाप्यो द्विगुणं तच्च वेतनम्॥ बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २०२, विवादरत्नाकर पृ० १५९), कर्मारम्भं तु यः कृत्वा सिद्धं नैव तु कारयेत्। बलात्कारयितव्योऽसावकुर्वन् दण्डमर्हति॥ कात्यायन ६५७ (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २०३, विवादरत्नाकर पृ० ११०), गृहीत्वा वेतनं कर्माकुर्वतो भृतकस्य द्वादशपणो दण्डः। संरोधश्चाकारणात्। अर्थशास्त्र (३।१४)।

४. वेतनादाने दशबन्धो दण्डः षट्पणो वा। अपव्ययमाने द्वादशपणो दण्डः पञ्चबन्धो वा। अर्थशास्त्र (३।१३)।

५. भाण्डं व्यसनमागच्छेद्यदि वाहकदोषतः। स दाप्यो यत्प्रणष्टं स्याद्दैवराजकृतादृते॥ नारद (९।९), न तु दाप्यो हृतं चौरैर्दग्धमूढं जलेन वा। कात्यायन (६५७, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २०३, अपरार्क पृ० ७९९, सरस्वतीविलास पृ० ३००)। प्रमादान्नाशितं दाप्यः समं द्विर्द्रोहनाशितम्। वृद्ध-मनु (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २०३, विवादरत्नाकर पृ० १६२), तद्दोषेण यद्विनश्येत् तत्स्वामिने। अन्यत्र दैवोपघातात्। विष्णुधर्मसूत्र (५।१५५-१५६), विघ्नयन् वाहको दाप्यः प्रस्थाने द्विगुणं दमम्। कात्यायन (६५८, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २०३, पराशरमाधवीय ३, पृ० ३२७)।

है (नारद विवादरत्नाकर पृ १११ कात्यायन ६६ अपरार्क पृ ८० एवं विवादरत्नाकर पृ ११५)। किन्तु (५।१५३-१५४ एवं १५७-१५८) के मत से उपर्युक्त परिस्थितियों में भृतक को १ पण तथा स्वामी को वेतन तथा १ पण दण्ड रूप में देने पड़ते हैं। कात्यायन (६६) के मत से यदि स्वामी नौकर को यात्रा में बीमार पड़ जाने या थक जाने के कारण छोड़कर आगे बढ़ जाता है तो उसे ग्राम में तीन दिन तक प्रतीक्षा न करने के कारण अर्थ-दण्ड देना पड़ता है। नारद (९।७) के मत से यदि व्यापारी किसी गाड़ी या भारवाही पशु को लेने के लिए समझौता करके उन्हें नियुक्त नहीं करता तो उसे निश्चित किराये का चौथाई देना पड़ता है और यदि वह उन्हें नियुक्त कर यात्रा के कुछ भाग में ही छोड़ देता है तो उसे पूरा किराया देना पड़ता है। यदि व्यापार का सामान राजकर्मचारी द्वारा पकड़ लिया जाय या चोरी चला जाय तो उसे ढोनेवाले नौकर को पूर्वनिश्चित पारिश्रमिक का (यात्रा के अनुपात से) कुछ भाग मिल जाता है (कात्यायन ६६१)। बृहस्पति के अनुसार यदि स्वामी काम लेकर भृतक को वेतन न दे तो उसे राजा द्वारा दण्डित होना पड़ता है और निश्चित वेतन देना पड़ता है। यदि कोई व्यक्ति हाथी घोड़ा बैल गदहा एवं ऊँट किराये पर लेकर और काम कराकर उन्हें नहीं लौटाता है तो उसे किराये के साथ लौटाना पड़ता है। ये नियम किराये के घर तथा जलाशय या हाट के विषय में भी लागू हैं (कात्यायन ६६२)। नारद (९।२ २१) का कथन है कि यदि कोई व्यक्ति (किराया) तय कर किसी की भूमि पर गृह-निर्माण करता है तो वह जाते समय तथा ईंट, लकड़ियाँ आदि लेकर उसे छोड़ सकता है किन्तु यदि बिना किराया दिये और स्वामी की इच्छा के प्रतिकूल कोई इस प्रकार गृह-निर्माण करता है तो उसे उस गृह को छोड़ते समय सारा सामान भी छोड़ना पड़ता है। बृहस्पति का कथन है कि यदि किसी का नौकर किसी दूसरे के साथ अनुचित व्यवहार (चोरी) करता है तो स्वामी को हरजाना देना पड़ता है। मत्स्यपुराण (२२७।५) का कथन है कि यदि गुरु किसी को कोई शिल्प आदि सिखाने के लिए धन लेता है किन्तु सिखाता नहीं तो उसे पूरा धन दण्ड रूप में देना पड़ता है।

उपर्युक्त बातों से स्पष्ट होता है कि स्मृतियों में नौकरी से सम्बन्धित करार तथा किराये पर वस्तुओं के लेन-देन आदि के नियम एक-साथ ही दिये हुए हैं।

कौटिल्य (३।१४) के मत से भृतकों के संघों के सदस्यों को वेतन तब ही देते थे। जैसा पूर्व निश्चित रहता था उसी के अनुसार सारी कमाई बराबर-बराबर बाँट दी जाती थी। याज्ञ (२।२६५) का भी कथन है कि साझेदारी के नियम कर्षकों एवं शिल्पियों के लिए भी यथावत् प्रयुक्त होते हैं।

नारद (१।१८) याज्ञ (२।२९१) एवं मत्स्यपुराण (२२७।१४४ १४६) में वेश्याओं एवं वेश्यागामियों के धन-सम्बन्धी उत्तरदायित्वों का वर्णन है। मत्स्यपुराण (२२७।१४४ १४६) में आया है कि शाहून वेश्यागामियों

६. हस्त्यश्वगोखरोष्ट्रादीन् गृहीत्वा भाटकेन यः। कार्यसिद्धावदत्त्वार्थं स तु दाप्यः सभाटकम्॥ गृहवार्यापणादीनि गृहीत्वा भाटकेन यः। स्वामिने नार्पयेद्यावत्तावद्दाप्यः सभाटकम्॥ कात्यायन (६६१–६६३ स्मृतिचन्द्रिका २ पृ २ ५। विवादरत्नाकर पृ १६८–१६९। पराशरमाधवीय ३ पृ ३१०–३११)। 'भाटक' शब्द 'भृति' का ही प्राकृत रूपान्तर है जो स्वयं संस्कृत हो गया है। संस्कृत में वेतन और भृति शब्द पारिश्रमिक के लिए प्रयुक्त होते हैं तथा भाटक का प्रयोग गृह या भूमि आदि के किराये के रूप में।

७. प्रभुणा विनियुक्तः सन् भृतको विदधाति यत्। तदर्थमशुभं कर्म स्वामी तत्रापराध्नुयात्॥ बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका २ पृ २ ४ विवादरत्नाकर पृ १६२)। गृहस्वामी की किसी किस्म का न प्रयच्छति। दण्ड्य न भूतं तस्य धर्मेण महीभुजा॥ मत्स्यपुराण (२२७।६ विवादरत्नाकर प १६३)।

पर वेश्याओं को दिये गये धन के बराबर अर्थ-दण्ड लगता है और यदि कोई वेश्या शुल्क लेने के उपरान्त किसी अन्य आगन्तुक से सम्बन्ध रखती है या नहीं और नहीं जाती है तो उसे अपने शुल्क का दूना पहले से निश्चित व्यक्ति का और उतना ही राजा को देना पड़ता है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति किसी वेश्या को किसी व्यक्ति के यहाँ ले जाने का निश्चय करके किसी अन्य व्यक्ति के यहाँ ले जाता है तो उस पर एक स्वर्ण-मापक का अर्थ-दण्ड लगता है।

मत्स्यपुराण (२२७।१४७) के मत से यदि वेश्यागामी किसी वेश्या के साथ रमण करने के उपरान्त उसे निश्चित शुल्क नहीं देता है तो उसे उसका दूना वेश्या को तथा राजा को देना पड़ता है। नारद का कथन है कि मुख्य वेश्याओं एवं उनकी अन्य भोग-निरत सहयोगिनियों का वेश्या-सम्बन्धी लेन-देन के विवाद सुलझाने चाहिए (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २०६, विवादरत्नाकर पृ० १६७ एवं व्यवहारप्रकाश पृ० ३३०)। और देखिए नारद (२२७।१४७)।

अभ्युपेत्याशुश्रूषा

सेवा करने का वचन कर लेने के उपरान्त वैसा न करने को अभ्युपेत्याशुश्रूषा कहते हैं।[८] प्राचीन धर्मसूत्रों में सेवकों के दो प्रकार बताये गये हैं, खेती के नौकर तथा पशुपालक (आपस्तम्ब० २।२।२८।२-३ एवं गौतम १२।१६-१७)। नारद (८।२ एवं ३) के मत से सेवा करने वालों के पाँच प्रकार हैं—चार कर्मकर, यथा शिष्य, अन्तेवासी, भृतक एवं अधिकर्मकृत् (भृतकों के अधीक्षक या मेठ) तथा १५ प्रकार के दास। इन पाँच प्रकार के सेवकों को अपनी इच्छा से कुछ करने का अधिकार नहीं है, किन्तु उनकी जाति, विशेषताओं एवं उनके रहन-सहन के अनुसार उनमें अन्तर पाया जाता है (नारद ८।८)। शिष्य वह है जो अपने गुरु से वैदिक शिक्षा की आकांक्षा करता है, अन्तेवासी वह है जो सुनारी या किसी अन्य शिल्प में, यथा नृत्य आदि में शिक्षा ग्रहण करता है, भृतक वह है जो पारिश्रमिक पर रखा गया नौकर है तथा अधिकर्मकृत् भृतकों का अधीक्षक है। कार्य (कर्म) के दो प्रकार हैं, शुभ (स्वच्छ कर्म जो चार प्रकार के कर्मकर करते हैं) एवं अशुभ (गंदे), जिन्हें दास करते हैं।

अशुभ कर्म ये हैं—गृह-द्वार बुहारना, सड़क, गन्दे स्थल आदि स्वच्छ करना, स्वामी के अंगों को रगड़ना या मलना-दबाना, उच्छिष्ट भोजन, जूठन कणों को एकत्र कर फेंकना, मल-मूत्र फेंकना, हाथ आदि से स्वामी के गुप्तांग स्वच्छ करना। इसके अतिरिक्त अन्य कार्य शुभ हैं।

शुभ कर्मकर वैदिक विद्या या विज्ञान (कला या शिल्प) के लिए कार्य करते हैं। वैदिक शिष्यों के कर्तव्य ये हैं—गुरु, गुरु-पत्नी, गुरु-पुत्र की सेवा करना, भिक्षाटन करना, भूमि पर सोना, गुरु की आज्ञा पालना, वेदाध्ययन, विद्याध्ययनोपरान्त गुरु-दक्षिणा देना (नारद ८।८-१५)। शिष्यों के कर्तव्यों से अन्तेवासियों के कर्तव्य एवं उनकी जीविका-विधियाँ भिन्न हैं। याज्ञ० (२।१८४), नारद (८।१६-२१), बृहस्पति एवं कात्यायन (७१३) के अनुसार अन्तेवासी सुनारी, गाना, नृत्य, गृह-निर्माण आदि सीखने की इच्छा से अपने शिल्पी गुरु के साथ रहता है और कुछ अवधि के लिए उसके साथ कार्य करता है। शिल्पी उसे अपने पास रखकर सिखाता है, भोजन देता है और कोई अन्य कार्य नहीं कराता। यदि शिल्पी उसे सिखाना चाहता है किन्तु वह उसे छोड़कर चला जाना चाहता है तो शिल्पी उसे कोड़े मार सकता है और बन्दी करके रख सकता है। भले ही शिष्य दक्ष हो गया हो किन्तु उसे अवधि तक रहना पड़ता है और शिल्पी उसके

८ आज्ञाकरणं शुश्रूषा तामङ्गीकृत्य पश्चाद्यो न सम्पादयति तद्विवादपदमभ्युपेत्याशुश्रूषाख्यम्। मिताक्षरा (याज्ञ० २।१८२)।

कात्यायन (७२५) का कथन है कि यदि कोई स्त्री किसी दास से विवाह करती है तो वह अपने पति के स्वामी की दासी हो जाती है।[11] यदि कोई व्यक्ति किसी ब्राह्मण नारी को बेचता है या खरीदता है तो उस लेन-देन में सभी लोगों को राजा द्वारा दण्ड मिलता है और वह व्यापार या कार्य कानून द्वारा तोड़ दिया जाता है। यही नियम उस कुलीन कुटुम्ब की नारी के विषय में भी है जो किसी के यहाँ आश्रय ग्रहण करती है और आश्रयदाता उसे दासी बना लेता है या किसी दूसरे को उसे दासी रूप में दे देता है (कात्यायन ७२६-७२७)। उस व्यक्ति पर दण्ड लगता है जो अपने बच्चे की दाई के साथ सम्भोग करता है या किसी अन्य नारी से जो दासी नहीं है, या अपने नौकर की पत्नी से (मानो वह उसकी दासी है) ऐसा करता है। जो व्यक्ति कष्ट में न रहने पर और प्रचुर सम्पत्ति के रहते हुए अपनी विश्वासपात्र रोती हुई दासी (क्योंकि वह उसे छोड़ना नहीं चाहती) को बेच देना चाहता है, उस पर २०० पण का दण्ड लगता है (कात्यायन, अपरार्क पृ० ७८७, विवादरत्नाकर पृ० १५४-१५५, व्यवहारप्रकाश पृ० ३२३)।[12] नारद (८।४०) के मत से कोई दास अपने स्वामी को छोड़कर किसी अन्य का दास नहीं बन सकता। उशना का कथन है कि कोई गुरुजन (वृद्ध व्यक्ति), सपिण्ड, ब्राह्मण, चाण्डाल या किसी हीन जाति का व्यक्ति दास नहीं बनाया जा सकता और न किसी उच्च जाति के विद्वान व्यक्ति को उससे हीन जाति का व्यक्ति अपना दास बना सकता है।[13]

११ दासेनोढा त्वदासी या सापि दासीत्वमाप्नुयात्। यस्माद् भर्ता प्रभुस्तस्या स्वाम्यधीन प्रभुर्यत ॥ कात्यायन (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २०१, व्यवहारप्रकाश पृ० ३२२, सरस्वतीविलास पृ० २९४)।

१२ आदद्यात् ब्राह्मणीं यस्तु विक्रीणीत तथैव च। राजा तदकृत कार्यं दण्ड्या स्यु सर्व एव ते ॥ कामात्तु संश्रिता यस्तु दासीं कुर्यात्कुलस्त्रियम्। संक्रामयेत वान्यत्र दण्ड्यस्तच्चाकृत भवेत् ॥ बालधात्रीमदासीं च दासीमिव भुनक्ति य। परिचारकपत्नीं वा प्राप्नुयात्पूर्वसाहसम् ॥ विक्रोशमानां यो भक्ता दासीं विक्रेतुमिच्छति। अनापदिस्थ शक्त सन् प्राप्नुयाद् द्विशत दमम् ॥ कात्यायन (अपरार्क पृ० ७८९, विवादरत्नाकर पृ० १५४-१५५, व्यवहारप्रकाश पृ० ३२२)।

१३ न गुरुर्न सपिण्डश्च न विप्रो नान्त्ययोनय। दासभावं न तेऽर्हन्ति नच विद्याधिको द्विज ॥ उशना (सरस्वतीविलास पृ० २९६)।

प्रकाश (पृ० ३३२-३३३) ने ज्यो-का-त्यो ले लिया है।[२] उसका कहना है कि नास्तिक (पापण्डी) लोग भी अपने मठो के लिए नियम वनाते हैं। नैगमो मे एक नियम ऐसा है कि जो लोग किमी विशिष्ट वस्त्र से युक्त नौकरो के सन्देश की परवाह नही करते वे दण्डित होते हैं। **श्रेणी** शब्द जुलाहो के समान अन्य शिल्पियो के समूह का द्योतक है। उनके ऐसे नियम हैं कि कुछ वस्तुएँ केवक एल दल वेच सकता है अन्य नही। **पूग** हाथियो एव घोडो के सवारो के दल को कहते है। कात्यायन ने **व्रात** को विभिन्न प्रकार के हथियारो से लैस व्यक्तियो का समूह कहा है। महाभाष्य (पाणिनि ५।२।२१ '**व्रातेन जीवति**') ने इसे उन लोगो का दल माना है जो विभिन्न जातियो एव वृत्तियों के होते है और अपने शक्ति-शाली (वलिष्ठ) शरीर पर आश्रित होते हैं । मिताक्षरा के अनुसार वे लोग बौद्धो के समान हैं जो वेद को प्रमाण नहीं मानते। मिताक्षरा के अनुसार **गण** का तात्पर्य उन लोगो से है (अर्थात् उनके दल या समूह मे है) जो किसी एक वृत्ति मे अपनी जीविका चलाते हैं। कात्यायन (६८०) ने **गण** को ब्राह्मणो का सघ माना है। राजतरंगिणी (२।१३२) मे मन्दिरो एव तीर्थो के पुरोहितो के सघ की ओर सकेत आया है। स्मृतिचन्द्रिका के मत मे **पूगों** एव **व्रातो** मे एक ऐसी परम्परा या नियम या समय है कि उन्हें एक साथ समर मे जाना चाहिए पृथक्-पृथक् नही। गणो मे एक ऐसी परम्परा है कि वच्चो के कान पाँचवें दिन या पाँच वर्षो के उपरान्त छेदे जाने चाहिए। ब्राह्मणो की एक पुरी (वस्ती) के महा-जनों मे एक ऐसा नियम (परम्परा या समय) है कि यदि कोई ब्राह्मण वैदिक शिक्षा के उपरान्त गुरु-दक्षिणा का धन एकत्र करने के लिए उनके यहाँ जाय तो उसका सम्मान करना चाहिए (अर्थात् उसे चन्दा देना चाहिए)। कुछ जनपदो मे ऐसा समय (प्रचलन) है कि क्रेता या विक्रेता अपने हाथ मे मूल्य का दशाश रख लेता है (सम्भवत यह जानने के लिए कि वस्तु उपयोगी है या नही और अनुपयोगी सिद्ध होने पर वह वस्तु को लौटा देता है)। दुर्गो या राजधानियो मे एक समय ऐसा है कि वाहर जाते समय यदि कोई साथ मे अन्न ले जाय तो उसे वेचे नही। ग्रामो मे ऐसा समय है कि चरागाह न खोदे जायँ। आभीरो के ग्रामो मे ऐसा समय है कि स्त्री या पुरुष के व्यभिचार के लिए दण्ड न लगे।

धर्मशास्त्रकार इतने उदार थे कि उन्होने पापण्डियो के समयो के पालन के लिए भी राजा को उद्वेलित किया था। केवल इस वात का ध्यान रखा गया था कि समयो का पालन राज्य या राजधानी के विरोध मे न जाय और क्रान्ति न उत्पन्न होने पाये और न अनैतिकता प्रदर्शित हो सके (नारद १३।४-५ एव ७, मेधातिथि, मनु ८।२२०)। याज्ञ० (२।१८८-१९२) ने नियम दिये हैं—सघो, श्रेणियो आदि के व्यापार-कार्य को देखने के लिए कोई सभा (वृहस्पति के अनुसार दो, तीन या पाँच व्यक्तियो की) होनी चाहिए। इन सभाओ के सदस्य धार्मिक, पवित्र, अलोभी होते थे और जो कुछ तय पाता था उसके अनुसार कार्य करते थे। इन्हे **कार्यचिन्तक** की सज्ञा मिली है। याज्ञवल्क्य ने लिखा है कि यदि कार्यचिन्तक लोग सघ के किसी कार्य को लेकर राजा के पास जायँ तो उनको उपहार देकर सम्मानित करना चाहिए। जव कोई व्यक्ति व्यापार के लिए वाहर जाय तो उसे जो कुछ प्राप्ति हो उसे गणो के मुखियो को समर्पित कर देना चाहिए।

२ पूगव्राते चान्योन्यमुत्सृज्य समरे न गन्तव्यमित्यादय सन्ति समया । गणे तु पञ्चमेह्नि पञ्चमे वाब्दे कर्णवेध कर्तव्य इत्येवमादिरस्ति समय । गणादिष्वत्रादिशब्देन ब्रह्मपुरीमहाजन परिगृहीत । तत्र गुरुदक्षिणाद्यर्थमागतो माननीय इत्यादिसमयोस्ति। दुर्गे तु धान्यादिक गृहीत्वा अन्यत्र यास्यतो न तद्विक्रेयमित्यस्ति समय । जनपदे तु क्वचिद्विक्रेतृहस्ते दशवन्धग्रहण कार्यं क्वचित्क्रेतृहस्ते इत्यादिकोस्त्यनेकविध समय । जनपदे तथेत्यत्र तथाशब्दोऽनुक्त-ग्रामघोषपुरादीना प्रदर्शनार्थ । तत्र गोप्रचारणस्थाने न खातव्यमित्यादिकोस्ति ग्रामे समय । आभीरस्त्रीपुरुषव्यभि चारे न दण्ड इत्यादिकोस्ति घोषे समय । स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ??३ (नारद १३।२—'पापण्डिनैगमश्रेणीपूगव्रात-गणादिषु। सरक्षेत् समय राजा दुर्गे जनपदे तथा ॥)।

यदि बिक्री की हुई वस्तु क्रेता माँगे और विक्रेता न दे तथा वह नष्ट हो जाय, अग्नि में जल जाय, चोरी चली जाय तो विक्रेता को ही हानि उठानी पड़ती है (नारद ११।६, विष्णु ५।१२९, याज्ञ० २।२५६)। ये नियम तभी लागू होते हैं जब कि विक्रेता को बेचने का पश्चात्ताप न हो, किन्तु यदि पश्चात्ताप हो तो मनु (८।२२२) के नियम से दस दिनों के भीतर वह बेची हुई वस्तु लौटा ले सकता है। यही बात कात्यायन (६८४) में भी पायी जाती है।[6] दस दिनों के उपरान्त क्रेता एवं विक्रेता क्रम से लौटा नहीं सकता एवं माँग नहीं सकता, ऐसा करने पर उन्हें ६०० पण अर्थ-दण्ड के रूप में देने पड़ेंगे। मनु ने इन नियमों को सभी प्रकार के लेन-देन तक विस्तारित किया है (८।२२८)। किन्तु कात्यायन (६८५) ने दस दिनों की छूट केवल भूमि के विक्रय एवं क्रय के विषय में दी है, सपिण्डों में इस प्रकार के क्रय-विक्रय के लिए १२ दिनों की छूट है, किन्तु अन्य वस्तुओं के क्रय-विक्रय में अवधि छोटी होती है।[7] याज्ञ० (२।२५७), नारद (११।७-८) एवं बृहस्पति के मत से यदि कोई विक्रेता मूल्य लेकर किसी को कुछ बेच देता है या किसी सदोष वस्तु को दोषरहित कहकर बेच देता है तो उसे दूना मूल्य देकर वस्तु पुनः ले लेनी पड़ती है और मूल्य के बराबर राजा को अर्थ-दण्ड देना पड़ता है। यह नियम तभी लागू होता है जब कि मूल्य ले लिया गया हो, किन्तु यदि अभी समझौता मात्र हुआ है, मूल्य नहीं दिया गया है तो क्रेता एवं विक्रेता दोषमुक्त माने जायँगे, अन्यथा नहीं (नारद ११।१०)। यदि बिक्री के पूर्व क्रेता कुछ धन अग्रिम (सत्यकार रूप में, बयाना) दिये रहता है और विक्रेता के दोष से सामान बिक जाता है, तो उसे क्रेता को सत्यकार धन का दूना लौटाना पड़ता है, किन्तु यदि क्रेता उस सामान को आगे चलकर नहीं खरीदता है तो वह सामान तथा सत्यकार (बयाना) दोनों खो बैठता है।[8] नारद (१२।१) का कथन है कि यदि क्रेता मूल्य दे देने के उपरान्त क्रय का पश्चात्ताप करता है तो इसे 'क्रय का निरसन' शीर्षक कहा जाता है। नारद (१२।२) ने व्यवस्था दी है कि उसी दिन उसी रूप में क्रीत वस्तु लौटायी जा सकती है, किन्तु यदि दूसरे या तीसरे दिन लौटायी जाय तो क्रम से मूल्य का तीसवाँ या पचासवाँ भाग कट जाता है, और तीसरे दिन के उपरान्त तो द्रव्य (वस्तु) लौटाया ही नहीं जा सकता (नारद १२।३)। किन्तु याज्ञ० (२।१७७) एवं नारद (१२।५-६) ने द्रव्य-परीक्षण के लिए निम्नलिखित अवधियाँ दी हैं—लोह (एवं वस्त्र), दुधारू पशु, भारवाही पशु, रत्न (बहुमूल्य प्रस्तर, मोती एवं मूँगा), सभी प्रकार के अन्न, दास एवं दासी के लिए क्रम से १, ३, ५, ७, १० दिन, आधा मास एवं एक मास। ये उल्लेख मनु (८।२२२) द्वारा प्रतिपादित सामान्य नियम के अपवाद हैं। कौटिल्य (३।१५) ने व्यापारियों, कृषकों, चरवाहों एवं वर्णसंकरों तथा उच्चवर्णों को वस्तु लौटाने के लिए क्रम से एक, तीन, पाँच एवं सात रात्रियों की छूट दी है। नारद (१२।८) एवं बृहस्पति ने लिखा है कि क्रेता को चाहिए कि वह क्रय की जानेवाली वस्तु का स्वयं निरीक्षण कर ले और अन्य लोगों को दिखाकर उसके गुण-दोषों की परख कर ले, क्योंकि अत्यन्त परीक्षण के उपरान्त क्रीत वस्तु

६. एवं धर्मो दशाहात्तु परतोऽनुशयो न तु। कात्यायन ६८४ (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २१८, विवादरत्नाकर पृ० १९२, पराशरमाधवीय ३, पृ० ३६७)।

७. भूमेर्दशाहे विक्रेतुरायस्तत्क्रेतुरेव च। द्वादशाहं सपिण्डानामपि चाल्पमतः परम्॥ कात्यायन (६८५, पराशरमाधवीय ३, पृ० ३६४)।

८. सत्यकारकृतं द्रव्यं द्विगुणं प्रतिदापयेत्। याज्ञ० (२।६१), और देखिए इस पर मिताक्षरा। सत्यकारं च यो दत्त्वा यथाकालं न दृश्यते। पण्यं भवेन्निसृष्टं तद्दीयमानमगृह्णतः॥ व्यास (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २२०, पराशरमाधवीय ३, पृ० ३७०)। क्लीबे सत्यापनं सत्यकारः सत्याकृतिः स्त्रियाम्। अमरकोश, जिस पर क्षीरस्वामी ने कहा है—'अवश्यं मयैतद् विक्रेयमिति सत्यस्य करणं सत्यापनम्' (दे० पाणिनि ६।३।७०)।

लौटायी नहीं जा सकती। व्यास का कथन है कि चर्म, काष्ठ, ईंटें, सूत, अन्न, आसव, रस, सोना, कम मूल्य की धातुएँ (राँगा आदि) एवं अन्य सामान जब अति परीक्षण के उपरान्त क्रीत कर लिये जाते हैं तो आगे चलकर उनमें दोष रहने पर भी वे लौटाये नहीं जा सकते। नारद के उपर्युक्त (१२।५ ६) वचन इस नियम के अपवाद हैं। नारद (१२।७) का कहना है कि यदि कोई सदोष वस्तु जान-बूझकर निरीक्षण के उपरान्त खरीदी जाय तो वह लौटायी नहीं जा सकती। यदि क्रीत वस्तु दूकान से न उठायी जाय तो विक्रेता उसे पुनः बेच सकता है और यदि क्रीत वस्तु दैवसंयोग या राजा के कारण नष्ट हो जाय तो क्रेता को हानि उठानी पड़ती है (मनु २।२५५ एवं नारद ११।९)। कात्यायन (६९२) के अनुसार यदि कोई वस्तु मत्त, उन्मत्त, अस्वतन्त्र, मूर्ख लोगों से खरीदी जाय तो उसे लौटाना पड़ता है और वह विक्रेता की ही मानी जाती है। उचित एवं अनुचित मूल्य के विषय में कात्यायन (७५७ ६) ने एक विचित्र नियम दिया है—जो एकत्र हुए पड़ोसियों द्वारा निश्चित एवं निर्णीत हो (भूमि एवं उसका मूल्य) और जो सामन्त लोगों द्वारा निर्णीत भूमि, वाटिका, घर, पशु एवं चौपायों का मूल्य हो वह उचित मूल्य कहलाता है। जो मूल्य उसके आठवें भाग के बराबर कम या अधिक हो वह अनुचित कहलाता है। जो वस्तु अनुचित मूल्य पर बेची जाय वह सौ वर्षों के उपरान्त भी लौटायी या लौटा ली जा सकती है। कात्यायन (७ ४) का कथन है कि यदि भूमि का स्वामी कर-प्रतिभू (कर देने के लिए जामिन) के साथ भाग जाता है तो न्यायाधीश कर-प्राप्ति के लिए भूमि को बेची पर चढ़ा सकता है किन्तु यह बिक्री दस वर्षों के भीतर रद्द की जा सकती है और तीन पीढ़ियों तक सम्पत्ति-सम्बन्धी नियम द्वारा आदान-प्रदान किया जा सकता है। नारद का कथन है कि यदि करदाता एवं प्रतिभू द्वारा कर न दिया जाय तो राजा उस भूमि से या उसकी बिक्री से कर वसूल कर सकता है।[10]

उपलाभ—यह वह बिक्री है जो समय (करार) युक्त या सोपाधिक कही जाती है। जब कोई व्यक्ति किसी भूमि को मूल्य का केवल एक अंश देकर उधार लेता है और प्रतिज्ञा करता है कि बाकी मूल्य किसी निश्चित तिथि को लौटा देगा। यह आगे चलकर यदि ऐसा नहीं कर पाता तब उसका उस भूमि पर स्वामित्व समाप्त हो जाता है।[11] कात्यायन (७११) के मत से उपलाभ के प्रकार की बिक्री तभी नियमानुकूल है जब कि भूमि के उचित मूल्य का आधा दिया जाय और दस वर्षों का समय दिया गया हो।

अक्षय्य—तीन पीढ़ियों के भोग के उपरान्त अक्षय्य नियमानुकूल हो जाता है और परस्पर समझौते के अनुसार किया गया विक्रय तुरत नियमबद्ध हो जाता है।[12] अक्षय्य शब्द कई प्रकार से समझाया गया है। मिताक्षरा (याज्ञ० २।-

९. चर्मकाष्ठेष्टकासूत्रधान्यासवरसस्य च। वसुकुप्यहिरण्यानां सद्य एव परीक्षणम्॥ व्यास (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २२; विवादरत्नाकर पृ० १९८; व्यवहारप्रकाश पृ० ११९)।

१०. धनाभिवृद्धौ तु करदे करप्रतिभुवा सह। करार्थं करदक्षेत्रं विक्रीणीयुः सभासदः॥ सन्निधाय परिक्षितस्य विक्रयो वा विमोचनम्। आसन्यापि कदाचापि दशाब्दं विनिवर्तयेत्॥ कात्यायन पूर्व पृ० कात्यायन (सरस्वतीविलास पृ० १२४ व्यवहारनिर्णय पृ० १४८); करदाभिलिखितस्यानेव करे दत्तो विक्रीयते। अभावस्थ न स्वस्वामित्वं वर्षतिरो पितुः॥ नारद (सरस्वतीविलास, पृ० १२४)।

११. निश्चित्य द्रव्यमानं तु काले दास्यामि ते क्वचित्। नो चेद्भूमिरियं त्वत्स्यात् केदारस्येति या क्रिया। उपलाभ इत्युक्त उपलक्षणोऽप्यनर्पणात्॥ नारद (व्यवहारनिर्णय पृ० १५१; सरस्वतीविलास पृ० १२४)।

१२. अर्घाधिके कृते विक्रेतुर्लाभो दशाब्दिकः। अक्षय्यस्त्रिपुरुषीभोगेन सद्य एव इविक्रयः॥ कात्यायन (७११; व्यवहारनिर्णय पृ० १४९; सरस्वतीविलास पृ० १२६)।

२३८) के मत से अवक्रय वह है जिसमें एक अमानतदार अपनी अमानत की वस्तु किसी दूसरे को किराये पर दे देता है। पाणिनि (४।४।५०) ने अवक्रय का प्रयोग दूसरे अर्थ में किया है, किसी बाजार आदि में राजा द्वारा लिया जानेवाला धन। गौतम (१२।३९) के 'अवक्रीत' शब्द को हरदत्त ने यों समझाया है—'जो खरीदा गया हो, किन्तु मूल्य न दिया गया हो या केवल कुछ अंश ही दिया गया हो।' सम्भवत कात्यायन ने इसी अर्थ की ओर संकेत किया है। मुमन्तु (सरस्वती-विलास, पृ० ३२१) ने अवक्रय को यों समझाया है—'यदि क्रय के उपरान्त केवल आधा मूल्य दिया गया हो तो अवधि के भीतर न देने से अवक्रय रद्द हो जाता है।' कात्यायन (७१२) के मत से यदि अवधि निश्चित न हो तो माँगने पर किसी के न दिये हुए धन पर चक्रवृद्धि व्याज लग जाता है। किन्तु निश्चित अवधि पर समय के भीतर केवल शेष धन दिया जाता है। बृहस्पति के अनुसार बिक्री में कूप, वृक्ष, अन्न, फल, जलाशय आदि लिखित होने चाहिए, अन्यथा ये वस्तुएँ विक्रेता की हो जायँगी। हारीत के अनुसार ये नियम आदान-प्रदान (विनिमय) के विषय में भी लागू होने चाहिए।[13] राजतरंगिणी (६।४१) में आया है कि जब अधिकृत लिपिक ने १००० दीनार घूस लेकर गृह के क्रय-लेख्य में कूप भी सम्मिलित कर दिया तो उसे राजा द्वारा देश-निष्कासन का दण्ड मिला और उसकी सम्पत्ति छीनकर वंचित दल को दे दी गयी।

व्यवहारनिर्णय ने बृहस्पति एवं व्यास के उद्धरण देते हुए बिक्री, खरीद, आदान-प्रदान (विक्रय, क्रय, विनिमय) आदि के विषय में सुन्दर विवेचन उपस्थित किया है—सोना जैसी वस्तुएँ मूल्य के रूप में ली या दी जाती हैं और भूमि, गृह जैसी वस्तुएँ पण्य (क्रय-विक्रय के योग्य) कही जाती हैं। क्रय का तात्पर्य है किसी वस्तु को उसके मूल्य (दिये गये अथवा देने के लिए केवल प्रतिश्रुत होने पर) देने के पूर्व की स्वीकृति। विक्रय का तात्पर्य है किसी मूल्य को पण्य देने के पूर्व की स्वीकृति। परिवृत्ति या परिवर्तना (अदल-बदल) का तात्पर्य है एक ही प्रकार (सजातीय) की वस्तुओं के अदले-बदले की स्वीकृति। जब दो वस्तुओं के परिवर्तन के मूल्य में अन्तर हो तो उसे अवक्रय कहा जाता है। जब दो भिन्न प्रकार की (विजातीय) वस्तुओं का (मूल्य समान होने पर) परिवर्तन हो तो उसे विनिमय कहा जाता है।[14]

कर न देने पर राजा की आज्ञा से भूमि की बिक्री सम्भव है। प्रजापति का उद्धरण देकर व्यवहारनिर्णय (पृ०

१३ विक्रयेषु च सर्वेषु कूपवृक्षादि लेखयेत्। जलमार्गादि यत्किञ्चिदन्यच्चैव बृहस्पति ॥ क्षेत्राद्युपेत परिपक्वसस्य वृक्ष फल वाप्युपभोगयोग्यम्। कूप तटाक गृहमुन्नत च क्रीतेपि विक्रेतुरिद वदन्ति॥ बृहस्पति (व्यवहारनिर्णय पृ० ३४९, सरस्वतीविलास पृ० ३२६)। मत्तमूढानभिज्ञातभीतैर्विनिमय कृत। यच्चानुचितमूल्य स्यात्सर्वं तद् विनिवर्तते॥ हारीत (सरस्वतीविलास पृ० ३२६)।

१४ स (बृहस्पति) एवाह—आत्मीयस्य विजातीय द्रव्यमादाय चान्यत। क्रयोत्यस्य (क्रयोर्यस्य ?) परित्याग साम्ये तु परिवर्तना॥ इति। व्यास। आत्मीयस्य विजातीय द्रव्यमादाय चान्यत। क्रयो मूल्यस्य सत्याग स्वत्वहेतु परस्परम्॥ परिवृत्ति सजातीयद्रव्ये विनिमय स्मृत। वैषम्ये विक्रय प्रोक्तो मिश्रे विनिमय स्मृत ॥ इति। स्वत्वहेतुफलजनका एते क्रयविक्रयपरिवर्तनविनिमया इति। तत्र लोके जिहासित सुवर्णादि मूल्यमुच्यते। उपादित्सित क्षेत्रगृहादि पण्यमित्युच्यते। तत्र मूल्यत्यागपूर्वकपण्यस्वीकार क्रय। पण्यत्यागपूर्वको मूल्ये स्वत्वजनको मूल्यस्वीकारो विक्रय। सजातीयत्यागपूर्वक सजातीयस्य स्वीकार परिवर्तना। वैषम्ये सति परिवर्तनैवावक्रयशब्देनोच्यते। विजातीयसजातीयमिश्रपरिवर्तनायां विजातीयाधिक्येऽवक्रयो भवति, सजातीयाधिक्ये परिवर्तना भवति। सजातीयविजातीययो साम्ये विनिमयो भवति। व्यवहारनिर्णय, पृ० ३४७-३४८। क्रय की यह परिभाषा बिल्कुल आधुनिक-सी लगती है।

विवाद आदि अन्य झगडे नही उत्पन्न होंगे। विना इनके भी भू-क्रय उचित एव पूर्ण माना जाता है। जल एव सोना इसलिए दिये जाते हैं कि क्रय को दान की धार्मिकता भी प्राप्त हो जाय।

स्वामि-पाल विवाद

स्वामि पालविवाद का मतलव है पशुओ के स्वामी एव उनके रक्षक नौकरो के बीच के झगडे। कृषिप्रधान देश भारत के अदर आदि काल मे स्वामि-पालविवाद वहुधा हुआ करता था। नारद ने इसको सभवत **वेतनस्यानपाकर्म** नामक शीपक के अन्तर्गत रखा है। याज्ञ० (२।१६४) एव नारद (९।११) ने व्यवस्था दी है कि पशुपाल को प्रात-काल प्राप्त पशुओ को चराकर तथा उन्हें पानी पिलाकर सायकाल लौटा देना चाहिए। मनु (८।२३०) के मत से पशुओ की सुरक्षा का उत्तरदायित्व दिन मे पशुपाल पर तथा रात्रि मे स्वामी पर रहता है (यदि पशु रात्रि मे स्वामी के यहाँ वाँधे जाते हो)। यदि वेतन पूर्व से निश्चित न हो तो पशुपाल सौ गायो पर प्रति आठवें दिन सव दूध तथा प्रति वर्ष एक वछडा (दो वर्ष का) पाता है और दो सौ गायो पर एक दुधारू गाय (वछडे के साथ) पाता है (नारद ९।१० एव वृहस्पति)। मनु (८।२३१) ने कुछ और ही कहा है—यदि वेतन न तय हो तो पशुपाल दस गायो मे एक सर्वोत्तम गाय का दूध स्वामी की आज्ञा से दुह सकता है। पशुपाल को पशओ की सुरक्षा का ध्यान रखना पड़ता था और उन्हें आपत्तियो एव दुर्घटनाओ से वचाने के लिए अपनी ओर से सव कुछ करना पडता था और असमर्थ होने पर स्वामी को तुरत सूचना देनी पडती थी, यथा—कीडो (सर्प आदि), चोरो, व्याघ्रो, गड्ढ़ो, कन्दराओ से भली भाँति वचाना होता था (नारद ९।१२, वृहस्पति)।[१८] यदि वह ऐसा नही करता था तो उसे नष्ट हुए पशु का हरजाना तथा अर्थ-दण्ड (राजा द्वारा व्यवस्थित) देना पड़ता था (नारद ९।१३)। और देखिए मनु (८।२३२ एव २३५), याज्ञ० (२।१६४-१६५), विष्ण० (५।१३७-१३८), नारद (९।१४-१५)। आपस्तम्वधर्मसूत्र (२।२।२८।६) ने भी इसी प्रकार की दण्ड-व्यवस्था दी है।[१९] उपर्युक्त नियमो के कुछ अपवाद भी हैं, यदि चोरो का आक्रमण हो और पशु उठा लिये जायँ या भेडियो के आक्रमण से कुछ पशु मृत हो जायं और पशुपाल समय एव स्थान के अनुसार सूचना दे दे तो उसे दण्डित नही होना पडता (मनु ८।२३३-२३६, नारद ९।१६ एव व्याम)। कुछ स्थितियो मे पशुपाल को विपत्ति-ग्रस्त दशाओ के चिह्न प्रदर्शित करने पडते थे, यथा—उसे मृत पशु के वाल, सीग, अस्थिपजर, कान, पूंछ आदि लाकर स्वामी को दिखाने पडते थे, तभी उसे दण्ड मे छुटकारा मिलना सभव था (मनु ८।२३४, नारद ९।१७)। व्यास का कथन है कि वेतन ले लेने पर यदि पशुपाल पशुओ को निजन वन मे अरक्षित छोडकर ग्राम मे घूमता पाया जाय तो उसे राजा द्वारा दण्डित होना पडता है।[२०]

याज्ञ० (२।१६६) के मत से ग्रामवासियो एव राजा को चाहिए कि वे अपनी इच्छा के अनुकूल चरागाह

१८ कृमिचोरव्याघ्रभयाद्दरीश्वभ्राच्च पालयेत्। व्यायच्छेच्छक्तितः क्रोशेत्स्वामिने वा निवेदयेत्॥ वृहस्पति (विवादरत्नाकर पृ० १७२, व्यवहारप्रकाश पृ० ३४७, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २०८)।

१९ दिवा पशूनां वृकाद्युपघाते पाले त्वनायति पालदोष। विनष्टपशुमूल्य च स्वामिने दद्यात्। विष्णुधर्मसूत्र (५।१३७-१३८), अवरुध्य पशून् मारणे नाशने वा स्वामिभ्योऽवसृजेत्। आपस्तम्वधर्मसूत्र (२।२।२८।६)।

२० पालग्राहे ग्रामघाते तथा राष्ट्रस्य विभ्रमे। यत्प्रणष्ट हृत वा स्यान्न पालस्तत्र किल्विषी॥ व्यास (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २०७, विवादरत्नाकर पृ० १७२ एव अपरार्क पृ० ७७२), मृतेषु च विशुद्धि स्याद् वालशृङ्गादिदर्शनात्। नारद (९।१७), गृहीतमूल्यो गोपालस्तास्त्यक्त्वा निर्जने वने। ग्रामचारी नृपैर्वाध्य शलाकी च वनेचर॥ व्यास (व्यवहारप्रकाश पृ० ३४७), यहाँ 'शलाकी' का तात्पर्य है नाई (नापित)।

अध्याय २२

सीमाविवाद

नारद (१४।१) ने ऐसे झगडो को, जिनमे सेतु या बाँध, खेतो की सीमा, उर्वर एव अनुर्वर खेत के झगडे सम्मिलित हो, क्षेत्रज विवाद की सज्ञा दी है।[1] नारद ने सम्भवत मनु के सीमाविवाद शब्द को सभी प्रकार के खेत-सम्बन्धी झगडो के अर्थ मे लिया है। कात्यायन (७३२) ने भूमि-सम्बन्धी विवादो के कारणो के छ प्रकार दिये हैं—अधिक भूमि माँगना, दूसरे को कम भूमि देने का अधिकार जताना, अश (भाग) का अधिकार जताना, दूसरे के अश या भाग को न मानना, न भोगी हुई भूमि पर भोग जताना तथा सीमा।[2] इन सभी कारणो मे 'सीमा' के झगडे परोक्ष या प्रत्यक्ष ढग से आ जाते है, अत इनको 'सीमाविवाद' शीर्षक के अन्तर्गत रखा जाना उपयुक्त ही है। सीमाविवाद का सम्बन्ध जनपद (जिला), ग्राम, खेत या गृह की सीमाओ से है। नारद के अनुसार सीमाएँ पाँच प्रकार की होती हैं—ध्वजिनी (डण्डो के समान वृक्षो वाली), मत्स्यिनी (मछलियो वाली अर्थात् तालावो तथा जलाशयो के घेरे वाली), नैधानी (गुप्त चिह्नो वाली, यथा—भूसा, ईंटो, हड्डियो आदि से पूर्ण मृद्भाण्डो वाली), भयवर्जिता (जो दलो द्वारा निर्णीत हो), राजशासननीता (राजा द्वारा निर्णीत)। मनु (८।२४६-२४७) ने लिखा है कि अश्वत्थो, सेमलो, शालो, ताडो, उदुम्बरो, बाँसो, झाडियो आदि से सीमाएँ व्यक्त होती हैं। नदियो के प्रवाहो, जिनमे मछलियाँ, कछुए आदि होते हैं, तालावो एव जलाशयो से प्राकृतिक सीमाएँ बनती हैं (मनु ८।२४८)। मिट्टी के बरतनो मे भूसा, कोयला, ईंट-पत्थर, हड्डियाँ आदि रखकर, उन्हें भूमि मे गाड दिया जाता है जिससे पानी से कटकर भूमि नदी-नालो के रूप मे परिवर्तित न हो जाय। इन वस्तुओ से भूमि-सीमा भी बन जाती है और इसी से ऐसी सीमा को नैधानी या उपच्छन्न (मनु।२५०-२५१) कहा जाता है, क्योकि ये वस्तुएँ पृथिवी मे गडी रहती हैं और सीमा निर्धारण भी करती है। बृहस्पति का कथन है कि ग्राम-स्थापना के समय प्रकाश (सुस्पष्ट एव लक्षित) एव उपाशु या उपच्छन्न (गुप्त या छिपे हुए) लक्षणो से युक्त सीमाएँ निर्धारित होनी चाहिए और स्मृतिचन्द्रिका के अनुसार प्रस्तरो की पक्तियो से सीमाएँ बनानी[3]

१ सेतुकेदारमर्यादाविकृष्टाकृष्टनिश्चये। क्षेत्राधिकारो यस्तु स्याद्विवाद क्षेत्रजस्तु स ॥ नारद (१४।१)। विवादरत्नाकर (पृ० २०१) ने 'सेतुकेदार' को एक शब्द माना है, किन्तु व्यवहारप्रकाश (पृ० ३५३) ने 'केदार' एव 'मर्यादा' को अलग-अलग माना है। विकृष्टो लागलप्रहतो देश , अकृष्टस्तद्रहित । व्यवहारप्रकाश (पृ० ३५३)।

२ आधिक्य न्यूनता चाशे अस्तिनास्तित्वमेव च। अभोगभुक्ति सीमा च षड् भूवादस्य हेतव ॥ कात्यायन (७३२, मिताक्षरा, याज्ञ० २।१५०, विवादरत्नाकर पृ० २०१, अपरार्क पृ० ७५९, व्यवहारप्रकाश पृ० ३५३)।

३ निवेशकाले कर्तव्य सीमाबन्धविनिश्चय । प्रकाशोपाशुचिह्नैश्च लक्षित सशयावह ॥ बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २२७—ग्रामादिप्रवेशकाले तत्सीमानियामकस्थूलगुडक प्रकाशगुप्तलिंगोपेत सीमासन्धौ स्थापनीय इति)।

नियम के विरोध मे मिताक्षरा (याज्ञ० २।१५२) का कहना है कि यदि दोनो दल किसी एक साक्षी पर विश्वास करें तो वह मान्य हो सकता है। नारद (१४।१०) एव बृहस्पति के अनुसार यदि दोनो दलो ने किसी एक ही व्यक्ति को चुना है (अन्य साक्षियो, प्रमाणयुक्त लक्षणो तथा प्रकाश या गुप्त प्रमाणो के अभाव मे) तो उसे उपवास कर, अपने सिर पर मिट्टी रख, लाल वस्त्र धारण कर तथा लाल फूलो की माला पहनकर साक्ष्य देना चाहिए।[8] यदि साक्ष्य देनेवाला शूद्र हो तो विश्वरूप (याज्ञ० २।१५६) ने बृहस्पति को उद्धृत करते हुए लिखा है कि उसे लाल वस्त्र धारण करना चाहिए, उसके मुख पर श्मशान की राख लगी रहनी चाहिए, उसकी छाती पर बकरे के रक्त वाली पाँच अगुलियो की छाप रहनी चाहिए, यज्ञ के वास मे लाये गये बकरे की लादी (अंतडियाँ) गले मे बँधी रहनी चाहिए और उसके दाहिने हाथ मे मिट्टी रहनी चाहिए।[9] इन सब बातो मे निष्पक्षता एव कार्य-गुरुता की ओर सकेत मिलता है। यदि कोई जानकार साक्षी न मिले तो राजा गाँवो के बीच की सीमा स्वय निर्धारित करता है (याज्ञ० २।१५३, नारद १४।११, मनु ८।२६५)। यदि झगडे की सीमा किसी एक गाँव के लिए अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण हो तो राजा पूरी भूमि उसे दे सकता है। राजा नवीन चिह्नो से नयी सीमाएँ खीच सकता है, या आधी-आधी भूमि दे सकता है। मनु (८।२४५) का कथन है कि यह कार्य ज्येष्ठ मास मे जब कि चिह्न स्पष्ट रहते हैं राजा द्वारा किया जाना चाहिए। यदि दैवयोग या राजा द्वारा उपस्थित कोई आपत्ति या विपत्ति न आये तो साक्षियो या पडोसियो द्वारा निर्धारित सीमा तीन सप्ताहो के उपरान्त सुनिश्चित (अन्तिम) रूप ले लेती है (कात्यायन ७५१)। मनु (८।२६१) के अनुसार साक्षियो द्वारा निर्धारित सीमा राजा द्वारा या लेख्य द्वारा (जिसमे साक्षियो के नाम अकित हो) प्रमाणित हो जानी चाहिए। सीमा-निर्धारण सम्बन्धी शिलालेखो के लिए देखिए फ्लीट का 'गुप्त इस्क्रिप्शस' (स० २४, पृ० ११०) एव एपिग्रैफिया इण्डिका (२४, पृ० ३२-३४) जहाँ धर्मशास्त्र-ग्रन्थो मे वर्णित बातो का यथावत् पालन किया गया है। पडोसियो द्वारा भ्रामक साक्ष्य देने पर दण्ड की व्यवस्था दी गयी है (मनु ८।२६३, याज्ञ० २।१५३, नारद १४।७ एव पुन मनु ८।२५७ एव नारद १४।८)। यदि मित्रतावश, लोभ या भय से कोई सच्ची बात कहने के लिए नही आता तो उसे सबसे बडा दण्ड मिलता था (कात्यायन ७५०)।

बृहस्पति का कथन है कि यदि दो गाँवो के बीच मे कोई नदी बहती हो और सयोगवश बाढ मे एक गाँव की कुछ भूमि दूसरे गाँव मे चली जाय तो पहला गाँव उससे हाथ धो बैठता है, किन्तु ऐसा तभी होता है जब कि भूमि मे अनाज न उग रहा हो। जब अन्न बोयी हुई भूमि इस प्रकार बाढ मे कटकर दूसरे गाँव मे चली जाय तो पहले गाँव को अन्न प्राप्त होता है और भूमि दूसरे की हो जाती है।[10]

८ ज्ञातृचिह्नैर्विना साधुरेकोप्युभयसमत। रक्तमाल्याम्बरधरो मृदमादाय मूर्धनि। सत्यव्रत सोपवास सीमान दर्शयेन्नर ॥ बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका ३, पृ० २२१, पराशरमाधवीय ३, पृ० ३९३, व्यवहारप्रकाश पृ० ३५९)

९ शूद्राणा तु यथाह बृहस्पति। यदि शूद्रो नेता स्यात्त स्रग्व्येनालकारेणालकृत्य शवभस्मना मुख विलिप्याग्नेयस्य पशो शोणितेनोरसि पञ्चागुलानि कृत्वा ग्रीवायामान्त्राणि प्रतिमुच्य सव्येन पाणिना सीमालोष्ट मूर्ध्नि धारयेदिति। रक्तकर्पटवसनादि स्रग्व्योलकार। विश्वरूप।

१० ग्रामयोरुभयोर्यत्र मर्यादा कल्पिता नदी। कुरुते दानहरण भाग्याभाग्यवशान्नृणाम्॥ एकत्र कूलपात तु भूमेरन्यत्र संस्थितिम्। नदी तीरे प्रकुरुते तस्य ता न विचालयेत्॥ क्षेत्र ससस्यमुल्लघ्य भूमिश्छिन्ना यदा भवेत्। नदीस्रोत:प्रवाहेण पूर्वस्वामी लभेत ताम्॥ बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २३४, पराशरमाधवीय ३, पृ० ३९८, विवादरत्नाकर २१७, व्यवहारप्रकाश पृ० ३६२)। व्यवहारप्रकाश का कथन है—तस्य नदीवशात्प्राप्तभूमिकस्य

समय मे (सदा नही) आ-जा सकें। कौटिल्य आदि ने जनमार्गो एव गृहो के पास मल-मूत्र त्याग के विषय मे दण्ड बतलाये है। बृहस्पति एव कात्यायन (७५६) का कथन है कि गाडियो आदि मे जनमार्ग का अवरोध नही करना चाहिए उस पर कोई पेड-पौधा नही लगाना चाहिए। जो लोग ऐसा करते हैं अर्थात गड्ढा खोदते है या पेड लगाते हैं और जान-बूझकर वहाँ मल मूत्र त्याग करते है उन पर एक माषक का अर्थ-दण्ड लगता है और जो लोग मार्ग पर अपने गुरु, वृद्ध-जन या राजा को सबमे पहले नही जाने देते उन पर भी अर्थ-दण्ड लगता है। मनु (८।२८२) ने जनमार्ग पर विना किसी रोग मे ग्रस्त होने पर मल-मूत्र त्यागने के दोषी पर दो कार्षापण का दण्ड लगाया है और उसे स्वच्छ करने को कहा है, किन्तु उन लोगो के लिए उसे अपवाद माना है (मनु० ८।२८३) जो बीमारी के कारण, वृद्धता या गर्भधारण के कारण ऐसा करते है या बच्चे हैं, उन पर अर्थ-दण्ड नही लगता, केवल झिडकी ही उनके लिए पर्याप्त है (देखिए मत्स्य-पुराण २२७।१७५-१७६)। कौटिल्य (३।३६) ने गाडियो के मार्ग पर धूलि फेकने पर १/८ पण, मिट्टी से अवरोध उपस्थित करने पर १/४ पण तथा यही कार्य राजमार्ग पर करने पर दूना दण्ड लगाया है, और पूत स्थलो या जल-स्थानो या मन्दिरो या राजप्रासादो के पास मल-मूत्र करने पर क्रम मे २, ३ या ४ पणो का दण्ड निर्धारित किया है तथा मनु द्वारा लिखित लोगो को छूट दी है। कात्यायन (७५८-७५९) का कहना है कि तालाब, वाटिका, घाटो को जो गन्दी वस्तुओ मे अपवित्र करता है उसे दण्डित होना पडता है और स्वच्छ करना पडता है। यही बात पवित्र स्थानो पर गन्दे कपडे धोने पर भी कही गयी है।

याज्ञवल्क्य (२।१५५) ने (दो या अधिक खेतो के) सीमा-व्यतिक्रम, अपने खेत की सीमा से आगे बढकर जोतने तथा अन्य को अपना खेत जोतने से मना करने वाले को क्रम मे सामान्य, सर्वाधिक तथा मध्यम दण्ड की सजा कही है। और देखिए विष्णुधर्मसूत्र (५।१७२) एव शख-लिखित, जहाँ किसी खेत की सीमा के उल्लघन पर १००८ पणो के अर्थ-दण्ड की व्यवस्था दी हुई है। और देखिए मनु (८।२६४ = मत्स्यपुराण २२७।३०) जहाँ किसी के खेत, वाटिका, घर आदि को असावधानी मे छीनने पर २०० पणो का तथा जान-बूझकर छीनने पर ५०० पणो का अर्थ-दण्ड घोषित किया गया है। नारद (१८।१३-१४) एव कात्यायन (७६०-७६१) का कथन है कि दो खेतो की सीमा पर उगे फल-फूलो को न्यायाधीश द्वारा दोनो की सम्पत्ति घोषित करनी चाहिए, किन्तु यदि किसी के खेत मे उगा पेड दूसरे के खेत मे अपनी डालियाँ फैला ले तब भी वह उगाने वाले खेत के स्वामी का ही कहा जायगा, अर्थात् उसके फल-फूल दूसरे खेत वाले स्वामी को नही मिलेंगे।

नारद (१४।१८) ने सेतु के दो प्रकार बतलाये है, खेय (वह जो अधिक जल निकालने के लिए खोदकर बनाया जाता है) तथा बन्ध्य (बाँध, जो पानी रोकने के लिए निर्मित किया जाता है)। यदि सेतु-निर्माण से एक खेत को अपेक्षाकृत अधिक लाभ होता है तो उसे बनने देना चाहिए (याज्ञ० २।१५६ एव नारद १४।१७)। ऐसा करने के पूर्व सेतु-निर्माता को दूसरे खेत (जहाँ पर वह सेतु बनाना चाहता है) के स्वामी या राजा से आज्ञा ले लेनी चाहिए, नही तो उससे उत्पन्न लाभ उसे नहीं प्राप्त हो सकता। इसी प्रकार का नियम दूसरो द्वारा गृहो या तालाबो की मरम्मत करने के विषय मे भी दिया हुआ है (कात्यायन ७६२-७६३)। नारद (१४।२३-२५) का कथन है कि यदि कोई व्यक्ति बिना किसी के विरोध के ऐसी भूमि जोतता है जिसका स्वामी उसे स्वय नही सँभाल सकता या मर गया है या लुप्त हो गया है, तो वह उसका भोग कर सकता है, किन्तु यदि पूर्व स्वामी या उसका पुत्र आ जाता है तो उसे लौटा देना पडता है। किन्तु ऐसा करते समय उसे खेत के बनाने या बोने मे जो कुछ व्यय हुआ रहता है वह मिल जाता है। यदि पूर्व स्वामी यह व्यय न दे सके तो नवीन स्वामी आठ वर्षो तक खेत का १/८ भाग पाता है और आठवें वर्ष के आरम्भ मे उस खेत को लौटा देता है। याज्ञ० (२।१५८) एव व्यास का कथन है कि यदि कोई मालगुजारी पर किसी के खेत को जोतने के लिए लेता है और थोडा-बहुत जोतकर उसे बिना बोए छोड देता एव किसी अन्य द्वारा भी उसे पूरा

नहीं जुताता तो उसे उस खेत में उत्पन्न होनेवाली फसल (जितनी वह ठीक से उस खेत के जोते एवं बोए जाने से उत्पन्न होती) का मूल्य देना पड़ता है और उस पर अर्थ-दण्ड भी लगता है। ऐसी स्थिति में उससे खेत छीनकर दूसरे को भी दिया जा सकता है।

११. क्षेत्रं गृहीत्वा यः कश्चित्र कुर्यान्न च कारयेत्। स्वामिने स शदं दाप्यो राज्ञे दण्डं च तत्समम्॥ कात्या. (विवादचिन्तामणि पृ. ६५; व्यवहारप्रकाश पृ. १६८; स्मृतिचन्द्रिका २, पृ. २१८)। पराशरमाधवीय (३, पृ. ४८) ने इसे बृहस्पति का माना है।

अध्याय २३

वाक्पारुष्य एवं दण्डपारुष्य (मानहानि एवं आक्रमण)

आधुनिक काल की फौजदारी के विवाद-पदो के अन्तर्गत ही **वाक्पारुष्य, दण्ड-पारुष्य, स्तेय, स्त्रीसग्रहण, साहस** नामक पाँच शीर्षक आ जाते हैं। नारद (१८।१) ने वाक्पारुष्य की व्याख्या यो की है—(यह वह है) जो किसी देश, जाति, कुल आदि के विषय मे उच्च घोष द्वारा गाली के रूप मे कहा जाय और जिसमे कहे जानेवाले व्यक्ति को मानसिक कष्ट मिले और उसे अपराध-सा लगे। कात्यायन (७६८) ने इसे यो समझाया है—किसी के सामने हुकार करना, उसके सामने खाँसना या ऐसी अनुकृति करना या ऐसा उच्चारण करना जो लोक द्वारा गर्हित माना जाय अर्थात् जिसे लोग न करने या न कहने योग्य समझें, वह वाक्पारुष्य कहा जाता है।[1] नारद (१८।२-३) के मत मे गाली-गलौज अथवा वाक्पारुष्य के तीन प्रकार है—**निष्ठुर** (झिडकियो के रूप मे, यथा किसी को मूर्ख या दुष्ट कहना), **अश्लील** (गन्दी या अपमानजनक बात कहना) तथा **तीव्र** (भीषण आरोप लगाना, यथा किसी को ब्रह्म-हत्या या मद्य पीने का अपराधी बतलाना), और क्रम मे इन तीनो के लिए अपेक्षाकृत अधिक दण्ड की व्यवस्था दी गयी है। किसी देश, जाति या कुल के लिए क्रम मे इस प्रकार कहना कि 'गौड देश के लोग झगडालू हैं', 'ब्राह्मण बडे लालची हैं' या 'विश्वामित्र गोत्र के लोग क्रूर काय करते हैं, ये गालियो के उदाहरण हैं। बृहस्पति ने वाक्पारुष्य को तीन प्रकार का कहा है—**सबसे छोटा** (जब किसी देश, जाति या कुल को गाली दी जाती है या किसी विशिष्ट कार्य की ओर सकेत न करके पापकर्म का अपराध लगाया जाता है), **मध्यम** (जब गाली देनेवाला गाली दिये जानेवाले व्यक्ति की माता या बहिन के सभोग की गाली देता है, अर्थात् जब माँ-बहिन की गाली दी जाती है या उपपातकों[2] या छोटे-छोटे पापो की गाली दी जाती है) तथा महान् अपराध लगाना, अर्थात् निषिद्ध भोजन या पेय ग्रहण करने का या महापातक का अपराध लगाना। स्मृतियो मे उपर्युक्त वाक्पारुष्यो तथा वैसा करने वालो की जाति तथा जिनको गाली दी जाती है उनकी जाति के अनुसार दण्ड की व्यवस्था दी हुई है। उदाहरणार्थ मनु (८।२६७=नारद १८।१५=मत्स्यपुराण २२७।६६) ने ब्राह्मण को गाली देने पर गाली देनेवाले क्षत्रिय, वैश्य एव शूद्र को क्रम से १००, १५० एव २०० पणों का दण्ड लगाया है। इसी प्रकार मनु (८।२६८=नारद १८।१६) ने क्षत्रिय, वैश्य एव शूद्र को गाली देने पर अपराधी ब्राह्मण को क्रम मे ५०, २५ एव १२ पणो के दण्ड की व्यवस्था दी है। समान जातीय को गाली देने पर मामूली अपराध के लिए १२ पणो का दण्ड तथा माँ-बहिन की गाली देने पर इसका दूना दण्ड लगाया गया है (मनु ८।२६९=नारद १८।१७)। और देखिए याज्ञ० (२।२०६-२०७), विष्णु० (५।३५)। स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० ३२७) एव मदनरत्न के उद्धरणो

१ हुकार कासन चैव लोके यच्च विगर्हितम। अनुकुर्यादनुब्रूयाद् वाक्पारुष्य तदुच्यते॥ कात्यायन (७६८, अपरार्क पृ० ८०५, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ६)।

२ उपपातको (गोवध, व्यभिचार आदि) के लिए देखिए मनु (९।५९-६६)। याज्ञ० (३।२३४-२४२) एव विष्णुधर्मसूत्र (३७) मे इनकी लम्बी सूची दी हुई है।

से पता चलता है कि लगभग १२वीं शताब्दी में जाति-सम्बन्धी अन्तर तथा छोटे-बड़े अपराध-सम्बन्धी विभेद प्रायः नष्ट हो चुके थे। दो-एक बातें विचारणीय हैं। देखिए मनु (८।२६८, २७२ एवं २७४; नारद १८।१६, १७ एवं २२-२४)। यहाँ तक कि सच्ची गाली (यदि कोई व्यक्ति क्रोध में चोरी में पकड़े गये किसी पूर्व अपराधी को चोर कहे या अन्धे को अन्धा या लँगड़ा कहे) के लिए मनु (८।२७४—नारद १८।१८) ने एक कार्षापण का दण्ड लगाया है। कौटिल्य (३।१८) एवं विष्णु (५।२७) ने ऐसे अपराधों में क्रम से ३ एवं २ पणों की दण्ड-व्यवस्था दी है। यदि गाली झूठ-मूठ में दी गयी हो तो इस प्रकार की सच्ची गालों के लिए जो दण्ड लगता है उसका दूना दण्ड देना पड़ता है। यदि व्याज-स्तुति की जाय अर्थात् किसी एक आँख वाले या अन्धे को सुन्दर आँखों वाला कहा जाय तो दण्ड लगता है (कौटिल्य ३।१८)। यदि किसी को प्रसिद्ध पतित या चोर के साथ रहने के लिए मना किया जाय तो दण्ड नहीं लगता (कात्यायन ७७९)। यदि गाली देनेवाला यह कहे कि 'असावधानी, असावधानी, वैर या मित्रता के कारण मैंने ऐसा कह दिया है और अब ऐसा नहीं करूँगा' तो उसे केवल आधा दण्ड लगता है (कात्यायन ७७५; विवादरत्नाकर पृ० २४१; विवादचिन्तामणि पृ० ७७; स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ३२७; व्यवहारप्रकाश पृ० ३८४; कौटिल्य ३।१८)। यदि कोई कर्तव्यरत राजा को गाली दे तो उसकी जीभ काट ली जाती है और उसकी सारी सम्पत्ति छीन ली जाती है (नारद १८।३१ एवं याज्ञ० २।३०२)। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।१०।२७।१४) ने धर्मरत तीन उच्च वर्णों को गाली देनेवाले शूद्र की जीभ काट लेने की व्यवस्था दी है।

दण्डपारुष्य

कौटिल्य (३।१९) ने इस शीर्षक के अन्तर्गत स्पर्श करने, धमकी देने या वास्तविक रूप से आहत करने को सम्मिलित किया है।[३] नारद (१८।४) के मत से हाथ, पैर, हथियार या किसी अन्य वस्तु (ढेला आदि) से दूसरों पर घाव करने या राख आदि से गन्दा कर देने या एक-दूसरे को पीड़ा देने को इसके अन्तर्गत रखा है। मिताक्षरा (याज्ञ० २।२१२) ने तो पशुओं को पीड़ा पहुँचाने तथा पेड़ गिरा देने को भी इसके भीतर ही लिया है। नारद (१८।५-६) के मत से दण्डपारुष्य के तीन प्रकार हैं—प्रथम, मध्यम एवं उत्तम, यथा—आक्रमण करने की तैयारी करना, बिना किसी अनुताप या परित्राण के आक्रमण करना और घायल करना। इन तीनों को पुनः तीन भागों में बाँटा गया है जो व्यक्ति या वस्तु के हीन, मध्यम या उच्च मूल्य पर निर्भर माने गये हैं। स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० ३२७) एवं व्यवहारप्रकाश (पृ० ३९०) ने परिशिष्ट के इलोक में कहा है—वह व्यक्ति दण्डपारुष्य का अपराधी है जो पीड़ा पहुँचाता है या रक्त निकाल देता है, घात करता है, ताड़ता है, काटता है और शरीरादि अंगों को फाड़ देता है। बृहस्पति ने लिखा है कि हाथ, पत्थर, लाठी, राख, पंक, धूलि या हथियार से मारना या चोट पहुँचाना दण्डपारुष्य कहलाता है।[४]

मिताक्षरा (याज्ञ० २।२१२) ने वाक्पारुष्य एवं दण्डपारुष्य के विषय में कुछ सिद्धान्त बनाये हैं। जो व्यक्ति गाली दिये जाने या आक्रमण किये जाने पर अपनी ओर से वैसा ही अपराध नहीं करते उन्हें प्रशंसित करना चाहिए, किन्तु जो स्वयं प्रत्युत्तर दे देते हैं उन्हें भी दण्डित करना चाहिए, किन्तु उन्हें प्रथम गाली देनेवाले तथा मारने-पीटने वाले की अपेक्षा कम दण्ड मिलना चाहिए। किन्तु दो व्यक्ति यदि आपस में उलझ जायँ और यह न प्रकट हो सके कि किसने

३. दण्डपारुष्यं स्पर्शनमवगूर्णनं प्रहतमिति। अर्थशास्त्र (३।१९)।

४. हस्तशस्त्रादिभिर्भस्मपङ्करजःस्पर्शः। आयुधैश्च प्रहरणं दण्डपारुष्यमुच्यते॥ बृहस्पति (विवादरत्नाकर पृ० २५९)।

पहले आरम्भ किया तो दोनो को वरावर-वरावर दण्ड मिलना चाहिए। यदि दो व्यक्ति लड जायँ तो प्रथम आक्रामक को तथा जो आगे बढकर लगातार आक्रमण करता रहता है, उसे अपेक्षाकृत अधिक दण्ड मिलना चाहिए। यदि श्वपाक, मेद, चाण्डाल, व्याध, हाथीवान, व्रात्य, दास आदि नीच लोग कुलीनो एव आचार्यो पर दण्डपारुष्य प्रयुक्त करें तो अच्छे व्यक्तियो द्वारा उन्हें वही एव उसी समय दण्डित करना चाहिए (अर्थात् उन पर कोडे आदि वरसाने चाहिए!), किन्तु यदि ऐसा न हो सके तो राजा को चाहिए कि वह उन्हें उनके अपराध के अनुरूप शारीरिक दण्ड दे, किन्तु उनसे अर्थ-दण्ड न ले, क्योकि उनका धन गर्हित माना गया है।[5]

विभिन्न स्मृतियो मे विभिन्न दण्डो की व्यवस्था पायी गयी है और हम उनके विस्तार मे यहाँ नही पडेंगे। कात्यायन (७८६) ने व्यवस्था दी है कि जिस प्रकार वाक्पारुष्य मे दण्ड गाली देनेवाले एव जिसे गाली दी जाती है उसकी जाति के अनुसार दिया जाता है, उसी प्रकार दण्डपारुष्य मे भी होता है। अर्थात् यदि अपराधी मार खानेवाले से हीन जाति का हो तो उसे अधिक दण्ड दिया जाता है तथा यदि मारने वाला मार खानेवाले से उच्च जाति का हो तो कम दण्ड दिया जाता है। मनु (८।२८६) एव उशना (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ३२८) ने मनुष्य एव पशु को लगे हुए घाव के अनुसार दण्ड देने की व्यवस्था दी है।[6] सस्कृत साहित्य पर दण्डपारुष्य मे दण्ड देने के विषय मे प्राचीनतम उल्लेख तैत्तिरीय सहिता (२।६।१०।२) मे प्राप्त होता है—"जो ब्राह्मण को मारने की धमकी देता है उसे सौ (गाय या निष्क) का दण्ड, जो ब्राह्मण को पीटता है उसे एक सहस्र का दण्ड तथा जो इस प्रकार आक्रमण कर रक्त निकाल देता है उसे उतने वर्षो तक पितरो को न देखने के (शाप का) दण्ड मिलता है जितने धूलिकण उस रक्त मे गिरकर मिल जाते हैं।" इस विषय मे देखिए जैमिनि (४।१७), गौतम (२१।२०-२२) एव मनु (११।२०६-२०७) जहाँ उपर्युक्त कथन की विभिन्न व्याख्याएँ उपस्थित की गयी हैं। कौटिल्य (३।१९) ने विभिन्न दण्डपारुष्यो के लिए भिन्न-भिन्न दण्डो की व्यवस्था दी है।

बृहस्पति का कहना है कि यदि कोई धूल, विभूति (राख) आदि किसी पर फेंके या किसी को हाथ से पीट दे तो उस पर एक माष का दण्ड लगता है, यदि वह किसी को छडी या पत्थर या ईंट से मारे तो दो माष देने पडते है। किन्तु यह व्यवस्था वरावर की जाति वालो के लिए है। यदि कोई किसी दूसरे की पत्नी या अपने से उच्च जाति वाले को मारे या पीटे तो दण्ड उसी के अनुरूप अधिक लगता है। जो किसी के चर्म को काट देता है या आक्रमण से रक्त निकाल देता है तो उसे सौ पण देने पडते हैं, जो काटकर मास निकाल देता है उसे छ माष देने पडते हैं तथा जो हड्डी तोड देता है उसे निष्कासन का दण्ड मिलता है (मनु ८।२८४ = नारद १८।२९)। कात्यायन ने कान, अधर, नाक, पाव, आँख, जीभ, लिंग, हाथ काटने पर सबसे बडे दण्ड की तथा घायल करने पर मध्यम दण्ड की व्यवस्था दी है। यदि शूद्र तीन उच्च वर्णो को जिस अग से पीटे तो उसका वह अग काट लिया जाना चाहिए (गौतम १२।१, कौटिल्य ३।१९, मनु ८।२७९, याज्ञ० २।२१५ एव बृहस्पति)। मिताक्षरा (याज्ञ० २।२१५) ने यही वात क्षत्रिय को पीटने

५ अस्पृश्यधूर्तदासाना म्लेच्छाना पापकारिणाम्। प्रतिलोमप्रसूताना ताडन नार्यतो दम ॥ कात्यायन (अपरार्क पृ० ८१३, विवादरत्नाकर पृ० २७८), प्रातिलोम्यास्तथा चान्त्या पुरुषाणा मला स्मृता। ब्राह्मणातिक्रमे वध्या न दातव्या धन क्वचित्॥ विवादरत्नाकर (पृ० २६९)।

६ वाक्पारुष्ये यथैवोक्ता प्रातिलोम्यानुलोमत। तथैव दण्डपारुष्ये पात्या दण्डा यथाक्रमम्॥ कात्यायन ७८६ (पराशरमाधवीय ३, पृ० ४१८, विवादरत्नाकर २६९)। यत्र नोक्तो दम सर्वैरानन्त्यान्तु महात्मभि। तत्र कार्य परिज्ञाय कर्तव्य दण्डधारणम्॥ कार्यं प्राणिषु प्राण्यन्तरैरुत्पादित दु खम्। स्मृ० च० २, पृ० ३२८।

पर वैश्य के लिए लागू की है। मनु (८।२८) ने यही दण्ड उस शूद्र के लिए दिया है जो किसी उच्च जातीय को मारने के लिए हाथ या लाठी उठाता है। मनु (८।२८१ २८१ = नारद १८।२६–२८) ने कहा है कि यदि कोई नीच जाति का व्यक्ति किसी उच्च जाति के व्यक्ति के साथ एक ही आसन पर उद्धत रूप से बैठे तो उसकी कमर तप्त लोहे से दाग कर उसे निष्कासित कर देना चाहिए या उसके चूतड़ पर घाव कर देना चाहिए (इस प्रकार कि वह मरने न पाये)। यदि कोई शूद्र किसी ब्राह्मण पर निर्लज्ज होकर थूक दे तो उसके अधर काट लिये जाने चाहिए, यदि कोई शूद्र किसी ब्राह्मण पर मल-मूत्र फेंके तो अपराधी अंग को काट देना चाहिए तथा यदि कोई शूद्र किसी ब्राह्मण के बाल पैर, दाढ़ी, गरदन या अण्डकोषों को पकड़कर खींचे तो उसके हाथ काट लिये जाने चाहिए। यदि किसी अकेले व्यक्ति को कई लोग मिलकर पीटें तो प्रत्येक को उस अपराध का दूना दण्ड लगता है (याज्ञ० २।२२१ कौटिल्य ३।१९ विष्णुधर्मसूत्र ५।७१)। कौटिल्य (३।१९) मनु (८।२८७) याज्ञ० (२।२२२) बृहस्पति कात्यायन (७८०) विष्णुधर्मसूत्र (५।७५-७६) ने लिखा है कि घायल कर देने पर अपराधी को दवा भोजन तथा अन्य व्ययों की व्यवस्था तब तक करनी पड़ती है जब तक कि वह व्यक्ति काम करने के योग्य न हो जाय।

सम्पत्ति नाश करने तथा पशुओं को मारने या अंग-विच्छेद करने पर कौटिल्य मनु, याज्ञवल्क्य आदि ने विविध दण्डों की व्यवस्था दी है। पशुओं को मार डालने या पीटने पर मनु (८।२९६ २९८) ने कई प्रकार के दण्डों की व्यवस्था दी है जो पशुओं के मूल्य आदि पर निर्भर है। वृक्षों झाड़ियों एवं लताओं को नष्ट-भ्रष्ट करने पर भी दण्ड-व्यवस्था है (याज्ञ० २।२२७-२२९, कौटिल्य ३।१९ एवं कात्यायन ७९१)। याज्ञवल्क्य (२।२१४) ने लिखा है कि यदि उन्मत्त होने पर या पागल हो जाने पर या भ्रमवश कोई किसी पर कीचड़ मिट्टी धूल या मल मूत्र फेंक दे तो वह दण्डित नहीं होता। किन्तु इन मामलों पर कौटिल्य ने वास्तविक दण्ड का आधा लगाया है।

स्वतः दण्डप्रयोग के अवसर

अपनी सम्पत्ति या प्राण की रक्षा के लिए व्यक्ति क्या कर सकता है? इस विषय में धर्मशास्त्रकारों ने विवेचन उपस्थित किया है। आततायियों के विषय में चर्चा करते समय इस विषय में हमने इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग के तृतीय अध्याय में कुछ कह दिया है। किसी आततायी ब्राह्मण को मार डालने के विषय में बहुत-से मत-मतान्तर हैं किन्तु किसी भी जाति के आततायी को मार भगाने या बलपूर्वक हटा देने (भले ही उसकी हत्या हो जाय) के विषय में कोई भेद नहीं है। गौतम (७।२५) ने प्राण-भय के समय ब्राह्मण को भी अस्त्र-शस्त्र से अपनी रक्षा करने को कहा है। बौधायन (२।२।८) मनु (८।३४८ ३४९) आदि ने कहा है कि ब्राह्मण एवं वैश्य भी यदि पातकियों द्वारा धर्म-कर्म में बाधा पायें या जब वर्णसंकरता से गड़बड़ी उत्पन्न हो जाय या जब उनके प्राणों पर आ जाय या जब उन्हें गायों या सम्पत्ति स्त्रियों या ब्राह्मणों की रक्षा करनी हो तो बल का प्रयोग कर सकते हैं। मिताक्षरा (याज्ञ० २।२८६) ने मनु के इस वचन को उसी दशा में उचित माना है जब कि समय से राजा को सूचना न मिल सके और देरी होने से सर्वनाश की उपस्थिति हो जाने वाली हो।

कात्यायन (८) का कथन है कि प्राण लेने पर उतारू व्यक्ति को मारने में कोई अपराध नहीं है किन्तु यदि आक्रामक घेर लिये जायँ तो उन्हें बन्दी बना लेना चाहिए और मारना नहीं चाहिए। अपरार्क (याज्ञ० ३।२२७) का कथन है कि जो आग लगाने या मार डालने पर तुला हो या आग लगा रहा हो या मार रहा हो तो उसे आततायी कहना

७. बहूनामेकं घ्नतां प्रत्येकं द्विगुणो दण्डः। अर्थशास्त्र (३।१९)।

चाहिए, जब उसे ऐसा करने से रोका न जा सके और मार डालना ही एक उपाय रह गया हो, धर्मशास्त्रकार ऐसा करने को अनुचित नही कहते। किन्तु यदि उसे घायल करके रोका जा सकता है तो जान से मार डालना अपराध कहा जायगा। मेधातिथि (मनु८।३४८) ने अपनी व्याख्या मे स्पष्ट किया है कि ऐसे आततायी को मार डालना चाहिए, भले ही वह अपने दुष्कर्म मे लगा हुआ हो या उसे सम्पादित कर चुका हो। मिताक्षरा (याज्ञ० २।२२) का कथन है कि अपने प्राणो की रक्षा, स्त्रियो, दुर्वलो आदि की रक्षा मे विरोध करने एव मार डालने का अधिकार है और यदि ऐसा करने पर ब्राह्मण की हत्या हो जाय तो राजा द्वारा दण्ड नही मिलता और इस प्रकार की ब्रह्म-हत्या का प्रायश्चित्त हलका होता है। इसी प्रकार पजे एव सीग वाले पशुओ, फण वाले साँपो या आक्रामक घोडो एव हाथियो को मार डालने मे कोई अपराध नही है (कात्यायन ८०५, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ३१६)।

अध्याय २४

स्तेय (चोरी)

ऋग्वेद में तस्कर, स्तेन एवं तायु का बहुधा उल्लेख हुआ है, यथा "गौएँ हमसे न बिछुड़ें, कोई तस्कर (चोर) उन्हें पीड़ा न पहुँचाये" (ऋग्वेद ६।२८।३)। "पूषा मार्गों की रक्षा करता है और गुप्त धनों को जानता है जैसा कि कोई तस्कर जानता है" (ऋ० ८।२९।६)। ऋग्वेद (१०।४।६) से ज्ञात होता है कि चोर लोग साहसी होते थे तथा लोगों को रस्सियों से बाँध देते थे तथा तस्कर रात्रि में दिखाई पड़ते हैं (ऋग्वेद १।१९१।५)।[1] तायु शब्द भारत-भारती शब्द है (ऋ० १।५०।२, ४।३८।५, ६।१२।५)। स्तेन का अर्थ है 'गाय चुराने वाला' (ऋ० ६।२८।७)। स्तेन को पकड़ लेने पर रस्सी से बाँध लिया जाता था (ऋ० ८।६७।१४)। ऋग्वेद (७।५५।३) में कुत्ते को स्तेन एवं तस्कर के पीछे दौड़ने को कहा गया है। लगता है यहाँ स्तेन का अर्थ है वह चोर जो सम्पत्ति को गुप्त रूप से ग्रहण करता है तथा तस्कर वह है जो खुले आम चोरी करता है। वाजसनेयी संहिता (११।७९) तथा तैत्तिरीय संहिता (४।१।१०।२) में स्तेन तथा तस्कर के अतिरिक्त मलिम्लु शब्द भी आया है।[2] अथर्ववेद (४।३) में भेड़िया, व्याघ्र एवं तस्करों के विरुद्ध मन्त्र कहे गये हैं।

मनु (८।३३२), कौटिल्य (३।१७), नारद (१७।११) आदि ने स्तेय को साहस से पृथक् माना गया है। कात्यायन (८।१, वाग्माल ३१६, पृ० २२४) ने स्तेय के विषय में यों लिखा है—जो परद्रव्य हरण प्रच्छन्न होता है या प्रकाश में होता है या रात्रि या दिन में होता है, उसे स्तेय कहते हैं। सोये हुए या असावधान या उन्मत्त लोगों के धन को कई साधनों से हर लेने को स्तेय कहते हैं (नारद १७।१७)। चोरी की गयी वस्तु के अनुसार यह तीन प्रकार का होता है—साधारण (मिट्टी के बरतन, आसन, खाट, लकड़ी, घास-फूस, भोजन), मध्यम (रेशम के अतिरिक्त अन्य परिधान, गाय-बैल के अतिरिक्त अन्य पशु, सोने के अतिरिक्त अन्य धातु, चावल एवं जौ) तथा गम्भीर (जब सोने के जेवर, रेशम के वस्त्र, स्त्रियाँ, पुरुष, पालतू पशु, हाथी, घोड़े तथा ब्राह्मणों या मन्दिरों का धन चोरी में जाता है)। और देखिए नारद (१७।११-१६) एवं याज्ञ० (२।२७५)।

मनु (९।२५६) एवं बृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ३११ एवं व्यवहारप्रकाश पृ० ३८६) के अनुसार तस्कर (चोर) या तो प्रकाश (प्रकट या खुले रूप वाले) या अप्रकाश (गुप्त) होते हैं। बकवक तराजू एवं बटखरे वाले व्यापारी

१. न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति। ऋ० (६।२८।३); पर एतु पीनसः तस्करो मर्ता एतु वेद मिथोनायम्॥ ऋ० (८।२९।६); तस्कराविव तस्करा वनर्गू रशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम्। ऋ० (१०।४।६)। और देखिए निरुक्त (३।१४)।

२. ये जनेषु मलिम्लवः स्तेनासस्तस्करा वने। ये कक्षेष्वघायवस्तांस्ते दधामि जम्भयोः॥ वाजसनेयी सं० (११।७९)। तैत्तिरीय संहिता की टीका में आया है—'स्तेना गुप्तचौराः, तस्कराः प्रकाशचौराः, मलिम्लवा निर्भया ग्रामेषु चौरिकां कुर्वन्तः मलिम्लवः।'

जुआरी, मिथ्याचिकित्सक (क्वैक या नकली वैद्य), 'सभ्यो' के घूसखोर, वेश्याएँ, मध्यस्थता की वृत्ति करने वाले, कमसल (नकली) वस्तुओं के व्यापारी या जादू या हस्तरेखा या सामुद्रिक से भविष्य-वाणी करने वाले, झूठे साक्षी आदि **प्रकाश तस्कर** कहे जाते हैं। मनु (९।२६१-२६६) ने लिखा है कि उस प्रकार के तस्करो का पता लगाने के लिए राजा द्वारा सभा-स्थलो, जलपान-गृहो, वेश्याभवनो, मद्य-शालाओ, नाटकघरो आदि मे ऐसे गुप्तचर नियुक्त करने चाहिए जो वेष-परिवर्तन कर सबका पता चलायें। **अप्रकाश तस्कर** वे हैं जो छिपे तौर से सबरी (सेंध मारने वाले हथियार) या अन्य हथियार लेकर घूमते हैं। इनके मुख्य नौ प्रकार है—**उत्क्षेपक** (उचक्का, जो किसी अन्य काम मे लगे व्यक्ति का सामान उठा लेता है), **संधिभेत्ता** (सेंध मारनेवाला), **पान्थमुट्** (यात्रियो को लूट लेने वाला), **ग्रन्थि-भेदक** (जेब-कतरा या पाकेटमार), **स्त्री-चोर, पुरुषचोर, पशु-चोर, अश्वचोर** तथा अन्य **पशु-चोर**। याज्ञ० (२।२६६-२६८) एव नारद (परिशिष्ट ९-१२) ने चोरो को पकडने एव उनका पता लगाने की विधियाँ बतायी हैं। यथा—राजकर्मचारी (पुलिस) द्वारा चोरी का कुछ सामान प्राप्त कर, या पद-चिह्न द्वारा, या पुराने चोर को पकडकर, या ऐसे व्यक्ति को पकड कर जो अपना पता न बताये। सन्देह पर भी व्यक्ति पकडे जा सकते है, या पूछने पर अपना नाम या जाति न बताने वाले को पकडा जा सकता है, जुआरी, शराबी, वेश्यागामी को चोरी के सन्देह मे पकडा जा सकता है, यदि पूछे जाने पर मुँह सूख जाय या स्वर बदल जाय तो व्यक्ति पर सन्देह किया जा सकता है, ऐसा व्यक्ति जिसके पास प्रचुर सम्पत्ति न हो, किन्तु पर्याप्त मात्रा मे व्यय करता हो तो उस पर भी सन्देह किया जा सकता है, जो व्यक्ति खोयी हुई वस्तु बेचे या पुरानी वस्तु बेचे या वेश धारण कर घूमे या जो दूसरे की सम्पत्ति या घर के विषय मे पूछताछ करे उस पर सन्देह किया जा सकता है। मिताक्षरा (याज्ञ० २।२६८) ने नारद का उद्धरण दिया है कि केवल सन्देह पर ही अपराध सिद्ध नही होता, अत राजा को भली प्रकार छानबीन करनी चाहिए, क्योकि निरपराधी भी उपर्युक्त लक्षण प्रकट कर सकते है या अपने पास मे वैसी वस्तुएँ (चोरी की) पा सकते हैं। यदि चोरी की वस्तु किसी के पास प्राप्त हो, तो यह सम्भव है कि वह उसके पास किसी अन्य व्यक्ति द्वारा आयी हो, या वह उसे पडी मिली हो, या उसकी उसने स्वय चोरी की हो, झूठे व्यक्ति बहुधा सच्चे व्यक्तियो का चेहरा बनाये रहते हैं। देखिए नारद (१।४२ एव १।७१), मनु (९।२७०=मत्स्य० २२७।१६६)। चोरी मे पकड लिये जाने पर केवल अस्वीकार से व्यक्ति बरी नही होता, उसे प्रमाणो द्वारा (यथा—वह उस समय अन्यत्र था) या दिव्य द्वारा अपनी सचाई सिद्ध करनी पडती है (याज्ञ० २।२६९)।

प्रकाश (प्रकट) चोरो को दण्ड अपराध के हलकेपन या गुरुता के अनुपात मे मिलता है न कि उनकी सम्पत्ति के अनुपात मे। और देखिए बृहस्पति (पराशरमाधवीय ३, पृ० ४३९-४४० एव व्यवहारप्रकाश पृ० ३८७-३८८)। मनु (९।२९२) एव मत्स्यपुराण (२२७।१८४-१८५) के अनुसार कण्टको (धोखेबाजो) मे सुनार सबसे बडा कण्टक है, यदि वह धोखा करता हुआ पकडा जाय तो उसके अगो का विच्छेद थोडा-थोडा करके करना चाहिए।

गुप्त या अप्रकाश या अप्रकट चोरो के विषय मे विशिष्ट नियम दिये हुए हैं। पूर्वोक्त तीन प्रकार की चोरी मे वे ही दण्ड दिये जाते हैं जो साहस के तीन प्रकारो के लिए उल्लिखित हैं (नारद १२।२१)। मनु (८।३२३) ने कुलीन मनुष्यो (विशेषत स्त्रियो) एव बहुमूल्य धातुओ की चोरी मे मृत्यु-दण्ड की व्यवस्था दी है। व्यास ने स्त्रियो की चोरी पर जलते लोहे के ऊपर जलाकर मार डालने तथा मनुष्यो की चोरी पर हाथ-पैर काट डालने की दण्ड-व्यवस्था दी है। याज्ञ० (२।२७३) ने दूसरो को बन्दी बना लेने, अश्वो एव हाथियो की चोरी तथा हिंसावृत्ति से दूसरे पर आक्रमण करने पर शूली पर चढाने को कहा है। मनु (९।२८०) ने राजा के भण्डार मे एव अस्त्रागार मे सेंध लगाने या मन्दिर के प्रकोष्ठ मे चोरी करने पर या हाथी, घोडा एव रथ चोरी करने पर मृत्यु-दण्ड की व्यवस्था दी है। रात्रि मे सेंध

लगाने (मनु ।२७६) पर हाथ काटकर सूली पर चढ़ा देने की व्यवस्था दी गयी है। याज्ञ (२।२७४) मनु (९।२७७) एवं विष्णुधर्मसूत्र (५।१३६) ने गैठकतरों (ग्रन्थिभेदकों) के प्रथम अपराध पर अंगूठा एवं तर्जनी काट लेने की, दूसरे अपराध पर हाथ-पैर काट लेने की तथा तीसरे अपराध पर मृत्यु-दण्ड की व्यवस्था दी है। चोर को चोरी के सामान की पूर्ति भी करनी पड़ती थी (मनु ८।३२, याज्ञ २।२७०, विष्णुधर्मसूत्र ५।८९ एवं नारद, परिशिष्ट २१)। नारद (परिशिष्ट २२-२४) के अनुसार साधारण चोरी में सामान के मूल्य का पाँच गुना देना पड़ता था, किन्तु मनु (८।३२१ ३२९) ने केवल दूने की बात कही है।

गौतम (१२।१२ १४) मनु (८।३३७-३३८) एवं नारद (परिशिष्ट ५१-५२) के अनुसार उच्च जातियों को अपेक्षाकृत अधिक दण्ड मिलता है, यथा—शूद्र को चोरी की वस्तु का आठ गुना देना पड़ता तो उसी अपराध में वैश्य क्षत्रिय एवं ब्राह्मण को क्रम से १६ ३२ एवं ६४ गुना देना पड़ता है, क्योंकि उच्च स्थिति एवं संस्कृति के अनुसार इन्हें अधिक ईमानदार होना चाहिए। मनु (८।३८०) में लिखा है कि सामान्यतः ब्राह्मण को किसी भी अपराध में मृत्यु दण्ड नहीं मिलना चाहिए, उसे देश-निर्वासन का दण्ड मिल सकता है, किन्तु वह अपनी सम्पत्ति अपने साथ ले जा सकता है। किन्तु अन्य अपवाद भी मिलते हैं। कात्यायन (८२३) का कथन है कि मानवों (मनु के अनुयायियों या सम्प्रदाय के लोगों) के अनुसार चोरी के सामान के साथ पकड़े गये लोगों को तत्काल प्रवासित कर देना चाहिए। किन्तु गौतम सम्प्रदाय के मत से ऐसा नहीं करना चाहिए, क्योंकि इस नियम से देश में लोगों की कमी हो जायगी। विवादरत्नाकर (पृ ३१२) ने कात्यायन के इस वचन को विद्वान् ब्राह्मणों के लिए ही ठीक माना है। विवादरत्नाकर (पृ ३१२) एवं विवादचिन्तामणि (पृ ९२) ने कात्यायन के दो पद्य (८२४-८२५) उद्धृत कर व्यक्त किया है कि यदि अविद्वान् ब्राह्मण चोरी के सामान के साथ या बिना सामान पकड़ लिया जाय तो उसे उपयुक्त लक्षणों से दाग देना चाहिए और उसकी सारी सम्पत्ति छीन ली जानी चाहिए, किन्तु ऐसा करने के पूर्व अपराध निश्चित रूप से सिद्ध हो जाना आवश्यक है। दूसरे पद्य में यह आया है कि यदि चोर ब्राह्मण न तो विद्वान हो और न धनी तो उसके पैरों में बेड़ी डाल देनी चाहिए, उसे कम भोजन देना चाहिए और मृत्यु-पर्यन्त उससे राजा द्वारा काम कराना चाहिए। गौतम (१२।४९ ४८) नारद (परिशिष्ट १३-१४) मनु (९।२७१ एवं २७८) कात्यायन (८२७) आदि के मत से जो लोग जान-बूझकर चोरों को भोजन अग्नि (जाड़े में तापने के लिए) जल या शरण देते हैं या चोरी की वस्तु ग्रहण करते हैं या क्रय करते हैं या छिपाते हैं, उन्हें चोरी के समान ही दण्ड मिलता है। इस विषय में देखिए याज्ञवल्क्य (२।२७६)।

कुछ विषयों में बिना आज्ञा लिये वस्तुओं का उपभोग अपराध नहीं माना जाता। गौतम (१२।२५) मनु (८।३३९—मत्स्यपुराण २२७।११२ ११३) याज्ञ (२।१६६) ने तीन उच्च जातियों के लोगों को गाय, ईंधन पुष्प, घास को खिलाने के लिए, घास आदि तथा देवपूजा के लिए पुष्प आदि के लेने पर तथा अपरिमित फल तोड़ने पर अपराधी नहीं ठहराया है। ऐसा करने पर न तो दण्ड मिलता है और न पाप ही लगता है (कुल्लूक, मनु ८।३३९)। एक स्मृति में आया है कि बिना माँगे ऐसा करने पर हाथ काट लिये जाने चाहिए, किन्तु मिताक्षरा (याज्ञ २।१६६) एवं अपरार्क (पृ ७७४) आदि ने ऐसा केवल उन लोगों के लिए माना है, जो द्विज नहीं हैं और जो किसी कठिनाई में नहीं हैं, या जो गाय को खिलाने या पूजा के लिए ऐसा नहीं करते हैं।

यह विषय आदि काल से ही विचाराधीन रहा है। आपस्तम्बधर्मसूत्र (१ ।१०।२८।१-५) में आया है कि कौन

१ सन्धिच्छेदकृतो ज्ञात्वा शूलमाप्यपेयमनुः। बृहस्पति (व्यवहारप्रकाश पृ ३८८)।

हारीत, काण्व एव पौष्करसादि के मत से चाहे थोडा हो या कोई भी परिस्थिति हो, विना आज्ञा के किसी का कुछ लेना चोरी है, किन्तु वार्ष्यायणि के मत से कुछ अपवाद हैं, यथा—स्वामी को, थोडी मात्रा मे मुद्ग (मूँग) या माप (उरद) या घास गाडी मे जुते हुए वैलो को खिलाते समय मना नही करना चाहिए, किन्तु यदि इन वस्तुओ को खिलाने वाला अधिक मात्रा मे खिलायेगा तो वह चोर ममझा जायगा। शान्तिपर्व (१।१६५।११-१३), मनु (११।१६-१८) एव याज्ञ० (३।४३) मे आया है कि यदि विना अन्न के कोई ब्राह्मण या कोई अन्य व्यक्ति तीन दिनो तक उपवास किये हो तो चौथे दिन वह कही से भी, चाहे किसी का खलिहान हो या खेत हो या घर हो, एक दिन के भोजन के लिए वस्तु ग्रहण कर सकता है, किन्तु प्रश्न पूछने पर उसे वास्तविक कारण वता देना चाहिए। किन्तु हीन जाति का व्यक्ति ऐसा तभी कर सकता है जव कि स्वामी (जिमका मामान वह विना कहे उठा लेता है) पापी हो और अपनी जाति के धर्म का पालन नही करता हो। व्याम (स्मृतिचन्द्रिका १, पृ० १७५) ने आपत्ति के समय भोजन के लिए चोरी करना अपराध नही माना है, किन्तु यह चोरी प्रथमत अपने मे किसी हीन जाति वाले के यहाँ, तव वरावर वाले के यहाँ और अन्त मे अपने से उच्च-जाति के यहाँ की जा सकती है। मनु (८।३४१, मत्स्यपुराण २२७।११०,११४), नारद (प्रकीर्णक ३९), शख एव कात्यायन (८२२ क) के मत मे भोजन कम पड जाने पर यात्री द्वारा विना माँगे किमी के खेत से दो ईखो, दो मूलियो, दो नरवूजो (तरवूज), पाँच आमो या दाडिमो, एक मुट्ठी खजूर, वेर या चावल या गेहूँ या चना ले लेना अपराध नही माना गया है।[४]

साहस (गुडई, लूट-मार, डाका)

मनु (८।३२२), कौटिल्य (३।१७), नारद (१७।१), याज्ञ० (२।२३०) एव कात्यायन (७९५-७९६) ने साहस[५] को ऐसा कर्म माना है जो राजकर्मचारियो या रक्षको या अन्य लोगो की उपस्थिति मे भी वलपूर्वक किया जाय। 'माहस' शब्द 'महम' अर्थात् वल (नारद १७।१) से निकला है। कभी-कभी साहस स्तेय से पृथक् माना जाता है (मनु ८।३३२, कौटिल्य ३।१७ एव नारद १७।१२), क्योकि स्तेय (चोरी) विना वल प्रयोग किये गुप्त रूप से किमी का धन ले लेना है और साहस मे वल या हिंमा का प्रयोग निहित है। माहस के चार प्रकार हैं—मनुष्यमारण, चौर्य (चोरी), परदाराभिमर्शन (दूसरे की स्त्री को छीन लेना) एव पारुष्य (इमके दो प्रकार हैं)। देखिए वृहस्पति (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ३१२ एव व्यवहारप्रकाश पृ० ३९२), नारद (१७।२) आदि। साहम करने वाले को चोरो आदि की

४ तिलमुद्गमाषयवगोधूमादीना सत्यमुष्टिग्रहणेषु न दोष पथिकानाम्। शख (स्मृतिचन्द्रिका १, पृ० १७६), त्रपुषे वारुके द्वे तु पञ्चाम्र पञ्चदाडिमम्। खर्जूरवदरादीना मुष्टि ग्रहन्न दुष्यति॥ वृह० एव कात्या० (गृहस्थरत्नाकर पृ० ५२०), चणकव्रीहिगोधूमयवाना मुद्गमाषयो। अनिषिद्धैर्ग्रहीतव्यो मुष्टिरेक पथि स्थितैः॥ मिताक्षरा (याज्ञ० २।२७५)।

५ स्यात्साहस त्वन्वयवत् प्रसभ कर्म यत्कृतम्। निरन्वय भवेत्स्तेय हृत्वापव्ययते च यत्॥ मनु (८।३३२), साहसमन्वयवत् प्रसभकर्म। निरन्वये स्तेयमपव्ययने च। अर्थशास्त्र (३।१७), सहसा क्रियते कर्म यत्किञ्चिद् वलदर्पितैः। तत्साहसमिति प्रोक्त सहो वलमिहोच्यते॥ नारद (१७।१), सहसा यत्कृत कर्म तत्साहसमुदाहृतम्। सान्वयस्त्वपहारो य प्रसह्य हरण च यत्॥ साहस च भवेदेव स्तेयमुक्त विनिह्नवे॥ कात्या० ७९५-७९६ (सरस्वतीविलास, पृ० ४५१, ४५७, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ३१६ एव विवादरत्नाकर पृ० २८७। स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० ३१६) मे आया है—अन्वयो रक्षणकालक्रमप्राप्तपालकनरनैरन्तर्यं, तस्मिन् सति योऽपहार स सान्वयोऽपहार।

हो तो असावधानी से हाँकने पर दुर्घटना होने पर गाडीवान को दण्डित किया जाता है (मनु ८।२९३—२९५)। नारद (पारुष्य ३२) के मत से पुत्र के अपराध के कारण पिता दण्डित नही होता और न घोडे, कुत्ते एव वन्दर के दोप के कारण उनका स्वामी, किन्तु जव स्वामी जान-वूझकर उन्हें उत्तेजित कर किसी को हानि पहुचाता है तो दण्डित होता है। असावधानी मे एव तेजी से हाँकने वाले गाडीवान से यदि किसी मनुष्य की मृत्यु हो जाती है तो उसे चोर के समान दण्डित होना पडता है। किन्तु यदि गाय, घोडा, ऊँट या हाथी मर जाय तो चोरी का आधा दण्ड देना पडता है और छोटे पशुओ की (दुर्घटना से) हत्या होने पर २०० पण दण्ड देने पडते हैं। कौटिल्य (३।१९), मनु (८।२८५), याज्ञ० (२।२२७-२२९) एव विष्णु (५।५५-५९) ने वक्षो, पौंवो, शाखाओ, पुष्पो एव फलो के नाश पर उनकी उपयोगिता एव पवित्रता के अनुमार दण्ड लगाया है।

स्मृतियो ने माहस के अपरावो एव अमावधानता मे या त्रुटिवश किये गये अपरावो के दण्डो मे भेद प्रदर्शित किया है। जान-वूझकर किमी को उमके घर, वाटिका या खेत मे वचित कर देने पर ५०० पणो का दण्ड तथा गलती मे ऐसा कर देने पर २०० पणो का दण्ड लगता है।

उकसाने या उभाटने वाले (प्रोत्साहक) को दण्डित करने के लिए कई नियम वने हुए थे। याज्ञ० (२।२३१) एव कौटिल्य (३।१७) ने प्रोत्माहक को वास्तविक अपराधी के दण्ड का दूना तथा उमको जो यह कहकर उभाडता है कि "जितने धन की आवश्यकता पडेगी दूँगा," चौगुना दण्ड देने को कहा है। कात्यायन (७९८) एव वृहस्पति के मत से यदि कई व्यक्ति किसी की हत्या करें तो उमे जिसने मर्मस्थल पर घात किया है, अर्थात् जो मर्मप्रहारक होता है उसी को हत्या का दण्ड मिल्ता है।[८] कात्यायन (७९८) एव वृहस्पति ने लिखा है कि जो अपराध का प्रारम्भ करता है, जो (साहस करने का) मार्ग दिखाता है, जो अपरावी को आश्रय देता है या अस्त्र-शस्त्र देता है, जो अपरावी को खिलाता है, जो प्रहार करने को उभाडता है, जो मारे गये व्यक्ति को नष्ट करने का उपाय वताता है, जो अपराध करते ममय उपेक्षा प्रदर्शित करता है, जो मारे गये व्यक्ति का दोप अभिव्यक्त करता है, जो अपराध का अनुमोदन करता है, जो योग्य होने पर भी अपराव नहीं रोकता—ये सव अपराव[९] के कर्ता कहे जाते हैं और राजा को चाहिए कि वह उन्हे उनकी योग्यता एव दोप के अनुसार दण्डित करे। और देखिए आपस्तम्व० (२।११।२९।१)। जो अपराव का आरम्भ करता है या वैसा करने को उभाडता है उमे वृहस्पति के मत से वास्तविक दोपी का आधा दण्ड मिलता है।

याज्ञ० (२।२३२-२४२) ने साहस से मवधित कई अपराधों का वर्णन किया है और तदनुमार दण्ड-व्यवस्था दी है। यथा—महरवद (तालेवद) घर मे प्रवेश करना, पडोसियो एव कुलिको (दायादो) को हानि पहुँचाना, पतित न हुए अपने माता-पिता, पुत्रो, भाइयो या वहिनो का परित्याग करना, विधवा के साथ व्यभिचार करना, चाण्डालो द्वारा जान-वूझकर उच्च जाति को अपवित्र करना, जाली सिक्का वनाना या झूठा वटखरा या तराजू वनाना तथा राजकर्मचारियो या अन्य व्यक्तियो की कुचिकित्सा करना। इन पर हम यहाँ विचार नही करेंगे।

८ एकस्य वहवो यत्र प्रहरन्ति रुपान्विता। मर्मप्रहारको यस्तु घातक स उदाहृत ॥ वृहस्पति (विवादरत्नाकर पृ० ३७३, व्यवहारप्रकाश पृ० ३९५), मर्मघाती तु यस्तेपा यथोक्त दापयेद्दमम्॥ वृह० (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ३१२, वि० र० पृ० ३७३)।

९ आरम्भकृत् सहायश्च तथा मार्गानुदेशक। आश्रय शस्त्रदाता च भक्तदाता विकर्मिणाम्॥ युद्धोपदेशकश्चैव तद्विनाशप्रदर्शक। उपेक्षाकारकश्चैव दोपवक्तानुमोदक॥ अनिषेद्धा क्षमो य स्यात्सर्वे ते कार्यकारिण। यथाशक्त्यनुरूप तु दण्डमेषां प्रकल्पयेत्॥ कात्या० (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ३१२, पराशरमाधवीय ३, पृ० ४५५, विवादरत्नाकर पृ० ३७५, व्य० प्र० पृ० ३९५)।

अध्याय २५

स्त्रीसंग्रहण (पर-स्त्री के साथ नियमविरुद्ध मिथुनीभाव)

मिताक्षरा (याज्ञ० २।२८३) के मत से मिथुनीभाव (सम्भोग) के लिए किसी पुरुष एवं स्त्री का एक साथ होना संग्रहण है।[1] बृहस्पति के मत से पापमूलक संग्रहण तीन प्रकार का होता है—बल से, छल से तथा कामपिपासा से सम्भोग करना। इनमें प्रथम है बलात्कार से सम्भोग करना, वह भी स्त्री की इच्छा के विरुद्ध किसी गुप्त स्थान में या ऐसी स्त्री के साथ सम्भोग करना जो पागल हो या उस स्त्री के साथ जिसकी मानसिक स्थिति अव्यवस्थित हो या जो प्रमत्त हो या उसके साथ जो चिल्ला रही हो। दूसरा प्रकार वह है जिसमें कोई स्त्री छद्म या किसी बहाने बुला ली गयी हो या जिसे कोई मद्य (यथा धतूरा आदि) पिला दिया गया हो या जो किसी प्रकार (मन्त्र या वशीकरण आदि उपायों से) वश में कर ली गयी हो और उसके साथ सम्भोग-कर्म किया जाय। तीसरा प्रकार वह है जिसमें कोई स्त्री आँख मारकर या दूती भेजकर बुला ली गयी हो या दोनों एक-दूसरे के सौन्दर्य या धन से आकृष्ट हो गये हों और सम्भोग में लिप्त हो गये हों। इनमें तीसरा प्रकार भी तीन प्रकार का होता है—साधारण, मध्यम एवं गम्भीर, जिनमें प्रथम प्रकार में कटाक्ष करना, मुसकराना, दूती भेजना, स्त्री के आभूषणों एवं वस्त्रों को छूना सम्मिलित है, दूसरे में पुष्प, अनुलेपन (चन्दन आदि), फल, धूप, भोजन, वस्त्र तथा गुप्त बातचीत करना सम्मिलित है और तीसरे में एक ही बिस्तर पर सोना, विहार करना, चुम्बन एवं आलिंगन आदि सम्मिलित हैं।[2]

मदनरत्न, व्यवहारप्रकाश (पृ० ३९६-३९७) आदि ने बलात्कारपूर्वक सम्भोग को साहस के अन्तर्गत रखा है। बल द्वारा सम्भोग करने पर बहुत कड़ा दण्ड मिलता था। बृहस्पति के अनुसार समान कुलीन से साहसपूर्ण सम्भोग करने पर सम्पूर्ण सम्पत्ति छीन ली जानी चाहिए, लिंग एवं अण्डकोष काट लिये जाने चाहिए, गदहे पर चढ़ाकर घुमाना चाहिए।[3] किन्तु यदि सम्भोग की हुई स्त्री व्यभिचारी से हीन जाति की हो तो उपर्युक्त दण्ड का आधा लगता है, किन्तु यदि स्त्री की जाति पुरुष की जाति से उच्च हो तो पुरुष को मृत्यु-दण्ड मिलता है और उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति छीन ली जाती है। कात्यायन (८१) के अनुसार बलात्कार करने पर मृत्यु-दण्ड मिलता है, क्योंकि यह अनुचित आचरण के विरुद्ध है। जब छल से सम्भोग किया जाता है तो सम्पूर्ण सम्पत्ति छीन ली जाती है, माथे पर स्त्री के गुप्तांग का दाग लगा दिया जाता है और व्यभिचारी को बस्ती के बाहर कर दिया जाता है। किन्तु यहाँ भी जाति-सम्बन्धी छूट एवं अधिकता वर्णित है।

१. स्त्रीपुंसयोर्मिथुनीभावः संग्रहणम्। मिताक्षरा (याज्ञ० २।२८३); संग्रहणं परस्त्रिया सह पुरुषस्य सम्बन्धः। स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० ८)।

२. अपरार्क पृ० ८५४; स्मृतिच० २, पृ० ८; व्य० प्र० पृ० ३९७; वि० र० पृ० ३७९; व्य० मा० पृ० ४६१।

३. सहसा कामयेद्यस्तु धनं तस्याखिलं हरेत्। उत्कृत्य लिङ्गवृषणौ भ्रामयेद् गर्दभेन तु॥ दमो देयः समस्तो तु हीनायामर्धिकस्ततः। पुंसः कार्योऽधिकायां तु गमने संप्रमापणम्॥ बृहस्पति (स्मृति च० २, पृ० ११; व्य० प्र०

वलात्कार एव धोखे मे सभुक्त नारी को दण्ड नही मिलता था, उमे केवल कृच्छ्र या पराक नामक प्रायश्चित्त (व्रत) करना पडता था। जब तक वह प्रायश्चित्त से पवित्र नही हो जाती थी उसे घर मे सुरक्षा के भीतर रहना पडता था, शृगार-वनाव नही करना होता था, पृथिवी पर मोना पडता था तथा केवल जीवन-निर्वाह के लिए भोजन मिलता था। प्रायश्चित्त के उपरान्त वह अपनी पूव स्थिति प्राप्त कर लेती थी। याज्ञ० (२।२८६) एव वृहस्पति के अनुसार एक-दूसरे की सहमति से व्यभिचार करने पर पुरुप को अपनी ही जाति की नारी के साथ ऐसा करने पर अधिकतम दण्ड, अपने से हीन जाति के साथ ऐसा करने पर उसका आधा दण्ड देना पडता था, किन्तु अपने से उच्च जाति वाली नारी के साथ ऐसा करने पर मृत्यु दण्ड मिलता था और नारी के कान आदि काट लिये जाते थे। कुछ ऋषियो ने नाक, कान आदि काटने का विरोध किया है। यम के मत मे यदि नारी की सम्मति से व्यभिचार हुआ हो तो मृत्यु-दण्ड देना या अग-विच्छेद (सौन्दर्य-भग) करना या विरूप वनाना अच्छा नही, प्रत्युत उसे निकाल वाहर करना श्रेयस्कर माना गया है। कात्यायन (४८७) ने एक सामान्य नियम यह दिया है कि सभी प्रकार के अपराधो मे जो दण्ड पुरुप को मिलता है उसका आधा ही नारी को मिलना चाहिए, यदि पुरुप को मृत्यु-दण्ड मिले तो वहाँ नारी का अग-विच्छेद ही पर्याप्त है।[4]

नारद (१५।७३-७५) के मत मे निम्नोक्त नारियो मे सभोग करना पाप है और ऐसा करने पर शिश्न कर्तन से कम दण्ड नही मिलता।[5] विमाता, मौसी (माता की वहिन), सास, चाचा या मामा की पत्नी (अर्थात् चाची या मामी), फूफी (पिता की वहिन), मित्रपत्नी, शिष्यपत्नी, वहिन, वहिन की सखी, वधू (पतोहू), पुत्री, गुरु-पत्नी, सगोत्रा (अपने गोत्र वाली स्त्री), शरणागता (शरण मे आयी हुई स्त्री), रानी, प्रव्रजिता (सन्यासिनी), धात्री (दूध पिलाने वाली), साध्वी एव उच्च जाति की स्त्री। और देखिए मनु (११।१७०-१७१), कौटिल्य (४।१३), याज्ञ० (३।२३१-२३३), मत्स्यपुराण (२२७।१३९-१४१), जिनमे अन्तिम तीन मे इस प्रकार के अपराध के लिए शिश्न-कर्तन एव प्रायश्चित्त स्वरूप प्राण-दण्ड (ब्राह्मण को छोडकर) की व्यवस्था दी हुई है और स्त्री के लिए (यदि उसकी भी सहमति हो तो) मृत्यु-दण्ड देने को कहा गया है। वृहद्-यम (३।७), आपस्तम्ब (पद्य, ९।१) एव यम (३५) ने लिखा है कि माता, गुरुपत्नी, वहिन या पुत्री के साथ व्यभिचार करने पर अग्नि-प्रवेश से वढकर दूसरा प्रायश्चित्त नही है। यह विचित्र वात है कि कौटिल्य (४।१३) एव याज्ञ० (२।२९३) ने प्रव्रजिता-गमन पर केवल २४ पणो का दण्ड लगाया है और नारद (१५।७४) एव मत्स्य० (२२७।१४१) ने इसे अत्यन्त महान् अपराध माना है। सम्भवत प्रथम दो ने

पृ० ३९६-३९७, परा० मा० ३, पृ० ४६६)। स्त्रीषु वृत्तोपभोग स्यात्प्रसह्य पुरुषो यदा। वधे तत्र प्रवर्तेत कार्यातिक्रमण हि तत्॥ कात्यायन (स्मृतिच० २, पृ० ३२०, व्य० प्र० पृ० ३९७, व्यवहारमयूख पृ० २४४)। छद्मना कामयेद्यस्तु तस्य सर्वहरो दम। अकयित्वा भगाकेन पुरान्निर्वासयेत्तत॥ वृहस्पति (स्मृतिच० २, पृ० ३२०, वि० र० पृ० ३८९)।

४ सर्वेषु चापराधेषु पुसो योऽर्थदम स्मृत। तदर्ध योषितो दद्युर्वधे पुसोऽङ्गकर्तनम्॥ कात्यायन (४८७, स्मृति० २, पृ० ३२१, व्यवहारमयूख पृ० २४६)।

५ माता मातृष्वसा श्वश्रूर्मातुलानी पितृष्वसा। पितृव्यसखिशिष्यस्त्री भगिनी तत्सखी स्नुषा॥ दुहिताचार्यभार्या च सगोत्रा शरणागता। राज्ञी प्रव्रजिता धात्री साध्वी वर्णोत्तमा च या॥ आसामन्यतमा गत्वा गुरुतल्पग उच्यते। शिश्नस्योत्कतन तस्य नान्यो दण्डो विधीयते॥ नारद (१५।७३-७५)। विवादरत्नाकर (पृ० ३९२) मे आया है--मातात्र जननीव्यतिरिक्ता पितृपत्नी। गुप्ताविषयमेतत्।

उन प्रव्रजिताओं की ओर संकेत किया है जो नीच कुल की होती थीं और सनातन धर्म को नहीं मानती थीं तथा अन्तिम दो में ऐसी प्रव्रजिताओं की ओर संकेत है जो उच्च कुल की सम्मानिनी होती थीं। और देखिए मनु (८।३६३)। वेश्या की इच्छा के विरुद्ध संभोग करने से कौटिल्य (४।१३) एवं याज्ञ० (२।२९१) ने क्रम से १२ एवं २४ पणों का दण्ड कहा गया है। अप्राकृतिक व्यभिचार के लिए कौटिल्य (४।१३), याज्ञ० (२।२८९ एवं २९३), विष्णु (५।४४) एवं नारद (१५।७६) ने क्रम से १२, २४ एवं ५ पणों का दण्ड लगाया है।

पुरुष एवं स्त्री की जाति, विवाहिता एवं अविवाहिता, गुप्ता (रक्षिता) एवं अगुप्ता के आधार पर दण्ड की विविध कोटियाँ थीं। देखिए गौतम (१२।२), वसिष्ठ (२१।१-५), मनु (८।३५९), विष्णु (५।४१), याज्ञ० (२।२८६, २९४), नारद (१५।७) आदि, जहाँ उच्च एवं नीच जाति के अपराधियों के विषय में लिखा हुआ है; गौतम (१२।३), मनु (८।३७४, ३७८, ३८२-३८५), कौटिल्य (४।१३) आदि, जहाँ रक्षित एवं अरक्षित नारियों के साथ व्यभिचार करने के दण्ड के विषय में उल्लेख है; मनु (८।३६४, ३६७), याज्ञ० (२।२८५, २८७), कौटिल्य (४।१२), नारद (१५।७१, ७२) आदि, जहाँ अविवाहित नारियों के साथ व्यभिचार करने वालों के दण्ड के विषय में लिखा हुआ है।

अति प्राचीन सूत्रों एवं स्मृतियों में अपेक्षाकृत कठिन दण्ड कहे गये हैं। हम इस प्रकार के विवेचन के विस्तार में यहाँ नहीं पड़ेंगे। दो-एक उदाहरण पर्याप्त होंगे। गौतम (१२।१४-१५) एवं मनु (८।३७१) ने व्यभिचारियों को कुत्तों से नुचवा डालने को कहा है, किन्तु याज्ञ० (२।२८६) इस विषय में कुछ मृदुल है। आपस्तम्ब (२।१०।२६।२०-२१) ने विवाहित नारी के साथ संभोग करने पर लिंग एवं अण्ड काट लेने को कहा है, किन्तु अविवाहित नारी के साथ ऐसा करने पर केवल सम्पूर्ण सम्पत्ति छीन लेने की व्यवस्था की है। किन्तु याज्ञ० (२।२८८), मनु (८।३६६) एवं नारद (१५।७२) ने लिखा है कि यदि कोई पुरुष अपनी ही जाति की अविवाहित नारी के साथ संभोग करे तो उसे राजा द्वारा दण्ड नहीं मिलना चाहिए, प्रत्युत उसे आभूषण आदि के साथ उस नारी से सम्मानपूर्वक विवाह करने की छूट दी जानी चाहिए।

याज्ञ० (२।२९०) एवं नारद (१५।७९) ने किसी के घर में या बाहर रहनेवाली दासी के साथ संभोग करने को अपराध माना है और याज्ञ० ने ऐसा करने पर ५० पणों का दण्ड लगाया है। और देखिए इस ग्रन्थ का द्वितीय भाग (अध्याय ११) जहाँ वेश्याओं का वर्णन है। मनु (८।३६२) ने जहाँ परनारी से बात करने पर दण्ड-व्यवस्था दी है वहीं अभिनेताओं, गवैयों एवं अपनी पत्नियों की वृत्ति से जीविका चलानेवालों के लिए छूट दी है और उनकी स्त्रियों से संभोग करने को अपराध नहीं माना है, क्योंकि वे स्वयं गुप्त रहकर अपनी स्त्रियों को अन्य लोगों से मिलने-जुलने की छूट देते हैं।

स्त्रीपुंधर्म (पति-पत्नी का धर्म)

इस विषय में हमने बहुत-कुछ इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग (अध्याय ११) में ही लिख दिया है। व्यवहार के विषय में चर्चा करते हुए एक-दूसरे के उत्तरदायित्व पर भी प्रकाश डाला जा चुका है। दायभाग के अध्याय में हम सम्पत्ति विभाजन, वसीयत (रिक्थ) एवं जीविकासाधन के विषय में उल्लेख करेंगे। स्त्रीपुंधर्म के अन्तर्गत नारद ने विवाह से सम्बन्धित क्रिया-संस्कारों, वर-वधू के निर्वाचन, वधू-प्राप्ति सम्बन्धी नियन्त्रण के नियमों, विवाह के अभिभावकों, चुने गये वरों एवं वधुओं के दोषों, विवाह-प्रकारों, पुनर्भू एवं स्वैरिणी स्त्रियों, नियोग-प्रथा, अवैधानिक संभोग, व्यभिचारिणी स्त्रियों के दण्ड, पुनर्विवाह, वर्णसंकर एवं मिश्रित जातियों के विषय में उल्लेख किया है। मनु (९।१) ने भी पति-पत्नी के कर्तव्य के विषय में लिखने की बात कही है। मनु (९।२) का कथन है कि पति का और पुरुषों का प्रथम कर्तव्य

है स्त्रियो को आश्रित रखना और नारद (१६।३०) का कथन है कि स्वतन्त्रता के कारण अच्छे कुल की नारियाँ भी बिगड जाती हैं। मनु (९।५) एव वृहस्पति के अनुसार सबमे महत्त्वपूर्ण बात है स्त्रियो की साधारण-से-साधारण अनुचित अनुरागो से रक्षा करना, क्योकि तनिक पाँव फिसल जाने से वे (पति एव पिता के) कुलो को दुःख के पारावार मे डुबो सकती हैं।[6] हारीत[7], शख-लिखित[8], मनु (९।७ एव ९) एव अन्य स्मृतियो के मत मे अपनी सतति की पवित्रता की रक्षा के लिए पति को अन्य लोगो से अपनी पत्नी की रक्षा करनी चाहिए। पत्नी की रक्षा करके पति अपनी प्रसिद्धि, कुल, आत्मा, धर्म की रक्षा करता है, क्योकि स्त्री जिस पुरुष से सभोग करती है उसी के समान पुत्र की उत्पत्ति करती है और मासिक धर्म के दिनो मे जिस पुरुष को ध्यान मे रखती है वैसा ही पुत्र जनती है। मनु (९।१०) को यह बात स्पष्ट रूप से ज्ञात थी कि स्त्रियो को बलवश परदे मे रखकर उनकी पूरी रक्षा नही की जा सकती, प्रत्युत उन्हें गृह-कार्यो मे सलग्न रखकर ऐसा किया जा सकता है (देखिए मनु ९।११ एव वृहस्पति)।[9] पतियो को चाहिए कि वे उनका सम्मान एव प्रेम प्राप्त करें, उन्हे उनकी इज्जत करनी चाहिए (मनु ९।२२-२४-२६ एव याज्ञ० १।८२)। तलाक के विषय मे हमने पहले ही लिख दिया है (देखिए इस ग्रन्थ का द्वितीय भाग, अध्याय १८)।

६. सूक्ष्मेभ्योपि प्रसगेभ्यो निवार्या स्त्री स्वबन्धुभि। श्वश्र्वादिभिर्गुरुस्त्रीभि पालनीया [illegible]
(स्मृति० २, पृ० २२९, व्य० प्र० पृ० ४०५, वि० र० पृ० ४११)।

७ तस्माद्रेतोपघाताज्जाया रक्षेत्। जायानाशे कुलनाश कुलनाशे तन्तुनाश तन्तुनाशे देव[illegible] यज्ञनाशे धर्मनाश धर्मनाशे आत्मनाश आत्मनाशे सर्वनाश। तस्मादेना धर्मशीला सुगुप्ता पत्नीं रक्षेत्। हारीत (स्मृतिच०२, पृ० २३९, वि० र० पृ० ४१०, व्य० प्र० पृ० ४०५, मदनरत्न)।

८ यस्मिन्भावोऽर्पित स्त्रीणामार्तवे तच्छील पुत्र जनयन्ति यथा नीलवृषेण नीलवृषवत्सप्रभव श्वेतेन श्वेत एव जायते। एव योनिरेव बलवती यस्माद्वर्णा सकीर्यन्ते। शखलिखित (वि० र० पृ० ४१४, स्मृति० २, पृ० २४१, व्य० प्र० पृ० ४०८)।

९ आयव्ययेऽर्थसस्कारे गृहोपस्कररक्षणे। शौचाग्निकार्ये सयोज्या स्त्रीणा शुद्धिरिय स्मृता॥ वृ० (व्यवहारप्रकाश पृ० ४०९)।

अध्याय २६

द्यूत और समाह्वय

मनु (९।२२३) नारद (१९।१) एवं बृहस्पति ने द्यूत (जुआ) को वह खेल कहा है जो पासे, चर्म-खण्डों, हस्तिदन्त-खण्डों आदि से खेला जाता है तथा जिसमें कोई बाजी लगी रहती है और समाह्वय को वह खेल माना है जिसमें जीवों यथा—मुर्गों, कबूतरों, भेड़ों, भैंसों एवं मल्लों (कुश्तीबाजों) की लड़ाई होती है और बाजी लगी रहती है। मनु ने द्यूत को बुरा खेल माना है (९।२२१, २२२, २२४-२२६)। उन्होंने द्यूत एवं समाह्वय को राजा द्वारा वर्जित करने को कहा है क्योंकि इनसे राज्य का नाश होता है। उन्होंने इसे खुलेआम चोरी की संज्ञा दी है और ऐसा करनेवालों के लिए शरीर-दण्ड की व्यवस्था दी है। क्योंकि उनके द्वारा भले लोग भी वंचनाओं में फँस जाते हैं। मनु (९।२२७—उद्योगपर्व ३७।१९) ने लिखा है कि प्राचीन काल में द्यूत से वैमनस्य उत्पन्न होता रहा है अतः मनुष्य को आनन्द के लिए भी इसे नहीं खेलना चाहिए, क्योंकि यह बुरी लत है। कात्यायन (९३४) ने भी यही बात कही है। याज्ञ० (२।२०३) एवं कौटिल्य (३।२०) ने राज्य के संरक्षण में किसी केन्द्रस्थान में द्यूत खेलने की छूट दी है, क्योंकि इससे चोरों का पता लग जाता है।[1]

बृहस्पति ने उपर्युक्त विरोधी मतों की ओर संकेत करते हुए कहा है—सत्य (सचाई या ईमानदारी), शौच (पवित्रता) एवं धन की रक्षा के लिए द्यूत मनु द्वारा वर्जित ठहराया गया है, किन्तु अन्य लोगों ने इसे वर्जित नहीं किया, क्योंकि इससे चोरों का पता चलता है। किन्तु उन लोगों ने भी इसे द्यूतभवन के अध्यक्ष की उपस्थिति में ठीक माना है, क्योंकि इससे राज्य को कर मिलता है। इस प्रकार द्यूत खिलाने वाले को सभिक तथा बाजी के धन को (जिसे हारने वाले को देना पड़ता है) ग्लह या लक्ष (याज्ञ० २।१९९) कहा जाता है। नारद (१९।८) ने एक नियम भी दिया है, सभिक द्वारा न खिलाये जाने पर यदि खेलनेवाला बाजी का भाग राजा को देकर कहीं अन्य स्थान पर भी द्यूत खेलता है तो उसे दण्ड नहीं मिलता। याज्ञ० (२।१९९) के मत से जैसी कि पराशरमाधवीय (३, पृ० ५७४) एवं व्यवहारप्रकाश (पृ० ३६६) ने टीका की है, १०० पणों की या अधिक की बाजी रहने पर सभिक को ५ प्रतिशत या १/२० भाग तथा १०० पणों से कम रहने पर १० प्रतिशत या १/१० भाग देना पड़ता था। अपरार्क (पृ० ८०२) ने टीका की है कि सभिक को विजयी से ५ प्रतिशत तथा हारनेवाले से १० प्रतिशत मिलता था। किन्तु नारद (१९।२) ने सभिक के लिए पूरी बाजी का १० प्रतिशत निर्धारित किया है। कौटिल्य (३।२०) ने ५ प्रतिशत शुल्क बताया है और सभिक को द्यूत की सामग्री (पासा, चर्म-खण्ड आदि) जल एवं स्थान आदि देने के उपलक्ष्य में किराया लेने भी छूट दी है। राजा की ओर से संरक्षण मिलने के कारण सभिक को निश्चित शुल्क देना पड़ता था। उसे हारे हुए व्यक्ति से बाजी

---

१. द्यूतमेकमुखं कार्यं तस्करज्ञानकारणात्। याज्ञ० (२।२०३); द्यूताध्यक्षो द्यूतमेकमुखं कारयेदन्यत्र दीव्यतो द्वादशपणो दण्डः, गूढाजीविज्ञानार्थम्। अर्थशास्त्र (३।२०); मुखं द्यूतस्थलनिर्मितस्थानविशेषं सर्वेषुकारित। तस्कराणां निवर्तेत निबद्धे व्यक्तं हि तत्॥ कात्यायन (विवादरत्नाकर, पृ० ६११)।

का धन लेकर (बन्दी बनाकर या अन्य उपाय से) विजयी को देना पडता था और ईमानदारी (प्रत्यय) एव सयम से काम लेना पडता था (याज्ञ० २।२००, कात्यायन ९४०, नारद १९।२)। कात्यायन (९३७) ने लिखा है कि सभिक अपने जेब से जयी को जीत का धन दे सकता था और हारे हुए से तीन पखवारे के भीतर या सदेह होने पर तुरन्त प्राप्त कर सकता था।

कात्यायन (१०००) ने लिखा है कि यदि द्यूत की छूट मिले तो वह खुले स्थान मे द्वार के पास खिलाया जाना चाहिए, जिससे भले व्यक्ति धोखा न खायँ और राजा को कर मिले। यदि द्यूत खुले स्थान मे खिलाया गया हो और वहाँ सभिक उपस्थित रहा हो तथा उसने राजा को शुल्क दे दिया हो तो उस स्थिति मे, जब कि हारा हुआ व्यक्ति विजयी को जीता हुआ धन न दे, तो राजा को चाहिए कि वह जयी को वह धन दिला दे, अर्थात् सभिक जयी को धन दिलाने के उत्तरदायित्व से बरी रहता है (याज्ञ० २।२०१)। नारद (१९।६-७) एव याज्ञ० (२।२०२) के मत से यदि द्यूत-बाजी गुप्त स्थान मे हुई हो, राजा की आज्ञा न रही हो तथा झूठे पासो एव चालाकियो का सहारा लिया गया हो तो सभिक तथा द्यूत खेलने वाले को धन-प्राप्ति का कोई अधिकार नही प्राप्त होता और उसे दण्डित होना पडता है (माथे पर कुत्ते के पैर का या अन्य निशान दाग दिया जाता है) तथा निष्कासित हो जाने का दण्ड भी प्राप्त हो सकता है। नारद (१९।६) का कथन है कि निष्कासित जुआरियो के गले मे पासो की माला पहना दी जाती है। कात्यायन (९४१) एव बृहस्पति के मत से अबोध व्यक्ति यदि गुप्त स्थान मे जुआ खेले तो वह उत्तरदायित्व से बरी हो सकता है, किन्तु दक्ष जुआरी हार जाने पर ऐसी छूट नही पाता, किन्तु यदि दक्ष व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति जुए मे हार जाय तो उसे केवल आधा देना पडता है। कात्यायन (९४२) के मत से यदि सभिक ईमानदार है तो जुआरियो के झगडो, जय घोषित करने एव धोखे के पासो आदि के निर्णय मे उसका फैसला अन्तिम होता है। नारद (१९।४), याज्ञ० (२।२०२), बृहस्पति एव कात्यायन (९४३) ने व्यवस्था दी है कि यदि जीत एव हार के विषय मे कोई विग्रह हो तो राजा द्यूत खेलने वालों को निर्णय देने एव साक्ष्य देने के लिए तैनात कर सकता है (यहाँ पर जुआरियो को साक्ष्य देने के लिए छूट है, अन्यत्र नही), किन्तु यदि ऐसे द्यूत खेलने वाले विग्रहियो से वैर रखते हो तो राजा को स्वय झगडे का निपटारा करना पडता है।

याज्ञ० (२।२०३) ने द्यूत-सम्बन्धी सभी नियमो को **समाह्वय** के लिए भी स्वीकार किया है। बृहस्पति का कथन है कि जिसका पशु हारता है उसके स्वामी को बाजी का धन देना पडता है (वि० र० पृ० ६१४, सरस्वतीविलास पृ० ४८६)। सरस्वतीविलास (पृ० ४८७) ने विष्णु एव एक टीका (विष्णुधर्मसूत्र की, सम्भवत भारुचि-टीका) का उल्लेख करते हुए लिखा है कि राजा को प्रत्येक लडने वाले पशु के स्वामी से बाजी के धन का चौथाई भाग मिलता है। हारा हुआ पशु (भैंसा एव कुश्तीबाज को छोडकर) चाहे वह जीवित हो या मृत, जयी पशु के स्वामी को प्राप्त हो जाता है। मानसोल्लास (जिल्द ३, पृ० २२९) ने कुश्ती की प्रतियोगिताओ, मुर्गों की लडाइयो आदि से सम्बन्धित राजा के आमोद-प्रमोद का विशद वर्णन उपस्थित किया है। दशकुमारचरित में द्यूत की ओर कई सकेत मिलते हैं। द्वितीय उच्छ्वास (पृ० ४७) मे द्यूत की २५ कलाओ का उल्लेख मिलता है, जहाँ यह आया है कि सभिक के निर्णय पर ही द्यूत-सम्बन्धी झगडे तय होते हैं, १६,००० दीनारो की बाजी मे जयी को आधा मिलता है और शेष आधा सभिक तथा द्यूत-भवन के वासियो मे बँट जाता है।

द्यूत अति प्राचीन दुर्गुणो मे एक है। ऋग्वेद (१०।३४) मे एक जुआरी का रुदन वर्णित है। वहाँ कई स्थानो पर द्यूत का सकेत मिलता है (ऋग्वेद १।४१।९, ७।८६।६)। अथर्ववेद (४।१६।५, ४।३८) मे भी द्यूत के पासो एव ग्लह का उल्लेख मिलता है। वाजसनेयी सहिता (३०।१८) मे "अक्षराजाय कितवम्" शब्द आये हैं। कुछ यज्ञो, यथा राजसूय मे, पासा एक महत्त्वपूर्ण विषय माना गया है। देखिए इस ग्रन्थ का भाग २, अध्याय ३४। पाणिनि (२।-

अध्याय २७

दायभाग (सम्पत्ति-विभाजन)

दाय शब्द अति प्राचीन वैदिक साहित्य मे भी प्रयुक्त हुआ है। 'ददातु वीर शतदायमुक्थ्यम्' (ऋग्वेद २।३२।४) मे 'शतदाय' शब्द को सायण ने 'प्रभूत दाय' (धनीयत) से युक्त' के अर्थ मे लिया है। ऋग्वेद (१०।११४।१०) के 'श्रमस्य दाय विभजन्त्येभ्य' मे दाय का अर्थ सम्भवत 'भाग' या 'पुरस्कार' है। तैत्तिरीय संहिता एव ब्राह्मण-ग्रन्थो में दाय 'पैतृक सम्पत्ति' या केवल 'सम्पत्ति' के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। नाभानेदिष्ठ की गाथा मे आया है कि मनु ने अपना दाय अपने पुत्रो मे बाँट दिया (तै० स० ३।१।९।४)। यहाँ दाय का अर्थ 'धन' है, जैसा कि तै० स० के एक अन्य मन्त्र मे कहा गया है, यथा 'अत वे अपने ज्येष्ठ पुत्र को धन से प्रतिष्ठित करते ह (२।५।२।७)। ताण्ड्य ब्राह्मण (१६।४।३-४) मे आया है—(मानवो के) पुत्रो मे जो धन का अधिक भाग या श्रेष्ठ भाग दाय के रूप मे ग्रहण करता है, उसी को लोग ऐसा पुत्र मानते हैं जो सबका स्वामी होता है।[२] सूत्रो एव स्मृतियो मे दाय के रूप मे आनेवाला एक दूसरा शब्द 'रिक्थ' भी ऋग्वेद (३।३१।२) मे आया है,[३] यथा—शरीर का पुत्र अपनी बहिन को पैतृक सम्पत्ति (रिक्थ) नही देता, प्रत्युत उसके पति के पुत्र को उसका पात्र बनाता है।' वैदिक साहित्य मे दायाद (सह-अशग्राही अर्थात् अपने साथ धन का भाग पानेवाला) शब्द भी आया है, यथा—'अत शक्तिहीन होने के कारण स्त्रियाँ (सोम का) भाग नही पाती और एक नीच मनुष्य से भी कम बोलती हैं।'[४] अथर्ववेद (५।१८।६) मे सोम को ब्राह्मणो का दायाद कहा गया है।[५] विश्वामित्र अपने आध्यात्मिक दाय का भाग लेने के लिए शुन शेप को आमन्त्रित करते हैं (ऐतरेय ब्राह्मण ३३।५) और अपने पुत्रो को उसका (शुन शेप का) अनुसरण करने को कहते है एव यह कहते हैं कि वह (शुन शेप) उन्हे, उनके दाय (सम्पत्ति) और उनकी विद्या को स्वीकार करेगा।[६] निरुक्त (३।४) ने दाय एव दायाद शब्दो को उद्धृत अशो मे दर्शाया है। पाणिनि (२।३।३९ एव ६।२।५) मे दायाद शब्द आया है।

१ मनु पुत्रेभ्यो दाय व्यभजत्। तै० स० (३।१।९।४), तस्माज्ज्येष्ठ पुत्र धनेन निरवसाययन्ति। तै० स० (२।५।२।७)। आपस्तम्ब० (२।६।१४।११-१२) ने दोनो उक्तियों को उद्धृत किया है।

२ तस्माद्य पुत्राणा दाय धनतममिवोपैति त मन्यन्ते यमेवेद भविष्यतीति। ताण्ड्य० (१६।४।३-४)।

३ न जामये तान्वो रिक्थमारैक् चकार गर्भं सनितुर्निधानम्। ऋ० (३।३१।२)। निरुक्त (३।६) ने इसका अर्थ यों कहा है—'न जामये भगिन्यै तान्व आत्मज पुत्र रिक्थ प्रारिचत् प्रादात्। चकार एना गर्भनिधानीं सनितुर्हस्तग्राहस्य।'

४ तस्मात्स्त्रियो निरिन्द्रिया अदायादीरपि पापात्पुस उपस्तितर वदन्ति। तै० स० (४।५।८।२)। दायाद 'दायमादत्ते' (आ के साथ दा युक्त) से निकला है।

५ न ब्राह्मणो हिंसितव्योग्नि प्रियतनोरिव। सोमो ह्यस्य दायाद इन्द्रो अस्याभिशस्तिपा ॥ अथर्व० (५।१८।६)।

६ उपेया दैव मे दाय तेन वै त्वोपमन्त्रय इति। ऐ० ब्रा० (३३।५), एप च कुशिका वीरो देवरातस्तमन्वित। युष्मांश्च दाय म उपेता विद्यां यामु च विद्मसि॥ ऐ० ब्रा० (३३।६)।

दायभाग नामक व्यवहार-पद में दो मुख्य विषयों यथा—विभाजन एवं दाय का निरूपण किया गया है। लगभग एक सहस्र वर्षों से दो सम्प्रदाय प्रसिद्ध रहे हैं जो मिताक्षरा एवं दायभाग संज्ञाओं से द्योतित होते रहे हैं, क्योंकि इन नामों वाले दो ग्रन्थों ने ही प्रमुखता ग्रहण की। दायभाग का प्रभुत्व बंगाल में रहा है और भारत के अन्य भागों में मिताक्षरा का प्राबल्य रहा है। किन्तु आधुनिक काल के बंगाल के कुछ कुलों में मिताक्षरा के नियम भी प्रतिष्ठित रहे हैं।

दायभाग सम्प्रदाय के मुख्य संस्कृत-ग्रन्थ तीन हैं। जीमूतवाहन का दायभाग, रघुनन्दन का दायतत्त्व एवं श्रीकृष्ण तर्कालंकार का दायक्रम-संग्रह। मिताक्षरा सम्प्रदाय चार उपसम्प्रदायों में बँटा है, जिनमें प्रमुख ग्रन्थ मिताक्षरा के अतिरिक्त कुछ पूरक ग्रन्थ भी हैं जो उसके कुछ सिद्धान्तों को रूपान्तरित भी करते हैं, यथा—वाराणसी (काशी) सम्प्रदाय (इसका प्रमुख ग्रन्थ है वीरमित्रोदय), मिथिला सम्प्रदाय (यह विवादरत्नाकर, विवादचन्द्र एवं विवादचिन्तामणि पर आधारित है), महाराष्ट्र या बम्बई सम्प्रदाय (इसमें गुजरात, बम्बई द्वीप एवं उत्तरी कोंकण के लिए व्यवहारमयूख प्रमुख ग्रन्थ है और कुछ बातों में मिताक्षरा से इसकी अधिक महत्ता है, अन्य आधार ग्रन्थ हैं वीरमित्रोदय एवं निर्णयसिन्धु) एवं द्रविड़ या मद्रास सम्प्रदाय (इसके लिए आधार ग्रंथ हैं स्मृतिचन्द्रिका, वरदराज का व्यवहारनिर्णय, पराशरमाधवीय एवं सरस्वतीविलास)। कुछ प्रान्तों में नियमों का अन्तर अवश्य है किन्तु बंगाल को छोड़कर सम्पूर्ण भारत में मिताक्षरा की प्रमुखता रही है।

निबन्धों में दाय एवं विभाग शब्द कई प्रकार से द्योतित किये गये हैं। नारद (दायभाग, पद्य १) ने दायभाग व्यवहार-पद को ऐसा माना है जिसमें पुत्र अपने पिता के धन के विभाजन का प्रबन्ध करते हैं। स्मृतिचन्द्रिका तथा अन्य ग्रन्थों में उद्धृत स्मृतिसंग्रह के मत से दाय वह धन है जो माता या पिता से किसी पुरुष को प्राप्त होता है। मिताक्षरा ने विभाजित होनेवाले पैतृक धन को दाय कहा है। दायभाग, मिताक्षरा एवं अन्य ग्रन्थों ने नारद के 'पित्र्यस्य' (पिता का) एवं 'पुत्रैः' (पुत्रों द्वारा) को केवल उदाहरण के रूप में लिया है। जहाँ कहीं दायभाग शब्द प्रयुक्त होता है उसका वास्तविक अर्थ है सम्बन्धियों (पिता, पितामह आदि) के धन का सम्बन्धियों (पुत्रों, पौत्रों आदि) में विभाजित होना और इसका कारण है मृत स्वामी से उनका सम्बन्ध। यह मनु एवं नारद के वचनों से भी व्यक्त है, क्योंकि इन दोनों ने माता के धन का विभाजन दायभाग के अन्तर्गत ही रखा है। मिताक्षरा ने याज्ञ० (२।११४) की व्याख्या में कहा है कि दाय का अर्थ है वह धन जो उसके स्वामी के सम्बन्ध से किसी अन्य की सम्पत्ति (धन) हो जाता है। व्यवहारमयूख (पृ० ९३) ने दाय को उस धन की संज्ञा दी है जो विभाजित होता है और जो उन लोगों को नहीं प्राप्त होता जो फिर से पर-भाव हो जाते हैं।

दाय और दान शब्द 'दा' धातु से बने हैं, किन्तु दोनों के अर्थ में अन्तर है। दान में दो बातें पायी जाती हैं 'किसी वस्तु पर विद्यमान अपने अधिकार (स्वामित्व) को छोड़ना' और 'उसी वस्तु पर किसी अन्य का अधिकार

७. विभजनीयं पितृद्रव्यं दायमाहुर्मनीषिणः। मिता० (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २५५; व्यवहारमयूख पृ० ९३)। पितृद्वारागतं द्रव्यं मातृद्वारागतं च यत्। कथितं दायशब्देन तद्विभागोऽधुनोच्यते॥ स्मृतिसंग्रह (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २५५; व्य० म०, पृ० ९३)।

८. पित्र्यस्येति पुत्रैरिति च द्वयमपि सम्बन्धिमात्रोपलक्षणं सम्बन्धिमात्रेण सम्बन्धिमात्रधनविभागेऽपि दायभागपदप्रयोगात्। दायभाग (१।१); तत्र दायशब्देन यद्धनं स्वामिसम्बन्धादेव निमित्तादन्यस्य स्वं भवति तदुच्यते (मिताक्षरा); अनपूर्वविभजनीयं धनं दायः। व्यवहारमयूख (पृ० ९३)।

उत्पन्न करना' (देखिए इस ग्रन्थ का भाग २, अध्याय २५)। किन्तु दाय मे मृत व्यक्ति किसी अन्य का स्वामित्व उत्पन्न करने के लिए अपना स्वामित्व नही छोडता। किन्तु दोनो मे किसी वस्तु के स्वामित्व का त्याग रहता है, यही एक साम्य है। यद्यपि दाय शब्द 'दा' धातु से वना है किन्तु इसके अर्थ मे परम्परा निहित है।[९]

मिताक्षरा एव उसका अनुसरण करने वाले ग्रन्थ, यथा पराशरमाधवीय, मदनरत्न, व्यवहारमयूख, व्यवहारप्रकाश आदि ग्रन्थों ने दाय को दो कोटियो मे विभाजित किया है—अप्रतिवन्ध एव सप्रतिवन्ध। प्रथम मे पुत्र, पौत्र एव प्रपौत्र अपने सम्बन्ध से ही अपने पिता, पितामह एव प्रपितामह द्वारा आगत वशपरम्परा के धन को प्राप्त करते हैं। इसमे पिता या पितामह की उपस्थिति से पुत्रो एव पौत्रो की कुल-सम्पत्ति के प्रति अभिरुचि मे कोई प्रतिवन्ध नही लगता, क्योंकि वे उसी कुल मे उत्पन्न हुए रहते हैं। इसी से इसे, अप्रतिवन्ध दाय की सज्ञा मिली है। किन्तु जव कोई व्यक्ति अपने चाचा की सम्पत्ति पाता है या कोई पिता जव अपने पुत्र की सम्पत्ति सततिहीन चाचा या सततिहीन पुत्र के मृत हो जाने पर पाता है तो यह सप्रतिवन्ध दाय कहलाता है, क्योकि इन स्थितियो मे भतीजा या पिता क्रम से अपने चाचा या पुत्र की सम्पत्ति पर तव तक स्वत्व नही पाता जव तक चाचा या पुत्र जीवित रहता है या जव तक चाचा या पुत्र का पुत्र या पौत्र रहता है। स्पष्ट है, स्वामी की जीवितावस्था अथवा अस्तित्व या पुत्र का अस्तित्व भतीजे या पिता के उत्तराधिकार मे वाधा उपस्थित करता है। अत यह सप्रतिवन्ध दाय कहलाता है।

किन्तु दायभाग, दायतत्त्व तथा कुछ अन्य ग्रन्थो ने दाय को उपर्युक्त दो भागो मे नहीं वॉटा है। इन ग्रन्थो के अनुसार सभी प्रकार के दाय सप्रतिवन्ध हैं, अर्थात् पूर्व स्वामी की मृत्यु या पतित हो जाने या सन्यासी हो जाने के उपरान्त ही किसी अन्य मे स्वामित्व उत्पन्न होता है (दायभाग १।३०-३१, पृ० १८, विवादताण्डव ९९)। इस सम्प्रदाय के सिद्धान्त को उपरम-स्वत्ववाद (मृत्यु के उपरान्त ही स्वामित्व की उत्पत्ति के सिद्धान्त) की सज्ञा मिली है, और मिताक्षरा के सम्प्रदाय के सिद्धान्त को जन्म-स्वत्ववाद के नाम से पुकारा जाता है। यही दायभाग एव मिताक्षरा का प्रमुख भेद है। दायभाग के अनुसार पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र पिता या अन्य पूर्वज की सम्पत्ति पर कुल मे जन्म हो जाने के कारण ही स्वत्व का अधिकार नही पाते।

'स्व' एव 'स्वामी' एक-दूसरे से सम्वन्वित हैं, दोनो मे एक ही प्रकार की भावना निहित है और दोनो एक ही प्रश्न के दो स्वरूप हैं। 'स्व' का अर्थ है 'जो किसी का है' अर्थात् सम्पत्ति, इसका प्रत्यक्ष सम्वन्व है किसी वस्तु से और अप्रत्यक्ष संकेत है उस वस्तु के स्वामी से। 'स्वामी' का अर्थ है 'मालिक' या 'अधिकारी', इसका प्रत्यक्ष सम्वन्ध है उस व्यक्ति से जो कोई वस्तु रखता है और अप्रत्यक्ष सम्वन्व उस वस्तु से है। शिरोमणि भट्टाचार्य के मत से स्वत्व अपने रूप से पृथक् एक पदार्थ कोटि है, किन्तु अन्य लोग इसे योग्यता (शक्ति) मानते हैं।

दाय की परिभाषा देने में स्वत्व की धारणा उत्पन्न हो गयी, अत बहुत-से निबधों मे यह प्रश्न खडा हो गया कि स्वत्व का अर्थ हम शास्त्रो मे ढूँढें या उसे सामान्य प्रयोग के अर्थ मे लें। वहुत-से लेखको के मन मे, अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन मे, एक अन्य धारणा भी वँध गयी, यथा—केवल जन्म लेने से ही स्वत्व की उत्पत्ति नही हो जाती। कुछ लोगो ने स्वत्व के अर्थ के लिए केवल शास्त्रो पर ही निर्भर रहना अगीकार किया, यथा—गौतम (१०।३९-४२) ने

९ दीयते इति व्युत्पत्त्या दायशब्दो ददातिप्रयोगश्च गौण, मृतप्रव्रजितादिस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकपरस्वत्वोत्पत्तिफलसाम्यात्। न तु मृतादीना तत्र त्यागोस्ति। ततश्च पूर्वस्वामिसम्वन्धाधीन तत्स्वाम्योपरमे यत्र द्रव्ये स्वत्व तत्र निरूढो दायशब्द। दायभाग (१।४-५)। और देखिए दायतत्त्व (पृ० १६१ एव १६३)। व्यवहारप्रकाश (पृ० ४११-४१२) इन शब्दों को उद्धृत कर इनकी आलोचना करता है।

सभी के लिए स्वत्व के पाँच उद्गम या साधन बताये हैं रिक्थ (वसीयत) क्रय (खरीद) संविभाग (विभाजन) परिग्रह (जलजस की हुई सम्पत्ति) एवं अधिगम (अनायास गुप्त धन-कोष आदि पर अधिकार)। गौतम ने आगे यह भी कहा है कि ब्राह्मणों क्षत्रियों वैश्यों एवं शूद्रों के विषय में क्रम से दान विजय कृषि-लाभ एवं सेवा स्वत्व के अतिरिक्त साधन हैं। वे लोग जो स्वत्व को शास्त्रानुमोदित मानते हैं, बताते हैं कि गौतम के रिक्थ शब्द का अर्थ है दाय और संविभाग का अर्थ है दाय का विभाजन जो दाय के किसी भाग पर किसी व्यक्ति का सर्वथा पृथक् स्वत्व स्थापित करता है। इन लोगों का कथन है कि गौतम ने जन्म को स्वामित्व के साधन के रूप में स्पष्ट रूप से नहीं ग्रहण किया है।

मिताक्षरा तथा उसके अनुयायियों का कहना है कि स्वत्व का अर्थ हमें शास्त्र के आधार पर न लेकर सामान्य प्रयोग के अर्थ में लेना चाहिए। उन्होंने कई तर्क दिये हैं (१) जिस प्रकार चावल लौकिक उपयोग की वस्तु है, उसी प्रकार स्वत्व का भी लौकिक आदान-प्रदान यथा क्रय या विक्रय हो सकता है। जिसके पास लौकिक पदार्थ नहीं होते वह किसी का बन्धक रखने का कार्य नहीं कर सकता। आहवनीय अग्नि का उपयोग शास्त्रीय कर्मों के अतिरिक्त अन्य लौकिक कार्यों में नहीं हो सकता। चावल का भात बनाने में आहवनीय अग्नि का उपयोग किया जा सकता है किन्तु तब तो वह साधारण अग्नि के उपयोग-जैसा हुआ न कि आहवनीय अग्नि-सा जैसा कि शास्त्र में पाया जाता है। (२) शास्त्रों के ज्ञान से शून्य म्लेच्छों एवं नीच लोगों में भी क्रय आदि से उत्पन्न स्वामित्व (स्वत्व) की धारणाएँ पायी जाती हैं। (३) प्रभाकर (जैमिनि ४।१।२) एवं भवनाथ (नयविवेक के लेखक, जो मीमांसा के विद्वान् माने जाते हैं) का कथन है कि स्वामित्व जो निश्चित साधनों (यथा क्रय) से उत्पन्न होता है, लौकिक उपयोग या लोकसिद्ध या अनुभूति का विषय है। भवनाथ का कथन है प्राप्ति के ऐसे साधन यथा क्रय क्रय आदि लोकसिद्ध हैं। स्वामित्व के साधनों के विषय की मान्यताएँ शास्त्रों से नहीं उद्भूत हुईं, प्रत्युत वे स्मृतियों आदि के बहुत पहले से ही ज्ञात थीं। इसका तात्पर्य यह है कि स्वामित्व-प्राप्ति के साधन की धारणा शास्त्रों से पुरानी है, केवल शास्त्रों ने उसे आगे चलकर सुव्यवस्थित रूप से रख दिया है। अतः गौतमस्मृति (१।१९) ने स्वामित्व के कतिपय ज्ञात साधनों को केवल उनकी उचित सीमाओं एवं क्षेत्रों में बाँध दिया है जिनमें पाँच तो सभी के लिए समान हैं और चार केवल ब्राह्मणों के लिए हैं। इस रूप में यह पद्धति पाणिनीय है। पाणिनि ने नये शब्दों को न रखा और न उनकी नवीन उत्पत्ति की, उन्होंने भाषा में प्रयुक्त होनेवाले शब्द ग्रहण किये और उनके निर्माण की विधि बतायी। इसी प्रकार गौतम ने केवल स्वामित्व के उद्गमों के एक निश्चित निर्मित नियम का निरूपण किया। मिताक्षरा एवं इसके अनुयायियों का कथन है कि लोक में प्रचलित स्वामित्व-साधनों के कतिपय कारणों या साधनों को गौतम ने केवल दुहराया है (व्यवहारमयूख 'लोकसिद्धकारण-

१ जब कोई व्यक्ति मर जाता है तो उसकी सम्पत्ति दाय हो जाती है जिसे बहुत-से व्यक्ति पा सकते हैं। इस रूप में वह सम्पत्ति संयुक्त सम्पत्ति हो जाती है। अतः उसका स्वामित्व संयुक्त होने के नाते रिक्थ कहा जाता है। संयुक्त स्वामी लोग विभाजन द्वारा दाय के विभिन्न भागों के पृथक्-पृथक् स्वामी हो जाते हैं। इस प्रकार विभाजन स्वत्व का एक साधन हो गया (कई लोगों का स्वत्व भागों पर स्पष्ट स्वामित्व स्थापित हो जाता है)। किन्तु जब उत्तराधिकारी केवल एक व्यक्ति होता है तो वहाँ संविभाग (विभाजन) नहीं होता और वहाँ स्वामित्व का साधन रिक्थ ही हो जाता है न कि संविभाग। जब उत्तराधिकारी कई होते हैं तो इस दृष्टिकोण से रिक्थ केवल संयुक्त स्वामित्व का साधन हो जाता है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि जीमूतवाहन के अनुमान के आधार पर रिक्थ एवं संविभाग एक-दूसरे से मिल-से जाते हैं और उसी प्रकार से उनमें वह अन्तर नहीं किया जा सकता जिसे मिताक्षरा ने अपने सिद्धान्त द्वारा व्यक्त किया है।

नुवादकम्')। मिताक्षरा, पराशरमाधवीय (३, पृ० ४८१), सरस्वतीविलास (पृ० ४०२) आदि के मत से रिक्थ एव सविभाग, जो गौतम के सूत्र मे पाये जाते है, क्रम से अप्रतिवन्ध दाय एव सप्रतिवन्ध दाय हैं।

स्वत्व (स्वामित्व) लोकसिद्ध है या शास्त्रो के वचनो पर आधारित है, इसके विषय मे मिताक्षरा का कथन है—मनु (११।१९३=विष्णुधर्मसूत्र ५४।२८) के मत से जव ब्राह्मण गर्हित कर्मो से धन प्राप्त करते हैं (यथा किसी कुपात्र या पतित व्यक्ति से दान-ग्रहण करना, या ऐमी क्रय-वृत्ति से जो उनकी जाति के लिए निन्द्य है, धन-ग्रहण करना) तो वे उम धन के दान से, पूत मन्त्रो (गायत्री आदि) के जप से तथा तपस्या द्वारा ही पाप से छुटकारा पा सकते हैं। यदि स्वत्व का उद्‌गम शास्त्र द्वारा ही हो, तो शास्त्रनिन्द्य साधनो से प्राप्त किया हुआ धन व्यक्ति का धन (सम्पत्ति) नही कहलायेगा, और न उसके पुत्र उसका विभाजन ही कर सकते हैं, क्योकि उसे सम्पत्ति की सज्ञा प्राप्त ही नही होती। यदि स्वत्व लौकिक है तो उस दशा मे गर्हित साधनो से उत्पन्न धन व्यक्ति की सम्पत्ति की सज्ञा पाता है और उस व्यक्ति के पुत्र अपराधी नही होते (भले ही प्राप्तिकर्ता को प्रायश्चित्त करना पडे) और सम्पत्ति (दाय) का विभाजन कर सकते हैं, क्योकि मनु (१०।११५) ने दाय को अनुमोदित सात कारणो (साधनो) मे गिना है। किन्तु मदनरत्न ने इस उक्ति का अनुमोदन नही किया है। इसका तर्क सक्षेप में यो है—मनु (११।१९३) ने केवल प्रायश्चित्त की व्यवस्था दी है, किन्तु यह नही कहा है कि इस प्रकार का प्राप्त धन प्राप्तिकर्ता की सम्पत्ति नही कहलाता, इसी कारण से वुरे दान या साधन से प्राप्त धन पर मनु ने कोई विशिष्ट अर्थ-दण्ड आदि नही घोषित किया है, जैसा कि उन्होंने चोरी करने पर चोर के लिए किया है और चोरी के धन को चोर की सम्पत्ति नही माना एव उसके विभाजन पर चोर के पुत्रो को दण्ड देने की वात कही है। व्यवहारप्रकाश (पृ० ४१३-४२४) ने मिताक्षरा एव मदनरत्न के सिद्धान्तो की ओर सकेत किया है और प्रथम का अनुमोदन किया है।

उपर्युक्त विवेचन से एक अन्य प्रश्न की ओर हम वढ़ते हैं, क्या स्वामित्व (स्वत्व) विभाजन से उद्‌भूत होता है या विभाजन किसी व्यक्ति के (जन्म द्वारा) धन मे उत्पन्न होता है? अति प्राचीन काल से ही धर्मशास्त्रकार इस प्रश्न पर विचार करते आये हैं। विवाद-भेद के मूल मे पुत्रो, पौत्रो एव प्रपौत्रो का विषय ही रहा है। सभी लेखक इस विषय मे एकमत हैं कि पुत्रो, पौत्रो एव प्रपौत्रो के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति अपने सम्वन्धियो के धन पर जन्म से अधिकार नही पाते। जो लोग जन्म से पुत्रो का स्वत्व नही मानते वे निम्नोक्त रूप से तर्क करते हैं—

यदि पुत्र पैतृक सम्पत्ति पर जन्म से ही अधिकार रखते हैं तो पुत्रोत्पत्ति पर पिता विना पुत्र की आज्ञा के धार्मिक कृत्य (वैदिक अग्नियो मे) नही कर सकता, क्योकि इन कृत्यो मे पैतृक सम्पत्ति का व्यय होता है। और इससे इस उक्ति का कि 'उस व्यक्ति को, जिसके वाल अभी काले हैं और जो पुत्रवान् है, वैदिक अग्नि मे यज्ञ करना चाहिए' खण्डन हो जाता है। इतना ही नहीं, इससे स्मृतियो के ऐसे कथन, यथा—"यदि पिता अपने कतिपय पुत्रो मे किसी एक को विशेष अनुग्रहवश प्रदान करता है (नारद, दायभाग ६), या पति प्रेमवश अपनी पत्नी को कुछ देता है तो उसका विभाजन नही होता," निरर्थक सिद्ध हो जाते हैं, क्योकि इस प्रकार के प्रदान (इस सिद्धान्त पर कि पुत्र जन्म से ही सम्पत्ति के अधिकारी होते हैं) विना पुत्रो की सहमति के नही किये जा सकते। इसके अतिरिक्त कुछ स्मृतियो (यथा देवल आदि) ने पिता के रहते पुत्रो के स्वत्व को नही माना है।[11] मनु (९।१०४) एव नारद (दायभाग २) ने व्यवस्था दी है कि पिता के स्वर्गलोक जाने के उपरान्त ही पुत्रो को सम्पत्ति का विभाजन करना चाहिए (क्योकि मनु का कथन

११ पितर्युपरते पुत्रा विभजेयुर्धनं पितु। अस्वाम्य हि भवेदेषा निर्दोष पितरि स्थिते॥ देवल (दायभाग १-।१८, पृ० १३), दीपकलिका (याज्ञ० २।११४), विवादरत्नाकर (पृ० ४५६), पराशरमाधवीय (३, पृ० ४८०)।

है कि माता-पिता के रहते पुत्र स्वामी नहीं होते) इससे प्रकट है कि पुत्रों को जन्म से अधिकार नहीं प्राप्त होता। और भी स्वत्व शास्त्रानुमोदित होता है (जैसा कि गौतम ने कहा है)। शास्त्रों ने जन्म को क्रय आदि के लिए स्वामित्व का कारण नहीं माना है। अतः पुत्र या पुत्रों का स्वामित्व पूर्व स्वामी के स्वत्व के हटने से (मृत्यु या पतित होने या संन्यासी हो जाने के उपरान्त) ही उत्पन्न होता है। जब तक एक ही पुत्र है तो वह पिता की मृत्यु के उपरान्त सम्पत्ति का स्वामित्व पाता है और वहाँ विभाजन की आवश्यकता ही नहीं है। किन्तु जब कई पुत्र होते हैं तो उन्हें संयुक्त सम्पत्ति का स्वामित्व मिलता है और विभाजन के उपरान्त ही उन्हें पैतृक सम्पत्ति के पृथक्-पृथक् भागों का स्वामित्व प्राप्त हो पाता है। और अन्तिम स्वरूप ही बहुधा देखने में आता है अतः विभाजन के उपरान्त ही स्वत्व (विभागात् स्वत्वम्) की प्राप्ति होती है। यदि यह सिद्धान्त कि स्वत्व का उद्‌गम केवल विभाजन से ही होता है शाब्दिक रूप में लिया जाय तो इकलौता पुत्र अपने पिता की सम्पत्ति पाता हुआ भी उस पर स्वामित्व नहीं पा सकता जैसा कि व्यवहार निर्णय ने तर्क उपस्थित किया है क्योंकि उसके विषय में विभाजन का प्रश्न ही नहीं उठता।

जन्म से ही स्वामित्व होता है ऐसा मानने वाले निम्नोक्त तर्क उपस्थित करते हैं—

ऐसा उपस्थापित किया गया है कि स्वामित्व की धारणा लौकिक है—अर्थात् यह सांसारिक प्रयोगों पर आधारित है, इसी से इसे लोकसिद्ध कहा जाता है। सर्वसाधारण को यह ज्ञात है कि पुत्र जन्म से ही पैतृक सम्पत्ति के अधिकारी होते हैं। इसके अतिरिक्त गौतम का एक वचन भी है—'आचार्यों के मत से किसी व्यक्ति को स्वामित्व जन्म के कारण ही प्राप्त हो जाता है। बहुत-सी अन्य स्मृतियों के भी वचन हैं, यथा—याज्ञ० (२।१२१) बृहस्पति कात्यायन (८३९) व्यास एवं विष्णु (१७।२) जो स्पष्ट रूप से घोषित करते हैं कि पितामह की सम्पत्ति में पिता एवं पुत्र के स्वामित्व-सम्बन्धी अधिकार एक-समान हैं (अतः पुत्र का स्वत्व जन्म से ही है)। जो लोग ऐसी धारणा रखते हैं वे विरोधी मत का खण्डन निम्न रूप से करते हैं वैदिक अग्नियाँ स्थापित करने के सिलसिले में वैदिक वचन स्पष्ट कहते हैं कि कुछ निश्चित अवस्था तक पिता को पुत्र की उत्पत्ति के उपरान्त भी धार्मिक संस्कारों के लिए पैतृक सम्पत्ति व्यय करने का अधिकार है। इसी प्रकार कुल-पति एवं कुल-व्यवस्थापक के रूप में वेदों एवं स्मृतियों द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार, उसे अपरिहार्य धार्मिक कृत्यों के लिए पैतृक सम्पत्ति (अचल सम्पत्ति को छोड़कर) को व्यय करने का अधिकार है वह स्नेहोपहार के रूप में दान कर सकता है कुटुम्ब-पालन एवं विपत्ति में कुटुम्ब की रक्षा के लिए पैतृक सम्पत्ति को व्यय कर सकता है। इतना ही नहीं वह या कुल-व्यवस्थापक विपत्ति में या कुल के लाभ के लिए या आवश्यक धार्मिक कृत्यों यथा श्राद्ध आदि) के लिए अचल सम्पत्ति को बन्धक रख सकता है या उसका विक्रय कर सकता है।

लोक एवं शास्त्र से स्वत्व एक पृथक् धारणा है। यह कई प्रकार का होता है यथा—सशरीर एवं अशरीर, पूर्ण स्वामित्व एवं संयुक्त स्वामित्व निरपेक्ष रूप स्वत्व (स्वामित्व) एवं उपभोगकारी स्वत्व आगत स्वत्व एवं वैकल्पिक (निहित) स्वत्व। शास्त्रों के मत से स्वामी के अधिकारों पर नियन्त्रण भी पाये जाते हैं कुटुम्ब का ध्यान रखकर ही दान-पुण्य किया जा सकता है ऐसा नहीं है कि स्वामी सब कुछ दान [illegible] कर दे और कुटुम्ब के लोग भूखों मरें (याज्ञ० १७५२ 'स्व कुटुम्बाविरोधेन देयम्' स्मृतिवाक्य 'न च स्वमुच्यते) स्पष्ट है सम्पत्ति वह नहीं है जिसे जैसा चाहें (अपनी इच्छा के अनुसार) व्यय कर दें या किसी को प्रत्युत यह वह है जिसे (केवल उचित परिस्थितियों में) लिया-दिया जा सके अर्थात् यह लेन-देन की योग्यता पर निर्भर रहती है। क्योंकि राजा शास्त्रविधया अथवा अपने मुखियों एवं आसपास के लोगों के दबाव एवं नियन्त्रण से कोई व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का स्वेच्छा से उपयोग नहीं कर सकता। किन्तु यह ठीक है कि जिस पर स्वत्व है उसे सिद्धान्ततः स्वेच्छानुसार खर्च किया जा सकता है। मदनरत्न ने एक उदाहरण दिया है—अन्धकार में रखा हुआ भुना बीज अंकुरित नहीं होता किन्तु उसमें अंकुरित होने की योग्यता रहती ही है। सम्पत्ति पर सीमाओं की कई कोटियाँ हैं यथा—स्त्री का अधिकार विधवा का अधिकार आदि।

व्यक्ति जो कमाता है, वह उसका है और वह उसकी अपनी सम्पत्ति है। किन्तु मनु (८।४१६), नारद (अभ्युपेत्याशुश्रूषा, ४१) के मत में तीन प्रकार के व्यक्ति सम्पत्तिहीन कहे गये हैं, पत्नी, पुत्र एवं दास, वे जो कुछ कमाते हैं वह पति या पिता या स्वामी का होता है।[12] किन्तु शबर स्वामी-जैसे प्राचीन लेखक का मत है कि मनु का यह वचन यह नहीं कहता कि पत्नी या पुत्र जो कुछ कमाते हैं उस पर उनका स्वत्व नहीं रहता, वल्कि इस वचन का तात्पर्य यह है कि वे अपने अर्जित धन को स्वतन्त्र रूप से (बिना पति या पिता की सहमति से) नहीं खर्च कर सकते। मनु की इस धारणा को दायभाग एवं मिताक्षरा, दोनों सम्प्रदायों ने स्वीकार कर लिया है। मिताक्षरा ने मनु (८।४१६) की व्याख्या की तुलना में कहा है कि देवल, नारद एवं मनु (९।१०४) ने जो यह कहा है कि पिता के रहते उसके हाथ की सम्पत्ति पर पुत्र का स्वत्व नहीं रहता, उसका यही अर्थ लगाना चाहिए कि पुत्र पिता के रहते, या उसकी अपनी अर्जित सम्पत्ति पर, स्वतन्त्र रूप से व्यय करने का अधिकार नहीं रखता। दूसरी ओर दायभाग एवं दायतत्त्व ने उपर्युक्त कथनों एवं याज्ञ० (२।१२१), विष्णु आदि के मतों को (जो जन्म से ही पुत्र का स्वामित्व ठहराते हैं) अपने ढंग से सिद्ध किया है। दायभाग ने याज्ञ० (२।१२१) की दो व्याख्याएँ की हैं, यदि क के ख एवं ग दो पुत्र हों, जिनमें ग अपने घ पुत्र को छोड़कर पहले मर जाय और आगे चलकर क भी मर जाय, तब याज्ञवल्क्य के मत से दोनों अर्थात ख (क का पुत्र) एवं घ (क का पौत्र) क द्वारा छोड़ी गयी सम्पत्ति को बराबर-बराबर पायेंगे, ऐसा नहीं होगा कि सारी सम्पत्ति ख को ही मिल जायगी (क्योंकि ऐसा कहा जा सकता है कि वह घ की अपेक्षा क के अधिक समीप है), क्योंकि ख एवं घ दोनों पार्वण-श्राद्ध में क को पिण्ड-दान करते हैं, अतः दोनों में सम्पत्ति के मामले में कोई अन्तर न होगा। "सदृशं स्वाम्यम्" शब्द पुत्र एवं पौत्र की इसी बराबरी (सादृश्य) की ओर संकेत करते हैं। दूसरी व्याख्या धारेश्वर की है, जब पिता विभाजन का इच्छुक होता है तो वह अपनी स्वार्जित सम्पत्ति अपने पुत्रों में अपनी इच्छा के अनुसार बाँट सकता है, किन्तु जो सम्पत्ति वह अपने पिता से प्राप्त किये रहता है (अर्थात् उसके पुत्रों के पितामह से जो सम्पत्ति उसे प्राप्त होती है) उस पर उसका वही अधिकार होता है जो उसके पुत्रों का होता है और उसे वह स्वेच्छापूर्वक असमान रूप से विभाजित नहीं कर सकता। दायभाग ने इस बात का विरोध किया है कि याज्ञ० (२।१२१) ने ऐसा कहा है कि पुत्र अपने पिता की इच्छा के विरुद्ध अपने पितामह की सम्पत्ति के विभाजन की माँग कर सकता है या पिता एवं पुत्र का पितामह की सम्पत्ति में बराबर-बराबर अंश है। यही बात विष्णु एवं अन्य ग्रन्थों में भी पायी जाती है, अर्थात् पितामह की सम्पत्ति में पिता एवं पुत्र समान स्वामी हैं, पर "तुल्यं स्वाम्यम्" या "सममंशित्वम्" शब्दों से यह नहीं कहा जा सकता कि पिता एवं पुत्र उसमें समान अंश (भाग) पा सकते हैं (दायभाग २।१८, पृ० ३२)।

उपर्युक्त विवेचन से प्रकट होता है कि दायभाग एवं मिताक्षरा के सम्प्रदायों का आरम्भ उन्हीं द्वारा सर्वप्रथम नहीं किया गया, प्रत्युत दोनों के पीछे मान्य प्राचीनता भी थी। मनु, नारद एवं देवल की स्मृतियों तथा उद्योत एवं धारेश्वर-जैसे प्रमुख लेखकों ने **उपरम-स्वत्ववाद** का सिद्धान्त घोषित कर दिया था और याज्ञ०, विष्णु० एवं बृहस्पति ने बहुत पहले ही **जन्म-स्वत्ववाद** का सिद्धान्त अपना लिया था। विश्वरूप का, जो याज्ञवल्क्यस्मृति के टीकाकार हैं (९वीं शताब्दी के प्रथम चरण में) का कहना है कि स्वत्व जन्म से ही उत्पन्न हो जाता है (याज्ञ० २।१२४)। गौतम के "उत्पत्त्यैव ... आदि" सूत्र को उद्धृत कर मिताक्षरा ने अपना सिद्धान्त घोषित किया है। यह सूत्र आज कहीं नहीं मिलता और न अपरार्क आदि ने इसका उल्लेख ही किया है, श्रीकृष्ण तर्कालंकार (दायभाग १।२१) ने इसे

१२ भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधनाः स्मृताः। यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम्॥ मनु (८।४१६), उद्योगपर्व (३३।६४), नारद (अभ्यु० ४१)।

युक्तिसगत नही है। यहाँ पर हम इनके सिद्धान्त की विस्तृत आलोचना नही उपस्थित करेंगे, केवल कुछ तर्क उपस्थित किये जायगे। वगाल की अपेक्षा पश्चिमी भारत वहिर्देशीय व्यापार मे अधिक वढा-चढा था, यूनानी लेखको ने वरुगज (भडौंच) एव कल्लीएने (कल्याण) नामक वन्दरगाहो का उल्लेख किया है, यहाँ रोमन सिक्के प्राप्त हुए हैं और सीरिया के लोगो का यहाँ अस्तित्व था। वगाल एव आसाम के समान उसी समय (यदि पहले नही) मध्य एव पश्चिमी भारत मे वौद्ध धम फैला। ईसा के पूर्व एव उपरान्त मध्य एव पश्चिमी भारत मे वौद्ध धर्म का प्रावल्य था, जैसा कि साँची, भिलसा, भरहुत, नासिक एव कार्ला की गुफाओ से विदित है। इसके अतिरिक्त न्यायमूर्ति मित्र ने स्वय कहा है कि वौद्ध धर्म मे अपना सम्पत्ति सम्वन्धी व्यवहार (कानून) नही था (लॉ क्वार्टरली रिव्यू, जिल्द २१, पृ० ३८८)। वरमा जैसे वौद्ध देशो ने मनुस्मृति से ही उत्तराधिकार एव दाय के कानून उधार लिये। जीमूतवाहन की अपेक्षा विज्ञानेश्वर स्त्रियो के प्रति अधिक उदार हैं, क्योकि जव तक स्मृतियो मे स्पष्ट रूप से घोपित न हो तव तक जीमूतवाहन स्त्रियो को उत्तराधिकारी के रूप मे नही ग्रहण करते। महानिर्वाण-तन्त्र ने वहिन एव विमाता को समीप का उत्तराधिकारी माना है और चाचा की विधवा पत्नी एव पुत्र की पुत्री को भी उत्तराधिकारी घोपित किया है, किन्तु दायभाग के अन्तर्गत ये सव उत्तराधिकारी नही माने जाते। मिताक्षरा सम्प्रदाय की एक शाखा, जो पश्चिमी भारत मे व्यवहारमयूख की शाखा से द्योतित होती है, अन्य सभी सम्प्रदायो से स्त्रियो के अधिकार के मामले मे अधिक उदार है। दक्षिण भारत के कुछ जिलो तथा नम्बूद्री ब्राह्मणो एव नायर लोगो की जातियो मे मरुमक्कटयम् एव अलि-यसन्तन् कानून प्रचलित हैं जो स्त्रियो के प्रति अत्यधिक उदार हैं, किन्तु उन पर वौद्ध या तान्त्रिक प्रभाव है ऐसा किसी ने भी प्रतिपादित नही किया है। धार्मिक क्षमता वाले सिद्धान्त से सम्वन्धित दायभाग की विशेपता महानिर्वाण-तन्त्र में दिये गये कानूनो मे मिताक्षरा सम्प्रदाय द्वारा मान्य सगोत्रता (सपिण्डता या एक शरीरान्वय) के सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक दूर है। न्यायमूर्ति मित्र जीमूतवाहन के काल के विषय मे त्रुटिपूर्ण हैं। हमने ऊपर देख लिया है कि जीमूतवाहन ने अपनी मान्यताएँ उद्योत-जैसे लेखको एव देवल आदि स्मृतियो पर आधारित की हैं। यह कहा जा सकता है कि दायभाग की विचित्र मान्यता की सन्तोपजनक व्याख्या नही दी जा सकती। दायभाग के सिद्धान्त का उद्गम स्थानीय एव सर्वथा स्वतन्त्र है।

विभाग (विभाजन) की परिभाषा मिताक्षरा ने यो की है—जहाँ सयुक्त स्वामित्व हो वहाँ सम्पूर्ण सम्पत्ति के भागो की निश्चित व्यवस्था ही विभाग है[13]। दायभाग को इस परिभाषा मे कई दोप दृष्टिगोचर होते हैं, जिनमे प्रमुख यह है कि कई पुत्रो का सयुक्त स्वामित्व सर्वप्रथम पिता की सम्पूर्ण सम्पत्ति मे उत्पन्न कर देना और तव ऐसा कह देना कि आगे चलकर यह सयुक्त स्वामित्व नष्ट हो जाता है, वडा ही वोझिल एव असुविधाजनक है। दायभाग की दी हुई विभाग की परिभाषा यह है—यह (किसी निश्चित भूमिभाग या धन पर) गोली या ढेला फेंकने मे भाग्यवश-प्राप्त (वहुतो मे एक के) स्वामित्व का द्योतक है, जो (स्वामित्व) केवल (भूमि एव धन के दाय के) एक अश मे मिलकर उदित होता है, किन्तु जो अनिश्चित है, क्योकि (किसी व्यक्ति के लिए) दाय के किसी विशिष्ट अश को स्पष्ट रूप से वताना असम्भव है, क्योकि कौन अश किसका है, यह कहने के लिए कोई निश्चित वात ज्ञात नही रहती। दायभाग यह स्वीकार नही करता कि दाय के सभी अशो पर (विभाजन के पूर्व) सहभागियो मे स्वामित्व सयुक्त रूप से उत्पन्न हो जाता है, इसका कथन है कि यह उसके (दाय के) अशो मे उत्पन्न होता है, किन्तु कौन अश किसका है यह

१३ विभागो नाम द्रव्यसमुदायविषयाणामनेकस्वाम्यानां तदेकदेशेषु व्यवस्थापनम्। मिताक्षरा (याज्ञ० २।११४), व्यवहारसार (पृ० २१२), अपरार्क (पृ० ७२९)।

कहने के लिए कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलता, अतः प्रत्येक का अंश किसी भाग पर गुटिका-पात (मेंड़ या गोली फेंकने) से निश्चित एवं निर्णीत होता है (यथा ऐसा कहना कि यह क का है, आदि)। किन्तु दायतत्त्व ने इस परिभाषा की आलोचना की है। यदि विभाजन के पूर्व प्रत्येक सहभोगी सम्पूर्ण दाय का अंशतः स्वामित्व रखता है तो यह सुनिश्चित नहीं है कि गुटिका-पात से सहभोगी का अंश उसी अंश के स्वामित्व से सम्बन्धित होगा जो विभाजन के पूर्व उदित हुआ? यद्यपि जन्म-स्वत्ववाद के विषय में दायतत्त्व मिताक्षरा से विभेद रखता है, किन्तु विभाग की परिभाषा में दोनों एक-दूसरे से मिलते हैं।

दायभाग एवं मिताक्षरा द्वारा उपस्थापित विभिन्न परिभाषाएँ विभिन्न प्रतिफल देती हैं। मिताक्षरा के भीतर पिता और पुत्रों या पौत्रों का जब संयुक्त परिवार रहता है तो सभी सहभोगी (रिक्थाधिकारी) रहते हैं और संयुक्त सम्पत्ति का स्वत्व सभी समांशियों (रिक्थाधिकारियों) को प्राप्त रहता है, अर्थात् जब तक संयुक्त परिवार रहता है तब तक स्वामित्व की एकता रहती है और कोई सहभोगी (रिक्थाधिकारी) यह नहीं कह सकता कि वह किसी निश्चित भाग, यथा एक चौथाई या पाँचवें भाग का स्वामी है। अंशहर या सहभागी का अंश या हित घटता-बढ़ता रहता है, मृत्युओं (कई सहभागियों की मृत्युओं) से बढ़ सकता है और जन्मों से यह घट सकता है। विभाजन के उपरान्त ही सहभागी या अंशहर किसी निश्चित भाग (अंश) का अधिकारी हो पाता।

दूसरी ओर दायभाग के अनुसार जन्म से ही स्वामित्व नहीं उत्पन्न होता, पिता के उपरान्त पुत्र सहस्वामित्व प्राप्त करते हैं, किन्तु परिवार की सम्पत्ति का स्वामित्व सभी पुत्रों के एक गुट को नहीं प्राप्त रहता। पिता की मृत्यु आदि के उपरान्त प्रत्येक पुत्र को एक निश्चित अंश मिल जाता है। इस प्रकार का मिला हुआ भाग जन्मों एवं मृत्युओं से नहीं घटता-बढ़ता। पुत्र सहभागी इसी लिए कहे जाते हैं कि पिता से प्राप्त सम्पत्ति पर उनकी प्राप्ति संयुक्त रहती है, अर्थात् प्राप्ति की एकता रहती है, किन्तु स्वामित्व की एकता नहीं।

मिताक्षरा के अनुसार पुत्र पैतृक सम्पत्ति का रिक्थाधिकारी जन्म से ही हो जाता है। मान लीजिए कोई व्यक्ति पैतृक सम्पत्ति का एक मात्र स्वामी है, किन्तु सन्तानहीन है। ऐसी स्थिति में सहभागित्व (सहभागिता) का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु ज्यों ही उसे पुत्र उत्पन्न हो जाता है, समांशिता या सहभागिता आरम्भ हो जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि मिताक्षरा के अनुसार पुत्रोत्पत्ति समांशिता या सहभागिता को उत्पन्न कर देती है, किन्तु दायभाग के अन्तर्गत पिता एवं पुत्रों में समांशिता नहीं पायी जाती, क्योंकि पुत्रों को पैतृक सम्पत्ति पर जन्म से ही अधिकार नहीं प्राप्त होता, यद्यपि पैतृक सम्पत्ति की सत्ता भाइयों या चाचाओं एवं भतीजों के बीच उपस्थित रहती है। दायभाग के अन्तर्गत किसी व्यक्ति की मृत्यु उसके पुत्रों की सहभागिता आरम्भ कर देती है।

विभाजन के दो अर्थ हैं—(१) भाग-योग एवं सीमा के निर्धारण से बँटवारा तथा (२) हित का पृथक्करण

१४ एकदेशोपात्तस्यैव भूहिरण्यादावुत्पन्नस्य स्वत्वस्य विनिगमनाप्रमाणाभावेन वैशेषिकव्यवहारानर्हतया अव्यवस्थितस्य गुटिकापातादिना व्यंजनं विभागः। विशेषेण भजनं स्वत्वज्ञापनं वा विभागः। दायभाग (१।८-९, पृ० ८); तत्र विभागस्तु तत्स्वत्वव्यवस्थापकत्वेन भूहिरण्याद्युत्पन्नस्य गुटिकापातादिना अनुपस्थितमिति विशेषेण भजनं स्वत्वज्ञापनमिति वदन्ति तन्न समीचीनम्। यत आस्य स्वत्वं तदैव गुटिकापात इति मतं वक्तव्यापातमिति दायतत्त्व (पृ० १६१); वस्तुतस्तु पूर्वस्वामिस्वत्वोपरमे तत्सम्बन्धिविशेषात् तत्सम्बन्धिनां सर्वधनव्यापकत्वेनाव्यवस्थितस्वत्वस्य गुटिकापातादिना प्रादेशिकस्वत्वव्यवस्थापनं विभागः। एवं ह्रस्वमपलाक्षेपोऽत्रादर्शनादपि वक्तव्ये। दायतत्त्व (पृ० १६१)।

या अलगाव। मिताक्षरा के अन्तर्गत इन दोनो अर्थों मे विभाजन सम्भव है। समांशिता (सहभागित्व या सहभागिता) के सदस्य किसी भी क्षण अपने अंशो के अधिकारो का निपटारा कर सकते हैं, किन्तु नाप-जोख आदि द्वारा सम्पत्ति-विभाजन आगे के समय के लिए स्थगित किया जा सकता है और तब तक वे पहले की भाँति ही एक-साथ सम्पत्ति का उपभोग कर सकते है। देखिए व्यवहारमयूख (पृ० ९४) एव सरस्वतीविलास (पृ० ३४७)। दायभाग के अन्तर्गत पूर्व स्वामी की मृत्यु के उपरान्त ही उत्तराधिकार आरम्भ होता है और निश्चित भाग निर्धारित होते हैं, अत विभाजन उपर्युक्त प्रथम अर्थ मे ही होता है, अर्थात् प्राप्त दाय के निश्चित भाग सहभागियो को दे दिये जाते है। किसी सदस्य के भाग को अलग करने की एक विधि और है जो मनु (९।२०७) एव याज्ञ० (२।११६) मे उल्लिखित है, यथा—यदि परिवार का कोई सदस्य अपना निर्वाह स्वय करने मे समर्थ है और परिवार की सम्पत्ति का कोई भाग नही चाहता, तो उसे कोई साधारण वस्तु चिह्न रूप मे देकर अलग किया जा सकता है। मिताक्षरा ने जोड दिया है कि यह चिह्न इसलिए दिया जाता है कि उसके पुत्र आगे चलकर अपना अधिकार न जताने लगे।

दायभाग या दायविभाग के अन्तर्गत **मिताक्षरा** एव सग्रह के अनुसार चार प्रमुख विषय है, विभाजन-काल, विभाजन की जानेवाली सम्पत्ति, विभाजन-विधि एव विभाजन के अधिकारी।

विभाजन-काल—विभाजन-सम्बन्धी पुत्र के अधिकार का विकास युगो की क्रमिक गति मे पाया जाता रहा है। हम यहाँ पर सक्षेप मे इस विषय पर कुछ कहेगे। अति प्राचीन काल मे जब कि कुलपति-सत्तात्मक परिवार प्रचलित था पिता का पुत्र पर एकसत्तात्मक (सम्पूर्ण) अधिकार था, पिता की आज्ञा का पालन पुत्र का कर्तव्य था, परिवार की सम्पत्ति का विघटन नहीं होता था, सभी की अर्जित सम्पत्तियो पर पिता का शासन था और स्त्रियों को सम्पत्ति रखने का कोई अधिकार नही था। इस विषय पर वैदिक साहित्य मे भी धुंधला-सा प्रकाश मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण (१३।१) मे उल्लिखित शुन शेप की गाथा मे आया है कि अजीगर्त ने वरुण के लिए अपने पुत्र को बेच दिया, विश्वामित्र ने अपने एक सौ एक पुत्रो के रहते शुन शेप को गोद लिया, उन्होने अपने पचास पुत्रो को आज्ञा उल्लघन के अपराध मे शाप दिया और उन्हे दाय (रिक्थ) से वचित कर दिया। इन बातो से स्पष्ट है कि ऐतरेय ब्राह्मण के युग मे ऐसा विश्वास था कि प्राचीन काल मे पुत्र पर पिता का सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त था। किन्तु यहाँ सावधानी से उपर्युक्त गाथा का मर्म समझना चाहिए। गाथा केवल किंवदती के रूप मे है और स्वय ऐतरेय ब्राह्मण ने अजीगर्त के आचरण की निन्दा की है।[15] आज कल ऐसे माता-पिता विरल रूप मे पाये जाते हैं जो बीमा का धन कमाने के लिए पुत्रो की बीमा-पॉलिसी लेकर उन्हे विष देकर मार डालें। किन्तु कोई भी ऐसा नही कहता कि यह अधिकतर होता है और आधुनिक कानून इसकी छूट देता है। ऋग्वेद (१।११७।१७) मे आया है कि ऋज्राश्व की आँखें उसके पिता ने निकलवा ली, क्योकि उसने (ऋज्राश्व ने) भेडिये को एक सौ भेडें दे डाली थी। ऐसा केवल एक ही उदाहरण है और लगता है ऋग्वेद के इस मन्त्र मे आलकारिकता की झलक है और दैवी प्रक्रिया की ओर सकेत मात्र है। काठक सहिता (११।४) मे आया है कि पिता पुत्र पर राज्य करता है (पिता पुत्रस्येशे)। किन्तु यह जानना चाहिए कि पिता का पुत्र के ऊपर अधिकार ऐतिहासिक कालो मे भी परिलक्षित होता रहा है। निरुक्त (३।४) ने अपने पूर्व के लोगो की उक्ति दी है कि पुत्रियाँ पिता के धन का उत्तराधिकार नही पाती, क्योकि उनका (पुत्रियो का) दान, विक्रय एव त्याग हो सकता है, किन्तु पुरुषो का ऐसा नही होता। किन्तु अन्य लोगो के मत मे पुरुषो के साथ भी वैसा व्यवहार किया जा सकता है,

१५ स होवाच शुन शेपो य सकृत्पापक कुर्यात्कुर्यादेनस्ततोऽपरम्। नापागा शौद्रान्न्यायादसन्धेय त्वया कृतमिति। ऐ० ब्रा० (३३।५)।

जैसा कि शुनःशेप की गाथा से प्रमाणित है।[16] वसिष्ठ (१५।२) का कथन है कि माता-पिता को अपने पुत्र का दान, विक्रय एवं त्याग करने का अधिकार है।[17] हमने ऊपर देख लिया है कि मनु के अनुसार पुत्र का अर्जित धन पिता का होता है। आपस्तम्ब (२।६।१३।११-१२) ने बलपूर्वक कहा है कि अपनी सन्तान को छोड़ देने एवं बेच देने का अधिकार मान्य नहीं है और 'विक्रय' शब्द, जो मनु के सिलसिले में व्यक्त होता है, वह आलंकारिक रूप से ही व्यक्त है। 'विक्रय' शब्द की व्याख्या (विवाह के सम्बन्ध में) पहले की जा चुकी है (देखिए भाग २, अध्याय ९)।

दूसरी ओर हम स्वयं ऋग्वेद (१।७०।५) में ऐसा पाते हैं कि पुत्रों ने पिता की वृद्धावस्था में ही (मरने के पूर्व) उनकी सम्पत्ति विभाजित कर ली, यथा—"हे अग्नि, लोग तुम्हें बहुत स्थानों में कई प्रकार से पूजित करते हैं और (तुमसे) सम्पत्ति उसी प्रकार ग्रहण करते हैं जिस प्रकार बूढ़े बाप से।" ऐतरेय ब्राह्मण (२२।९) में मनु के सबसे छोटे पुत्र नाभानेदिष्ठ की कथा से प्रकट होता है कि उसके सभी बड़े भाइयों ने पिता के रहते सारी सम्पत्ति अपने में बाँट ली और उसे वंचित कर दिया, किन्तु उसने कोई विरोध नहीं किया। किन्तु तैत्तिरीय संहिता (३।१।९।४-५) में यह बात दूसरे ढंग से कही गयी है—स्वयं मनु ने अपनी सम्पत्ति अन्य पुत्रों में बाँट दी और नाभानेदिष्ठ को कोई भाग नहीं दिया और बेचारा नाभानेदिष्ठ उस समय गुरुकुल में वैदिक विद्यार्थी था। गोपथ ब्राह्मण (५।१७) में आया है—"जब अपने बचपन में पुत्र अपने पिता पर निर्भर रहते हैं किन्तु वार्धक्य में पिता पुत्रों पर निर्भर रहता है।" कौषीतकी ब्राह्मण उपनिषद् (२।१५) में आया है कि मृत्यु के मुख में जाते हुए पिता ने अपनी पौरुषिक एवं मानसिक शक्तियाँ अपने पुत्र को देते हुए कहा कि यदि इस क्रिया-संस्कार के उपरान्त वह जीवित हो उठता है तो उसे या तो पुत्र के अधिकार में रहना होगा या वह यायी (सन्यासी) के समान घर से बाहर चला जायगा। शतपथ ब्राह्मण (१२।२।३।४) में आया है—"बचपन में पुत्र पिता पर आधारित रहते हैं...आगे चलकर पिता पुत्रों पर आधारित रहता है।" उपर्युक्त कुछ वचनों से व्यक्त होता है कि बहुत ही विरल अवसरों में पुत्र पिता के रहते और उसकी इच्छा के विरुद्ध सम्पत्ति विभाजन करते थे।

इससे स्पष्ट होता है कि डा० जॉली का यह कथन कि "भारतीय व्यवहार के आरम्भिक युगों में सम्पत्ति-विभाजन अज्ञात था" (टैगोर व्याख्यान, पृ० ७) ठीक नहीं है और यह वैदिक वचनों से पुष्ट नहीं होता। तैत्तिरीय संहिता (३।१।९।४) में आया है कि मनु ने अपनी सम्पत्ति अपने पुत्रों में विभाजित कर दी। इसमें यह भी आया है कि ज्येष्ठ पुत्र को पैतृक सम्पत्ति मिली। आपस्तम्ब (२।६।१४।१ एवं १०-१२) ने तैत्तिरीय संहिता के दोनों वचनों (३।१।९।४ एवं २।५।२।७) को उद्धृत किया है किन्तु निष्कर्ष यह निकाला है कि पुत्रों में बराबर भागों का विभाजन उचित विधि है और ज्येष्ठ पुत्र को सम्पत्ति का अधिक भाग देना शास्त्रविरुद्ध है।[18] इससे स्पष्ट है कि बराबर के बँटवारे का नियम-सा था और अधिक भाग देना अपवाद था तथा वैदिक युग में भी ऐसा विरल ही होता था। ऐतरेय ब्राह्मण (१९।३) में इस ढंग से ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ नामक अधिकार का उल्लेख किया है। विभाजन के समय ज्येष्ठ पुत्र के साथ विशिष्ट व्यवहार करना मनु (९।११२) एवं गौतम (२८।१४) के युगों में प्रचलित था और आधुनिक काल में

१६. स्त्रीणां दानविक्रयातिसर्गा विद्यन्ते न पुंसः। पुंसोऽपीत्येके शौनःशेपे दर्शनात्। निरुक्त (३।४)।

१७. शुक्र (शोणित) प्रदानविक्रयत्यागेषु मातापितरौ प्रभवतः। वसिष्ठ (१५।२)। दानक्रयधर्मश्चापत्यस्य न विद्यते। आप० ध० सू० (२।६।१३।११)।

१८. ज्येष्ठो दायाद इत्येके। ... तच्छास्त्रैर्विप्रतिषिद्धम्। मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजदित्यविशेषेण श्रूयते। अथापि तस्माज्ज्येष्ठं पुत्रं धनेन निरवसाययन्तीत्येकवच्छ्रूयते। आप० (२।६।१४।६, १०-१२)।

भी कुछ विभाजन योग्य रियासतो एव कुछ साधारण कुलो मे यह विधि प्रचलित रही है, क्योंकि उनके पीछे अतीत की परम्परा रही है या राजकीय दानो (जागीर एव सरजाम आदि) के बँटवारे की ऐसी विधि रही है। कौटिल्य एव कात्यायन ने घोषित किया है कि दाय-विभाजन के समय राजा द्वारा देशो, जातियो, ग्रामो एव श्रेणियो की रूढियो की रक्षा होनी चाहिए (अर्थशास्त्र ३।७ एव कात्यायन, विवादरत्नाकर पृ० ५०५)। डा० जॉली का कथन है कि आपस्तम्बधर्मसूत्र ने पिता द्वारा व्यवस्थित विभाजन के अतिरिक्त कोई अन्य विभाजन प्रकार नही बताया है। किन्तु यह भ्रामक कथन है। आपस्तम्ब एक बडे विमलात्मा एव आदर्शवादी थे। उन्होने अपने समय के पूर्व की बहुत सी प्रसिद्ध बातो की अवज्ञा की है, यथा—उन्होने गौण पुत्रो की चर्चा नही की है, ब्राह्मणो के लिए तब तक अस्त्र-शस्त्र छूना तक त्याज्य माना है जब तक उन पर मृत्यु की छाया न पडे अर्थात् जब तक उन्हे मार डालने के लिए कोई आक्रमण न हो, किन्तु मनु (८।३४५-३४९), गौतम० (७।६ एव २५) आदि ने इस विषय मे पर्याप्त छूट दी है। अत आपस्तम्ब का विभाजन के अन्य प्रकार के विषय मे मौन रह जाना यह नही व्यक्त करता कि अन्य प्रकार थे ही नही। गौतम ने, जो साधारणत आपस्तम्ब के पूर्व के माने जाते है, कहा है कि वे ब्राह्मण, जो पिता की इच्छा के विरुद्ध उससे पृथक् हो गये है, श्राद्ध के समय भोजन के लिए आमन्त्रित किये जाने योग्य नही है।[19] इससे स्पष्ट है कि गौतम के पूर्व भी पिता की इच्छा के विरुद्ध पुत्रो मे विभाजन हो जाता था। डा० जॉली ने मिताक्षरा (याज्ञ० २।११४) द्वारा उद्धृत एक अज्ञात कथन का हवाला दिया है जो भूमि-विक्रय का निषेध करता है। किन्तु यह अनावश्यक है। उस कथन को शाब्दिक अर्थ मे नही लेना चाहिए था, क्योंकि हम जानते है कि लगभग दो सहस्र वर्षो मे भूमि-विक्रय का प्रचलन चलता आया है। वहा केवल इतना ही आया है कि विक्रय को दानरूप मे (अर्थात् सोने एव जल के साथ) करना चाहिए। जहाँ कही कुछ स्मृतियो मे ऐसा आया है कि भूमि एव भवन विभाजित करने योग्य नही है, वहाँ केवल यही तात्पर्य है कि छोटे-छोटे भूमि-खण्डो एव घरो को बहुत-से सहभागियो मे बाँटना आर्थिक दृष्टि से अच्छा नही है। ऐसा सोचना कि उन स्मृतियो के मत मे भवनो का विभाजन सहभागियो मे नही होता था, भ्रामक है। इतना ही समझना पर्याप्त है कि इस प्रकार के विभाजन समाज मे अच्छे रूप मे ग्रहण नही किये जाते थे। इस प्रकार की मनोभावना गौतम एव आपस्तम्ब के उपरान्त भी पायी जाती रही है, यहाँ तक कि बीसवी शताब्दी मे हिन्दू पुत्र का विभाजन के लिए अपने पिता से मुकदमा लडना घृणास्पद एव गर्हित माना जाता है। गौतम के कथन से व्यक्त होता है कि वैदिक निर्देशो के रहते हुए भी पिता के रहते ही और उसकी इच्छा के विरुद्ध भी कभी-कभी विभाजन हो जाया करता था, यद्यपि ऐसी बाते बहुत कम होती थी।

अब स्मृतियो एव मध्यकालीन लेखको के विभाजन-काल सम्बन्धी नियमो का विचार करना चाहिए। एक समय वह था जब कि पिता जीवन-काल मे ही पुत्रो मे सम्पत्ति-विभाजन करता था (तैत्ति० स० ३।१।९।४, आप० २।६।१४।१, गौतम २८।२, बौधायन० २।२।८, याज्ञ० २।११४, नारद, दायभाग ४)। दूसरा समय था पिता की मृत्यु के उपरान्त (गौतम २८।१, मनु ९।१०४, याज्ञ० २।११७, नारद, दायभाग २)। दायभाग ने केवल इन्ही दो समयो को मान्य ठहराया है, अर्थात् पिता के स्वामित्व की समाप्ति पर (मृत्यु पर या सन्यासी हो जाने पर या सारी इच्छाएँ नष्ट हो जाने पर) तथा पिता के जीवन काल मे ही उसकी इच्छा के अनुसार (दायभाग १।४४)। व्यवहारप्रकाश (पृ० ४२९ एव ४३४, ४३५) ने इस विषय मे दायभाग की कटु आलोचना की है। जीमूतवाहन जैसे कुछ लेखक बहुत आगे बढ गये है और कहते है कि पिता की मृत्यु के उपरान्त माता के जीवन-काल तक भी पुत्रो के बीच सम्पत्ति-विभाजन नहीं होना

१९ न भोजयेत् पित्रा वाकामेन विभक्तान्। गौतम० (१५।१५ एव १९)।

का कहना है कि पिता की सम्पत्ति (जो उसे उसके भाग के अनुसार मिली है) का बँटवारा स्मृतियों द्वारा व्यवस्थित विशिष्ट नियम (कानूनी व्यवस्था) है, किन्तु अन्य विषयों में जन्मस्वत्व का प्रारम्भिक नियम ही लागू होता है। मनु (९।२०९) के कहे गये वचन से निर्देशित होकर मिताक्षरा ने निष्कर्ष निकाला है कि पिता की इच्छा के विरुद्ध भी पुत्र पितामह की सम्पत्ति के विभाजन की माँग कर सकता है। यही मिताक्षरा सम्प्रदाय के मत से हिन्दू कानून है, जो आज-कल मान्य है।

जब याज्ञवल्क्य एवं अन्य स्मृतियों ने पैतृक सम्पत्ति पर पुत्र का जन्म से ही अधिकार मान लिया तो यह तर्कसिद्ध फल निकला कि कोई भी व्यक्ति, जो जन्म से स्वत्वाधिकार रखता है, विभाजन की माँग कर सकता है और अपने भाग को किसी समय अलग कर सकता है। हमने देख लिया है कि गौतम के पूर्व भी पुत्र लोग अपने पिताओं की इच्छा के विरुद्ध उनसे अलग हो जाते थे, किन्तु इस कार्य की ऋषियों ने निन्दा की है, ऐसे आचरण को घृणित एवं गर्हित माना गया है। कुछ स्मृतियों ने पिता के रहते पुत्र के विभाजन के अधिकार को कुछ बड़े नियन्त्रणों के भीतर मान लिया है। पिता के रहते एवं उसकी इच्छा के विरुद्ध पुत्र द्वारा सम्पत्ति-विभाजन कर अलग हो जाना स्पष्ट रूप से व्यक्त है और यह प्रथा गौतम के काल से लेकर मिताक्षरा (लगभग पन्द्रह शताब्दियों) तक चली आयी। वीरमित्रोदय ने भी पुत्र के इस अधिकार को मान्यता दी है। किन्तु मिताक्षरा के कुछ अनुयायी लेखकों ने इसे नहीं स्वीकार किया है, यथा---मदनपारिजात (पृ० ६६२) के लेखक ने लिखा है कि केवल पुत्र की इच्छा से विभाजन नहीं हो सकता। दायभाग में ऐसे प्रश्न उठते ही नहीं, क्योंकि उसके मत से पुत्र को पैतृक सम्पत्ति पर जन्म से कोई अधिकार ही नहीं है।

पिता के जीवन-काल में विभाजन-सम्बन्धी पुत्र की माँग को प्राचीन काल के कुछ धार्मिक मनोभावों से प्रेरणा मिली। गौतम (२८।४) ने लिखा है कि यदि संयुक्त न रहकर भाई पृथक् हो जायँ तो धार्मिक श्रेष्ठता की वृद्धि होती (**विभागे तु धर्मवृद्धि**) है। मनु (९।१११) ने कहा है---"वे (भाई) संयुक्त रह सकते हैं या यदि धर्म-वृद्धि चाहें तो पृथक् भी रह सकते हैं, पृथक् रहने में धर्म-वृद्धि होती है। अतः विभाजन महत्त्वकारी है।"[२०] इससे प्रकट होता है कि पिता की मृत्यु के उपरान्त संयुक्त रहना या अलग-अलग हो जाना अभिरुचि या विकल्प पर निर्भर था। शंख-लिखित का कहना है कि भाई संयुक्त रह सकते हैं क्योंकि एक साथ रहने पर वे भौतिक रूप से उन्नति कर सकते हैं।[२१] बृहस्पति का कथन है कि संयुक्त परिवार में साथ-साथ रहने और एक ही चूल्हे पर पकाकर खानेवालों द्वारा की गयी देव-पितृ-ब्राह्मणपूजा सबकी ओर से एक ही होती है, किन्तु जब वे पृथक् हो जाते हैं तो प्रत्येक घर में पृथक्-पृथक् वही पूजा होती है। यही बात नारद (दायभाग ३७) ने भी कही है।[२२] विभाजन होने पर धर्म की वृद्धि होती है, क्योंकि अलग हो जाने पर अलग-अलग घरों में धार्मिक कृत्य होने लगते हैं। यहाँ पर धर्म का तात्पर्य है मुख्यतः

२०. मनु (९।१११) के कथन को व्यवहारनिर्णय (पृ० ४०८) ने प्रजापति के कथन के रूप में उद्धृत किया है। मदनरत्न ने मनु एवं प्रजापति को पृथक्-पृथक् माना है, "पृथग्दैवपित्र्यकर्मकरणाद्धर्मवृद्धिमपेक्षमाणा विभजेयुरित्याहतुर्मनुप्रजापती एवं सह वसेयुर्वा आदि।"

२१. कामं वसेयुरेकत्र सहता वृद्धिमाचक्षीरन्। शंखलिखितौ (विवादरत्नाकर पृ० ४५८)।

२२. एकपाकेन वसतां पितृदेवद्विजार्चनम्। एकं भवेद्विभक्तानां तदेव स्याद् गृहे गृहे॥ बृ० (अपरार्क पृ० ७१९, व्य० नि० पृ० ४६८, कुल्लूक, मनु ९।१११, हरदत्त (गौतम १८।४, विवादरत्नाकर पृ० ४५९)।

ऐसे धार्मिक कार्य जो पञ्चमहायज्ञों से सम्बन्धित हैं। मनु (३।६७) ने लिखा है कि प्रत्येक घर में विवाह के उपरान्त प्रज्वलित गृह्य अग्नि में गृह्य क्रिया-संस्कार किये जाने चाहिए, यथा—प्रातः एवं सायं के होम, पञ्चमहायज्ञ, प्रतिदिन भोजन पकाना। संग्रह ने धर्म को अग्निहोत्र करने के अर्थ में लिया है, किन्तु स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० २९१) एवं व्यवहारप्रकाश (पृ० ४३७-४३८) ने इसे स्वीकार नहीं किया है और उनका कहना है कि संयुक्त रहने पर कोई भी सहभागी सभी श्रौत एवं स्मार्त यथा अग्निहोत्र के कर्म संयुक्त सम्पत्ति की सहायता से कर सकता है, धर्म का अर्थ है केवल देवपितृद्विजार्चन। व्यास ने भी नारद एवं बृहस्पति की बात दुहरायी है।

सामान्यतः बालिग होने पर ही विभाजन होता था, किन्तु कौटिल्य (३।५), बौधायन (२।२।४२) एवं कात्यायन (८४४-४५) से प्रकट होता है कि अप्राप्तव्यवहारता (बाल दशा या नाबालिग होना) विभाजन के लिए बन्धन नहीं था। कौटिल्य (३।५) का कथन है—जब सहभागी प्राप्तव्यवहार (बालिग) हो जाते हैं तो विभाजन होता है, किन्तु सहभागियों (अलग होनेवाले सदस्य अथवा रिक्थभागी) को चाहिए कि अप्राप्तव्यवहार वालों (नाबालिगों) के भाग को उनकी माता के सम्बन्धियों (बन्धुओं के) संरक्षण में या ग्रामवृद्धों के संरक्षण में ऋण के सभी भागों को चुका देने के उपरान्त तब तक रख दें जब तक वे प्राप्तव्यवहार न हो जायें। कात्यायन ने व्यवस्था दी है कि सांसारिक बातों की समझदारी आ जाने पर सहभागियों में विभाजन होना चाहिए और यह व्यवहारिता (समझदारी) पुरुषों में १६वें वर्ष में आ जाती है। जो लोग अभी अप्राप्तव्यवहार हैं उनकी संयुक्त कुल की सम्पत्ति को व्यय-निर्मुक्त (ऋण आदि से मुक्त) करके प्राप्त-व्यवहार वालों द्वारा उनके बन्धुओं या मित्रों के यहाँ रख दिया जाना चाहिए। यही बात उनके साथ भी होनी चाहिए जो बाहर चले गये हों।[२४] इससे स्पष्ट है कि अप्राप्त-व्यवहारता की अवस्था में भी विभाजन की व्यवस्था थी और एक सहभागी की माँग पर भी विभाजन होता था, जैसा कि रामचन्द्र (३।१६ १७) व्यवहारप्रकाश आदि में वर्णित है।

प्राप्तव्यवहारता सोलहवें वर्ष के आरम्भ में होती थी या उसके अन्त में, इस विषय में मतैक्य नहीं है। नारद (३।१५) के मत से सोलहवें वर्ष तक व्यक्ति बाल रहता है। मिताक्षरा द्वारा उद्धृत अंगिरा एवं गौतम (२।१ इसको द्वारा उद्धृत) के वचनों से पता चलता है कि व्यक्ति सोलहवें वर्ष के आरम्भ तक बाल रहता है।[२५] कात्यायन के अनुसार बाल्यावस्था सोलहवें वर्ष के आरम्भ में समाप्त हो जाती है। बहुत-से टीकाकारों ने भी यही बात कही है

२३. अनीप्सितेषु अविभक्तैकार्थेषु चाग्निहोत्रादनुष्ठानसमर्थेषु च विभाग एव न्याय्यम्। अपरार्क पृ० ७२१। धर्म पितृदेवद्विजार्चनलक्षण। उक्तं च तत्रैव संग्रहकारेण। क्रियते धर्मो विभागेन पृथक् पृथक् पृथक् ततः। स्वस्मै इति प्रयोगे तत्साध्यत्वात् पृथक् क्रिया॥ धर्मार्थिनो स्वतात्स्याग्निहोत्राद्यस्य इति चेत्। अत्रोच्यते ... आदि। स्मृतिच० २ पृ० २९१। तस्मात् पञ्चमहायज्ञादिकर्म एव धर्मशब्देनात्र ग्राह्यम्। व्य० प्र० पृ० ४३८ ... प्रत्युत तत् पुण्यापुण्ये कर्मणि सर्वेषां समानाधिकारम्। वाक्यतत्त्व पृ० १९४।

२४. प्राप्तव्यवहाराणां विभागः। अप्राप्तव्यवहाराणां देयविशुद्धं मातृबन्धुषु ग्रामवृद्धेषु वा स्थापयेयुरा व्यवहारप्रापणात् प्रोषितस्य वा। अर्थशास्त्र (३।५) और देखिए बौधा० (२।२।४२)। तथाप्राप्तव्यवहाराणां विभागस्य विधीयते। पुंसां च षोडशे वर्षे जायते व्यवहारिता॥ अप्राप्तव्यवहाराणां च धर्मं व्ययविवर्जितम्। न्यसेयुर्बन्धुमित्रेषु प्रोषितानां तथैव च॥ कात्यायन (८४४-८४५)।

२५. बाल आ षोडशाद्वर्षात् पौगण्ड इति शब्द्यते। नारद (ऋणादान ३५)। अतीन्द्रियस्य ... बाल आ षोडशात्। प्राग्विचारात् ... स्त्रियो रोगिण एव च॥ इत्यङ्गिरःस्मरणात्। मिताक्षरा (याज्ञ० २।२४३)।

किन्तु कुछ लोगों ने, यथा हरदत्त (गौ० १०।४८), विवादरत्नाकर (पृ० ५९९), व्यवहारप्रकाश (पृ० २६३) ने स्पष्ट रूप में कहा है कि बालपन का अन्त सोलहवें वर्ष के अन्त में होता है।[२६] गौतम (१०।४८-४९), मनु (८।२७), वसिष्ठ० (१६।८), विष्णु (३।६५) के मत में नाबालिगों, स्त्रियों एवं निर्बलों की सम्पत्ति की रक्षा का भार राजा पर था। आजकल विवाहों, यौतकों (स्त्री-धनों), तलाकों एवं गोद के अतिरिक्त अन्य बातों में प्राप्तव्यवहारता अठारहवें वर्ष (कुछ मामलों में इक्कीसवें वर्ष) में मानी जाती है। किसी सहभागी की स्त्री के गर्भवती रहने पर भी विभाजन होता था और इसी से वसिष्ठ (१७।४) ने सहभागियों की गर्भवती पत्नियों के बच्चा जनने तक विभाजन को स्थगित करने की व्यवस्था दी है और मनु (९।२१६) ने पिता और पुत्रों के बीच विभाजन के उपरान्त भी उत्पन्न हुए पुत्र को भाग देने की व्यवस्था दी है।

अब आगे का प्रश्न है, किस प्रकार की सम्पत्ति का विभाजन होना चाहिए। इस प्रश्न पर विचार करने के पूर्व सम्पत्ति के विषय में कुछ चर्चा कर देना आवश्यक है। अधिकांश स्मृतियों में सम्पत्ति दो प्रकार की कही गयी है, **स्थावर** (यथा—भूमि-खण्ड एवं घर) एवं **जंगम**। देखिए बृहस्पति एवं कात्यायन (५१६)। याज्ञ० (२।१२१) तथा कुछ स्मृतियों में इसके तीन प्रकार कहे गये हैं, भू (भूमि-खण्ड एवं घर), निबन्ध एवं द्रव्य (सोना, चाँदी तथा अन्य चल सम्पत्ति)।[२७] कभी-कभी द्रव्य शब्द सभी प्रकार की सम्पत्तियों का द्योतक माना गया है, चाहे वे चल हों या अचल (द्रव्ये पितामहोपात्ते जंगमे स्थावरे तथा—बृहस्पति)। प्राचीन भारतीय व्यवहार (कानून) के अनुसार सम्पत्ति दो कोटियों में बाँटी गयी है, (१) **संयुक्त कुल-सम्पत्ति** तथा **पृथक्सम्पत्ति**। संयुक्त कुल-सम्पत्ति या तो पैतृक होती है या पैतृक सम्पत्ति की सहायता या बिना उसकी सहायता के संयुक्त रूप में अर्जित होती है या अलग-अलग अर्जित होने पर संयुक्त कर ली जाती है (मनु ९।२०४)। और देखिए मिताक्षरा (याज्ञ० २।१२०)। पैतृक सम्पत्ति को **अप्रतिबन्ध दाय** भी कहते हैं और यह वह है जिसे कोई पुरुष अपने पिता, पितामह, प्रपितामह से दाय रूप में प्राप्त करता है और जिसे मिताक्षरा सम्प्रदाय के अनुसार पानेवाले के पुत्र, पौत्र एवं प्रपौत्र जन्म से प्राप्त करते हैं। **पृथक्सम्पत्ति** में स्वार्जित सम्पत्ति भी सन्निहित मानी जाती है, जिस पर हम आगे विचार करेंगे। यदि कोई व्यक्ति विभाजन द्वारा पैतृक सम्पत्ति से कोई अंश पाता है, तो ऐसा माना गया है कि वह उसकी पृथक्सम्पत्ति कहलाएगी, जब कि उसके पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र न हों, किन्तु इनमें से यदि कोई हो तो वह उसके तथा उसके अन्य उत्तराधिकारियों के लिए पैतृक सम्पत्ति कहलाएगी। दायभाग सम्प्रदाय के अन्तर्गत पुत्र जन्म से ही पैतृक सम्पत्ति पर अधिकार नहीं रखता, अतः जहाँ तक पिता को विघटन-सम्बन्धी अधिकार प्राप्त है, पैतृक सम्पत्ति एवं पृथक्सम्पत्ति में कोई अन्तर नहीं है। इस सम्बन्ध में हमने ऊपर देख लिया है और थोड़ा-बहुत आगे लिखा जायगा।

मिताक्षरा के अनुसार संयुक्त सम्पत्ति का सदस्य होते हुए और उसमें अभिरुचि रखते हुए भी कोई व्यक्ति

२६. यावदसौ व्यवहारप्राप्तः षोडशवर्षो भवति। हरदत्त (गौ० १०।४८), पुत्राधिकारे बौधायनः, तेषाम् प्राप्तव्यवहाराणाम्०। आङ् अभिविधौ, तेन सप्तदशवर्षात्प्राक्। विवादरत्नाकर (पृ० ५९९), कात्यायनोपि—नाप्राप्तव्यवहारैस्तु० इति नाप्राप्तव्यवहारं हेयोपादेयपरिज्ञानविशेषसहितं षोडशवर्षैरित्यर्थः। षोडश-वार्षिकस्य व्यवहारज्ञत्वमाह। गर्भस्थैः आदि (नारद ४।३५)। व्यवहारप्रकाश (पृ० २६३)।

२७. 'निबन्ध' शब्द का अर्थ है रुपये-पैसे या अन्न या अन्य वस्तुओं के रूप में वह आवधिक शुल्क या चुकती या दान, जो राजा द्वारा या संघ द्वारा या ग्राम द्वारा या किसी जाति द्वारा किसी व्यक्ति, कुल, मठ या मन्दिर को स्थायी रूप में मिलता है (बंधान)। यजमान-वृत्ति भी निबन्ध ही है।

किसी ऐसे व्यक्ति से दान या भेंट पाता है जिसे कुल-सम्पत्ति के व्यय द्वारा कृतज्ञ किया गया था, यदि कोई सम्पत्ति श्वशुर द्वारा दी गयी भेंट के रूप में मिलती है और श्वशुर ने यदि विवाह में दी गयी लड़की के लिए कुल-सम्पत्ति में कुछ लिया था (जैसा कि आसुर विवाह में होता है) या यदि नष्ट हुई सम्पत्ति जब पैतृक सम्पत्ति की सहायता से पुनः प्राप्त की गयी या यदि कोई पैतृक सम्पत्ति की सहायता से विद्यार्जन करके विद्या-धन प्राप्त करता है तो इस प्रकार के धन अन्य सदस्यों में भी विभाजित होते हैं। इस अर्थ द्वारा बिना कुल-सम्पत्ति की हानि किये किसी अन्य से प्राप्त धन भी अन्य सदस्यों में विभाजित होना चाहिए। किन्तु मिताक्षरा की इस व्याख्या को दायभाग (६।१।८, पृ० ६), दीपकलिका, विश्वरूप, व्यवहारप्रकाश (पृ० ५०१) एवं अपरार्क (पृ० ७२३) ने नहीं स्वीकार किया है।

यदि आपत्तियों के कारण कुल-सम्पत्ति नष्ट हो गयी हो और उसे किसी सदस्य ने अपने प्रयास से (बिना कुल-सम्पत्ति के उपयोग के) ग्रहण किया हो तो उसके विषय में कुछ विशिष्ट व्यवस्थाएँ अवलोकनीय हैं। मनु (९।२०९), विष्णु० (१८।४३), बृहस्पति एवं कात्यायन (८६६) ने एक विशेष नियम यह दिया है कि यदि इस प्रकार नष्ट हुई सम्पत्ति को पिता अपने प्रयास से (बिना कुल-सम्पत्ति का व्यय किये) पुनर्ग्रहण करता है तो वह उसे सम्पूर्ण रूप से स्वार्जित-जैसी रख लेगा। याज्ञ० (२।११९) का नियम केवल वहाँ प्रयुक्त होता है जहाँ कोई अन्य सदस्य (पिता नहीं) बिना कुल-सम्पत्ति की सहायता के नष्ट सम्पत्ति ग्रहण करता है (ऐसी स्थिति में वह सम्पत्ति उस सदस्य की स्वार्जित मानी जायगी)। किन्तु यदि उस प्रकार किसी सदस्य द्वारा (पिता नहीं) सम्पत्ति भूमि के रूप में पुनर्ग्रहण की गयी हो तो उसे केवल उसका एक-चौथाई प्राप्त होता है (शङ्ख के मत द्वारा) और शेष सभी सदस्यों को (पुनर्ग्रहण करनेवाले को भी) बराबर-बराबर मिल जाता है। यह नियम आज कल भी लागू होता रहा है।

विद्याधन को आरम्भिक काल में ही मान्यता प्राप्त हो गयी थी, किन्तु तब से अब तक इसमें बहुत परिवर्तन हो गया है। इसके विषय में आपस्तम्ब० एवं बौधायन० मौन हैं, किन्तु गौतम० (२८।२८-२९) ने कहा है कि सभी सदस्य यदि पढ़े-लिखे न हों (विद्वान् न हों) तो कृषि आदि द्वारा जो कुछ उनसे उपार्जित होता है उसमें सबका बराबर बराबर भाग होता है, किन्तु यदि कोई विद्वान् सदस्य अपनी विद्या से कुछ अर्जित करता है तो यदि वह चाहे तो उसे अन्य अविद्वान् भाइयों में नहीं बाँट सकता। हरदत्त का कथन है कि यह नियम केवल संयुक्त भाइयों के लिए ही प्रयुक्त होता है। वसिष्ठ (१७।५१) ने स्वार्जित धन के दो भाग उपार्जनकर्ता को दिये हैं। किन्तु इनका नियम आरम्भिक अवस्था का द्योतक है जब कि स्वार्जित धन को कोई सम्पूर्णता से अपना नहीं सकता था, उसे केवल दो भाग मिलते थे और शेष संयुक्त परिवार के अन्य सदस्यों को सम भाग के रूप में मिलते थे। मनु (९।२०६), याज्ञ० (२।११९), नारद (दायभाग १०), कात्यायन (८६८) एवं व्यास ने विद्याधन को सामान्यतः विभाजन के समय विभाजित करने योग्य नहीं ठहराया है। इस विषय में कात्यायन ने बड़ी लम्बी व्याख्या दी है जिस पर आगे चलकर सम्बन्धित बातों के साथ विवेचन होता रहेगा। कुछ स्मृतियों ने उस विद्याधन को विभाजन योग्य ठहराया है जो ऐसे व्यक्ति का हो जो कुल के धन के व्यय से पढ़ा हो (नारद, दायभाग १०) या जब उसने घर में ही अपने पिता या किसी भाई से शिक्षा ग्रहण की हो (कात्यायन ८७४)। दायभाग (६।७।४२-४९) ने श्रीकर (याज्ञ० २।११८) के मतों का विस्तार से वर्णन किया है और उनका विरोध करते हुए यह लिखा है कि व्यक्ति जन्म-काल से ही अपनी जीविका के लिए कुल पर निर्भर रहता है, अतः यह कहना कि उस पर पैतृक सम्पत्ति नहीं खर्च की गयी, भ्रामक सिद्ध हो जाता है, अतः उसके द्वारा उपार्जित धन विभाजित होना चाहिए और इस विषय में मनु (९।२०८) के वचन में कोई सार्थकता नहीं है। अतः विश्वरूप के कथन में सम्पत्ति की हानि से भोजन और अन्य जीविका निर्वाह-सम्बन्धी व्यय का तात्पर्य नहीं है, बल्कि उसका तात्पर्य यह है कि वही सम्पत्ति स्वार्जित है जो अपने श्रम से बिना कुल-सम्पत्ति का व्यय किये प्राप्त की गयी हो।

मनु (९।२१९=विष्णु १८।४४) का कथन है, "वस्त्र, पत्र (यान), अलकार, पके भोजन, जल (कूप आदि), स्त्रियो एव प्रचार या मार्ग (रास्ता) का विभाजन नही होता।"[२८] यदि वस्त्र बहुमूल्य एव नये न हो, तो सभी टीकाकारो के मत से वे ऐसे वस्त्र हैं जिन्हे सदस्य लोग प्रति दिन प्रयोग मे लाते हैं। यही बात यानो एव अलकारो के विषय मे भी कही गयी है। 'प्रचार' का तात्पर्य या तो "घर, वाटिका आदि की ओर जानेवाले मार्ग" (मिताक्षरा, अपरार्क एव व्यवहारप्रकाश) है या गायो आदि के लिए मार्ग या चरागाह" (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २७७, कुल्लूक) है। मिताक्षरा (याज्ञ० २।११८-११९) ने बृहस्पति का एक नियम उद्धृत किया है, जिसके अनुसार पिता द्वारा प्रयुक्त वस्त्र, अलकार, शय्या, यान आदि मृत्यु के उपरान्त श्राद्ध के समय आमन्त्रित ब्राह्मण को दिये जाने चाहिए। कप का उपयोग बारी-बारी से होना चाहिए, न कि मूल्य लगाकर उसका बँटवारा होना चाहिए। यदि नौकरानी (रखैल नही) एक ही हो तो उससे बारी-बारी से काम लेना चाहिए, यदि कई हो तो उनका बँटवारा हो सकता है या उनके मूल्य का बँटवारा हो सकता है।

योगक्षेम शब्द बहुत प्राचीन काल से कई अर्थों मे लिया जाता रहा है। मिताक्षरा ने लौगाक्षि को उद्धृत कर व्यक्त किया है कि **योगक्षेम** का अर्थ है श्रौत एव स्मार्त अग्नि मे किये गये यज्ञ आदि कर्म तथा दानदक्षिणा-सम्बन्धी कर्म, यथा कूप, वापी आदि का निर्माण। देखिए **इष्ट** एव **पूर्त** तथा मिताक्षरा द्वारा प्रयुक्त योगक्षेम के अर्थ के लिए इस ग्रन्थ का भाग २, अध्याय ३, २५ एव २६। 'योग' एव 'क्षेम' शब्द ऋग्वेद (७।८६।८, १०।८९।१०, १०।१६६।५), तैत्तिरीय सहिता (३।९।१९।३) एव ऐतरेय ब्राह्मण (३७।२) मे भी आये हैं। मिताक्षरा ने लिखा है कि कुछ लोगो के मत से 'योगक्षेम' का अर्थ है "राजमन्त्री एव राजपुरोहित आदि" जो प्रजा का कल्याण-कार्य करते हैं तथा कुछ लोगो के मत से इसका अर्थ है "छत्र, चमर, शस्त्र, जूता आदि"।[२९] गौतम (९।६२ एव ११।१६) से पता चलता है कि **योगक्षेम** का अर्थ है "आनन्दप्रद जीवन" या "जीविका के सरल एव सुखद मार्ग (विशेषत विद्वान् ब्राह्मण के लिए)" और यह अर्थ उनके पहले से प्रयुक्त होता रहा है। विवादरत्नाकर (पृ० ५०४) का कथन है कि प्रकाश के मत से **योगक्षेम** का अर्थ है "राजकुल मे पिता से पुत्र तक चला आता हुआ जीविका-साधन" तथा हलायुध के मत से 'योग' का अर्थ है पोत या नौका तथा 'क्षेम' का अर्थ है दुर्ग। स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० २७७) ने लौगाक्षि को उद्धृत कर एक वैकल्पिक अर्थ यह दिया है—"योगक्षेम का तात्पर्य है वह धन जो किसी विद्वान् ब्राह्मण द्वारा किसी धनी व्यक्ति के यहाँ रहने से जीविका के रूप मे प्राप्त किया जाता है।"[३०]

२८ वस्त्र पत्रमलकार कृतान्नमुदक स्त्रिय । योगक्षेमप्रचार च न विभाज्य प्रचक्षते॥ मनु (९।२१९), विष्णु ने "न विभाज्य च पुस्तकम्" ऐसा पढा है। इससे स्पष्ट है कि विष्णु से मनु पुराने हैं। 'पत्र', 'योगक्षेम' एव 'प्रचार' के कई अर्थ किये गये हैं। नन्दन के अतिरिक्त मनु के अन्य टीकाकारो ने 'पत्र' को 'यान' (घोडा, गाडी आदि) के अर्थ मे लिया है। नन्दन ने इसे 'पात्र' पढा है। अपरार्क (पृ० ७२५), विवादरत्नाकर (५०४), मदनपारिजात (पृ० ६२५) ने 'पत्र' को ऋण के लेख्यप्रमाण के रूप मे लिया है।

२९ योगक्षेमशब्देन योगक्षेमकारिणो राजमन्त्रिपुरोहितादय उच्यन्त इति केचित्। छत्रचामरशस्त्रोपानत्प्रभृतय इत्यन्ये। मिता० (याज्ञ० २।११९)।

३० योगक्षेम पितृक्रमेण राजकुलावाप्तमुपजीव्यमिति प्रकाश । हलायुधस्तु योगो योगहेतुर्नौकादि क्षेम क्षेमहेतुर्दुर्गादीत्याह। विवादरत्नाकर (५०४)। अथवा योगक्षेमार्थमुपासितेश्वरसकाशाद् यो रिक्थाना लाभ स एवात्र योगक्षेमशब्देनोच्यते। स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० २७७, गौतम (९।६३) एव विष्णु (६३।१) मे आया है "योगक्षेमार्थमीश्वरमधिगच्छेत्।"

कौटिल्य (३।५) का कथन है कि जो आचार्य कहते हैं कि दरिद्र लोग अपने पात्रपात्रों को भी बाँट सकते हैं, वे विरोधी बातें करते हैं। कात्यायन (८८२-८८४) ने बहुत-सी वस्तुओं को अविभाज्य ठहराया है, यथा—"वह धन जो धार्मिक उपयोग के लिए अलग कर दिया गया है और उसका उल्लेख पत्र में लेख प्रमाण के रूप में कर दिया गया है, वस्त्र, स्त्रियाँ, निबन्ध (आवधिक दाम) जो दाय के रूप में चलता आया है, वस्त्र (प्रति दिन काम में लाये जानेवाले), अलंकार तथा वस्तुएँ जो विभाजन के योग्य नहीं हैं एक साथ (संयुक्त रूप में) उचित समय पर उपयोग में लायी जानी चाहिए। चरागाह, मार्गों प्रति दिन उपयोग में वस्त्र, उधार दिये गये धन, धार्मिक कार्य के लिए निर्दिष्ट धन आदि का बँटवारा नहीं होना चाहिए।" ये बृहस्पति के वचन हैं।

बृहस्पति ने अविभाज्य वस्तुओं के विषय में बहुत-कुछ कहा है। उन्होंने मनु (९।२१९) की आलोचना की है और कहा है कि वस्त्र, अलंकार आदि भी विभाज्य हैं। वे कहते हैं—'जो लोग वस्त्रादि को अविभाज्य मानते हैं उन्होंने ठीक-से विचार नहीं किया है। धनिकों के लिए उनके वस्त्र एवं आभूषण ही धन का रूप पा सकते हैं। यदि ये वस्तुएँ संयुक्त रखी जायँ (विभाजित न हों) तो उनसे जीविका नहीं चल सकती, उन्हें किसी एक ही सदस्य को नहीं दिया जा सकता। उनका दक्षता के साथ विभाजन होना चाहिए, नहीं तो वे निरर्थक सिद्ध होंगी। वस्त्रों एवं अलंकारों का विभाजन बेचकर (किसी के हाथ बेचकर) किया जा सकता है, लिखित ऋण को प्राप्त कर बाँट देना चाहिए। पके भोजन को कच्चे भोजन से परिवर्तित कर बाँटा जा सकता है। सीढ़ियों वाले कूपों अर्थात् बावलियों एवं अन्य कूपों को आवश्यकतानुसार उपयोग में लाना चाहिए। इसी प्रकार क्षेत्र (खेत) एवं सेतु (बाँध) को भाग के अनुसार बाँट देना चाहिए। भाग के अनुसार ही एक ही नौकरानी से कार्य लेना चाहिए, यदि कई हों तो उनका बराबर-बराबर बँटवारा होना चाहिए। यही नियम पुरुष नौकरों के लिए भी है। गोचर वाले स्थान से प्राप्त धन सम भाग में बाँट देना चाहिए। चरागाह या आने-जाने के मार्गों का उपयोग भाग के अनुसार ही होना चाहिए। देखिए अपरार्क (पृ० ७२१), स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० २७०) एवं विवादरत्नाकर (पृ० ५५५-६)।

अब आगे के विचारणीय विषय हैं—किन लोगों में विभाजन होना चाहिए? विभाजन की विधि क्या है? किन्तु और कुछ कहने के पूर्व हिन्दू व्यवहार (कानून) में प्रयुक्त होनेवाले कुछ शब्दों के विषय में कुछ बतला देना आवश्यक है। स्मृतियों एवं टीकाओं में कुटुम्ब (नारद, दत्ताप्रदानिक ६, या याज्ञ० २।१७५) या अविभक्त-कुटुम्ब (याज्ञ० २।४५) शब्द आये हैं। एक संयुक्त हिन्दू परिवार में वे सभी पुरुष आते हैं जो किसी एक पुरुष पूर्वज के उत्तराधिकारी होते हैं, उनके साथ उनकी पत्नियाँ एवं कुमारी कन्याएँ भी सम्मिलित रहती हैं। विवाहोपरान्त कन्या पिता के परिवार की न होकर अपने पति के परिवार की सदस्य हो जाती है। मिताक्षरा के अन्तर्गत समांशी परिवार संयुक्त परिवार से अपेक्षाकृत संकीर्ण अर्थ रखता है। इसमें केवल वे ही पुरुष सदस्य सम्मिलित होते हैं जो जन्म से ही संयुक्त अथवा समांशी का अधिकार रखते हैं, यथा—स्वयं व्यक्ति, उसके पुत्र, उसके पुत्रों के पुत्र, पुत्रों के पौत्र। देखिए निम्न चित्र—

११. बृहस्पति ने सामान्यतः मनु को बहुत ऊँची दृष्टि से देखा है, यथा—वेदार्थोपनिबन्धृत्वात् प्रामाण्यं तु मनुस्मृतौ। मन्वर्थविपरीता या स्मृतिः सा न प्रशस्यते॥ देखिए अपरार्क (पृ० ९२८) एवं कुल्लूक (मनु १।१)। किन्तु यहाँ पर उन्होंने मनु (९।२१९) की [illegible] आलोचना की है।

इस चित्र मे क ख ग आदि पुरुष हैं। क तथा उसके पुत्र ख एव ग समागी हो सकते हैं। इसी प्रकार यदि ख एव ग प्रत्येक को एक पुत्र हो, तो क ख ग, घ, ङ सहभागी होंगे। यदि घ एव ङ मे प्रत्येक को क्रम से च एव छ पुत्र हो तो क से लेकर छ तक सभी सहभागी होंगे। किन्तु यहाँ पर सीमा रुक जाती है। यदि क के जीते-जी ज की उत्पत्ति हो जाय तो वह क के पुत्र का प्रपौत्र होने के कारण जन्म से सहभागी न होगा और क के जीवनकाल तक वैसा ही रहेगा। किन्तु यदि वह क की मृत्यु के उपरान्त उत्पन्न हो जाय तो वह ख घ च के साथ सहभागी हो जायगा। मान लीजिए, क के पूर्व ही ख की मृत्यु हो जाय, तो वैसी स्थिति मे क के जीवित रहने तक ज सहभागी नही होगा, क्योकि ज के क के पुत्र के प्रपौत्र होने के नाते च का क की पैतृक सम्पत्ति मे जन्म से ही अधिकार न होगा। मान लीजिए क के जीवन काल मे ही ख, ग, घ, ङ, च एव छ सवकी मृत्यु हो जाय तो केवल क ही सम्पूण सम्पत्ति का स्वामी होगा, उसके साथ ज का कोई भाग न होगा, क्योकि वह पाचवी पीढी (क से गिनने के कारण) मे होगा। मान लीजिए क जो एक मात्र अधिकारी है, मर जाता है, तो ज क की सारी सम्पत्ति उत्तराधिकारी के रूप मे पा जायगा।

सहभागिता केवल व्यवहार (कानून) की सृष्टि है, दलो के कार्य द्वारा इसकी उत्पत्ति नही हो सकती। हाँ, गोद लेने से ऐसा हो सकता है। विभाजन मे भाग लेने की योग्यता जन्म से अधिकार रखने वाले पुरुष स्वामी से चौथी पीढी तक पायी जाती है।

मिताक्षरा द्वारा उपस्थापित सहभागिता के कुछ विशिष्ट लक्षण, सक्षेप मे, निम्न हैं। पहली बात यह है कि इसमे **स्वामित्व की एकता** पायी जाती है, अर्थात् सभी सहभागी एक साथ स्वामी होते हैं, कोई सदस्य परिवार के अविभाजित रहते यह नही कह सकता कि उसका कोई निश्चित भाग (हिस्सा) है, क्योकि उसका सम्पत्ति-भाग मृत्युओ से बढ़ सकता है जन्मो से घट सकता है। दूसरी विशेपता है **भोग एव प्राप्ति की एकता**, अर्थात् सभी को कुल-सम्पत्ति के भोग एव स्वामित्व का अधिकार है, और एक मे निहित भोग (भुक्ति या अधिकार) साधारणत सवकी ओर से माना जाता है। तीसरी बात यह है कि जब तक परिवार सयुक्त है और कुछ हिस्सेदारो के बहुत वाल-बच्चे हैं, कुछ के कोई नही हैं या कुछ लोग अनुपस्थित हैं, तो विभाजन के समय कोई यह नही कह सकता कि कुछ लोगो ने सम्पत्ति खाली कर दी और न यही पूछा जा सकता कि आय-व्यय का व्यौरा क्या रहा है। कात्यायन (८८८) ने यह वात स्पष्ट रूप से कही है। चौथी विशेपता यह है कि किसी सहभागी की मृत्यु पर उसका भाग समाप्त हो जाता है और अन्यो को प्राप्त हो जाता है, किन्तु यदि मृत व्यक्ति के पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र हो तो उन्हे विभाजन के समय भाग मिलते हैं। स्त्री को सहभागिता नही प्राप्त होती, चाहे वह पत्नी हो या माता। पाँचवी विशेपता यह है कि प्रत्येक सहभागी विभाजन की माँग कर सकता है। कुल के कार्यो की व्यवस्था पिता करता है। यदि वह वढ़ा हो या मर जाय तो ज्येष्ठ पुत्र या कोई अन्य सदस्य ज्येष्ठ सदस्य की सहमति से कार्य-भार सँभाल सकता है (नारद, दायभाग ५, एव शख)। आजकल ऐसे व्यवस्थापक को कही-कही कर्ता कहा जाता है, किन्तु स्मृतियो एव निवन्धो मे इसे **कुटुम्बी** (याज्ञ० २।४५), **गृही, गृहपति, प्रभु** (कात्या० ५४३) की सज्ञाएँ मिली हैं। इसे आपत्तिकाल (ऋण आदि लेने) मे परिवार के कल्याण (जीविका, शिक्षा, विवाहादि) के लिए तथा विशेपत श्राद्ध आदि धार्मिक कृत्यो मे वन्धक रखने, वेचने, दान देने आदि का अधिकार प्राप्त रहता है। पिता को व्यवस्थापक का अधिकार एव कुछ अन्य विशिष्ट अधिकार प्राप्त होते हैं जो किसी सहभागी को प्राप्त नहीं होते। पिता यदि चाहे तो पुत्रो को अपने से या उनकी इच्छा

के न रहते हुए भी अलग कर सकता है (याज्ञ० २।११४)। किन्तु कोई अन्य सहभागी ऐसा नहीं कर सकता है, वह यदि चाहे तो अपने को परिवार से अलग कर सकता है। पिता सीमा के भीतर पैतृक चल सम्पत्ति से कर्तव्य एवं धार्मिक काम या स्मृतियों द्वारा निर्धारित दान (पत्नी, पुत्री या पुत्र को स्नेह-दान) तथा परिवार-पालन के लिए (आपत्ति-काल में) व्यय आदि बिना पुत्रों से पूछे भी कर सकता है। किन्तु सीमा के भीतर वह अचल सम्पत्ति से भी पुनीत कार्य (परिवार की वृत्ति या मन्दिर-मूर्ति या अन्त्येष्टिक्रिया के समय मूर्ति-स्थापना आदि के लिए) कर सकता है। पिता अपने लिए लिया गया ऋण देने के लिए (यदि ऋण अवैधानिक एवं अनैतिक कार्यों के लिए न लिया गया हो तो) संयुक्त परिवार की सम्पत्ति बेच सकता है या बन्धक रख सकता है। मिताक्षरा के मत से कोई सहभागी बिना अन्य सहभागियों की सहमति के अविभाजित भाग को दान, बिक्री या बन्धक के रूप में दे नहीं सकता। यह एक अन्य विशेषता है जो मिताक्षरा के मत से संयुक्त हिन्दू परिवार में पायी जाती है। यह बात बृहस्पति ने भी कही है। किन्तु आधुनिक काल में बम्बई, मद्रास, मध्य प्रदेश की अदालतों ने इस नियम में ढिलाई दे दी है, अर्थात् सहभागी अपना अविभाजित भाग बन्धक रूप में दे सकता है, बेच सकता है और ऋणदाता अपना ऋण लेने के लिए उसके संयुक्त परिवार से नियमानुकूल माँग कर सकता है। यह एक गम्भीर परिवर्तन है। संयुक्त परिवार के सदस्यों का एक अधिकार यह भी है कि वे अपनी जीविका के लिए संयुक्त सम्पत्ति पर अपना अधिकार रखते हैं।

दायभाग के अन्तर्गत उपर्युक्त विषयों में मिताक्षरा से सर्वथा भिन्न मत पाया जाता है। इसके अनुसार पुत्रों को पैतृक सम्पत्ति पर जन्म से अधिकार नहीं प्राप्त होता, वे पिता की मृत्यु के उपरान्त ही सर्वप्रथम दाय के अधिकारी होते हैं। स्पष्ट है, इसमें मिताक्षरा के अर्थ में पिता एवं पुत्रों के बीच किसी प्रकार की सहभागिता नहीं पायी जाती। पिता को पैतृक सम्पत्ति बेच देने, बन्धक रखने, दान में देने या इच्छानुसार किसी भी प्रकार उसे व्यय कर देने का सम्पूर्ण अधिकार है। उसके जीवन-काल तक पुत्रों को विभाजन के लिए माँग करने का कोई अधिकार नहीं है। पिता के मर जाने पर उसके पुत्रों या पौत्रों में सहभागिता के अधिकार का उदय होता है, अर्थात् सभी भाइयों, चाचाओं एवं भतीजों या चचेरे भाइयों में सहभागिता आ जाती है। यदि कोई सहभागी पुत्रहीन ही मर जाता है तो अन्य सहभागियों को उसका अधिकार नहीं मिलता, प्रत्युत मृत व्यक्ति की विधवा या पुत्री उसका भाग प्राप्त कर सकती है। अतः दायभाग के अन्तर्गत स्त्रियों को भी सहभागिता की सदस्यता प्राप्त हो जाती है। दायभाग के मत से प्रत्येक हिस्सेदार को निश्चित भाग की उपलब्धि होती है (अनिश्चित भाग नहीं, जैसा कि मिताक्षरा में पाया जाता है)। दायभाग के अनुसार कोई भी सहभागी अपना भाग बेच सकता है, उसको बन्धक रख सकता है या उसका दान कर सकता है या स्वेच्छा से किसी को दे सकता है (दायभाग २।२८।११)।

विभाजन होने पर प्रत्येक सहभागी को एक भाग मिलता है। बम्बई प्रान्त में यदि पिता अपने पिता, भाइयों या अन्य सहभागियों से अलग हो और पुत्र के अधिकार की स्वीकृति नहीं दे तो उसके पुत्र को विभाजन का अधिकार नहीं मिलता। यदि लड़का अभी गर्भ में हो और विभाजन हो रहा हो तो उसे स्मृतियों ने अधिकार दे रखा है। यदि क तथा उसके पुत्र ख, ग, घ (जो संयुक्त परिवार के सदस्य हैं) विभाजन करें और परिवार की सम्पत्ति का एक चौथाई प्रत्येक को मिले और इस भाग के उपरान्त यदि क की पत्नी को च पुत्र उत्पन्न हो जाय तो विभाजन-कार्य फिर से होगा और उसे पुन-सम्पत्ति का १/४ भाग (यदि माता को भाग मिला हो तो केवल १/५ भाग) मिलेगा। किन्तु इस अवधि में हुए सारे आय-व्यय का ब्यौरा ले लेने के उपरान्त ही बँटवारा होगा। यही नियम उन भाइयों के बीच में लागू होगा जब किसी मृत भाई की विधवा को, जो विभाजन के समय गर्भवती रही हो, पुत्र उत्पन्न हो जाय। देखिए याज्ञ० (२।१२२) एवं विष्णु (१७।१३)। इसी से वसिष्ठ (१७।४०-४१) ने व्यवस्था दी है कि यदि मृत भाइयों की पत्नियाँ गर्भवती हों तो पुत्रोत्पत्ति होने तक विभाजन-कार्य स्थगित रखना चाहिए। यदि विभाजन के उपरान्त पुत्र उत्पन्न हो या

गर्भ मे आ जाय तो गौतम (२८।२७), मनु (९।२१६), याज्ञ० (२।१२२), नारद (दायभाग ४४) वृहस्पति का कथन है कि उसे पिता को दिया गया भाग तथा विभाजन के उपरान्त पिता की स्वार्जित सम्पत्ति मिल जाती है।[३२]

वह दत्तक पुत्र, जो सयुक्त परिवार के किसी सहभागी द्वारा गोद लिया जाय या किसी एक मात्र भागी द्वारा गोद लिया जाय, मिताक्षरा व्यवहार के अनुसार सहभागिता का सदस्य हो जाता है तथा औरस पुत्र के समान ही विभाजन की माँग का अधिकारी होता है। दायभाग के अन्तर्गत पिता के रहते औरस पुत्र को विभाजन का अधिकार नही प्रा त रहता, दत्तक पुत्र की तो बात ही अलग है। यदि गोद लेने के उपरान्त औरस पुत्र की उत्पत्ति हो जाय तो दत्तक पुत्र का भाग, अधिकाश टीकाकारो के मत मे, कम हो जाता है। इस विषय मे हम आगे के अध्याय मे लिखेंगे।

पिता से हीन जाति की पत्नियो से उत्पन्न पुत्र एव पुत्रो के अधिकारो के विषय मे स्मृतियो एव मध्यकाल के निबन्धो में विस्तार के साथ विवेचन प्राप्त होता है, देखिए गौतम (२८।३३-३७), बौधायन (२।२।१०), कौटिल्य (३।६), वसिष्ठ (१७।१८-५०), मनु (९।१४९-१५५), याज्ञ० (२।१२५), विष्णु० (१८।१-३३), नारद (दायभाग १४), बृहस्पति, शख (व्यवहाररत्नाकर पृ० ५३१)। यहाँ पर विस्तार मे जाने की आवश्यकता नही, क्योकि कतिपय शताब्दियो से हीन जातियो के साथ विवाह की परम्पराएँ नही-सी पायी जाती रही हैं। दो-एक बातें यहाँ दी जा रही हैं। मनु (९।१५३), याज्ञ० (२।१२५) एव बृहस्पति के अनुसार यदि किसी ब्राह्मण को चारो जातियो से पुत्र हो तो सारी सम्पत्ति दस भागो मे बँट जाती है और निम्न रूप से बँटवारा होता है, ब्राह्मणी से उत्पन्न पुत्रो को चार भाग, क्षत्रिय पत्नी के पुत्रो को तीन भाग, वैश्य पत्नी के पुत्रो को दो भाग तथा शूद्रा पत्नी के पुत्रो को एक भाग। और देखिए मनु (९।१५४) एव अनुशासनपर्व (४७।२१)। मिताक्षरा (याज्ञ० २।१२५) का कथन है कि क्षत्रिय पत्नी के पुत्रो को दान से प्राप्त भूमि का भाग नही मिलता, किन्तु क्रय की हुई भूमि का भाग मिलता है। और देखिए व्यवहाररत्नाकर (पृ० ५३४) एव व्यवहारप्रकाश (पृ० ४६६)। कौटिल्य (३।६) एव बृहस्पति के अनुसार पारशव पुत्र को पिता की सम्पत्ति का १/२ भाग तथा निकटतम सपिण्ड को २/३ भाग मिलता है। और देखिए मेधातिथि (मनु ९।१५५)। मनु (९।१७८ एव १६०) के मत से शूद्रा पत्नी से उत्पन्न ब्राह्मण के पुत्र को शौद्र या पारशव कहा जाता है, किन्तु याज्ञ० (९।९१) ने इसे निषाद एव पारशव दोनो कहा है। किन्तु मनु (९।१८०) एव अन्य लोगो ने ऐसे पुत्र को गौण-पुत्रो मे परिगणित किया है। अपरार्क के उपरान्त के सभी लेखको ने शौनक के वचन उद्धृत कर कहा है कि बहुत-सी बातें कलिवर्ज्य हैं और इन्ही कलिवर्ज्य बातो मे, औरस एव दत्तक पुत्रो के अतिरिक्त, अन्य प्रकार के पुत्र भी हैं।[३३]

३२ पितृविभक्ता विभागान्तरोत्पन्नस्य भाग दद्यु। विष्णुधर्मसूत्र (१७।३), दृश्याद्वा तद्विभाग स्यादाय-व्ययविशोधितात्। याज्ञ० (२।१२२), जिस पर मिताक्षरा का यह कथन है—"एतच्च विभागसमयेऽप्रजस्य भ्रातुर्भार्यायामस्पष्टगर्भायां विभागादूर्ध्वमुत्पन्नस्यापि वेदितव्यम्। स्पष्टगर्भाया तु प्रसव प्रतीक्ष्य विभाग कर्तव्य। यथाह वसिष्ठ—अथ भ्रातृणां दायविभाग। याश्चानपत्या स्त्रियस्तासामा पुत्रलाभात्। इति", विभक्तज पित्र्यमेव। गौ० (२८।२७), पुत्रैः सह विभक्तेन पित्रा यत्स्वयमर्जितम्। विभक्तजस्य तत्सर्वमनीशा पूर्वजा स्मृता ॥ बृह० (मिताक्षरा, याज्ञ० २।१२२, हरदत्त, गौतम० २८।२७, स्मृतिच० २, पृ० ३-७, दायभाग ७, पृ० १३१, व्यव० मयूख पृ० १०४)।

३३ अतएव कलौ निवर्तन्ते इत्यनुवृत्या शौनकेनोक्तम् 'दत्तौरसेतरेषा तु पुत्रत्वेन परिग्रह' इति। अपरार्क (पृ० ७३९)। और देखिए पराशरमाधवीय (१।२, पृ० ८७), व्यवहारमयूख (पृ० १०७), 'अत्र दत्तकभिन्ना गौणा पुत्रा कलौ वर्ज्या। दत्तौरसेतरेषां तु पुत्रत्वेन परिग्रह इति तन्निषेधेषु पाठात्।'

कुछ परिस्थितियों में अनौरस पुत्र को अपने ज्ञात पिता की सम्पत्ति के विभाजन में अधिकार प्राप्त है। अनौरस पुत्र किसी रखैल (जो दासी है और लगातार साथ रहती आयी है) का पुत्र हो सकता है या वह ऐसी नारी का पुत्र हो सकता है जो दासी न हो। पहले की चर्चा पुत्र की संज्ञा मिली है और दूसरे का धर्मशास्त्र-ग्रन्थों में वर्णन नहीं-सा मिलता।[14] अति प्राचीन काल से यह व्यवस्था रही है कि द्विजों के दासीपुत्र को विभाजन या उत्तराधिकार का हक नहीं मिलना चाहिए, उसे केवल जीविका के साधन मात्र उपलब्ध होते हैं। गौतम (२८।३७) का कहना है कि शिष्य के समान आज्ञाकारी रहने पर शूद्रा रखैल के पुत्र को केवल जीवन-यापन के लिए अधिकार मिलता है, भले ही उसका ब्राह्मण पिता पुत्रहीन हो। यही बात पिता की मृत्यु के उपरान्त शूद्रापुत्र के लिए बृहस्पति ने भी कही है।[15] मनु (९।१७९) ने दासी से उत्पन्न शूद्रपुत्र को पिता की सम्पत्ति का भाग दिया है (यदि पिता चाहे तो ऐसा हो सकता है)। देखिए याज्ञ० (२।१३३-१३४), व्यवहारमयूख (पृ० १०३-१०४)। कुछ बातें निम्न हैं—(१) मिताक्षरा के अनुसार शूद्र का अनौरस पुत्र अपने पिता की सम्पत्ति में जन्म से कोई अधिकार नहीं पाता, अतः पिता के रहते विभाजन की माँग नहीं कर सकता, भले ही उसका भाग औरस पुत्र के भाग के बराबर हो। (२) पिता के मर जाने पर शूद्र का अनौरस पुत्र अन्य औरस पुत्रों के साथ सहभागी हो जाता है और उसे विभाजन का अधिकार प्राप्त रहता है। (३) विभाजन पर अनौरस पुत्र को उस भाग का केवल आधा मिलता है जितना उसे यदि वह औरस होता तो मिलता, अर्थात् यदि एक औरस पुत्र हो और दूसरा अनौरस तो अनौरस को एक चौथाई तथा औरस को तीन चौथाई मिलेगा। (४) यदि विभाजन के पूर्व औरस पुत्र मर जाय (या सभी औरस पुत्र मर जायँ) तो अनौरस पुत्र को सम्पूर्ण दाय मिल जाता है। (५) यदि शूद्र पिता को कोई पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र न हो तो अनौरस को सम्पूर्ण प्राप्त हो जाता है। (६) याज्ञवल्क्य ने केवल पुत्र की बात की है, अतः अनौरस पुत्री को न तो उत्तराधिकार मिलता है और न जीविका। (७) यदि शूद्र पिता अपने भाइयों, चाचाओं या भतीजों के साथ संयुक्त हो तो अनौरस पुत्र को संयुक्त सम्पत्ति के विभाजन की माँग करने का कोई अधिकार नहीं है, यद्यपि उसे परिवार के सदस्य के रूप में जीविका के साधनों का अधिकार प्राप्त रहता है, किन्तु यह नियम तभी लागू होता है जब कि पिता की अपनी पृथक् सम्पत्ति न हो। ऐसा माना गया है कि यदि किसी ब्राह्मणी को कोई शूद्र अपनी रखैल के रूप में रखे तो उसका पुत्र दासीपुत्र नहीं कहा जायगा (वह प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार चाण्डाल कहा जाता है) और उसे अपने शूद्र पिता की सम्पत्ति उत्तराधिकार के रूप में नहीं मिलेगी।

अनुपस्थित सहभागी की वही स्थिति होती है जो एक अल्पवयस्क (नाबालिग) पुत्र की रहती है। आजकल उसके अधिकार भारतीय सम-काल-विधान (१९०८) के अन्तर्गत पाये जाते हैं।

पत्नी को विभाजन की माँग का कोई अधिकार नहीं है। किन्तु याज्ञ० (२।११५) के मत से यदि पिता के रहते पुत्र विभाजन की माँग करें तो पत्नी को पुत्र के समान ही एक भाग मिलता है। यदि कई पत्नियाँ हों तो प्रत्येक को एक पुत्र के बराबर का भाग मिलता है। ऐसी व्यवस्था है कि पत्नी या पत्नियाँ पति या श्वशुर द्वारा प्रदत्त स्त्री-

१४. दासीपुत्र की चर्चा कवष ऐलूष की गाथा के सिलसिले में मिलती है। देखिए ऐतरेय ब्राह्मण (८।१), शांखायन ब्राह्मण (१२।३) एवं ताण्ड्य ब्राह्मण (१४।६।६) जहाँ शूद्रापुत्र की चर्चा है।

१५. शूद्रापुत्रोऽप्यनपत्यस्य शुश्रूषुश्चेल्लभेत वृत्तिमूलमन्तेवासिविधिना। गौतम (२८।३९); अनपत्यस्य शुश्रूषुर्गुणवान् शूद्रयोनिजः। लभेत जीवनं शेषं सपिण्डाः समवाप्नुयुः॥ बृहस्पति (अपरार्क पृ० ७२८; पृ० १४१; व्यवहारनिर्णय पृ० ४१)।

धन की सम्पत्ति पर भोग का अधिकार नही रखती, किन्तु यदि स्त्रीधन हो तो उन्हें उतना ही और अधिक प्राप्त होगा जितना मिलकर एक पुत्र के भाग के बराबर हो जाय (याज्ञ० २।१४८)। मिताक्षरा (याज्ञ० २।५१) ने कहा है कि पति की इच्छा से पत्नी कुल-सम्पत्ति का भाग पा सकती है किन्तु अपनी इच्छा से नही। बात यह है कि, वास्तव मे पति-पत्नी मे विभाजन नही होता ('जायापत्योन विभागो विद्यते,' मदनरत्न, व्यवहारप्रकाश पृ० ४४१-४४२, ५१० एव विश्वरूप—याज्ञ० २।११९)। पति पत्नी को स्नेहवश एक भाग दे सकता है। मानो, विश्वरूप (याज्ञ० २।११९) ने आधुनिक विधान की परिकल्पना पहले से कर ली थी, क्योकि उन्होंने लिखा है कि पहले मे मृत पुत्रो एव पौत्रो की पत्नियां को वे भाग मिलने चाहिए जो उनके पतियो को दाय रूप मे प्राप्त होते, क्योकि उनके पतियो को जीवित रहने पर पिता के साथ किये गये विभाजन मे अधिकार तो प्राप्त होता ही। देखिए आज का कानून (१९३७ का कानून जो १९३८ मे सशोधित किया गया, हिन्दू स्त्रियो का सम्पत्ति-अधिकार)। इसमे मिताक्षरा की 'केवल पुरुषो को ही सयुक्त परिवार का भाग मिलना चाहिए", वाली प्राचीन व्यवस्था समाप्त हो गयी।

माता (या विमाता) भी पिता के मृत हो जाने के उपरान्त पुत्रो के दाय-विभाजन के समय एक बराबर भाग की अधिकारिणी होती है, किन्तु जब तक पुत्र सयुक्त रहते हैं, वह विभाजन की मांग नही कर सकती। किन्तु पत्नी के समान ही यदि उसके पास स्त्रीधन होगा तो उसका दाय-भाग भी उसी के अनुपात मे कम हो जायगा। देखिए याज्ञ० (२।१२३), विष्णु० (१८।३४) एव नारद (दायभाग, १२)। मिताक्षरा (याज्ञ० २।१३५) ने अपने पूर्व के लेखकों के इस मत का खण्डन किया है कि माता को केवल जीविका के साधन मात्र प्राप्त होते हैं। स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० २६८) के इस कथन की, कि माता को दायभाग नही मिलता, मदनरत्न ने आलोचना की है। बौधायन ने लिखा है कि "स्त्रियाँ शक्तिहीन होती है और उन्हें भाग नही मिलता" (तैत्तिरीय सहिता, ६।५।८।२)। इस कथन के आधार पर व्यवहारसार (पृ० २२५) एव विवादचन्द्र (पृ० ६७) ने मत प्रकाशित किया है कि किसी स्त्री (चाहे पत्नी हो या माता हो) को पैतृक सम्पत्ति मे अधिकार नही प्राप्त होता। मनु (९।१८) मे भी तैत्तिरीय सहिता एव बौधायन के कथन की झलक मिलती है।[36] पत्नी या माता के अधिकारो के विकास मे एक मध्यम स्तर भी था। व्यास (स्मृतिच० २,२८१, व्यवहारनिर्णय पृ० ४५०, विश्वरूप—याज्ञ० २।११९) के मत से पत्नी को अधिकतम दो सहस्र पण मिल सकते हैं, किन्तु इसे कई प्रकार से पढा एव समझाया गया है। स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० २८१) का कहना है कि यह उस सम्पत्ति का द्योतक है जिससे प्रति वर्ष २००० पणो की आय प्राप्त हो।

आधुनिक काल मे बम्बई एव कलकत्ता के उच्च न्यायालयो ने पैतृक सम्पत्ति के बँटवारे के समय पत्नियो एव माताओ के भागो को भी मान्यता दी है, किन्तु दक्षिण भारत में उनको भाग नही मिलता, मद्रास न्यायालय ने केवल जीविका की व्यवस्था दी है। दायभाग से भी यही बात झलकती है, इसके अनुसार विमाता को विमाता-पुत्रो के विभाजन के समय जीविका मात्र प्राप्त होती है।

३६ स्त्रीणां सर्वासामनंशत्वमेव। यत्राप्यंशश्रवणं पितुरूर्ध्वं विभजतां माताप्यंशं समं हरेदित्यादौ तत्रापि किञ्चिद्दानं विवक्षितम्। अर्हति स्त्रीत्यनुवृत्तौ न दायम् 'निरिन्द्रिया अदाया हि स्त्रियो मता' इति बौधायनवचनात्। निरिन्द्रिया निःसत्त्वा इति प्रकाशः। अदाया अनंशा इत्यर्थः। विवादचन्द्र (पृ० ६७)। स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० २६७) भी बौधायन पर निर्भर है। बौधायन (२।२।५३) मे "पिता रक्षति ... न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति" के उपरान्त "निरिन्द्रिया ह्यदायाश्च स्त्रियो मता इति श्रुतिः" आया है। तैत्तिरीय सहिता (६।५।८।२) मे आया है—"तस्मात् स्त्रियो निरिन्द्रिया अदायादीरपि पापात्पुंस उपस्तितरं वदन्ति।" मनु (९।१८) मे आया है—"निरिन्द्रिया ह्यमन्त्राश्च स्त्रियोऽनृतमिति स्थितिः॥" जिसकी व्याख्या मेधातिथि ने यो की है—"इन्द्रियं वीर्यं धैर्यप्रज्ञाबलादि।"

यदि किसी की कई पत्नियाँ एवं एक ही पत्नी से कई पुत्र हों तो कई प्राचीन ग्रन्थों के मत से पुत्र पत्नियों एवं माताओं के अनुसार विभाजन करते हैं (पत्नीभाग या मातृभाग) किन्तु सामान्यतः विभाजन पुत्रों की संख्या के अनुसार ही होता रहा है (पुत्रभाग) चाहे वे किसी भी माता के पुत्र हों। उदाहरणार्थ गौतम (२८।१५) का कहना है कि विभाजन माताओं के पुत्रों का वर्गों में बाँटकर करना चाहिए और प्रत्येक वर्ग के ज्येष्ठ पुत्रों को विशिष्ट भाग मिलना चाहिए। बृहस्पति एवं व्यास के मतों से विभिन्न माताओं से उत्पन्न पुत्रों (जो जाति एवं संख्या में समान हों) को माताओं के अनुसार ही विभाजन-भाग मिलने चाहिए। आजकल भी कहीं-कहीं माताओं के अनुसार कुछ जातियों में परम्पराओं के आधार पर विभाजन होता है।[37]

पितामही या प्रपितामही अपने से विभाजन की माँग नहीं कर सकती किन्तु उसके पौत्रों में विभाजन होते समय या उसके पुत्र के मर जाने या उसके पुत्रों एवं उसके मृत पुत्र के पुत्रों में जब विभाजन होने लगे तो उसे एक भाग मिलता है। व्यास का कथन है—"पिता की पुत्रहीन पत्नियों को पुत्र के बराबर भाग मिलता है, और सभी पितामहियाँ माता के तुल्य होती हैं।" प्रयाग एवं बम्बई के न्यायालयों द्वारा यह निर्णीत है कि पुत्र एवं पुत्र के पुत्रों में विभाजन होने पर पितामही को कोई भाग नहीं मिलता किन्तु कलकत्ता एवं पटना के न्यायालयों ने उसे एक भाग का अधिकार दिया है।

कतिपय शारीरिक मानसिक एवं अन्य आचरण-सम्बन्धी त्रुटियों के कारण प्राचीन भारत में कुछ लोग दायभाग से वञ्चित थे। गौतम (२८।४१) आपस्तम्ब (२।६।१४।१) वसिष्ठ (१७।५२-५३) विष्णु (१५।३२-३९) बौधायन (२।२।४३-४६) एवं कौटिल्य (३।५) के अनुसार पागल जड़ क्लीब पतित (पापाचारी) अन्धे असाध्य रोगी संन्यासी विभाजन एवं रिक्थाधिकार से वञ्चित माने जाते हैं। ऐसा इसलिए किया गया है कि वे लोग धार्मिक कार्य नहीं कर सकते और सम्पत्ति तथा उसके साथ धार्मिक उपयोग का सम्बन्ध अटूट माना जाता रहा है। और देखिए जैमिनि। बृहद्देवता में वर्णित देवापि एवं शन्तनु नामक भाइयों की गाथा से प्रकट है कि देवापि को चर्मरोग था अतः उसके भाई शन्तनु को राज्य मिला।[40] हम लोग महाभारत से जानते हैं कि धृतराष्ट्र जन्मान्ध होने के कारण राज्य नहीं पा सके और उनके छोटे भाई पाण्डु को राज्य मिला।[41] मिताक्षरा (याज्ञ० २।१४५) ने कहा

३७. समानजातिसंख्या ये जातास्त्वेकेन सूनवः। विभिन्नमातृकास्तेषां मातृभागः प्रशस्यते। व्यास; सवर्णा बहवः समाना जातिसंख्यया। तत्सम्भवैर्विभक्तव्यं मातृभागेन धर्मतः।। बृहस्पति (व्यवहारभाग ३।१२; पराशरमाधवीय ३ पृ० ५३; व्यवहारमयूख पृ० १२३; विवादरत्नाकर पृ० ४७५)।

३८. अतीतव्यवहारान्ग्रासाच्छादनैर्बिभृयुः। गौ० (२८।४१); एकधनेन ज्येष्ठं तोषयित्वा जीवन् पुत्रेभ्यो दायं विभजेत् समं क्लीबमुन्मत्तं पतितं च परिहाप्य। आप० (२।६।१४।१); अतीतव्यवहारान्ग्रासाच्छादनैर्बिभृयुः। अन्धजडक्लीबव्यसनिव्याधितादींश्च। अकर्मिणः। पतिततज्जातवर्जम्। बौधा० (२।२।४३-४६); अनंशास्त्वाश्रमान्तरगताः। क्लीबोन्मत्तपतिताश्च। वसिष्ठ (१७।५२-५३); पतितक्लीबाचिकित्स्यरोगविकलास्त्वभागहारिणः। विष्णु (१५।३२); पतितः पतितज्जातः क्लीबश्चानंशाः। जडोन्मत्तान्धकुष्ठिनश्च। अर्थशास्त्र (३।५)।

३९. अंगहीनश्च तद्धर्मा। उत्पत्तौ नित्यसंयोगात्। जैमिनि (६।१।४१-४२)।

४०. त्वग्दोषी राजपुत्रस्तु ऋष्टिषेणसुतोऽभवत्। बृहद्देवता (७।१५६); न राजानमभ्यनन्दन् त्वग्दोषोपहतेन्द्रियम्। बृहद्देवता (८।५)।

४१. अन्धः करणहीनत्वान्न वै राजा पिता तव। उद्योगपर्व (१४७।३९); धृतराष्ट्र के जन्मान्ध होने के लिए देखिए आदिपर्व (१०९)।

पूर्व के आचार्यों के इस कथन का खण्डन किया है कि मारी सम्पत्ति यज्ञो के लिए ही है। वे पूर्व आचार्य दो स्मृति-वचनो पर निर्भर थे, 'सभी द्रव्य (सभी प्रकार की या चल सम्पत्ति) यज्ञ के लिए उत्पन्न की गयी है, अत वे लोग जो यज्ञ के योग्य नही हैं, पैतृक सम्पत्ति के अधिकारी नही है, उन्हे केवल वस्त्र-भोजन मिलेगा।' 'वित्त की उत्पत्ति यज्ञ के लिए है अत उसे धर्म के उपयोग में लगाना चाहिए, न कि स्त्रियो, मूर्खो एव अधार्मिक लोगो मे उसका दुरुपयोग होना चाहिए।'[४२] ये बातें कात्यायन (८५२) एव बृहस्पति मे भी पायी जाती है। मिताक्षरा ने इस कथन को ग्रहण नही किया है। इसका कहना है कि ऐसा मानने पर यज्ञ के अतिरिक्त अन्य दान-कार्य, जिनकी शास्त्रो ने व्यवस्था दी है, सम्भव नही है और न ऐसा मानने पर अर्थ एव काम नामक पुरुषार्थो की पूर्ति हो सकती है, जैसी कि गौतम (९।४६) एव याज्ञ० (१।११५) ने व्यवस्था दी है। वास्तव मे बात यह है कि यज्ञो के लिए एकत्र की गयी सम्पत्ति के विषय मे यह बात कही गयी है, क्योकि ऐसी सम्पत्ति का उपयोग धार्मिक कृत्यो मे ही होना चाहिए, ऐसा न करने से दूसरे जीवन मे कौओ या भासो (मुर्गो या जलमुर्गियो) की योनि मिलती है। मिताक्षरा ने आगे कहा है कि यदि सम्पत्ति को यज्ञार्थ ही माना जायगा तो जैमिनि (३।४।२०-२४) का यह कथन कि "शरीर पर सोना धारण करना चाहिए" व्यर्थ पड जायगा और वह केवल **पुरुषार्थ** कहा जायगा न कि **क्रत्वर्थ**। यही बात अपरार्क (पृ० ७४२) ने भी कही है और व्यवस्था दी है कि स्त्रियो को **पूर्त धर्म** (कूप, मन्दिर आदि का निर्माण) करने का अधिकार है। **इष्ट** एव **पूर्त** के लिए देखिए इस ग्रन्थ का भाग २, अध्याय २५।

रिक्थाधिकार से वचित करने के विषय मे अत्यन्त ख्यात शब्द मनु (९।२०१), याज्ञ० (२।१४०) एव नारद (दायभाग, २१-२२) के हैं। मनु का कथन है कि क्लीव, पतित, जन्मान्ध, जन्मबधिर, पागल, मूर्ख, गूँगे एव इन्द्रिय-दोषी को अश (भाग या हिस्सा) नही मिलता। याज्ञवल्क्य ने घोषणा की है कि क्लीव, पतित, पतितपुत्र, पगु, उन्मत्त (पागल), जड (मूर्ख), अन्ध, असाध्य रोगी को अश नही मिलता।[४३] याज्ञवल्क्य, बौधायन एव देवल ने पतित के पुत्र को भी दायाश से वचित कर रखा है। नारद (दायभाग, २१-२२) ने कहा है कि जो पितृ-द्रोही है, पतित हैं, क्लीव हैं, जो (भारत से) दूसरे देश मे समुद्र से जाते हैं, वे औरस होते हुए भी दायाश नही पाते, क्षेत्रज (दूसरे व्यक्ति द्वारा अपनी पत्नी से उत्पन्न पुत्र) भी इन दुर्गुणो से युक्त होने पर अश कैसे पा सकता है? जो लोग दीर्घ काल से राजरोग (यक्ष्मा) से पीडित है या कुष्ठ-जैसे भयानक रोगो से ग्रस्त हैं या जो मूर्ख, पागल या लगडे हैं, उन्हे मात्र भरण-

४२ यज्ञार्थं द्रव्यमुत्पन्न तत्रानधिकृतास्तु ये। अरिक्थभाजस्ते सर्वे ग्रासाच्छादनभाजना ॥ यज्ञार्थं विहित वित्त तस्मात्तद् विनियोजयेत्। स्थानेषु धर्मजुष्टेषु न स्त्रीमूर्खविधर्मिषु॥ मिताक्षरा (याज्ञ० २।१३५), पराशर-माधवीय (३, पृ० ५३४), मिलाइए शान्तिपर्व (२६।२५)—यज्ञाय सृष्टानि धनानि धात्रा यज्ञाय सृष्ट: पुरुषो रक्षिता च। तस्मात् सर्वं यज्ञ एवोपयोज्य धन न कामाय हित प्रशस्तम् ॥

४३ अनशौ क्लीबपतितौ जात्यन्धबधिरौ तथा। उन्मत्तजडमूकाश्च ये च केचिन्निरिन्द्रिया ॥ मनु (९।-२०१), क्लीबोथ पतितस्तज्ज पगुरुन्मत्तको जड । अन्धोऽचिकित्स्यरोगार्ता भर्तव्या स्युर्निरशका ॥ याज्ञ० (२।-१४०), मृते पितरि न क्लीबकुष्ठ्युन्मत्तजडान्धका । पतित पतितापत्य लिंगी दायाशभागिन ॥ तेषा पतितवर्जेभ्यो भक्तवस्त्र प्रदीयते। तत्सुता पितृदायांश लभेरन् दोषवर्जिता ॥ देवल (दायभाग ५।११, पृ० १०२, जहाँ लिंगी का अर्थ प्रव्रजित आदि किया गया है), विवादरत्नाकर (पृ० ४९०) ने लिंगी को अतिशय कपटव्रतचारी कहा है, स्मृतिच० (२, पृ० २७२), पितृद्विट् पतित षण्ढो यश्च स्यादौपपातिक । औरसा अपि नैतेंऽश लभेरन् क्षेत्रजा कुत ॥ दीर्घतीव्रामयग्रस्ता जडोन्मत्तान्धपगव । भर्तव्या स्यु कुले चैते तत्पुत्रास्त्वशभागिन ॥ नारद (दायभाग, २१-२२)।

पोषण मिलना चाहिए, किन्तु उसके पुत्रों को दायाद्य मिलता है। किन्तु आजकल ये बातें अमान्य ठहरा दी गयी हैं। (देखिए हिन्दू लॉ इनहेरिटेन्स एक्ट, १९२८)। मिताक्षरा के अन्तर्गत आज केवल पागलपन एवं जन्म से मूकता का दोष ही दायाद्य के अनधिकार के लिए ठीक माना गया है। यह कानून दायभाग द्वारा व्यवस्थित लोगों के अतिरिक्त अन्य प्रान्तों के लोगों के लिए मान्य है। दायभाग के अन्तर्गत ये उपर्युक्त दोष अभी भी ज्यों-के-त्यों पड़े हुए हैं, हाँ कुछ न्यायिक निर्णयों एवं अन्य कानूनों से संशोधित अवश्य हुए हैं। अब प्रश्न यह है कि उस पुत्र की क्या वास्तविक स्थिति है जो शारीरिक रूप से पागल या जड़ है। मनु (९।२०१) एवं याज्ञ० (२।१४० एवं १४१) ने तो उसे अनंश या निरंश (पैतृक सम्पत्ति के अंश के लिए अयोग्य) घोषित किया है, किन्तु उसके भरण-पोषण की व्यवस्था दी है और कहा है कि यदि उसे जीविका न दी जायगी तो न देनेवाले को पाप लगेगा, किन्तु उन्होंने आगे चलकर व्यवस्था दी है कि यदि उसके पुत्र इन दोषों से मुक्त हों तो उन्हें दायाद्य मिलता है। मिताक्षरा (याज्ञ० २।१४०) के अनुसार अनंशत्व के लिए स्त्री एवं पुरुष दोनों एक ही प्रकार के दोषों एवं त्रुटियों से शासित हैं।

यहाँ हम पतित एवं उसके पुत्र के विषय में कुछ विशेष व्यवस्थाओं की चर्चा करेंगे। सभी प्रकार के पापमय कर्मों से व्यक्ति पतित नहीं ठहराया जाता। पातकों की कई कोटियाँ होती हैं और हम उनके विषय में आगे पढ़ेंगे। प्राचीन लेखकों ने महापातकों को कई प्रकार से उल्लिखित किया है। निरुक्त (६।२७) ने ऋग्वेद (१०।५।६) की व्याख्या करते हुए सात पापों की चर्चा की है—स्तेय (चोरी), तल्प रोहण (गुरु की शय्या पर सोना), ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या, बार-बार दुष्कृत्य करना, पातक और अनृत (झूठ बोलना)।[54] तैत्तिरीयसंहिता (२।५।१।१) एवं शतपथब्राह्मण (१३।३।१।१) एवं अन्य ब्राह्मणों में ब्रह्महत्या सबसे बड़ा पाप माना गया है (देखिए इस ग्रन्थ का भाग २, अध्याय १)। छान्दोग्योपनिषद् (५।१०।९) में सोने की चोरी करनेवाले, सुरा पीनेवाले, गुरुशय्या को अपवित्र करनेवाले, ब्रह्म-हत्यारे एवं इन चारों की संगति करने वाले को पंच-महापातकी कहा गया है।[55] गौतम (२१।१।३) ने निम्न लोगों को पतित घोषित किया है—ब्रह्महत्यारा, सुरा पीनेवाला, गुरु की पत्नी से संभोग करनेवाला, माता या पिता की सपिण्ड स्त्री के साथ संभोग करनेवाला, (ब्राह्मण के) सोने की चोरी करनेवाला, पाषण्डी (नास्तिक), निषिद्ध कर्म को लगातार करनेवाला, स्नेहवश अपने पतित पुत्र आदि को न त्यागनेवाला, अपने ऐसे सम्बन्धियों को जो पतित नहीं हैं त्यागनेवाला, दूसरे को पाप कर्म करने के लिए उकसानेवाला, पतित के साथ एक वर्ष तक रहनेवाला (उसकी शय्या, आसन या पात्र का प्रयोग करनेवाला)। आपस्तम्ब (१।७।२१।८-११) में पतनीयों (महापातकों) की लम्बी तालिका है। वसिष्ठ (१।१९-२१) ने निम्न पंच महापातक गिनाये हैं—गुरुतल्पगमन, सुरापान, विद्वान् ब्राह्मण की हत्या, ब्राह्मण के सोने की चोरी, पतित का गुरु, शिष्य या पुरोहित होना या उससे वैवाहिक सम्बन्ध रखना। बौधायन

[54] सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात्। ऋ० (१०।५।६); सप्त एव मर्यादाः कवयः चक्रुः। तासामेकामपि अभिगच्छन् अंहस्वान् भवति। स्तेयं तल्पारोहणं ब्रह्महत्यां भ्रूणहत्यां सुरापानं दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवां पातकेऽनृतोद्यमिति। निरुक्त (६।२७)। पापों की कई प्रकार की व्याख्याओं के लिए देखिए इस ग्रन्थ का भाग ४, अध्याय १। और देखिए गौतम (२१।९) वसिष्ठ (१।२३)।

[55] स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबंश्च गुरोस्तल्पमावसन् ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरंस्तैरिति। छान्दोग्योपनिषद् (५।१०।९); बृह० उप० (४।३।२२); और देखिए मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२२७) विष्णुधर्मसूत्र (३५।१-५)— अथ ब्रह्महत्या। सुरापानम्। स्तेयम्। गुरुदाराभिगमनम्। इति महापातकानि। तत्संयोगश्च महापातकम्।

है तो उसे जो मिला रहता है वह छीना नहीं जा सकता। आपस्तम्ब० (२।६।१४।१५), गौतम (२८।३८) एवं मनु (९।२१४) के कथन से प्रकट है कि यदि ज्येष्ठ पुत्र या भाई अनैतिक ढंग से कुल-सम्पत्ति का व्यय करें तो पिता या भाइयों द्वारा उन्हें विभाजन के समय दायांश से वंचित किया जा सकता है।

गौतम (२८।४३) एवं विष्णु० (१५।३७) का कथन है कि प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न (निम्न व्यक्ति द्वारा उच्च जाति की स्त्री से उत्पन्न) पुत्रों को शूद्रा से उत्पन्न ब्राह्मण-पुत्रों के समान मानना चाहिए, अर्थात् उन्हें उनके पिता द्वारा जीविका मिलनी चाहिए। किन्तु यह बात स्मरणीय है कि प्रतिलोम विवाह गर्हित माने जाते रहे हैं, कात्यायन (८६२-८६४) का कथन है कि 'वह पुत्र, जो अपनी जाति के अतिरिक्त किसी अन्य जाति के पति से विवाहित माता का पुत्र है, या जो सगोत्र विवाह से उत्पन्न है, या जो सन्यास-धर्म से च्युत हो चुका है, वह अपनी पैतृक सम्पत्ति का अधिकार नहीं पाता। किन्तु वह पुत्र, जो ऐसी स्त्री का पुत्र है जो पति की जाति से हीन जाति की है और जिसकी विवाह-क्रिया सम्यक् ढंग से हुई है, पिता की सम्पत्ति पाता है।' किन्तु प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न पुत्र को पैतृक सम्पत्ति नहीं मिलती। उसे उसके सम्बन्धियों से केवल भोजन-वस्त्र मिलने का अधिकार रहता है। जब कोई सम्बन्धी न हो तो ऐसे पुत्र को पिता की सम्पत्ति मिल जाती है, किन्तु यदि पिता ने कोई सम्पत्ति नहीं छोड़ी है तो सम्बन्धियों के लिए यह अनिवार्य नहीं है कि वे उसे भोजन-वस्त्र दें।

विभाजन-विधि एवं भाग-निर्णय

विभाजन की माँग करने के पूर्व भाई को चाहिए कि वह अपनी बहिन तथा अपने भाइयों की बहिनों के विवाह के व्यय के लिए व्यवस्था अवश्य कर दे। इस विषय में निबन्धकारों एवं टीकाकारों में मतैक्य नहीं है। कौटिल्य (३।५), विष्णु (१८।३५ एवं १५।३१) एवं बृहस्पति के मत से अविवाहित बहिनों के विवाह-व्यय की व्यवस्था होनी चाहिए, किन्तु मनु (९।११८), याज्ञ० (२।१२४) एवं कात्यायन (८५८) के मत से भाइयों को अपनी बहिनों के विवाह के लिए एक-चौथाई भाग देना चाहिए। इस विषय में व्याख्या के लिए देखिए मिताक्षरा (याज्ञ० २।१२८)। मिताक्षरा ने विवाह में लगनेवाले उचित व्यय की दूसरे ढंग से व्यवस्था की है और मनु (९।११८) का उल्लेख कर असहाय, मेधातिथि एवं भारुचि के मतों की भी चर्चा की है। दायभाग (३।३६ एवं ३९, पृ० ६९-७०) के मत से यदि सम्पत्ति थोड़ी है तो अविवाहित कन्या के विवाह के लिए एक चौथाई मिलना चाहिए, किन्तु यदि सम्पत्ति पर्याप्त है तो केवल आवश्यक व्यय मिलना चाहिए। स्मृतिचन्द्रिका, व्यवहाररत्नाकर (पृ० ४९४), विवादचिन्तामणि (पृ० १३४) ने भारुचि का मत (केवल आवश्यक व्यय, कोई निश्चित भाग नहीं) माना है, किन्तु व्यवहारमयूख (पृ० १०६), मदनरत्न एवं व्यवहारप्रकाश (पृ० ४५६) ने मिताक्षरा का मत (अविवाहित कन्या को विवाह के लिए उतना ही मिलना चाहिए जितना उसे पुरुष होने पर मिला होता) मान्य ठहराया है।

भागों के निर्णय के पूर्व पैतृक सम्पत्ति से कुल के ऋणों का भुगतान, पिता द्वारा लिये गये नैतिक एवं वैधानिक ऋणों का भुगतान, पिता द्वारा दिये गये स्नेह-दानों (प्रीतिप्रदानों), दोषी सहभागियों का जीविकानिर्वाह, आश्रित नारियों एवं वैवाहिक व्ययों आदि की व्यवस्था अवश्य हो जानी चाहिए। देखिए मनु (८।१६६, कुटुम्ब-ऋण के लिए), याज्ञ० (२।११७), नारद (दायभाग ३२), कात्यायन (८५०) आदि (पिता के ऋणों एवं प्रीति-दानों के लिए) एवं कात्यायन (५४२-४३, विविध वैधानिक आवश्यकताओं के

से उत्पन्न पुत्र भी पतित माना गया है (याज्ञ० २।१४, विष्णु १५।३५-३६ एवं कौटिल्य ३।५)।[46] किन्तु कन्या के विषय में एक उदार अन्तर भी पाया जाता है। वसिष्ठ (१३।५१-५३) ने लिखा है— "ऋषियों का वचन है कि जो पतित से उत्पन्न होता है वह पतित हो जाता है, केवल कन्या नहीं होती, क्योंकि वह दूसरे के पास (पत्नी रूप में) जानेवाली है। बिना धन लिये उसे कोई ब्याह सकता है।"[47] यही बात याज्ञवल्क्य (१।२६१) ने भी कही है। किन्तु कन्या को उपवास करने तथा पिता के घर से कुछ न ले जाने की व्यवस्था दी है। मिताक्षरा (याज्ञ० १।२५७) ने हारीत का निम्न हवाला दिया है, 'पतित की कन्या को एक दिन और रात उपवास करना चाहिए, नग्न होकर स्नान करना चाहिए, प्रातःकाल नया एक श्वेत वस्त्र धारण करना चाहिए, तीन बार 'मैं उसकी (पतित पिता की) नहीं हूँ और न वह मेरा कोई है' ऐसा कहना चाहिए, और तब किसी पवित्र स्थान (नदी आदि) पर या वर के घर में विवाहित होना चाहिए।'

उपर्युक्त पतित-सम्बन्धी नियमों का फल यह हुआ कि यदि हिन्दू ने अपना धर्म-परिवर्तन कर लिया या जातिच्युत हो गया या किसी दुर्गुण के कारण जाति से निकाल बाहर किया गया तो उसे बुरी दृष्टि से देखा जाने लगा और उसे विभाजन तथा रिक्थाधिकार से वंचित कर दिया गया। किन्तु अब (सन् १८५० के कानून के अनुसार) ये नियम अवैधानिक मान लिये गये हैं।

सभी स्मृतियों का कहना है कि जिन्हें दोषों के कारण दायभाग नहीं मिलता उन्हें कुल-सम्पत्ति से जीवन भर जीविका के साधन प्राप्त होते हैं (गौतम २८।४१, वसिष्ठ १७।५४, विष्णु १५।३१, मनु ९।२०२, याज्ञ० २।१४० आदि)। यदि अयोग्य ठहराये गये व्यक्ति विवाह करना चाहते हैं या विवाहित हैं तो उनकी पुत्रहीन पत्नियों को, जो सदाचारिणी हैं, जीविका मिलती है (याज्ञ० २।१४२), किन्तु जो व्यभिचारिणी हैं उन्हें निकाल बाहर किया जाता है। किन्तु मिताक्षरा (याज्ञ० २।१४२) ने जोड़ दिया है कि जो अयोग्य ठहराये गये व्यक्तियों की सदाचारिणी पत्नियाँ हैं उन्हें जीविका देनी चाहिए, भले ही वे विरोधी सिद्ध हो चुकी हों। मनु (९।२०३) एवं याज्ञ० (२।१४१) के मत से अयोग्य व्यक्तियों के योग्य (क्लीबता आदि दोषों से मुक्त) औरस या क्षेत्रज पुत्रों को संयुक्त सम्पत्ति का भाग मिलता है, उनकी पुत्रियों को भी जीविका मिलती है और उनके विवाह आदि कर्म किये जाते हैं। स्पष्ट है कि अयोग्य उत्तराधिकारियों को गोद लेने का अधिकार नहीं था, क्योंकि केवल औरस एवं क्षेत्रज पुत्रों का ही उल्लेख हुआ है। कुछ स्मृतियों ने पतित एवं उसके पुत्र को जीविका से भी वंचित कर दिया है, यथा बौधायन (२।२।४६), कौटिल्य (३।५) एवं विष्णु (१५।३५-३६)। उपर्युक्त दोषों से ग्रसित होने पर सहभागियों को विभाजन के समय दायाद से वंचित ठहरा दिया जाता है। किन्तु विभाजन के उपरान्त यदि व्यक्ति दवा आदि से दोषमुक्त हो जायँ तो उन्हें विभाजन के उपरान्त उत्पन्न हुए पुत्र के समान अधिकार प्राप्त होता है और वे पुनर्विभाजन की माँग कर सकते हैं। यदि विभाजन के समय व्यक्ति दोषमुक्त हो और उसे दायाद प्राप्त हो जाय किन्तु बाद चलकर वह दोषी हो जाय

४६. तेषां चौरसाः पुत्रा भागहारिणः। न तु पतितस्य पतनीये कर्मणि कृते त्वनन्तरोत्पन्नाः। विष्णुधर्मसूत्र (१५।३४-३६)।

४७. पतितेनोत्पन्नः पतितो भवतीत्याहुरन्यत्र स्त्रियाः। सा हि परगामिनी। तामरिक्थामुपेयात्। वसिष्ठ (१३।५१-५३)। कन्यां समुद्वहेदेषां सोपवासामकिंचनाम्। याज्ञ० (१।२६१)। तथा च हारीतः—पतितस्य तु कुमारीं विवस्त्रामहोरात्रोपोषितां प्रातः शुक्लेनाहतेन वाससाच्छादितां नाहमेतेषां न ममैते इति त्रिरुच्चैरभिदधानां तीर्थे स्वगृहे वोद्वहेत्। मिताक्षरा (याज्ञ० १।२५७)।

को अकारण वञ्चित करना चाहिए। (३।५)।[51] यही बात कात्यायन (८४३) ने कही है। किन्तु यदि हम स्मृतियो के कुछ वचनों को (यथा याज्ञ० २।११६, नारद, दायभाग १५) शाब्दिक अर्थ मे ले तो प्रकट होता है कि प्राक्कालीन भारतीय पिता पैतृक सम्पत्ति को मनोनुकूल ढग से अपने पुत्रो मे वितरित करते थे। नारद (दायभाग, १५) का कथन है—जब पिता अपने पुत्रो मे सम्पत्ति बाँट देता है तो वह वैधानिक विभाजन है, अर्थात् हम उसे काट नही सकते, भले ही वह कम हो, बराबर हो या अधिक हो। बृहस्पति ने लिखा है कि यदि (पिता द्वारा) व्यवस्थित विभाजन परिवर्तित हो तो दण्ड मिलता है। आगे चलकर ये वचन या तो पुराने काल के लिए उचित ठहराये गये (व्यवहारमयूख पृ० ९९) या पिता की स्वार्जित सम्पत्ति से सम्बन्धित माने गये (मिताक्षरा, याज्ञ० २।११४), या ऐसा समझा जाने लगा कि यदि पिता का विभाजन वैधानिक है तो वह तोडा नही जा सकता, किन्तु यदि वह अवैधानिक है तो परिवर्तित किया जा सकता है (मिता०—याज्ञ० २।११६, मदनरत्न, मदनपारिजात पृ० ६४६)। स्वय नारद (दायभाग, १६) ने लिखा है कि यदि पिता रोगग्रसित हो या क्रोध मे हो (अपने पुत्र या पुत्रो मे) या विषयासक्त हो या शास्त्र-विरुद्ध कार्य करता हो, तो उसको अपनी इच्छा से दायभाग विभाजित करने का कोई अधिकार नही है।

ज्येष्ठ पुत्र को प्राचीन काल मे अब तक विशिष्टता मिलती रही है। यह विशिष्टता कई रूपो मे प्रकट होती रही है। कुछ मतो से ज्येष्ठ पुत्र को सम्पूर्ण सम्पत्ति मिल जाती थी। आप० (२।६।१४।६), मनु (९।१०५-१०७), नारद (दायभाग, ५) ने इस मत की ओर निर्देश किया है। मनु (९।१०५-१०७) ने लिखा है कि ज्येष्ठ पुत्र सम्पूर्ण पैतृक सम्पत्ति पा सकता है, किन्तु उन्होंने यह भी लिखा है कि अन्य पुत्र ऐसी स्थिति मे अपने ज्येष्ठ भाई पर अपनी जीविका आदि के लिए उसी प्रकार निर्भर हैं जिस प्रकार अपने पिता पर। मनु का कथन है कि ज्येष्ठ पुत्र जन्म के कारण पिता को पितृ-ऋण से मुक्त करता है अत वह पिता से सम्पूर्ण सम्पत्ति पाने की पात्रता रखता है (देखिए इस ग्रन्थ का भाग २, अध्याय ७)।

ज्येष्ठ पुत्र को कुछ अधिक सुविधाएँ भी दी जा सकती थी, उसे कुछ अत्यन्त सुन्दर एव बहुमूल्य पदार्थ देकर शेष धन का विभाजन हो सकता था। ऐसा ही आपस्तम्ब० (२।६।१४।१) एव बौधायन० (२।२।२-५) ने तैत्तिरीय सहिता (२।२।२।७) को समझा है।[52] मनु (९।११४) के मत से ज्येष्ठ पुत्र को सम्पत्ति का सुन्दरतम रूप मिल सकता है, उसे श्रेष्ठ वस्तु मिल सकती है और दस पशुओ के दल का सर्वोत्तम भाग मिल सकता है। कौटिल्य (३।६) ने उशना का उल्लेख करके लिखा है कि एक ही माता के पुत्रो मे ब्राह्मणो मे ज्येष्ठ पुत्र को बकरियाँ, क्षत्रियो मे घोडे, वैश्यो मे गायें एव शूद्रो मे भेडें, विशिष्ट भाग के रूप मे प्राप्त होती है। यदि पशु न हो तो ज्येष्ठ पुत्र को बहुमूल्य रत्नो को छोडकर एक दशाश अधिक भाग मिलता है, क्योकि वह श्राद्धकर्म द्वारा पिता को नरक के बन्धनो से मुक्त करता है। स्वय कौटिल्य ने लिखा है कि ज्येष्ठ पुत्र को पिता की मृत्यु के पश्चात् उसके गहने एव यान मिलते

५१ जीवद्विभागे पिता नैक विशेषयेत्। न चैकमकारणान्निर्विभजेत्। अर्थशास्त्र (३।५, पृ० १६१), जीवद्विभागे तु पिता नैक पुत्र विशेषयेत्। निर्भाजयेन्न चैवैकमकस्मात्कारण विना॥ कात्या० (८४३, दायभाग १।८४, पृ० ५६, व्य० प्र० पृ० ४३९)।

५२ मनु पुत्रेभ्यो दाय व्यभजदिति श्रुति। समश सर्वेषामविशेषात्। वर वा रूपमुद्धरेज्ज्येष्ठ। तस्माज्ज्येष्ठ पुत्र धनेन निरवसाययन्तीति श्रुति। बौधा० (२।२।२-५)। स्मृतिच० (२, पृ० २६०) एव आप० ने 'निरवसाययन्ति' को 'तोषयन्ति' के अर्थ मे ग्रहण किया है। वि० र० (पृ० ४६७) ने इस प्रकार व्याख्या की है— ज्येष्ठ पुत्र धनेनोद्धरणलक्षणेन निरवसाययन्ति इतरपुत्रेभ्य पृथक् कुर्वन्ति।

को अकारण वञ्चित करना चाहिए। (३।५)।[51] यही बात कात्यायन (८४३) ने कही है। किन्तु यदि हम स्मृतियों के कुछ वचनों को (यथा याज्ञ० २।११६, नारद, दायभाग १५) शाब्दिक अर्थ मे लें तो प्रकट होता है कि प्राक्कालीन भारतीय पिता पैतृक सम्पत्ति को मनोनुकूल ढग से अपने पुत्रो मे वितरित करते थे। नारद (दायभाग, १५) का कथन है—जब पिता अपने पुत्रो मे सम्पत्ति बाँट देता है तो वह वैधानिक विभाजन है, अर्थात् हम उसे काट नही सकते, भले ही वह कम हो, बराबर हो या अधिक हो। बृहस्पति ने लिखा है कि यदि (पिता द्वारा) व्यवस्थित विभाजन परिवर्तित हो तो दण्ड मिलता है। आगे चलकर ये वचन या तो पुराने काल के लिए उचित ठहराये गये (व्यवहारमयूख पृ० ९९) या पिता की स्वार्जित सम्पत्ति मे सम्बन्धित माने गये (मिताक्षरा, याज्ञ० २।११४), या ऐसा समझा जाने लगा कि यदि पिता का विभाजन वैधानिक है तो वह तोड़ा नही जा सकता, किन्तु यदि वह अवैधानिक है तो परिवर्तित किया जा सकता है (मिता०—याज्ञ० २।११६, मदनरत्न, मदनपारिजात पृ० ६४६)। स्वय नारद (दायभाग, १६) ने लिखा है कि यदि पिता रोगग्रसित हो या क्रोध मे हो (अपने पुत्र या पुत्रो से) या विषयासक्त हो या शास्त्र विरुद्ध कार्य करता हो, तो उसको अपनी इच्छा से दायभाग विभाजित करने का कोई अधिकार नही है।

ज्येष्ठ पुत्र को प्राचीन काल से अब तक विशिष्टता मिलती रही है। यह विशिष्टता कई रूपो मे प्रकट होती रही है। कुछ मतो से ज्येष्ठ पुत्र को सम्पूर्ण सम्पत्ति मिल जाती थी। आप० (२।६।१४।६), मनु (९।१०५-१०७), नारद (दायभाग, ५) ने इस मत की ओर निर्देश किया है। मनु (९।१०५-१०७) ने लिखा है कि ज्येष्ठ पुत्र सम्पूर्ण पैतृक सम्पत्ति पा सकता है, किन्तु उन्होंने यह भी लिखा है कि अन्य पुत्र ऐसी स्थिति मे अपने ज्येष्ठ भाई पर अपनी जीविका आदि के लिए उसी प्रकार निर्भर हैं जिस प्रकार अपने पिता पर। मनु का कथन है कि ज्येष्ठ पुत्र जन्म के कारण पिता को पितृ-ऋण से मुक्त करता है अत वह पिता से सम्पूर्ण सम्पत्ति पाने की पात्रता रखता है (देखिए इस ग्रन्थ का भाग २, अध्याय ७)।

ज्येष्ठ पुत्र को कुछ अधिक सुविधाएँ भी दी जा सकती थी, उसे कुछ अत्यन्त सुन्दर एव बहुमूल्य पदार्थ देकर शेष धन का विभाजन हो सकता था। ऐसा ही आपस्तम्ब० (२।६।१४।१) एव बौधायन० (२।२।२-५) ने तैत्तिरीय सहिता (२।२।२।७) को समझा है।[52] मनु (९।११४) के मत से ज्येष्ठ पुत्र को सम्पत्ति का सुन्दरतम रूप मिल सकता है, उसे श्रेष्ठ वस्तु मिल सकती है और दस पशुओं के दल का सर्वोत्तम भाग मिल सकता है। कौटिल्य (३।६) ने उशना का उल्लेख करके लिखा है कि एक ही माता के पुत्रो मे ब्राह्मणो मे ज्येष्ठ पुत्र को बकरियाँ, क्षत्रियो मे घोड़े, वैश्यो मे गायें एव शूद्रो मे भेड़ें, विशिष्ट भाग के रूप मे प्राप्त होती हैं। यदि पशु न हो तो ज्येष्ठ पुत्र को बहुमूल्य रत्नो को छोड़कर एक दशाश अधिक भाग मिलता है, क्योंकि वह श्राद्धकर्म द्वारा पिता को नरक के बन्धनो से मुक्त करता है। स्वय कौटिल्य ने लिखा है कि ज्येष्ठ पुत्र को पिता की मृत्यु के पश्चात् उसके गहने एव यान मिलते

५१ जीवद्विभागे पिता नैकं विशेषयेत्। न चैकमकारणान्निर्विभजेत्। अर्थशास्त्र (३।५, पृ० १६१), जीवद्विभागे तु पिता नैकं पुत्रं विशेषयेत्। निर्भाजयेन्न चैवैकमकस्मात्कारणं विना॥ कात्या० (८४३, दायभाग १।८४, पृ० ५६, व्य० प्र० पृ० ४३९)।

५२ मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजदिति श्रुतिः। समशः सर्वेषामविशेषात्। वरं वा रूपमुद्धरेज्ज्येष्ठः। तस्माज्ज्येष्ठं पुत्रं धनेन निरवसाययन्तीति श्रुतिः। बौधा० (२।२।२-५)। स्मृतिच० (२, पृ० २६०) एव आप० ने 'निरवसाययन्ति' को 'तोषयन्ति' के अर्थ मे ग्रहण किया है। वि० र० (पृ० ४६७) ने इस प्रकार व्याख्या की है— ज्येष्ठं पुत्रं धनेनोद्धरणलक्षणेन निरवसाययन्ति इतरपुत्रेभ्यः पृथक् कुर्वन्ति।

सत्र आज नही किये जाते, किन्तु उनका किया जाना आज भी सम्भव है। मिताक्षरा (याज्ञ० २।११७) मे उपस्थापित तर्क, संक्षेप मे, निम्न है—शास्त्रो मे दी गयी (मनु ९।१०५, ११२, ११६, ११७, याज्ञ० २।११४) असमान विभाजन की विधि का उपयोग नही होना चाहिए, वह लोगो द्वारा गर्हित मानी गयी है, क्योकि याज्ञ० (१।१५६) मे आया है कि वह क्रिया जो शास्त्रविहित है, किन्तु जनता द्वारा गर्हित मानी जाती है, नही सम्पादित होनी चाहिए, क्योकि उससे स्वर्ग की प्राप्ति नही होती। उदाहरणार्थ, यद्यपि याज्ञ० (१।१०९) ने ब्राह्मण अतिथि के लिए एक बड़े बैल एव बकरे को काटने की व्यवस्था दी है, किन्तु आज ऐसा लोग नही करते, क्योकि लोग इसे गर्हित समझते हैं, या जिस प्रकार यह श्रुतिवाक्य है कि "मित्र एव वरुण के लिए अनुबन्ध्या (बाँझ गाय) काटी जानी चाहिए।" किन्तु आज यह नही किया जाता क्योकि लोग इसे बुरा मानते हैं। ऐसा कहा गया है—"जिस प्रकार नियोग-प्रथा एव अनुबन्ध्याहनन का आज प्रचलन नही है, उसी प्रकार ज्येष्ठ पुत्र को विशिष्ट अंश देने की मान्यता भी आज नही है।" और देखिए आपस्तम्ब० (२।६।१४।१-१४)। अत शास्त्रविहित असमान भाग-निर्णय आज सामान्य मनोभाव के विरुद्ध है। स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० २६६) मे आया है कि धारेश्वर ने भी मनु (९।११७) के वाक्य का विवेचन नही किया है, क्योकि उस समय तक उद्धार विभाग की विधि ही समाप्त हो चुकी थी।

स्मृतिचन्द्रिका ने विश्वरूप के इस कथन का कि "जिस प्रकार विद्वान् ब्राह्मण के लिए बैल एव बकरा काटना आज शिष्टो द्वारा उचित नही माना जाता, उसी प्रकार उद्धार (ज्येष्ठ पुत्र को विशिष्ट अंश देना) भी उचित नही माना जाता", खण्डन किया है। इसका कथन है कि जब स्मृति-वचनो एव शिष्टाचार मे विरोध खड़ा हो जाय तो अन्तिम को ही दुर्बल मानना चाहिए और प्रथम को मान्यता मिलनी चाहिए। बैल न देना शिष्टाचार नही कहा जा सकता, प्रत्युत यह शिष्टाचार के अभाव का द्योतक है। स्मृतिचन्द्रिका ने मिताक्षरा के इस कथन का भी खण्डन किया है कि लोग ज्येष्ठ पुत्र को विशिष्ट अंश देना गर्हित मानते हैं। इसका कथन है कि यदि विद्या, गुणो एव पवित्र कर्मों मे संयुक्त ज्येष्ठ पुत्र को विशिष्ट अंश दिया जाता है तो लोग इसे प्रशंसनीय समझते हैं। मदनरत्न ने "यथा नियोग आदि" एव आदि-पुराण का उद्धरण दिया है। व्यवहारप्रकाश (पृ० ४४२–४४३) ने सामान्यत मिताक्षरा का अनुसरण किया है, किन्तु यह कहकर विरोध भी किया है कि इस विषय मे कोई वास्तविक श्रुति-विरोध नही है। यदि ऐसी बात रही होती, और श्रुतिवचन सभी युगो के लिए घोषित है, तो असमान विभाजन सभी युगो मे वर्जित माना जायगा और यह निष्कर्ष निकलेगा कि वे श्रुतिवचन जो असमान विभाजन की बात करेंगे प्रामाणिक नही होंगे, क्योकि यह (असमान विभाजन) सभी युगो मे नही प्रयोजित होगा (किन्तु वास्तव मे ऐसा था)। इसके अतिरिक्त बौधायन ने एक अन्य श्रुतिवाक्य दिया है जिसने असमान विभाजन की चर्चा की है। व्यवहारप्रकाश ने इस बात की रक्षा करने के हेतु कि लोगो द्वारा जो गर्हित माना जाता है उसे नही करना चाहिए, व्यवस्था दी है कि याज्ञ० (१।१५६) के 'लोक' का अर्थ है 'युग', नही तो इस बात मे कि क्या शिष्टाचार है और किससे स्वर्ग-प्राप्ति नही होती, विरोध उत्पन्न हो जायगा। साधारण लोगो द्वारा, जो शास्त्रो की बातें नही जानते, वैसा कार्य नही किया जा सकता जिससे स्वर्ग-प्राप्ति नही होती, क्योकि ऐसे लोग अग्नि एव सोम के लिए की गयी पशु-हिंसा को गर्हित मान सकते हैं। इस विवेचन से प्रकट होता है कि श्रुतिवचन एव लोगो द्वारा प्रयुक्त मान्यताएँ क्रमश अप्रयुक्त हो गयी और साधारण लोगो के तर्क एव सामान्य ज्ञान श्रुतिवचन के विरोध मे पड़ गये। मिताक्षरा ने स्पष्ट कहा है कि लोगो द्वारा जो गर्हित माना जाता है उसे नही करना चाहिए, भले ही पहले वह मान्य रहा हो और उसके पीछे श्रुतियो एव स्मृतियो के वचन रहे हो। जो लोग सामाजिक विधियो एव लोगो के व्यवहारो मे परिवर्तन देखना चाहते हैं वे याज्ञवल्क्य एव मनु (४।१७६) के एकसमान वचनो तथा विष्णु-

धर्मसूत्र (७१।८५) एवं मिताक्षरा के प्रमाणों का सहारा लेते हैं।[54] मित्र मिश्र-जैसे कट्टर लेखक 'लोक' ऐसे सीधे शब्दों को भी तोड़ते-मरोड़ते हैं क्योंकि वे यह मानने को समझ नहीं हैं कि साधारण लोग (शिष्ट लोगों द्वारा मान्य) शास्त्र-वचनों के विरोध में जाने के योग्य हो सकते हैं। सरल ढंग से यह कहने के स्थान पर कि प्राचीन मान्यताएँ एवं व्यवहार आगे चलकर सामान्य जनता द्वारा असमर्थित हुए, मित्र मिश्र-जैसे लेखक कहते हैं कि इन बातों में सामान्य लोगों की बातें नहीं सुनी जानी चाहिए। वे यह भी कहते हैं कि प्रत्येक युग की अपनी विशेषताएँ होती हैं, किन्तु सामान्य जनता को किसी एक युग के लिए स्मृतियों द्वारा निर्धारित व्यवहारों को परिवर्तित करने का कोई अधिकार नहीं है। ऐसा कहना केवल वाग्जाल या बालक भाव है कि चीज न काटना शिष्टाचार नहीं है, प्रत्युत यह शिष्टाचार का अभाव है। जो बात स्पष्ट है वह यह है कि सामान्य जनता विवाह एवं यज्ञों में गोवध को गर्हित मानती थी और आगे चलकर पुराणों एवं स्मृतियों के लेखकों ने इसे मान लिया और कलिवर्ज्य में ऐसे व्यवहारों को जो श्रुतियों द्वारा आमान्य एवं विहित थे वर्जित कर दिया, अर्थात् सामान्य जनता का स्वर एवं उसका विद्रोह शुष्क वेद के शब्दों के ऊपर उठ गया।

यद्यपि ज्येष्ठ पुत्र को अधिक भाग या सम्पूर्ण सम्पत्ति देना आगे चलकर सामान्यतः बन्द हो गया, किन्तु इसके चिह्न आज तक भी देखने में आते हैं। आजकल भी कुछ ऐसी रियासतें, जमींदारियाँ या राज्य रहे हैं जहाँ केवल एक उत्तराधिकारी को सम्पूर्ण सम्पत्ति मिल जाती रही है। कहीं-कहीं रूढ़ियों के अनुसार कुछ अविभाज्य रियासतें रही हैं, यथा—देशमुख एवं देशपाण्डे नामक वतन। कहीं-कहीं परम्पराओं के आधार पर अधिक भाग (ज्येष्ठांश या मोठप) भी विभाजन के समय दिये जाते रहे हैं।

विभाजन-सम्बन्धी भाग-निर्णय के लिए निम्नलिखित व्यवस्थाएँ अवलोकनीय हैं—(१) जब पिता एवं पुत्रों में विभाजन होता है तो प्रत्येक को पिता के समान ही भाग मिलता है। (२) जब भाइयों में विभाजन होता है तो प्रत्येक को बराबर-बराबर मिलता है। (३) किसी व्यक्ति के मृत होने पर उसके पुत्र को रिक्थाधिकार प्राप्त हो जाता है। (४) जब विभाजन ऐसे सदस्यों में होता है जो चाचा या भतीजे हैं या चचेरे भाई हैं तो यह शाखाओं के अनुसार होता है, किन्तु एक ही शाखा के सदस्यों में सम्पत्ति के अनुसार होता है। यह नियम स्पष्ट रूप से कौटिल्य (३।५) याज्ञ (२।१२) बृहस्पति एवं कात्यायन (८५५-८५६) में व्यक्त है। अन्तिम नियम की व्याख्या आवश्यक है। याज्ञ (२।१२) का कथन है—"उन लोगों के बारे में जो विभिन्न पिताओं के द्वारा अधिकारी होते हैं, भाग-निर्णय पिताओं के अनुसार होता है।" कात्यायन का कथन है—"जब कोई अविभाजित भाई मर जाता है तो ज्येष्ठ या किसी अन्य भाई को चाहिए कि वे उसके पुत्र को पैतृक सम्पत्ति का भागी बनायें (किन्तु यह तभी होगा जब उसे पितामह से कोई रिक्थाधिकार न प्राप्त हुआ हो)। उसे उसके चाचा या चचेरे भाई द्वारा उतना भाग मिलना चाहिए जितना उसके पिता को (जीवित रहते) मिलता। प्रत्येक यथाभाग सभी भाइयों (जो मृत भाई के पुत्र हैं) के वैभाजिक भाग के समानुरूप ही होगा। या उसके पुत्र (मरते हुए भाई के पुत्र के पुत्र) को भी यह भाग मिलेगा। इसके बाद (अर्थात् मृत भाई के पौत्र के बाद) विभाजन की माँग की इतिश्री हो जाती है।" यह कहा गया है कि पैतृक सम्पत्ति (पितामह-द्रव्य) में पुत्रों एवं पौत्रों का जन्म से ही समान अधिकार है, किन्तु पौत्रों का भाग-निर्णय उनके पिताओं के द्वारा ही होता है, अर्थात् उन्हें व्यक्तिगत हैसियत से नहीं मिलता। इसे हम कुछ उदाहरणों से व्यक्त करते हैं।

५४ परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ। धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च॥ मनु (४।१७६); धर्मविरुद्धौ चार्थकामौ। लोकविद्विष्टं च धर्ममपि (परिहरेत्)। विष्णुधर्मसूत्र (७१।८४-८५); लोकद्विष्टे सति सुकर्म न कुर्यात्। धर्मस्वरूप अर्थशास्त्र (१।१५५)।

मान लीजिए क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ का एक सयुक्त परिवार है और क, ख, ग, घ विभाजन किये विना ही मर जाते हैं, ख का ङ नामक पुत्र, ग का च एव छ नामक पुत्र और घ के ज, झ एव ञ नामक पुत्र वच रहते हैं। यदि ङ, च, छ, ज, झ, ञ विभाजन की माँग करें तो इन छ व्यक्तियों मे प्रत्येक को छठा भाग नही मिलेगा, वल्कि विभाजन उनके पिताओं द्वारा होगा, अर्थात् ङ को जो ख का अकेला पुत्र है, एक-तिहाई भाग मिलेगा, च एव छ (जो ग के पुत्र है) को एक-तिहाई (अर्थात् प्रत्येक को एक छठा भाग) मिलेगा और ज, झ एव ञ को एक-तिहाई (अर्थात् प्रत्येक को एक-नवाँ भाग) मिलेगा। यही वात तव भी होगी जव क, ख, ग मर जायँगे और घ तथा ङ, च, छ, ज, झ एव ञ वच रहेंगे। तव घ को, जो ङ, च, छ का चाचा है, अपने पुत्रो ज, झ एव ञ के साथ केवल एक-तिहाई ही मिलेगा।

एक अन्य उदाहरण लीजिए—
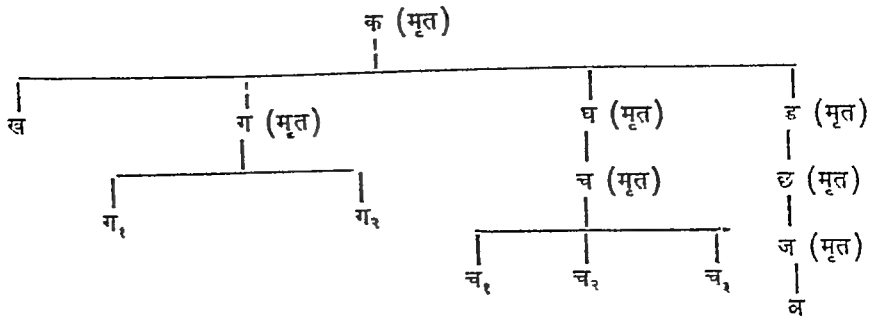
मान लीजिए एक सयुक्त परिवार का स्वामी क मर जाता है और उसका पुत्र ख, दो पौत्र ग१ एव ग२, तीन पौत्र च१, च२ एव च३ तथा एक प्रपौत्र ञ वच रहते हैं। यहाँ ञ कोई दायाश नही माँग सकता, क्योंकि वह अपने एक-समान पूर्वज क से, जो मृत हो चुका है, चौथी पीढी के वाद का है। अत सयुक्त सम्पत्ति तीन भागो मे वँटेगी, ख को एक-तिहाई मिलेगा, ग१ एव ग२ को मिलकर एक-तिहाई मिलेगा और च१, च२ एव च३ को मिलकर एक-तिहाई मिलेगा।

एक उदाहरण और देखिए—
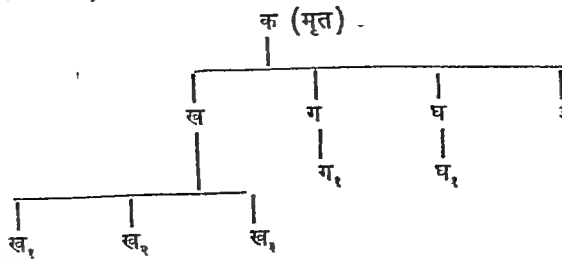
मान लीजिए एक सयुक्त परिवार का स्वामी क मर जाता है और उसके पीछे ख, ग, घ एव ङ नामक चार पुत्र, ख१, ख२ एव ख३ तथा ग१ एव घ१ नामक पाँच पौत्र वच रहते हैं। और मान लीजिए कि आगे चलकर ख मर जाता

के आधार पर ही भागानुसार उसका विभाजन होता है। ऐसी स्थिति में पुनर्विभाजन नहीं होता, प्रत्युत एक दूसरा विभाजन होता है (मनु ९।२१८, याज्ञ० २।१२६, कौटिल्य ३।५ एवं कात्या० ८८५-८६)। कात्यायन का कथन है—"यदि संयुक्त धन गुप्त रह गया हो, किन्तु कालान्तर में उसका पता चल जाय तो पिता के न रहने पर भी पुत्र लोग उसे अपने बीच बराबर-बराबर बाँट ले सकते हैं।" भृगु कहते हैं—"जो कुछ एक दूसरे में (सहभागियों से) छिपा रह गया हो या जो कुछ अन्यायपूर्वक विभाजित हुआ हो तथा जो कुछ (ऋण आदि) फिर से बिना विभाजित हुए प्राप्त हो उसे बराबर-बराबर बाँट लेना चाहिए।"

ऐतरेय ब्राह्मण (६।७) में आया है—"जो किसी को अपना भाग पाने से वंचित करता है उसे वह (वंचित व्यक्ति) दण्ड देता है (नष्ट करता है)। यदि वह (वंचित होनेवाला) उसे नहीं दण्डित करता (नष्ट करता) तो वह उसके पुत्र या पौत्र को दण्डित करता है, किन्तु वह उसे दण्डित अवश्य करता है।"[५८] मनु (९।२१३) के मत से यदि ज्येष्ठ भ्राता लोभवश छोटे भाइयों को उनके भाग से वंचित करता है, तो उसे उनका विशिष्ट भाग नहीं मिलता और वह राजा द्वारा दण्डित होता है। इन कथनों से पता चलता है कि संयुक्त सम्पत्ति को छिपाना या किसी का भाग मारना गर्हित समझा गया है। किन्तु इस विषय में टीकाकारों एवं निबन्धकारों में मतैक्य नहीं है। जब कोई संयुक्त सम्पत्ति को विभाजन के समय छिपा लेता है तो यह दुष्कर्म है या नहीं? जो वह छिपाता है उसका कुछ भाग तो उसका है ही। दायभाग (१३।८) का कथन है कि यहाँ यह चोरी नहीं है, क्योंकि चोर तो जान-बूझकर दूसरे की सम्पत्ति अपनी बनाता है और यहाँ संयुक्त सदस्य संयुक्त सम्पत्ति का स्वामी नहीं है ऐसा नहीं कहा जा सकता। दायभाग (१३।११-१२) ने लिखा है कि विश्वरूप एवं जितेन्द्रिय का मत भी ऐसा ही है, यदि ऐसा कार्य चोरी कहा भी जाय तो यह पाप नहीं है, क्योंकि स्मृतियों ने आगे चलकर विभाजन कर देने की अनुमति दे ही दी है। विवादरत्नाकर (पृ० ५२६) के मत से हलायुध ने भी ऐसे कार्य को चोरी के समान पापमय नहीं माना है। किन्तु मिताक्षरा, अपरार्क (पृ० ७३२), व्यवहार-प्रकाश (पृ० ५५५) ने मनु (९।२१३) एवं ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार इसे चोरी के समान ही परिगणित किया है। और देखिए जैमिनि (६।३।२०), मिता० (याज्ञ० २।१२६), दायभाग (१३।१६, पृ० २२७-२२८), कात्यायन (८४०) एवं बृहस्पति (स्मृतिच०, पृ० २७३, वि० र० पृ० ४९८)।

विभाजन हुआ है या नहीं इस विषय में जानकारी के लिए याज्ञ० (२।१४९) ने बन्धु-बान्धवों, मामा तथा अन्य साक्षियों की गवाहियों, लेख-प्रमाण, पृथक् हुई भूमियों या घरों को प्रमाणों के रूप में माना है। नारद (दायभाग, ३६-४१) ने इनके अतिरिक्त पृथक्-पृथक् रूप से किये जाते हुए धार्मिक कृत्यों को भी प्रमाण माना है। ऋणों का आदान-प्रदान, पशु, भोजन, खेत, नौकर, भोजन-पात्र, आय-व्यय का ब्यौरा आदि भी प्रमाण है। केवल विभाजित व्यक्ति ही एक-दूसरे के साक्षी, प्रतिभू, ऋणदाता आदि हो सकते हैं। याज्ञ० (२।५२) ने भी कहा है कि भाइयों, पति-पत्नी, पिता-पुत्र के बीच, जब तक वे अविभाजित हैं, कोई भी एक-दूसरे का साक्षी, ऋण लेनेवाला या देनेवाला, प्रतिभू नहीं हो सकता। नारद (दायभाग ४१) एवं कात्यायन (८९३) का कथन है कि दस वर्षों के उपरान्त ही (संयुक्त परिवार से अलग होने पर) सदस्य-गण एक-दूसरे से, जहाँ तक संयुक्त सम्पत्ति का प्रश्न है, अलग समझे

५८ यो वै भागिनं भागान्नुदते चयते वैनं स यदि वैनं न चयतेऽथ पुत्रमथ पौत्रं चयते त्वेवैनमिति। ऐ० ब्रा० (६।७)। इसे मिता० (याज्ञ० २।१२६) एवं व्य० म० (पृ० १३१) ने गौतम का वचन माना है। परा० मा० (३ पृ० ५६६), स० विलास (पृ० ४३८) एवं व्य० प्र० (पृ० ५५५) ने इसे सम्यक् रूप से श्रुतिवचन माना है।

जायँगे। बृहस्पति का कथन है कि जहाँ साक्षी न हों और न लेख-प्रमाण हो वहाँ विभाजन के विषय में निष्कर्ष अनुमान से निकालना चाहिए।

पिता या पितामह की स्वार्जित सम्पत्ति के विषय में कुछ कहना आवश्यक है। मिताक्षरा के सिद्धान्त के अनुसार पुत्र का जन्मकाल से ही पिता की स्वार्जित सम्पत्ति पर अधिकार हो जाता है, किन्तु उसे यह अधिकार नहीं है कि वह पिता को अपना धन हटाने-बढ़ाने से रोके, किन्तु वह ऐसा करने के लिए पिता को अनुमति दे सकता है। पिता द्वारा अर्जित अचल सम्पत्ति एवं वस्तु बिना पुत्रों की सहमति के हटाये-बढ़ाये या दान नहीं किये जा सकते। जो जन्म ले चुके हैं, जो अभी नहीं जन्मे हैं या जो अभी माता के गर्भ में हैं वे सभी जीविका पा सकते हैं, अतः दान या विक्रय नहीं हो सकता। किन्तु ये बातें जिन्हें मिताक्षरा ने जो स्मृतियों से उद्धृत किया है, मिताक्षरा एवं दायभाग द्वारा केवल कम या अधिक उपदेशात्मक रूप में ही कही गयी हैं। यदि पिता बिना पुत्रों की सहमति के स्वार्जित सम्पत्ति का लेन-देन करता है तो वह स्मृति-विरुद्ध कहा जायगा, किन्तु वैसा करना अवैधानिक नहीं है, क्योंकि कोई तथ्य वैसे वचनों से परिवर्तित नहीं किया जा सकता। ऐसी बात नहीं है कि सर्वप्रथम मिताक्षरा ने ही स्वार्जित धन के इस अधिकार की घोषणा की है। शताब्दियों पूर्व विष्णुधर्मसूत्र (१७।१) ने ऐसा कहा था कि पिता स्वार्जित धन को इच्छानुसार बाँट सकता है। कात्यायन (८४९) ने कहा है कि पुत्र का पिता के स्वार्जित धन पर स्वामित्व नहीं है। जब याज्ञ० (२। ११४) पिता को ज्येष्ठ पुत्र के लिए विशिष्ट भाग या पुत्रों में समान भाग देने की अनुमति देते हैं तो इसको मिताक्षरा ने केवल पिता की स्वार्जित सम्पत्ति से ही सम्बन्धित माना है। और देखिए नारद (दायभाग १२) तथा शङ्ख-लिखित। जब मनु (९।१ ४) ऐसा कहते हैं कि पुत्रों को माता-पिता के रहते सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं है तो इसका संकेत पिता-माता की स्वार्जित सम्पत्ति की ओर है।

श्री किशोरीलाल सरकार ने टैगोर व्याख्यान-माला में ऐसा कहा है कि मिताक्षरा पर बौद्ध प्रभाव है। किन्तु उन्होंने अपनी इस उक्ति के लिए कोई समर्थ प्रमाण नहीं दिया है। उनके तर्क सर्वथा असम्मत हैं और किसी प्राचीन या मध्यकालिक स्मृति-वचन पर आधारित नहीं हैं। ऐसा लगता है कि पुत्र का विभाजन-सम्बन्धी अधिकार, उसकी पिता के साथ समानता, व्यक्ति का स्वार्जित धन पर पूर्ण अधिकार आदि मान्यताएँ क्रमशः विकसित होती आयी हैं और उनका बौद्ध विचार से कोई सम्बन्ध नहीं है। ब्राह्मण ग्रन्थों के अतिरिक्त बौद्धों के पास कोई व्यवहार-सम्बन्धी स्वतन्त्र विचार नहीं थे। मध्यकाल में बरमा-जैसे बौद्ध देशों के समक्ष मनु के ही व्यवहार, नियम आदि उदाहरण-स्वरूप थे। इस विषय में हमने इस अध्याय के आरम्भ में ही विवेचन कर दिया है।

विभिन्न प्रकार के पुत्र : मुख्य एवं गौण पुत्र

इस ग्रन्थ के भाग २, अध्याय ९ में हमने ऋग्वेद, तैत्तिरीय संहिता, शतपथब्राह्मण, ऐतरेय ब्राह्मण, सूत्रों एवं स्मृतियों की उन उक्तियों का विवेचन कर दिया है जो पुत्रोत्पत्ति के आध्यात्मिक पहलू एवं कल्याण पर प्रकाश डालती हैं। ऐतरेय ब्राह्मण (३३।१) में पुत्रोत्पत्ति से साध्य प्रमुख उपयोगों पर प्रकाश डाला गया है, यथा—पितृ-ऋण से मुक्ति, अमृतत्व की प्राप्ति एवं दिव्य लोकों की प्राप्ति। अति प्राचीन काल से इन्हीं प्रमुख उपयोगों के लिए पुत्र की कामना की जाती थी। मनु (९।१ ६ १ ७) एवं याज्ञ० (१।७८) ने भी इन वस्त्वाध्यात्म उपयोगों की चर्चा की है। पुत्रोत्पत्ति की इच्छा का तात्पर्य था कुल को आगे ले जाना और उसे अविच्छेद्य बनाना ('वंशस्य अविच्छेद', मिताक्षरा की उक्ति) एवं धार्मिक संस्कार विधियाँ एवं अग्निहोत्र आदि करते जाना एवं उनकी रक्षा करना। प्राचीन समाज में, अधिकांशतः सभी स्थलों में यह इच्छा बलवती रही है। शतपथब्राह्मण (१२।४।३।१) का कथन है—"पिता आगे चलकर (वृद्धावस्था में) पुत्र पर निर्भर रहता है और पुत्र आरम्भिक जीवन में पिता पर।" निरुक्त (३।४) में एक

ऋग्वेदीय वचन उद्धृत किया है—"तू सभी अंगों से जन्मा है, (पिता के) हृदय से, तू किसी का पुत्रसनक अपना आत्मा है, तू सैकड़ों शरदों (अर्थात् वर्षों तक) जीवित रह।"[५९] क्रमश भावना उठी (सम्भवत व्युत्पत्तिकारों द्वारा) कि पुत्र 'पुत्' नामक नरक से पिता को बचाता है, जैसा कि मनु (९।१३८=आदिपर्व २२९।१४=विष्णु १५।४४) ने कहा है।[६०] प्राचीन ग्रन्थों में पुत्र का पितृ-श्राद्ध से सम्बन्धित पिण्डदान के साथ कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं ज्ञात होता। उन ग्रन्थों में इसकी महत्ता की विशेष चर्चा नहीं है। किन्तु सूत्रों एवं मनु आदि स्मृतियों में पिण्डदान से उत्पन्न उपयोगिता की ओर विशेष रूप से संकेत मिलता है। मनु (९।१३६) ने पुत्रिकापुत्र के विषय में लिखते हुए घोषित किया है—"उसे (अपने मातामह को) पिण्ड देना चाहिए और उसकी सम्पत्ति लेनी चाहिए। पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र पितरों को पिण्ड देते हैं अत उन्हें अत्यधिक प्रशंसा मिलती है।" मनु (९।१३६) ने कहा है—"पुत्र (के जन्म) से मनुष्य उच्च लोकों की प्राप्ति करता है, पौत्रों द्वारा (उन लोकों में) अनन्तता (अमरता) प्राप्त करता है, पुत्र के पौत्रों से सूर्यलोक को विजय करता है।"[६१] विष्णुधर्मसूत्र (८५।६७) ने घोषित किया है—"मनुष्य को (इस विचार) से बहुत-से पुत्रों की कामना करनी चाहिए कि उनमें से कोई गया जायगा या अश्वमेध करेगा या (अपने पिता के सम्मान में) काला बैल छोड़ेगा।"[६२] बृहस्पति (परा० मा० १।२, पृ० ३०५) का कथन है—"नरक में गिरने के भय से पितर लोग पुत्रों की कामना करते हैं, (वे सोचते हैं कि) उनमें कोई गया जा गा, उनमें कोई उन्हें बचायेगा, कोई बैल छोड़ेगा, कोई यज्ञों को सम्पादित करेगा, जन-कल्याण के कार्य (यथा तालाब, मन्दिर, वाटिका) करेगा, बुढ़ौती में उनकी सहायता करेगा और अनुदिन श्राद्ध करेगा।" मत्स्यपुराण (२०४।३–१७) में पितृगाथा नामक पद्य आये हैं जिनमें मृत पूर्वजों की इच्छाएँ व्यक्त हैं, यथा—उनके वंशज पवित्र जलों में तर्पण करेंगे, श्राद्ध-कर्म में लीन होंगे, गया जायेंगे, भाँति-भाँति के दान करेंगे, यथा—तालाब, मन्दिर आदि का निर्माण आदि।

उपर्युक्त विवेचनों से ऐसा नहीं समझना चाहिए की पुत्र की कांक्षा के भीतर शुद्ध लौकिक कल्याण की भावनाएँ नहीं थीं। लोगों में ऐसी भावनाएँ थीं, किन्तु वे पुत्रों से उत्पन्न आध्यात्मिक एवं धार्मिक कल्याणों से सम्बन्धित अतिशय विचारों की बाढ़ में डूब-सी गयी थीं। उदाहरणार्थ, बृहदारण्यकोपनिषद् (१।५।१६) ने मनुष्यों, पितरों एवं देवों के लोकों की चर्चा के उपरान्त घोषित किया है कि मनुष्यों के लोक पर पुत्र द्वारा ही विजय प्राप्त होती है (१।५।१७ में पुत्र की स्तुति की गयी है और उसे उपदेश दिया गया है कि वह ब्रह्म है, यज्ञ है और है दैवी लोक)। नारद (४।५)

५९ तदेतदृक्श्लोकाभ्यामभ्युक्तम्। अङ्गादङ्गात् संभवसि हृदयादधि जायसे। आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरद शतम्॥ निरुक्त (४।३)।

६० बौधायनगृह्यपरिभाषा (१।२।५) में उद्धृत है—"पुदिति नरकस्याख्या दुःखं च नरक विदु। पुदि त्राणात्तत पुत्रमिहेच्छन्ति परत्र च॥" शंख-लिखित (वि० र० पृ० ५५५) का कहना है—आत्मा पुत्र इति प्रोक्त पितुर्मातुरनुग्रहात्। पुन्नाम्नस्त्रायते यस्मात्पुत्रस्तेनासि संज्ञित॥

६१ पुत्रेण लोकाञ्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते। अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम्॥ मनु (९।१३७)। यह वसिष्ठ० (१७।५) एवं बौधायन० (२।९।७), विष्णु० (१५।४६) में भी पाया जाता है।

६२ एष्टव्या बहव पुत्रा यद्येकोपि गया व्रजेत्। यजेत वाश्वमेधेन नील वा वृषमुत्सृजेत्॥ विष्णु० (८५।६७=मत्स्यपुराण २२।६=वायुपुराण १५०।१०=ब्रह्मपुराण २२०।३२-३३। मिलाइए अत्रिस्मृति (५५), काङ्क्षन्ति पितर पुत्रान्नरकापातभीरव। गया यास्यति य कश्चित्सोस्मान्सन्तारयिष्यति॥ करिष्यति वृषोत्सर्गमिष्टापूर्तं तथैव च। पालयिष्यति वृद्धत्वे श्राद्ध दास्यति चान्वहम्॥ बृहस्पति (परा० मा० १।२, पृ० ३०५)।

का कथन है—"पितृ गण हृदय में विचार करके अपने लिए ही पुत्रों की अभिलाषा करते हैं कि यह पुत्र हमें (धर्म एवं पितृ-) ऋणों से स्वतन्त्र करेगा।" कात्यायन (५५१) में भी ऐसा ही कहा है।[५३]

अधिकांश प्राचीन स्मृतिकारों ने औरस पुत्र के अतिरिक्त ११ या १२ गौण पुत्रों का उल्लेख किया है। आपस्तम्ब ने औरस के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार के पुत्र को मान्यता नहीं दी है। आपस्तम्ब ने एक प्राचीन ऋषि औपजङ्घनि के वचन को उद्धृत कर कहा है कि पहले भी केवल औरस को ही मान्यता दी गयी थी (बौधायन ने भी इस ऋषि का उल्लेख किया है)। आपस्तम्ब (२।५।१३।११) ने बलपूर्वक कहा है कि पुत्र का वास्तविक दान या क्रय नहीं हो सकता (दानं क्रयधर्मश्चापत्यस्य न विद्यते)। किन्तु आपस्तम्ब को क्षेत्रज पुत्रों के विषय में जानकारी थी और उन्होंने इस पर बल दिया है। एक स्थान पर आपस्तम्ब (२।६।१३।१-५) में आया है—"जो पुत्र ऐसे व्यक्ति द्वारा उत्पन्न हैं जो उचित ऋतु में अपनी ही जाति की स्त्री के पास जाता है (जो दूसरे की पत्नी नहीं है) जिससे शास्त्रविहित विवाह हुआ है, वे अपनी जाति के कर्मों को करते हैं और रिक्थाधिकार पाते हैं। यदि कोई व्यक्ति ऐसी स्त्री से सम्भोग करता है जिसका विवाह दूसरे से पहले हो चुका है या जिससे शास्त्रानुकूल विवाह नहीं हुआ है या जो दूसरी जाति की है, तो दोनों पाप करते हैं और उनसे उत्पन्न पुत्र भी दोषी हो जाता है।"[५४] आगे आपस्तम्ब (२।१०।२७।२-६) ने नियोग की निन्दा की है—"पति (या उसके गोत्र लोगों) को सगोत्र पत्नी दूसरे (जो सगोत्र नहीं है) के लिए नहीं देनी चाहिए, क्योंकि ऐसा घोषित है कि वधू कुल को दी जाती है (पति के कुल को न कि केवल पति को)। किन्तु मनुष्य की इन्द्रिय-दुर्बलता के कारण ऐसा व्यवहार करना अब वर्जित है। सगोत्र का हाथ भी (कानून के अनुसार) दूसरे का कहा जाता है, यहाँ तक कि (पति के अतिरिक्त) किसी दूसरे व्यक्ति का (हाथ) भी वैसा ही है। यदि विवाह-बन्धन का व्यतिक्रम हो तो दोनों नरक में पड़ते हैं।"

गौतम (२८।३०-३१) बौधा. (२।२।१४-३०) वसिष्ठ (१७।१२-३८) अर्थशास्त्र (३।७) शंख-लिखित (व्य. र. पृ. ५४०) हारीत (व्य. र. ५४९) मनु (९।१५८-१६) याज्ञ. (२।१२८-१३२) नारद (दत्तकमीमांसा ४५, ४६) कात्या. (व्य. मि. पृ. ७१४-७१५) बृहस्पति देवल (हरदत्त गौ. २८।१२ दायभाग १०।८-९ १४० व्य. र. पृ. ५५) विष्णु (१५।१-३) महाभारत (आदिपर्व १२०।३१-३४) ब्रह्मपुराण (अपरार्क पृ. ७३७) यम (व्य. र. पृ. १५०) ने विभिन्न प्रकार के पुत्रों की तालिका विभिन्न अनुक्रमों एवं विभिन्न नामों के साथ दी है। मनुस्मृति के आधार पर निम्न लिखित तालिका पुत्रों की संख्या, कोटि एवं महत्ता पर प्रकाश डालती है।[५५]

५३. इच्छन्ति पितरः पुत्रान् स्वार्थहेतोर्यतस्ततः। उत्तमर्णाधमर्णेभ्यो मामयं मोचयिष्यति॥ नारद (ऋणादान, ५)। और देखिए शान्तिपर्व (१७३।५४) विवाहसमन्वय (कमलाकर)। पितृणां ऋणनिर्मोचनार्थं पुत्रं... विमोचनार्थं पितरः पुत्रम्॥ कात्या. (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ. १९८; व्य. मा. पृ. २११)।

५४. सवर्णापूर्वशास्त्रविहितायां यथर्तु गच्छतः पुत्रास्तेषां कर्मभिः सम्बन्धः। दायेन... पूर्ववत्यामसंस्कृतायां वर्णान्तरे च मैथुने दोषः। तत्रापि दोषवान्पुत्र एव। आप. ध. सू. (२।६।१३।१-४); ...न परेभ्यः समाचक्षीत। कुलाय हि स्त्री प्रदीयत इत्युपदिशन्ति। तदिन्द्रियदौर्बल्याद्विप्रतिपन्नम्। अविशिष्टं हि परत्वं पाणेः। तद्व्यतिक्रमे खलु पुनरुभयोर्नरकः। आप. ध. सू. (२।१०।२७।२-६)।

५५. आदिपर्व (१२०।३३) में औरस को स्वयंजात कहा गया है। सम्भवतः आदिपर्व में आये हुए प्रणीत, परिक्रीत एवं पौनर्भवपुत्र क्रम से पुत्रिकापुत्र, क्षेत्रज एवं गूढज हैं। स्वयंजातः प्रणीतश्च परिक्रीतश्च यः सुतः। पौन-

पुत्रों के प्रकार (मनु के अनुसार)	गौतम	बौधायन	वसिष्ठ	कौटिल्य	हारीत	शंख-लिखित	याज्ञवल्क्य	नारद	बृहस्पति	देवल	विष्णु	आदिपर्व	यम	ब्रह्मपुराण
१ औरस	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
२ पुत्रिकापुत्र	१०	२	२	३	५	३	२	३	२	२	३	२	३	२
३ क्षेत्रज	२	३	३	२	२	२	३	२	३	३	२	३	२	३
४ दत्त	३	४	०	८	७	९	७	९	४	९	८	७	०	८
५ कृत्रिम	४	५	११				५	११	७	१२	१२	०	१०	६
६ गूढोत्पन्न	५	६	४	६	६	६	४	६	१२	५	६	६	६	९
७ अपविद्ध	६	७	५	११	०	७	१२	४	५	६	११		७	८
८ कानीन	७	८	६	९	४	५	५	४	१०	४	२	५	५	१०
९ सहोढ	४	९	७	७	१०	४	११	५	१२	७	७	११	४	११
१० क्रीत	१२	१०	१२	९	४	१०	४	१०	६	१२	०	४	११	७
११ पौनर्भव	९	१२	४	४	३	४	६	७	९	४	४	४	४	१२
१२ स्वयंदत्त	११	१२	१०	१०	११	१२	१०	१२		१०	१०	१०	१२	५
१३ शौद्र		१३		१२		११			४			१२		१३

विष्णुधर्मसूत्र (१५।२७) ने 'यत्र क्वचनोत्पादित' (कहीं भी उत्पन्न किया गया) को बारहवाँ एवं अन्तिम पुत्र माना है। वैजयन्ती ने इसे दो प्रकार से समझाया है—(१) ऐसी स्त्री से उत्पन्न, जो उत्पन्न करनेवाले की अपनी हो या दूसरे की पत्नी हो—यह न पता चले, या अपनी जाति की हो या दूसरी जाति की हो, चाहे विवाहोपरान्त उसमें पुरुष-समागम हुआ हो या न हुआ हो, (२) ऐसी स्त्री का पुत्र जो शूद्रा हो और अविवाहित हो। अन्तिम अर्थ में भी वह शौद्र नहीं कहलायेगा। मनु (९।१७८) एवं याज्ञ० (१।९१) ने शौद्र को ब्राह्मण की शूद्रा पत्नी से उत्पन्न माना है। कतिपय लेखकों ने शौद्र को छोड़ दिया है, यथा पुराने लेखक गौतम, कौटिल्य एवं हारीत। हारीत ने 'सहसा दृष्ट' नामक एक पुत्र का नाम लिया है, जो सम्भवतः कृत्रिम है। मनु ने केवल १२ पुत्रों के नाम दिये हैं (९।१५८)। उन्होंने

र्भवश्च कानीनः स्वैरिण्या यश्च जायते॥ दत्तः क्रीतः कृत्रिमश्च उपगच्छेत् स्वयं च यः। सहोढो ज्ञातिरेताश्च हीनयोनि-धृतश्च यः॥ पूर्वपूर्वतमाभावं मत्वा लिप्सेत वै सुतम्। उत्तमाद्देवरात्पुंसः काङ्क्षन्ते पुत्रमापदि॥ आदिपर्व (१२०। ३३-३५)। हमारी समझ से ज्ञातिरेता शौद्र के समान सहोढ एवं हीनयोनिधृत का विशेषण है। यह अवलोकनीय है कि अनुशासनपर्व (४९।३-११) ने कुल मिलाकर बीस पुत्रों के नाम गिनाये हैं, और बहुतों के बारे में विलक्षण संज्ञाएँ दी गयी हैं, यथा—औरस (अनन्तरज), निरुक्तज (क्षेत्रज), प्रसृतज (अनियोगोत्पन्न), पतितायास्त्वभार्यायां जात और दत्त, क्रीत, अध्यूढ (सहोढ), अपध्वसज (अर्थात् अनुलोम), कानीन, अपसद (चाण्डाल, व्रात्य, वैद्य, मागध, वामक एवं सूत)। अनुशासनपर्व (४९।११) में आया है कि इन पुत्रों की पुत्र-स्थिति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उसका कहना है (४९।२०-२१) कि यदि कोई पुत्र अपने माता-पिता द्वारा त्याग दिया जाय और उसे कोई अन्य पाले तो वह पालने वाले का पुत्र कहा जायगा और कानीन एवं अध्यूढ (सहोढ) के संस्कार अपने पुत्र के समान ही किये जाते हैं।

साथ दे देते हैं और जो लेनेवाले की जाति का ही होता है। उसे कृत्रिम की संज्ञा मिली है जिसे कोई व्यक्ति अपना पुत्र बनाता है, ऐसे पुत्र की जाति बनाने वाले के समान ही होती है और वह अच्छे एवं बुरे की पहचान करने में दक्ष होता है तथा पुत्र की सभी विशिष्टताओं से युक्त होता है। उसे **गूढोत्पन्न या गूढज** (बौधायन एवं याज्ञवल्क्य के मत से) कहा जाता है, जो किसी के घर में जन्म लेता है, किन्तु उसके पिता (जन्मदाता) का पता नहीं होता, वह उसी का होता है जिसकी पत्नी से वह उत्पन्न होता है। उसे **अपविद्ध** कहते हैं जो अपने माता-पिता या उनमें से किसी एक द्वारा त्याग दिया गया है और जिसे कोई अपने पुत्र के समान ही ग्रहण करता है। **कानीन** पुत्र वह है जिसे अविवाहित (कुमारी) कन्या अपने पिता के घर में गुप्त रूप से जनती है, और जो उसका पुत्र हो जाता है जिसे वह आगे चलकर ब्याहती है। सहोढ (वधू अर्थात् दुलहिन के साथ प्राप्त) उस स्त्री का पुत्र है जो विवाह के समय गर्भवती रहती है, चाहे यह ज्ञान होनेवाले पति को ज्ञात हो या अज्ञात हो, यह पुत्र उसका पुत्र कहलाता है जो गर्भवती से विवाह करता है। **क्रीत** (खरीदा हुआ पुत्र) वह है जिसे पुत्र बनाने के लिए कोई उसके माता-पिता से खरीदता है, चाहे वह गुणों में समान हो या असमान। **पौनर्भव** (पुनर्विवाहित स्त्री का पुत्र) वह है जिसे अपने पति द्वारा छोड़े जाने या विधवा हो जाने पर कोई स्त्री स्वेच्छा से किसी अन्य व्यक्ति से विवाह करने के उपरान्त जनती है। **स्वयंदत्त** (अपने से दिया गया पुत्र) वह है जो अपने माता-पिता के नष्ट हो जाने पर या उनके द्वारा त्यक्त होने पर स्वयं अपने को किसी को दे देता है। वह पुत्र, जो किसी ब्राह्मण द्वारा विषयासक्त होने पर किसी शूद्रा पत्नी से उत्पन्न किया जाता है, **पारशव** (या शौद्र) कहलाता है, क्योंकि वह जीवित रहते भी शव के समान है।

ऊपर वर्णित बारह या तेरह प्रकार के पुत्रों की लम्बी सूची देखकर बहुत-से विद्वानों ने इतने पुत्रों की आवश्यकता एवं मूल के विषय में बहुत-से अनाप-सनाप एवं अयथार्थ सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। डॉ० जॉली का कथन है कि भारतीय कुल-व्यवहार में यह एक अत्यन्त अनोखी बात है कि बारह प्रकार के पुत्रों को मान्यता मिली है, जिनमें कुछ तो माता के अवैध संसर्ग के परिणाम हैं और पिता के रक्त-सम्बन्ध से उनका कोई नाता नहीं है। इसके कारण के मूल में है पुत्र-प्राप्ति के प्रति असामान्य महत्ता-प्रदर्शन, क्योंकि स्मृतियों ने पितृ-श्राद्ध को महत्ता दी है और वह भी पुत्र द्वारा सम्पादित होने पर, तथापि आरम्भ में इस महत्ता के प्रति आर्थिक पहलू ही एक बड़ा तत्त्व था, अर्थात् कुल के लिए, जहाँ तक सम्भव हो सके, अधिक-से-अधिक शक्तिशाली कार्यकर्ताओं की प्राप्ति की जा सके। विद्वान् लेखक के कहने का तात्पर्य तो यह हुआ कि मानो स्मृतियों ने सभी प्रकार के गौण पुत्रों को आध्यात्मिक कल्याण का माध्यम माना है, और मानो एक व्यक्ति सभी प्रकार के पुत्रों को या अधिकांश को पुत्र के समान अपने यहाँ रख छोड़ता है। डा० जाली दोनों बातों में त्रुटिपूर्ण हैं। **पुत्रिकापुत्र, क्षेत्रज एवं दत्तक** पुत्रों की परिभाषा से ही यह व्यक्त है, जैसा कि बहुत-सी स्मृतियों ने ऐसा कहा है,[६८] कि जिसे औरस पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र हो वह पुत्रिकापुत्र, क्षेत्रज पुत्र या दत्तक पुत्र नहीं रख सकता। यदि बारहों या तेरहों प्रकार के पुत्रों का भली-भाँति विश्लेषण किया जाय तो पता चलेगा कि प्राचीन लेखकों ने परिस्थितियों के बहुत कम अन्तर के आधार पर किये जानेवाले विभाजनों एवं उपविभाजनों के लिए ही यह लम्बी

६८ अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम्। मनु (९।१२७), पितोत्सृजेत्पुत्रिकामनपत्योऽग्निं प्रजापतिं चेष्ट्वास्मदर्थमपत्यमिति संवाद्य। गौतम (२८।१६), देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ् नियुक्तया। प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये॥ मनु (९।५९), अपुत्रेणैव कर्तव्यः पुत्रप्रतिनिधिः सदा। पिण्डोदकक्रियाहेतोर्यस्मात्तस्मात्प्रयत्नतः॥ अत्रि (५२, दत्तकमीमांसा पृ० ३ एवं दत्तकचन्द्रिका पृ० २)।

तालिका उपस्थित की। देवल के आधार पर बहुत से पुत्रों के प्रकार तीन या चार कोटियों में रखे जा सकते हैं।[69] दत्तक, क्रीत, कृत्रिम, स्वयंदत्त एवं अपविद्ध नामक पाँच पुत्र ऐसे हैं जो विभिन्न परिस्थितियों के अन्तर्गत सम्बद्ध होते हैं। इनमें कोई भी माता के अवैध संसर्ग का फल नहीं है। एक ही बात जो सब में पायी जाती है, वह यह है कि वे किसी व्यक्ति के पुत्र होते हैं और दूसरे द्वारा अपने पुत्र के रूप में ग्रहण किये जाते हैं। इसी प्रकार पौनर्भव एवं शौद्र व्यक्ति के ही वैधानिक पुत्र हैं किन्तु उनके साथ निन्दा की भावना लगी हुई है, क्योंकि प्रथम के विषय में माता ने पुनर्विवाह किया (जिसे स्मृतियों ने बहुत गर्हित माना है) और दूसरे में दूसरे व्यक्ति ने शूद्र नारी से विवाह किया (यह भी स्मृतियों द्वारा गर्हित माना गया है, किन्तु मना नहीं किया गया है, जैसा कि याज्ञ० १।५६ में कहा है)। मनु (३।१८१) ने द्विज के पौनर्भव पुत्र को द्विज ही कहा है किन्तु उसे श्राद्ध के समय आमन्त्रित किये जाने के अयोग्य ठहराया है। पुत्रिका (पुत्र के समान नियुक्त कन्या) व्यक्ति की अपनी पुत्री है और पुत्रिकापुत्र व्यक्ति का अपना पौत्र है। ये दोनों गोद लिये जाने के विशिष्ट उदाहरण हैं, और यहाँ माता के अवैधानिक संसर्ग की तो बात ही नहीं उठती। तो, तेरह प्रकार के पुत्रों में नौ पुत्र अवैधानिक संसर्ग से पूर्णतया अछूते हैं। अब चार बच रहते हैं—क्षेत्रज, गूढ़ोत्पन्न, कानीन एवं सहोढ। क्षेत्रज की अपनी विशिष्ट कोटि है और वह संसार भर के अधिकांश प्राचीन देशों के एक प्रचलित व्यवहार का अवशेष मात्र था जिसे ईसा की कई शताब्दियों पूर्व आपस्तम्ब एवं उनसे पूर्व के लेखकों ने गर्हित मान लिया था। किन्तु यह बात कही जा सकती है कि मध्यकाल के कुछ लेखकों ने दत्तक, क्रीत आदि पाँच पुत्रों में से बहुतों को औरस पुत्र के न रहने पर, किसी व्यक्ति द्वारा रखे जाने की व्यवस्था दी है। अनुशासनपर्व (४९।२०-२१) एवं नीलकण्ठ की टीका द्वारा यह अभिव्यक्त है कि स्मृतियों ने इस बात पर बल दिया था कि ऐसे पुत्रों के संस्कार अवश्य कर दिये जाने चाहिए, अन्यथा उन्हें उनके माता-पिता छोड़ देंगे या वे बेचारे अवैधानिकता के गहन गह्वर में पड़े रह जायँगे।

इन विभिन्न प्रकार के पुत्रों के स्थान एवं उनके अधिकारों के विषय में सूत्रों एवं स्मृतियों के वचनों में बड़ा मतभेद एवं भिन्नमतता पायी जाती है। गौतम ने, जो सम्भवतः सभी प्राचीन सूत्रकारों में सबसे प्राचीन हैं, पुत्रिकापुत्र को दसवाँ स्थान दिया है, बौधायन, कौटिल्य, याज्ञवल्क्य, बृहस्पति एवं देवल ने उसे दूसरा स्थान दिया है तथा वसिष्ठ, शंख-लिखित, नारद एवं विष्णु ने उसे तीसरा स्थान दिया है। मनु, गौतम, बौधायन, बृहस्पति एवं ब्रह्मपुराण के अतिरिक्त (जिन्होंने दत्तक को तीसरा या चौथा स्थान दिया है) अधिकांश लेखकों ने दत्तक को बहुत ही हीन स्थान दिया है। कुछ ग्रन्थों में बारहों प्रकार दो कोटियों में रखे गये हैं। गौतम (२८।३०-३१) के मत से औरस, क्षेत्रज, दत्त, कृत्रिम, गूढ़ोत्पन्न एवं अपविद्ध *रिक्थभाज* (*रिक्थाधिकार पानेवाले*) हैं और सगोत्र (*अपने पिता के गोत्र वाले*) कहे जाते हैं किन्तु अन्य छः प्रकार केवल गोत्र ग्रहण करते हैं अर्थात् गोत्रभाज होते हैं किन्तु सम्पत्ति नहीं पाते (रिक्थाधिकारी नहीं होते)। बौधायन (२।२।१४-१७) ने भी रिक्थभाज एवं गोत्रभाज शब्दों का व्यवहार किया है किन्तु गौतम से अन्तर दिखाकर पुत्रिकापुत्र को रिक्थभाजों के अन्तर्गत रखा है और उसे गोत्रभाजों से पृथक् कर दिया है।[70] दूसरा

६९. एते द्वादश पुत्रास्तु सन्तत्यर्थमुदाहृताः। आत्मजाः परजाश्चैव लब्धा यादृच्छिकास्तथा॥ देवल (दायभाग १।७, पृ० १६७; वि० र० पृ० ५५; हरदत्त, गौतम)। औरस, पुत्रिका, पौनर्भव एवं शौद्र 'आत्मज' कहे जायँगे, क्षेत्रज 'परज' कहा जायगा, दत्तक, कृत्रिम, क्रीत, स्वयंदत्त एवं अपविद्ध 'लब्ध' कहे जायँगे (और 'परज' भी) तथा गूढ़ज, कानीन एवं सहोढ 'यादृच्छिक' कहे जायँगे।

७०. पुत्रा औरसक्षेत्रजदत्तकृत्रिमगूढोत्पन्नापविद्धा रिक्थभाजः। कानीनसहोढपौनर्भवपुत्रिकापुत्रस्वयंदत्तक्रीता गोत्रभाजः। गौतम (२८।३०-३१)। एते गोत्रभाजो गोत्रेणैव केवलं भजन्ते न रिक्थम्। पूर्वे तु रिक्थभाजो

विभाजन (प्रत्येक मे छ) है—बन्धुदायाद या दायादबान्धव (मनु ९।१५८-१५९, नारद, दायभाग, ४७) एव अदायादबान्धव(मनु ९।१६०, वसिष्ठ १७।३८, नारद, दायभाग, ४७)। मनु के अनुसार पहले दल मे ये हैं—**औरस** (**पुत्रिका भी**), **क्षेत्रज**, **दत्त**, **कृत्रिम**, **गूढोत्पन्न** एव **अपविद्ध**। ये लोग बन्धुदायाद या दायादबान्धव इसलिए कहे जाते हैं कि ये अपने पिता एवं दायादो (सन्निकट के उत्तराधिकारियो के अभाव मे) की सम्पत्ति पाते हैं। दूसरे दल मे ये हैं (मनु ९।१६०)—**कानीन**, **सहोढ**, **क्रीत**, **पौनर्भव**, **स्वयदत्त** एव **शौद्र**। ये लोग केवल बान्धव हैं, अर्थात् ये अपने पिता का गोत्र ग्रहण करते हैं, किन्तु पिता के दायादो की सम्पत्ति नही पाते। स्पष्ट है, इस विषय मे भी स्मृतियो मे मतैक्य नही है। वसिष्ठ० (१७।५-२५), शख-लिखित (वि० र० पृ० २८७), नारद (दायभाग, ४७) एव हारीत ने प्रथम दल मे **औरस**, **क्षेत्रज**, **पुत्रिकापुत्र**, **पौनर्भव**, **कानीन** एव **गूढज** को रखा है और शेष दूसरे दल मे हैं। कौटिल्य का कथन है कि केवल **औरस** अपने पिता के दायादो का उत्तराधिकार प्राप्त करता है, और अन्य (जो पिता द्वारा उत्पन्न नही है) केवल पालने वाले पिता का उत्तराधिकार पाते है, दायादो का नही (अर्थशास्त्र ३।७)। गौतम (२८।३२) के मत मे **कानीन** तथा अन्य गोत्रभाज पुत्र (२८।३१) **औरस** तथा अन्य **रिक्थभाज** पुत्रो के अभाव मे पिता की सम्पत्ति का एक-चौथाई भाग पाते हैं और सम्पत्ति का शेषाश सपिण्ड लोग ले लेते हैं, किन्तु कौटिल्य, देवल एव कात्यायन (८५७) के मत मे **दत्तक**, **क्षेत्रज** तथा अन्य पुत्र यदि वे पिता की जाति के हैं तो औरस के उत्पन्न हो जाने से केवल एक-तिहाई का अधिकार पाते हैं, किन्तु यदि वे असमान वर्ण के है तो उन्हें केवल (औरस के उत्पन्न हो जाने के उपरान्त) भोजन-वस्त्र मिलता है। यदि पुत्रहीन व्यक्ति अपनी पुत्री को **पुत्रिका** बनाता है या अपने को क्लीव (नपुसक) समझकर क्षेत्रज या दत्तक पुत्र लेता है और आगे चलकर उसे औरस पुत्र प्राप्त हो जाता है, तो ऐसी स्थिति मे विभाजन की क्या गति होगी, इस विषय मे मतैक्य नही है। मनु (९।१६३) का कथन है कि केवल **औरस** को ही सम्पूर्ण पैतृक सम्पत्ति पाने का अधिकार है, अन्य प्रकार के पुत्रो को निर्दयता के दोष से बचने के लिए केवल भोजन-वस्त्र देना चाहिए। किन्तु उस स्थिति मे जब **पुत्रिका** के ग्रहण-उपरान्त **औरस** उत्पन्न हो जाता है तो मनु (९।१३४) ने व्यवस्था दी है कि दोनो को बराबर-बराबर मिलना चाहिए। मनु (९।१६४) ने औरस के लिए कहा है कि वह क्षेत्रज को पाँचवाँ या छठा भाग दे दे। विभिन्न प्रकार के पुत्रो के स्थान एव उनके भागो के विषय मे जो विरोधी एव सन्दिग्ध बातें पायी जाती हैं, उनसे एक अनुमान निकाला जा सकता है कि कई प्रकार के पुत्रो की सस्था या प्रथा बहुत प्रचलित नही थी और सामान्यत उसको मान्यता नही प्राप्त थी, यह केवल कुछ स्थानो एव जातियो मे प्रचलित थी और प्राचीन स्मृतियो के समय मे भी एक प्रकार से मृतप्राय थी।

गूढज, **कानीन** एव **सहोढ** के विषय मे यह कहा जा सकता है कि वे अवैधानिक ससर्ग के फल हैं, किन्तु किसी के द्वारा तो उनका पालन-पोषण होना ही चाहिए। किसी को तो उनकी जीविका के लिए प्रबन्ध करना चाहिए ही और

गोत्रभाजश्चौरसेन सहाभिधानात्। सर्वे चैते सजातीया। हरदत्त। रिक्थभाज का अर्थ यहाँ स्पष्ट नहीं है। क्या इसका अर्थ यह है कि 'वे अपने पिता एव बन्धुओ की सम्पत्ति ग्रहण करते हैं?' या इसका अर्थ यह है कि 'वे केवल अपने पिता की सम्पत्ति लेते हैं तथा औरों की नहीं?' देवल का मत है कि प्रथम अर्थ मे बन्धुदायाद की सम्पत्ति भी सम्मिलित है, 'तेषां षड् बन्धुदायादा पूर्वेऽन्ये पितुरेव षट्।' देवल (दायभाग १०।७ पृ० १४७)। मिताक्षरा (याज्ञ० २।१३२) एव दायभाग ने प्रथम अर्थ को ही लिया है—औरसादय षड् न केवल पितृदायहरा किन्तु बन्धूनामपि सपिण्डादीना दायहरा। अन्ये परभूता पितुरेव पर दायहरा न सपिण्डादीनाम्। दायभाग (१०।८, पृ० १४७)। स्वयजात पितृबन्धूना च दायाद। परजात सस्कर्तुरेव न बन्धूनाम्। अर्थशास्त्र (३।७)।

किसी का तो उनका अभिभावक होना ही पड़ेगा। जब स्मृतियाँ उन्हें उनकी माता के पति की सन्तति रूप में ग्रहण करती हैं तो यह स्पष्ट है कि उन्होंने उनके भरण-पोषण एवं रक्षण की व्यवस्था कर दी है। बृहस्पति का कथन है कि यदि दत्तक, अपविद्ध, क्रीत, कृत्रिम एवं शौद्र पुत्र जाति एवं शुद्ध कर्म के हैं तो वे मध्यम कहलाते हैं किन्तु क्षेत्रज, पौनर्भव, कानीन, सहोढ एवं गूढज सज्जनों द्वारा गर्हित माने जाते हैं।[71] कानीन कुमारी कन्या का पुत्र है, वह वहाँ तब तक अपनी कुमारी माता के पिता के यहाँ रहता है जब तक उसकी माता विवाहित न हो जाय (याज्ञ० २।१२९)। किन्तु जब कुमारी विवाहित हो जाती है तो वह उसके (माता के) पति के संरक्षण में चला जाता है (मनु ९।१७२)। इस बात से स्पष्ट है कि पुत्र वाली कुमारी से विवाह करने के लिए जो व्यक्ति सन्नद्ध होता है वह उसके पुराने दोषों को क्षमा कर देता है। इसी भाँति सहोढ के विषय में भी कहा जा सकता है कि या तो वह विवाह करने वाले से उत्पन्न हुआ है या उसके होने वाले पिता ने अपनी होनेवाली पत्नी के दोषों को क्षमा कर दिया है। इससे प्रकट होता है कि जब इस प्रकार के पति ने प्रकट रूप से कोई विरोध नहीं किया तो किसी को भी यह कहने का अधिकार नहीं है और न प्रमाण उपस्थित करने की आवश्यकता है कि कानीन या सहोढ पुत्र छोड़ दिया जाय। यह बात गूढज के विषय में भी प्रयुक्त है।

हमने इस ग्रन्थ के भाग २ के अध्याय ११ में देख लिया है कि यदि पत्नी व्यभिचार की दोषी है तो पति को उसे दण्ड देने के कुछ अधिकार प्राप्त हैं किन्तु यदि वह क्षमा कर दे तो स्मृतियाँ उसे यह नहीं आज्ञापित करतीं कि वह उसे त्याग दे। ये स्मृतियाँ यथा—गौतम, वसिष्ठ एवं नारद, जो स्त्रियों के व्यभिचारों के प्रति कठोर हैं, गूढज, कानीन एवं सहोढ को गौण पुत्र के रूप में ग्रहण करती हैं। इन दो प्रकार के मनोभावों को हम इसी रूप से सुलझा सकते हैं कि जब पति विवाह करके स्त्री के नैतिक दोषों को क्षमा कर देता है तो स्मृतियों ने भी अवैध संसर्ग से उत्पन्न पुत्रों के भरण-पोषण, रक्षण एवं उत्तराधिकार की व्यवस्था दे दी है। पौनर्भव, कानीन, सहोढ एवं गूढज के विषय में मध्य काल के टीकाकारों में भी मतभेद रहा है। मेधातिथि (मनु ९।१८१) ने उन्हें केवल भोजन-वस्त्र का अधिकारी माना है, किन्तु मिताक्षरा (याज्ञ० २।१३२) ने कानीन एवं अन्यों को औरस तथा अन्य पुत्रों के अभाव में पिता की सम्पत्ति का अधिकारी माना है। मिताक्षरा (याज्ञ० १।९०) का कथन है कि कानीन, सहोढ एवं गूढज व्यभिचार के फल होने के कारण अपनी माता के पति की जाति के नहीं कहे जा सकते वे सवर्ण पुत्रों यहाँ तक कि अनुलोम एवं प्रतिलोम पुत्रों से भी वास्तव में भिन्न हैं।

गौण पुत्रों से प्राप्त होनेवाले आध्यात्मिक फल के विषय में बहुत कुछ कहा जा सकता है। वैदिक एवं स्मृति साहित्य में पुत्र के विषय में जो स्तुति-गान है वह औरस पुत्र के ही लिए है। मनु (९।१८०) का कथन है कि औरस एवं पुत्रिका के अतिरिक्त जो क्षेत्रज आदि ग्यारह प्रकार के पुत्र हैं वे वास्तविक पुत्र के प्रतिनिधि मात्र हैं और धार्मिक कृत्यों को समाप्त न होने देने के लिए निराकरण-स्वरूप उनको मान्यता प्रदान हुई है। मनु (९।१८१) ने अन्तिम निष्कर्ष दिया है कि क्षेत्रज-जैसे पुत्र जो दूसरों के बीज से उत्पन्न हैं, वास्तव में उन्हीं के पुत्र हैं जिनके बीज से उनकी

७१. दत्तोऽपविद्धः क्रीतश्च कृतः शौद्रस्तथैव च। जातिशुद्धाः कर्मशुद्धा मध्यमास्ते सुता मताः॥ क्षेत्रजो गर्हितः सद्भिस्तथा पौनर्भवः सुतः। कानीनश्च सहोढश्च गूढोत्पन्नस्तथैव च॥ बृहस्पति (वि० र० पृ० ५५२)। हारीत (वि० र० पृ० ५५२) ने क्षेत्रज, पौनर्भव एवं कानीन को 'काण्डपृष्ठ' की संज्ञा दी है। कुण्डगोलकः पौनर्भवस्तथा ये चैते क्षेत्रजाश्च सर्वे ते ... पुत्राः काण्डपृष्ठा न संशयः॥ स्वकुलं पृष्ठतः कृत्वा यो वै परकुलं व्रजेत्। तेन दुश्चरितेनासौ काण्डपृष्ठो न संशयः॥ 'काण्डपृष्ठ' का शब्दार्थ है "जो अपनी पीठ पर वाणों को लेकर चलता है" (सम्भवतः यह ब्राह्मण जो आयुधजीवी है)।

उत्पत्ति हुई है, वे उनके पुत्र नही हैं जो उन्हें ग्रहण करते हैं। वृहस्पति ने लिखा है—"मनु ने क्रम से तेरह पुत्रो की गणना की है, किन्तु उनमे केवल **औरस** एव **पुत्रिका** ही कुल को चलाने के लिए समर्थ हैं। जिस प्रकार घी के अभाव मे यज्ञ के समय तेल को अच्छा कहा गया है उसी प्रकार औरस एव पुत्रिका के अभाव मे अन्य पुत्रो के ग्यारह प्रकारो को मान्यता मिली है (वे केवल प्रतिनिधि हैं न कि वास्तविक)।"[७२] यद्यपि याज्ञ० (२।१३२) ने घोषित किया है कि बारह पुत्रो मे प्रत्येक क्रमानुसार प्रत्येक पूर्ववर्ती के अभाव मे उत्तराधिकार पाता है, किन्तु पिण्डदान के कर्म मे इनकी योग्यता पृथक्-पृथक् होती है। इस विषय मे मनु (९।१६१) कोई सन्देह नही छोडते, "उस व्यक्ति को जो क्षेत्रज जैसे हीन पुत्रो के द्वारा नरकों के अधकार में बाहर जाना चाहता है, वैसे ही फल प्राप्त होते हैं जो उस व्यक्ति को मिलते है जो छेद वाली नौका से जल को पार करना चाहता है।" इसका तात्पर्य यह है कि **गौण** पुत्रो से वह आध्यात्मिक अथवा धार्मिक फल नही प्राप्त हो सकता जो **औरस** पुत्र से प्राप्त होता है। मेधातिथि (मन ९।१६६) एव दत्तकमीमासा ने इसे स्पष्ट कर दिया है।

औरस पुत्र द्वारा सबसे महत्वपूर्ण आध्यात्मिक लाभ होता है, **प्रतिनिधि** पुत्रो से बहुत कम प्राप्त होता है। विधवा पुत्रहीन पति का श्राद्ध कर सकती है, किन्तु वह **पार्वण** श्राद्ध नही कर सकती, अत उसका कर्म उतना लाभप्रद नहीं होता जितना कि पुत्र द्वारा सम्पादित। जैमिनि (६।३।१३-४१) ने प्रतिनिधि के विषय मे कई सूत्र दिये हैं। मुख्य निष्कर्ष यह है कि सामान्यत **देवता** (वेद द्वारा किसी यज्ञ मे पूजा के लिए निर्धारित देवता), **अग्नि** (आहवनीय तथा अन्य पूत अग्नियाँ), **मन्त्र** (जो किसी कर्म मे कहा जाता है), कुछ **क्रिया-सस्कार** जो किसी विशिष्ट यज्ञ मे किये जाते हैं (यथा दर्श पूर्णमास मे 'समिधो यजति' आदि) तथा **स्वामी** (याज्ञिक या यजमान) के लिए कोई अन्य **प्रतिनिधि** नही होता। शबर (जैमिनि ६।३।३५) ने स्पष्ट किया है कि वैदिक क्रिया **प्रतिनिधि** की नियुक्ति मे असम्पूर्ण हो जाती है और उसमे धार्मिक कृत्य का पूर्ण फल नही प्राप्त होता। सत्याषाढश्रौतसूत्र (३।१) का कथन है कि **याज्ञिक, पत्नी, पुत्र, स्थान (देश), काल** आदि का (वैदिक यज्ञ या कृत्य के लिए) कोई अन्य प्रतिनिधि नही हो सकता। अत स्पष्ट है कि अति प्राचीन लेखको द्वारा प्रस्तुत दृष्टिकोणो मे, जहाँ तक प्रतिनिधि पुत्रो द्वारा आध्यात्मिक फल-प्राप्ति का प्रश्न है, बहुत अन्तर पाया जाता है। मानव का ऐसा सहज स्वभाव है कि वह कठोर नियमो को सरल बनाने का प्रयत्न करता है, इसी से कालान्तर मे ऐसा सोचा जाने लगा कि गौण पुत्रो से भी आध्यात्मिक कल्याण प्राप्त किया जा सकता है, यद्यपि वह औरस पुत्र से उत्पन्न कल्याण के बराबर नही हो सकता। लगभग दो सहस्र वर्षो मे स्मृतियो ने **क्षेत्रज** एव अन्य पुत्रो को वर्जित कर रखा है। वृहस्पति का कथन है कि मनु ने सर्वप्रथम नियोग की विधि का वर्णन किया है, किन्तु आगे उसे गर्हित कह दिया है, क्योकि द्वापर एव कलियुग मे नियोग का व्यवहार असम्भव है, क्योकि मनुष्य के ज्ञान एव तप का ह्रास हो गया है (देखिए इस ग्रन्थ का भाग २ अध्याय १३)। शौनक (अपरार्क पृ० ७३९) ने कलियुग मे **औरस** एव **दत्तक** के अतिरिक्त अन्य पुत्रो को वर्जित ठहरा दिया है।

अब हम सभी पुत्रो के विषय मे सक्षेप मे कुछ टिप्पणियाँ उपस्थित करेंगे।

औरस—बौधा० (२।२।१४), मनु (९।१६६), वसिष्ठ (१७।१३), विष्णु० (१५।२), कौटिल्य (३।७) आदि ने उस पुत्र को **औरस** कहा है जो शास्त्र द्वारा व्यवस्थित नियमो के अनुसार विवाहित पत्नी से पति द्वारा उत्पन्न

७२ **पुत्रास्त्रयोदश प्रोक्ता मनुना येनुपूर्वशः। सन्तानकारण तेषामौरस पुत्रिका तथा॥ आज्य विना यथा तैल सद्भि प्रतिनिधि स्मृतम्। तथैकादश पुत्रास्तु पुत्रिकौरसयोर्विना॥ वृहस्पति** (अपरार्क, पृ० ७३३, व्य० नि० पृ० ४३९)।

नही हो पाती और अपने पिता के घर मे ही पडी कौमार दशा मे बूढी हो जाती हैं (देखिए ऋ० २।१७।७—'अमाजरिव पित्रो सचा सती' एव ऋ० ४।५।५)। अथर्ववेद (१।१७।१) मे आया है—"भ्रातृहीन बहिनो के समान वे श्रीहीन होकर रहें।" यास्क ने अर्थ किया है कि जिस प्रकार भ्रातृहीन कन्याएँ विवाहित होकर अपने पतियो के कुल के विकास मे बाधक होती हैं और (अपने पुत्रो द्वारा) पिण्डदान पर भी नियन्त्रण रखती हैं, उसी प्रकार ये रक्त-धमनियाँ आदि हैं। इसी प्रकार यास्क (निरुक्त ३।४) ने ऋग्वेद (३।३१।१) को उद्धृत किया है—"पति घोषित (प्रण) करता है कि पिता (पुत्री के पुत्र को) अपना पुत्र समझे।" निरुक्त (३।५) ने एक वैदिक वचन उद्धृत कर कहा है—भ्रातृहीन (कन्या) से विवाह नही करना चाहिए, क्योकि वह (अपने पिता की) पुत्र हो जाती है। भ्रातृहीन कुमारी स्पष्ट समझौते से पुत्र की भाँति नियुक्त की जा सकती है, किन्तु गौतम (२८।१७) के मत से एक सम्प्रदाय (जिसकी बात उन्हें स्वीकार नही है) का सिद्धान्त यह था कि भ्रातृहीन कन्या केवल पिता की इच्छा से ही पुत्रिका बन जाती है, अत उससे विवाह नही करना चाहिए, क्योकि (बिना स्पष्ट प्रतिज्ञा के भी) उसका पिता उसे अपनी पुत्रिका बनाने की इच्छा रख सकता है। मनु (३।११) ने भी इसी प्रकार सावधान किया है। याज्ञवल्क्य (१।५ अरोगिणी भ्रातृमतीम्) के समय तक भ्रातृहीन कन्या से विवाह न करने की बात चलती आयी थी, यद्यपि आधुनिक काल मे बहुत-से लोग ऐसी कन्या से विवाह करने को सनद्ध रहते हैं, यदि उसका पिता धनी हो। मनु (९।१४०) का कथन है कि पुत्रिकापुत्र जो तीन पिण्ड देता है वे क्रम से माता, मातामह एव प्रमातामह के लिए होते हैं।

अब मलाबार (केरल) के नम्बूद्री ब्राह्मणो को छोडकर कही भी किसी के द्वारा पुत्रिकापुत्र को मान्यता नही दी जाती। ऐसा लगता है कि स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० २८९) को, जो मद्रास का एक प्रामाणिक ग्रन्थ है, मलाबार मे पुत्रिकापुत्र के प्रचलन की बात नही ज्ञात थी।[७४]

क्षेत्रज—नियोग-प्रथा मे ही इस प्रकार के पुत्रत्व की उद्भूति हुई है। हमने नियोग-प्रथा के विषय मे विस्तार के साथ इस ग्रन्थ के भाग २ के अध्याय १३ मे लिख दिया है। एक बात की चर्चा वहाँ नहीं हुई है, और वह यह है कि ब्रह्मपुराण के कथन से प्रकट होता है कि क्षेत्रज पुत्रो का प्रचलन क्षत्रियो मे बहुत था, क्योकि उन्हें ऋषियो ने दुष्कृत्यो के कारण शापित किया था कि उन्हें पुत्र न हो, या वे युद्ध मे लगातार लगे रहते थे।[७५] बौधायन० (२।२।२१-२३) एव कौटिल्य (३।७) ने घोषित किया है कि क्षेत्रज दो पिताओ का पुत्र होता है, उसके दो गोत्र होते हैं, वह दोनो पिताओ को पिण्ड देता है (यदि उसके उपरान्त औरस पुत्र न उत्पन्न हो जाय तो), दोनो की सम्पत्ति लेता है, और प्रत्येक पिण्ड देते समय वह दो नामो से समन्वित करता है। यह जानने योग्य है कि मिताक्षरा (याज्ञ० २।१२७) ने क्षेत्रज को **द्व्यामुष्यायण** कहा है। मदनपारिजात (पृ० ६५१) ने भी क्षेत्रज एव द्व्यामुष्यायण को समानार्थक माना है। विवादताण्डव का कथन है कि द्व्यामुष्यायण एव अन्तर्जातीय विवाहो से उत्पन्न पुत्र कलियुग मे वर्जित हैं अत उनके भागो के नियमो का विवेचन हम नही करेंगे।[७६]

७४ अत एवास्माभिरसवर्णपुत्राणा दत्तकेतरेषा गौणपुत्राणा पुत्रिकायास्तत्सुतस्य च भागविषयो न निबध्यन्ते सम्प्रत्यननुष्ठीयमानत्वाद् वृथा च ग्रन्थविस्तरापत्ते। स्मृतिच० (२, पृ० २८९)।

७५ राज्ञा तु शापदग्धाना नित्य क्षयवतां तथा। अथ सग्रामशीलाना न कदाचिद् भवन्ति ते॥ औरसो यदि वा पुत्रस्त्वथवा पुत्रिकासुत। विद्यते न हि तेषां तु विज्ञेया क्षेत्रजादय॥ ब्रह्मपुराण (अपरार्क पृ० ७३७)।

७६ स एव द्विपिता द्विगोत्रश्च द्वयोरपि स्वधारिक्थभाग्भवति। अथाप्युदाहरन्ति। द्विपितु पिण्डदान स्यात् पिण्डे पिण्डे च नामनी। त्रयश्च पिण्डा षण्णा स्युरेव कुर्वंश्च मुह्यति॥ इति। बौ० ध० सूत्र (२।२।२१-२३),

दत्तक—इस पर आगे एक अध्याय में विवेचन होगा।

कृत्रिम (या कृत नारद-दायभाग ४६)—मनु (९।१६९) याज्ञवल्क्य (२।१३१) बौधायनधर्मसूत्र (२।२।२५) मिताक्षरा आदि के मत से कृत्रिम वह व्यक्ति (उसी की जाति का जो अपनाता है उसी की जाति का) है जिसके माता-पिता नहीं होते और जो सम्पत्ति के लालच में अपनी सहमति से पुत्र बनता है। यह दत्तक पुत्र से निम्न बातों में भिन्न होता है यह अपनी माता या पिता द्वारा नहीं दिया जाता उसकी सहमति आवश्यक है अर्थात् प्राचीन भारतीय व्यवहार (कानून) के अनुसार उसे बालिग होना चाहिए। ऐसा पुत्र आजकल केवल मिथिला (तिरहुत) एवं उसके पार्श्ववर्ती जनपदों में तथा मलाबार (केरल) के नम्बूद्री ब्राह्मणों में ही पाया जाता है।

गूढज—सम्भवतः ऋग्वेद (२।२९।१) के इस वचन में इसकी ओर संकेत है 'हे धृतव्रत (नैतिक व्यवहार बनानेवाले) एवं सतत प्रवहमान (क्रियाशील) आदित्य लोगो, मुझे पाप से उसी प्रकार दूर रखो, जिस प्रकार गुप्त रूप में बच्चा जननेवाली स्त्री (उसे दूर करती है)।

कानीन—यह नाम 'कन्या' शब्द से निकला है। पाणिनि (४।१।११६) ने इसे 'कुमारी के बच्चे' के अर्थ में प्रयुक्त किया है (कन्यायाः कनीन च) तथा वार्तिक ने इस विषय में कर्ण एवं व्यास को कानीन पुत्र कहा है। 'कानीन' शब्द अथर्ववेद (५।५।८) में आया है वाजसनेयी संहिता (३० ।६) में 'कुमारीपुत्र' आया है। नारद (दायभाग १७) के मत से कानीन सहोढ एवं गूढज उस व्यक्ति के पुत्र हैं जो उनकी माँ से विवाह करता है ऐसे पुत्र अपनी माता के पति की सम्पत्ति पाते हैं। पारिजात (वि० र० पृ० ५६५) का कथन है कि कानीन एवं सहोढ अपनी माता के पुत्रहीन पिता के पुत्र हो जाते हैं। किन्तु यदि उनकी माता के पिता पुत्रवान् हैं तो वे अपनी माता के पतियों के पुत्र हो जाते हैं किन्तु यदि दोनों पुत्रहीन हों तो वे दोनों के पुत्र हो जाते हैं।

क्रीत—वसिष्ठ (१७।३०-३२) का कथन है कि हरिश्चन्द्र ने शुन शेप को अजीगर्त से खरीदा इस तरह शुन शेप क्रीत पुत्र थे।

स्वयंदत्त—वसिष्ठ (१७।३३ ३५) का कथन है कि शुन शेप विश्वामित्र के स्वयंदत्त पुत्र हुए (ऐतरेय ब्राह्मण ३३।५)।

पौनर्भव—(किसी पुनर्भू का पुत्र)। देखिए इस विषय में इस ग्रन्थ का भाग २ अध्याय १४ जहाँ 'पुनर्भू' एवं विधवा-विवाह का विवेचन किया गया है।

जनयितुरसत्यन्यस्मिन्पुत्रे स एव द्विपितृको द्विगोत्रो वा द्वयोरपि स्वधारिक्थभाग्भवति—अर्थशास्त्र (३।७); द्व्यामुष्यायणस्य विजातीयानां च विभागे विशेषः [illegible]। मि० [illegible]।

अध्याय २८

दत्तक (गोद लिया हुआ पुत्र)

आधुनिक काल मे भारतीय हिन्दू व्यवहार (कानून) की किसी भी शाखा मे इतने मुकदमे नही चले जितने कि दत्तक पुत्र से सम्वन्धित व्यवहार-शाखा मे। ऐसे वहुत से उदाहरण प्राप्त होते हैं जहाँ पचास-पचास वर्ष तक लग गये हैं, और कितने ही व्यवहार-पदो से सम्वन्धित सम त न्यायमूर्तिमडल के निर्णयो को प्रिवी कौंसिल ने रद्द कर दिया है। मध्यकाल के लेखको (निवन्धकारो) ने एक ही प्रकार के स्मृति-वचनो को भाँति-भाँति से तोड-मरोडकर उनकी विभिन्न व्याख्याएँ उपस्थित की हैं, इसलिए आधुनिक भारतीय विवादो एव मध्यकाल की प्रामाणिक व्याख्याओ के फलस्वरूप विभिन्न प्रान्तो मे दत्तक-सम्वन्धी व्यवहार विभिन्न हो गये है। शास्त्री गोपालचन्द्र सरकार एव श्री कपूर जैसे लेखको ने इस विषय पर विशालकाय ग्रन्थो का प्रणयन किया है। हम कुछ सक्षेप में ही इस अध्याय मे स्मृतियो एव मध्यकाल के निवन्धो के आधार पर दत्तक-व्यवहार के विभिन्न स्वरूपो पर प्रकाश डालेंगे।

हमने गत अध्याय मे देख लिया है कि ऋग्वेद के समय मे भी औरस पुत्र (अपने शरीरज पुत्र) को अधिक महत्ता प्राप्त थी और दूसरे के पुत्र को अपना वनाना अच्छा नही माना जाता था। पश्चात्कालीन शुक्र (२।३१) जैसे लेखक ने भी दत्तक एव अन्य गौण पुत्रो को अपने पुत्रो के समान मानना गर्हित समझा है, क्योकि धनी पुरुषो को देखकर ही ऐसे वालक उनके पुत्र वनने की आकाक्षा रखते हैं।[1] दत्तक पुत्रो के विषय मे वैदिक साहित्य मे भी सकेत मिलते हैं। तैत्तिरीय सहिता (७।१।८।१) मे अत्रि की कथा वर्णित है। अत्रि ने अपना इकलौता पुत्र औौर्व को दत्तक रूप मे दे दिया। शव्द ये हैं—"पुत्र की इच्छा रखनेवाले और्व को अत्रि ने अपना पुत्र (दत्तक रूप मे) दे दिया। उसने (अत्रि ने) अपने को खाली पाकर (पुत्र दे देने के उपरान्त) अपने को शक्तिहीन, निर्वीर्य एव शिथिल समझा। उसने (अत्रि ने) इस चतूरात्र (इस नाम का एक यज्ञ, जो चार दिनो तक चलता रहता है) को देखा। उसने इसके लिए तैयारी की और इस यज्ञ को सम्पादित किया। तव उसे चार वीर पुत्र उत्पन्न हुए, एक अच्छा होता, एक अच्छा उद्गाता, एक अच्छा अध्वर्यु एव एक सभेय (सभा मे दक्षता से वोलनेवाला)।" शुन शेप की गाथा (ऐ० ब्रा० ३३) व्यक्त करती है कि विश्वामित्र ने, जिनके पास पहले से ही १०१ पुत्र थे, उसे देवरात के नाम से गोद लिया, जिसमे उनके (विश्वामित्र के) ५१ पुत्रो की सहमति थी (इन पुत्रो मे मधुच्छन्दा सवका नेता था) और अन्य ५० पुत्रो ने उनकी आज्ञा का उल्लघन किया। यहाँ यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पश्चात्कालीन यह नियम कि केवल पुत्रहीन व्यक्ति ही दत्तक पुत्र ले सकता है, विश्वामित्र के लिए लागू नहीं हुआ।

सूत्रो एव स्मृतियो मे केवल वारह पुत्रो मे दत्तक का नाम गिनाने के सिवा इस विषय मे और कुछ विशेष नही मिलता, हाँ, वौधायनधर्मसूत्र (२।२।२४), मनु (९।१६८), याज्ञ० (२।१३०), विष्णु० (१५। १८-१९) एव

१ मनसापि न मन्तव्या दत्ताद्या स्वसुता इति। ते दत्तकत्वमिच्छन्ति दृष्ट्वा यद् धनिक नरम्॥ शुक्रनीति (२।३१)।

नारद (दायभाग ४६) ने इसकी परिभाषा भी दी है। केवल वसिष्ठधर्मसूत्र एक अपवाद है। इसने न केवल (१५। २८-२९) परिभाषा दी है प्रत्युत दत्तक-कार्य के नियमों के उद्घाटन में यह प्रारम्भिक स्मृतियों में प्रथम है। इसके कतिपय वचन एक स्थान पर इस प्रकार रखे जा सकते हैं— शुक्र (वीर्य) एवं शोणित से उत्पन्न व्यक्ति अपने जन्म के लिए माता एवं पिता का ऋणी होता है। (अतः) उसके माता एवं पिता को उसे दे देने, बेचने या त्यागने का अधिकार है। किन्तु किसी को अपना एक मात्र पुत्र न तो किसी अन्य को देना चाहिए और न उसी प्रकार स्वयं स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि उसे अपने पूर्वजों का कुल चलाना आवश्यक है। बिना पति की आज्ञा के किसी स्त्री को किसी अन्य का पुत्र न तो स्वीकार करना चाहिए और न अपने पुत्र को देना चाहिए। यदि कोई दत्तक पुत्र लेना चाहे तो उसे ऐसा अपने सभी बन्धु-बान्धवों को निमन्त्रित कर, राजा को उसका समाचार देकर और अपने गृह के मध्य में व्याहृतियों के साथ होम करके करना चाहिए और ऐसे पुत्र को दत्तक बनाना चाहिए जो अपना सगा सम्बन्धी हो और आचार व्यवहार एवं वाणी में दूर का न हो। यदि (दत्तक के कुल के विषय में) सन्देह उत्पन्न हो जाय तो दत्तक लेनेवाले को (दत्तक के सम्बन्धियों की दूरी के कारण) चाहिए कि वह उसे शूद्र समझे, क्योंकि वह (ब्राह्मणों एवं श्रुतिग्रन्थों में) घोषित है कि 'एक (पुत्र, औरस या दत्तक) के द्वारा वह (दत्तक लेनेवाला) बहुतों को बचाता है। यदि दत्तक लेने के उपरान्त औरस उत्पन्न हो जाय तो दत्तक को एक-चौथाई भाग मिलता है (वसिष्ठ १५।१-९)। मनु (९।१४१) ने ऐसे पुत्र के गोद लिये जाने की ओर संकेत किया है जो गोद लेनेवाले के गोत्र का नहीं है, और (९।१४२) दत्तक कर्म के फलों का भी उल्लेख किया है। दत्तकमीमांसा एवं व्यवहारमयूख ने अत्रि, शौनक, शाकल एवं कालिकापुराण नामक प्राचीन ग्रन्थों को उद्धृत किया है। मिताक्षरा ने दत्तक के विषय में कुछ पंक्तियाँ मात्र दी हैं। बारहवीं शताब्दी के बाद के तथा अन्य पश्चात्कालीन ग्रन्थों ने (यथा—व्यवहारमयूख, दत्तकमीमांसा, संस्कारकौस्तुभ, दत्तकचन्द्रिका ने) दत्तक के विषय में विस्तार के साथ लिखा है। आधुनिक काल में दत्तकमीमांसा एवं दत्तकचन्द्रिका (कुछ बंगाली लेखकों ने इसे कूट रचना माना है) को दत्तक के विषय में अधिकतम प्रामाणिक माना जाता रहा है और प्रिवी कौंसिल ने इनका आधार लिया है।

दत्तक के अन्तर्गत प्रमुख विषय ये हैं—पुत्रीकरण का लक्ष्य या उद्देश्य, वह व्यक्ति जो नियमतः पुत्रीकरण कर सकता है, वह व्यक्ति जो पुत्रीकरण के लिए (पुत्र) देता है, वे व्यक्ति जिनका पुत्रीकरण हो सकता है, पुत्रीकरण-सम्बन्धी आवश्यक साधन एवं संस्कार-कार्य का तथा पुत्रीकरण का फल।

पुत्रीकरण का उद्देश्य—अत्रि (५२) ने घोषित किया है कि केवल पुत्रहीन व्यक्ति को ही सभी सम्भव प्रयासों से पुत्र-प्रतिनिधि लेना चाहिए, जिससे कि वह पिण्ड एवं जल (पिण्ड-दान एवं जलतर्पण) पा सके। दत्तकचन्द्रिका ने उपर्युक्त अत्रि-वचन एवं मनु का उल्लेख कर पुत्रीकरण के दो उद्देश्य घोषित किये हैं (१) पिण्डोदक क्रिया हेतु, (२) नाम संकीर्तन हेतु, अर्थात् (१) पिण्डों एवं जल से धार्मिक लाभ की प्राप्ति एवं (२) गोद लेनेवाले के नाम एवं कुल को अविच्छेद रूप से चलते जाने देना। ऐसा कहा जा सकता है कि अधिकांश में गोद लेनेवाले (पुत्रीकरण करनेवाले) का उद्देश्य धार्मिक होता है, किन्तु पुत्र देनेवाले तथा उसके पुत्र का ध्येय धर्म से बहुत दूर होता है। अन्तिम दोनों का, कम-से-कम आधुनिक समय में प्रमुख ध्येय होता है बिना किसी प्रयास के सम्पत्ति की प्राप्ति करना, उनके मन में धार्मिक वृत्तियाँ कदाचित् ही उत्पन्न होती हैं। कोई दरिद्र व्यक्ति को अपना पुत्र दत्तक रूप में नहीं देता, यद्यपि उस दरिद्र में

१. तथाच मनुः। अपुत्रेण सुतः कार्यो यादृक् तादृक् प्रयत्नतः। पिण्डोदकक्रियाहेतोर्नामसंकीर्तनाय च॥ दत्तक च. (१ १)।

आत्मा की रक्षा की भावना उतनी ही प्रबल होती है जितनी कि धनिक व्यक्ति मे। विधवाओ के द्वारा जो पुत्रीकरण होता है उसमे धार्मिक भावना बहुत ही दूर खडी रहती है। बहुधा वे अपने पति के भाइयो या भतीजो मे द्वेप की भावना के कारण दत्तक पुत्र ग्रहण करती हैं और उन्हें इस प्रकार के समझौते के साथ ग्रहण करती हैं कि वे स्वय सम्पत्ति-सम्बन्धी लाभ उठा सकें और अपना जीवन आनन्द से काट सकें।

दत्तक रूप मे अपना पुत्र देनेवाला व्यक्ति--पिता को ही पुत्रीकरण मे अपना पुत्र देने का मुख्य अधिकार है, और वह बिना पुत्र की माता की सहमति के भी ऐसा कर सकता है। बिना पति की आज्ञा के माता अपने पुत्र को नही दे सकती, जब तक पिता जीवित एव मति देने के योग्य है तब तक माता पुत्र-दान नही कर सकती। मनु० (९।१६८) एव याज्ञ० (२।१३०) के मत मे यदि पिता मर गया हो या सन्यासी हो गया हो या अपनी मति देने के लिए अयोग्य हो तो केवल माता ही पुत्र को दत्तक रूप में दे सकती है, किन्तु यदि पिता स्पष्ट या अस्पष्ट रूप मे ऐसा करने को मना कर दे तो वह दत्तक देने मे असमर्थ मानी जाती है। यदि माता एव पिता मर गये हो तो यहाँ तक कि पितामह या विमाता या भाई किसी को दत्तक रूप मे नही दे सकते।

पुत्रीकरण के योग्य व्यक्ति---यदि पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र स्वाभाविक रूप मे या दत्तक रूप मे न हो तो कोई भी अच्छी मति वाला एव बालिग हिन्दू पुरुष पुत्रीकरण कर सकता है, अर्थात् गोद ले सकता है। बालकृष्ण के दत्तसिद्धान्त-मजरी नामक ग्रन्थ मे आया है कि यदि औरस पुत्र जन्म से ही अधा, गंगा या बहरा हो तो पिता दत्तक ले सकता है। यदि व्यक्ति कुमार (अविवाहित) या विधुर हो या उसकी पत्नी की सहमति न हो या वह गर्भवती हो तब भी दत्तक लेने मे कोई बाधा नही है। वास्तव मे, वसिष्ठ (१५।९) ने दत्तक पुत्र लेने के उपरान्त भी पुत्र उत्पन्न करने की व्यवस्था दी है। रुद्रधर एव वाचस्पति के मत से शूद्र लोग दत्तक नही प्राप्त कर सकते, क्योकि वे मन्त्रो के साथ होम नही कर सकते। किन्तु रघुनन्दन, नीलकण्ठ एव दत्तकमीमासा के मत से शूद्र दत्तक ग्रहण कर सकते हैं, शौनक ने स्पष्ट रूप मे ऐसी आज्ञा दी है, क्योकि किसी ब्राह्मण द्वारा होम कराया जा सकता है। पराशर (६।६३-६४) ने भी ऐसा ही विधान दिया है। बिना पति की स्पष्ट आज्ञा के पत्नी पति के रहते गोद नही ले सकती (वसिष्ठ १५।५)।

व्यक्ति की मृत्यु के उपरान्त केवल उसकी पत्नी ही गोद ले सकती है। किन्तु विधवा के अधिकारो के विषय मे मतैक्य नही है। वसिष्ठ (१५।५) का यह कथन कि बिना पति की आज्ञा के कोई भी स्त्री न गोद ले सकती है और न गोद के लिए अपना पुत्र दे सकती है, विवादो के मूल मे आता है। सभी प्रकार की व्याख्याएँ इस विषय मे उपस्थित की गयी हैं। वसिष्ठ के इस वचन के विश्लेषण मे कट्टर, धर्मपरायण एव मीमासा के नियमो मे पारगत टीकाकारो ने अपनी जिस बुद्धि एव कुशलता का परिचय दिया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। वसिष्ठ के सूत्र "अपुत्रेणेति पुस्त्वश्रवणान्न स्त्रिया अधिकार इति गम्यते" की चार व्याख्याएँ हैं---(१) दत्तकमीमासा एव वाचस्पति जैसे मिथिला के लेखको के मत से विधवा गोद लेने के सर्वथा अयोग्य है, क्योकि पुत्रीकरण के समय पति की आज्ञा (जब कि वह मर चुका है) लेना असम्भव है, और वह वैदिक मन्त्रो के साथ होम-कार्य नही कर सकती, न वह वसिष्ठ एव शौनक द्वारा व्यवस्थित उन वैदिक वचनो को कह सकती है जो पुत्र-परिग्रहण के समय कहे जाते हैं, (२) बगाल, मद्रास एव वाराणसी के मत से पति द्वारा (उसके जीवन-काल मे) दी गयी आज्ञा के अनुसार विधवा पुत्र-प्रतिग्रह कर सकती है, इसका तात्पर्य यह है कि प्रतिग्रहण के समय पति का अनुज्ञान (आज्ञा) आवश्यक नही है, वह तो पुत्र-प्रतिग्रहण के बहुत पहले ही दिया जा सकता है, (३) मद्रास मे विधवा बिना पति के अनुज्ञान के पुत्र-प्रतिग्रहण कर सकती है, यदि उसे श्वशुर की आज्ञा मिली हो या उसके मर जाने पर उसके पति के सभी सहभागियो की सहमति हो और यदि उसका पति सयुक्त परिवार का सदस्य रहा हो, किन्तु यदि उसका पति अलग हो गया हो तो श्वशुर की आज्ञा तथा उसके मर जाने पर उसके पति के बहुत नजदीकी सपिण्डो की अधिक सख्या मे आज्ञा आवश्यक है। (४) बम्बई एव पश्चिम भारत मे मान्य प्रामाणिक

ग्रन्थों यथा व्यवहारमयूख (पृ० ११५) निर्णयसिन्धु (३ पूर्वार्ध पृ० २४९) एवं धर्मसिन्धु के मत से वसिष्ठ का वचन केवल उस पत्नी की ओर संकेत करता है जिसका पति अभी जीवित है और विधवा बिना पति की आज्ञा के पुत्री-करण कर सकती है। इस सम्प्रदाय के अनुसार पति का पुत्रीकरण-सम्बन्धी अधिकार सदा कल्पित कर लेना चाहिए, जब तक कि उसने स्पष्ट रूप से या आवश्यकतावश दत्तक लेने से अपनी विधवा को मना न कर दिया हो। 'अप्रतिषिद्धं परमतमनुमतं भवति' न्याय के अनुसार दत्तकचन्द्रिका ने मत प्रकाशित किया है कि दूसरे (या विरोधी) का मत (जब तक कि उसने विरोध न किया हो) स्वीकृति रूप मे ग्रहण कर लेना चाहिए।

गोद लेने के अधिकार-निर्णय सपत्नियों के पुत्र-प्रतिग्रहण (गोद लेना) का अधिकार एवं गोद लेने मे विधवा के अधिकार की सीमाओं के विषय मे बहुत-से कानून आधुनिक काल मे उद्भूत किये गये हैं जिन्हें हम स्थानाभाव से यहाँ नहीं दे रहे हैं और न उनकी इस ग्रन्थ मे कोई आवश्यकता ही है।

गोद (पुत्र प्रतिग्रहण या दत्तक होने) के योग्य व्यक्ति—जैसा कि प्राचीन ग्रन्थो मे आया है कि ('अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत') आठवें वर्ष में उपनयन होना चाहिए, व्यवहारमयूख (पृ० १ ८ १ ९) ने इसके आधार पर केवल पुरुष वर्ग को ही दत्तक के योग्य माना है। भारतीय व्याख्याओं ने इस बात को मान्य किया है। किन्तु दत्तकमीमांसा (पृ० ११२ ११५) संस्कारकौस्तुभ (पृ० १८८) एव धर्मसिन्धु ने दशरथ की पुत्री शान्ता (जिसे लोमपाद ने गोद लिया था) एव पृथा (जो शूर की कन्या थी और जिसे कुन्तिभोज ने गोद लिया था) के उदाहरणों के आधार पर कहा है कि कन्या भी दत्तक रूप मे प्रतिगृहीत हो सकती है। पण्यालाल ने अपनी पुस्तक 'कुमायूँ लोकल कस्टम्स' मे लिखा है कि कुमायूँ म परम्परा के अनुसार कन्या भी गोद ली जाती है। दत्तक पुत्र गोद लेनेवाले की जाति का होना चाहिए। याज्ञ० (२।१३३) ने जो यह व्यवस्था दी है कि बारहों प्रकार के पुत्र पिण्डदान करते हैं और क्रम से सम्पत्ति के अधिकारी होते हैं, उससे यह प्रकट है कि वे सभी पिता की जाति के होते हैं। मेधातिथि ने स्पष्ट कहा है कि ब्राह्मण क्षत्रिय को भी गोद ले सकता है। किन्तु मनु के अन्य टीकाकार, यथा—कुल्लूक आदि तथा व्यवहारमयूख एव अन्य ग्रन्थो ने लिखा है कि दत्तक समान जाति का होना चाहिए। संस्कारकौस्तुभ (पृ० १५) एवं धर्मसिन्धु आगे जाकर कहते है कि ब्राह्मण भी अपने देश के किसी अन्य वर्ग को गोद ले सकता है। वायुपुराण (९९।१३७-१३९) ने वर्णन किया है कि दुष्यन्त के पुत्र भरत ने ब्राह्मण बृहस्पति के पुत्र भरद्वाज को गोद लिया जो क्षत्रिय बन गया। आज के न्यायालयों ने

३ दत्तकस्य पुत्रस्यैव ग्रहणं न कन्या। 'स ज्ञेयो दत्रिमः सुतः' (मनु ९।१६८) इति पुंस्त्वनिर्देशात्। ... स इति सर्वनाम्ना मातापितृभ्यां प्रीतियुक्तपुत्रत्वनिमित्तत्वाच्चकर्मीभूतसजातीयपुत्र एव, 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीत' इति ... पुंस्त्वस्य परामर्शात्। व्य० म० (१ ८–१ ९)। और देखिए ... (४।१ ।२) एवं धर्मसिन्धु (३, पूर्वार्ध, पृ० १५९)।

४ दत्तकमीमांसा ने इस विषय में स्कन्दपुराण, लिङ्गपुराण, हरिवंश एवं आदिपर्व से भी उदाहरण दिये हैं। देखिए आदिपर्व (१११।२–३ जहाँ पृथा के प्रतिग्रहण का उल्लेख है) एवं रामायण (बालकाण्ड, अध्याय ९ जहाँ शान्ता का उल्लेख है)।

५. अपूर्वं न जानीमः किं तर्हि गुणानुरूपैर्गुणैः। क्षत्रियादिरपि ब्राह्मणस्य दत्तको पुत्रः। मेधातिथि (मनु ९।१६८)। ... एव। तथापि ... एव। धर्म-सिन्धु (३ पूर्वार्ध, पृ० १५८)।

६. तस्मात् दिव्यो भरद्वाजो ब्राह्मण्यात् क्षत्रियोऽभवत्। द्विमुष्यायणनामा स स्मृतो द्विपितृकस्तु वै॥ वायु० ९९।१५७)। लगता है, यहाँ 'द्विमुष्यायण' 'द्व्यामुष्यायण' का अपभ्रंश है।

कुल्लूक जैसो की वात मानी है। यह सम्भव है कि आज के न्यायालय प्रमुख चार वर्णो की उपजातियो के लिए छूट दे दें, अर्थात् किसी वर्ण की उपजाति का कोई व्यक्ति उसी वर्ण की किसी उपजाति के पुत्र को गोद ले ले, आज ऐसा निणय दिया जा सकता है। शौनक एव वृद्ध याज्ञवल्क्य (दत्तकचन्द्रिका द्वारा उद्धृत) ने व्यवस्था दी है कि दत्तक किसी अन्य जाति का हो सकता है, किन्तु ऐसे पुत्र को सम्पत्ति नही प्राप्त होती।[7] वसिष्ठ (१५।३) एव शौनक के शब्दो (इकलौते पुत्र को नही देना चाहिए) के रहते हुए भी न्यायालयो ने निर्णय दिया है कि इकलौता पुत्र लिया या दिया जा सकता है।

ज्येष्ठ पुत्र को दत्तक रूप मे नही ग्रहण करना चाहिए, क्योकि जैसा कि मिताक्षरा (याज्ञ० २।१३०) का कथन है, ज्येष्ठ पुत्र ही अपने जनक पिता के लिए पुत्र रूप मे सवश्रेष्ठ कार्यकर्ता है और पुत्र द्वारा किये जानेवाले उपयोगो को पूरा करनेवाला है। मनु (९।१०६) का कथन है—"अपने ज्येष्ठ पुत्र की उत्पत्ति से व्यक्ति पुत्रवान् (पिता) कहा जाता है और पितृ-ऋण से मुक्त हो जाता है।" किन्तु आजकल यह नियम केवल अर्थवाद के रूप मे लिया जाता है न कि विधि के रूप मे, अर्थात् इसे हम नही भी मान सकते हैं, क्योकि इसके पीछे अनिवार्यता नही है। व्यवहारमयूख (पृ० १०८) का कथन है—मिताक्षरा के अनुसार ज्येष्ठ पुत्र को दत्तक रूप मे देने मे जो निषिद्धता प्रकट की गयी है, वह केवल देनेवाले के सम्बन्ध मे है न कि लेनेवाले (गोद लेनेवाले) के सम्बन्ध मे। व्यवहारमयूख ने मिताक्षरा की आलोचना करते हुए कहा है कि मनु (९।१०६) ने ज्येष्ठ पुत्र को देना वर्जित नही किया है वल्कि यह व्यवस्था दी है कि प्रथम वार पुत्र उत्पन्न होने से व्यक्ति पितृ-ऋण से मुक्त हो जाता है। अत व्यवहारमयूख ने आगे वढकर यह कहा है कि ज्येष्ठ पुत्र को लेने एव देने मे कोई वर्जन नही है, किन्तु मिताक्षरा (जिसने गोद लेना वुरा नही माना है) का कथन है कि देनेवाला पापी होता है। सस्कारकौस्तुभ (पृ० १५०) ने भी ज्येष्ठ पुत्र को दत्तक रूप मे देना वर्जित किया है। दो व्यक्ति एक ही पुत्र को गोद नही ले सकते, ऐसा करने पर प्रत्येक का पुत्र-प्रतिग्रहण अवैधानिक है (दत्त० मी०, पृ० २५)। इस विषय मे **द्व्यामुष्यायण** एक अपवाद है, जिसके वारे मे आगे लिखा जायगा।

जव कई वच्चे दत्तक के योग्य हो तो उनके चनाव के विषय मे कुछ स्मृति-नियम हैं। मनु (९।१८२) का कथन है—"यदि एक ही पिता के कई पुत्र हो और उनमे किसी को एक पुत्र हो तो वह सवको पुत्रवान् वना देता है।" मिताक्षरा (याज्ञ० २।१३२) ने मनु के इस कथन मे यह अर्थ निकाला है कि वह एक पुत्र सवका पुत्र नही हो जाता, वल्कि इसका अर्थ यह है कि उसके रहते अन्य पुत्र दत्तक रूप मे नही लेना चाहिए।[8] इसी प्रकार की व्याख्या एक पुराने टीकाकार देवस्वामी ने भी की है। दत्तकमीमासा, दत्तकचन्द्रिका (पृ० ५-६) एव सस्कारकौस्तुभ (पृ० १५०) ने शौनक एव शाकल्य के मत को उद्धृत कर कहा है कि सपिण्ड एव सगोत्र को असपिण्ड तथा असगोत्र की अपेक्षा वरीयता देनी चाहिए। उपर्युक्त ग्रन्थो एव धर्मसिन्धु ने निम्न अनुक्रम दिया है—अपने भाई का पुत्र, सगोत्र-सपिण्ड, सपिण्ड (भले ही वह

७ यदि स्यादन्यजातीयो गृहीतोपि सुत क्वचित्। अशभाज न त कुर्याच्छौनकस्य मत हि तत्॥ व्यक्तमाह वृद्धयाज्ञवल्क्य। सजातीय सुतो ग्राह्य पिण्डदाता स रिक्थभाक्। तदभावे विजातीयो वशमात्रकर स्मृत। ग्रासाच्छादनमात्र तु लभते स तद्रिक्थिन॥ इति दत्त० च० (पृ० ७)।

८. यत्तु—भ्रातृणामेकजात्यानामेकश्चेत्पुत्रवान्भवेत्। सर्वे ते तेन पुत्रेण पुत्रिणो मनुरब्रवीत्॥ इति, (मनु ९।१८२) तदपि भ्रातृपुत्रस्य पुत्रीकरणसम्भवेऽन्येषा पुत्रीकरणनिषेधार्थम्। न पुन पुत्रत्वप्रतिपादनाय, तत्सुता गोत्रजा वन्धुरित्यनेन विरोधात्। मिता० (याज्ञ० २।१३२)। और देखिए वसिष्ठ (१७।१०), व्य० नि० (पृ० ४४०), विष्णु० (१५।४२), स्मृतिच० (२, पृ० २८९), सरस्वतीविलास (पृ० ३९५)।

सगोत्र न हो, यथा मामा का पुत्र या फूफी का वंशज), सगोत्र-असपिण्ड एवं वह जो न तो सपिण्ड हो और न सगोत्र। यह अनुक्रम केवल अर्थवाद है, इसके प्रतिकूल भी पुत्रीकरण वैधानिक होता है। यह हाल में निर्णीत हुआ है कि वह पुत्रीकरण अवैध है जिसमें जन्म से असाध्य रूप से बधिर एवं मूक (यद्यपि मूर्ख नहीं) पुत्र ग्रहण किया जाता है। देखिए मुरे इ-बनाम गोलाबाप (आई० एल० आर० १९५४ १ कलकत्ता ११९)।

मध्यकाल के लेखकों में दत्तक पुत्र की अवस्था के विषय में महत्त्व मतभेद पाया जाता है। इस विषय में कालिका पुराण के पद्य अति महत्त्वपूर्ण हैं। व्य० मयूख एवं दत्तकच० का कथन है कि कालिकापुराण के ये पद्य प्रामाणिकता में सन्दिग्ध हैं, क्योंकि ये कुछ अन्य प्रतियों में नहीं पाये जाते, किन्तु दत्तकमी० एवं निर्णयसिन्धु ने इन्हें शुद्ध एवं प्रामाणिक माना है और संस्कारकौ० (पृ० १६९-१७२) ने इन पद्यों की ओर संकेत करके कहा है कि ये पद्य ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णित शुनःशेप की कथा के विरुद्ध पड़ते हैं, जिसमें यह आया है कि विश्वामित्र ने शुनःशेप को उसके उपनयन के उपरान्त भी गोद लिया। कालिकापुराण के पद्यों का अर्थ यह है—"हे राजन्, वह पुत्र जिसके चूडाकरण से लेकर अन्य संस्कार उसके अपने पिता के गोत्र के साथ सम्पादित हैं, किसी अन्य द्वारा प्रतिगृहीत पुत्र की स्थिति नहीं प्राप्त कर सकता। जब चूडाकरण एवं उपनयन के संस्कार उसके अपने गोत्र (दत्तक लेनेवाले पिता) द्वारा किये जाते हैं तो दत्तक तथा अन्य प्रकार के पुत्र गोद लेनेवाले के कुल के पुत्र कहे जाते हैं, नहीं तो वे दास की संज्ञा पाते हैं। पाँच वर्ष के उपरान्त दत्तक एवं अन्य पुत्र पुत्रता नहीं प्राप्त कर सकते। पाँच वर्ष के लड़के को गोद लेने के पूर्व गोद लेनेवाले को पुत्रेष्टि का सम्पादन करना चाहिए।"[9] इन पद्यों में चार बातें उठती हैं—(१) यदि जातकर्म से लेकर चूडाकरण तक के सारे संस्कार जन्म-कुल में सम्पादित हो गये रहते हैं तो ऐसे पुत्र को प्रतिगृहीत नहीं किया जा सकता; (२) यदि लड़के का चूडाकरण एवं अन्य संस्कार गोद लेनेवाले के घर में सम्पादित हुए हों तो वह पूर्णरूपेण दत्तक पुत्र कहलाएगा; (३) पाँच वर्ष के ऊपर वाला लड़का दत्तक नहीं बनाया जा सकता; (४) यदि लड़के का चूडाकरण जन्मकुल में हो गया हो तो वह पाँच वर्ष की अवस्था तक दत्तक बनाया जा सकता है, किन्तु ऐसा करने के लिए उसके अन्य संस्कारों के सम्पादन के पूर्व पुत्रेष्टि के क्रिया-संस्कार अवश्य हो जाने चाहिए। दत्तकमीमांसा के मत से पुत्रीकरण के लिए तीन वर्ष के भीतर सर्वोत्तम काल है, तीन वर्ष से पाँच वर्ष तक गौण काल है और पाँच वर्ष के उपरान्त पुत्रीकरण नहीं हो सकता। दत्तकचन्द्रिका (पृ० ११) का कथन है कि तीन उच्च जातियों का लड़का उपनयन तक पुत्रीकरण के योग्य है, किन्तु शूद्र का लड़का विवाह के पूर्व तक इसके योग्य है। सम्भवतः यही मत निर्णयसिन्धु का भी है। व्यवहारमयूख एवं संस्कारकौस्तुभ का कथन है कि कोई सगोत्र लड़का भी उपनयन या विवाह के उपरान्त भी गोद लिया जा सकता है, भले ही उसको

९. पितुर्गोत्रेण यः पुत्रः संस्कृतः पृथिवीपते। आचूडान्तं न पुत्रः स पुत्रतां याति चान्यतः॥ चूडाद्या यदि संस्काराः निजगोत्रेण वै कृताः। दत्ताद्यास्तनयास्ते स्युरन्यथा दास उच्यते॥ ऊर्ध्वं तु पञ्चमाद्वर्षात् दत्ताद्याः सुता नृप। गृहीत्वा पंचवर्षीयं पुत्रेष्टिं प्रथमं चरेत्॥ कालिकापुराण (दत्तकमी० पृ० १९२; निर्णयसिन्धु ३, पूर्वार्ध, पृ० ९९; व्य० म० पृ० ११४; दत्तकच० ११-१३; सं० कौ० पृ० १६९)। चूडाकरण संस्कार बहुधा तीसरे वर्ष में किया जाता है, बच्चे के सिर पर जो शिखा या केश-गुच्छ छोड़े जाते हैं वे पिता के गोत्र के प्रवर ऋषियों की संख्या पर निर्भर रहते हैं। देखिए इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग का अध्याय ७, जहाँ चूडाकरण का वर्णन है। अतः यदि ऐसा पुत्र, जो सगोत्र है, चूडाकरण के उपरान्त गोद लिया जाता है, तो उसकी स्थिति यों होगी कि उसके कुछ संस्कार एक गोत्र के साथ हुए होंगे तथा अन्य संस्कार दूसरे गोत्र से, अर्थात् वह इस प्रकार दो गोत्रों का कहा जायगा। इसे दूर करने तथा गोद वाले कुल से सम्बन्ध जोड़ने के लिए पुत्रेष्टि संस्कार परमावश्यक है।

भी काई पुत्र उत्पन्न हो गया हो।[10] बगाल, वाराणसी (उ० प्र०) एव बिहार के न्यायालयो ने निर्णय दिया है कि उपनयन के पूव पुत्रीकरण हो जाना चाहिए। यही बात मद्रास मे भी है, किन्तु वहाँ यह व्यवस्था है कि यदि दत्तक लिया जानेवाला लडका सगोत्र है तो उसका पुत्रीकरण उपनयन के उपरान्त भी, किन्तु विवाह के पूर्व, हो सकता है। बम्बई मे दत्तक की कोई भी अवस्था वैध मानी जाती है, विवाह के उपरान्त भी, यहाँ तक कि उसे पुत्र उत्पन्न हो गया हो तब भी, इतना ही क्यो, वह अवस्था मे गोद लेनेवाले मे ऊँची अवस्था का भी हो सकता है। सम्पूर्ण भारत मे शूद्र का पुत्रीकरण विवाह के पूव ही होता है, किन्तु बम्बई मे ऐसी बात नही है, वहाँ शूद्रो मे भी विवाहोपरान्त तथा पुत्रवान होने पर भी पुत्रीकरण सम्भव है।

शौनक के मत से दत्तक पुत्र को पुत्रच्छायावह (वह जो औरस के समान या उसका प्रतिबिम्ब हो) होना आवश्यक है।[11] इसकी कई व्याख्याएँ उपस्थित की गयी हैं और बहुत-से उच्च न्यायालयो ने विभिन्न निर्णय दिये हैं। दत्तक-मीमासा एव दत्तकचन्द्रिका ने व्याख्या की है कि सादृश्य तो पुत्रीकरण करनेवाले के द्वारा नियोग या अन्य प्रकार से पुत्रोत्पत्ति करने मे ही सम्भव है। दत्तकमीमासा ने यह अर्थ लगाया है, भाई का पुत्र, सपिण्डपुत्र एव सगोत्र पुत्र गोद लिया जा सकता है, क्योंकि नियोग की विधि के अनुसार गोद लेनेवाला (पुत्रीकरणकर्ता) भाई, सपिण्ड एव सगोत्र की पत्नी से पुत्र उत्पन्न कर सकता था, किन्तु वह अपनी माता या पितामही या कन्या या बहिन या मौसी (माता की बहिन) से ऐसा नही कर सकता था। अत कोई अपने भाई, मामा या चाचा, पुत्री के पुत्र, मौसी के पुत्र आदि का पुत्रीकरण नही कर सकता है। यह आश्चर्य है कि दत्तकमीमासा से बहुत पहले (शताब्दियो पूव) नियोग प्रथा का प्रचलन बन्द हो गया था (देखिए इस ग्रन्थ का भाग २ अध्याय १३), तथापि इसके लेखक ने उसे अन्य प्रचलित नियमो के साथ जोडकर दत्तक करने या न करने योग्य व्यक्तियो के विषय मे उल्लिखत कर दिया! इससे भी आश्चयजनक यह बात हुई कि सदरलैण्ड ने, जिन्होंने दत्तकमीमासा एव दत्तकचन्द्रिका का अनुवाद उपस्थित किया है, अपनी टिप्पणियो मे 'नियोगादिना' को "इस प्रकार की नियुक्ति या विवाह एव अन्य ऐसी ही समान विधियो के द्वारा" के अर्थ मे ले लिया है! देखिए स्टोक कृत हिन्दू लॉ टेक्ट्स (पृ० ५९०)। 'विवाह' को 'नियोग' के उपरान्त जोडने का कोई औचित्य नही था। विवाह के नियमो एव नियोग के नियमो मे भिन्नता है। न्यायाधीशो ने, जिनमे अधिकाश सस्कृत भाषा मे अनभिज्ञ रहे हैं, इस अथ को भ्रमात्मक ढग से ग्रहण कर लिया और कह दिया कि उस व्यक्ति का पुत्रीकरण नही हो सकता जिसकी माता मे उसके होनेवाले पिता का कुमारी की अवस्था मे सम्बन्ध न रहा हो (यहाँ विवाह के पूर्व ससर्ग की ओर सकेत

१० दत्तकस्तु परिणीत उत्पन्नपुत्रोपि च भवतीति तातचरणा। युक्त चेद बाधकाभावात्। व्यव० म० (पृ० ११४)। जब नीलकण्ठ ऐसा कहते हैं कि कालिकापुराण के तीनों श्लोक असगोत्र लडके के पुत्रीकरण की ओर सकेत करते हैं, तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वे अपना मत प्रकाशित करते हैं, उनका केवल इतना ही कहना है कि ये पद्य यदि कुछ कहते हैं तो वह असगोत्र लडके के पुत्रीकरण के विषय मे है, एव च "चूडाद्या इत्यतद्‌गुणसविज्ञानबहुव्रीहिणा द्विजातीनामुपनयनलाभ शूद्रस्य तु विवाहादिलाभ। दत्तकच० (पृ० ३६)।

११ पुत्रच्छाया पुत्रसादृश्य तच्च नियोगादिना स्वयमुत्पादनयोग्यत्व यथा भ्रातृसपिण्डसगोत्रादिपुत्रस्य। न चासम्बन्धिनि नियोग सम्भव। बीजार्थं ब्राह्मण कश्चिद्धनेनोपनिमन्त्यतामिति स्मरणात्। ततश्च भ्रातृपितृव्यमातुलदौहित्रभागिनेयादीना निरास पुत्रसादृश्याभावात्। तथा प्रकृते विरुद्धसम्बन्धपुत्रो वर्जनीय इति। यतो रतियोग सम्भवति तादृश कार्य इति यावत्। दत्तकमी० (पृ० १४४-१४५ एव १४७)। और देखिए दत्तकच० (पृ० २१) एव आदिपर्व (१०५।२)।

कर दिया गया है)। बम्बई को छोड़कर अन्य प्रान्तों में ऐसा कानून चलता रहा है। यद्यपि दत्तकमीमांसा ने ऐसा कह दिया कि पुत्रीकरण के योग्य लड़के की उत्पत्ति नियोग आदि से होनी चाहिए किन्तु अन्य स्थान पर इसका कहना है, जैसा कि शौनक एवं शाकल ने कहा था, कि पुत्री के पुत्र, बहिन के पुत्र एवं मौसी के पुत्र को छोड़कर किसी अन्य गोत्र वाले को भी दत्तक बनाया जा सकता है। बम्बई के उच्च न्यायालय ने उपर्युक्त तीनों को छोड़कर किसी को भी दत्तक के योग्य ठहरा दिया है। इसके विभिन्न-विभिन्न परिणाम प्राप्त हुए हैं, यथा—किसी व्यक्ति द्वारा अपने छोटे भाई के पुत्र को गोद लेना वैध है (बम्बई उच्च न्यायालय) कोई अपने मामा के पुत्र को गोद ले सकता है (वही) विधवा अपने मृत पति के दामाद को गोद ले सकती है (देखिए बम्बई हाईकोर्ट १९ ४१ ४७ १५)। यह विचारणीय है कि द्वैतनिर्णय या धर्मद्वैतनिर्णय (नीलकण्ठ के पिता शंकर भट्ट द्वारा लिखित) एवं व्यवहारमयूख ने कतिपय मीमांसा-नियमों के आधार पर सूक्ष्म तर्क द्वारा व्यवस्था दी है कि तीनों उच्च वर्णों के व्यक्ति पुत्री के पुत्र, बहिन के पुत्र या मौसी के पुत्र को गोद ले सकते हैं तथा शूद्र इनमें से किसी को अन्य की अपेक्षा अवश्य गोद ले। बम्बई के उच्च न्यायालय ने नीलकण्ठ के स्थान पर नन्द पण्डित द्वारा उपस्थापित शौनक के वचन की व्याख्या का अनुसरण किया है किन्तु साथ-ही-साथ नन्द पण्डित की यह बात नहीं मानी है कि भाई या चाचा को गोद नहीं लिया जा सकता। अच्छा तो यह हुआ होता कि वह नन्द पण्डित के वचनों को सभी बातों में न मानता और मयूख की व्याख्या को ही मान्यता देता। सामान्य मनोवृत्ति पुत्री के पुत्र एवं बहिन के पुत्र के पक्ष में है क्योंकि वे बहुत पास एवं अति प्रिय सम्बन्धी हैं किन्तु बम्बई उच्च न्यायालय ने उनके लिए द्वार बन्द कर दिया है और भाई, मामा तथा उनके पुत्र या अपनी पुत्री के पति के लिए द्वार खोल दिया है जो दोनों को असंगत लगता है। इसके अतिरिक्त उच्च न्यायालय ने पुत्री के पुत्र को देशस्थ स्मार्त ब्राह्मणों (धारवाड़ जिले के) एवं तैलंग ब्राह्मणों की परम्पराओं के आधार पर मान्यता दे दी है। पूरे भारत में शूद्र लोग अपनी पुत्री, बहिन या मौसी के पुत्र को गोद ले सकते हैं। दत्तकमीमांसा ने आगे बढ़कर यह व्यवस्था दे दी है कि विधवा अपने भाई के पुत्र को नहीं अपना सकती। यहाँ इस ग्रन्थ ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि वह स्वयं ही ऐसा नहीं कर सकती क्योंकि ऐसा करने से विधवा ऐसा पुत्र बनाती है जिसका उसके पति से कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि उसके भाई की स्त्री से (सपक्ष में) उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त उसका (विधवा का) पति ऐसे पुत्र को स्वयं अपना सकता था। बम्बई के उच्च न्यायालय एवं प्रिवी कौंसिल ने दत्तकमीमांसा के इस निरर्थक प्रस्ताव को ठुकरा दिया है। पन्नालाल ने अपनी पुस्तक 'कुमाऊँ लोकल कस्टम्स' में लिखा है कि भारत के उस भाग में पुत्री का पुत्र या बहिन का पुत्र दत्तक पुत्र बनाया जा सकता है। हाल में यह निर्णय हुआ है कि शूद्रों में किसी स्त्री का अवैध पुत्र दत्तक नहीं बनाया जा सकता है (इण्डियन ला रिपोर्ट्स, १९४१ बम्बई १९)। मिताक्षरा ने कोई स्त्री अपने अवैध पुत्र को दत्तक होने के लिए नहीं दे सकती। इसी के आधार पर उपर्युक्त नियम बना है।

द्व्यामुष्यायण—दत्तक पुत्र के दो प्रकार हैं, केवल (साधारण) एवं द्व्यामुष्यायण (दो पिताओं का पुत्र)। जब कोई इस समझौते के आधार पर दत्तक के रूप में अपना पुत्र देता है कि वह दोनों का (स्वाभाविक पिता अर्थात् जनक पिता तथा पालक का) पुत्र है तो ऐसे दत्तक पुत्र को द्व्यामुष्यायण कहा जाता है।[१२] बम्बई उच्च न्यायालय

१२. अर्थं च समयो द्विविधः केवलो द्व्यामुष्यायणश्च। तत्रैव पिता दत्त आद्यः। अवान्तरसंविदि तदिदा दत्तस्तत्रान्त्यः। व्य० म० (पृ० ११४)। दत्तकचन्द्रिका (पृ० ९१-९६) ने केवल दत्तक के लिए शुद्धदत्तक शब्द प्रयुक्त किया है। इसी प्रकार देव लिखा है (अध्याय २७) कि मिताक्षरा में द्व्यामुष्यायण एवं केवल को तत्कालार्थक या पर्याय-वाची माना है। नारद (दायभाग, २१) ने भी तत्समानः इसी अर्थ में इसे प्रयुक्त किया है, यथा—द्विरामुष्यायणा

ने व्यवस्था दी है कि द्वयामुष्यायण करने के पूर्व उपर्युक्त प्रकार के समझौते की सिद्धि उस विषय मे भी होनी चाहिए जहाँ एक भाई अपने अन्य भाई के इकलौते पुत्र को अपनाता है (४२, बम्बई, २७७)। द्वयामुष्यायण अपने जनक एव पालक के कुलो का रिक्थाधिकार पाता है। यह शब्द कुछ स्मृतियो मे दत्तक, क्रीत जैसे पुत्रो के लिए भी प्रयुक्त हुआ है।[13] व्य० मयूख ने कात्यायन की उक्ति उद्धृत की है (जिसे दत्तकच० ने पैठीनसि का माना है)। व्य० मयू०, दत्तक मी० एव दत्तकच० ने ऐसी उक्ति (जिसे प्रथम ने प्रवराध्याय की तथा दूसरे ने पारिजात की माना है) उद्धृत की है, जो इसका समर्थन करती है। दत्तकमी० एव दत्तकच० ने सत्याषाढ के दो सूत्र (जिन पर शबर का भाष्य है) उद्धृत किये हैं, जिनमे क्षेत्रज को **नित्य द्वयामुष्यायण** तथा दत्तक एव अन्य पुत्रो को **अनित्य द्वयामुष्यायण** कहा गया है। याज्ञ० (२।१२७) एव बौधायनधर्म० (२।२।२।२१) के मत से क्षेत्रज उत्पन्न करनेवाले एव उस व्यक्ति का पुत्र होता है जिसकी पत्नी मे वह उत्पन्न किया जाता है। अत यह **नित्य द्वयामुष्यायण** कहलाता है क्योकि वह सदैव दो पिताओ का पुत्र रहता है। जब क्षेत्रज पुत्र व्यवहारातीत एव वर्जित मान लिया गया तो वही द्वयामुष्यायण रह गया जो समझौते के अनुसार जनक का एव पालक का एक मात्र पुत्र कहलाता है। मनु (९।१४२) ने एक सामान्य नियम दिया है कि दत्तक अपने जनक के गोत्र का परित्याग करता है और पालक का गोत्र ग्रहण करता है। किन्तु कुछ लोगो के मत से दत्तक के दो गोत्र होते हैं, यदि चौल तक के सस्कार जनक के कुल मे हुए हो तथा उपनयन एव उसके उपरान्त के पालक के कुल मे हुए हो तभी ऐसा होता है। अत यह कोई सामान्य प्रस्ताव नही था कि दत्तक सदैव दो गोत्रो वाला होता है। यदि जातकर्म से लेकर सभी सस्कार पालक द्वारा सम्पादित होते हैं तो दत्तक पालक का गोत्र धारण करता है। इसी से दत्तक एव क्रीत पुत्रो को **अनित्य द्वयामुष्यायण** (जो सभी स्थितियो मे द्वयामुष्यायण नही होते) पुत्रो की सज्ञा मिली है। और देखिए दत्तकमी० (पृ० १८८-१८९)। क्षेत्रज कई शताब्दियो पूर्व अव्यवहार्य हो गया था, अब तो न्यायालयो द्वारा **अनित्य द्वयामुष्यायण** भी अप्रचलित घोषित कर दिया गया। अब ऐसी व्यवस्था है कि सिर्फ केवल-दत्तक ही दत्तक रूप मे माना जायगा, जब तक कि यह समझौता सिद्ध न कर दिया जाय कि दत्तक पुत्र दोनो का है (वैसी स्थिति मे वह द्वयामुष्यायण दत्तक कहा जायगा)।

जब कोई द्वयामुष्यायण के रूप मे अपनाया जाता है तो उसका पुत्र, जो इस प्रकार के पुत्रीकरण के उपरान्त जन्म लेता है, पालक के पौत्र रूप मे रिक्थाधिकार पाता है, किन्तु यह तभी होता है जब कि पालक के पूर्व ही द्वयामुष्यायण का देहान्त हो जाता है।

दद्युर्द्वाभ्या पिण्डोदके पृथक्। रिक्थादर्धं समादद्युर्बीजिक्षेत्रिकयोस्तया॥ यहाँ द्वयामुष्यायण के स्थान पर 'द्वि' अव्यय के साथ आमुष्यायण शब्द प्रयुक्त हुआ है और 'द्वि' का अर्थ है 'दो बार'। द्वयामुष्यायण शब्द 'द्वि' (दो) एव 'आमुष्यायण' (इसका पुत्र या उसका पुत्र) से बना है। और देखिए तैत्तिरीय सहिता (२।७।७।७), अथर्ववेद (४।१६।९, १०।५।३६ एव ४४, १६।७।८), हारीतगृह्यसूत्र (१।९।१९), भारद्वाजगृह्यसूत्र (२।१९), पाणिनि (६।३।२१) पर कात्यायन का वार्तिक (२)। पाणिनि (४।१।९९) के अनुसार 'आमुष्यायण' 'अमुष्य' (इसका या उसका) से बना है और इसका तात्पर्य है 'अपत्य' (पुत्र)। आश्वलायनश्रौतसूत्र (उत्तरषट्क, ६।१३) मे 'द्वयामुष्यायण' के लिए 'द्विप्रवाचन' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

१३ यत्तु—अथ चेद्दत्तकक्रीतपुत्रिकापुत्रा परिग्रहेणानार्षेयास्ते द्वयामुष्यायणा भवन्ति—इति द्वयामुष्यायणानुपक्रम्य कात्यायन। व्य० म० (पृ० ११५), दत्तकच० (पृ० ४६) ने इसे पैठीनसि का माना है।

पुत्रीकरण के संस्कार—पुत्रीकरण का अत्यन्त आवश्यक अंग है जनक द्वारा पुत्रार्पण एवं पालक द्वारा पुत्र-परिग्रहण और इसके पीछे इस भावना का रहना कि अब पुत्र पालक के कुल का हो गया है। कुछ विद्वानों के मत से अन्य आवश्यक अंग है होम जिसे दत्तकहोम कहा जाता है (जिसका उल्लेख शौनक एवं बौधायन ने किया है)। यह कोई आवश्यक नहीं है कि अर्पण एवं परिग्रहण के उपरान्त ही दत्तकहोम कर दिया जाय जब अर्पणकर्ता एवं परिग्रहणकर्ता विधवा या शूद्र या कोई बीमार व्यक्ति या कोई अन्य हो तो यह कार्य किसी अन्य व्यक्ति द्वारा सम्पादित हो सकता है। यद्यपि वैदिक काल में नारियों अग्र-स्थान पर होती थी और हारीत एवं यम ने लिखा है कि स्त्रियों का उपनयन संस्कार होता था और वे वेदाध्ययन कर सकती थीं (देखिए इस ग्रन्थ का भाग २, अध्याय ७) किन्तु कालान्तर में ऐसा समझा जाने लगा कि वे वेद नहीं पढ़ सकतीं वैदिक मन्त्रों का उच्चारण नहीं कर सकतीं अतः वे कोई होम नहीं कर सकतीं। इसी से कुछ लेखकों ने ऐसा कहा कि विधवा पुत्रीकरण कर ही नहीं सकती। किन्तु व्य मयूख आदि में आया है कि विधवा शूद्र के समान ऐसा कर सकती है अर्थात् जिस प्रकार शूद्र ब्राह्मण द्वारा दत्तक-होम करा सकता है उसी प्रकार विधवा वैसा कर सकती है।[14] (देखिए इस ग्रन्थ का भाग २ अध्याय ७ जहाँ स्त्रियों की हीनावस्था के कारणों पर प्रकाश डाला गया है।) ऐसा कहा गया है कि द्विजों में दत्तकहोम की कोई आवश्यकता नहीं है यदि परिगृहीत पुत्र पालक के गोत्र का है। दत्तकदर्पण ने सरस्वतीविलास से यम को उद्धृत कर कहा है कि सभी दशाओं में होम सर्वथा आवश्यक नहीं है। यही बात बनभाव ने कही है (देखिए डा जॉली टैगोर लॉ लेक्चर्स पृ १६ कोल्ब्रुक डाइजेस्ट ४)। धर्मसिन्धु का कथन है कि कुछ प्रदेशों में सगोत्र-सपिण्डों के लिए वैदिक संस्कारों के बिना भी पुत्रार्पण एवं पुत्र-ग्रहण वैध माना जाता है। इस विषय में आधुनिक व्याख्याओं के मतों में एकता नहीं है और हम उनके उद्घाटन में नहीं पड़ेंगे। शूद्रों में होम की कोई आवश्यकता नहीं है। बौधायनगृह्य-शेषसूत्र (२।६।४-९) में पुत्रीकरण के संस्कार का वर्णन है। देखिए दत्तकमीमांसा संस्कारकौस्तुभ (पृ १०७) धर्मसिन्धु (पृ १६१)। शौनक ने जो विधि दी है वह बौधायन के बाद की है और उसमें थोड़ी भिन्नता भी है तथा यह ऋग्वेद के अनुयायियों के लिए है (संस्कारकौस्तुभ पृ १०५)। व्यवहारमयूख (पृ १२०-१२२) एवं धर्मसिन्धु (३ पूर्वार्ध पृ १६०-१६१) में विस्तार के साथ विधि दी गयी है। पाठक वहीं देख लें।

पुत्रीकरण के परिणाम—गोद लेने से एक व्यक्ति का एक कुल से दूसरे कुल में जाना होता है। गोद लिए जाने पर दत्तक पुत्र को कुछ सम्यक् रूप से परिज्ञापित बातों को छोड़कर औरस पुत्र के समान ही पालक के कुल के अधिकार एवं सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। इस विषय में मनु (९।१४२) के निम्न वचन हैं—दत्तक पुत्र को अपने कुल के गोत्र का नाम एवं अपने जनक की सम्पत्ति नहीं लेनी चाहिए पिण्ड (श्राद्ध के समय पितरों को दिया जानेवाला भात का गोला) गोत्र एवं सम्पत्ति का अनुगमन करता है (अर्थात् इनमें परस्पर आनुषंगिक सम्बन्ध होता है) जो दत्तक देता है (अर्थात् जो अपना पुत्र देता है) उसकी अन्तिम क्रिया समाप्त हो जाती है (अर्थात् दत्तक पुत्र उसकी अन्त्येष्टि-क्रिया एवं श्राद्ध-कर्म आदि नहीं करता)।[15] इससे स्पष्ट है कि दत्तक पुत्र को पालक की सम्पत्ति प्राप्त होती है यह पुत्रीकरण

१४ पञ्चमुद्रिविवेक ... स्त्रीणां वैदिकमन्त्राप्रयुक्तहोमाभावात् पुत्रप्रतिग्रहे शूद्रस्यानधिकार इति तदपास्तम्। दत्तकहोमस्तु तैस विप्रद्वारा कार्यः। स्त्रियां अपि शूद्रवदेवाधिकारः। स्त्रीशूद्रयोः समधर्मत्वात्—इति वाक्यात्। व्य म (पृ ११२)। और देखिए इस ग्रन्थ का भाग २, अध्याय १९।

१५ गोत्ररिक्थे जनयितुर्न हरेद् दत्त्रिमः क्वचित्। गोत्ररिक्थानुगः पिण्डो व्यपैति ददतः स्वधा॥ मनु (९।१४२)।

के उपरान्त अपने वास्तविक पिता का नाम नही लेता या व्यवहार करता, उसे उसकी सम्पत्ति भी नही मिलती और न वह उसकी अन्त्येष्टि क्रिया तथा श्राद्ध ही करता है। मनु के इस कथन के आधार पर एक विद्वान् हिन्दू न्यायाधीश ने यह फतवा दे दिया कि दत्तक-सम्बन्धी सिद्धान्त दत्तक के जनक-कुल अर्थात् पितृ-कुल एव मातृ-कुल मे सम्पूर्ण पृथक्त्व तथा पालक-कुल मे सम्पूर्ण निवेशन (मानो वह वही उत्पन्न हुआ था) पर निर्भर है। सम्पूर्ण पृथक्त्व-सम्बन्धी विचार के लिए यहाँ कोई आधार या प्रमाण नही है। किन्तु यह सिद्धान्त बहुत-से विवादो मे मान्य हो गया और प्रिवी कौंसिल ने इसे स्वीकार भी कर लिया। एक दूसरे न्यायाधीश ने यह कह दिया—"सम्पूर्ण पुत्रीकरण मानो पालक-कुल मे लडके के जन्म होने-जैसा है और जहाँ तक इस प्रकार के पुत्रीकरण से उत्पन्न वैध परिणामो का प्रश्न है, उस लडके की जन्म-कुल मे सम्पत्ति सम्बन्धी (सिविल) मृत्यु भी है।" प्रिवी कौंसिल को अन्त मे सचेत करने के लिए यह लिखना पडा—"जैसा कि कई बार देखने मे आया है, 'सम्पत्ति-सम्बन्धी व्यवहारानुसार या सम्पत्ति के लिए मृत्यु या मानो वह कुल मे उत्पन्न ही नही हुआ था' आदि बातें सभी प्रकार के प्रयोगो के लिए भ्रमपूर्ण हैं और तर्कसगत नही हैं, वे केवल 'नये जन्म' के लिए औपचारिक मात्र हैं।" हमे यह जानना है कि प्रामाणिक निबन्धो ने ही मनु के कथन को इस प्रकार से रखा। व्य० मयूख ने मनु (९।१४२) की व्याख्या करके निष्कर्ष निकाला कि गोत्र, रिक्थ, पिण्ड एव स्वधा नामक चार शब्दो को शाब्दिक अर्थ मे नही लेना चाहिए, प्रत्युत उन्हें पिण्ड-सम्बन्धी परिणामो के अर्थ मे ही लेना चाहिए, जो कि पुत्रीकरण के उपरान्त वास्तविक पिता से सम्बन्धित हैं, अर्थात् दत्तक होने के लिए पुत्र दे देने के उपरान्त जनक से उसका सम्बन्ध टूट जाता है। इसी प्रकार पुत्रीकरण के उपरान्त दत्तक का अपने वास्तविक भाई, चाचा आदि से सम्बन्ध टूट जाता है। व्यवहारमयूख का कहना यह नही है कि दिये हुए पुत्र की जन्म-कुल मे मृत्यु हो जाती है या उसका जन्म-कुल से किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नही रहता, प्रत्युत उसका केवल इतना ही कहना है कि दत्तक पुत्र हो जाने के उपरान्त जन्म-कुल मे पिण्ड-दान करने एव जन्म-कुल की सम्पत्ति लेने के उसके अधिकार बन्द हो जाते हैं। स्मृतिच० (२, पृ० २८९) को उद्धृत कर दत्तकमीमासा (पृ० १६३-१६४) ने व्यवस्था दी है कि दत्तक हो जाने के उपरान्त पुत्र अपने दाता के गोत्र वाला नही रह जाता।[१६] यही बात दत्तकचन्द्रिका (पृ० २३-२४) ने भी बिना स्मृतिचन्द्रिका का उल्लेख करते हुए कही है। विद्वान न्यायाधीशो ने प्रामाणिक ग्रन्थो को स्वय न देखकर प्रत्युत कुछ अनुवादो के आधार पर ही जो चाहा सो निर्णय दिया है। वे इस विषय मे असावधान-से रहे हैं कि धर्मशास्त्र-ग्रन्थो ने दत्तक हो जाने के उपरान्त उसके पिण्ड एव गोत्र तथा रिक्थ की परिसमाप्ति के विषय मे क्या कहा है। सरस्वतीविलास (पृ० ३९४) ने विष्णु० का उद्धरण देते हुए कहा है कि दत्तक पुत्र को भी अपने जनक की अन्त्येष्टि-क्रिया करने का अधिकार है। किन्तु मनु (९।१८२) के अनुसार यह तभी सम्भव है जब कि मृत्यु के समय उसके जनक को कोई पुत्र न हो। यही बात खादिरगृह्यसूत्र (३।५।६) की टीका मे रुद्रस्कन्द एव निर्णयसिन्धु के लेखक कमलाकर ने (जो नीलकण्ठ के प्रथम चचेरे भाई एव उनके समकालीन हैं) कात्यायन एव लौगाक्षि (प्रवरमजरी मे उल्लिखित, पृ० १४६) का हवाला देते हुए, कही है। धर्मसिन्धु (३, पूर्वार्ध, पृ० १६१) का कथन है कि जन्म-कुल मे उपनयन हो जाने के उपरान्त कोई असगोत्र जब दत्तक बनता है या जब पालक द्वारा उपनयन मात्र कराया जाता है तो दत्तक को श्रेष्ठ जनो के आगे प्रणाम करते समय या श्राद्ध आदि कर्म मे दोनो गोत्रो का उच्चारण करना चाहिए, किन्तु जब दत्तक के चौल से लेकर सारे सस्कार पालक के गृह मे सम्पादित होते हैं तो उसका केवल एक अर्थात् पालक का ही गोत्र होना है।

१६ एतेन पुत्रत्वापादकक्रिययैव दत्त्रिमस्य प्रतिग्रहीतृधने स्वत्व तत्सगोत्रत्व च भवति। दातृधने तु दानादेव पुत्रत्वनिवृत्तिद्वारा दत्त्रिमस्य स्वत्वनिवृत्तिर्दातृगोत्रनिवृत्तिश्च भवतीत्युच्यते इति चन्द्रिकाकार। दत्तकमीमासा (पृ० १६३-१६४)।

मनु (९।१४२) के कथन का सीधा अर्थ यह है—जब कोई दत्तक होने के लिए अपना पुत्र दे देता है तब उसके पुत्र का दूसरे कुल में स्थानान्तरण हो जाता है, वह दाता के लिए श्राद्ध एवं अन्य क्रियाएँ नहीं करता और न उसकी मृत्यु के उपरान्त उसके धन का अधिकारी होता और न विभाजन के समय कोई माँग उपस्थित कर सकता है। दाता के अन्य पुत्र या पुत्रों द्वारा उसके श्राद्ध-कर्म आदि सम्पादित होते हैं और वे ही कुल-सम्पत्ति के उत्तराधिकारी होते हैं। किन्तु बम्बई के न्यायालय ने इसे तोड़-मरोड़कर दो प्रकार के निर्णय दिये हैं जो परस्पर-विरोधी हैं। हम यहाँ पर इसके विवेचन में नहीं पड़ेंगे।

कुछ विषयों में जनक-कुल का योग वर्तमान रहता है जैसा कि निबन्धों के कथनों से व्यक्त होता है। संस्कारकौस्तुभ (पृ० १८२) का कहना है कि दत्तक को विवाह करते समय अपने जन्म-कुल एवं पालक-कुल के दोनों से बचना अर्थात् दोनों का वर्जन करना चाहिए।[१७] धर्मसिन्धु (३, पृ० १६१) ने भी यही कहा है। इसके अनुसार जनक एवं पालक के कुलों की कन्या से विवाह करना सदा के लिए वर्जित है न कि सात या पाँच पीढ़ियों तक। अतः यदि पूर्वतरणेन बोध-सम्बन्ध न टूटे तो इसमें कोई गुण नहीं है कि पुत्रीकरण के पूर्व किये गये रिक्थ का त्याग या अपहार किया जाय या रिक्थाधिकार का त्याग केवल भविष्य के लिए न किया जाय। निबन्धों में सपिण्ड-सम्बन्ध के विषय में मतैक्य नहीं है। दत्तकमीमांसा (पृ० १०७) के मत से द्व्यामुष्यायण को तीन पीढ़ियों तक जनक एवं पालक के कुलों की सपिण्ड कन्या से विवाह न करना चाहिए। केवल दत्तक को सपिण्ड-सम्बन्ध अपने पालक के कुल में तीन पीढ़ियों तक मानना चाहिए (क्योंकि वह पालक के शरीर का कोई अंश अपने में नहीं पाता) और यही सम्बन्ध अपने जनक के कुल में सात पीढ़ियों तक मानना चाहिए।[१८] निर्णयसिन्धु (३ पूर्वार्ध, पृ० २९०-२९१) ने कई मतों का प्रकाशन करने के पश्चात् अपना मत दिया है कि विवाह में जनक एवं पालक के कुलों की सात पीढ़ियाँ देखनी चाहिए (पालक में यह नियम पर आधारित है)। व्य० मयूख (पृ० ११०) के मत से केवल दत्तक का पालक-कुल में सपिण्ड-सम्बन्ध सात पीढ़ियों तक तथा पालिका-कुल में पाँच पीढ़ियों तक रहता है। लगता है, इनके मत से जनक के कुल में कोई सपिण्ड-सम्बन्ध नहीं होता जैसा कि मनु (९।१४२) ने कहा है। दत्तकचन्द्रिका (पृ० ११, ६६) ने समझकर यह माना है कि द्व्यामुष्यायण को सपिण्ड-सम्बन्ध (दत्तकमीमांसा के मत की भाँति) मानना चाहिए, किन्तु केवल दत्तक को पालक-कुल में सपिण्ड सम्बन्ध सात पीढ़ियों तक मानना चाहिए, जैसा कि मनु (९।१४२) ने माना है। धर्मसिन्धु (३, पृ० १६१) का कहना है कि सपिण्ड-सम्बन्ध की पीढ़ी-सम्बन्धी निर्भरता इस प्रश्न पर है कि पुत्रीकरण जनक-कुल में उपनयन के उपरान्त हुआ है या उपनयन के पूर्व या जातकर्म से लेकर सभी संस्कार पालक-कुल में सम्पादित हुए हैं।

१७. विवाहे तु दत्तकमात्रेण पीढ़िपालितगृहीत्रोः पित्रोर्गोत्रप्रवरवर्जनं कार्यम्। प्रवरभक्तकवर्णविनिर्णयेषु तदिष्टं बोध्यम्। संस्कारकौस्तुभ (पृ० १८२); विवाहे तु सर्वदत्तकेन जनकपालकयोरुभयोरपि पित्रोर्गोत्रप्रवरसम्बन्धिनी कन्या वर्जनीया। तत्र सप्तपौरुषं पालकपौरुषपर्यन्तं पुरुषनियम उपलभ्यते। धर्मसिन्धु (३ पूर्वार्ध पृ० १६१)।

१८. द्व्यामुष्यायण पितृपक्षात्पितृपक्षाभिधानं तद् द्व्यामुष्यायणाभिधानेन त्रिपुरुषेण सपिण्डीकरणाभिधानात्। शुद्धदत्तकस्य तु प्रतिगृहीतृकुले त्रिपुरुषं सिपण्डत्वमवगन्तव्यं सापिण्ड्यं जनककुले साप्तपौरुषमवगन्तव्यं प्रमाणेन। दत्तकमीमांसा (पृ० १०७); तत्र तु पालककुले एकपिण्डदानाभावात् अविद्यमानत्वं साप्तपौरुषमेव सापिण्ड्यं पौरुषमिति मीमांसोक्तेर्जनककुलेऽपि तावदेव। नि० सि० (३ पूर्वार्ध, पृ० २९१)।

वम्बई के उच्च न्यायालय ने व्यवस्था दी है कि दत्तक पुत्र अपने जनक-कुल मे वर्जित पीढियो तक विवाह नही कर सकता और उस समय तक यह नही कहा जा सकता कि वह उस कुल मे नही उत्पन्न हुआ है, क्योकि विवाह के वर्जन के लिए दोनो कुलो मे सपिण्ड-सम्बन्ध को मान्यता दी गयी है।

निर्णयसिन्धु, धर्मसिन्धु एव दत्तकचन्द्रिका (पृ० ४८-४९) ने घोषित किया है कि यदि जनक के पास मरते समय कोई पुत्र न हो या कोई अन्य उपयुक्त व्यक्ति न हो तो दत्तक पुत्र उसका श्राद्ध कर्म कर सकता है। निर्णयसिन्धु एव सस्कारकौस्तुभ (पृ० १८५-१८६) का मत है कि जनक के मरने पर दत्तक पुत्र तीन दिनो तक सूतक मनाता है और यही उसके मरने पर उसका जनक करता है। दत्तकमीमासा एव दत्तकचन्द्रिका इसके विरोध मे हैं, इनके अनुसार केवल-दत्तक अपने जनक एव जनक-कुल के अन्य सम्बन्धियो के लिए सूतक नही मनाता।[19] यदि विवाहित पुत्रवान् व्यक्ति का पुत्रीकरण हो (जैसा कि वम्बई मे सभव है) तो पुत्रीकरण के पूर्व उत्पन्न उसका पुत्र जनक-कुल मे ही रह जाता है और जिस कुल मे वह जाता है उसके धन एव गोत्र का अधिकार उसके पुत्र को नही प्राप्त होता। किन्तु उस पिता को, जो गोद द्वारा दूसरे कुल मे चला गया है, गोद लिये जाने के पूर्व उत्पन्न पुत्र को, जो जनक-कुल मे रहता है, दूसरे को दत्तक रूप मे देने का अधिकार प्राप्त है।[20]

उपर्युक्त विवेचन मे स्पष्ट है कि पुत्रीकृत पुत्र को (दत्तक पुत्र को) अपने जनक-कुल से रक्त-सम्बन्ध प्राप्त है (इस कारण वह वर्जित पीढियो तक उस कुल की कन्या मे विवाह नही कर सकता), वे सस्कार जो जनक-कुल मे सम्पादित हो चुके रहते हैं पुत्रीकरण के उपरान्त पुन नही किये जाते, वह अपने जनक का गोत्र इस रूप मे रखता है कि वह उस गोत्र वाली कन्या मे विवाह नही कर सकता, और कुछ लेखको के मत से वह अपने जनक पिता का सूतक मना सकता है, अर्थात् उसका श्राद्ध कर सकता है। अत यह स्पष्ट है कि पुत्रीकरण के उपरान्त उसका जनक-कुल से त्याग केवल कुछ ही सीमा तक है और वह है सीमित, केवल पिण्ड, रिक्थ एव कुछ सम्बन्धित विषयो तक ही, वह त्याग सम्पूर्ण नही है, जैसा कि कुछ निर्णीत विवादो मे प्रकट किया गया है।

दत्तक पुत्र औरस पुत्र के समान ही पालक-कुल मे रिक्थाधिकार पाता है, अर्थात् वह न केवल अपने पालक का धन पाता है, प्रत्युत उसे अपने पालक पिता के भाई, चचेरे भाई आदि के भी दायाश प्राप्त हो सकते हैं (जब कि उनके पुत्र या अत्यन्त सन्निकट सम्बन्धी न हो)। दत्तक पुत्र को उसकी पालिका एव उसके (पालिका के) सम्बन्धियो यथा—पिता एव भाई के उत्तराधिकार भी प्राप्त होते हैं। दूसरे अर्थ मे यह कहा जा सकता है कि गोद लेनेवाली माता (पालिका) एव उस माता के पिता के सम्बन्धी-गण उसे अपना धन देने के अधिकारी हो जाते हैं।[21]

वसिष्ठ एव बौधायन ने व्यवस्था दी है कि यदि दत्तक लेने के उपरान्त औरस उत्पन्न हो जाय तो दत्तक को चौथाई भाग मिलता है। इस विषय मे स्मृति-वचनो एव निबन्धो मे मतैक्य नही है। दायभाग (१०।१३, पृ० १४८) मे एव विवादचिन्तामणि (पृ० १५०) ने कात्यायन को उद्धृत कर कहा है कि औरस उत्पन्न हो जाने के उपरान्त

१९ दत्तकस्तु जनकपितु पुत्राद्यभावे जनकपितु श्राद्धं कुर्याद्धन च गृह्णीयात्। जनकपालकयोरुभयो पित्रो· सन्तत्यभावे दत्तको जनकपालकयोरुभयोरपि धन हरेत्, श्राद्ध च प्रतिवार्षिकमुभयो कुर्यात्। धर्मसिन्धु (३, उत्तरार्ध पृ० ३७१)।

२० देखिए मार्तण्ड—बनाम—नारायण, आई० एल० आर० (१९३९) बम्बई, ५८६ (एम० बी०)।

२१ दत्तकादीना मातामहा अपि प्रतिग्रहीत्री या माता तत्पितर एव पितृन्यायस्य मातामहेष्वपि समानत्वात्। दत्तकमी० (पृ० १९८), शुद्धदत्तकस्य तु प्रति गृहीत्र्या एव मातु पित्रादिपिण्डदानम्। दत्तकच० (पृ० ६१)।

उसी जाति के अन्य प्रकार के पुत्रों को निर्वाहमात्र या तिहाई भाग मिलता है। बंगाल में इन परिस्थितियों में पालक के धन का एक-तिहाई भाग दत्तक को मिलता है। वाराणसी एवं जैनों में चौथाई भाग मिलता है। सरस्वतीविलास (पृ० १९१) के मत से पाँचवाँ भाग मिलता है। बम्बई में दत्तक को १/५ भाग तथा औरस को ४/५ भाग मिलता है। यही बात बम्बई में शूद्रों के लिए भी है। किन्तु बंगाल एवं मद्रास में यह मत पाया है कि (दत्तकचन्द्रिका पृ० ९८ के आधार पर) शूद्रों में दत्तक एवं औरस को बराबर-बराबर मिले। यदि सम्पत्ति विभाजनयोग्य न हो या उसे परम्परा के अनुसार ज्येष्ठ पुत्र को ही दिया जाता है तो दत्तक लेने के उपरान्त यदि औरस उत्पन्न हो जाय तो औरस को सम्पूर्ण सम्पत्ति मिल जाती है। यदि संयुक्त परिवार में दो भाई हों और उनमें एक दत्तक ले और दूसरे के पास औरस हो तो दत्तक को विभाजन पर आधी सम्पत्ति मिल जाती है, क्योंकि वसिष्ठ का नियम केवल उस विषय में लागू होता है जहाँ एक ही व्यक्ति को दत्तक एवं औरस दोनों पुत्र हों।[22]

२२ दत्तके चौरसे पुत्रे तृतीयांशहराः स्मृताः। सवर्णा असवर्णास्तु ग्रासाच्छादनभागिनः॥ कात्यायन (व्यवहार० १।११ पृ० १४८ वि० चि० पृ० १५; विवादरत्नाकर पृ० ८)। तथा च कात्यायनः। दत्तके चौरसे पुत्रे चतुर्थांशहराः स्मृताः। चतुर्थांशो नाम चतुर्थस्य पोषः वासनेन परिकल्प्यते तत्तुल्योऽंशः इत्यर्थः। सरस्वतीविलास (पृ० १९१)। शूद्रेषु-दत्तपुत्रे यथा जाते स्वाभिरस्यौरसो भवेत्। पितुः रिक्थस्य सर्वस्य भवेतां समभागिनौ॥ इत्यपि वचनं शूद्रविषयं एव बोद्धव्यम्। दत्तकच० (पृ० ९८)।

ऐसा लगता है कि विवाहित व्यक्ति को या पुत्रवान् व्यक्ति को दत्तक लेने की अनुमति देकर व्यवहारमयूख ने स्मृतियों एवं अन्य निबन्धों की सीमाओं का उल्लंघन किया है। शौनक आदि ने कहा है कि दत्तक को औरस का प्रतिबिम्ब होना चाहिए। अतः दत्तक को उस अवस्था में लेना चाहिए जिससे वह शिक्षण एवं वातावरण द्वारा कालान्तर में औरस के समान ही मनोभाव रखने लगे। अतः विधान सभाओं द्वारा ऐसा नियम बनना चाहिए कि उपनयन के उपरान्त दत्तक न लिया जाय या कम-से-कम विवाह होने के उपरान्त तो दत्तक नहीं ही लिया जाय। पुत्रहीन व्यक्ति या विधवा यदि धार्मिक विचारों के अतिरिक्त, अपनी शान्ति, सुरक्षा या वृद्धावस्था में सहायता के लिए गोद लेना चाहते हैं तो यह स्वाभाविक ही है। इंग्लैंड में भी कुछ विधि-संस्कारों के साथ किसी नाबालिग को लोग गोद लेते हैं। जब तक विधवा बालिग न हो जाय उसे दत्तक लेने का अधिकार नहीं देना चाहिए। यह कोई गुण नहीं है कि १५ या १६ वर्षीया विधवा पुत्रीकरण कर ले जब कि उस पुत्रीकरण से उसे उसके द्वारा प्राप्त पति की सम्पत्ति पूर्ण रूप से (या आधी) छोड़ देनी पड़ती है।

अध्याय २९

पुत्र के उपरान्त उत्तराधिकार का अनुक्रम

यह पहले ही कहा जा चुका है कि दाय या तो **अप्रतिबन्ध** होता है या **सप्रतिबन्ध**, और पुत्र, पौत्र एव प्रपौत्र प्रथम प्रकार को ग्रहण करते हैं। यदि किसी को औरस या गौण पुत्र (अर्थात् दत्तक, अन्य प्रकार के गौण पुत्र या तो वर्जित हैं या अप्रचलित हो गये हैं) न हो तो सम्पत्ति एक विशिष्ट क्रम से दी जाती है। जब कोई पुत्रहीन मर जाता है और वह सयुक्त परिवार का सदस्य है तो शेष सहभागियो को पूरी सम्पत्ति मिलती रही है, किन्तु अब सन् १९३७ के कानून (१९३७ के १८ वें कानून) के अनुसार विधवा को सयुक्त सपत्ति मे पति का अधिकार प्राप्त हो जाता है। किन्तु यदि व्यक्ति अलग हो गया हो और उसे पुत्र हो तो उसके मरने के उपरान्त (यदि इसके पूर्व उसका पुत्र भी उससे अलग हो गया हो तो) उसकी सम्पत्ति उसके पुत्र वर्ग को समग्र रूप मे मिल जाती है, अर्थात उसके पुत्र, पौत्र (मृत पुत्र का पुत्र) एव प्रपौत्र (मृत पुत्र के मृत पुत्र का पुत्र) साथ-ही-साथ उसके पृथक् रिक्थ को प्राप्त करते हैं। मनु (९।१३७ =वसिष्ठ १७।५=विष्णु १५।४६) एव याज्ञ० (१।७८) से पता चलता है कि पुत्र, पौत्र एव प्रपौत्र बराबर रूप से आध्यात्मिक (पारलौकिक) फल देते हैं, अत वे प्रमुख उत्तराधिकारियो के दल मे आते है। मिताक्षरा के अनुल्लघ्य सिद्धान्त के अनुसार पुत्र, पौत्र एव प्रपौत्र व्यक्ति के स्वार्जित धन मे जन्म से ही अधिकार रखते हैं, किन्तु वे उसके द्वारा उस सम्पत्ति के विघटन के विषय मे अधिकार नही रखते। यदि पुत्रो, पौत्रो या प्रपौत्रो मे एक या अधिक उससे अलग हो गये हो तो उसकी मृत्यु के उपरान्त उसकी स्वार्जित सम्पत्ति सर्वप्रथम उन पुत्रो, पौत्रो या प्रपौत्रो द्वारा ग्रहण की जायगी जो उसके साथ सयुक्त रहे हो, किन्तु यदि कोई भी सयुक्त न रहा हो तो पृथक् पुत्र, पौत्र एव प्रपौत्र समान रूप से ग्रहण करेंगे।

उपर्युक्त सिद्धान्त बहुत प्राचीन है। बौधायनधर्मसूत्र (१।५।११३-११५) ने कहा है कि व्यक्ति, उसके अपने भाई, सवर्ण पत्नी के पुत्र, पौत्र एव प्रपौत्र एक दल मे आते हैं और **अविभक्त-दाय सपिण्ड** कहे जाते हैं। केवल इनके अभाव मे ही किसी व्यक्ति का धन **सकुल्यों** मे जाता है।[1]

यदि बिना पुत्र, पौत्र एव प्रपौत्र के व्यक्ति मर जाता है तो उसके उत्तराधिकार के विषय मे याज्ञवल्क्य के दो श्लोक हैं,[2] "पत्नी, पुत्रियाँ (एव उनके पुत्र), माता-पिता, भाई, उनके पुत्र, गोत्रज, बन्धु (सपिण्ड सम्बन्धी लोग),

१ अपि च प्रपितामह पितामह पिता स्वय सोदर्या भ्रातर सवर्णाया पुत्र पौत्र प्रपौत्रस्तत्पुत्रवर्ज तेषा च पुत्रपौत्रमविभक्तदाय सपिण्डानाचक्षते। विभक्तदायानपि सकुल्यानाचक्षते। असत्स्वन्येषु तद्गामी ह्यर्थो भवति। बौ० ध० सू० (१।५।११३-११५)।

२ पत्नी दुहितरश्चैव पितरौ भ्रातरस्तथा। तत्सुता गोत्रजा बन्धुशिष्यसब्रह्मचारिण ॥ एषामभावे पूर्वस्य धनभागुत्तरोत्तर। स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्य सर्ववर्णेष्वय विधि ॥ याज्ञ० (२।१३५-१३६)। प्रथम पद्य लघुहारीत (६४-६५) मे भी पाया जाता है।

व्यवहाररत्नाकर पृ० ५९३) ने व्यक्ति के भाइयो, कन्याओ, पिता, सौतेले भाइयो, माता एव पत्नी को क्रम से रिक्थाधिकारी माना है। यह ज्ञातव्य है कि कालिदास के समय मे पुत्रहीन पत्नी को अपने मृत पति का धन नही मिलता था, उसे केवल भोजन-वस्त्र मिलता था और सम्पत्ति पर राजा का अधिकार हो जाता था (अभि० शाकुन्तल, ६)।

याज्ञवल्क्य एव विष्णु जैसे स्मृतिकार हैं, जिन्होने सर्वप्रथम स्पष्ट रूप से घोषित किया कि पुत्रहीन व्यक्ति के मृत होने पर रिक्थाधिकार सर्वप्रथम पत्नी को मिलना चाहिए। बृहस्पति ने पुत्रहीन व्यक्ति की पत्नी को प्रथम उत्तराधिकारी घोषित किया है और अपनी उक्ति के समर्थन मे कारण भी दिये हैं—"वेद, स्मृतियो के सिद्धान्तो तथा लोकाचार द्वारा यह घोषित है कि पत्नी अर्धांगिनी है और है पुण्यो एव पापो मे आधी साझी। जिसकी पत्नी मृत नही है उसके (पति के) मरने पर उसका आधा शरीर जीवित रहता है। जव तक मृत व्यक्ति का आधा शरीर जीवित रहता है तव तक अन्य कोई सम्पत्ति कैसे पा सकता है? भले ही सकुल्य (सम्बन्धी), पिता, माता या अन्य सम्बन्धी जीवित हो, पुत्रहीन मृत व्यक्ति की पत्नी को उसके भाग का उत्तराधिकार मिलता है। पति के पूर्व मरनेवाली पत्नी पवित्र अग्नियो को साथ ले जाती है (अर्थात् यदि पति अग्निहोत्री है तो पत्नी वैदिक अग्नियो के साथ जलायी जाती है), किन्तु यदि पत्नी के पूर्व पति मृत हो जाता है तो उसकी सम्पत्ति पतिव्रता पत्नी को मिलती है। पतिव्रता नारी की वन्दना करनी चाहिए, यही सनातन धर्म है।"[६]

यद्यपि बहुमान्य स्मृतिकार याज्ञवल्क्य ने विधवाओं के उत्तराधिकार-सम्बन्धी प्रधान अधिकार को घोषित कर दिया था, तव भी कुछ स्मृतियो एव आरम्भिक टीकाकारो ने उसे नही माना। नारद (दायभाग २५—२६) ने व्यवस्था दी है कि जव कई भाइयो मे कोई सन्तानहीन मर जाय या सन्यासी हो जाय तो अन्य भाइयो को स्त्रीधन छोडकर उसकी शेष सम्पत्ति वाँट लेनी चाहिए, किन्तु उस (मृत भाई) की पतिव्रता विधवाओ का उनके जीवन भर भरण-पोषण करना चाहिए, किन्तु यदि वे व्यभिचारिणी हो तो उन्हें जीविका-वृत्ति से मुक्त कर देना चाहिए। नारद (दायभाग, ५०-५१) ने कहा है कि पुत्रो के न रहने पर पुत्री, सकुल्य, वन्धु, सजातीय एव राजा क्रम से उत्तराधिकार पाते हैं। स्पष्ट है, यहाँ पत्नी सम्मिलित नही है। व्यास (हरदत्त द्वारा गौतम २८।१९ की टीका मे उद्धृत एव स्मृतिच० २, पृ० २८१) का कथन है कि यदि पति की सम्पत्ति २००० पणो से अधिक की न हो तो पत्नी उसे सम्पूर्ण रूप में ग्रहण कर सकती है। श्रीकर ने ऐसी व्यवस्था दी है कि यदि सम्पत्ति थोडी हो तो पत्नी उसे सम्पूर्ण रूप मे पा

१३५, अपरार्क, पृ० ७४१)। दायभाग (११।१, १५ पृ० १५४) ने इसे शख-लिखित, पैठीनसि एव यम का माना है और पत्नी के पश्चात् 'सगोत्रशिष्यसब्रह्मचारिण' जोड दिया है। किन्तु अपरार्क (पृ० ७४४) ने इसे शख-लिखित एव पैठीनसि का माना है। मिताक्षरा ने व्याख्या की है कि 'भाइयों' का तात्पर्य है 'पुन सयुक्त भाइयो।'

६ आम्नाये स्मृतितन्त्रे च लोकाचारे च सूरिभि। शरीरार्धं स्मृता जाया पुण्यापुण्यफले समा॥ यस्य नोपरता भार्या देहार्धं तस्य जीवति। जीवत्यर्धशरीरेऽर्थं कथमन्य समाप्नुयात्॥ सकुल्यैर्विद्यमानैस्तु पितृभ्रातृसनाभिभि। असुतस्य प्रमीतस्य पत्नी तद्भागहारिणी॥ पूर्वं मृता त्वग्निहोत्र मृते भर्तरि तद्धनम्। विन्देत् पतिव्रता नारी धर्म एष सनातन॥ बृहस्पति (अपरार्क पृ० ७४०-४१, दायभाग ११।१।२, पृ० १४९-१५०, कुल्लूक, मनु ९।१८७, स्मृतिच० २, पृ० २९०-९१)। देखिए इस ग्रन्थ का भाग २, अध्याय ९ एव अध्याय ११, और शतपथब्राह्मण (५।२।१।१० एवं ८।७।२।३), तैत्तिरीय सहिता (६।१।८।५), ऐतरेय ब्राह्मण (१।३।५), शान्तिपर्व (१४४।६६), आदिपर्व (७४।४०)। वसिष्ठ (२१।१५) एव पराशर (१०।२६) का कथन है—'पतत्यर्धं शरीरस्य यस्य भार्या सुरा पिबेत्। पतितार्धशरीरस्य निष्कृतिर्न विधीयते॥'

जाती है, किन्तु यदि वह अधिक हो तो उसे जीवन-वृत्ति मात्र मिलती है। किन्तु मिताक्षरा ने इस व्यवस्था का यह कह-कर विरोध किया है कि यह याज्ञवल्क्य के कथन के विरुद्ध है। हमने देख लिया है कि याज्ञवल्क्य ने संयुक्त सम्पत्ति के विभाजन के समय भी अन्य पुत्रों के साथ पत्नी एवं माता को दायांश दिया है। इसके अतिरिक्त उनके अनुसार पत्नी को दायांश से विरत करने से 'विधि-वैषम्य' नामक दोष उत्पन्न हो जाता है। 'विधि वैषम्य' दोष के विषय में पूर्वमीमांसा ने एक निष्कर्ष दिया है—जब एक ही वाक्य की व्याख्या दो परिस्थितियों में दो भिन्न प्रस्तावों को उपस्थित करती है तो वह "विधिवैषम्य" दोष प्रकट करती है। याज्ञवल्क्य का एक ही कथन दो अर्थों में लिया जायगा (१) जब पति लम्बी-चौड़ी सम्पत्ति छोड़े तो पत्नी को जीविका मात्र की उपलब्धि होगी (२) किन्तु यदि वह थोड़ी सम्पत्ति छोड़े तो उसकी पत्नी को पुत्र के दायांश के बराबर मिलेगा। एक अन्य मत स्मृतिसंग्रह एवं धारेश्वर का है—यदि पत्नी नियोग का आश्रय लेकर पति के लिए पुत्रोत्पत्ति करती है तो वह पुत्रहीन मृत पति की सम्पत्ति पा सकती है। इस मत को गौतम (२८।१९२) एवं वसिष्ठ (१७।६५) के वचनों से बल मिला (वसिष्ठ ने सम्पत्ति-मोह के कारण नियोग आश्रय की वर्जना की है)। इस मत को मनु (९।१४६ एवं १९) से भी बल मिला है। उनका कथन है कि एक भाई मृत भाई की पत्नी से पुत्र उत्पन्न कर अपने भाई का दायांश उसे दे देता है। मिताक्षरा स्मृतिच (२ पृ १९४) एवं व्य प्रकाश (पृ ४९५ ४९७) ने इस मत का खण्डन किया है।

मेधातिथि ने भी जो सामान्यतः उदार लेखक के रूप में प्रसिद्ध हैं, प्रतिबन्ध लगाया है कि विधवा अपने मृत पति का उत्तराधिकार नहीं प्राप्त कर सकती।[1]

मिताक्षरा ने श्रीकर, धारेश्वर आदि के मतों का खण्डन करके यह तय किया है कि यदि विधवा सदाचारिणी है तो वह अपने पुत्रहीन मृत पति की सम्पूर्ण सम्पत्ति की अधिकारिणी है।" मिताक्षरा के उपरान्त अधिकांश लेखकों ने विधवा के उत्तराधिकार को मान्य ठहराया है। बहुत से लेखकों ने ऐसा कहा है कि विधवा के उत्तराधिकार के विषय में स्मृतियों के वचनों में बड़ा विरोध रहा है (दायभाग ११।१।१ मिताक्षरा २।१३५)। उन्होंने नारद (दायभाग २५ २६) की व्याख्या कर यह कहा है कि वहाँ केवल भरण-पोषण की व्यवस्था दी हुई है वहाँ यह समझना चाहिए कि यह रखैलों के लिए है या उनकी पत्नियों के लिए है जो पुन संयुक्त होते हैं।

७. पिण्डमो नपत्यस्य। बीजं वा लिप्सेत। गौतम (२८।१९-२)। धारेश्वर ने इसे इस प्रकार समझाया है —'स्त्री वा रिक्थं भजेत यदि बीजं लिप्सेत।' मिताक्षरा का कहना है कि इसका अर्थ यह है कि विधवा के समक्ष दो मार्ग खुले हैं ; (१) वह पवित्र रह सकती है और सपिण्डों के साथ रिक्थाधिकार पा सकती है, या (२) वह नियोग का आश्रय ले सकती है।

८. मिताक्षरा पर सुबोधिनी ने निम्न टीका की है और स्पष्ट निष्कर्ष दिया है— तथा तर्कैकदेशिनो विधि-वैषम्यं दोषस्तथा 'पत्न्यः कार्याः समांशिकाः' 'भाताप्यंशं समं हरेत्' इत्यत्र च तद्व्याख्यानतो जीवनमात्रार्थत्वादपि सर्वांशुग्रहण-त्वयते 'भरणं चास्य कुर्वीरन्' इत्यादिवाक्यवर्गविरोधतया जीवनोपयुक्तधनपरी स्वल्पधनत्वे तु वाक्यान्तरमेवैषेय निमित्तपुत्रोत्पादनार्थपराविति श्रीकरानुक्तव्याख्यानेपि विधिवैषम्यदोषो दुर्वार इति। काणे महोदय ने सुबोधिनी को अक्षरशः उद्धृत किया है। यह न्याय दायभाग (११।१।२६) में भी आया है।

९. अतो यावैयाक्षिकिया पत्नीनामंशस्थापितं विधित्समुक्तं तदसम्यक्—

पत्नीनामंशसमार्पितं वृद्धस्यापितैस्मात्। मेधातिथिर्निराकुर्वन् न स्त्रीणामिति सर्वा भव ॥ पुत्रस्य (मनु ९।१८७)।

१ तस्मादपुत्रस्य स्वर्यातस्य विभक्तस्यासंसृष्टिनो धनं परिणीता स्त्री संयता सकलमेव गृह्णातीति स्थितम्। मिताक्षरा (याज्ञ २।१३५)।

पाणिनि (४।१।३३) ने 'पति' के साथ जोड़कर 'पत्नी' का यह अर्थ लगाया है—'पति के साथ यज्ञ सम्पादन में सम्मिलित होने के योग्य।' वही नारी पत्नी है जिसका पति के साथ धार्मिक परिणय हुआ हो। स्मृतिच० (२, पृ० २९०) ने उद्धरण देकर कहा है कि वह नारी जो धन द्वारा केवल संभोग के लिए प्राप्त की जाती है, दासी है न कि पत्नी, अतः वह पुत्रहीन मृत पति का उत्तराधिकार नहीं प्राप्त कर सकती।[11] वृद्ध मनु का कथन है—"केवल वही पत्नी, जो पुत्रहीन है, अपने पति की शय्या को शुद्ध रखती है तथा व्रत करती रहती है, अपने पति का पिण्डदान कर सकती है और उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति पाती है।"[12] कात्यायन (९२६) ने भी कहा है—"अव्यभिचारिणी पत्नी पति की सम्पत्ति पाती है।" जब रिक्थाधिकार निश्चित होता है उस समय विधवा को सदाचारिणी रहना परमावश्यक है। न्यायालयों ने निर्णय दिया है कि जब एक बार विधवा को सम्पत्ति मिल जाती है तो (पति की मृत्यु के उपरान्त) लगाये गये दोषारोपण से उसका अपहरण नहीं हो सकता। यदि रिक्थाधिकार पाने के उपरान्त विधवा पुनर्विवाह कर ले तो (यद्यपि अब १८५६ के १५वें कानून के अनुसार विधवा-विवाह वैध माना जाता है) उसे पति का धन लौटा देना पड़ता है, या वह सम्पत्ति, जिसे उसने मृत पुत्र की विधवा माता के रूप में ग्रहण किया था, अब (पुनर्विवाह के उपरान्त) पति के अन्य उत्तराधिकारियों को या पुत्र को मिल जाती है, और यह समझा जाता है कि मानो वह मर चुकी है। यह नियम सभी वर्णों में समान रूप से लागू है (जब कि उनकी जाति के लोगों में परम्परा के अनुसार पुनर्विवाह भी होता है तब भी यह नियम ज्यों-का-त्यों है)।

दायभाग के अनुसार अप्रतिबन्ध दाय की मान्यता नहीं है, संयुक्त परिवार के पुत्रहीन सदस्य की विधवा को कुल-सम्पत्ति में दायांश मिलता है, वहाँ संयुक्त सम्पत्ति एवं पृथक् सम्पत्ति में कोई अन्तर नहीं है।

शूद्रों में यदि स्वामी पत्नी या पुत्री या पुत्री-पुत्र एवं कोई अवैध पुत्र छोड़कर मर जाता है तो न्यायालयों ने याज्ञ० (२।१३४), मिताक्षरा एवं दायभाग (९।३१) के अनुसार यह निर्णय दिया है कि विधवा या पुत्री या पुत्री-पुत्र को आधा एवं अवैध पुत्र को शेष आधा प्राप्त होता है।

विधवा के अपने पति से प्राप्त रिक्थ-सम्बन्धी अधिकार सीमित हैं। कौटिल्य (३।२) ने ही सम्भवतः सर्वप्रथम हिन्दू विधवा की सम्पत्ति की विशेषताओं पर प्रकाश डाला है, और कात्यायन का एक कथन भी उनकी उक्ति के समान ही है।[13] अनुशासनपर्व (४७।२४) में आया है कि स्त्रियों को अपने पतियों के धन के उपभोग मात्र का अधिकार प्राप्त है, वे (दान, विक्रय आदि से) उसे नष्ट नहीं कर सकती। बृहस्पति का कथन है—"जब पति अलग

११ क्रयक्रीता तु या नारी न सा पत्नी विधीयते। न सा दैवे न सा पित्र्ये दासीं तां कवयो विदुः ॥ स्मृतिच० (२, २९०), व्य० प्र० (पृ० ४८८), क्रीता द्रव्येण या नारी सा न पत्नी विधीयते। सा न दैवे न सा पित्र्ये दासीं तां काश्यपोऽब्रवीत् ॥ बौ० ध० सू० (१।११।२०)।

१२ अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती व्रते स्थिता। पत्न्येव दद्यात् तत्पिण्डं कृत्स्नमंशं लभेत च ॥ वृद्धमनु (मिताक्षरा, याज्ञ० २।१३५, दायभाग ११।१।७, वि० र० पृ० ५८९, पत्नी भर्तुर्धनहरी या स्यादव्यभिचारिणी। कात्यायन (मिता० याज्ञ०, २।१३५)।

१३ अपुत्रा पतिशयनं पालयन्ती गुरुसमीपे स्त्री धनमायुःक्षयाद् भुञ्जीत। आपदर्थं हि स्त्रीधनम्। ऊर्ध्वं दायादं गच्छेत्। अर्थशास्त्र (३।२), स्त्रीणां स्वपतिदायस्तु उपभोगफलः स्मृतः। नापहारं स्त्रियः कुर्युः पतिवित्तात्कथंचन ॥ अनुशासनपर्व (४७।२४, विवादचन्द्र पृ० ७१, विवादचिन्तामणि पृ० १५२, व्य० प्र० ४९१, दायभाग ९।१।६०)।

में खटाखट बँट जाय, जैसा कि मुसलमानो मे पाया जाता है। प्राचीन हिन्दू व्यवहार की यह विशेषता है कि मृत व्यक्ति की पृथक् सम्पत्ति स्त्रियो को मिल जाती है, अर्थात् वह सर्वप्रथम विधवा को, उसके पश्चात् उसकी पुत्री को प्राप्त होती है, तब वही व्यक्ति के अपने पिता या भाई या भतीजे को प्राप्त होती है। ऐसे प्रयत्न चलते रहे हैं कि आजकल विधान-सभा द्वारा यह व्यवहार चला दिया जाय कि पुत्रो के रहते विधवा एव पुत्रियो को भी दायांश मिल जाय। सफलता भी मिली है। किन्तु इससे कुछ गडबडियाँ भी उत्पन्न हो जायँगी, यो तो स्त्रियो के अधिकारो के विषय म जितना अधिक किया जाय उतना ही अधिक अच्छा प्रयत्न समझा जायगा। पर इस प्रकार के समानाधिकार से विवाद उठ खडे होंगे, भूमि-भाग खण्डित होते चले जायँगे, जो कुछ प्राप्त होगा वह आर्थिक रूप से लाभदायक नही सिद्ध होगा और सम्भवत यह सन्देहात्मक है कि इससे भारतीय समाज या राष्ट्र का हित होगा। क्या इसे हिन्दुओ का इतना लम्बा-चौडा समाज स्वीकार करेगा? अस्तु, प्रजापति का कथन है कि राजा को चाहिए कि वह उन सपिण्डो एव बन्धुओ को चोरो का दण्ड दे जो विधवा के समक्ष उसके पति की सम्पत्ति पर अधिकार प्राप्त करने मे बाधा डाले या कोई विरोध खडा करें।"[१६]

तैत्तिरीय संहिता (६।५।८।२) मे स्त्रियो को जो 'निरिन्द्रिया' एव 'अदाया' कहा गया है वह सोमयज्ञ के सिलसिले मे कहा गया है, उसका तात्पर्य है कि वे सोमरस के भाग (दाय) के लिए अयोग्य है, उनमे इतना बल नही है कि वे उसे सँभाल सकें, अत वे 'अदाया' हैं। किन्तु बौधायनधर्मसूत्र ने सम्भवत उसका अर्थ यो लगा लिया कि स्त्रियाँ रिक्थाधिकार से वंचित है। मनु (९।१८) ने भी उसका सहारा लेकर घोषित कर दिया है कि स्त्रियो के संस्कार (विवाह को छोडकर) वैदिक मन्त्रो द्वारा नहीं सम्पादित होने चाहिए, क्योकि वेद ने उन्हे 'निरिन्द्रिय' एव 'अनृत' घोषित किया है। बाद के लेखक, यथा हरदत्त (गौतम २८।१९, आप० ध० सू० २।६।१४।१) एव व्य० प्र० (पृ० ५१७ एव ५५४) ने भी वेद की इसी उक्ति के आधार पर स्त्रियो को रिक्थाधिकार से वंचित समझ लिया। उनका कथन है कि यद्यपि वेद-वचन बडा ही व्यापक एव एक साथ सब बातो को समेट लेनेवाला है, किन्तु यह केवल उन स्त्रियो को वंचित करता है जिन्हे स्मृतियो ने भी रिक्थाधिकार नही दिया है, एव अन्यो को उसके योग्य ठहराया है, अर्थात् जिन्हे स्मृतियो ने रिक्थाधिकार के योग्य माना है उन्हे छोडकर अन्य स्त्रियो के विषय मे वेद के वचन मान्य हैं। यथा—दायभाग (११।६।११) ने बौधायन को उद्धृत कर टिप्पणी की है कि पत्नी को रिक्थाधिकार प्राप्त है, क्योकि कुछ विशिष्ट स्मृतियो (याज्ञ० एव विष्णु०) ने ऐसी व्यवस्था दी है। स्मृतिचन्द्रिका (२।२९४) का कथन है कि वैदिक उक्ति केवल अर्थवाद (निन्दा के लिए प्रयुक्त) है न कि परम नियम (विधि वाक्य), यह उन स्त्रियो के लिए नही है जिनके विषय मे स्पष्ट उल्लेख है। यही बात व्यवहार-प्रकाश ने कही है। अपरार्क (पृ० ७४३) का कहना है कि वैदिक वचन केवल अर्थवाद है। वह स्त्रियो को पुत्रवती रहने पर ही वंचित करता है। यह जानने योग्य है कि पराशरमाधवीय (३, पृ० ५३६) ने तैत्तिरीय संहिता के वचन को इस अर्थ मे लिया है—"याज्ञिक (यज्ञ करनेवाले या यजमान) की पत्नी को पात्नीवत प्याले मे सोमरस लेने का अधिकार नहीं है और 'इन्द्रिय' का अर्थ है 'सोमरस' या 'सोमपीथ'।" किन्तु माधवाचार्य ने तैत्तिरीय संहिता (१।४।२७) की टीका में उसके वचन (६।५।८।२) को दूसरे ही अर्थ मे लिया है—"स्त्रियाँ शक्तिहीन होने के कारण, सन्तानो के रहते रिक्थाधिकार नही प्राप्त करती।" यह एक विचारणीय बात है कि मिताक्षरा एव व्यवहारमयूख ने स्त्रियो के रिक्थानधिकारो के विषय में विवेचन करते हुए तैत्तिरीय संहिता एव बौधायनधर्मसूत्र का उल्लेख नहीं किया है। ऐसा नही कहा जा

१६ तत्सपिण्डा बान्धवाश्च ये तस्याः परिपन्थिनः। हिंस्युर्धनानि तान्राजा चौर्यदण्डेन शासयेत्॥ प्रजापति (स्मृतिच० २, पृ० २९४, वि० चि०, पृ० १५१)।

है तो उसकी विधवा को अचल सम्पत्ति के अतिरिक्त सभी प्रकार की सम्पत्ति अर्थात् आधि आदि (धरोहर आदि) प्राप्त हो जाती है। चल एवं अचल सम्पत्ति सोना साधारण धातु आदि अन्न पेय पदार्थ वस्त्र प्राप्त कर लेने के उपरान्त उसे मासिक षाण्मासिक एवं आब्दिक (वार्षिक) श्राद्ध करना पड़ता है। उसे अन्त्येष्टि क्रिया-कर्मों एवं पूर्तों (पवित्र कल्याणकारी कर्मों) द्वारा अपने पति के चाचा गुरुओं (अध्यापकों) दौहित्रों स्वस्रीयों (बहिन के पुत्रों) एवं मामाओं तथा बूढ़ों या असहायों अतिथियों एवं स्त्रियों का सम्मान करना चाहिए।[14] माधव (पराशरमाधवीय ३ पृ ५३६) ने "स्थावर मुक्त्वा" (अचल सम्पत्ति छोड़कर) का तात्पर्य यह निकाला है कि उसे बिना पुरुष सम्बन्धियों की सहमति के अचल सम्पत्ति बेचने का अधिकार नहीं है। व्यवहारमयूख (पृ १३८) को भी यह व्याख्या मान्य है और आज के न्यायालयों ने भी इसे उचित माना है। कात्यायन (पृ ९२१ ९२४ २५) ने विधवा के अधिकार की सीमाओं को इस प्रकार व्यक्त किया है— अपुत्र (पुत्रहीन) विधवा को जो अपने पति की शय्या को पवित्र रखती है, गुरुजनों के साथ रहती है तथा स्व-नियन्त्रण में रहती है (अपने पति की) सम्पत्ति के उपभोग का अधिकार जीवन-पर्यन्त रहता है उसके उपरान्त (उसके पति के) अन्य उत्तराधिकारियों का अधिकार रहता है। वह पत्नी जो कुल के सम्मान की रक्षा करती है आमरण पति का दायांश ग्रहण करती है किन्तु उसे दान क्रय एवं बन्धक रखने का अधिकार नहीं प्राप्त होता। वह विधवा जो व्रतोपवासनिरत रहती है ब्रह्मचर्य-पालन करती है व्यवस्थित रहती है तथा दान एवं दम में लगी रहती है पुत्रहीन होने पर भी स्वर्गारोहण करती है।[15] इन बातों से स्पष्ट है कि विधवा को पति की सम्पत्ति के उपभोग का अधिकार मृत्यु पर्यन्त प्राप्त है वह अचल सम्पत्ति का दान विक्रय एवं बन्धक कर्म तब तक नहीं कर सकती जब तक कि उसके बाद के उस सम्पत्ति के उत्तराधिकारी ऐसा करने को न कहें किन्तु धार्मिक एवं दान के कार्यों में या उनमें जिनसे उसके पति का पारलौकिक कल्याण निहित है वह सम्पत्ति के व्यय में बड़े अधिकार रखती है। आज भी इन नियमों का पालन होता है और इस विषय में न्यायालयों ने उचित निर्णय भी दिये हैं।

मिताक्षरा (२।१।२५) के अनुसार यदि मृत व्यक्ति की कई विधवाएँ हों तो वे आपस में बराबर-बराबर बाँट लेती हैं (ताश्च बह्व्यश्चेत्सजातीया विजातीयाश्च तदा यथांशं विभज्य गृह्णन्ति)।

यदि आपस में विभाजन करने के उपरान्त विधवाओं में एक मर जाय तो उसका भाग अन्य विधवा या विधवाओं को प्राप्त हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि विधवाओं में भी उत्तरजीवी का अधिकार पाया जाता है अर्थात् जब तक कोई-न-कोई विधवा जीवित रहती है या पुनर्विवाह नहीं करती तब तक पति की सम्पत्ति पर किसी अन्य का अधिकार नहीं हो सकता। हिन्दुओं में यह बात नहीं पायी जाती कि मरने के पश्चात् सम्पत्ति कई सम्बन्धियों

१४ यद्विभक्ते धनं किञ्चिदाध्यादि विविधं स्मृतम्। तज्जाया स्थावरं मुक्त्वा लभते मृतभर्तृका॥ जङ्गमं स्थावरं हेम कुप्यं धान्यं रसाम्बरम्। आदाय दापयेच्छ्राद्धं मासषाण्मासिकाब्दिकम्॥ पितृव्यगुरुदौहित्रान् भर्तुः स्वस्रीयमातुलान्। पूजयेत्कव्यपूर्ताभ्यां वृद्धानाथातिथीन् स्त्रियः॥ बृहस्पति (स्मृतिच २ पृ २९१; वि र पृ ५९१; मदनरत्न; व्य मयूख पृ १३७-१३८; पराशरमाधवीय ३ पृ ५३६)।

१५ अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती गुरौ स्थिता। भुञ्जीतामरणात्क्षान्ता दायादा ऊर्ध्वमाप्नुयुः॥ कात्यायन (दायभाग ११।१।५६; स्मृतिच २ पृ २९२; मृते भर्तरि भर्त्रंशं लभेत कुलपालिका। यावज्जीवं न हि स्वाम्यं दानाधमनविक्रये॥ व्रतोपवासनिरता ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता। दमदानरता नित्यमपुत्रापि दिवं व्रजेत्॥ कात्या (स्मृतिच २ पृ २९२; व्य मयूख पृ १३८)। और देखिए जीमूतवाहन का दायभाग (११।१।५९)।

मे खटाखट वँट जाय, जैसा कि मुसलमानो मे पाया जाता है। प्राचीन हिन्दू व्यवहार की यह विशेषता है कि मृत व्यक्ति की पृथक् सम्पत्ति स्त्रियो को मिल जाती है, अर्थात् वह सर्वप्रथम विधवा को, उसके पश्चात् उसकी पुत्री को प्राप्त होती है, तब कही व्यक्ति के अपने पिता या भाई या भतीजे को प्राप्त होती है। ऐसे प्रयत्न चलते रहे हैं कि आजकल विधान-सभा द्वारा यह व्यवहार वना दिया जाय कि पुत्रो के रहते विधवा एव पुत्रियो को भी दायाश मिल जाय। सफलता भी मिली है। किन्तु इससे कुछ गडवडियाँ भी उत्पन्न हो जायँगी, यो तो स्त्रियो के अधिकारो के विषय मे जितना अधिक किया जाय उतना ही अधिक अच्छा प्रयत्न समझा जायगा। पर इस प्रकार के समानाधिकार से विवाद उठ खडे होंगे, भूमि-भाग खण्डित होते चले जायँगे, जो कुछ प्राप्त होगा वह आर्थिक रूप से लाभदायक नही सिद्ध होगा और सम्भवत यह सन्देहात्मक है कि इससे भारतीय समाज या राष्ट्र का हित होगा। क्या इसे हिन्दुओ का इतना लम्वा-चौडा समाज स्वीकार करेगा? अस्तु, प्रजापति का कथन है कि राजा को चाहिए कि वह उन सपिण्डों एव वन्धुओ को चोरो का दण्ड दे जो विधवा के समक्ष उसके पति की सम्पत्ति पर अधिकार प्राप्त करने मे वाधा डालें या कोई विरोध खडा करें।"

तैत्तिरीय सहिता (६।५।८।२) मे स्त्रियो को जो 'निरिन्द्रिया' एव 'अदाया' कहा गया है वह सोमयज्ञ के सिलसिले मे कहा गया है, उसका तात्पर्य है कि वे सोमरस के भाग (दाय) के लिए अयोग्य हैं, उनमे इतना वल नही है कि वे उसे सँभाल सकें, अत वे 'अदाया' हैं। किन्तु वौधायनधर्मसूत्र ने सम्भवत उसका अर्थ यो लगा लिया कि स्त्रियाँ रिक्थाधिकार से वचित हैं। मनु (९।१८) ने भी उसका सहारा लेकर घोषित कर दिया है कि स्त्रियो के सस्कार (विवाह को छोडकर) वैदिक मन्त्रो द्वारा नही सम्पादित होने चाहिए, क्योकि वेद ने उन्हे 'निरिन्द्रिय' एव 'अनृत' घोषित किया है। वाद के लेखक, यथा हरदत्त (गौतम २८।१९, आप० ध० सू० २।६।१४।१) एव व्य० प्र० (पृ० ५१७ एव ५५४) ने भी वेद की इसी उक्ति के आधार पर स्त्रियो को रिक्थाधिकार से वचित समझ लिया। उनका कथन है कि यद्यपि वेद-वचन वडा ही व्यापक एव एक साथ सव वातो को समेट लेनेवाला है, किन्तु यह केवल उन स्त्रियो को वचित करता है जिन्हे स्मृतियो ने भी रिक्थाधिकार नही दिया है, एव अन्यो को उसके योग्य ठहराया है, अर्थात् जिन्हे स्मृतियो ने रिक्थाधिकार के योग्य माना है उन्हें छोडकर अन्य स्त्रियो के विषय मे वेद के वचन मान्य हैं। यथा—दायभाग (११।६।११) ने वौधायन को उद्धृत कर टिप्पणी की है कि पत्नी को रिक्थाधिकार प्राप्त है, क्योकि कुछ विशिष्ट स्मृतियो (याज्ञ० एव विष्णु०) ने ऐसी व्यवस्था दी है। स्मृतिचन्द्रिका (२।२९४) का कथन है कि वैदिक उक्ति केवल अर्थवाद (निन्दा के लिए प्रयुक्त) है न कि परम नियम (विधि वाक्य), यह उन स्त्रियो के लिए नही है जिनके विषय मे स्पष्ट उल्लेख है। यही वात व्यवहार-प्रकाश ने कही है। अपरार्क (पृ० ७४३) का कहना है कि वैदिक वचन केवल अर्थवाद है। वह स्त्रियो को पुत्रवती रहने पर ही वचित करता है। यह जानने योग्य है कि पराशरमाधवीय (३, पृ० ५३६) ने तैत्तिरीय सहिता के वचन को इस अर्थ मे लिया है—"याज्ञिक (यज्ञ करनेवाले या यजमान) की पत्नी को पात्नीवत प्याले मे सोमरस लेने का अधिकार नही है और 'इन्द्रिय' का अर्थ है 'सोमरस' या 'सोमपीथ'।" किन्तु माधवाचार्य ने तैत्तिरीय सहिता (१।४।२७) की टीका मे उसके वचन (६।५।८।२) को दूसरे ही अर्थ मे लिया है—"स्त्रियाँ शक्तिहीन होने के कारण, सन्तानो के रहते रिक्थाधिकार नही प्राप्त करती।" यह एक विचारणीय वात है कि मिताक्षरा एव व्यवहारमयूख ने स्त्रियो के रिक्थाधिकारो के विषय मे विवेचन करते हुए तैत्तिरीय सहिता एव वौधायनधर्मसूत्र का उल्लेख नही किया है। ऐसा नही कहा जा

१६ तत्सपिण्डा वान्धवाश्च ये तस्या परिपन्थिन । हिंस्युर्धनानि तान्राजा चौयदण्डेन शासयेत् ॥ प्रजापति (स्मृतिच० २, पृ० २९४, वि० चि०, पृ० १५१)।

तो सदर्भ से, जैसा कि स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० २९६) का कहना है, यही प्रकट होता है कि उन्होंने उस कन्या की ओर सकेत किया है जिसका पिता मरने के पहले पुन सयुक्त हो गया था। बृहस्पति का कहना है कि "पत्नी को पति की 'धनहरी' (धन पानेवाली) कहा गया है, उसके अभाव मे पुत्री का अधिकार होता है, कन्या पुत्र के समान पिता के शरीर से ही उत्पन्न होती है, अत उसके रहते उसके पिता की सम्पत्ति अन्य व्यक्ति कैसे पा सकता है?"[१९] यद्यपि याज्ञवल्क्य, विष्णु एव बृहस्पति के वचन पर्याप्त स्पष्ट थे, किन्तु प्राचीन टीकाकारो ने उनका शाब्दिक अर्थ नही लिया। विश्वरूप ने कहा है कि याज्ञवल्क्य ने केवल 'पुत्रिका' की ओर सकेत किया है और उसके बहुवचन से तात्पर्य है कि कई पुत्रिकाएँ पुत्र के रूप मे नियुक्त की जा सकती है। यही बात धारेश्वर, देवस्वामी एव देवरात ने भी कही है (स्मृतिच० २, पृ० २९५)। किन्तु मिताक्षरा ने इन लोगो को उत्तर दिया है—याज्ञवल्क्य का 'दुहितर' शब्द 'पुत्रिका' की ओर सकेत नही करता, क्योकि उन्होने स्वय (२।१२८) 'पुत्रिका' को औरस पुत्र के समान माना है, वसिष्ठ ने भी अन्य पुत्रो के दल म 'पुत्रिका' को रखा है और अन्य पुत्रो (मुख्य एव गौण) के अभाव मे विधवा एव पुत्रियो को उत्तराधिकार के मामले मे मान्यता दी है। याज्ञ०, विष्णु० एव बृह० इस विषय मे मौन ही है कि कन्याओ मे उत्तराधिकार के मामले मे कोई अन्तर है या नही।

कात्यायन (९२६) ने अविवाहित कन्या को वरीयता दी है और इस मत को मिताक्षरा तथा अन्य निबन्धो मे मान्यता मिली है। दायभाग (११।२।४, पृ० १७५) ने पराशर की उक्ति की चर्चा करके अविवाहित कन्या को विवाहित कन्या से अधिक मान्यता दी है। मिताक्षरा ने गौतम (२८।२२) का उल्लेख करके स्त्रीधन के उत्तराधिकार के विषय मे विवाहित कन्याओ मे उस कन्या को अधिक मान्यता दी है जो अपेक्षाकृत निर्धन है। स्पष्ट है, मिताक्षरा ने यहाँ सामान्य अनुभव की ओर सकेत किया है कि पिता उस कन्या की अधिक चिन्ता करता है जो अपेक्षाकृत निर्धन है अथवा अप्रतिष्ठित है। मिताक्षरा के समान ही दायभाग ने कुमारी कन्या को विवाहित कन्या की अपेक्षा अधिक मान्यता दी है। किन्तु विवाहित कन्याओ के विषय मे चर्चा करते हुए जीमूतवाहन (दायभाग के लेखक) ने दीक्षित नामक लेखक का उल्लेख करके कहा है कि पुत्रवती कन्या या पुत्रवती होनेवाली कन्या को विधवा या वन्ध्या (बाँझ) या केवल पुत्रियो वाली विवाहित कन्या से अधिक वरीयता मिलनी चाहिए। इस वरीयता के पीछे दायभाग का यह सिद्धान्त है—उत्तराधिकार के विषय मे पारलौकिक कल्याण की भावना निहित है। वन्ध्या या विधवा कन्या पुत्रवती न होने के कारण पारलौकिक या आध्यात्मिक लाभ नही दे सकती, क्योकि जब नाना को पिण्डदान ही नही मिलेगा तो पारलौकिक कल्याण की बात ही कहाँ उठती है? इस विषय मे मिताक्षरा रक्त की सन्निकटता (प्रत्यासत्ति) के सिद्धान्त पर आरूढ है। किन्तु, जैसा कि व्यवहारप्रकाश (पृ० ५१९) का कथन है, दायभाग का सिद्धान्त असगत है। यह कहना कि कुमारी कन्या को पुत्रवती विवाहित कन्या की अपेक्षा वरीयता मिलनी चाहिए, तर्कहीन सिद्धान्त है, क्योकि जब पुत्रवती कन्या का अस्तित्व है ही तो उस कन्या को क्यो वरीयता मिलनी चाहिए जिसका पुत्रवती होना या न होना भविष्य के गर्भ मे है? पिण्डदान द्वारा पारलौकिक लाभ की प्राप्ति के लिए ही तो पुत्र की खोज है

भाग ५०), या तस्य दुहिता तस्या पित्र्योंशो भरणे मत । आसस्कार् भजेर्स्तां परतो बिभृयात्पति ॥ नारद (दायभाग २७), स्यादेव यदि नारदवचन विभक्तविषय स्यात्। ससृष्टविषय तु तदिति तस्यैव पूर्वापरपर्यालोचनया स्पष्टमवगम्यते। स्मृतिच० (२, पृ० २९६)।

१९ भर्तुर्धनहरी पत्नी त विना दुहिता स्मृता। अगादगात्सभवति पुत्रवद् दुहिता नृणाम्॥ तस्मात्पितृधन त्वन्य कथ गृह्णीत मानव । बृह० (मिताक्षरा, याज्ञ० २।१३५, स्मृतिच० २, २९४, वि० पृ० ५९१)।

समझता कि वे उनके वचनों को नहीं जानते थे, सम्भवतः उन्होंने ते शब्द को पत्नी माधवीय के अर्थ में ही लिया। तैत्तिरीय संहिता एवं बौधायन पर मध्यकालिक निबन्धों के निर्भर होने के कारण बम्बई एवं मद्रास को छोड़कर अन्य प्रान्तों में केवल पाँच प्रकार की स्त्रियों को ही उत्तराधिकारी के रूप में घोषित किया गया, यथा--विधवा पत्नी, पुत्री, माता, पितामही एवं प्रपितामही को, क्योंकि वे स्पष्ट रूप से स्मृतियों एवं आरम्भिक टीकाओं में उल्लिखित हैं। इस पर हम आगे भी पढ़ेंगे।

पति के रहते पत्नी के भरण-पोषण-सम्बन्धी अधिकारों के विषय में हमने इस ग्रन्थ के भाग २ के अध्याय ११ में पढ़ लिया है। यदि पत्नी व्यभिचार की अपराधिनी है और अन्त में प्रायश्चित्त की शरण आती है तो उसे भरण-पोषण का अधिकार तब भी प्राप्त हो जाता है। संयुक्त परिवार के मृत सदस्यों की विधवाओं के भरण-पोषण के अधिकारों के विषय में बहुत से निर्णीत विवाद हैं, जिन्हें हम छोड़ दे रहे हैं, केवल दो-एक बातें दी जा रही हैं। संयुक्त परिवार की विधवाओं के जीविका से सम्बन्धित अधिकार उनके ब्रह्मचर्य पर आधारित हैं। संयुक्त परिवार के पुरुष सदस्य बहुधा विधवाओं को जीवन-वृत्ति देना नहीं चाहते अतः विधवाएँ न्यायालयों की शरण लेती हैं। 'पेशवा दफ्तर के चयन' (जिल्द ४३, पत्र सं० १४२) में ऐसा आया है कि पेशवा के न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश रामशास्त्री ने दण्ड देने की धमकी देकर बापूजी ताम्बरेकर को लिखा कि वह अपने बड़े भाई की विधवा के आभूषण सात दिनों के भीतर (वह विवाह के सात दिनों के उपरान्त ही विधवा हो गयी थी) लौटा दे और उसकी जीविका के लिए पचीस रुपये प्रति वर्ष देने की व्यवस्था कर दे।

कन्याएँ--जब तक मृत स्वामी की विधवा जीवित रहती है, कन्याएँ रिक्थाधिकार नहीं पातीं। विधवा के समान कन्या को भी उत्तराधिकार के लिए संघर्ष करना पड़ा। गौतम, बौधायन एवं वसिष्ठ ने उसे उत्तराधिकारियों में नहीं गिना है। आपस्तम्ब (२।६।१४।४) ने उसे (सम्भवतः सपिण्डों के उपरान्त) वैकल्पिक रूप में ही स्वीकृत किया है। मनु (९।१३०) में जो यह कहा है कि व्यक्ति का पुत्र उसकी आत्मा के समान है, उसकी पुत्री उसके पुत्र के बराबर है, ऐसी स्थिति में जब तक वह मृत व्यक्ति की आत्मा के रूप में जीवित है तब तक मृत की सम्पत्ति अन्य को कैसे प्राप्त हो सकती है? इसका अन्य सन्दर्भ (९।१२८, १२९) द्वारा यह भाव प्रकट होता है कि यह पुत्रिका (पुत्र के रूप में नियुक्त कन्या) के लिए लिखा गया है। मेधातिथि, नारायण एवं कुल्लूक ने मनु (९।१३०) के 'दुहिता' शब्द को 'पुत्रिका' के अर्थ में ही लिया है। यास्क (निरुक्त ३।१।४) ने ऋग्वेद (३।३१।१) की व्याख्या करके, जिसको अन्य लोगों ने भी कन्या का रिक्थाधिकार सिद्ध करने के लिए आधार माना है, जो 'दुहिता' शब्द को भाँति-भाँति से समझाने का प्रयत्न किया है, उससे लगता है कि उन्होंने पुत्रिका के रिक्थाधिकार की ओर ही संकेत किया है।[17] धीरे-धीरे पुत्री को पुत्र के रूप में नियुक्त करना बन्द-सा हो गया, अतः विधवा के उपरान्त पुत्रहीन व्यक्ति की कन्या को उत्तराधिकारी समझा जाने लगा।

याज्ञवल्क्य एवं विष्णु ने विधवा के उपरान्त पुत्री को उत्तराधिकारी माना है। नारद (दायभाग ५०) ने पुत्र के पश्चात् कन्या को इस आधार पर रिक्थाधिकारी माना है कि वह पुत्र के समान ही मृत पिता के कुल को चलाने वाली होती है।[18] जब नारद (दायभाग २७) यह कहते हैं कि पुत्री को विवाह होने तक भरण का अधिकार है

१७. शासद्वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गात्। [illegible] (ऋ० ३।३१।१); प्रशासित वोढा सन्तानकर्मणे दुहितुः पुत्रभावम्। दुहिता दुहिता दूरे हिता दोग्धेर्वा। निरुक्त (३।३-४)।

१८. पुत्राभावे तु दुहिता तुल्यसन्तानकारणात्। पुत्रश्च दुहिता चोभौ पितुः सन्तानकारकौ॥ नारद (दाय-

और उत्तराधिकार के लिए पुत्रियों में किसी का चुनाव अपेक्षित है ही। अपरार्क (पृ० ७२१) एवं विवादरत्नाकर (पृ० ५१७) ने 'अप्रतिष्ठिता' (मिता० याज्ञ० २।१३५) के तीन अर्थ दिये हैं, सन्तानहीन, निर्धन एवं विधवा।

बम्बई को छोड़कर अन्य भारतीय उच्च न्यायालयों के मत से पुत्री का अधिकार विधवा के अधिकार के समान ही है। वह केवल सीमित अधिकार पाती है, वह केवल सम्पत्ति उपभोग कर पाती है, सम्पत्ति के विघटन का अधिकार उसे नहीं प्राप्त होता। मृत्यु के पश्चात् सम्पत्ति उसके उत्तराधिकारियों को नहीं प्राप्त होती, प्रत्युत उसके पिता के अन्य उत्तराधिकारी को मिलती है। बम्बई में ऐसी बात नहीं है, वहाँ कन्या को उत्तराधिकार प्राप्त होने पर पिता के धन पर पूर्ण अधिकार प्राप्त होता है और उसकी मृत्यु पर उसकी सम्पत्ति उसके ही उत्तराधिकारियों को प्राप्त होती है।

मिताक्षरा के अनुसार पिता की मृत्यु के समय व्यभिचारिणी कन्या को भी पिता की सम्पत्ति मिलती है (दायभाग के अन्तर्गत ऐसा नहीं है)। इसका कारण यह है कि कात्यायन एवं अन्य स्मृतिकारों ने ब्रह्मचर्य की सीमा केवल विधवा पत्नी के लिए बाँधी है, उन्होंने कन्या एवं माता के लिए स्पष्ट रूप से ऐसा नहीं किया है। दायभाग (११।२-८) के उल्लेखानुसार बृहस्पति की घोषणा है—"वह कन्या, जो पिता की जाति की है, उसी जाति के पति से विवाहित है, जो गुणशीला है और पतिपरायणा है, अपने पिता की सम्पत्ति पाती है।" अतः जो कन्या व्यभिचारिणी है, वह रिक्थाधिकार नहीं पा सकती। कन्या केवल इसी लिए धन नहीं पाती कि वह कन्या है, प्रत्युत इसलिए कि वह बृहस्पति द्वारा प्रदत्त गुणों को पूरा करती है। दायभाग (११।२।११) का कथन है कि 'पत्नी' (११।१।५६) शब्द केवल उपलक्षण मात्र अर्थात् उदाहरण-स्वरूप है, पत्नी पर जो प्रतिबन्ध लागू हैं वे सभी उत्तराधिकार पाने वाली स्त्रियों के लिए प्रयुक्त होते हैं।[1] अतः दुश्चरित्र कन्या को अपने पिता का रिक्थाधिकार नहीं मिलता। यह नियम शूद्रों में भी लागू है।

कुल-परम्परा के अनुसार कहीं-कहीं कन्याएँ रिक्थाधिकार से वञ्चित मानी जाती हैं, यथा—अवध (उत्तर प्रदेश) के भाले सुल्तान क्षत्रियों में।

यह अवलोकनीय है कि नन्द पण्डित ने अपनी वैजयन्ती (विष्णुधर्मसूत्र १७।५, ६ की टीका) में कहा है कि कन्या की अपेक्षा पुत्रवधू को वरीयता मिलनी चाहिए, किन्तु इस प्रकार का मत रखनेवाले वे एक मात्र लेखक हैं (देखिए डॉ० जोली, टैगोर ला लेक्चर्स पृ० १९९ एवं २८६)। बम्बई को छोड़कर (जहाँ वह सगोत्र सपिण्ड रूप में रिक्थाधिकार पाती है) सम्पूर्ण भारत में कहीं भी पुत्रवधू को रिक्थाधिकार नहीं मिलता। बालम्भट्टी ने बिना नाम लिये नन्द पण्डित की आलोचना की है और व्यवस्था दी है कि पुत्रवधू को केवल भोजन रूप में ही उत्तराधिकार प्राप्त होता है और वह भी पुत्री के रहते नहीं।

रघुनन्दन ने दायभाग (११।२।११) के विषय में टिप्पणी करते हुए व्यभिचाररत कन्याओं की स्थिति सर्वथा स्पष्ट कर दी है। स्मृतियों ने कन्याओं में कुमारियों को वरीयता दी है, अर्थात् वे कन्याएँ जो अभी अक्षतयोनि हैं। भारतीय उच्च न्यायालयों ने व्यवस्था दी है कि यद्यपि कन्याओं के विषय में उत्तराधिकार के लिए ब्रह्मचर्य कोई आवश्यक शर्त नहीं है, तथापि विवाहित कन्याओं एवं उन कन्याओं में, जो विवाहित तो नहीं हैं किन्तु रखैल या वेश्या हो गयी हैं,

[1] तथाह बृहस्पतिः। सदृशी सदृशेनोढा साध्वी शुश्रूषणे रता। कृताकृता वा पुत्रस्य पितुर्धनहरी तु सा॥ सैति च पूर्ववचनोक्तता दुहिता धनमाप्नोति। सदृशी सदृशेनोढा इत्यादिविशेषणात् दुहितृमात्रस्य पितृधनाधिकारित्वेति दर्शयति। यथा पत्नीविशेषणानां स्त्रीमात्राधिकारेऽप्यन्वयो बोद्धव्य इति तात्पर्यम्। दायभाग (११।२८, १६, ११)।

प्रथम प्रकार की कन्याओ को वरीयता मिलनी चाहिए, क्योकि दूसरे प्रकार की कन्याएँ विवाहित न होते हुए भी अक्षत-योनि (कुमारी) नही है। कुछ स्मृतियो ने, यथा पराशर ने, कन्या के उत्तराधिकार के सिलसिले मे 'कुमारी' शब्द का प्रयोग किया है, और अन्य लोग 'कन्या' शब्द का प्रयोग करते हैं, किन्तु दोनो शब्द एक-दूसरे के पर्याय हैं। गोविन्द-बनाम-भिकू (४६, बम्बई, एल्० आर० ६९९) के मामले मे, जहाँ मृत व्यक्ति की एक विवाहित कन्या थी एव एक ऐसी अविवाहित कन्या थी जो किसी व्यक्ति की स्थायी रखैल थी, उच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि दूसरी कन्या (जो अविवाहित रखैल थी) अपने पुत्रहीन पिता का रिक्थाधिकार अपनी विवाहित बहिन के साथ नही प्राप्त कर सकती। मेधातिथि (मनु ९।१३२) ने कहा है कि 'कन्या' का अर्थ है वह लडकी जिसने किसी पुरुष के साथ सभोग न किया हो। मिताक्षरा ने तीन प्रकार की कन्याओ को एक दूसरी के पश्चात् उत्तराधिकारी माना है, (१) अविवाहित कन्या, (२) निर्धन विवाहित कन्या एव (३) धनिक विवाहित कन्या। न्यायिक निर्णयो ने एक चौथा प्रकार जोड दिया है, अविवाहित कन्या जो वेश्या हो चुकी है। यहाँ एक नवागन्तुक जोड है अत यहाँ स्मृतियो एव टीकाकारो के कथन (आमन्त्रित लोगो के अन्त मे या बाद मे ही वे लोग बैठाये जायँ जो बिना बुलाये आते हैं) के अनुसार उपर्युक्त कोटियो के उपरान्त ही इसका स्थान होगा। देखिए शबर ("आगन्तूनामन्ते सनिवेश" जैमिनि ५।२।१९, १०।५।१), शकर (वेदान्तसूत्र ४।३।३) एव व्यवहारमयूख (पृ० १४३) जिन्होंने भाई के पुत्र के उपरान्त पितामही का स्थान नियुक्त किया है।

दौहित्र (पुत्री का पुत्र)—पुत्रियो के अभाव मे पुत्री-पुत्र को उत्तराधिकार प्राप्त होता है। गौतम, आपस्तम्ब, वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य एव विष्णु दौहित्र के विषय मे मौन हैं। किन्तु विश्वरूप ने एक युक्तिसगत बात कही है कि जब याज्ञवल्क्य ने स्वय यह (२।१३४) कहा है कि जब वैध पुत्र न हो और जब दौहित्र तक कोई अन्य उत्तराधिकारी न हो तो शूद्रो मे अवैध पुत्र को सम्पूर्ण सम्पत्ति मिल जाती है, तो यह मानना उचित है कि याज्ञवल्क्य ने पुत्रियो के उपरान्त दौहित्रो को उत्तराधिकारी अवश्य माना है। मदनपारिजात (पृ० ६७२) ने याज्ञवल्क्य के 'च' शब्द को 'दौहित्र' अर्थ के लिए ही अनुमानित किया है। मिताक्षरा, दायभाग आदि ने विष्णुधर्मसूत्र का एक वचन (जो मुद्रित ग्रन्थ मे नही पाया जाता) उद्धृत किया है—'जब पुत्र या पौत्र से शाखा वचित हो तो दौहित्र को मृत स्वामी का धन मिलता है, पितरो के पिण्डदान मे दौहित्र पौत्र के समान गिने जाते हैं।'[21] देखिए व्यवहारमयूख (पृ० १४२)। मनु के टीकाकार गोविन्दराज ने विष्णु के वचन के आधार पर यह व्यवस्था दी है कि मृत की विवाहित कन्या के पूर्व दौहित्र का अधिकार होता है, किन्तु दायभाग को यह मत मान्य नही है। दायभाग (११।२।२७) ने बालक के मत का उल्लेख किया है कि याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट रूप से दौहित्र का उल्लेख नही किया है, अत वह अन्य स्पष्ट रूप मे व्यक्त उत्तराधिकारियो के उपरान्त ही अधिकारी होता है। बौधायन० (२।२।१७) ने पुत्रिकापुत्र एव कन्या का अन्तर तो अवश्य बताया है किन्तु यह नही स्पष्ट हो पाता कि उन्होंने दौहित्र को उत्तराधिकारी घोषित किया है। मनु (९।१३१-१३३) ने स्पष्ट कहा है – "पुत्रहीन व्यक्ति का सम्पूर्ण धन दौहित्र पाता है, उसे एक पिण्ड पिता को तथा दूसरा नाना को देना चाहिए। धार्मिक मामलो मे पौत्र एव दौहित्र मे कोई अन्तर नही है, क्योकि क्रम से उनके पिता एव माता की उत्पत्ति मृत स्वामी के शरीर से ही हुई है।" इस कथन के सन्दर्भ एव शब्दो के आधार पर कुल्लूक आदि टीकाकारो ने मन्तव्य प्रकाशित किया है कि यहाँ जिस 'दौहित्र' की चर्चा हुई है वह नियुक्त कन्या का पुत्र है। किन्तु मनु (९।१३६) स्पष्टतर कह चुके हैं, "जब समान जाति

२१ तथा गोविन्दराजेनापि मनुटीकायाम्—अपुत्रपौत्रे ससारे दौहित्रा धनमाप्नुयु। पूर्वेषां तु स्वधाकारे पौत्रा दौहित्रका समा ॥ एतद्विष्णुवचनबलेनोढात प्रागेव दौहित्रस्याधिकारो दर्शित। स चास्मभ्य न रोचते। दायभाग (९।२३-२४ पृ० १८१)।

और उत्तराधिकार के लिए पुत्रियों में किसी का चुनाव अपेक्षित है ही। अपरार्क (पृ० ७२१) एवं विवादरत्नाकर (पृ० ५१०) ने 'अप्रतिष्ठिता' (मिता० याज्ञ० २।१३५) के तीन अर्थ दिये हैं—सन्तानहीन, निर्धन एवं विधवा।

बम्बई को छोड़कर अन्य भारतीय उच्च न्यायालयों के मत से पुत्री का अधिकार विधवा के अधिकार के समान ही है। वह केवल सीमित अधिकार पाती है, वह केवल सम्पत्ति उपभोग कर पाती है, सम्पत्ति के विघटन का अधिकार उसे नहीं प्राप्त होता। मृत्यु के पश्चात् सम्पत्ति उसके उत्तराधिकारियों को नहीं प्राप्त होती, प्रत्युत उसके पिता के अन्य उत्तराधिकारी को मिलती है। बम्बई में ऐसी बात नहीं है, वहाँ कन्या को उत्तराधिकार प्राप्त होने पर पिता के धन पर पूर्ण अधिकार प्राप्त होता है और उसकी मृत्यु पर उसकी सम्पत्ति उसके ही उत्तराधिकारियों को प्राप्त होती है।

मिताक्षरा के अनुसार पिता की मृत्यु के समय व्यभिचारिणी कन्या को भी पिता की सम्पत्ति मिलती है (दायभाग के अन्तर्गत ऐसा नहीं है)। इसका कारण यह है कि याज्ञवल्क्य एवं अन्य स्मृतिकारों ने ब्रह्मचर्य की सीमा केवल विधवा पत्नी के लिए बाँधी है, उन्होंने कन्या एवं माता के लिए स्पष्ट रूप से ऐसा नहीं किया है। दायभाग (११।२-८) के उल्लेखानुसार बृहस्पति की घोषणा है—जब कन्या जो पिता की जाति की है, उसी जाति के पति से विवाहित है, जो कुलशीला है और पतिपरायणा है, उसको पिता की सम्पत्ति मिलती है। अतः जो कन्या व्यभिचारिणी है वह रिक्थाधिकार नहीं पा सकती। कन्या केवल इसी लिए धन नहीं पाती कि वह कन्या है, प्रत्युत इसलिए कि वह बृहस्पति द्वारा प्रदत्त शर्तों को पूरा करती है। दायभाग (११।२।३१) का कथन है कि 'पत्नी' (११।१।५६) शब्द केवल उपलक्षण मात्र अर्थात् उदाहरण-स्वरूप है, पत्नी पर जो प्रतिबन्ध लागू हैं वे सभी उत्तराधिकार पाने वाली स्त्रियों के लिए प्रयुक्त होते हैं।[1] अतः असती कन्या को अपने पिता का रिक्थाधिकार नहीं मिलता। यह नियम पुत्रों में भी लागू है।

कुल-परम्परा के अनुसार कहीं-कहीं कन्याएँ रिक्थाधिकार से वञ्चित मानी जाती हैं, यथा—अवध (उत्तर प्रदेश) के जाट मुसलमान जातियों में।

यह उल्लेखनीय है कि नन्द पण्डित ने अपनी वैजयन्ती (विष्णुधर्मसूत्र १७।५ ६ की टीका) में कहा है कि कन्या की अपेक्षा पुत्रवधू को वरीयता मिलनी चाहिए, किन्तु इस प्रकार का मत रखनेवाले वे एक मात्र लेखक हैं (देखिए डॉ० जॉली, टैगोर लॉ लेक्चर्स, पृ० १९९ एवं २८६)। बम्बई को छोड़कर (जहाँ वह सगोत्र सपिण्ड रूप में रिक्थाधिकार पाती है) सम्पूर्ण भारत में कहीं भी पुत्रवधू को रिक्थाधिकार नहीं मिलता। बालम्भट्टी ने मिता० भाष्य लिखे नन्द पण्डित की आलोचना की है और व्यवस्था दी है कि पुत्रवधू को केवल गोत्रज रूप में ही उत्तराधिकार प्राप्त होता है और वह भी पुत्री के पहले नहीं।

रघुनन्दन ने दायभाग (११।२।३१) के विषय में टिप्पणी करते हुए व्यभिचाररत कन्याओं की स्थिति सम्यक् स्पष्ट कर दी है। स्मृतियों ने कन्याओं में कुमारियों को वरीयता दी है, अर्थात् वे कन्याएँ जो अभी अक्षतयोनि हैं। भारतीय उच्च न्यायालयों ने व्यवस्था दी है कि यद्यपि कन्याओं के विषय में उत्तराधिकार के लिए ब्रह्मचर्य कोई आवश्यक शर्त नहीं है तथापि विवाहित कन्याओं एवं उन कन्याओं में जो विवाहित तो नहीं हैं किन्तु रखैल या वेश्या हो गयी हैं,

१. तथाह बृहस्पतिः। सदृशी सदृशेनोढा साध्वी शुश्रूषणे रता। कृताकृता वा पुत्रस्य पितुर्धनहरी तु सा॥ इति च पूर्ववचनोपात्ता दुहिता परामृश्यते। सदृशी सदृशेनोढा इत्यादिविशेषणात् दुहितृमात्रस्य पितृधनाधिकारित्वमिति दर्शयति। ... तथा पत्नीपुत्रत्वलक्षणं स्त्रीमात्राधिकारेऽस्माकं बोद्धव्य इति तात्पर्यम्। दायभाग (११।२८, ११ ३१)।

प्रथम प्रकार की कन्याओं को वरीयता मिलनी चाहिए, क्योंकि दूसरे प्रकार की कन्याएँ विवाहित न होते हुए भी अक्षत-योनि (कुमारी) नही हैं। कुछ स्मृतियो ने, यथा पराशर ने, कन्या के उत्तराधिकार के सिलसिले मे 'कुमारी' शब्द का प्रयोग किया है, और अन्य लोग 'कन्या' शब्द का प्रयोग करते हैं, किन्तु दोनो शब्द एक-दूसरे के पर्याय हैं। गोविन्द-बनाम-भिकू (४६, बम्बई, एल्० आर० ६९९) के मामले मे, जहाँ मृत व्यक्ति की एक विवाहित कन्या थी एव एक ऐसी अविवाहित कन्या थी जो किसी व्यक्ति की स्थायी रखैल थी, उच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि दूसरी कन्या (जो अविवाहित रखैल थी) अपने पुत्रहीन पिता का रिक्थाधिकार अपनी विवाहित बहिन के साथ नही प्राप्त कर सकती। मेघातिथि (मनु ९।१३२) ने कहा है कि 'कन्या' का अर्थ है वह लडकी जिसने किसी पुरुष के साथ सभोग न किया हो। मिताक्षरा ने तीन प्रकार की कन्याओं को एक दूसरी के पश्चात् उत्तराधिकारी माना है, (१) अविवाहित कन्या, (२) निधन विवाहित कन्या एव (३) धनिक विवाहित कन्या। न्यायिक निर्णयो ने एक चौथा प्रकार जोड दिया है, अविवाहित कन्या जो वेश्या हो चुकी है। यहाँ एक नवागन्तुक जोड है अत यहाँ स्मृतियो एव टीकाकारो के कथन (आमन्त्रित लोगो के अन्त मे या बाद मे ही वे लोग बैठाये जायँ जो बिना बुलाये आते हैं) के अनुसार उपर्युक्त कोटियो के उपरान्त ही इसका स्थान होगा। देखिए शबर ("आ गतूनामन्ते सनिवेश" जैमिनि ५।२।१९, १०।५।१), शकर (वेदान्तसूत्र ४।३।३) एव व्यवहारमयूख (पृ० १४३) जिन्होंने भाई के पुत्र के उपरान्त पितामही का स्थान नियुक्त किया है।

दौहित्र (पुत्री का पुत्र)—पुत्रियो के अभाव मे पुत्री-पुत्र को उत्तराधिकार प्राप्त होता है। गौतम, आपस्तम्ब, वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य एव विष्णु दौहित्र के विषय मे मौन हैं। किन्तु विश्वरूप ने एक युक्तिसगत बात कही है कि जब याज्ञवल्क्य ने स्वय यह (२।१३४) कहा है कि जब वैध पुत्र न हो और जब दौहित्र तक कोई अन्य उत्तराधिकारी न हो तो शूद्रो मे अवैध पुत्र को सम्पूर्ण सम्पत्ति मिल जाती है, तो यह मानना उचित है कि याज्ञवल्क्य ने पुत्रियो के उपरान्त दौहित्रो को उत्तराधिकारी अवश्य माना है। मदनपारिजात (पृ० ६७२) ने याज्ञवल्क्य के 'च' शब्द को 'दौहित्र' अर्थ के लिए ही अनुमानित किया है। मिताक्षरा, दायभाग आदि ने विष्णुधर्मसूत्र का एक वचन (जो मुद्रित ग्रन्थ मे नही पाया जाता) उद्धृत किया है—'जब पुत्र या पौत्र से शाखा वचित हो तो दौहित्र को मृत स्वामी का धन मिलता है, पितरों के पिण्डदान मे दौहित्र पौत्र के समान गिने जाते हैं।'[२१] देखिए व्यवहारमयूख (पृ० १४२)। मनु के टीकाकार गोविन्दराज ने विष्णु के वचन के आधार पर यह व्यवस्था दी है कि मृत की विवाहित कन्या के पूर्व दौहित्र का अधिकार होता है, किन्तु दायभाग को यह मत मान्य नही है। दायभाग (११।२।२७) ने बालक के मत का उल्लेख किया है कि याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट रूप से दौहित्र का उल्लेख नहीं किया है, अत वह अन्य स्पष्ट रूप से व्यक्त उत्तराधिकारियो के उपरान्त ही अधिकारी होता है। बौधायन० (२।२।१७) ने पुत्रिकापुत्र एव कन्या का अन्तर तो अवश्य बताया है किन्तु यह नही स्पष्ट हो पाता कि उन्होंने दौहित्र को उत्तराधिकारी घोषित किया है। मनु (९।१३१-१३३) ने स्पष्ट कहा है – "पुत्रहीन व्यक्ति का सम्पूर्ण धन दौहित्र पाता है, उसे एक पिण्ड पिता को तथा दूसरा नाना को देना चाहिए। धार्मिक मामलो मे पौत्र एव दौहित्र मे कोई अन्तर नहीं है, क्योकि क्रम से उनके पिता एव माता की उत्पत्ति मृत स्वामी के शरीर से ही हुई है।" इस कथन के सन्दर्भ एव शब्दो के आधार पर कुल्लूक आदि टीकाकारो ने मन्तव्य प्रकाशित किया है कि यहाँ जिस 'दौहित्र' की चर्चा हुई है वह नियुक्त कन्या का पुत्र है। किन्तु मनु (९।१३६) स्पष्टतर कह चुके हैं, "जब समान जाति

२१ तथा गोविन्दराजेनापि मनुटीकायाम्—अपुत्रपौत्रे ससारे दौहित्रा धनमाप्नुयु। पूर्वेषां तु स्वधाकारे पौत्रा दौहित्रका समा ॥ एतद्विष्णुवचनबलेनोदात प्रागेव दौहित्रस्याधिकारो दर्शित। स चास्मभ्य न रोचते। दायभाग (९।२३-२४ पृ० १८१)।

इस मत की आलोचना की है। मिताक्षरा ने माता को वरीयता तीन कारणो से दी है, जिनमे दो व्याकरण के आधार पर प्रस्तुत किये गये हैं, याज्ञवल्क्य मे जो 'पितरौ' शब्द आया है वह 'एकशेष' द्वन्द्व समास है, इसके विग्रह मे या इतरेतर-योग द्वन्द्व मे माता का स्थान प्रथम आता है, अत उसे वरीयता मिलनी चाहिए। तीसरा कारण यह है—एक पिता की कई पत्नियाँ और उनमे कई पुत्र हो सकते है, अत माता अपने पुत्र से ही सीधे रूप मे सम्बन्धित है न कि अपने पति के अन्य पुत्रो से। इसी से मिताक्षरा का कहना है कि माता पिता की अपेक्षा अपने पुत्र से अपेक्षाकृत अधिक सन्निकट (प्रत्यासन्न) है।[२४] स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० २९७) एव व्यवहारमयूख ने उक्त व्याकरण-सम्बन्धी तर्क नही माना है। किन्तु व्यवहारप्रकाश (पृ० ५२५) ने 'माता च पिता च पितरौ' के अनुसार माता को ही प्रथम स्थान दिया है। 'पिता की अपेक्षा माता अधिक सन्निकट है' इस विषय मे जो तर्क है वह सुन्दर है। 'पुत्र' की बात पर ध्यान दिया जाय तो इस विषय मे माता एव पिता दोनो समान रूप से सन्निकट हैं, किन्तु व्यवहारप्रकाश का तर्क है कि जहाँ तनिक भी अन्तर पाया जाता है वरीयता घोषित कर दी जानी है, अत "माता च पिता च पितरौ" मे माता को प्रथम स्थान की वरीयता प्राप्त है इसलिए वह उत्तराधिकार मे प्रथम स्थान पाती है। व्यवहारप्रकाश (पृ० ५२५) ने विष्णुधर्मसूत्र मे वर्णित पिता की वरीयता पर इस प्रकार प्रकाश डाला है—यदि माता पतिव्रता है और पिता साधारण व्यक्ति है तो माता को ही वरीयता मिलनी चाहिए, किन्तु यदि पिता माता की अपेक्षा अधिक सुयोग्य हो तो उसे ही वरीयता प्राप्त होनी चाहिए। व्यवहारप्रकाश के इस तर्क का किसी ने समर्थन नही किया है। माता एव पिता की वरीयता के विषय मे विभिन्न मतों के रहने के कारण न्यायालयो ने विचित्र निर्णय दिये है। केवल बम्बई (पुराने प्रकार के प्रान्त मे, क्योकि अब बम्बई प्रान्त के कई भाग इधर-उधर के अन्य प्रान्तो मे सम्मिलित कर दिये गये है, स्वय गुजरात एक पृथक् प्रान्त बन गया है) प्रान्त के गुजराती भाग मे एव बम्बई द्वीप तथा उत्तरी कोकण मे पिता को वरीयता प्राप्त है (क्योकि यहाँ व्यवहार-मयूख को अत्यधिक प्रामाणिकता प्राप्त है), किन्तु बम्बई प्रान्त के अन्य भागो मे माता को ही उत्तराधिकार के लिए वरीयता प्राप्त है। तो भी माता को जो पुत्र से उत्तराधिकार प्राप्त होता है वह विधवा के उत्तराधिकार की भाति ही सीमित होता है। पिता को जो उत्तराधिकार प्राप्त होता है वह नित्य होता है, अर्थात् वह उसका विघटन भी कर सकता है। 'माता' शब्द मे 'पालिका' का अर्थ भी सन्निहित है, अर्थात् यदि दत्तक पुत्र बिना पुत्र, विधवा पत्नी, पुत्री या दौहित्र छोडे मर जाय तो पालिका (गोद लेनेवाली) को उसका धन मिल जाता है। द्व्यामुष्यायण दत्तक जब मर जाता है और उसके पीछे केवल उसकी जननी एव पालिका बच रहती हैं तो दोनो माताएँ सह-उत्तराधिकारिणी हो जाती है। यह व्यवस्था दी गयी है कि यदि द्व्यामुष्यायण पुत्र से उत्तराधिकार पाने के उपरान्त पालिका पुन कोई दत्तक करती है तो नया दत्तक पुत्र उसके आधे अश को (जो उसे मृत द्व्यामुष्यायण पुत्र से प्राप्त होता है) उससे नही माग सकता।

मिताक्षरा ने 'माता' शब्द मे विमाता को नही रखा है। बम्बई को छोडकर कही भी विमाता सपत्नी के पुत्र का उत्तराधिकार नही पाती, क्योकि नियमानुसार स्त्रियो को तो रिक्थाधिकार मिलता नही, केवल वही पर छूट है जहाँ स्मृति-वचन स्पष्ट हैं, अन्यथा सम्पत्ति विमाता के रहने पर भी उसको न जाकर राजा को हो जाती है, किन्तु उसे भरण (जीवन-वृत्ति) मिलता है। बम्बई मे वह गोत्रज सपिण्ड विधवा के समान रिक्थाधिकार पाती है, किन्तु गोत्रज सपिण्डों मे उसे बहुत दूर का स्थान प्राप्त है। यदि विधवा पुनर्विवाह कर ले और उसका वह पुत्र, जो प्रथम पति से उत्पन्न हुआ है, बिना सन्तान, विधवा पत्नी, पुत्री या दौहित्र के मर जाय तो उसकी पुनर्विवाहित माता को उसका उत्तरा-

२४ पिता स्वपत्नीपुत्रेष्वपि साधारण । माता तु न साधारणीति प्रत्यासत्त्यतिशयोऽस्तीति विप्रलम्भसदृश-मिद न हि जननीजनकयोर्जन्य प्रति सन्निकर्षतारतम्यमस्ति। स्मृतिच० (२, पृ० २९७)।

के पति से कन्या को पुत्र उत्पन्न होता है, चाहे वह कन्या नियुक्त हो या न हो, तो नाना मानो पौत्र वाला हो जाता है, उस पुत्र (कन्या के पुत्र) को नाना के लिए पिण्डदान करना चाहिए और नाना की सम्पत्ति लेनी चाहिए। मिताक्षरा ने 'अकृता' शब्द को साधारण पुत्री के अर्थ में लिया है। किन्तु मेधातिथि एवं कुल्लूक ने कहा है कि 'कृता' शब्द का अर्थ है नियुक्त कन्या या पुत्रिका जिसके विषय में उसके पति से स्पष्ट समझौता हुआ है और 'अकृता' का अर्थ है वह पुत्री (जिसे मानस रूप में पुत्र के समान माना गया है) जिसके विषय में कोई स्पष्ट समझौता नहीं हुआ है। बृहस्पति का वचन है, "जिस प्रकार अन्य बन्धुओं के रहते हुए भी पुत्री उत्तराधिकारी के रूप में पिता के धन का स्वामित्व पाती है उसी प्रकार उसका पुत्र भी माता की सम्पत्ति का एवं नाना की सम्पत्ति का स्वामी होता है।[22]

दौहित्र सम्पूर्ण सम्पत्ति में बराबर-बराबर भाग पाते हैं न कि दायाम के अनुसार। इसे यों समझिए, मान लीजिए क की ख एवं ग नामक दो पुत्रियाँ हैं, ख के तीन पुत्र एवं ग के दो पुत्र हैं, कुछ दिनों के उपरान्त क के जीवन-काल में ख एवं ग की मृत्यु हो जाती है, ऐसी स्थिति में क के मरने के उपरान्त उसकी सम्पत्ति पाँच भागों में बँट जायगी और प्रत्येक दौहित्र को १/५ भाग मिलेगा।

दौहित्र वास्तव में बन्धु एवं भिन्न-गोत्र सपिण्ड कहलाता है, किन्तु ऐतिहासिक कारणों एवं उसके द्वारा श्राद्ध कर्म सम्पादित होने से धार्मिक योग्यता के कारण उसे स्पष्ट स्मृति-वचनों के आधार पर उत्तराधिकारियों में बहुत बड़ा स्थान प्राप्त है।

माता-पिता—अपुत्र पुरुष के उत्तराधिकारियों के रूप में माता-पिता के स्थान के विषय में मध्यकाल के निबन्धों में मतैक्य नहीं है। याज्ञवल्क्य ने पुत्र के मर जाने के उपरान्त उसके उत्तराधिकार के लिए माता एवं पिता की वरीयता के विषय में कोई संकेत नहीं किया है। विष्णुधर्मसूत्र (१७।४-१६) के आधार पर कुछ निबन्धों ने पिता को माता के पूर्व रखा है।[23] मनु (९।२१७) का वचन है कि जब पुत्र सन्तानहीन मर जाता है, तो माता को धन मिल जाता है, किन्तु अन्यत्र (मनु ९।१८५) आया है कि पिता पुत्रहीन व्यक्ति का धन लेता है और भाई भी ऐसा करते हैं। स्पष्ट है, मनु ने माता एवं पिता की वरीयता के विषय में निश्चयात्मक बात नहीं कही है। कात्यायन (९२७) कहते हैं—"पुत्रहीन व्यक्ति के उत्तराधिकारी ये हैं—अभक्त कुल की पत्नी, पुत्रियाँ, उनके अभाव में पिता, (तब) माता, भाई एवं (भाई के) पुत्र।" बृहस्पति यों कहते हैं—"जब पुत्र बिना अपनी पत्नी एवं पुत्र के मर जाता है, तो उसकी माता उसका उत्तराधिकार पाती है, या माता की अनुमति से भाई उत्तराधिकार पा सकता है।" खेद के साथ यह कहा जा सकता है कि मिताक्षरा, मदनपारिजात, सरस्वतीविलास (पृ० ४११), विवादचिन्तामणि, व्यवहारप्रकाश ने पिता की अपेक्षा माता को वरीयता दी है। किन्तु व्यवहारमयूख ने पिता को ही वरीयता दी है। श्रीधर के मत से माता-पिता (दम्पति-दशावस्था में) साथ-साथ उत्तराधिकार पाते हैं (स्मृतिच० २, पृ० २९७)। किन्तु दायभाग, स्मृतिचन्द्रिका आदि ने

२२ यथा पितृधने स्वाम्यं तस्याः सत्स्वपि बन्धुषु। तथैव तत्सुतोऽपीष्टे मातृमातामहे धने॥ बृहस्पति (दाय-भाग ११।२।१७, पृ० १८; व्यवहारप्रकाश पृ० ४९१)।

२३ विष्णुधर्मसूत्र (१७।४-१६) में आया है—अपुत्रधनं पत्न्यभिगामि। तदभावे दुहितृगामि। तदभावे पितृगामि। तदभावे मातृगामि। तदभावे भ्रातृगामि। तदभावे भ्रातृपुत्रगामि। तदभावे बन्धुगामि। तदभावे सकुल्य-गामि। तदभावे सहाध्यायिगामि। तदभावे ब्राह्मणधनवर्जं राजगामि। ब्राह्मणार्थो ब्राह्मणानाम्। वानप्रस्थधन-माचार्यो गृह्णीयाच्छिष्यो वा॥ देखिए स्मृतिच० (व्यवहार), व्यवहारप्रकाश, पराशरमाधवीय व्यवहारकाण्ड (पृ० ५५२)।

स्मृतिच० (२, पृ० ३००) ने कुछ लोगो के इस मत का खण्डन किया है कि याज्ञवल्क्य के 'भ्रातर' शब्द मे एकशेष समास है, क्योकि पाणिनि (१।२।६८) के मत से इसका अर्थ है "भाई एव वहिन" (भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्) और भाइयो के अभाव मे वहिनें उत्तराधिकार पाती हैं।[27] व्य० मयूख ने भी ऐसा ही कहा है। इससे प्रकट है कि कुछ लोगो ने, विशेषत कुछ मध्यकाल के एव पश्चात्कालीन कानूनवेत्ताओ (जूरिस्टो) ने, स्त्रियो के अधिकारो को वढाना चाहा है, किन्तु अन्ततोगत्वा उनके मतो को वल न मिल सका। ऐसा कहा गया है कि समान पिता वाले भाइयो को (जिनकी माताएँ भिन्न हो) समान माता वाले भाइयो से (जिनके पिता भिन्न हो) वरीयता मिलनी चाहिए, क्योकि मिताक्षरा आदि ने पुनर्विवाह के उपरान्त उसी माता से उत्पन्न पुत्रो को वही मान्यता नही दी है जो उन पुत्रो को मिलती है जो समान पितृक हैं। किन्तु नन्द पडित ने अपनी वैजयन्ती मे भाइयो एव वहिनो को जो सगे हैं या सौतेले हैं, उत्तराधिकार के लिए निम्न अनुक्रम मे रखा है—(१) सगे भाई, (२) सगी वहिनें, (३) ऐसे भाई जो एक ही पिता के पुत्र हैं एव (४) ऐसे भाई जो एक ही माता के पुत्र हैं (देखिए डॉ० जॉली, टैगोर लॉ लेक्चर्स, पृ० २०८ एव २८७)। क्योकि मनु (९।२१७) ने कहा है कि सन्तानहीन व्यक्ति का धन माता को मिलता है, माता के अभाव मे पितामही को मिलता है, अत स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० २९९) ने पितामही को भाइयो के पूर्व रखा है, किन्तु यह मत किसी अन्य को मान्य नही है। मिताक्षरा का कथन है कि मनु ने कोई अनुक्रम नही उपस्थित किया है, उन्होंने पितामही को केवल उत्तराधिकारी के रूप मे घोषित किया है। मिताक्षरा के कथनानुसार मनु, शख आदि ने केवल उत्तराधिकारियो के नाम घोषित किये हैं और याज्ञवल्क्य एव विष्णु ने वह अनुक्रम वताया है जिसके अनुसार उत्तराधिकारियो को क्रम से पूर्व के अभाव मे उत्तराधिकार मिलता है। किन्तु व्यवहारप्रकाश (पृ० ५२७) ने इसे नही माना है।

व्यवहारमयूख ने उत्तराधिकार का एक विशेष अनुक्रम घोषित किया है, (१) सगे भाई (समानमातृ-पितृका भ्रातर), (२) सगे भाई के पुत्र, (३) गोत्रज सपिण्ड, जिनमे पितामही को प्रथम स्थान है, (४) वहिन, (५) पितामह एव उसी के साथ सौतेला भाई एव (६) प्रपितामह, चाचा तथा उसके साथ सौतेले भाई का पुत्र। यहाँ जो सयुक्त उत्तराधिकारियो के नाम घोषित हैं वे अप्रचलित हो गये हैं, और वम्वई के उच्च न्यायालय ने उन्हें मान्यता नही दी है।

मिताक्षरा ने वहिन का नाम नही लिया है, किन्तु मिताक्षरा की मान्यता वाले जनपदो मे भी वम्वई के उच्च न्यायालय ने उसे सन्निकट की उत्तराधिकारी घोषित किया है और उसे भाइयो (सगे एव सौतेले), भाई के पुत्रो (सगे या सौतेले) एव पितामही के उपरान्त रखा है। व्य० मयूख के अन्तर्गत सगी वहिन का स्थान सगे भाइयो एव सगे भाइयो के पुत्रो तथा पितामही के उपरान्त है और सौतेले भाइयो एव सौतेले भाई के पुत्रो के पूर्व आता है।

२७ यद्यपि भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्यामिति शाब्दस्मृत्या पुत्रेभ्य इत्यत्र विरूपैकशेष कृत्वा दुहितृणामनुप्रवेशोत्र कर्तुं शक्यते, तथापि "पुमासो दायादा न स्त्रिय, तस्मात्स्त्रियो निरिन्द्रिया अदायादी" इति श्रुतेरित्येतेनेद निरस्त यत्कैश्चिदुक्तम्। स्मृतिच० (२, पृ० ३००)। "पुत्रेभ्य" का सकेत आप० ध० सू० (२।६।१४।१) की ओर है। यदि 'भ्रातर' का अर्थ भाई है तो यह 'सरूप' के प्रकार का एकशेष समास है, किन्तु यदि इसका अर्थ 'भाई एव वहिन' है तो यह 'विरूप' नामक एकशेष समास होगा। अन्तिम रूप के ग्रहण के लिए किसी विशेष कारण का होना आवश्यक है, यथा—यदि कहा जाय 'दो कुक्कुट (मुर्गे) ले आओ, हम उनका जोडा (नर एव मादा का) वनाएँगे,' तो ऐसी विशिष्ट स्थिति में 'कुक्कुटौ' का अर्थ होगा एक मुर्गा एव एक मुर्गी, यद्यपि साधारणत इसका अर्थ है 'दो मुर्गे'। स्मृ० च०।

स्मृतिच० (२, पृ० ३००) ने कुछ लोगों के इस मत का खण्डन किया है कि याज्ञवल्क्य के 'भ्रातर' शब्द में एकशेष समास है, क्योंकि पाणिनि (१।२।६८) के मत से इसका अर्थ है "भाई एवं बहिन" (भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्) और भाइयों के अभाव में बहिनें उत्तराधिकार पाती हैं।[27] व्य० मयूख ने भी ऐसा ही कहा है। इससे प्रकट है कि कुछ लोगों ने, विशेषतः कुछ मध्यकालीन एवं पश्चात्कालीन कानूनवेत्ताओं (जूरिस्टों) ने, स्त्रियों के अधिकारों को बढ़ाना चाहा है, किन्तु अन्ततोगत्वा उनके मतों को बल न मिल सका। ऐसा कहा गया है कि समान पिता वाले भाइयों को (जिनकी माताएँ भिन्न हों) समान माता वाले भाइयों से (जिनके पिता भिन्न हों) वरीयता मिलनी चाहिए, क्योंकि मिताक्षरा आदि ने पुनर्विवाह के उपरान्त उसी माता से उत्पन्न पुत्रों को वही मान्यता नहीं दी है जो उन पुत्रों को मिलती है जो समानपितृक हैं। किन्तु नन्द पण्डित ने अपनी वैजयन्ती में भाइयों एवं बहिनों को जो सगे हैं या सौतेले हैं, उत्तराधिकार के लिए निम्न अनुक्रम में रखा है—(१) सगे भाई, (२) सगी बहिनें, (३) ऐसे भाई जो एक ही पिता के पुत्र हैं एवं (४) ऐसे भाई जो एक ही माता के पुत्र हैं (देखिए डॉ० जॉली, टैगोर लॉ लेक्चर्स, पृ० २०८ एवं २८७)। क्योंकि मनु (९।२१७) ने कहा है कि सन्तानहीन व्यक्ति का धन माता को मिलता है, माता के अभाव में पितामही को मिलना है, अतः स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० २९९) ने पितामही को भाइयों के पूर्व रखा है, किन्तु यह मत किसी अन्य को मान्य नहीं है। मिताक्षरा का कथन है कि मनु ने कोई अनुक्रम नहीं उपस्थित किया है, उन्होंने पितामही को केवल उत्तराधिकारी के रूप में घोषित किया है। मिताक्षरा के कथनानुसार मनु, शंख आदि ने केवल उत्तराधिकारियों के नाम घोषित किये हैं और याज्ञवल्क्य एवं विष्णु ने वह अनुक्रम बताया है जिसके अनुसार उत्तराधिकारियों को क्रम से पूर्व के अभाव में उत्तराधिकार मिलता है। किन्तु व्यवहारप्रकाश (पृ० ५२७) ने इसे नहीं माना है।

व्यवहारमयूख ने उत्तराधिकार का एक विशेष अनुक्रम घोषित किया है, (१) सगे भाई (समानमातृ-पितृका भ्रातर), (२) सगे भाई के पुत्र, (३) गोत्रज सपिण्ड, जिनमें पितामही को प्रथम स्थान है, (४) बहिन, (५) पितामह एवं उसी के साथ सौतेला भाई एवं (६) प्रपितामह, चाचा तथा उसके साथ सौतेले भाई का पुत्र। यहाँ जो मयूखवत उत्तराधिकारियों के नाम घोषित हैं वे अप्रचलित हो गये हैं, और बम्बई के उच्च न्यायालय ने उन्हें मान्यता नहीं दी है।

मिताक्षरा ने बहिन का नाम नहीं लिया है, किन्तु मिताक्षरा की मान्यता वाले जनपदों में भी बम्बई के उच्च न्यायालय ने उसे सन्निकट की उत्तराधिकारी घोषित किया है और उसे भाइयों (सगे एवं सौतेले), भाई के पुत्रों (सगे या सौतेले) एवं पितामही के उपरान्त रखा है। व्य० मयूख के अन्तर्गत सगी बहिन का स्थान सगे भाइयों एवं सगे भाइयों के पुत्रों तथा पितामही के उपरान्त है और सौतेले भाइयों एवं सौतेले भाई के पुत्रों के पूर्व आता है।

२७ यद्यपि भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्यामिति शाब्दस्मृत्या पुत्रेभ्य इत्यत्र विरूपैकशेषं कृत्वा दुहितॄणामनुप्रवेशोऽत्र कर्तुं शक्यते, तथापि "पुमांसो दायादा न स्त्रियः, तस्मात्स्त्रियो निरिन्द्रिया अदायादीः" इति श्रुतेरित्येतेनेदं निरस्तं यत्कैश्चिदुक्तम्। स्मृतिच० (२, पृ० ३००)। "पुत्रेभ्यः" का संकेत आप० ध० सू० (२।६।१४।१) की ओर है। यदि 'भ्रातर' का अर्थ भाई है तो यह 'सरूप' के प्रकार का एकशेष समास है, किन्तु यदि इसका अर्थ 'भाई एवं बहिन' है तो यह 'विरूप' नामक एकशेष समास होगा। अन्तिम रूप के ग्रहण के लिए किसी विशेष कारण का होना आवश्यक है, यथा—यदि कहा जाय 'दो कुक्कुट (मुर्गे) ले आओ, हम उनका जोड़ा (नर एवं मादा का) बनाएँगे,' तो ऐसी विशिष्ट स्थिति में 'कुक्कुटौ' का अर्थ होगा एक मुर्गा एवं एक मुर्गी, यद्यपि साधारणतः इसका अर्थ है 'दो मुर्गे'। स्मृ० च०।

मिताक्षरा एवं मयूख (पृ० १४१) आदि के मत से पत्नी से लेकर भाई के पुत्रों तक उत्तराधिकारी-क्रम अनुक्रम (जिसका क्रम निश्चित या स्थिर हो) की संज्ञा पाते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि क्या भाई के पुत्र का पुत्र (अर्थात् भाई का पौत्र) भाई के पुत्र के उपरान्त तथा अन्य उत्तराधिकारी के पूर्व अधिकार पाता है? इस विषय में संस्कृत के लेखकों में मतैक्य नहीं है। स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० १) सुबोधिनी मदनपारिजात (पृ० ६७३) का कहना है कि अनुक्रमता भाई के पुत्र तक आकर समाप्त हो जाती है, किन्तु अपरार्क वरदराज (व्यवहारनिर्णय पृ० ४५१) एवं नन्द पंडित की वैजयन्ती के मत से भाई के पुत्र के पुत्र का स्थान भाई के पुत्र के सर्वथा उपरान्त ही आता है। बालम्भट्ट (११।११६, पृ० २०८) ने भाई के पुत्र के पुत्र को भाई के पुत्र के उपरान्त ही रखा है क्योंकि उसका पितामह महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

गोत्रज (एक ही गोत्र वाले)—याज्ञवल्क्य के मत से भाई के पुत्रों तक के उत्तराधिकारियों के अभाव में गोत्रजों को उत्तराधिकार मिलता है। यद्यपि पिता, भाई, भाई के पुत्र गोत्रज ही हैं किन्तु इन्हें उत्तराधिकारियों के अनुक्रम में निश्चित स्थान प्राप्त है अतः अन्य लोगों को जो उपर्युक्त लोगों के गोत्र में ही उत्पन्न हुए रहते हैं 'गोत्रज' कहा जाता है। मिताक्षरा के अनुसार गोत्रजों में सर्वप्रथम पिता की माता (पितामही) का स्थान प्राप्त है, उसके उपरान्त अन्य सपिण्डों एवं समानोदकों का स्थान आता है। यही बात व्य० मयूख (पृ० १४३) ने भी कही है और गोत्रज सपिण्डों में पिता की माता को सबसे पहला स्थान दिया है। यह कह देना आवश्यक है कि याज्ञवल्क्य ने 'सपिण्ड' शब्द का प्रयोग न करके गोत्रज शब्द प्रयुक्त किया है। मिताक्षरा एवं मयूख ने सपिण्डों को उत्तराधिकारी माना है और उनके दो प्रकार किये हैं—(१) गोत्रज (एक ही गोत्र में उत्पन्न या एक ही गोत्र के) एवं (२) भिन्न गोत्रज या बन्धु (जो दूसरे गोत्र में उत्पन्न हैं)। याज्ञवल्क्य ने भिन्न गोत्रज सपिण्ड को 'बन्धु' कहा है। इससे स्पष्ट है कि (यद्यपि याज्ञ० ने 'सपिण्ड' शब्द नहीं प्रयुक्त किया है) भाई के पुत्र के उपरान्त रिक्थाधिकार मृतक के सपिण्ड को जाता है। याज्ञवल्क्य को सपिण्ड शब्द का ज्ञान था (१।५२) और उन्होंने विवाह के लिए सपिण्डता की सीमाएँ निर्धारित की हैं। इससे स्पष्ट है कि उन्होंने सपिण्ड का वह अर्थ नहीं लिया है जिसे जीमूतवाहन ने लिया है। याज्ञवल्क्य ने नियोग के सिलसिले में 'सपिण्ड' एवं 'सगोत्र' शब्दों का उल्लेख किया है (१।६८) किन्तु इससे दो बातें प्रकट होती हैं (१) दोनों शब्द पर्यायवाची नहीं हैं तथा (२) सगोत्र का वही अर्थ है जो गोत्रज का है।

आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।६।१४।२) में आया है—'पुत्राभावे प्रत्यासन्नः सपिण्डः' अर्थात् पुत्रों के अभाव में सन्निकट के सपिण्ड (उत्तराधिकार प्राप्त करते हैं)। इस विषय में मनु (९।१८७) के शब्द सुप्रसिद्ध हैं 'अनन्तरः सपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेत्' अर्थात् सपिण्डों में जो सबसे सन्निकट (नजदीकी) है उसी को (मृतक का) धन मिलेगा। यह कथन टीकाकारों एवं निबन्धों द्वारा कई प्रकार से व्याख्यात हुआ है और हिन्दू व्यवहार के प्रसिद्ध न्यायाधीशों एवं लेखकों द्वारा कई प्रकार से अनूदित हुआ है।[९८] मुख्य कठिनाई 'सपिण्डात्' एवं 'तस्य तस्य' पुनरुक्त शब्दों को लेकर ही है। कुछ लोगों ने एक 'तस्य' (उसका) को मृत के लिए माना है और दूसरे 'तस्य' को उत्तराधिकारी के लिए प्रयुक्त माना

९८. अनन्तरः सपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेत्। मनु (९।१८७)। यह कई प्रकार से पढ़ा गया है—अनन्तरः सपिण्डो यस्तस्य तस्य धनं भवेत् (व्य० निर्णय पृ० ४५१); अवतरणः यो यो ह्यनन्तरः पिण्डात्तस्य तस्य धनं भवेत्। भवेत् पाठेऽस्मिन् व्याचष्टे यो यो ह्यनन्तरः पिण्डादित्यादि पिण्डातिपिण्डादित्यर्थो इत्यन्वयः। स्मृतिच० (२ पृ० ९१); व्यवहारसार (पृ० १५४); 'अनन्तरः सपिण्डाद्' इत्यनेन वा सपिण्डसन्निहित तस्य सपिण्डसन्निहितस्य धनं सपिण्डस्य सन्निहितस्य धनं भवेदिति विज्ञेयम्। सुबोधिनी (पृ० ७१)।

है। कुछ लोगो ने 'तस्य तस्य' मे दोनो तस्यो को उत्तराधिकारी के लिए माना है और 'य' के साथ एक अन्य 'य' को लुप्त माना है (क्योकि उससे पद्य की मात्रा मे गडवडी हो जाती)। इसी प्रकार 'सपिण्डाद्य' मे कुछ लोगो ने दो शब्द लिये हैं, यथा—'सपिण्डात् य' तथा कुछ लोगो ने उसे केवल एक शब्द माना है, यथा सपिण्डाद्य, अर्थात् सपिण्ड तथा उसके समान अन्य। जैसा कि २८वी टिप्पणी में दिया गया है, कुछ निवन्धो एव टीकाकारो ने इस पद्य को कई प्रकार से पढा है। कुल्लूक एव दायतत्त्व (पृ० १९५) ने 'सपिण्डात्' को सपिण्डमध्यात् (सपिण्डो के वीच से) के अर्थ मे लिया है, जो सम्भवत सवसे अच्छी व्याख्या है। वृहस्पति का कथन है—"जहाँ वहुत-से सगोत्र (सजातीय—अपने गोत्र के), सकुल्य एव वन्धु हो, उनमे जो आसन्नतर (अधिक नजदीकी) होता है वही पुत्रहीन का धन प्राप्त करता है।"[२९]

महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है—'सपिण्ड' शब्द का अर्थ क्या है? मिताक्षरा एव दायभाग ने इसके दो भिन्न अर्थ दिये हैं, जिनका उल्लेख हमने पहले कर दिया है (देखिए इस ग्रन्थ का भाग—२, अध्याय ९)। गोत्र की परिभाषा देते समय पाणिनि (४।१।१६२) ने 'सपिण्ड' (४।१।१६५) शब्द प्रयुक्त किया है। जैसा कि काशिका ने समझाया है, यह शब्द रक्त-सम्बन्ध के अर्थ मे लिया गया है। मिताक्षरा के मत से रिक्थाधिकार रक्त-सम्वन्ध पर आधारित है ('एकशारीरावयवान्वय' अर्थात् शरीर के अवयवो के द्वारा सम्बन्ध) और रक्त-सम्वन्धियो मे वरीयता प्रत्यासत्ति (सन्निकटता) पर घोषित होती है। दायभाग के मत से सपिण्ड-सम्वन्ध धार्मिक योग्यता पर निर्भर है, अर्थात् श्राद्ध मे पिण्ड देने के ऊपर, जिस पर हम आगे प्रकाश डालेंगे। यह स्पष्ट है कि मृत के श्राद्धकर्म एव उसकी रिक्थप्राप्ति के उत्तराधिकार मे घनिष्ठ सम्वन्ध है। परन्तु प्रश्न तो यह है कि क्या वही व्यक्ति उत्तराधिकारी हो सकता है जो पिण्डदान करे? या जिसे रिक्थाधिकार किन्ही अन्य कारणो से मिलता है उस पर रिक्थाधिकार मिल जाने के उपरान्त मृत व्यक्ति के श्राद्धकर्म करने का उत्तरदायित्व आता है? इस प्रश्न का सन्तोषप्रद उत्तर देना कठिन है। ऐसा लगता है कि प्राचीन सूत्रो ने रिक्थाधिकार के सिद्धान्त को निश्चित करने मे पिण्डदान की धार्मिक योग्यता पर वल नही दिया है। आप०, मनु एव वृह० (विशेषत प्रथम एव अन्तिम) ने केवल सन्निकटता (जिसका स्वाभाविक अर्थ है रक्त की सन्निकटता) पर ही वल दिया है। याज्ञ० ने उत्तराधिकारियो की चर्चा मे 'सपिण्ड' शब्द का नाम नही लिया है। मनु (९।१४२) का कथन है कि पिण्ड तो गोत्र एव रिक्थ (धन) का अनुसरण करता है। विष्णु० (१५।४०) ने घोषित किया है—"जो कोई (मृत का) धन पाता है, वह उसको पिण्ड देता है।" इस नियम पर उन लेखको (व्य० मयूख आदि के लेखको) ने भी वल दिया है, जिन्होंने रक्त-सम्वन्ध को उत्तराधिकार के लिए आवश्यक माना है, उनका कथन है कि जो कोई, यहाँ तक कि राजा भी, मृत की सम्पत्ति पाता है, उसे उसका श्राद्ध-कर्म करना चाहिए या उसके लिए मर जाने पर दस दिनो की अन्त्येष्टि क्रिया, श्राद्ध आदि का प्रवन्ध कराना चाहिए, जैसा कि ब्रह्मपुराण मे आया है—"तदभावे च नृपति कारयेत्त्वकुटुम्विनाम्। तज्जातीयैर्नरै सम्यग्दाहाद्या सकला क्रिया॥" (२२०।७९)। मिताक्षरा के मत का समर्थन वि० र०, स्मृ० चि०, प० मा०, म० पा०, स० वि०, व्य० म०, वालम्भट्टी आदि ने किया है। दायभाग के सिद्धान्त का प्रतिपादन केवल कुछ मध्यकाल के ग्रन्थो एव अपरार्क, रघुनन्दन एव नन्द पडित ने किया है। वीरमित्रोदय ने सामान्यत मिताक्षरा का अनुसरण किया है, किन्तु कुछ विवादो मे धार्मिक योग्यता के सिद्धान्त पर ही

२९ वहवो ज्ञातयो यत्र सकुल्या वान्धवास्तथा। यस्त्वासन्नतरस्तेषां सोऽनपत्यधन हरेत्॥ वृह० (स्मृतिच० २, पृ० ३०१, मदनरत्न, पराशरमाधवीय ३, पृ० ५२९, दायतत्त्व पृ० १९५, व्य० प्र० ५२७। स्मृतिच० एव मदनरत्न ने व्याख्या की है—"ज्ञातय सपिण्डा सकुल्या समानोदका। वान्धवा स्मृत्यन्तरे दर्शिता आत्मपितृव्वसु पुत्रा०।"

उत्तराधिकार की वरीयता घोषित की है, यथा—उनमें सगे भाई को विमाता के पुत्र की अपेक्षा तथा तीन पुरुष उत्तराधिकारियों को विधवा की अपेक्षा अधिक वरीयता दी है। इस विषय में श्री कौशिक ने निम्न आक्षेप किया है— "अब यह स्पष्ट है कि मिताक्षरा के अनुसार जहाँ रिक्थाधिकार रक्त-सम्बन्ध या रक्त-समूह से उत्पन्न हुआ माना जाता है, रक्त की सन्निकटता या गोत्रज की सन्निकटता के निर्णय के लिए रिक्थाधिकार की वरीयता की खोज पिण्डदान देने की पात्रता में करनी चाहिए। यह उक्ति विचित्र-सी है। इससे प्रकट होता है कि रिक्थाधिकार के लिए पिण्डदान की योग्यता आवश्यक नहीं है, यह केवल मामलों में वरिष्ठ उत्तराधिकारी पाने के लिए उपयोगी मात्र है।"

मिताक्षरा द्वारा उद्धृत विष्णुधर्मसूत्र का वचन जो है—'यदि वंश चलाने के लिए पुत्र या पौत्र न हों तो दौहित्र को धन मिलता है, क्योंकि पितरों की अन्त्येष्टि क्रिया के लिए पुत्री के पुत्र अपने पौत्रों के समान गिने जाते हैं।' यह बात मनु (९।१३६) के समान ही है, जहाँ यह आया है कि दौहित्र को पिण्डदान करना चाहिए और धन लेना चाहिए। इससे प्रकट होता है कि मनु, विष्णु आदि ने रिक्थाधिकार के लिए पिण्डदान करने की योग्यता को मान्यता दी है, किन्तु यह भावना आगे व्याख्यात नहीं की जा सकी। रक्त-सम्बन्ध वाली भावना याज्ञ० (२।१२७) द्वारा उपस्थापित उत्तराधिकार-सम्बन्धी अनुक्रम में छिपी हुई-सी है। याज्ञ० (२।१२७) का कथन है कि क्षेत्रज पुत्र दोनों की अर्थात् जनक एवं पत्नी (जिससे वह उत्पन्न किया जाता है) के पति की सम्पत्ति ग्रहण करता है और दोनों को पिण्ड देता है। याज्ञवल्क्य यह नहीं कहते कि वह दोनों को पिण्ड देता है इसलिए उसे (दोनों की) सम्पत्ति मिलती है। अतः यह कथन भी नहीं स्वीकार करता है कि पिण्डदान करना मानो जो धन लेता है उसका एक कर्तव्य था (किन्तु यह बात उसके लिए नहीं है जो सन्तान रूप में पुत्र है)। इससे प्रकट होता है कि मिताक्षरा के सिद्धान्त पर प्राचीनता की मुहर लगी हुई है, और बंगाल को छोड़कर सम्पूर्ण भारत के अधिकांश निबन्धों ने यही बात मानी है।

दायभाग की यह उपपत्ति या उक्ति (जो बहुत पहले धारेश्वर नामक लेखक द्वारा सम्भवतः घोषित की गयी थी[11]) कि मृत व्यक्ति के धन का ग्रहण उस पारलौकिक कल्याण पर निर्भर है जो उसे प्राप्त होता है, संक्षेप में यों व्यक्त की जा सकती है—"यह उक्ति मुख्यतया बौधायनधर्मसूत्र एवं मनुस्मृति पर आधारित है। विभाजन के प्रकरण में जो (९।१ १) से आरम्भ होता है, मनु (११३७) ने घोषित किया है कि पुत्र, पौत्र एवं प्रपौत्र द्वारा अत्यन्त श्रेष्ठ पारलौकिक कल्याण किया जाता है। मनु (९।१ ९) का कथन है कि पुत्र को पिता से सम्पूर्ण धन प्राप्त होता है क्योंकि वह पिता को ऋण-मुक्त करता है। दौहित्र भी परलोक में नाना की रक्षा करता है (९।१३९) अतः वह नाना के धन का अधिकारी है। किन्तु (९।१८७) में पूर्व मनु ने (यह घोषित करते हुए कि सपिण्डों में अति सन्निकटता वाला उत्तराधिकारी होता है) तीन पूर्वजों के पिण्डदान की चर्चा की है। मनु (९।२ १) ने अन्धे आदि को रिक्थाधिकार से वंचित कर दिया है क्योंकि वे श्राद्ध आदि धार्मिक कर्म करने के अयोग्य हैं। अतः यह स्पष्ट होता है कि मनु आदि ने रिक्थाधिकार की प्राप्ति को पारलौकिक कल्याण करने पर निर्भर रखा है। दायभाग ने इस बात को पग पग पर कहा है और इस पर बल दिया है। उसका कथन है—"जो उद्देश्यों से धन की प्राप्ति की जाती है, सांसारिक सुखोपभोग के लिए एवं दान आदि कर्मों द्वारा

१ देखिए गुरुसिंह-बनाम-लालसिंह (४९, बाम्बे ए १ ८५ पृ ९ ७)। नहि पिण्डदानाधिकार एव दाय ग्रहणे प्रयोजकः, स्त्रीणां तदभावेऽपि धनाधिकारित्वस्य वक्ष्यमाणत्वात्। ... दानादुपकारित्वं धनस्वामिनो यतस्तदुपकारित्वमात्रेणेतर न तु तदेव प्रयोजकम्। व्य प्र (पृ ५६१)।

११ उपकारकत्वेनैव धन-सम्बन्धो न्यायप्राप्तो धन्यादीनामिव इति धारेश्वरः। इति निरवद्यविनोदमेव घोषितोऽप्यसमर्थो विद्वद्भिराहरणीयः। दायभाग (११।६।११ १२ पृ २१५)।

अदृष्ट या पारलौकिक कल्याण की प्राप्ति के लिए, किन्तु जब धनार्जनकर्ता मृत हो जाता है तो वह धन से सुखोपभोग नहीं कर सकता, अत दूसरा उद्देश्य जो बच रहता है वह अदृष्ट उपभोग या कल्याण है। इसी से बृहस्पति ने कहा है कि जो रिक्थाधिकार प्राप्त हुआ रहता है उसका अर्धांश मृत व्यक्ति के लिए पृथक कर देना चाहिए, जिससे मासिक, षाण्मासिक एव वार्षिक श्राद्ध कर्म किया जा सके।"[३२] हम श्राद्ध के विषय मे इस ग्रन्थ के अगले भाग मे पढेंगे। किन्तु दायभाग का मत प्रकाशित करने के लिए यहाँ भी सक्षेप मे कुछ लिख देना आवश्यक है।

श्राद्ध के कई प्रकार हैं, जिनमे दो की चर्चा यहाँ आवश्यक है, यथा—एकोद्दिष्ट एव पार्वण। प्रथम अर्थात् एकोद्दिष्ट का सम्पादन केवल एक मृत व्यक्ति के लिए होता है। मृत व्यक्ति के लिए एक वर्ष के भीतर या मृत्यु के ग्यारहवें दिन सोलह श्राद्ध सम्पादित होते है। मृत व्यक्ति के वार्षिक दिन पर एकोद्दिष्ट श्राद्ध-कर्म किया जा सकता है। पार्वण श्राद्ध का सम्पादन विशिष्ट दिनो मे किया जाता है, यथा किसी अमावस्या के दिन, आश्विन की अमावस्या के दिन या सक्रान्ति के दिन। इसमे कर्ता के तीन पितृ-पूर्वजो के श्राद्धकर्म आदि किये जाते हैं, तीन मातृ-पूर्वजो के लिए भी श्राद्ध किया जा सकता है, किन्तु यह गौण है और मुख्य कर्म के साथ ही किया जाता है।"[३३] यहाँ पर एक अन्य शब्द 'सपिण्डन' या 'सपिण्डीकर्म' की व्याख्या भी अपेक्षित है। यह वह श्राद्ध है जो मरने के एक वर्ष उपरान्त या बारहवें दिन किया जाता है। इसके करने से मृत व्यक्ति प्रेत-योनि से मुक्त हो जाता है और पितरो की श्रेणी मे आ जाता है। विधवा एव दुहिता (पुत्री) केवल एकोद्दिष्ट श्राद्ध कर सकती हैं, किन्तु पुत्र, पौत्र एव प्रपौत्र पार्वण श्राद्ध भी कर सकते हैं। दायभाग (११।१।३४, पृ० १६२) का कथन है कि तीन पुरुष उत्तराधिकारी-गण पार्वण श्राद्ध द्वारा मृत का महान् पारलौकिक कल्याण करते हैं। एक स्थान (११।७।१७, पृ० २११) पर दायभाग ने पार्वण को 'त्रैपुरुषिक' की सज्ञा दी है, क्योंकि यह तीन पूर्वजो के कल्याण के लिए किया जाता है। विधवा के रिक्थाधिकार की चर्चा करते हुए दायभाग (११।१। ६३, पृ० १६५) ने व्यास की पक्तियाँ उद्‌धृत की हैं—विधवा ब्रह्मचर्य व्रत मे स्थित रहकर, तिलाजलि देकर (अपने मृत व्यक्ति को प्रति दिन तिल एव जल अर्पण कर), दान देकर तथा उपवास करके अपने को एव अपने परलोकगामी पति को बचाती है (तारती है)। दायभाग ने और भी कहा है कि यदि विधवा दुराचरण करती है तो उसके मृत पति का पतन हो जाता है, क्योंकि पति एव पत्नी एक-दूसरे के पुण्यापुण्य फल की प्राप्ति के अधिकारी हैं। इसी से पति के कल्याण के लिए ही विधवा उसका धन पाती है। वृहन्मनु (दायभाग ११।१।७ एव मिता०) ने घोषित किया है कि पुत्रहीन एव सदाचारिणी विधवा को पति के लिए पिण्डदान करना चाहिए और उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति ग्रहण करनी चाहिए। और देखिए प्रजापति (व्य० मयूख, पृ० ७०९)। इसी प्रकार दायभाग ने अविवाहित कन्या या पुत्रवती

३२ धनार्जनस्य हि प्रयोजनद्वय भोगार्थत्व दानाद्यदृष्टार्थत्व च। तत्रार्जकस्य तु मृतत्वाद्धने भोग्यत्वाभावेन अदृष्टार्थत्वमेव शिष्टम्। अतएव बृहस्पति। समुत्पन्नाद् धनादर्ध तदर्थं स्थापयेत् पृथक्। मासषाण्मासिके श्राद्धे वार्षिके च प्रयत्नत ॥ दायभाग (११।६।१३)। बृहस्पति का श्लोक वि० र० (पृ० ५९५), व्य० नि० (पृ० ४४७) एव विवादचन्द्र (पृ० ८१) द्वारा उद्धृत है।

३३ 'एक उद्दिष्ट यस्मिन् श्राद्धे तदेकोद्दिष्टमिति कर्मनामधेयम्। मिताक्षरा (याज्ञ० १।२५१), तत्र त्रिपुरुषोद्देशेन यत्क्रियते तत्पार्वणम्। एकपुरुषोद्देशेन क्रियमाणमेकोद्दिष्टम्। मि० (याज्ञ० १।२१७)। पार्वण का अर्थ है 'पर्व के दिन पर सम्पादित।' विष्णुपुराण (३।२।११८) के अनुसार पर्व के दिन ये हैं—अमावस्या, पूर्णिमा, चतुर्दशी, अष्टमी एव रविसक्रान्ति। भविष्यपुराण (श्राद्धतत्त्व, पृ० १९२) ने पार्वण श्राद्ध की परिभाषा यों दी है—'अमावास्या यत् क्रियते तत्पार्वणमुदाहृतम्। क्रियते वा पर्वणि यत् तत् पार्वणमिति स्मृति ॥'

विवाहिता कन्या को (या उसे जिसे पुत्र होनेवाला है) रिक्थाधिकार दिया है, क्योंकि उसका पुत्र माता को पिण्ड देगा। इससे उत्तराधिकार में दौहित्र को पिता से वरीयता दी है, क्योंकि प्रथम स्वयं दूसरे को पिण्ड देता है और पिता अपने तीन पूर्व पुरुषों को देता है जिन्हें स्वामी (मृत व्यक्ति जीवित दशा में) अवश्य ही पिण्ड देता। दायभाग ने अन्त में निष्कर्ष निकाला है कि उत्तराधिकार का क्रम ऐसा होना चाहिए कि मृत व्यक्ति की सम्पत्ति उसके लिए अधिकतम कल्याणकारी सिद्ध हो सके (११।६।२८ एवं ३१, पृ० २१५)। और देखिए दायतत्त्व (पृ० १९७)। कहीं-कहीं दायभाग ने अपने सिद्धान्त का स्वयं खण्डन किया है, किन्तु वहाँ उसे तर्क द्वारा तोड़-मरोड़कर यह कहना पड़ा है कि अन्य स्मृतियों के ऐसे ही वचन हैं, विशेषतः इस प्रकार के उत्तराधिकारियों के लिए।[14] उदाहरणार्थ दायभाग के अनुसार उत्तराधिकारियों का तारतम्य यों है—

पुत्र, पौत्र एवं प्रपौत्र, पत्नी, दुहिता (पुत्री), दौहित्र, पिता, माता, सहोदर भाई, सौतेला भाई, सहोदर भाई का पुत्र, सौतेले भाई का पुत्र। किन्तु श्राद्ध करने के योग्य व्यक्तियों का क्रम कुछ और ही है। वास्तव में किसी भी दशा में उत्तराधिकार का अनुक्रम पूर्णरूपेण उन लोगों के अनुक्रम के अनुसार नहीं है जिन्हें श्राद्धाधिकारी कहा जाता है। अविभाज्य दशा में पृथक् हुए मृत पुरुष के श्राद्धाधिकारियों का अनुक्रम यों है—पुत्र (औरस या दत्तक), पौत्र, प्रपौत्र, पत्नी, विवाहित पुत्री, अविवाहित पुत्री जिसे मृत की सम्पत्ति मिली हो, दौहित्र जिसे सम्पत्ति मिलती है, सगा भाई, सौतेला भाई (विमाता का पुत्र), सगे भाई का पुत्र, सौतेले भाई का पुत्र, पिता, माता, पुत्र-वधू, सगी बहिन, सौतेली बहिन, सगी बहिन का पुत्र (भगिना), सौतेली बहिन का पुत्र, चाचा, भतीजा, अन्य गोत्रज सपिण्ड, सोदक, कोई गोत्रज, नाना, मामा, ममेरा भाई (अर्थात् क्रम से तीन प्रकार के बन्धु), शिष्य, जामाता, श्वसुर, मित्र, ब्राह्मण जो ब्राह्मण की सम्पत्ति लेता है या राजा जो उत्तराधिकारी के अभाव में आता है। देखिए निर्णयसिन्धु (३, उत्तरार्ध, पृ० ३८२-३८३), धर्मसिन्धु (३, उत्तरार्ध, पृ० ४४८-४४९) एवं श्राद्धविवेक (पृ० ४८)।

यदि पिण्डदान करने की योग्यता के सिद्धान्त का अनुसरण कठोरता से हो तो पिता या पितामह के बिल्कुल उपरान्त ही क्रम से माता या मातामही उत्तराधिकारी हो, इसे न मान लेने में कोई तर्क नहीं है। दायभाग के अन्तर्गत माता को ऐसा उत्तराधिकारी इसलिए मान लिया गया है कि मनु ने उसे अधिकारी के रूप में ग्रहण कर लिया है। इसी प्रकार पुनःसंसृष्ट सहभागियों को भी मान्यता मिली है और वहाँ पारलौकिक कल्याण वाला सिद्धान्त लागू नहीं है। दायतत्त्व के अनुसार पिण्डदान-ग्रहण या अन्य द्वारा दिये गये पिण्डदान में सम्मिलित होने की योग्यता मात्र आवश्यक समझी गयी है, न कि वास्तविक पिण्डदान करना। उदाहरणार्थ यदि कोई अपने पूर्वजों का पिण्डदान करे और आगे चलकर उसके मरने के उपरान्त कोई उसका सपिण्डन न करे और इस प्रकार वह अपने पूर्वजों को दिये गये पिं

१४. देखिए अक्षयचन्द्र-बनाम-हरिदास (३५ कलकत्ता, ७२१ पृ० ७२६) एवं नलिनाक्ष-बनाम-रजनीकान्त (५८ कलकत्ता, १३९२) जहाँ यह कहा गया है कि पारलौकिक कल्याण का सिद्धान्त सभी प्रकार के विवादों में नहीं प्रयुक्त हो सकता (यथा—पुरुषों के साथ स्त्रियों के उत्तराधिकार में, समानोदकों के उत्तराधिकार में आदि) तथा यहाँ-वहाँ जीमूतवाहन एवं उनके अनुयायी मौन हैं, प्रत्यासत्ति (समीपता) का पूर्ण स्वाभाविक प्रेम तथा स्नेह का सिद्धान्त लागू होना चाहिए। दायतत्त्व (पृ० १९१) ने बृहस्पति का हवाला देकर लिखा है कि पिण्डदान-कर्म करने की वरीयता एवं कुल-सम्बन्धी सन्निकटता—दोनों पर रिक्थाधिकार के विषय में विचार करना चाहिए। "पिण्डदानक्रमात्तारतम्येन आसत्त्यनासत्तितारतम्येन च धनाधिकारी।"

ण्डन मे सम्मिलित न हो सके, तब भी उसकी सम्पत्ति धार्मिक कल्याण योग्यता के सिद्धान्त पर अधिकृत होगी ही। यह विवेचन विस्तार से कहने योग्य था, किन्तु स्थानाभाव से हम सकोच कर रहे हैं, अत निम्न बातें ध्यान मे रखने योग्य हैं—

(१) **एकोद्दिष्ट या पार्वण श्राद्ध** द्वारा मृत का पारलौकिक हित किया जाता है। पार्वण श्राद्ध करने की योग्यता ही केवल शर्त नहीं है जिसके आधार पर किसी व्यक्ति का रिक्थाधिकार निर्भर रहता है। अत पत्नी, दुहिता एव शिष्य उत्तराधिकारी रूप मे स्वीकृत किये गये, यद्यपि वे केवल एकोद्दिष्ट श्राद्ध मात्र करते है। किन्तु वे लोग, जो पार्वण श्राद्ध करने योग्य हैं, केवल एकोद्दिष्ट श्राद्ध करने वालो की अपेक्षा वरीयता पाते है। अत मृत व्यक्ति की पुरुष सन्तान को पत्नी या दुहिता से वरीयता प्राप्त होती है।

(२) किसी व्यक्ति को पारलौकिक हित सीधे उसके लिए किये गये पिण्डदान से प्राप्त होता है, या उसके एक या अधिक पूर्वजो को, जिन्हें वह अपने जीवन-काल मे पिण्डदान देता, अन्य द्वारा दिये गये पिण्डदान मे सम्मिलित होने से प्राप्त होता है, या एक या अधिक मातृ-पूर्वजो (नाना, नाना के पिता एव नाना के पितामह) को दिये गये पिण्डदान से, जिन्हें वह स्वय अपने जीवनकाल मे पिण्डदान करता (किन्तु सम्प्रति उनके पिण्डदान मे सम्मिलित नही हो सकता), उसे पारलौकिक कल्याण मिलता है।

(३) सीधे रूप से प्राप्त पिण्डदान उसकी अपेक्षा, जो उसे अपनी मृत्यु के उपरान्त पूर्वजो के लिए किये गये पिण्डदान मे सम्मिलित होने से प्राप्त होता है, अधिक उपादेय है। इसी से पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र अन्य लोगो की अपेक्षा वरीयता प्राप्त करते हैं। भाई अपने पिता एव मृत के दो अन्य पितरो को पिण्डदान करता है जिसमे वह (मृत स्वामी) मृत होने के उपरान्त ही सम्मिलित हो पाता है। अत भाई को पुत्र या दौहित्र के (जो सीधे स्वय मृत को, अपने नाना के रूप मे पिण्डदान करता है) समक्ष वरीयता नही मिलती, अर्थात् पुत्र एव दौहित्र के रहते वह वरीयता नही प्राप्त करता।

(४) पितृ-पक्ष के पितरो को दिया गया पिण्डदान मातृ-पक्ष के पितरो को दिये गये पिण्डदान की अपेक्षा अधिक वरीयता या श्रेष्ठता प्राप्त करता है (इसी से भाई का पुत्र बहिन के पुत्र की अपेक्षा अच्छा माना जाता है, क्योकि वह अपने एव मृत स्वामी के पितरो को पिण्डदान करता है और बहिन का पुत्र अर्थात् भानजा अपने मातृ-पक्ष के पितरो को, जो स्वामी के पितृ-पक्ष के पूर्वज हैं, पिण्डदान करता है)।

(५) मृत स्वामी के पिता को दिया गया पिण्डदान उस पिण्डदान से अच्छा है जो पितामह या प्रपितामह को दिया जाता है। अत भाई का पुत्र या पौत्र चाचा से अच्छा गिना जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मृत के पिता के सभी सगोत्रज एव सजातीय पितामह या प्रपितामह के वशजो से वरीयता मे अधिक उपादेय हैं।

(६) जहाँ दो अधिकारियो द्वारा प्रदत्त पिण्डो की सख्या समान हो वहाँ जो अधिकतम निकट पूर्वज को पिण्ड देता है उसे ही वरीयता प्राप्त होती है।

दायभाग ने बौधायनधर्मसूत्र (१।५।११३), मनु (९।१८६-१८७) एव मत्स्यपुराण मे प्रारम्भ करके अपनी परिभाषा निम्न रूप मे दी है—एक व्यक्ति के पुत्र एव पुत्री का जन्म एक ही कुल मे होता है। दौहित्र (दुहिता या पुत्री का पुत्र) अपने नाना के कुल से उदित होता है। किन्तु उसका गोत्र दूसरा (अर्थात् उसके पिता का गोत्र) होता है। इसी प्रकार एक व्यक्ति की बहिन (पिता की पुत्री) उसी के कुल मे उत्पन्न होती है, किन्तु उसका पुत्र, यद्यपि वह मृत स्वामी के कुल से उदित हुआ रहता है, दूसरे गोत्र का (बहिन के पति के गोत्र का) होता है। यही बात पिता की बहिन के पुत्र एव पितामह की बहिन के पुत्र के विषय मे भी है। बहिन का पुत्र मृत के पिता को पिण्ड देता है, क्योकि स्वामी

का पिता उसका नाना है, अतः वह स्वामी से सपिण्ड रूप से सम्बन्धित है। पिता की बहिन (फूफी) का पुत्र स्वामी के पितामह को जो उसका (अर्थात् फूफी के पुत्र का) नाना होता है, पिण्ड देता है। मामा स्वामी के कुल से उत्पन्न नहीं होता, किन्तु वह अपने उस पिता को पिण्ड देता है जो कि मृत स्वामी का नाना होता है। अतः मामा या उसका पुत्र या पौत्र उस पिण्ड से, जो नाना या परनाना (नाना के पिता) को दिया जाता है, सम्बन्धित है और वह इस प्रकार मृत स्वामी का सपिण्ड है। मौसी का पुत्र अपनी माता के पिता को पिण्ड देता है जो स्वयं स्वामी की माता का पिता है, अतः मौसी का पुत्र स्वामी का सपिण्ड है। उसके द्वारा दिया गया मातृपक्ष को पिण्डदान गौण एवं हीन है। इसके अतिरिक्त स्वयं अपनी माता, पितामही, प्रपितामही अपने-अपने पतियों से (पूर्वजों को दिये गये पिण्ड के कारण) सम्बन्धित है, और यही बात मातृपक्ष के पूर्वजों की पत्नियों के विषय में भी लागू है।

इस प्रकार सपिण्ड की परिभाषा देने से गोत्रज एवं बन्धु का अन्तर मिट-सा जाता है। याज्ञ० (२।१३५) में स्पष्ट कहा है कि गोत्रजों के अभाव में ही किसी बन्धु को उत्तराधिकार प्राप्त होता है। दायभाग ने बहिन के पुत्र को भाई के पौत्र के पश्चात् ही एवं पितामह (अर्थात् एक समीप के गोत्रज पूर्वज) के पूर्व रखा है। पितामह वास्तव में शाब्दिक अर्थ में गोत्रज है और बहिन का पुत्र गोत्रज नहीं है। जब दायभाग ने बहिन के पुत्र को स्वामी के कुल से उत्पन्न माना है और उसे उस कुल का गोत्रज नहीं माना है, तो इससे सम्पूर्ण भारत में प्रचलित व्यवहार की हत्या सी हो जाती है। भारत का कोई भी साधारण व्यक्ति ऐसा नहीं कहता कि उसका भानजा (बहिन का पुत्र) और फुफेरा भाई (उसके पिता की बहिन का पुत्र) उसके कुल में उत्पन्न है। दायभाग ने याज्ञवल्क्य के गोत्रज शब्द पर बल देकर है, उसे एकवचन में (गोत्रज) पढ़ा है, किन्तु मिताक्षरा ने उसे बहुवचन में (गोत्रजाः) लिया है। मिताक्षरा के अन्तर्गत भानजा बन्धु मात्र है और वह चाचा या उसके पुत्र या चचेरे पितामह या अन्य गोत्रज के रहते उत्तराधिकारी नहीं हो सकता। दायभाग ने इस प्रकार याज्ञवल्क्य के वचन का उल्लंघन किया है और बहुत से गोत्रजों को निकट का उत्तराधिकारी माना है। इसने मनु (९।१८६, १८७) के वचन को मुख्य माना है और याज्ञ० (२।१३५, १३६) के वचन को गौण।

निम्न रेखाचित्रों से धार्मिक योग्यता का सिद्धान्त स्पष्ट हो जायगा। एक व्यक्ति उन लोगों का सपिण्ड कहा जाता है जिनके लिए जीवित रहते वह पिण्डदान करता है, वह उनका भी सपिण्ड है जो उसके मृत होने पर उसे पिण्ड देते हैं (यथा—उसके तीन पुरुष वंशज, उसका दौहित्र, उसके पुत्र की पुत्री का पुत्र एवं उसके पौत्र की पुत्री का पुत्र), तथा वह उनका भी सपिण्ड है जो उसके पूर्वजों को, जिन्हें उसे पिण्ड देना पड़ता है, पिण्ड देता है, अर्थात् जो उसके पितृपक्ष के तीन पूर्वजों तथा मातृपक्ष के तीन पूर्वजों को पिण्ड देता है—ये सभी उसके सपिण्ड हैं। अन्तिम दोनों वर्गों में चार उपवर्ग हैं— उपवर्ग संख्या १ में वे आते हैं जो अपने उन पितरों को पिण्ड देते हैं जो स्वयं स्वामी के अपने पूर्वज हैं; उपवर्ग संख्या २ में वे लोग हैं जो अपने उन तीन मातृ-पक्ष के पितरों को पिण्ड देते हैं जिनमें सभी या कुछ लोग स्वामी के अपने पूर्वज हैं, जिनके लिए वह स्वयं पिण्डदान करता है; उपवर्ग संख्या ३ में वे आते हैं जो अपने उन पूर्वजों को पिण्ड देते हैं जिनमें सभी या कुछ स्वामी के मातृ-पक्ष के पूर्वज हैं; उपवर्ग संख्या ४ में वे लोग हैं जो अपने उन मातृपक्ष के पूर्वजों को पिण्ड देते हैं जो स्वयं स्वामी के मातृपक्ष के पूर्वज हैं। इन सभी उपवर्गों में कम-से-कम नौ व्यक्ति हैं। यदि स्वामी के कई भाई, बहिनें, चाचा एवं मौसियाँ आदि हों तो सपिण्डों की सम्भव संख्या और बड़ी हो जायगी। मिताक्षरा के अन्तर्गत उपवर्ग २ से ४ तक के उत्तराधिकारी लोग बन्धु कहलाते हैं और (मिताक्षरा के अनुसार) उन्हें गोत्रजों के उपरान्त उत्तराधिकार प्राप्त होता है। जीमूतवाहन ने स्वामी की पुत्री के पुत्र के अधिकारों के तथा मनु (९।१३९) के इस कथन के आधार पर कि दौहित्र (पुत्री का पुत्र) पूर्वज को उसके पौत्र के समान ही परलोक में बचाता है, पिता की पुत्री के पुत्र को पिता के पौत्र के पश्चात्, पितामह की पुत्री के पुत्र को

पितामह के पौत्र के पश्चात् तथा प्रपितामह की पुत्री के पुत्र को पूर्वज के पौत्र के पश्चात् ही उत्तराधिकारी घोषित किया है।[३५]
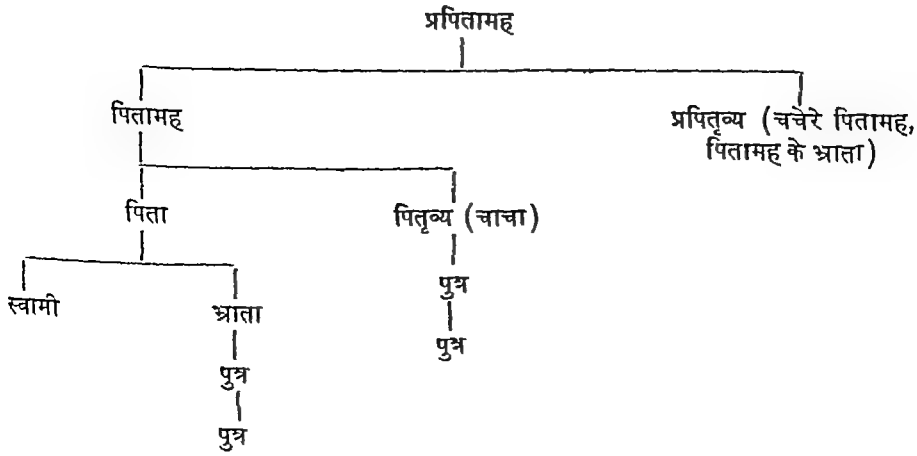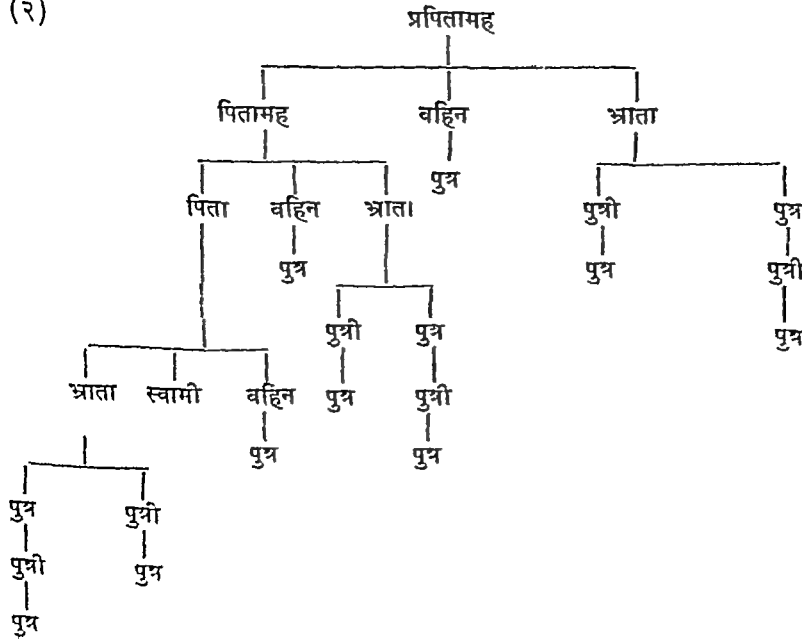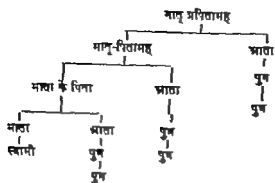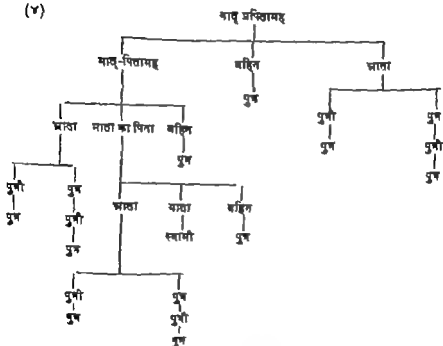
३५ किंतु पितुरपि प्रपौत्रपर्यंताभावे पितृदौहित्रस्याधिकारो बोद्धव्यो धनिदौहित्रस्येव। एव पितामहप्रपिता-

स्वामी के कुल मे उत्पन्न हुई हैं और न उसके सम्वन्ध से उदित हुई हैं, जैसा कि वहिन का पुत्र या फुफेरा भाई होता है। इसके अनुसार याज्ञवल्क्य ने 'वन्धु' शव्द मामा आदि के लिए प्रयुक्त किया है, और उन्हे उत्तराधिकार पानेवाले सपिण्डो मे रखा है। क्योकि वे स्वामी के कुल मे नही उदित हुए हैं और न उनका गोत्र ही समान है, अत मामा आदि पितृकुल के अन्य वशजो के, जिनमे प्रपितामह से लेकर उसकी पुत्री के पुत्र भी सम्मिलित हैं, उपरान्त ही आते है।

यह प्रकट हो गया कि दायभाग के अन्तर्गत पाँच स्त्रियो के अतिरिक्त अन्य किसी स्त्री को उत्तराधिकार नही मिलता और इसका फल यह हुआ कि व्यक्ति की अपनी पुत्री या पुत्री की पुत्री उत्तराधिकार नही पा सकती, जव कि दूर के सम्वन्धी, यथा पिता के पिता की वहिन के पुत्र को उत्तराधिकार मिलता है। यही स्थिति मिताक्षरा के अन्तर्गत भी है और सारे भारत में (वम्वई एव मद्रास के कुछ भागो को छोडकर, जिसके विपय मे हम आगे पढ़ेंगे) यह प्रथा लागू रही है।

अपने तीन पितृ-पूर्वजो को पिण्ड देने के उपरान्त हाथ मे पिण्डो का जो अवशेप वच रहता है वह प्रपितामह से ऊपर के पूवजो के लिए कुश पर छिडका जाता है (मनु ३।२१६)। इसी प्रकार पौत्र के उपरान्त तीन पुरुप वशज **पिण्डलेप** (पिण्ड का अवशेप जो हाथ मे लगा रहता है) स्वामी को देते है। वौधायन एव दायभाग (११।१।३८) द्वारा ये दूर के तीन पितृ-पूवज एव तीन पुरुप वशज (जिन्हे वौधायनधर्मसूत्र १।५।११४ मे 'विभक्त दायाद' कहा गया है) **सकुल्य** कहे गये हैं। दायभाग के मत से सपिण्डो के अभाव मे सकुल्य लोग उत्तराधिकार पाते है। जिस प्रकार व्यक्ति मृत होने के उपरान्त अपने पितृ-पूर्वजो को दिये गये पिण्डदान मे सम्मिलित रहता है, उसी प्रकार वह चौथी से छठी पीढी तक के वशजो द्वारा दिये गये **पिण्डलेप** मे भी सम्मिलित रहता है। दायभाग का कथन है कि सपिण्डो एव सकुल्यो मे यह अन्तर केवल उत्तराधिकार को लेकर ही है। किन्तु सूतक मनाने की अवधियो मे सपिण्ड एव सकुल्य दोनो मनु (५।६०) एव माकण्डेयपुराण (२८।४) द्वारा **सपिण्ड** कहे गये हैं। मनु (९।१८७) के मत से सपिण्डो के अभाव मे सकुल्य उत्तराधिकार पाते हैं, किन्तु विष्णु० (१७।९-११) के अनुसार वन्धुओ के अभाव मे सकुल्य उत्तराधिकार ग्रहण करते हैं।[३६] लगता है, विष्णु ने **सपिण्ड** के अर्थ मे ही **वन्धु** शव्द का प्रयोग किया है। नारद (दायभाग, ५१) का कथन है कि पुत्रियो एव सकुल्यो के अभाव मे वान्धव एव सजातीय लोग उत्तराधिकार पाते है। यहाँ, ऐसा लगता है कि **सकुल्य** एव वान्धव का प्रयोग गोत्रज एव वान्धव के अर्थ मे किया गया है, जैसा कि याज्ञवल्क्य ने किया है। वाल-भट्टी ने गोत्रज एव सकुल्य को पर्यायवाची माना है। दायभाग सकुल्यो के विपय मे असगत है, क्योकि एक स्थान (११।६।१५ एव २३) पर उसने **समानोदको** को **सकुल्यो** मे रखा है, तो दूसरे स्थान (११।६।२१-२२) पर उसने **सकुल्य** की वैसी परिभापा दी है जैसा कि ऊपर दिया जा चुका है। मिताक्षरा ने दायभाग के सकुल्यो को गोत्रज सपिण्डो के अन्तगत ही माना है।

३६ पिण्डलेपभुजश्चान्ये पितामहपितामहात्। प्रभृत्युक्तास्त्रयस्तेषां यजमानश्च सप्तम। इत्येष मुनिभि प्रोक्त सम्वन्ध साप्तपौरुष ॥ मार्कण्डेयपुराण (२८।४-५)। और देखिए दायभाग (११।१।४१) एव ब्रह्मपुराण (२२०।८५-८६)। विष्णुध० सू० (१७।९-११) मे आया है—'तदभावे भ्रातृपुत्रगामि। तदभावे बन्धुगामि। तदभावे सकुल्यगामि।' विष्णुधर्मसूत्र को अपरार्क (पृ० ७४१) एव वि० र० (पृ० ५९५) ने इसी प्रकार पढ़ा है। व्य० प्र० (पृ० ५१०) का कथन है कि विष्णु० मे 'वन्धु' एव 'सकुल्य' 'सपिण्ड' एव 'सगोत्र' के लिए आये हैं। और देखिए दायतत्त्व (पृ० १८९), दायभाग (११।१।५, पृ० १५१), व्य० प्र० (पृ० १४२) तथा मिता० (याज्ञ० २।१३६) जहाँ दूसरे ढग की बातें दी हुई हैं।

मिताक्षरा द्वारा पिता, पितामह एव प्रपितामह के वश मे उल्लिखित 'सन्तान' शब्द कुछ कठिनाई उत्पन्न करता है। हमने पहले ही देख लिया है कि बम्बई के उच्च न्यायालय के मत मे वह क्रमता भाई के पुत्र (पिता के पुत्र के पुत्र, अर्थात् पिता के दो वशजो) के पश्चात् समाप्त हो जाती है, किन्तु भारत के अन्य क्षेत्रो मे यह भाई के पुत्र के पुत्र (अर्थात पिता के तीन वशजो) के उपरान्त समाप्त हो जाती है। मिताक्षरा ने पितामह एव प्रपितामह की शाखा मे केवल दो ही वशजो को स्पष्ट रूप से रखा है। सामान्य नियम यह है कि व्यक्ति या उस पूर्वज को छोडकर, जिससे गणना आरम्भ होती है, प्रत्येक शाखा के छ वशजों तक सपिण्ड-सम्बन्ध प्रसारित रहता है। और आगे एक सामान्य नियम यह भी है कि सन्निकटतर शाखा दूरतर लोगो को छोड देती है (यथा मिताक्षरा ने स्पष्ट रूप से पितामह, उसके पुत्र एव पौत्र को प्रपितामह, उसके पुत्र एव पौत्रो से पहले रखा है)। प्रश्न यह है—क्या किसी सन्निकटतर शाखा के तीसरे, चौथे, पाँचवें या छठे वशज किसी दूर शाखा के प्रथम या द्वितीय वशज को छोड देंगे? दूसरे शब्दो मे, क्या पितामह का पौत्र प्रपितामह के पुत्र या पौत्र के पूर्व ही अधिकार पायेगा या पितामह का छठा वशज प्रपितामह के पुत्र के पूर्व अधिकार ग्रहण करेगा? इस विषय मे तीन मत हैं—(१) स्मृतिचन्द्रिका के कुछ शब्दो के आधार पर ऐसा कहा गया है कि प्रत्येक शाखा मे दो वशजो के उपरान्त दूरतर शाखा की ओर बढना होता है और उस शाखा के दो वशजों के उपरान्त सन्निकटतर शाखा के तीसरे से लेकर छठे वशज तक लौट आना पडता है, (२) प्रत्येक शाखा मे पहले तीन पीढियो तक जाना होता है, क्योंकि मिताक्षरा के अनुसार 'पुत्र' शब्द मे तीन पुरुष वशज आ जाते हैं, (३) किसी आगे की दूरतर शाखा मे चढने के पूर्व प्रत्येक शाखा के छ वशजो की परिसमाप्ति आवश्यक है (क्योंकि सपिण्ड-सम्बन्ध छ पीढियो तक प्रसारित रहता है)।

एक अन्य प्रश्न उठता है—क्या सगोत्र सम्बन्धियो की विधवाएँ, यथा—पुत्र की विधवा, भाई की विधवा, विमाता या विधवा चाची, उत्तराधिकार के लिए 'गोत्रजा' कहलाती हैं? दायभाग के अन्तर्गत एव मिताक्षरा के अन्तर्गत, बम्बई के सम्प्रदाय को छोडकर, सारे भारत मे गोत्रज सपिण्डो की विधवाएँ उत्तराधिकार बिलकुल नही पातीं, क्योंकि सभी लेखको के मत से स्त्रिया तब तक उत्तराधिकार नही प्राप्त कर सकती जब तक कि स्मृति-वचन इस विषय मे स्पष्ट न हो। बम्बई सम्प्रदाय मे स्थिति कुछ और ही है। मिताक्षरा एव मयूख के अनुसार पत्नियाँ विवाहोपरान्त पति के गोत्र मे प्रविष्ट होती हैं और उनको सपिण्ड के रूप मे घोषित हो जाती है। बालम्भट्टी ने घोषित किया है कि पुत्र की विधवा पितामह के पूर्व ही उत्तराधिकारिणी हो जाती है। इन्होंने स्त्रियो को भी 'गोत्रजा' शब्द के अन्तगत रखा है। जब गोत्रज शब्द **समानगोत्र** का वाचक हो गया तो न केवल वे, जो गोत्र मे उत्पन्न हुई थी, 'गोत्रजा' कहलाने लगीं, प्रत्युत वे भी जो विवाहोपरान्त गोत्र मे प्रविष्ट हुई, 'गोत्रजा' कही जाने लगी। इतना ही नहीं, यह तक उपस्थित किया गया कि जब पितामही या प्रपितामही गोत्रज रूप मे उत्तराधिकार पाती है तो अन्य गोत्रजो की विधवाएँ इस अधिकार से वंचित क्यो की जायँ? बम्बई प्रान्त मे अंग्रेजी काल से ही गोत्रज सपिण्ड स्त्रियाँ (यथा—पुत्र, भाई एव चाचा की विधवाएँ) उत्तराधिकार के लिए योग्य समझी जाती रही हैं। वे स्वामी की विधवा या माता या पितामही के समान सीमित अधिकार पाती हैं। उन्हे यह अधिकार स्थानीय प्रयोग एव परम्परा के अनुकूल मिला है, न कि स्मृति-वचनो के आधार पर। ये गोत्रज सपिण्ड विधवाएँ किसी भी प्रकार के बन्धु के पूर्व ही उत्तराधिकार पाती हैं। सन् १९३७ के उपरान्त व्यक्ति की अपनी विधवा, उसके पूर्वमृत पुत्र की विधवा एव पूर्वमृत पुत्र के पूर्वमृत पुत्र की विधवा उसके पुत्र या पुत्रो के साथ ही सारे भारत मे उत्तराधिकार पाती रही है।

समानोदक—मिताक्षरा के अनुसार **गोत्रज या तो सपिण्ड हैं या समानोदक हैं।** 'समानोदक' शब्द का एक पारिभाषिक अर्थ है। मनु (५।६०) के मत से सपिण्ड सम्बन्ध सातवें पुरुष तक समाप्त हो जाता है, समानोदक का

आदि के मत से (किन्तु दायभाग के मत से नही) समानोदको (या सोदको) के अभाव मे वन्धु लोग उत्तराधिकार पाते हैं। ऊपर के विवेचनो से यह प्रकट हो गया होगा कि गोत्रज लोग, चाहे वे सपिण्ड हो या समानोदक हों, सगोत्र होते हैं (कुछ वातो मे उनकी पत्नियाँ भी वैसी मानी गयी हैं) अर्थात् वे ऐसे व्यक्ति हैं जो मृत से अटूट पुरुष-वश के सम्वन्ध से जुडे होते हैं। वन्धु ऐसे व्यक्ति होते हैं जो मृत व्यक्ति से एक या कई स्त्रियो के द्वारा सम्वन्धित होते हैं। वन्धुओ के उत्तराधिकार के विषय मे तीन श्लोक हैं जो वृद्ध-शातातप या वौधायन के माने जाते हैं। उनका अनुवाद यो है—"अपने पिता की वहिन के पुत्र (फुफेरे भाई), अपनी माता की वहिन के पुत्र (मौसी के पुत्र) एव अपने मामा के पुत्र आत्मवन्धु कहे जाते हैं, अपने पिता के पिता की वहिन के पुत्र, अपने पिता की माता की वहिन के पुत्र एव अपने पिता के मामा के पुत्र पितृवन्धु कहलाते है, अपनी माता के पिता की वहिन के पुत्र, अपनी माता की माता के पुत्र एव अपनी माता के मामा के पुत्र मातृ-वन्धु कहलाते हैं।" मिताक्षरा ने इस वचन के आधार पर कहा है कि वन्धु की तीन कोटियाँ हैं, आत्मवन्धु, पितृवन्धु एव मातृवन्धु। आत्मवन्धु पितृवन्धु के पूर्व तथा पितृवन्धु मातृवन्धु के पूर्व उत्तराधिकार पाते हैं (मिता०, याज्ञ० २।१३६ एव मदनपारिजात पृ० ६७४)। वन्धुओ के अधिकारो के विषय मे मिताक्षरा एव अन्य टीकाओ तथा निवन्धो ने वहुत कम लिखा है, अत आधुनिक काल मे न्यायालय सम्वन्धी निर्णयों मे वहुत मतभेद रहा है। हम इस चक्कर मे यहाँ नही पडेंगे।

उत्तराधिकारी के रूप मे अन्य जन—मिताक्षरा के मत से वन्धुओ के अभाव मे मृत का उत्तराधिकारी उसका गुरु (वेद-गुरु) होता है, गुरु के अभाव मे शिष्य (आपस्तम्ब० २।६।१४।३ पर आधारित) तथा शिष्य के अभाव मे सब्रह्मचारी (गुरुभाई, जो मृत व्यक्ति के साथ एक ही गुरु से पढता था तथा जिसका उपनयन सस्कार एक ही गुरु द्वारा कराया गया था) को उत्तराधिकार मिलता है। सब्रह्मचारी के अभाव मे ब्राह्मण का धन श्रोत्रिय (वेदज्ञ ब्राह्मण) को मिलता है, जैसी कि गौतम (२८।३९) ने व्यवस्था दी है। श्रोत्रिय के अभाव मे उसी ग्राम के किसी ब्राह्मण को धन मिलता है, जैसा कि मनु (९।१८०-१८९) का कहना है, 'सभी प्रकार के उत्तराधिकारियो के अभाव मे तीनो वेदों का ज्ञाता, शुद्ध एव आत्मनिग्रही ब्राह्मण धन लेता है, इससे धर्म की हानि नहीं होती है, नियम ऐसा है कि ब्राह्मण का धन राजा को नही लेना चाहिए।' यही वात नारद (दायभाग, ५१-५०) ने भी कही है। इसी अर्थ मे विष्णुधर्मसूत्र (१७।१३-१४), वौधायनधर्मसूत्र (१।५।१२०-१२२), शख-लिखित, देवल (व्य० र० पृ० ५९७ एव व्य० चि० पृ०१५५) ने भी अपनी वातें कही हैं। किन्तु आधुनिक काल मे ये निर्देश सम्मानित नही हुए हैं। मनु (९।१८९) एव वृहस्पति (अपरार्क पृ० ७४६, वि० र० ५९८) ने कहा है कि क्षत्रियो, वैश्यो एव शूद्रो का धन उत्तराधिकारियो के अभाव मे

हरदत्त ने सगोत्र सम्वन्धी के अर्थ मे लिया है। मनु (३।३१) मे 'ज्ञाति' पितृ-सम्वन्धियो के अर्थ मे आया है—'ज्ञातिभ्यो द्रविण दत्त्वा।' मनु (३।२६४ एव ४।१७९) तथा याज्ञ० (२।१४९) मे 'ज्ञाति' का अर्थ 'वान्धव' या 'वन्धु' से भिन्न कहा गया है और उसका अर्थ है 'सगोत्र।' 'सजात' एव 'सनाभि' शब्दो के विषय में भी जानना आवश्यक है। 'सजात' शब्द तैत्तिरीय सहिता (१।६।१०।१ एव १।६।२।१) मे आया है (उग्रोह सजातेषु भूयासम्)। यह शब्द अथर्ववेद (१।९।३, ३।८।२ एव ६।५।२) मे सगोत्र या सम्वन्धी के अर्थ मे आया है। 'सनाभि' शब्द ऋग्वेद (९।८९।४) मे आया है, इसका अर्थ 'ज्ञाति' है, जो आपस्तम्बगृह्यसूत्र (७।२०।१८), मनु (५।७२), वृहस्पति के दिये हुए अर्थ के समान ही है। किन्तु निरुक्त (४।२१) एव कात्यायन (अपरार्क पृ० ६६९-६७०) ने 'सनाभि' को विस्तृत अर्थ मे (पिता एव माता के सम्वन्धियो को सम्मिलित करते हुए) लिया है। अमरकोश ने सपिण्ड को सनाभि का पर्याय माना है।

(आरम्भ से लेकर सहपाठी तक के अभाव में) राजा को मिल जाता है। कात्यायन (मिता० याज्ञ० २।१३५ ; स्मृ० च० ३, पृ० ५३५ ; व्य० म०, पृ० १३९) के मत से उत्तराधिकारियों के अभाव में राजा धन ले लेता है, किन्तु उसे मृत की स्त्रियों नौकरों अन्त्येष्टि-क्रिया एवं श्राद्ध के लिए प्रबन्ध करना पड़ता है (कात्यायन ९३१)। आपस्तम्ब, नारद एवं कात्यायन के वचनों को उस विषय में मान्यता दी गयी है जहाँ उत्तराधिकारियों के रहते मृत व्यक्ति की स्त्रियों की जीवन-वृत्ति का प्रश्न है।

याज्ञवल्क्य (२।१३७) ने एक विशिष्ट नियम प्रतिपादित किया है जो उत्तराधिकार-सम्बन्धी सामान्य नियम (२।१३५-१३६) का अपवाद है—'उन उत्तराधिकारियों का जो वानप्रस्थ, यति (सन्यासी), ब्रह्मचारी (नैष्ठिक ब्रह्मचारी जो जीवन भर वेदाध्ययन करता रहता है) का धन लेते हैं, अनुक्रम यों है (नैतिक) गुरु या आचार्य, सच्छिष्य (अच्छा या गुणवान् शिष्य), धर्मभ्राता जो एकतीर्थी (जो भाई के समान एक ही सम्प्रदाय का हो) होता है।'[४] मिताक्षरा ने इस क्रम में कुछ परिवर्तन कर दिया है, उसके अनुसार आचार्य (जो तीन उत्तराधिकारियों में प्रथम स्थान पाता है) उक्त क्रम में उल्लिखित अन्तिम व्यक्ति का उत्तराधिकारी है, अतः मिताक्षरा के अनुसार आचार्य, अच्छा शिष्य एवं धर्मभ्राता (भाई के समान माना जानेवाला व्यक्ति) क्रम से ब्रह्मचारी, यति एवं वानप्रस्थ के उत्तराधिकारी होते हैं। मिताक्षरा ने इस प्रकार प्रतिलोम क्रम बना दिया है। दायभाग ने भी क्रम में परिवर्तन कर दिया है, किन्तु उसके अनुसार वानप्रस्थ, यति एवं ब्रह्मचारी का धन क्रम से धर्मभाई, सत् शिष्य एवं आचार्य लेते हैं, किन्तु इनके अभाव में आश्रम में रहनेवाला (जहाँ पर मृत व्यक्ति रहता था) कोई भी धन ले सकता है। मदनरत्न के अनुसार क्रम सीधा ही है, अर्थात् आचार्य, सच्छिष्य एवं धर्मभ्राता वानप्रस्थ, यति एवं ब्रह्मचारी का धन लेते हैं, क्योंकि विष्णु० (१७।१५-१६) ने ऐसा ही कहा है। मिताक्षरा के अनुसार ब्रह्मचारी दो प्रकार के होते हैं, नैष्ठिक एवं उपकुर्वाण (जो कुछ अवधि तक शिष्य रहकर पूर्वजों की धारा को चलाने के लिए विवाह कर लेता है)। मिताक्षरा ने याज्ञवल्क्य के 'ब्रह्मचारी' शब्द को नैष्ठिक ब्रह्मचारी के अर्थ में लिया है, क्योंकि उपकुर्वाण ब्रह्मचारी यदि कोई सम्पत्ति छोड़ता है तो वह उसकी माता, पिता एवं अन्य उत्तराधिकारियों को प्राप्त होती है। मिताक्षरा ने इसी प्रकार कहा है कि दुष्ट स्वभाव वाले एवं अगुणी शिष्य तथा आचार्य को धन नहीं प्राप्त होता। मिताक्षरा ने वानप्रस्थ को एक दिन, एक मास या छः मास या वर्ष भर के लिए धन एकत्र करने की आज्ञा याज्ञ० (३।४७) द्वारा व्यवस्थित मानी है, अतः उसके मरने पर कुछ धन बच जा सकता है। यद्यपि गौतम (३।११) ने सन्यासियों के लिए धन-संग्रह वर्जित माना है, किन्तु उनके पास परिधान, खड़ाऊँ, योग आदि सम्बन्धी पुस्तकें रह सकती हैं। यही बात नैष्ठिक ब्रह्मचारियों के लिए भी लागू है (इस विषय में तथा मठों की व्यवस्था, आसन एवं सन्यासियों और उनके शिष्यों आदि के विषय में देखिए इस ग्रन्थ का भाग २, अध्याय २९ एवं अध्याय ९८)।

संसृष्टि—पुनर्मिलन या पुनःसंयोग या संसृष्टि केवल उन्हीं लोगों में सम्भव है जो मौलिक विभाजन में सह-भागी थे। अतः इसके तीन स्तर हो सकते हैं—(१) संयुक्त परिवार, (२) संयुक्त परिवार के सदस्यों के बीच विभाजन एवं (३) व्यक्त या अव्यक्त रूप से पुनः उन लोगों के संयुक्त हो जाने की अभिलाषा एवं समझौता, जो विभाजन में पृथक्-पृथक् सदस्य थे। स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० ३०२) एवं विवादचन्द्र (पृ० ८२) के मत से सदस्य भाग के अनुसार पृथक् हों, किन्तु साथ-साथ रहें तो व्यवहार की दृष्टि से उनका यह सहवास पुनःसंयोग नहीं कहलाता। विवादचन्द्र ने विष्णुपुराण को उद्धृत कर कहा है कि किसी आचरण-पति से पुनःसंयोग की झलक मिल सकती है

४. वानप्रस्थयतिब्रह्मचारिणां रिक्थभागिनः। क्रमेणाचार्यसच्छिष्यधर्मभ्रात्रेकतीर्थिनः॥ याज्ञ० (२।१३७)।

यद्यपि स्पष्ट समझौता नही सिद्ध हो सकता। कौन-कौन पुन सयुक्त हो सकते हैं, इसके विषय मे कई मत प्रकाशित किये गये हैं। मिताक्षरा, दायभाग एव स्मृतिचन्द्रिका ने बृहस्पति के कथन की व्याख्या करते हुए कहा है कि कोई सदस्य, जो सयुक्त परिवार से एक बार पृथक् हो गया, केवल अपने पिता, भाई या चाचा के साथ पुन सयुक्त हो सकता है, किन्तु अन्य सम्बन्धी, यथा चचेरे भाई या पितामह के साथ नही। किन्तु विवादचिन्तामणि (पृ० १५७), व्य० मयूख (पृ० १४६) एव व्य० प्रकाश (पृ० ५३३) ने व्यवस्था दी है कि बृहस्पति का कथन केवल उदाहरणात्मक है, कोई व्यक्ति किसी भी सदस्य मे, जो विभाजन मे सदस्य के रूप मे था, पुन सयुक्त हो सकता है। पुन सयुक्त व्यक्ति को **सृष्ट या ससृष्टी** कहा जाता है। ससृष्टि (पुन सयुक्तता) के विषय का एक प्राचीन इतिहास है। गौतम (२८।२६) ने एक सामान्य नियम दिया है कि किसी पुन सयुक्त (ससृष्ट) सहभागी की मृत्यु पर बचा हुआ ससृष्ट सदस्य उसका भाग पाता है। कौटिल्य (३।५) ने कहा है कि वे लोग, जो साथ रहते हैं, भले ही उनके पास पैतृक सम्पत्ति न रही हो, या जो पैतृक सम्पत्ति के विभाजन के उपरान्त भी साथ रहते हैं, पुन सयुक्त धन का विभाजन समान भाग मे कर सकते हैं। यही बात मनु (९।२१०=विष्णुधर्मसूत्र १८।४१) ने भी कही है।

याज्ञ० (२।१३५-१३६) मे आया है कि पुत्रहीन व्यक्ति के मृत होने पर पत्नी एव अन्य उत्तराधिकार पाते है। यह एक नियम है। इसी से मिताक्षरा ने याज्ञ० (२।१३८-१३९) के वचन को, जो पुन सयुक्त व्यक्ति के मृत होने के उपरान्त उत्तराधिकार के विषय मे है, अपवाद माना है। इसमे यह निष्कर्ष निकलता है कि जब कोई व्यक्ति अपने भाई से फिर मिल जाता है और ऐसे पुत्र को छोडकर मर जाता है जो स्वय उससे नही मिला है, तो उसकी सम्पत्ति को उसका पुत्र पाता है न कि उसका भाई जो उससे पुन सयुक्त था। किन्तु यदि क अपने ख एव ग पुत्रो से अलग हो जाता है, जिनमे ख आगे चलकर उससे पुन सयुक्त हो जाता है और ग नही, तो क के मरने के उपरान्त उसका पुन सयुक्त पुत्र ख उसकी सम्पत्ति पाता है और ग को कुछ नही मिलता। यह बात विवादचन्द्रिका (पृ० ८५) ने स्पष्ट रूप से कही है और स्मृतिसार का हवाला दिया है।[41] याज्ञवल्क्य (२।१३८-१३९) के दो श्लोक टीकाकारो द्वारा कई प्रकार से उद्धृत एव व्याख्यापित हैं। हम इस विषय मे अधिक नही लिखेंगे। मिताक्षरा के अनुसार दोनो श्लोकों[42] का अर्थ यो है—"मृत ससृष्ट व्यक्ति के विषय मे बचे हुए ससृष्ट सदस्य को चाहिए कि वह (पहले की मृत्यु के) पश्चात् उत्पन्न पुत्र (पितृमरणोत्तरक) को (मृत व्यक्ति का) धन दे दे, किन्तु यदि पुत्र न हो (केवल पत्नी हो) तो वह स्वय ले ले, किन्तु ससृष्ट (पुन सयुक्त) भाइयो मे सगे भाई को, यदि वह पुन सयुक्त (ससृष्ट) हो, चाहिए कि वह मृत के पश्चात् उत्पन्न पुत्र को (मृत का) भाग दे दे, और (यदि पुत्र न हो) तो वह सौतेले भाइयो के रहते हुए भी, स्वय धन ले ले, ससृष्ट सौतेला भाई ससृष्ट एव पुत्रहीन भाई का धन लेता है, किन्तु वह सौतेला भाई जो ससृष्ट नही है धन नही पाता, सगा भाई, भले ही वह ससृष्ट न हो, ससृष्ट सौतेले भाई के साथ धन पाता है, किन्तु सौतेला भाई अकेले नही पा सकता।"

४१ यस्तु पिता पुत्रेणैव केनचित्ससृष्टस्तस्यांश ससृष्ट एव गृह्णीयान्नाससृष्टी, ससृष्टिनस्तु ससृष्ट इति वचनात्। अतएव स्मृतिसारे यदा पितैव केनचित्पुत्रेणैव ससृष्टस्तदा तद्धन ससृष्टिपुत्रो गृह्णीयान्नासृष्टी विभक्तपुत्र, ससृष्टिनस्तु ससृष्टीत्यविशेषेणाभिधानादित्युक्तम्।

४२ ससृष्टिनस्तु ससृष्टी सोदरस्य तु सोदर। दद्यादपहरेच्चांश जातस्य च मृतस्य च॥ अन्योदर्यस्तु ससृष्टी नान्योदर्यो धन हरेत्। असंसृष्ट्यपि वा दद्यात्ससृष्टो नान्यमातृज॥ याज्ञ० (२।१३८-१३९)। पहला श्लोक विष्णु० (१७।१७) मे भी है। अपरार्क (पृ० ७४७) ने 'नान्योदर्यधन हरेत्' एव 'आदद्यात्सोदर्यो नान्यमातृक' पढा है। विश्वरूप, जितेन्द्रिय एव विवादचन्द्र (पृ० ८४) ने 'चादद्यात्सोदरो नान्यमातृज' पढा है।

अध्याय ३०

स्त्रीधन

स्त्रीधन के विषय में मत मतान्तर है। वैदिक साहित्य में भी इसकी ओर संकेत मिलता है। ऋग्वेद के विवाह-सम्बन्धी दो मन्त्रों (१०।८५।१३ एवं ३८) में वधू के साथ वर के घर के लिए निम्न उपहार भेजने का वर्णन आया है—सूर्या की वधू-भेंट (जिसे सविता ने भेजा था), पशु (जो अघा अर्थात् मघा में हत होते हैं) आदि।[1] सायण ने 'वहतु' को 'गायों एवं अन्य पदार्थ के, जो विवाहित होनेवाली कन्या को प्रसन्न करने के लिए दिये जाते हैं, अर्थ में लिया है, किन्तु ह्विटनी (हारवर्ड ओरियण्टल सीरीज, जिल्द ८, पृ० ७५३) ने इसे 'विवाहरथ' के अर्थ में लिया है। किन्तु सायण का अर्थ सदर्भ में ठीक उतरता है। और देखिए तै० स० (६।२।१।१)।[2] मनु (९।११) ने 'पारिणाह्य' (घरेलू सामग्री) का प्रयोग किया है और कहा है कि पत्नी को अन्य बातों के साथ पारिणाह्य पर भी ध्यान रखना चाहिए। शबर के मत में जैमिनि (६।१।१६) ने तैत्तिरीय संहिता के उपर्युक्त कथन द्वारा व्यक्त किया है कि स्त्रियों के पास अपनी सम्पत्ति होती है। मेधातिथि (मनु ८।४१६) ने तै० स० के सदर्भ में यह कहा है कि मनु का यह कथन कि 'पत्नी जो कुछ अर्जित करती है, पति का हो जाता है', यदि शाब्दिक अर्थ में लिया जाय तो श्रुति-वाक्य झूठा पड़ जायगा, वास्तव में मनु का इतना ही कहना है कि यद्यपि स्त्रियाँ स्वामिनी हो सकती हैं, किन्तु स्वतन्त्र रूप से धन का व्यय नहीं कर सकती।[3] इन प्राचीन उक्तियों से प्रकट होता है कि प्रारम्भिक काल में जो वस्तुएँ या सम्पत्ति स्त्रियों के पास रहती थी, वह विवाह-काल की भेंट थी (यथा आभूषण एवं बहुमूल्य परिधान) और थी वे वस्तुएँ जो दिन-प्रति-दिन के घरेलू काम में आती थीं और उन पर स्त्रियों का नियन्त्रण था। आगे चलकर स्त्रियों की कुछ वस्तुओं के विषय में पश्चात्कालीन स्मृतियों ने नियमानुसार व्यवस्थाएँ दे दीं और उन पर स्त्रियों का एक प्रकार का अधिकार घोषित हो गया। इस आरम्भिक स्थिति का परिचय हमें प्रारम्भिक सूत्रों में मिलता है। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।६।१४।९) ने अपने कुछ पूर्ववर्ती लेखकों का मत दिया है (जिसे वह स्वयं स्वीकार नहीं करता और न अनुमोदन करता है) कि आभूषण पत्नी का होता है और वह सम्पत्ति भी उसकी है जिसे वह अपने सम्बन्धियों (पिता, भाई आदि) से पाती है। बौधायन-

[1] सूर्याया वहतुः प्रागात्सविता यमवासृजत्। अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्योः पर्युह्यते॥ तुभ्यमग्रे पर्यवहन् सूर्यां वहतुना सह। पुनः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह॥ ऋग्वेद (१०।८५।१३ एवं ३८)। ये मन्त्र अथर्ववेद में भी हैं, यथा—(१४।१।१३ एवं १४।२।१)।

[2] पत्न्यन्वारभते पत्नी हि पारिणाह्यस्येशे। तै० स० (६।२।१।१)। यह उक्ति आतिथ्येष्टि के समय में कही गयी है।

[3] असति या स्त्रीणां स्वाम्ये पत्न्यन्वारम्भणानुगमनं क्रियते पत्नी वै पारिणाह्यस्येशे इत्यादि श्रुतयो निरालम्बनाः स्युः। अतोऽस्त्यत्वे। पारतन्त्र्यमनेनाभिधायते। असत्या अस्वतन्त्राणां न स्त्रीणां स्वातन्त्र्येण यत्र क्वचिद्धन विनियोक्तव्यम्। मेधातिथि (मनु ८।४१६)।

या पति द्वारा अन्य स्त्री से विवाह के समय जो कुछ प्राप्त किया जाय—ये सभी स्त्रीधन में गिने जाते हैं और जो कुछ स्त्री के सम्बन्धियों द्वारा दिया जाता है, शुल्क एवं विवाहोपरान्त की भेंट।"[9] और देखिए विष्णु० (१७।१८)।

स्मृतियों में कात्यायन ने २७ श्लोकों में स्त्रीधन का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। उन्होंने मनु, याज्ञ०, नारद एवं विष्णु के छः स्त्रीधन-प्रकारों का वर्णन किया है—'विवाह के समय अग्नि के समक्ष जो दिया जाता है उसे बुद्धिमान् लोग अध्यग्नि स्त्रीधन कहते हैं। पति के घर जाते समय जो कुछ स्त्री पिता के घर से पाती है उसे अध्यावहनिक स्त्रीधन कहा जाता है। श्वशुर या सास द्वारा स्नेह से जो कुछ दिया जाता है और श्रेष्ठ जनों को वन्दन करते समय उनके द्वारा जो कुछ प्राप्त होता है उसे प्रीतिदत्त स्त्रीधन कहा जाता है। वह शुल्क कहलाता है जो बरतनों, भारवाही पशुओं, दुधारू पशुओं, आभूषणों एवं दासों के मूल्य के रूप में प्राप्त होता है। विवाहोपरान्त पति-कुल एवं पितृ-कुल के बन्धु-जनों से जो कुछ प्राप्त होता है वह अन्वाधेय स्त्रीधन कहलाता है। भृगु के मत से स्नेहवश जो कुछ पति या माता-पिता से प्राप्त होता है वह अन्वाधेय कहलाता है।' कात्यायन द्वारा प्रस्तुत अध्यग्नि एवं अध्यावहनिक की परिभाषाओं में वे भेंट भी सम्मिलित हैं जो विवाह के समय आगन्तुकों द्वारा प्रदत्त होती हैं। वह सौदायिक कहा जाता है जो विवाहित स्त्री या कुमारी को अपने पति या पिता के घर में मिल जाता है या भाई से या माता-पिता से प्राप्त होता है।

कात्यायन की उपर्युक्त परिभाषाएँ सभी निबन्धों को मान्य हैं। यहाँ तक कि दायभाग ने भी उनका अनुमोदन किया है। कुछ भावान्तर-सम्बन्धी एवं परिभाषा-सम्बन्धी भिन्नताएँ निम्न हैं—मिताक्षरा के अनुसार अध्यावहनिक में वे सभी भेंटें सम्मिलित हैं, जो विवाहित कन्या को विदाई के समय किसी भी व्यक्ति द्वारा प्राप्त होती है, किन्तु दायभाग एवं कुछ अन्य लोगों के मत में इसमें केवल (पैतृकात्) माता-पिता के कुल की भेंटें ही सम्मिलित हैं। विवादरत्नाकर (पृ० ५२३) ने इसके अन्तर्गत उन भेंटों को रखा है जिन्हें वधू पिता के घर लौटते समय अपने श्वशुर आदि से पाती है, विवादचिन्तामणि (पृ० १३८) के मत से यह वह धन है जो द्विरागमन के समय प्राप्त होता है। और देखिए दायभाग (४।३।१९-२०, पृ० ९३), जहाँ 'दोह्याभरण-कर्मिणाम्' को दूसरे ढंग से समझाया गया है, यथा—वह धन जो गृह-निर्माताओं या स्वर्णकारों द्वारा उत्कोच दिया जाय कि स्त्री अपने पति को नयी रचना कराने के लिए प्रेरित करे। व्यास ने इसे यों समझाया है—"यह वह धन है जो किसी स्त्री को इसलिए दिया जाता है कि वह (प्रसन्नतापूर्वक) अपने पति के घर जाने को प्रेरित हो सके।"[8] स्मृतिचन्द्रिका एवं व्यवहारप्रकाश ने शुल्क को उन वस्तुओं का मूल्य[9] माना

७ अध्यग्न्यध्यावहनिकं दत्तं च प्रीतिकर्मणि। भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम्॥ मनु (९।१९४), नारद (दायभाग, ८), पितृमातृपतिभ्रातृदत्तमध्यग्न्युपागतम्। आधिवेदनिकाद्यं च स्त्रीधनं परिकीर्तितम्॥ बन्धुदत्तं तथा शुल्कमन्वाधेयकमेव च। याज्ञ० (२।१४३-१४४)।

८ गृहादिकर्मिभिः शिल्पिभिस्तत्कर्मकरणाय भर्त्राविप्रेरणार्थं स्त्रियै यदुत्कोचदानं तच्छुल्कं तदेव मूल्यं प्रवृत्त्यर्थत्वात्। व्यासोक्तं वा यथा। यदा नेतुं भर्तृगृहे शुल्कं तत परिकीर्तितम्। भर्तृगृहगमनार्थमुत्कोचादि यद्दत्तं तच्च ब्राह्मादिष्वविशिष्टम्। दायभाग (४।३।२०-२१, पृ० ९३)।

९ देखिए विष्णु० (३।३९), याज्ञ० (२।१७३, २६१), वसिष्ठ० (१९।३७), पाणिनि (५।१।४७), ऋग्वेद (१।१०९।२), यास्क (६।९), वनपर्व (११५।२३), अनुशासनपर्व (४।१२, एवं २।३१), मनु (३।५, ३।५४७, अनुशासनपर्व (४६।१-२), वि० चिन्तामणि (पृ० १३९), 'गृहोपस्करादिकरणोपाधिना स्त्रिया गृहपतितो यल्लब्धं तच्छुल्कमित्यर्थः।'

है जिन्हें वर विवाह के समय या गृहारम्भ करते समय दुलहिन को देता है। व्यवहारनिर्णय (पृ० ४५८) ने शुल्क को दो अर्थों में लिया है—(१) वह धन जो कन्या के अभिभावकों को कन्या के मूल्य के रूप में दिया जाय और जिसे कन्या की मृत्यु के उपरान्त माता या भाई ले लेता है, (२) वह धन जो वर द्वारा कन्या को आभूषण एवं गृहोपकरण के मूल्य के रूप में दिया जाता है। कात्यायन (९०४) का कथन है—"उस धन पर, जो स्त्री द्वारा शिल्प आदि के लिए या स्नेहवश किसी अन्य से प्राप्त किया जाता है, पति का स्वामित्व रहता है, अन्य शेष स्त्रीधन कहलाता है।" देखिए दायभाग (४।१।१९, २, पृ० ७९), स्मृतिच० (२, पृ० २८१), पराशरमा० (३, पृ० ५५) एवं म० म० (पृ० १५४)। देवल का कथन है कि वृत्ति (भरण-पोषण), आभूषण, शुल्क, लाभ-ज्याज स्त्रीधन है, केवल स्त्री उसका उपभोग कर सकती है, किन्तु आपत्काल में पति उसका उपभोग कर सकता है, अन्यथा नहीं। मनु (९।२००) का कथन है कि पति के उत्तराधिकारी पति के रहते स्त्रियों द्वारा पहने गये आभूषणों का नहीं बाँट सकते, यदि वे ऐसा करते हैं तो पाप के भागी होते हैं। देखिए व्यवहाररत्नाकर (पृ० ५०९), विवादचिन्तामणि (पृ० १११) एवं वाचस्पत्य (पृ० १८४)। सौदायिक कोई विशिष्ट प्रकार का स्त्रीधन नहीं है। कात्यायन एवं विवादचिन्तामणि की परिभाषा के अनुसार यह शब्द स्त्रीधन के कई प्रकारों का द्योतक है। एक प्रकार से यह स्त्रीधन का ही पर्याय है। अपरार्क एवं स्मृतिच० का कहना है कि यह वह धन है जो विवाहित अथवा अविवाहित स्त्री द्वारा अपने पति अथवा माता के घर में अथवा माता-पिता के सम्बन्धियों से प्राप्त किया जाता है (स्मृतिच० २, पृ० २८२ एवं व्य० र०, पृ० ५११)। दायभाग (४।१।२१, पृ० ७६-७७) एवं विवादचिन्तामणि के मत से सौदायिक में अचल सम्पत्ति को छोड़कर वह सारी सम्पत्ति सम्मिलित है जिसे पत्नी पति से प्राप्त करती है, पत्नी पति की मृत्यु के उपरान्त अचल सम्पत्ति का विघटन नहीं कर सकती। व्यास ने कहा है—"विवाह के समय या उसके उपरान्त स्त्री को अपने पिता या पति से जो कुछ प्राप्त होता है, वह सौदायिक कहलाता है।" दायभाग (४।१।२२, पृ० ७९) के मत से 'सौदायिक' शब्द 'सुदाय' से बना है, जिसका अर्थ है "स्नेही सम्बन्धियों से प्राप्त धन।" अमरकोश में 'सुदाय' को 'यौतक' आदि से प्राप्त भेंट के अर्थ में लिया है। 'यौतक' शब्द का अर्थ क्या है? मनु (९।१३१) ने इसका प्रयोग किया है—"माता का जो यौतक होता है, वह कुमारी कन्या को मिलता है (विवाहित पुत्री या पुत्र को नहीं मिलता है)।" अतः 'यौतक' स्त्रीधन का द्योतक प्रतीत होता है। स्मृतिच० (२, पृ० २८५), मदनरत्न एवं व्य० मयूख का कथन है—"यौतक वह धन है जो स्त्री द्वारा विवाह के समय पति के साथ बैठे रहने पर किसी से प्राप्त होता है।" 'यौतक' शब्द 'युत' (जुड़ा हुआ या सम्मिलित) से बना है। माघ (२।६९) ने इसे 'पृथक् किये हुए' के अर्थ में विशेषण के रूप में लिया है। मेधातिथि (मनु ९।१३१) ने इसे स्त्री का पृथक् धन अर्थात् स्त्रीधन माना है। और देखिए स्मृतिच० (२, पृ० २८५), विवादचिन्तामणि (पृ० १४२) एवं वाचस्पत्य (पृ० १८६)।

कौटिल्य (३।२, पृ० १५२) ने शुल्क, अन्वाधेय, आधिवेदनिक एवं बन्धुदत्त को स्त्रीधन के प्रकारों के रूप में लिया है।

स्मृतियों के वचनों से व्यक्त होता है कि स्त्रीधन एक प्रकार का ऐसा धन है जिसमें पहले छः प्रकार की सम्पत्ति की गणना होती थी और आगे चलकर वह नौ प्रकार का हो गया तथा कात्यायन के समय से उसमें सभी प्रकार की (चल या अचल) सम्पत्ति सम्मिलित हो गयी जिसे कोई स्त्री कुमारी अवस्था में या विवाहित होते समय या विवाह के उपरान्त अपने माता-पिता या कुल या माता-पिता के सम्बन्धियों या पति एवं उसके कुल से (पति द्वारा प्रदत्त अचल सम्पत्ति को छोड़कर) प्राप्त करती है। वह धन जिसे स्त्री विवाहोपरान्त स्वयं (अपने परिश्रम से) अर्जित करती है या बाहरी लोगों से प्राप्त करती है, स्त्रीधन नहीं कहलाता। उपर्युक्त विवेचन स्त्रीधन के पारिभाषिक अर्थ से सम्बन्धित है।

अब हम यह देखना है कि टीकाकारों एवं निबन्धकारों ने किस प्रकार स्त्रीधन की व्याख्या की है। आज के न्यायालयों ने टीकाकारों द्वारा स्थापित मान्यताओं को ही प्रामाणिकता दी है। अतः इस दृष्टि से व्यावहारिक उपयोगिता के लिए उनके दृष्टिकोणों की समीक्षा आवश्यक है। सर्वप्रथम हम मिताक्षरा के मत का उद्घाटन करेंगे। याज्ञ० (२।१४३) की व्याख्या में मिताक्षरा का निम्न कथन है— पिता, माता, पति एवं भ्राता द्वारा जो कुछ दिया जाय, विवाह के समय वैवाहिक अग्नि के समक्ष मामा आदि द्वारा जो कुछ भेंट की जाये, आधिवेदनिक, अर्थात् (पति द्वारा) दूसरी स्त्री से विवाह करते समय जो भेंट दी जाय [जिसका वर्णन आगे के 'उसे अपनी पूर्व पत्नी को देना चाहिए' इन शब्दों की व्याख्या में (याज्ञ० २।१४८) किया जायगा], 'आद्य' (अर्थात् इनके समान अन्य) शब्द से संकेत मिलता है उस धन का जो उत्तराधिकार, क्रय, विभाजन, परिग्रह, उपलब्धि से प्राप्त होता है—मनु आदि ने इसे स्त्रीधन कहा है। 'स्त्रीधन' शब्द यौगिक है न कि पारिभाषिक। जब तक योगसम्भव अर्थ मिले, पारिभाषिक अर्थ का ग्रहण करना अनुचित है।" मिताक्षरा ने स्त्रीधन की परिभाषा विस्तृत कर दी और उसमें उन पाँच सम्पत्ति-प्रकारों को सम्मिलित कर लिया जिन पर गौतम (१०।३९) के मत से व्यक्ति कई प्रकारों से स्वामित्व प्राप्त कर सकता है। स्पष्ट है, मिताक्षरा के मत से किसी भी प्रकार का धन स्त्रीधन की संज्ञा पा सकता है, चाहे वह स्त्री द्वारा किसी पुरुष की विधवा की हैसियत से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हो या माता के रूप में प्राप्त हो, या पत्नी अथवा माता की हैसियत से विभाजन द्वारा प्राप्त हो (याज्ञ० २।११५ या १२३)। 'आद्य' की व्याख्या मदनपारिजात (पृ० ६७१), सरस्वतीविलास (पृ० ३८९), व्यवहारप्रकाश (पृ० ५४०) एवं बालम्भट्टी ने भी मान्य है। किन्तु दायभाग ने 'आद्य' का सीमित अर्थ में रखा है। जीमूतवाहन ने याज्ञ० (२।१४३) में 'आधिवेदनिक' के पश्चात् पढ़ा है और कहा है कि स्त्रीधन मनु (९।१९४) के छः प्रकारों तक ही सीमित नहीं है, प्रत्युत उसमें अन्य स्मृतियों में वर्णित अन्य प्रकार भी सम्मिलित हैं। जीमूतवाहन ने अन्त में कहा है—"वही स्त्रीधन है जिसे दान रूप में देने, विक्रय करने तथा बिना पति के नियन्त्रण के स्वतन्त्र रूप में उपभोग करने में स्त्री का पूर्ण अधिकार है।' दायभाग ने स्वतन्त्र रूप से लेन-देन करने या। य धन के प्रकारों को स्पष्ट रूप से नहीं दिया है, किन्तु स्त्रीधन की परिभाषा करने के उपरान्त ही इसने कात्यायन (शिल्प आदि द्वारा तथा अन्य लोगों की भेंट से प्राप्त धन के विषय में) एवं नारद (४।२८, पति द्वारा जो कुछ प्राप्त हो, उसमें अचल को छोड़कर, वह पति की मृत्यु के उपरान्त भी व्यय आदि कर सकती है) को उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट है कि दायभाग के मत से पति द्वारा प्रदत्त अचल सम्पत्ति को छोड़कर सम्बन्धियों द्वारा दी गयी सभी प्रकार की भेंटें तथा अन्य लोगों से प्राप्त अन्य भेंटें, जो विवाह के समय या विदाई के समय प्राप्त होती हैं, स्त्रीधन के अन्तर्गत मानी जाती हैं। किन्तु वह धन जो स्त्री द्वारा उत्तराधिकार के रूप में या विभाजन से या अन्य लोगों से भेंट के रूप में (उपर्युक्त दो प्रकारों को छोड़कर) या शिल्प आदि कर्मों या परिश्रम से प्राप्त होता है, स्त्रीधन नहीं कहलाता। दायतत्त्व ने दायभाग का अनुसरण किया है।

स्मृतिचन्द्रिका ने स्त्रीधन की परिभाषा नहीं दी है, किन्तु इसने मिताक्षरा द्वारा दी गयी 'आद्य' की व्याख्या स्वीकृत नहीं की है। स्पष्ट है, इसने दायभाग के मार्ग का अनुसरण किया है। पराशरमाधवीय (मद्रास क्षेत्रीय ग्रन्थ) ने, लगता है, मिताक्षरा का अनुसरण किया है, क्योंकि उसमें आया है—"'आद्य में 'आधिवेदनिक' एवं वह धन सम्मिलित है जो उत्तराधिकार, विक्रय आदि से प्राप्त होता है।" विवादचिन्तामणि (मिथिला के प्रामाणिक ग्रन्थ) में स्त्रीधन की सामान्य परिभाषा न देकर मनु, याज्ञ० विष्णु०, कात्या० एवं देवल द्वारा प्रस्तुत स्त्रीधन-प्रकारों का वर्णन किया गया है, अतः वह दायभाग के समान ही है। व्य० मयूख ने स्त्रीधन के दो प्रकार दिये हैं—पारिभाषिक एवं अपारिभाषिक। प्रथम में ऋषियों द्वारा व्यक्त वह धन है जो स्त्रीधन का द्योतक होता है, दूसरे में वह धन है जो विभाजन या शिल्प आदि कर्मों से प्राप्त होता है। वीरमित्रोदय (वाराणसी क्षेत्र के प्रामाणिक ग्रन्थ) ने मिताक्षरा का अनुसरण किया है।

आधुनिक काल के स्त्रीधन-सम्बन्धी विचारों की चर्चा करना यहाँ सम्भव नहीं है। प्रिवी कौंसिल ने बम्बई को छोड़कर अन्य प्रान्तों के लिए मिताक्षरा की स्त्रीधन-सम्बन्धी व्याख्या ठुकरा दी है, अर्थात् उत्तराधिकार एवं विभाजन से प्राप्त धन को स्त्रीधन नहीं माना गया है। कोई स्त्री किसी पुरुष से, यथा पति, पिता या पुत्र से उत्तराधिकार पा सकती है अथवा वह किसी स्त्री से, यथा माता, पुत्री आदि से भी उत्तराधिकार पा सकती है। सम्पत्ति के इन प्रकारों को मिताक्षरा ने स्त्रीधन के अन्तर्गत रखा है, किन्तु प्रिवी कौंसिल ने इस मत को नहीं माना।

कात्यायन (९०३) ने घोषित किया है—"किसी अवसर पर पहनने के लिए या किसी शर्त पर जो कुछ दिया गया हो या पिता, भाई या पति द्वारा छल से जो कुछ दिया गया हो, वह स्त्रीधन नहीं है।"

स्त्रीधन पर अधिकार—स्त्रीधन क्या है और उस पर स्त्री का क्या अधिकार है, यह निम्न तीन बातों पर निर्भर है, सम्पत्ति प्राप्त करने का उद्गम, प्राप्ति के समय उसकी स्थिति (वह कुमारी है या अविवाहित है, सधवा है या विधवा) तथा वह सम्प्रदाय जिसके अनुसार उस पर स्मृति-शासन होता है। इस विषय में कात्यायन एवं नारद के वचन प्रमाण हैं। कात्यायन (९०५-९११) का कथन है—"सौदायिक धन की प्राप्ति पर घोषित किया गया है कि स्त्रियाँ उस पर स्वतन्त्र अधिकार रखती हैं, क्योंकि वह उनके सम्बन्धियों द्वारा इसलिए दिया गया है कि वे दुर्दशा को न प्राप्त हो सकें। ऐसा घोषित है कि विक्रय या दान से सौदायिक सम्पत्ति पर स्त्रियों का पूर्ण अधिकार है, इतना ही नहीं, सौदायिक अचल सम्पत्ति पर भी उनका अधिकार है। विधवा हो जाने पर वे पति द्वारा दी गयी चल भेंटों को मनोनुकूल व्यय कर सकती हैं, किन्तु उन्हें जीवित रहते हुए उसकी रक्षा करनी चाहिए या वे कुल के लिए व्यय कर सकती हैं। किन्तु पति या पुत्र और पिता या भाइयों को किसी स्त्री के स्त्रीधन को व्यय करने या विघटित करने का अधिकार नहीं है।" इससे प्रकट है कि कुमारी हिन्दू स्त्री सभी प्रकार के स्त्रीधन का उपभोग मनोनुकूल कर सकती है, विधवा स्त्री पति द्वारा प्रदत्त अचल सम्पत्ति को छोड़कर सभी प्रकार के स्त्रीधन का लेन-देन कर सकती है, किन्तु सधवा स्त्री केवल सौदायिक (पति को छोड़कर अन्य लोगों से प्राप्त दान) को ही मनोनुकूल स्वेच्छा से व्यय कर सकती है। आजकल सौदायिक एवं असौदायिक का अन्तर ज्यों-का-त्यों सम्मान्य है, किन्तु पति द्वारा दिये गये सौदायिक एवं अन्य द्वारा दिये गये सौदायिक के अन्तर को मान्यता नहीं मिली है। पति के रहते आजकल स्त्री का अधिकार स्त्रीधन की विशेषता पर निर्भर है। यदि वह सौदायिक है तो उसे स्त्री विक्रय, दान या स्वेच्छा से बिना पति की सहमति के विघटित कर सकती है, किन्तु शिल्प आदि से प्राप्त धन तथा अन्य लोगों से प्राप्त दान-भेंट आदि स्त्रीधन के अन्य प्रकार बिना पति की आज्ञा के वह नहीं दे सकती। दायभाग (४।१।२०) के मत से शिल्पादि से प्राप्त धन या अन्य लोगों से प्राप्त भेंट-दान पति के जीवित रहते पति के अधिकार में रहते हैं और पति उनका उपभोग विपत्ति में न रहने पर भी कर सकता है। ऐसे धन पर पति के अतिरिक्त किसी अन्य का अधिकार नहीं होता। पति की मृत्यु के उपरान्त स्त्री असौदायिक स्त्रीधन को स्वेच्छा से व्यय कर सकती है। कुछ परिस्थितियों में पति को सौदायिक स्त्रीधन पर भी अधिकार प्राप्त है। याज्ञ० (२।१४७) का वचन है—"दुर्भिक्ष, धर्मकार्य, व्याधि में या बन्दी (ऋणदाता, राजा या शत्रु द्वारा) बनाये जाने पर पति यदि स्त्रीधन का व्यय करे तो उसे लौटाने के लिए उसे बाध्य नहीं किया जा सकता।" यही बात कात्यायन (९१४) ने भी कही है। कौटिल्य (३।२) ने याज्ञवल्क्य के समान ही व्यवस्था दी है और इतना जोड़ दिया है कि स्त्री अपनी जीविका के लिए या अपने पुत्र या पुत्रवधू के जीविका-साधन में व्यय कर सकती है, या जब पति कुछ व्यवस्था किये बिना ही बाहर चला गया हो तो वह ऐसा कर सकती है। कौटिल्य (३।२ पृ० १५२) ने कुछ और बातें दी हैं, जो यह सिद्ध करती हैं कि उनकी उक्तियाँ स्त्रीधन के ऊपर पति के अधिकार की प्रारम्भिक अवस्था की द्योतक हैं। पश्चात्कालीन स्मृतियों ने पति एवं पत्नी की सम्पत्तियों को पृथक्-पृथक् माना है। पति के ऋण पत्नी को नहीं चुकाने पड़ते और न पत्नी के ऋण पति को चुकाने पड़ते हैं, ऐसा एक सामान्य नियम है (याज्ञ० २।४६ एवं विष्णु० ६।३१-३२)। कुछ

अवस्थाओं मे इन्हीं स्मृतियों ने कुछ छूट भी दी है। इस विषय मे देखिए याज्ञ० (२।१४७), मनु (८।२९)। स्त्रीधन को यदि पति, पुत्र, माता एव भाई बलवश ले ले या उसका किसी प्रकार उपयोग कर लें तो उन्हे व्याज के साथ उसे लौटाना पडता है। केवल दु खप्रद परिस्थितियो आदि मे ही उसका उपयोग हो सकता है। देखिए कात्यायन (अपरार्क पृ० ७५५, दायभाग ४।८।२४, पृ० ७८, स्मृतिच० २, पृ० २८२), देवल (स्मृतिच० २, पृ० २८३, अपरार्क पृ० ७५५, व्य० मयूख प० १५६)। कात्यायन (९०८) ने एक विशेष नियम दिया है—"यदि किसी की दो पत्नियाँ हो और उनमे एक उपेक्षित हो तो उसको उसका स्त्रीधन लौटा देना पडता है, राजा को चाहिए कि वह ऐसा करने मे उसकी सहायता करे, भले ही उसने (उपेक्षिता पत्नी ने) अपने पति को प्रेमवश वह धन दे दिया हो।"

कात्यायन (९१६) ने एक विशेष नियम दिया है—"यदि पति स्त्रीधन देने की प्रतिज्ञा कर ले तो उसकी मृत्यु के उपरान्त उसके पुत्र (अपने पुत्र या विमाता-पुत्र) को उसे ऋण के रूप मे चुकाना चाहिए, किन्तु ऐसा तभी होता है जब कि विधवा पति के कुल मे ही रहे और अपने मैके मे न जाय।' स्मृतिचन्द्रिका एव व्यवहारप्रकाश (पृ० ५४६) ने कहा है कि पौत्रो एव प्रपौत्रो को भी इसी प्रकार पितामह एव प्रपितामह द्वारा प्रतिश्रुत स्त्रीधन ऋण के रूप मे लौटाना चाहिए। यदि स्त्री दुश्चरित्र हो, व्यभिचार मे धन का अपव्यय करती हो तो व्य० प्र० एव वि० चि० के मत से उसका स्त्रीधन छीन लेना चाहिए।

स्त्रीधन का उत्तराधिकार—इस विषय मे हिन्दू व्यवहार-शास्त्र मे बहुत-से मत मतान्तर पाये जाते है। किन्तु एक बात मे सबका मत एक है, स्त्रीधन का उत्तराधिकार सर्वप्रथम कन्याओ को प्राप्त होना चाहिए, अर्थात् कन्याओ को पुत्रो की अपेक्षा वरीयता मिलनी चाहिए। किन्तु आगे चलकर कुछ लेखको ने पुत्रो को कन्याओ के साथ जोड दिया और कुछ स्त्रीधन-प्रकारो मे पुत्रो को वरीयता दे दी। इसका सम्भवत कारण यह था कि आगे चलकर स्त्रीधन का विस्तार हो गया और लोगो को यह बात नहीं रुची कि स्त्रियो को लम्बी सम्पत्ति मिले। इस विषय मे लोकाचार एव काल-क्रम का विशेष हाथ रहा है। निबन्धो ने बहुधा कहा है कि उनकी व्याख्या लोकाचार पर भी निर्भर रहती है। स्त्रीधन के उत्तराधिकार की भिन्नता स्त्री के विवाहित होने या न होने, या अननुमोदित या अनुमोदित विवाह-प्रथा से विवाहित होने तथा स्त्रीधन के प्रकार या व्यवहार-शाखा पर अवलम्बित है।

सर्वप्रथम हम स्मृति-वचनो पर ध्यान दें। यह प्राचीनतम उक्ति गौतम (२८।२२) की है—"स्त्रीधन (सर्व-प्रथम) पुत्रियो को मिलता है, (प्रतियोगिता होने पर) कुमारी कन्याओ को वरीयता मिलती है तथा विवाहितो मे उसको जो निधन होती है, वरीयता मिलती है।" मनु (९।१९२-१९३) का कथन यो है—"माता के मर जाने पर सगे भाई एव बहिनें उसकी सम्पत्ति समान रूप से बाँट लेते हैं। स्नेहानुकूल उन पुत्रियो की पुत्रियो को भी मिलना चाहिए।" मनु (९।१९५) का कथन है कि स्त्रीधन के छ प्रकार, अन्वाधेय स्त्रीधन, पति-प्रदत्त स्नेह-दान पति के रहते मर जाने पर सन्तानो को मिलने चाहिए। मनु (९।१९२-१९३) को टीकाकारो ने कई ढग से लिया है, सर्वज्ञ-नारायण के मत मे माता की सम्पत्ति का अर्थ है पारिभाषिक स्त्रीधन के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति। बहुत से टीकाकारो ने बृहस्पति का अनुसरण करते हुए कहा है कि सगा भाई एव कुमारी बहिनें साथ-साथ उत्तराधिकार पाते हैं, विवाहित बहिनें (अर्थात् स्त्री की कन्याएँ जिनके उत्तराधिकारी होते हैं) केवल थोडा (कुल्लूक के मत से भाइयो का एक-चौथाई भाग) पाती हैं। मनु (९।१९६-१९७) ने व्यवस्था दी है कि जब स्त्री ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य एव गान्धर्व नामक विवाह-प्रकारो मे विवाहित होती है और सन्तानहीन मर जाती है तो स्त्रीधन पति को मिल जाता है, किन्तु यदि उसका विवाह आसुर या अन्य दो विवाह-प्रथाओ के अनुसार होता है तो सन्तानहीन होने पर उसका धन उसके माता-पिता को मिल जाता है। याज्ञ० (२।११७) के अनुसार कन्याएँ माता का धन पाती हैं और उनके अभाव मे पुत्रो का अधिकार होता है। याज्ञ० (२।१४४) ने पुन कहा है कि स्त्रीधन कन्याओ को मिलता है किन्तु यदि स्त्री सन्तानहीन मर जाती है तो स्त्रीधन

पति को मिल जाता है (यदि विवाह ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य नामक विवाह-प्रकारों से हुआ हो), किन्तु अन्य चार प्रकार के विवाहों वाली स्त्री के मर जाने पर उसका धन माता-पिता को प्राप्त हो जाता है। यही बात विष्णु (१७।१९-२१) एवं नारद (दायभाग ९) में भी पायी जाती है। किन्तु नारद ने अन्यत्र (दायभाग २) यह कहा है कि माता का धन कन्याओं में बाँटना चाहिए और उनके अभाव में उनकी सन्तानों को मिलना चाहिए। शंख-लिखित ने घोषणा की है कि माता की सम्पत्ति सगे भाइयों (मृत माता के अपने पुत्रों) एवं उनकी कुमारी बहिनों को बराबर-बराबर भाग में मिलनी चाहिए। बृहस्पति का कथन है कि स्त्रीधन सन्तानों को मिलता है, किन्तु कुमारी कन्याओं को वरीयता मिलती है, विवाहित कन्याओं को स्नेह के रूप में थोड़ा-सा मिलता है। पराशर के मत से कुमारी कन्याओं को सम्पूर्ण स्त्रीधन मिल जाता है, किन्तु उनके अभाव में विवाहित कन्याएँ एवं पुत्र बराबर-बराबर बाँट लेते हैं। देवल का कहना है कि स्त्री की मृत्यु पर पुत्र एवं पुत्रियाँ स्त्रीधन को समान रूप से बाँट लेते हैं, यदि सन्तान न हो तो स्त्रीधन पति, माता, भ्राता या पिता को मिल जाता है। पराशर (परा॰ मा॰ ३, ५५२) के मत से स्त्रीधन कुमारी कन्या को मिल जाता है, पुत्र कुछ नहीं पाता, किन्तु उसे विवाहित कन्याओं के साथ बराबर भाग मिल जाता है। कौटिल्य (३।२, पृ॰ १५३) का कथन है कि सधवा रूप में मर जाने पर पुत्र एवं पुत्रियाँ स्त्रीधन बाँट लेते हैं, पुत्र के अभाव में पुत्रियाँ बाँट लेती हैं, पुत्रों एवं पुत्रियों के अभाव में पति ले लेता है, किन्तु शुल्क, अन्वाधेय एवं स्त्रीधन के अन्य प्रकार (सम्बन्धियों से जो प्राप्त होते हैं) सम्बन्धियों को मिल जाते हैं। कात्यायन (९१२-९२) ने विस्तार के साथ स्त्रीधन के विषय में लिखा है, स्त्रीधन के उत्तराधिकार के बारे में यह लिखा है—"सधवा बहिनों को भाइयों के साथ स्त्रीधन का भाग लेना चाहिए, यही स्त्रीधन एवं विभाजन के विषय में कानून है। पुत्रियों के अभाव में पुत्रों को स्त्रीधन मिलता है। सम्बन्धियों द्वारा प्रदत्त उनके (सम्बन्धियों के) अभाव में पति को मिलता है। जो कुछ अचल सम्पत्ति माता-पिता द्वारा पुत्री को दी जाती है, वह उसकी मृत्यु के उपरान्त सन्तान के अभाव में भाई को हो जाती है। आसुर से लेकर बाद के विवाहों वाली स्त्री को माता-पिता द्वारा जो कुछ प्राप्त होता है, वह उसके सन्तानहीन होने पर माता-पिता को मिल जाता है (सब स्मृतिच॰ २, पृ॰ २८६ एवं दायभाग ४।२।२८, पृ॰ ८८)। प्रथम दो श्लोक विरोधी बातें कहते हैं और हमें उन्हें गौतम (२८.२२) की संगति में पढ़ना चाहिए। सम्भवतः कात्यायन ने निम्न बातें कही हैं—(१) कुमारी कन्या को वरीयता मिलती है, (२) यदि कोई कुमारी कन्या न हो, तो विवाहित सधवा कन्याएँ अपने भाइयों के साथ-साथ भाग पाती हैं, (३) यदि पुत्र न हो या विवाहित सधवा पुत्रियाँ न हों तो विधवा पुत्रियों को स्त्रीधन मिलता है, (४) पितृपक्ष एवं मातृपक्ष के सम्बन्धियों द्वारा प्रदत्त उन्हीं को प्राप्त होता है और उनके अभाव में पति पाता है, (५) सन्तानहीन होने पर माता-पिता द्वारा प्रदत्त अचल सम्पत्ति भाई को प्राप्त होती है, (६) आसुर, राक्षस एवं पैशाच विवाहों वाली स्त्री के सन्तानहीन होने पर स्त्रीधन माता-पिता को प्राप्त हो जाता है।

अब हम टीकाओं की उक्तियों का विवेचन करेंगे। सभी ने स्त्रीधन के कुछ प्रकारों के लिए पुत्रियों को पुत्रों की अपेक्षा वरीयता दी है। पुरुष की सम्पत्ति एवं स्त्री के उत्तराधिकार के विषय में जो विभिन्नता पायी जाती है, उसके विषय में अर्थात् उसके कारण के विषय में कहीं भी कुछ स्पष्ट नहीं कहा गया है। मिताक्षरा (याज्ञ॰ २।११७) में यह कहा है कि पुत्री में पुत्र की अपेक्षा माता के शरीर का अंश अधिक रहता है, अतः उसे स्त्रीधन की प्राप्ति में वरीयता मिली है। सम्भवतः इसका कारण यह है कि जब पुत्र अपने पिता की सम्पत्ति में अपनी बहिनों को उत्तराधिकार नहीं देते तो पुत्रियों को भी स्त्रीधन की प्राप्ति में वैसा अधिकार मिलना चाहिए।

मिताक्षरा के अनुसार स्त्रीधन के उत्तराधिकार की दो शाखाएँ हैं, एक शुल्क के विषय में, दूसरी स्त्रीधन के अन्य प्रकारों के लिए। मिताक्षरा ने गौतम का उल्लेख करते हुए व्यवस्था दी है कि शुल्क सर्वप्रथम सहोदरों (सगे

भाइयो) को मिलना चाहिए और उनके अभाव मे माता को। कुछ टीकाओ, यथा—सुबोधिनी, दीपकलिका, हरदत्त (गौतम २८।२३) आदि ने व्यवस्था दी है कि शुल्क पहले माता को मिलता है और उसके अभाव मे सहोदरों (सगे भाइयो) को मिलना चाहिए, किन्तु दायभाग (४।३।२८, पृ० ९५), परा० मा०, व्य० प्र०, वि० चि० ने मिताक्षरा का अनुसरण किया है। यह आश्चर्य है कि मदनपारिजात (पृ० ६६८) ने, जिसे सुबोधिनी के लेखक ने अपने आश्रय-दाता मदनपाल के नाम से लिखा है, व्यवस्था दी है कि शुल्क सर्वप्रथम भाइयो को मिलता है और उनके अभाव मे माता को। क्या सुबोधिनी की मुद्रित प्रति अशुद्ध है या लेखक ने अपना मत परिवर्तित कर दिया है?

कुमारी की सम्पत्ति के उत्तराधिकार के विषय मे मिताक्षरा तथा अन्य लेखको के मतो मे कोई अन्तर नही है। मिताक्षरा ने बौधायन का उल्लेख करके कहा है कि कन्या के मृत हो जाने पर सर्वप्रथम सगे भाइयो को उसका धन मिलता है और तब माता और उसके उपरान्त पिता को मिलता है। व्य० प्र० ने जोड दिया है कि पिता के अभाव मे कन्या का धन निकटतम सपिण्ड को मिलता है। याज्ञ० (२।१४६) का कथन है कि यदि विवाह के लिए प्रतिश्रुत हो जाने पर विवाह के पूर्व कन्या मर जाती है तो होनेवाले वर को शुल्क या अन्य भेंटे वापस मिल जाती हैं, किन्तु उसे कन्या के कुल के व्यय एव अपने व्यय को घटा देने का अधिकार प्राप्त है।

कुमारी कन्या के धन एव शुल्क को छोडकर अन्य प्रकार के स्त्रीधन के उत्तराधिकार का क्रम मिताक्षरा ने यो दिया है—(१) कुमारी (अविवाहित) कन्या, (२) निर्धन विवाहित पुत्री, (३) धनी विवाहित पुत्री, (४) पुत्री की कन्याएँ, (५) पुत्री का पुत्र, (६) सब पुत्र, (७) पौत्र, (८) पति (यदि स्त्री का विवाह अनुमोदित चार विवाह-प्रकारो मे हुआ हो), (९) सन्निकटता के अनुसार पति के सपिण्ड, पति के सपिण्ड के अभाव मे माता, तब पिता और (राजा को मिलने के पूर्व) पिता के सपिण्ड। किन्तु यदि विवाह किसी अननुमोदित विवाह-प्रकार मे हुआ है तो सन्तानो के अभाव मे स्त्रीधन माता को मिलता है, माता के अभाव मे पिता को, पिता के अभाव मे उसके निकटतम सपिण्डो को क्रम से मिलता है। पिता के सपिण्डो के अभाव मे स्त्री के पति को तथा पति के अभाव मे (राजा को मिलने के पूर्व) पति के सपिण्डो को मिलता है। जब विभिन्न पुत्रियो से उत्पन्न पुत्रियो मे उत्पन्न पोतियाँ (प्रपौत्रिया) अपनी पितामही की सम्पत्ति सीधे रूप से पाती हैं तो उन्हे समवाय रूप मे रिक्थ मिलता है (गौतम २८।१५)। मिताक्षरा (याज्ञ० २।१४५), अपरार्क (पृ० ७२१) आदि ने व्यवस्था दी है (मनु ९।१९८=अनुशासन-पर्व ४७।२५ के अनुसार) कि यदि किसी नीच जाति की स्त्री सन्तानहीन मर जाती है तो उसकी उच्चतर जाति वाली सौत की पुत्री को उसका स्त्रीधन मिलता है, उसके अभाव मे उसके पुत्र को मिल जाता है।

यह विचारणीय है कि स्त्रीधन के उत्तराधिकार के विषय मे पुरुष-धन के उत्तराधिकार से सम्बन्धित प्रति-निधित्व का नियम नही लागू होता। जब कोई व्यक्ति अपनी पृथक् सम्पत्ति छोडकर मर जाता है तो उसके पुत्र एव पौत्र (किसी मृत पुत्र का पुत्र) एक साथ उत्तराधिकारी होते हैं, यहाँ पौत्र अपने मृत पिता का प्रतिनिधित्व करता है। किन्तु जब स्त्रीधन वाली स्त्री मर जाती है, और उसे केवल एक पुत्र एव एक पौत्र (मृत पुत्र का पुत्र) हो तो पुत्र को सम्पूर्ण स्त्रीधन मिल जाता है और पौत्र को कुछ नही मिलता।

विभिन्न स्मृति-सम्प्रदायो द्वारा उपस्थापित विभिन्न मतो की व्याख्या करना न तो सम्भव है और न यहाँ आव-श्यक ही है। दो-एक प्रमुख बातो के लिए देखिए स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० २८४-२८७), विवादचिन्तामणि (पृ० १४३), व्यवहारमयूख (पृ० १५७-१६१)। दायभाग सम्प्रदाय मे दायभाग एव श्रीकृष्ण के दायक्रमसग्रह के मत से शुल्क का उत्तराधिकार-क्रम यो है—(१) सगा भाई (सोदर्य), (२) माता, (३) पिता, (४) पति। यौतक का उत्तराधिकार-क्रम यह है—(१) विवाहित एव वाग्दत्त पुत्रियाँ, (२) वाग्दत्त पुत्रियाँ, (३) विवाहित पुत्रियां, जिन्हें पुत्र हो या पुत्र होनेवाले हो, (४) वन्ध्या विवाहित एव विधवा पुत्रियाँ, जो समान भाग पाती है, (५) पुत्र,

अध्याय ३१

जीवन-वृत्ति (भरण-पोषण) तथा अन्य विषय

आधुनिक हिन्दू व्यवहार मे भरण-पोषण का विषय बहुत ही महत्त्वपूर्ण रहा है। अत इस विषय मे स्मृतियो एव निबन्धो द्वारा निर्धारित व्यवहार की चर्चा आवश्यक है।

कुछ व्यक्तियो के भरण-पोषण के उत्तरदायित्व का उदय प्राचीन व्यवहार के अन्तर्गत दो ढगो से होता है, (१) दोनो दलो मे केवल सम्बन्ध के कारण, या (२) सम्पत्ति-प्राप्ति की स्थिति के कारण। मेधातिथि (मनु ३।७२, ४।२५१) एव मिताक्षरा (याज्ञ० १।२२४, २।१७५) द्वारा उद्धृत एव मनुस्मृति की कुछ पाण्डुलिपियो मे (११। १० के उपरान्त) पाये जानेवाले एक श्लोक मे आया है—"मनु ने घोषित किया है कि एक सौ बुरे कर्मो के सम्पादन से भी वृद्ध माता-पिता, साध्वी पत्नी एव शिशु का भरण-पोषण करना चाहिए।"[१] इसमे स्पष्ट है कि चाहे सम्पत्ति हो या न हो, पिता का यह कर्तव्य है कि वह शिशु का पालन करे, पति का यह कर्तव्य है कि वह अपनी पतिव्रता स्त्री का भरण-पोषण करे और पुत्र का यह कर्तव्य है कि वह अपने वृद्ध माता-पिता का मवधन करे। बौधायन ने तो यहाँ तक कह डाला है कि पतित माता का भी भरण-पोषण करना पुत्र का कर्तव्य है।[२] यही बात आप०धर्मसूत्र (१।१०-२८।९) एव वसिष्ठ (१३।४७) ने भी कही है। मनु (८।३८९) ने व्यवस्था दी है कि यदि माता-पिता, पत्नी एव पुत्र पतित न हो और उन्हे कोई छोड दे या उनका भरण-पोषण न करे तो उसको राजा द्वारा ६०० पणो का दण्ड देना चाहिए। नारद ने भी ऐसे पति के लिए दण्ड-व्यवस्था दी है। याज्ञ० (१।७६) का कथन है कि यदि कोई अपनी आज्ञाकारिणी, परिश्रमी, पुत्रवती एव मृदुभाषिणी पत्नी को छोड देता है, तो उसे सम्पत्ति का एक-तिहाई भाग देना चाहिए और यदि सम्पत्ति न हो तो उसके भरण-पोषण का प्रबन्ध करना चाहिए। विष्णु० (५।१६३) के मत से उस व्यक्ति को चोर का दण्ड मिलना चाहिए, जो अपनी निरपराध पत्नी को छोड देता है। कौटिल्य (२।१) ने उस पर १२ पणो का दण्ड लगाया है जो अपने अपतित बच्चो, पत्नी, माता-पिता, छोटे भाइयो एव बहिनो, कुमारी कन्याओ, विधवा पुत्रियो का भरण-पोषण नही करता। आज भी इन वचनो को मूल्य दिया गया है।

सयुक्त परिवार के व्यवस्थापक का यह वैधानिक कर्तव्य है कि वह कुल के सभी सदस्यो एव उनकी पत्नियो तथा बच्चो के जीविका-साधन का प्रबन्ध करे। नारद का कथन है कि यदि सयुक्त परिवार के कतिपय सदस्यो मे कोई सन्तानहीन मर जाय या सन्यासी हो जाय तो अन्य सदस्य उसका भाग पा जाते हैं और उसकी पत्नियो की मृत्यु

१ वृद्धौ च मातापितरौ साध्वी भार्या सुत शिशु । अप्यकार्यशत कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत् ॥ मेधा० (मनु ४।२५१), मिता० (याज्ञ० २।१७५)।

२ पतितामपि तु मातर बिभृयादनभिभाषमाण । बौ० ध० सू० (२।२।४८), पतित पिता परित्याज्यो माता तु पुत्रे न पतति । वसिष्ठ० (१३।४७), अत्याज्या माता च पिता सपिण्डा गुणवन्त सर्वे वात्याज्या । यस्त्यजेत् कामदपतितान् स दण्ड प्राप्नुयाद् द्विगुण शतम्। शखलिखित (अपरार्क पृ० ८२३, याज्ञ० २।२३७ पर)।

तक उनके भरण-पोषण का प्रबन्ध करते हैं किन्तु ऐसा तभी होता है जब कि पत्नियाँ सदाचारिणी होती हैं अन्यथा नहीं (स्मृतिच० २, पृ० २९२ व्य० प्र० पृ० ५१६)। कात्यायन (९२२) का कथन है कि पति के मरने पर संयुक्त परिवार वाली पत्नी को भोजन-वस्त्र मिलना चाहिए या उसे मृत्यु पर्यन्त सम्पत्ति का एक भाग मिलना चाहिए। भारतीय उच्च न्यायालयों ने भी इस नियम का अनुसरण किया है। इसी प्रकार उक्त उत्तराधिकारी का यह कर्तव्य है कि वह उन लोगों का भरण-पोषण करे जिन्हें मृत व्यक्ति नैतिकता एवं वैधानिकता की दृष्टि से पालित-पोषित करने के लिए उत्तरदायी था। जो लोग रिक्थ एवं विभाजन से वंचित रहते हैं वे तथा उनकी पत्नियाँ एवं कुमारी कन्याएँ भरण-पोषण की अधिकारिणी होती हैं। देखिए याज्ञ० (२।१४०-१४२) मनु (९।२०२) एवं वसिष्ठ (१७।५४)। बौधा० (२।२।४३-४६) ने व्यवस्था दी है कि जो लोग बूढ़े हैं, जन्मान्ध, मूर्ख, क्लीब, बुरा कर्म करनेवाले एवं असाध्य रोग से पीड़ित तथा निषिद्ध कर्मों में रत रहते हैं उन्हें भोजन-वस्त्र मिलना चाहिए, किन्तु पतित एवं उसकी सन्तान को नहीं। यही बात दूसरे ढंग से देवल ने भी कही है (व्य० मयूख पृ० १६६)।

बात वास्तव में यह है और यही सामान्य सिद्धान्त भी है कि जिसकी सम्पत्ति उत्तराधिकार के रूप में ली जाती है उसके उत्तरदायित्व का बोझ भी ग्रहण करना होता है अर्थात् नव उत्तराधिकारी को उनके आश्रितों के भरण-पोषण का प्रबन्ध करना पड़ता है। उदाहरणार्थ यदि पैतृक सम्पत्ति न हो तो श्वशुर अपनी स्वार्जित सम्पत्ति द्वारा वैधानिक रूप से पतोहू (मृत पुत्र की विधवा) के भरण-पोषण के लिए उत्तरदायी नहीं है किन्तु उसकी मृत्यु के उपरान्त उसके उत्तराधिकारी अर्थात् कोई पुत्र, विधवा या पुत्री का यह कर्तव्य है कि वे विधवा पतोहू की जीविका चलायें।

जीवन-भरण के अधिकार पर व्यभिचार का क्या प्रभाव पड़ता है? इस विषय में पत्नी के अधिकार के बारे में देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २, अध्याय ११। मनु (११।१७५) के मत से व्यभिचारिणी पत्नी पति द्वारा अपने घर में बन्दी बना ली जाती है और उसे वही प्रायश्चित्त करना पड़ता है जो व्यभिचारी पुरुष के लिए व्यवस्थित है। याज्ञ० (१।७०) का कहना है कि व्यभिचारिणी पत्नी अपना पत्नीत्व खो बैठती है, उसकी सम्पत्ति छीन ली जाती है और उसे धार्मिक कृत्यों से वंचित होना पड़ता है, उसे केवल भरण-पोषण मिलता है तथा घर के किसी भाग में बन्द रहना पड़ता है। कुछ परिस्थितियों में व्यभिचार के कारण हिन्दू व्यवहार के अन्तर्गत हिन्दू विधवा को जीविका से भी हाथ धोना पड़ता है। वसिष्ठ (२१।१०) ने व्यवस्था दी है कि निम्न चार कोटियों की पत्नियों को त्याग देना चाहिए—वह जो पति के शिष्य या गुरु से संभोग कराये या वह जो पति की हत्या करने का प्रयत्न करे या वह जो किसी नीच जाति के व्यक्ति से व्यभिचार कराये। वसिष्ठ (२१।१२) ने यह भी कहा है कि यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य की पत्नियाँ किसी शूद्र से संभोग करायें तो यदि उन्हें सन्तानोत्पत्ति न हुई हो तो वे प्रायश्चित्त द्वारा पवित्र की जा सकती हैं। याज्ञ० (१।७२) का कथन है कि यदि तीन उच्च वर्णों की नारी शूद्र से व्यभिचार कराकर गर्भिणी हो जाय या गर्भपात करा दे या पति की हत्या का प्रयत्न करे या महापाप (ब्रह्म-हत्या, सुरापान आदि) करे तो उसे त्याग देना चाहिए। मनु (११।१८८) ने व्यवस्था दी है कि यदि स्त्री पतित हो जाय तो घटस्फोट कराना चाहिए। किन्तु उसे भोजन-वस्त्र मिलना चाहिए और कुल-गृह के पास एक झोपड़ी में उसे रखना चाहिए। यही बात याज्ञ० (३।२९६) ने भी कही है। इन सबको प्रायश्चित्त कर लेने के उपरान्त सामाजिक सुविधाएँ प्राप्त हो जाती हैं। देखिए मनु (११।१८९) एवं मिताक्षरा (याज्ञ० १।७२)।

याज्ञवल्क्य (३।२९७) के मत से स्त्रियों के विषय में तीन विशिष्ट महापातक हैं—नीच जाति से व्यभिचार कराना, गर्भपात कराना एवं पति-हत्या का प्रयत्न करना। मिताक्षरा ने इस उक्ति की व्याख्या करते हुए निम्न बातें कही हैं—(१) वसिष्ठ (२१।१०) द्वारा व्यवस्थित वध-विधि (अर्थात् चार महापातकों के कारण स्त्री का पूर्ण

त्याग हो जाता है) तभी कार्यान्वित होती है जब स्त्री प्रायश्चित्त नहीं करती, (२) व्यभिचार कराने पर (जब कि वह बहुत घृणित न हो, जैसा कि वसिष्ठ० २१।१० में उल्लिखित है) स्त्री को केवल उतना ही भोजन दिया जाना चाहिए जिससे कि वह जीवित रह सके और उसे घर के पास किसी झोपड़ी में सुरक्षित रखना चाहिए (याज्ञ० १।७० एवं ३।२९६), भले ही वह आवश्यक प्रायश्चित्त न करे। किन्तु मिताक्षरा उस विधवा के भरण-पोषण के विषय में मौन है, जिसने पहले व्यभिचार का जीवन व्यतीत किया किन्तु आगे चलकर जिसने अपना जीवन सुधार लिया। किन्तु मनु (११।१८९) के कथन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उस विधवा को, जिसने घृणित व्यभिचार न किया हो, आगे चलकर जिसने उचित प्रायश्चित्त कर लिया हो और जो अब अनिन्दित जीवन व्यतीत कर रही हो, साधारण भरण-पोषण का अधिकार मिल सकता है।

आरम्भिक काल से ही तीन उच्च जातियों के व्यक्तियों द्वारा शूद्रा रखैल से उत्पन्न अवैधानिक संतानों के भरण-पोषण का अधिकार स्वीकृत रहा है। गौतम (२८।३७) का कथन है—"किसी व्यक्ति की शूद्रा नारी से उत्पन्न पुत्र को, यदि वह सन्तानहीन हो एवं आज्ञाकारी हो, भरण-पोषण उसी प्रकार मिलना चाहिए जैसा कि शिष्य को मिलता है।" यही बात गौतम (२८।४२) ने प्रतिलोम विवाहों से उत्पन्न संतानों के लिए भी कही है। मनु (९।१५५) ने उस पुत्र को, जो तीन उच्च वर्णों के पुरुष की अविवाहिता शूद्रा से उत्पन्न हुआ है, पैतृक सम्पत्ति के भाग का अधिकारी नहीं माना है। बृहस्पति का कथन है कि यदि पुत्रहीन व्यक्ति को शूद्रा से अपना पुत्र हो तो उसे भरण-पोषण मिलना चाहिए, किन्तु मृत की सम्पत्ति सपिण्डों को मिल जाती है। मिताक्षरा एवं व्य० मयूख ने याज्ञ० (२।१३३-१३४) की व्याख्या में कहा है कि दासी शूद्रा से उत्पन्न अवैधानिक पुत्र को पिता की इच्छा से या मरने के उपरान्त भी आधी सम्पत्ति नहीं मिलनी चाहिए, उसे केवल भरण-पोषण का अधिकार प्राप्त होता है।

उपर्युक्त कथन के विषय में बहुत से आधुनिक निर्णय हैं, किन्तु हम उनका विवेचन यहाँ नहीं करेंगे। भरण-पोषण का अधिकार लोकप्रसिद्ध पिता की (जिससे अवैधानिक पुत्र उत्पन्न होता है) पृथक् सम्पत्ति पर ही सर्वप्रथम निर्भर है, किन्तु यदि पिता संयुक्त परिवार के सदस्य के रूप में ही मृत हो जाता है तो उसके अवैधानिक पुत्र को संयुक्त सम्पत्ति में से भरण-पोषण का अधिकार मिलता है। यह कोई आवश्यक नहीं है कि स्त्री दासी हो या स्थायी रूप में रखैल (उपपत्नी) हो। संभोग-सम्बन्ध व्यभिचार का द्योतक हो तब भी आजकल उससे उत्पन्न पुत्र को भरण-पोषण मिलता है। अवैधानिक पुत्र का भरण-पोषण-सम्बन्धी अधिकार व्यक्तिगत होता है, उसका स्थानान्तरण उसके पुत्र को नहीं होता। इतना ही नहीं, भरण-पोषण का अधिकार मृत्यु पर्यन्त रहता है, न कि बालिग होने तक। किन्तु बंगाल में दूसरा ही कानून है। स्मृति-वचनों में 'शूद्रापुत्र' शब्द पुल्लिंग है अतः वहाँ भरण-पोषण-सम्बन्धी हिन्दू व्यवहार में अवैधानिक पुत्री को भरण-पोषण का अधिकार नहीं प्राप्त रहा है।

हिन्दू व्यवहार के अन्तर्गत रखैल के भरण-पोषण-सम्बन्धी अधिकार के विषय में बहुधा विवाद चलते रहे हैं। ऐसा निर्णय होता रहा है कि रखैल को अपने प्रेमी के रहते भरण-पोषण प्राप्त करने का कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि वह उसे कभी भी छोड़ सकता है और वह अपने को रखने के लिए उसे बाध्य नहीं कर सकती। अपने जीवन-काल में कोई हिन्दू संयुक्त परिवार का धन उसके लिए नहीं स्थानान्तरित कर सकता। किन्तु जब रखैल अपने प्रेमी के साथ उसके जीवन भर रह जाय तो उसे भरण-पोषण मिलने का पूर्ण अधिकार रहता है, अर्थात् जो लोग मृत प्रेमी का दायाद्य या स्वार्जित सम्पत्ति प्राप्त करते हैं उन्हें वैसी रखैल के लिए प्रबन्ध करना पड़ता है। नारद एवं कात्यायन के वचन इस विषय में प्रामाणिक रहे हैं। नारद (दायभाग, ५२) का कथन है—"धर्मपरायण राजा को चाहिए कि वह मृत व्यक्ति की स्त्री के भरण-पोषण का प्रबन्ध करे (जब कि राजा को किसी का धन प्राप्त होता है, किन्तु मृत ब्राह्मण पुरुष के विषय में ऐसी बात नहीं है)।" कात्यायन (९३१) की उक्ति है—"उत्तराधिकारहीन सम्पत्ति राजा को

प्राप्त होती है, किन्तु उसे पोष्य स्त्रियों, नौकर-चाकरों के भरण-पोषण, अन्त्येष्टि-क्रिया एवं श्राद्ध-कर्म के व्यय के लिए प्रबन्ध कर देना होता है। कौटिल्य (३।५, पृ० १६१) में भी ऐसा ही कहा है—"ब्राह्मणों की सम्पत्ति छोड़कर अन्य उत्तराधिकारहीन व्यक्तियों की सम्पत्ति को राजा ले लेता है, किन्तु मृत व्यक्तियों की स्त्रियों, अन्त्येष्टि-क्रिया एवं दरिद्र आश्रितों की जीविका के लिए धन छोड़ देना पड़ता है।" मिताक्षरा, व्य० मयूख, पराशर मा० आदि ने नारद एवं कात्यायन की उक्तियों में 'योषित्' एवं 'स्त्री' शब्दों को अवरुद्धा स्त्री के अर्थ में लिया है, क्योंकि 'पत्नी' (नियमानुकूल विवाहित स्त्री) शब्द वहाँ नहीं आया है। अवरुद्धा स्त्री के अर्थ को लेकर निर्णीत विवादों में बड़ी भिन्नता रही है। इसे उस स्त्री के अर्थ में सामान्यतः प्रयुक्त किया गया है जो व्यक्ति की मृत्यु तक रखैल रूप में रहती है। ऐसी रखैलों को भरण-पोषण के अधिकार की प्राप्ति के लिए प्रेमी की मृत्यु के उपरान्त सदाचारिणी रहना परमावश्यक ठहराया गया है। उन्हें कुछ निर्णयों द्वारा स्पष्ट रूप से रखैल के रूप में प्रेमी के घर में रहना भी आवश्यक ठहराया गया है, किन्तु प्रिवी कौंसिल ने इसे आवश्यक नहीं समझा है। रखैल का अपना पति भी हो सकता है। इन निर्णयों में विभेद भी रहा है। मिताक्षरा ने याज्ञ० (२।२९०) की व्याख्या में (जहाँ यह आया है कि 'उस व्यक्ति को ५० पण दण्ड रूप में देने पड़ते हैं जो अवरुद्धा दासियों या भुजिष्या दासियों तथा अन्यों अर्थात् वेश्या या स्वैरिणी के साथ संभोग करते हैं, यद्यपि सामान्यतः दासियों आदि से संभोग करने पर दण्ड नहीं मिलता) तीन प्रकार की नारियों, यथा—अवरुद्धा एवं भुजिष्या दासी, वेश्या एवं स्वैरिणी (जो अपने पति को छोड़कर अन्य को ग्रहण करती है) के साथ संभोग करने पर एक ही प्रकार का दण्ड लगाया गया है। देखिए याज्ञ० (१।९७)। नवीन वेश्या एवं स्वैरिणी भी रखैल के रूप में रखी जा सकती है। अतः यदि कोई अन्य उनके साथ संभोग करता है तो वह दण्डित होता है। मिताक्षरा ने अवरुद्धा दासी को उस दासी के अर्थ में लिया है जो अपने स्वामी को छोड़कर किसी अन्य व्यक्ति से संभोग नहीं कर सकती और जो स्वामी के घर में ही रहती है। मिताक्षरा के मत से भुजिष्या दासी वह है जो कुछ निश्चित व्यक्तियों के विषय-भोग के लिए ही निर्धारित हो (पुरुषनियमेन-परिगृहीता भुजिष्या)। अवरुद्धा एवं भुजिष्या में विभेद अन्तर यह है कि प्रथम स्वामी के घर में रहती है और वह उसी से संभोग कर सकती है, किन्तु दूसरी स्वामी के अतिरिक्त अन्य निश्चित लोगों (यथा—मित्र या कुल के अन्य लोगों) के साथ भी संभोग कर सकती है और उसके लिए घर में ही रहना आवश्यक नहीं है। यह व्याख्या मिताक्षरा की टीका में है न कि निबन्ध में।

आजकल संयुक्त परिवार की विधवा के उसी घर में रहने के अधिकार के विषय में, मृत पति के स्वत्वहीन पिता से तथा श्वसुर के उत्तराधिकारियों से प्राप्त होनेवाले पदों के अधिकार के विषय में, विधवा की जीवन-वृत्ति की मात्रा के विषय में, जीवन-वृत्ति (भरण-पोषण) के अवशिष्टांश की प्राप्ति आदि के विषय में बहुत-से निर्णीत विवाद पाये जाते हैं। किन्तु इस ग्रन्थ में उनका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि वे स्मृतियों एवं निबन्धों के आधार पर निर्णीत नहीं हुए हैं।

१. अन्यत्र ब्राह्मणात् किन्तु राजा धर्मपरायणः। तत्स्त्रीणां जीवनं दद्यादेष दायविधिः स्मृतः॥ नारद (दायभाग ५२); मिताक्षरा (याज्ञ० २।१३५) एवं पराशर मा० (३, पृ० ५३५) ने इसे उद्धृत किया है। अदायिकं राजगामि योषिद्भृत्यौर्ध्वदेहिकम्। अपास्य श्रोत्रियद्रव्यं श्रोत्रियेभ्यस्तदर्पयेत्॥ कात्यायन (मिता०, याज्ञ० २।१३५; परा० मा० ३, पृ० ५३५; व्य० म०, पृ० १३९)।

४. अदायादकं राजा हरेत् स्त्रीवृत्ति-प्रेत-कार्यवर्जमन्यत्र श्रोत्रियद्रव्यात्। तत् त्रैविद्येभ्यः प्रयच्छेत्। कौ० (३।५, पृ० १६१)।

प्राचीन १८ न्याय-विषयों (पदों) मे अन्तिम व्यवहारपद है प्रकीर्णक, जिसे विष्णुधर्मसूत्र (४२।१) ने यो कहा है—"यदनुक्त तत्प्रकीर्णकम्।" इसे नारद ने उन विपयो के अन्तर्गत रखा है जिन्हे राजा अपनी ओर से उद्भावित करता है। इसके विषय मे हमने पहले ही विवेचन कर लिया है।

व्यवहार के इस परिच्छेद मे हम इच्छापत्र या सकल्पो (विलो) के विपय मे भी कुछ लिख देना उचित समझते हैं। प्राचीन भारत मे सयुक्त परिवार एव दत्तक-प्रथा के कारण इच्छापत्र या वसीयतनामे के व्यवस्थापन की परम्परा न चल सकी। कौटिल्य, वृहस्पति, कात्यायन आदि ने लेख्यपत्रो (डाकूमेण्टो) के प्रकारो मे कोई ऐसा लेख्य नही प्रस्तुत किया जिसे हम आधुनिक शब्द 'विल' के अर्थ मे ले सकें। किन्तु ऐसी बात नही है कि अग्रेजो के आगमन के पूर्व इस प्रकार की भावना का उदय लोगो के मन मे नही हुआ था। मुसलमानो मे यह प्रथा थी और उनके सम्बन्ध से इस भावना का उदय होना स्वाभाविक था। मरते समय व्यक्ति मौखिक या लिखित रूप मे अपने उत्तराधिकारियो से सम्पत्ति के विषय मे कुछ अवश्य कहता था। आठवी शताब्दी के प्रथम भाग में कश्मीर के राजा ललितादित्य ने राजनीतिक इच्छापत्रता का परिचय दिया था, ऐसा राजतरगिणी के श्लोको (३४१-३५९) से झलकता है। कात्यायन (५६६) ने आधुनिक 'विल' की भावना की ओर सकेत किया है—"यदि धार्मिक कृत्य के लिए कोई व्यक्ति स्वस्थ रूप मे या आर्त (रोगी) के रूप मे दान करने का वचन देता है तो उसे बिना दिये उसके मर जाने पर पुत्र को उसे देना चाहिए।"[५] यहाँ केवल इच्छा की घोषणा मात्र पुत्र या उत्तराधिकारी के लिए मान्य ठहरायी गयी है। इस विपय मे देखिए नाटो बाबाजी का पत्र (भारत-इतिहाससशोधक मण्डल, पूना, जिल्द २०, पृ० २१०) जिसमे मृत्यु-पत्र या इच्छापत्र का परिचय मिलता है, यथा—अन्त्येष्टि-क्रिया, श्राद्ध के व्यय, पतोहू की व्यवस्था, एक अन्य विधवा की व्यवस्था, सम्बन्धियो के पुत्रो के विवाह एव सम्पत्ति के शेषाश के विभाजन के विपय मे सब कुछ वर्णित है।

ब्रिटिश राज्य के न्यायालयो के समक्ष आनेवाले इच्छापत्रो मे कुख्यात अमीचन्द का मृत्यु-पत्र अपना विशेष महत्त्व रखता है। बगाल रेग्यूलेशन ऐक्ट ११ (१७९३) ने ज्येष्ठ पुत्र या आगे के उत्तराधिकारी या किसी अन्य पुत्र या उत्तराधिकारी या किसी एक व्यक्ति या कई व्यक्तियो के लिए इच्छापत्र से अधिकार की प्राप्ति की आज्ञा दे दी है। बम्बई के एक विवाद मे सन् १७८९ ई० मे इस विपय मे छूट दे दी गयी। बम्बई के रेकर्डर न्यायालय के एक पण्डित ने सन् १८१२ ई० मे यह कह डाला कि शास्त्रो मे 'विल' की कोई व्यवस्था नही है, अत ऐसा नही किया जाना चाहिए। हम इस ग्रन्थ मे इसके विपय मे और कुछ नही लिखेंगे।

५ स्वस्थेनार्तेन वा देय श्रावितं धर्मकारणात्। अदत्त्वा तु मृते दाप्यस्तत्सुतो नात्र सशय ॥ कात्या० (अपरार्क पृ० ७८२, वि० चि० पृ० १६; व्य० म० पृ० २०६)।

सदाचार

अध्याय ३२

परम्पराएँ एवं आधुनिक परम्परागत व्यवहार

गौतम एवं उनके पश्चात्कालीन बहुत से लेखकों ने धर्म के उद्गमों के विषय में विचार किया है। गौतम (१।१-२) का कथन है—"वेद धर्म का मूल (उद्गम) है और वेदज्ञों का शील (या व्यवहार) एवं परम्पराएँ (या स्मृतियाँ) भी (मूल) हैं। इसी प्रकार आप. ध. सू. (१।१।१।१-३) ने कहा है—"हम सामयाचारिक धर्मों (परम्पराओं एवं आचार-रीतियों से उद्भासित धर्मों) की व्याख्या करेंगे। (धर्मों की जानकारी के लिए) धर्मज्ञों एवं वेदों के आचरण (परम्पराएँ, व्यवहार या रीतियाँ) प्रमाण हैं।" वसिष्ठ (१।४-७) ने व्यवस्था दी है—"धर्म की घोषणा वेद एवं स्मृतियाँ करती हैं (धर्म श्रुति-स्मृतिविहित है)। इनके अभाव में (धर्म क्या है इसकी जानकारी के लिए) शिष्टों का आचार ही प्रमाण है। शिष्ट[2] वे हैं जिनका हृदय (सांसारिक) इच्छाओं से रहित हो और शिष्टों के वे धर्म हैं जिनके पीछे कोई (लौकिक) कारण या वृत्ति न निहित हो।"[1] मनु (२।६) एवं याज्ञ. (१।७) ने घोषित किया है कि वेद (श्रुति), स्मृति एवं शिष्टों का आचार धर्म के प्रमुख मूल हैं। इन ग्रन्थों में प्रयुक्त शब्द 'शील', 'समय', 'आचार' या 'सदाचार' या 'शिष्टाचार' (अन्तिम तीनों का एक ही अर्थ है) विचारणीय हैं। आपस्तम्ब ने 'समय' एवं 'आचार' दोनों शब्दों का व्यवहार किया है, जिनमें 'समय' का सम्भवतः अर्थ है 'समझौता या परम्परा या प्रयोग' और 'आचार' का अर्थ है 'व्यवहार या रीति'। 'परम्परा' (समय) में प्राचीनता की झलक है, किन्तु 'प्रयोग' अथवा 'रीति' में ऐसी बात नहीं है। 'प्रयोग' अथवा 'रीति' कुछ दिनों पूर्व से प्रचलित हो सकती है, या यह कुछ लोगों के बीच में समझौते के रूप में हो सकती है, यथा व्यापारियों आदि का कोई नियम, रीति या समझौता। अब हमें यह देखना है कि धर्म के मूल के रूप में 'आचार' या 'शिष्टाचार' या 'सदाचार' का क्या तात्पर्य है। इन शब्दों के अर्थ की ओर आपस्तम्ब एवं वसिष्ठ द्वारा प्रयुक्त 'प्रमाण' से संकेत मिल जाता है। जिस प्रकार वेद एवं स्मृतियाँ धर्म के विषय में

१ वेदो धर्ममूलम्। तद्विदां च स्मृतिशीले। गौ. (१।१-२); अथातः सामयाचारिकान्धर्मान् व्याख्यास्यामः। धर्मज्ञसमयः प्रमाणं वेदाश्च। आप. ध. सू. (१।१।१।१-३); श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः। तदलाभे शिष्टाचारः प्रमाणम्। शिष्टः पुनरकामात्मा। अगृह्यमाणकारणो धर्मः। वसिष्ठ (१।४-७); श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः। सम्यक् संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्॥ याज्ञ. (१।७); वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्। आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥ मनु (२।६)।

२ शिष्टों की विशेषताओं के विषय में देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड १, अध्याय २८, जहाँ बौधा. ध. सू., मनु, मत्स्यपुराण आदि की उक्तियों की चर्चा की गयी है। तैत्ति. उ. (१।११) में सम्भवतः सर्वप्रथम 'शिष्ट' की परिभाषा दी थी।

प्रामाणिकता उत्पन्न करती हैं, उसी प्रकार जीवन की परिवर्तित परिस्थितियों में वास्तविक धर्म की खोज में शिष्टों के व्यवहार हमें आवश्यक कसौटी प्रदान करते हैं, अर्थात् शिष्टों के आचार में यह प्रकट हो जाता है कि हमारा कार्य शास्त्र-विहित है कि नहीं। प्राचीन लेखकों का यह सिद्धान्त था कि स्मृतियाँ वेदों के उन भागों पर आधारित हैं जो पहले थे किन्तु अब नहीं प्राप्त होते, उसी प्रकार शिष्टों के आचार भी वेदों के उन भागों पर आधारित हैं जो अब नहीं उपलब्ध हैं। देखिए आप० ध० सू० (१।४।१२।८, १०-१३), मनु (२।७)। शिष्टों के सभी व्यवहार धर्म के लिए प्रमाण नहीं हैं, यथा—उनके वे कार्य जो उनके लाभ या आनन्द के फलस्वरूप होते हैं, प्रमाण नहीं माने जा सकते। मनु (२।१८) ने ब्रह्मावर्त देश के चारों वर्णों एवं वर्णसंकरों में पीढ़ियों से चली आती हुई परम्पराओं के अन्तर्गत सदाचार को निहित मान लिया है। किन्तु बहुत-से लेखकों ने सदाचार को इस प्रकार सीमित नहीं ठहराया है।

अब हम धर्म के मूलों या प्रमाणों तथा धर्म के स्थानों के अन्तर के विषय में लिखेंगे (याज्ञ० १।३ एवं ७)।[3] धर्म के मूल (प्रमाण) ज्ञापक हेतु कहे जाते हैं, क्योंकि वे 'धर्म क्या है' के विषय में बतलाते हैं, किन्तु स्थान को धर्म-विवेचक लोग सहायक हेतु के रूप में मानते हैं। उनका तात्पर्य यह है कि वेद एवं स्मृतियों के अतिरिक्त अन्य विद्याएँ सीधे रूप से धर्म की मूल नहीं हैं, प्रत्युत वे सहायता का कार्य करती हैं। यह अन्तर बहुत प्राचीन है, क्योंकि गौतम (११।१९) ने भी कहा है कि राजा को न्याय-शासन में वेद, धर्मशास्त्रों, अंगों (सहायक विद्याओं), उपवेदों एवं पुराण से सहायता मिलती है।[4]

स्मृतियों एवं परम्पराओं की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में पूर्वमीमांसा की स्थिति की विस्तृत विवेचना आवश्यक है। जैमिनि (१।३।१-२) ने विचार किया है कि क्या इस प्रकार की स्मृति-उक्तियाँ, यथा—'अष्टका-श्राद्ध करना चाहिए'[5] या 'तालाब बनवाना चाहिए' या 'प्रपा' (पौसरा) का निर्माण करना चाहिए' या '(गोत्र के अनुसार) सिर पर शिखा रखनी चाहिए', प्रामाणिक हैं? और अन्त में निष्कर्ष निकाला गया है कि ये उक्तियाँ प्रामाणिक हैं, क्योंकि ये उन्हीं लोगों के प्रति सम्बोधित हैं जो इनके अनुसार (वेद के अनुयायी होने के कारण) कर्म करते हैं। तात्पर्य यह है कि जो लोग वेदविहित कार्य करते हैं वे मनु आदि की स्मृतियों के वचनों का भी पालन करते हैं, अर्थात् जो वेद को जानते हैं वे स्मृतियों को भी प्रामाणिक मानते हैं और उनके अनुसार चलते हैं। मेधातिथि (मनु २।६) ने भी ऐसा ही कहा है। शबर ने व्याख्या करते हुए कहा है कि वेदों में भी ऐसी उक्तियाँ हैं जो स्मृतियों के वचनों की ओर संकेत करती हैं, यथा—वैदिक वचन 'या जना' अष्टका का, ऋग्वेद (१०।४।१) प्रपा का एवं ऋग्वेद (६।७५।१७) शिखा का द्योतक है।[6] किन्तु इस कथन का विरोध यह कहकर उपस्थित किया जा सकता है—स्मृतियाँ मनुष्य-कृत (पौरुषेय) हैं, अतः धर्म के विषय में उनका स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है, क्योंकि मनुष्य झूठी या त्रुटिपूर्ण बात भी कह सकता है, और यदि यह कहा जाय कि स्मृतियाँ वही कहती हैं जो वेद द्वारा कहा गया है, तो उनका कहना पुनरुक्तता

३ पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः। वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥ याज्ञ० (१।३)।

४ तस्य च व्यवहारो वेदो धर्मशास्त्राण्यङ्गान्युपवेदाः पुराणम्। गौ० (११।१९)।

५ अष्टका श्राद्धों के लिए देखिए आश्वलायनगृह्यसूत्र (२।४।१), शांखायनगृह्यसूत्र (३।१२-१४), पारस्करगृह्यसूत्र (३।३)

६. तालाब, प्रपा आदि के लिए देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २, अध्याय २६ एवं चौल में शिखा के लिए देखिए खण्ड २, अध्याय ६।

एवं व्यर्थता का द्योतक है। यदि वे वेद नहीं हैं तो उनका तिरस्कार होना चाहिए, अर्थात् वे अप्रमाण हैं। इस विरोध का उत्तर यह है—स्मृतियाँ सामान्यतः प्रामाणिक हैं क्योंकि मनु जैसे वेदानुयायी मनुष्यों द्वारा प्रणीत हैं और वेदों पर आधारित हैं क्योंकि उन्होंने जो कुछ कहा है वह पीढ़ियों से शिष्टों द्वारा मान्य ठहराया गया है अतः वेद को उनका मूल कहना सम्भव है। एक सिद्धान्त यह है कि स्मृतियों की बातें श्रुति-वचनों में भी रही होंगी। कुमारिल ने इस सिद्धान्त का खण्डन किया है। यथा—

अनुमान प्रत्यक्ष एवं व्याप्ति ज्ञान पर आधारित होता है। स्मृतियों एवं श्रुतियों के वचनों में कोई व्याप्य व्यापकत्व नहीं है अतः कोई अनुमान निकालना सम्भव नहीं क्योंकि ऐसा करना अन्ध-परम्परा मात्र है। मनु ने अपनी स्मृति का सम्पादन अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा वेद पर आधारित कर्मों के सहारे ही किया होगा। पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का अनुसरण किया होगा। अतः यह अनुमान अन्ध-परम्परा का ही द्योतक है। इतना ही नहीं इस प्रकार का अनुमान प्रत्यक्षीकरण के विरोध में पड़ता है क्योंकि वास्तव में सैकड़ों श्रुति-वचन ज्ञात हैं, जो स्मृतियों की संगति में बैठ सकते हैं। एक अन्य दृष्टिकोण (जिसे कुमारिल ने पूर्ववर्ती दृष्टिकोण से अच्छा माना है) यह है कि वे वैदिक वचन जो स्मृतियों के आधार थे सम्प्रति लुप्त (उच्छिन्न या प्रलीन) हो गये हैं। इस दृष्टिकोण के समर्थन में कुछ वैदिक वचन यथा 'अनन्ता वै वेदाः' (तै० ब्रा० ३।१०।११ एवं आ० ध० सू० १।०।१२।११) मिल जाते हैं। किन्तु तन्त्रवार्तिक एवं अधिकांश मीमांसकों को यह दृष्टिकोण अग्राह्य है।

इस दूसरे दृष्टिकोण के विषय में विरोध इस प्रकार प्रकट किया जाता है—बौद्ध आदि अनीश्वरवादी आचार्यों द्वारा भी यह कहा जा सकता है कि उनके वचन भी उन वैदिक वचनों पर आधारित हैं जो अब लुप्त हो गये हैं। अतः कोई भी अपने सिद्धान्त की प्रामाणिकता यह कहकर सिद्ध कर सकता है कि वह लुप्त वैदिक वचनों पर आधारित है। यदि ऐसा मान लिया जाय तो मीमांसा का यह वचन कि वेद नित्य है, झूठा पड़ जायगा (क्योंकि ऐसा मानने से वेद के कुछ अंश अनित्य सिद्ध हो जायेंगे)। उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोणों में विशिष्ट अन्तर नहीं है। अतः कुमारिल ने यह तीसरा दृष्टिकोण उपस्थित किया है—स्मृतियाँ उन वैदिक वचनों पर आधारित हैं जो आज भी पाये जाते हैं। किन्तु यह दृष्टिकोण भी भ्रामक है क्योंकि स्मृतियों के वचनों का वैदिक मूल प्राप्त करना सम्भव नहीं है और ऐसा कहना कि वैदिक शाखाएँ बहुत-सी हैं वे सारी और बिखरी पड़ी हैं वेदानुयायी असावधान हैं वे मूल-मूलक वचनों की खोज नहीं करते (तन्त्रवार्तिक जैमिनि १।३।२) केवल आलसी का विस्तारवादी दृष्टिकोण है। स्मृति-वचनों के आधार श्रुति-वचन स्मृतियों में ही क्यों नहीं पाए जाते? इस प्रश्न के उत्तर में कुमारिल कहते हैं कि ऐसा करने से श्रुति-वचनों के सम्पूर्ण समष्टन में गड़बड़ी हो जाती उनके परम्परागत स्वरूप का ह्रास हो जाता। वेद मुख्यतया कर्मों की चर्चा करते हैं हाँ कहीं-कहीं उनमें आचाराचार सम्बन्धी नियम भी पाये जाते हैं। अतः यदि वेद के वचन स्मृतियों में रखे जाते तो उनके मौलिक स्वरूप में भेद पड़ जाता। विश्वरूप (याज्ञ० १।७) ने कुमारिल की उपर्युक्त उक्ति उद्धृत की है और कहा है कि स्मृतियों में सहस्रों नियमों का मूल वेद में मिलता है। मेधातिथि (मनु २।६) ने इस विषय में सविस्तार विवेचन किया है और अपने स्मृतिविवेक ग्रन्थ से कतिपय श्लोक उद्धृत किये हैं। उन्होंने प्रथम दो दृष्टिकोणों को अमान्य ठहराकर कुमारिल के दृष्टिकोण को उत्तम माना है। मीमांसकों एवं मेधातिथि जैसे टीकाकारों ने कहा है कि मनु एवं अन्य स्मृतिकारों ने उन वैदिक वचनों का जो इतस्ततः बिखरे पड़े हैं या जिन्हें कतिपय शाखाओं के विद्यार्थी नहीं जानते या जिन्हें साधारण एवं दुर्बल बुद्धि के लोग एक स्थान पर नहीं पा सकते सरलता से समझ में आ जाने के लिए एकत्र कर दिया है।

स्मृतियों की प्रामाणिकता की सिद्धि के उपरान्त एक अन्य प्रश्न उठ खड़ा होता है—जब कोई स्मृति नियम वेद-वाक्य के विरोध में पड़ जाय तो क्या होगा? जैमिनि (१।३।३।४) ने इस प्रश्न का विवेचन किया है। शबर ने

इस प्रकार के विरोध के विषय में तीन उदाहरण दिये हैं—वेदोक्ति है, 'पुरोहित को औदुम्बर स्तम्भ छूकर स्तोत्र पढ़ना चाहिए', किन्तु स्मृति-कथन यह है कि औदुम्बर स्तम्भ कपड़े से पूर्णत ढँका रहना चाहिए। वेदोक्ति है, 'जिसको पुत्रोत्पत्ति हुई हो और जिसके बाल अभी काले हों उसे अग्निहोत्र आरम्भ करना चाहिए', किन्तु स्मृति की उक्ति यों है कि अड़तालीस वर्षों तक वैदिक अध्ययन-व्रत करना चाहिए। वेदोक्ति है, 'जब अग्निषोमीय कृत्य समाप्त हो जाय तो यजमान के घर भोजन न करना चाहिए', किन्तु स्मृति-वाक्य यह है कि सोम लता के क्रय के उपरान्त यज्ञ के लिए दीक्षित व्यक्ति के यहाँ भोजन करना चाहिए। इस विषय में जैमिनि का कथा है कि जब विरोध उपस्थित हो जाय तो स्मृति-वचन का तिरस्कार कर देना चाहिए और जब कोई विरोध न प्रकट हो तथा वैसा वचन श्रुति में न पाया जाय तो ऐसा अनुमान लगाना चाहिए कि वह वचन किसी वैदिक वचन पर आधारित है। कुमारिल ने शबर के उदाहरणों की समीक्षा की है और निर्णय किया है कि अन्य उक्तियों में इन उदाहरणों का कोई भेद नहीं प्रकट होता। उन्होंने इस विरोध को दूर करने का प्रयत्न किया है। हम स्थानाभाव से इस विवेचन के विस्तार में नहीं पड़ेंगे।

शबर (जैमिनि १।३।४) ने कहा है कि वेद-वचनों के विरोध में जो तीन स्मृति-वचन दिये गये हैं वे प्रामाणिक नहीं हैं, क्योंकि उनके पीछे लौकिक वृत्ति (लोभ आदि) की सिद्धि सम्भव है। जब किसी स्मृति-वचन के पीछे कोई स्पष्ट वृत्ति प्रकट हो जाय तो उस वचन के लिए वेद का आधार ढूंढ़ना अनुचित है। शबर ने आधुनिक समालोचक के समान पुरोहितों के दोषों को देखा है। कुछ पुरोहितों ने औदुम्बर स्तम्भ को वस्त्र से पूर्णत इसलिए ढँक दिया कि उन्हें लम्बा वस्त्र दक्षिणारूप में प्राप्त हो जायगा, कुछ पुरोहितों ने सोम क्रय के उपरान्त ही दीक्षित यजमान के यहाँ भूख के कारण निःशुल्क भोजन पाने की व्यवस्था कर दी (यह भी उनके लोभ का द्योतक है) तथा कुछ लोगों ने अपने अपौरुष (नपुंसकता) को छिपाने के लिए ४८ वर्षों तक वेदाध्ययन की व्यवस्था कर दी।[७] तन्त्रवार्तिक ने प्रयत्न करके सिद्ध करना चाहा है कि इन उदाहरणों में लोभ जैसी स्पष्ट वृत्ति नहीं पायी जाती (पृ० १८८-१८९)।

शबर (जैमिनि १।३।८) ने जो व्याख्या की है उसका तात्पर्य यह है कि जो स्मृति-नियम श्रुति-नियमों के विरोध में पड़ते हैं तथा जिन स्मृति-वचनों में लौकिक वृत्ति की झलक है वे न तो प्रामाणिक ही है और न उनके अनुसार चलना आवश्यक ही है, किन्तु स्मृति के अन्य नियम प्रामाणिक हैं।

उपर्युक्त विवेचन से धर्मशास्त्रों में उल्लिखित एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त की झलक मिल जाती है। वह सिद्धान्त यह है—"जब किसी नियम या आदेश के विषय में कोई स्पष्ट वृत्ति या उद्देश्य प्रकट हो जाता है तो उसके लिए कोई अलौकिक कारण बताना अनुचित है।" यह सिद्धान्त आप० ध० सू० (१।४।१२।१२) के निम्न वचन से प्राचीन है—'जब व्यक्ति कोई कार्य इस लिए करते हैं कि वैसा करने से उन्हें आनन्द मिलता है, तो वहाँ शास्त्र की बात ही नहीं उठती।" शबर ने भी कहा है—'उन स्मृति-नियमों की प्रामाणिकता उसी उद्देश्य पर निर्भर रहती है जिसके लिए वे बने हुए हैं, किन्तु जिन नियमों के पीछे कोई स्पष्ट उद्देश्य नहीं होता, वे वेद पर आधारित होते है (अर्थात् उनकी प्रामाणिकता उसी पर निर्भर है)।' कुल्लूक (मनु ३।७) ने शबर के इन शब्दों को उद्धृत किया है—'मनु का कथन है कि जिस कुल में संस्कारों का तिरस्कार हो, जहाँ पुरुष-संतान न उत्पन्न होती हो, जहाँ वेदाध्ययन न होता हो, जिसके सदस्यों के शरीर पर लम्बे-लम्बे बाल हो, और जो अर्श, यक्ष्मा, मदाग्नि, अपस्मार (मिर्गी), कृष्ण एवं श्वेत कुष्ठ

७ हेतुदर्शनाच्च। जै० (१।३।४), लोभाद्वास आदित्समाना औदुम्बरीं कृत्स्नां वेष्टितवन्त केचित्। तत्स्मृतेर्बीजम्। बुभुक्षमाणा केचित् क्रीतराजकस्य भोजनमाचरितवन्त। अपुंस्त्वं प्रच्छादयन्तश्चाष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि वेदब्रह्मचर्यं चरितवन्त। तत एषा स्मृतिरवगम्यते। शबर।

अग (यथा ध्वनिविद्या, व्याकरण, छद आदि) अशत वेद और लौकिक अनुभव पर आधारित हैं। मनु (१२।१०५-१०६) के मत से मीमासा और न्याय वेद की सम्यक् व्याख्या एव परिज्ञान के लिए आवश्यक हैं। मनु ने तो यहाँ तक कह डाला है कि सांख्य (जो प्रधान नामक विश्व के प्रमुख कारण का विवेचन करता है) या वेदान्त (जो पुरुष को विश्व का कारण बतलाता है), अणुवाद का सिद्धान्त (कणाद द्वारा घोषित) आदि विश्व की उत्पत्ति एव नाश की व्याख्या मे उपयोगी हैं और यह बतलाते हैं कि किस प्रकार यज्ञ-सम्पादन मे सूक्ष्म अपूर्व का उदय होता है, जिसमे स्वर्ग की प्राप्ति होती है, और यह भी प्रकट करते हैं कि किस प्रकार मानवीय उद्योग एव भाग्य का अपना-अपना कार्यक्षेत्र है (अर्थात मानवीय उद्योग के बिना विश्व की उत्पत्ति होती है और उसके रहते विनाश भी होता है)। कुमारिल एक पग आगे भी बढते हैं और यहाँ तक कहते हैं कि विज्ञानवाद, अनात्मवाद, क्षणिकवाद नामक बौद्ध सिद्धान्तो का उदय उपनिषदो के अर्थवाद-वचनो से ही हुआ है और वे विषय-भोग की सीमातिरेक आसक्ति छोडने के लिए मनुष्य को प्रेरित करते हैं और इसी लिए उनका अपना उपयोग एव महत्त्व है। उन्होंने अत मे यह निष्कर्ष निकाला है कि सभी प्रकार के ज्ञानो एव ग्रन्थो के विषय मे, जहाँ कर्म के फल का उदय भविष्य के गर्भ मे बतलाया गया है और वर्तमान मे उसके घटने का अनुभव सम्भव नहीं है, इस प्रकार का कार्य वेद पर आधारित माना जाना चाहिए। किन्तु जहाँ (यथा आयुर्वेद शास्त्र मे) फल को अन्य पुरुषो में घटित होते हुए देखा जा सकता है, वहाँ, अर्थात् जिस ज्ञान पर वह फल आधारित है, वह प्रामाणिक माना जा सकता है, क्योकि यहाँ फल स्पष्ट रूप मे प्रकट हो जाता है।

धर्मशास्त्र-सम्बन्धी निबन्धो ने भी स्मृतियो के वेदाधार या प्रत्यक्षीकृत उपयोग अथवा उद्देश्य या वृत्तियो के विषय मे चर्चा की है। अपरार्क (पृ० ६२६-६२७) ने भविष्यपुराण के उन वचनो को उद्धृत किया है जिनमे स्मृति-विषय पाँच कोटियो मे बाँटे गये हैं और उनकी व्याख्या की गयी है[८]—(१) वे जो दृष्ट या स्पष्ट देखे जानेवाले उद्देश्य (अर्थ) या वृत्ति पर आधारित हैं, (२) वे जो अदृष्ट (पारलौकिक) उद्देश्यो पर आधारित हैं, (३) वे जो दृष्ट एव अदृष्ट दोनो प्रकार के अर्थो (उद्देश्यो) पर आधारित हैं, (४) वे जो तर्क या न्याय पर आधारित हैं, (५) वे जो केवल अति ख्यात एव निश्चित बातो को दुहराते हैं। इन पाँचो मे प्रथम को छोडकर सभी, भविष्यपुराण के मत से, वेद पर आधारित हैं। इन पाँचो के उदाहरण इसी पुराण द्वारा इस प्रकार दिये गये हैं, यथा—(१) वह स्मृति (अर्थशास्त्र या दण्डनीति) जिसमे छ गणो (सन्धि आदि), चार उपायो (साम, दान आदि), राज्य-विभागों के अध्यक्षो तथा कण्टको का विवेचन किया गया है, (२) 'सन्ध्या करनी चाहिए' या 'श्वमास नहीं खाना चाहिए' आदि नियम, (३) ब्रह्मचारी को पलाश-दण्ड रखना चाहिए (रक्षा के लिए रखा जानेवाला दण्ड दृष्टार्थ है, किन्तु यहाँ पलाश दण्ड की व्यवस्था है जो अदृष्टार्थ का द्योतक है), (४) जब कोई कहे कि होम सूर्योदय के पूर्व करना चाहिए और कोई यह कहे कि सूर्योदय के उपरान्त करना चाहिए, तो यहाँ तर्क से विकल्प का सहारा लेना चाहिए (मनु २।१५),

८ तथा च भविष्यपुराणम्। दृष्टार्था च स्मृति काचिददृष्टार्था तथा परा। दृष्टादृष्टार्थरूपान्या न्यायमूला तथापरा॥ अनुवादस्मृतिस्त्वन्या शिष्टैर्दृष्टा तु पञ्चमी। सर्वा एता वेदमूला दृष्टार्थं (र्था ?) परिहृत्य तु॥ षाड्गुण्यस्य यथायोग प्रयोगात्कार्यगौरवात्। (प्रयोग कार्य-?)। सामादीनामुपायाना योगो व्याससमासत ॥ अध्यक्षाणां च निक्षेप कण्टकानां निरूपणम्। दृष्टार्थेय स्मृति प्रोक्ता ऋषिभिर्गरुडाग्रज॥ सन्ध्योपास्ति सदा कार्या शुनो मास न भक्षयेत्। अदृष्टार्था स्मृति प्रोक्ता ऋषिभिर्ज्ञानकोविदै पालाश धारयेद्दण्डमुभयार्थं विदुर्बुधा। विरोधे तु विकल्प स्याज्जपहोमश्रुतौ यथा॥ श्रुतौ दृष्ट यथा कार्यं स्मृतौ न सदृश यदि। अनूक्तवादिनी सा तु पारिव्राज्य यथा गृहात्॥ अपरार्क (पृ० ६२६-६२७)।

(५) जब मनु (१।३८) यह घोषित करते हैं कि ब्राह्मण को परिव्राजक होने के लिए गृहत्याग करना चाहिए तो ऐसा कहना वैदिक वचनों (बृहदारण्यकोपनिषद् ३।५।१ 'व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' या जाबालोपनिषद् ४) को दुहराना मात्र है।

शबर ने जैमिनि (१।३।५-७) की व्याख्या करते हुए स्मृतियों के निम्न वचनों को वेदाधारित कहकर प्रामाणिकता दी है— शिष्टों का कथन है कि धार्मिक कृत्य आचमन करके करना चाहिए, देवपूजन में जनेऊ को उपवीत विधि से धारण करना चाहिए, सारे धार्मिक कृत्य दाहिने हाथ से करने चाहिए। प्रश्न यह है कि क्या ऐसे कार्य तभी करने चाहिए जब कि वे वेद-विरुद्ध न हों या जब वे वेद के वचन के विरुद्ध हों तो उन्हें नहीं करना चाहिए? पूर्वपक्ष का मत तो यह है कि ऐसे कार्य नहीं किये जाने चाहिए, क्योंकि वे वेद-विहित क्रम के विरोध में पड़ते हैं। उदाहरणार्थ वेद का कथन है—"कुश की वेद नामक मुट्ठी (या एक मुट्ठा) बना लेने के उपरान्त ही वेदिका (वेदी) बनानी चाहिए।" यहाँ पर मुट्ठी बना लेने के उपरान्त ही वेदिका-निर्माण की बात कही गयी है। यदि मुट्ठी बना लेने के उपरान्त छींक आ जाय तो मनु (५।१४५) एवं वसिष्ठ (३।३८) के मत से व्यक्ति को आचमन करके ही वेदिका-निर्माण करना चाहिए। पर ऐसा करना वेद-विहित क्रम के विरुद्ध जाता है। यदि कोई वेद-विहित कृत्य को दोनों हाथों से करे तो वह शीघ्रता से कर सकता है। स्मृति-नियम यह है कि धार्मिक कृत्य दाहिने हाथ से करना चाहिए, इससे धार्मिक कृत्य के शीघ्र सम्पादन में रुकावट आ जाती है। प्रतिष्ठित निष्कर्ष तो यह है कि वे कृत्य (यथा आचमन) शिष्टों द्वारा सम्मानित होते हैं, इनके पीछे कोई दृष्टार्थ नहीं है, अतः वे प्रामाणिक हैं और श्रुति-विरोधी नहीं हैं। कुमारिल को जै० सूत्रों की ऐसी व्याख्या नहीं जँची, क्योंकि शबर के उदाहरण श्रुति के विरोध में प्रमुख रूप में नहीं आते दीखते। तन्त्रवार्तिक (पृ० २०१) ने तै० सं० (२।५।११।१) तै० आरण्यक (२।१ एवं ११) के वचनों को उद्धृत कर उपवीत ढंग से जनेऊ धारण करने एवं आचमन करने की बात कही है, अतः इसने सूत्रों को दूसरे ढंग से समझाया है। इसने जैमिनि (१।३।५-७) को दो अधिकरणों में बाँटा है, दोनों एक ही विषय से सम्बन्धित हैं। पूर्वपक्ष यह है—बुद्ध एवं अन्य सम्प्रदायों के संस्थापकों के उपदेश (यथा—मठों एवं वाटिकाओं का निर्माण, सामगार्थीय होना, ध्यान का अभ्यास करना, अहिंसा, सत्य, इन्द्रिय-निग्रह, दया-दाक्षिण्य) ऐसे हैं जो वेद में भी पाये जाते हैं, वे शिष्टों की भावनाओं के विरोध में नहीं हैं और न वेदों को तुच्छ ही ठहराते हैं, अतः उन्हें प्रामाणिकता मिलनी चाहिए। किन्तु कुछ लोग इन विषयों के रहते हुए भी बौद्ध सिद्धान्त को प्रामाणिकता नहीं देते, क्योंकि केवल परिमित ही (१४ या १८) विद्याओं (४ वेद, ४ उपवेद, ६ वेदाङ्ग, १८ स्मृतियाँ, पुराण, दण्डनीति) को शिष्टों ने धर्म के विषय में प्रामाणिक माना है, जिनमें बौद्ध एवं जैन ग्रन्थ सम्मिलित नहीं हैं। जिस प्रकार दूध शुद्ध रूप से शुद्ध रहते हुए भी श्वचर्मिणी में रखने से अशुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार बौद्धों के सिद्धान्त अहिंसा आदि, सत्य पर आधारित होते हुए भी व्यर्थ हैं और वेदानुयायियों के लिए स्वतः प्रामाणिक नहीं हो सकते।

तन्त्रवार्तिक का कथन है कि जैमिनि (१।३।७) का वचन स्वतः एक 'अधिकरण' है और सदाचार (परम्पराएँ एवं शिष्टों के आचरण या प्रयोग) की प्रामाणिकता से सम्बन्धित है। स्थिति यह है कि वे ही आचरण प्रामाणिक हैं

९. १४ विद्यास्थानों के लिए देखिए याज्ञ० (१।३)। चार उपवेदों (आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्व एवं अर्थशास्त्र) के मिल जाने से विद्याएँ १८ हो जाती हैं। देखिए विष्णुपुराण (३।६।२८)। न्यायसुधा (पृ० १८१) के मत से आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, एवं अर्थशास्त्र चार उपवेद हो जाते हैं; मीमांसा एवं न्याय तो उपांग हैं, शिक्षा (ध्वनिशास्त्र वाला वेदांग नहीं) पृथक् रूप से वर्णित है। दण्डनीति अर्थशास्त्र ही है।

जो अभिव्यक्त वैदिक वचनों के विरोधी नहीं हैं, वे वैदिक शिष्टों द्वारा इस विश्वास से आचरित होते हैं कि वे सम्यक् आचरण (धर्म) के द्योतक हैं और उनके लिए कोई दृष्टार्थ (यथा आनन्द या इच्छापूर्ति या धन-प्राप्ति) की योजना नहीं है। शिष्ट लोग वे हैं जो वेदविहित धार्मिक कृत्य सम्पादित करते हैं। उन्हें शिष्ट इसलिए नहीं कहते कि वे उन कार्यों को करते हैं जिन्हें सदाचार की संज्ञा मिली है, नहीं तो 'चक्रिकापत्ति' या 'अन्योन्याश्रय दोष उपस्थित हो जायगा (यथा—सदाचार वह है जो शिष्टों द्वारा आचरित होता है और शिष्ट वे हैं जो सदाचार के अनुसार आचरण करते हैं)। वे आचरण, जो परम्परा में चले आये हैं और शिष्टों द्वारा धर्म के रूप में ग्रहण किये जाते हैं, धर्म के समान माने जाते हैं और स्वर्ग प्राप्ति कराते हैं (तन्त्रवार्तिक, पृ० २०५-२०६)। तन्त्रवार्तिक ने ऐसे आचरणों के कुछ उदाहरण दिये हैं, यथा—दान, जप, मातृयज्ञ (मातृका देवताओं की आहुतियाँ), इन्द्रध्वज का उत्सव, मन्दिरों के मेले, मास की चतुर्थी को कुमारियों का उपवास, कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा को दीप-दान, चैत्र कृष्ण पक्ष के प्रथम दिन वसन्तोत्सव आदि।[10] तन्त्रवार्तिक ने सभी प्रकार के कृत्यों को शिष्टाचरण नहीं माना है, यथा—कृषि, सेवा (साधारण नौकरी), वाणिज्य आदि जिससे धन तथा सुख की प्राप्ति होती है, मिष्टान्न-पान, मृदु शयन-आसन, रमणीय गृहोद्यान, आलेख्य, गीत-नृत्य आदि, गन्ध-पुष्प आदि, क्योंकि ये म्लेच्छों एवं आर्यों में समान रूप से पाये जाते हैं, अतः ये धर्म के स्वरूप नहीं हैं। ऐसा कहना कि शिष्टों के कुछ आचरण धर्माचरण हैं तो उनके सभी आचरण धर्म-विषयक होंगे, भ्रामक है। सामान्य जीवन में थोड़े-से ही आचरण शिष्टाचार की संज्ञा पाते हैं, अन्य कार्य या आचरण, जो सबमें (शिष्टों में भी) समान रूप से पाये जाते हैं, धर्माचरण नहीं कहे जा सकते। देखिए तन्त्रवार्तिक (पृ० २०६—२०८)। तन्त्रवार्तिक ने गौतम (१।३) एवं आपस्तम्ब ध० सू० (२।६।१३।७-८) के वचनों की चर्चा करते हुए कहा है कि प्राचीन (या श्रेष्ठ) लोग बहुत-सी बातों में धर्मोल्लंघन-पाप के अपराधी थे और उन्होंने साहसिक कार्य किये, किन्तु उनके प्रभाव के कारण उन्हें पाप नहीं लगा, किन्तु उनके बाद के लोग यदि वैसा कार्य करें तो वे नरक में पड़ेंगे।[11] तन्त्रवार्तिक ने अशिष्टाचरण के बारह उदाहरण दिये हैं और कहा है कि ये क्रोध, ईर्ष्या आदि अन्य दुर्वृत्तियों के फलस्वरूप हैं। ये दुराचरण अवतारों में भी देखे गये हैं। उक्त बारह उदाहरण ये हैं—(१) प्रजापति ने अपनी पुत्री उषा से संभोग किया (शतपथ ब्राह्मण १।७।४।१ या ऐतरेय ब्राह्मण १३।९), (२) इन्द्र ने अहल्या के साथ संभोगाचरण किया, (३) इन्द्र की स्थिति प्राप्त करने वाले नहुष ने इन्द्राणी शची के साथ संभोग करना चाहा (उद्योगपर्व, अध्याय १३) और वह अजगर बना दिया गया, (४) राक्षस द्वारा सौ पुत्रों के खा लिये जाने पर वसिष्ठ ने दुखी होकर अपने को बाँधकर विपाशा नदी में फेंक दिया (निरुक्त ९।२६, आदिपर्व १७७।१-६ या १६७।१-६, वनपर्व १३०।८-९, अनुशासन पर्व ३।१२-१३), (५) उर्वशी के वियोग में पुरूरवा ने लटक कर मर जाना चाहा या भेड़ियों द्वारा अपने को भक्षित करा देना चाहा (ऋग्वेद १०।९५।१४,

१० 'इन्द्रमह' नामक उत्सव के लिए देखिए इस ग्रन्थ का खंड ३, अध्याय २४। वसन्तोत्सव में लोग चैत्र कृष्णपक्ष के प्रथम दिन एक-दूसरे पर सादा पानी या रंगीन पानी छोड़ते हैं, 'फाल्गुन (अमान्त) कृष्णपक्षप्रतिपदि क्रियमाण परस्परजलसेकी वसन्तोत्सव' मयूखमालिका (शास्त्रदीपिका, जैमिनि० १।३।७)। आजकल यह कृत्य फाल्गुन की पूर्णिमा को होलिका जलाकर किया जाता है। आजकल की होलिका के विषय की जानकारी के लिए देखिए भविष्यपुराण (उत्तरपर्व, अध्याय १३२)।

११ दृष्टो धर्मव्यतिक्रमः साहसं च महताम्। अवरदौर्बल्यात्। गौ० (१।३-४), दृष्टो साहसं च पूर्वेषाम्। तेषां तेजोविशेषेण प्रत्यवायो न विद्यते। तदन्वीक्ष्य प्रयुञ्जानः सीदत्यवरः। आप० ध० सू० (२।६।१३-७९), भागवतपुराण (१०।३३।३०)।

व्याख्याओं में मीमांसकों की शुष्क तर्कपूर्ण पक्ष-समर्थन की भावना टपकती है। देखिए इस ग्रन्थ का खंड २, अध्याय ११, जहाँ सीता की स्वर्णिम मूर्ति एवं राम का वर्णन है। युधिष्ठिर ने अपने ब्राह्मण आचार्य की मृत्यु के लिए जो मिथ्या भाषण किया, उसके प्रायश्चित्त के लिए युद्धोपरान्त अश्वमेध यज्ञ किया था। अश्वमेध सम्पादन से सारे पाप कट जाते हैं (तै० सं० ५।३।१२।१-२, शतपथ ब्राह्मण १३।३।१।१ आदि)। पाँच पतियोंवाली द्रौपदी के विषय में कुमारिल ने आदिपर्व (१९८।१८ या १९०।१८) को उद्धृत करते हुए कई व्याख्याएँ उपस्थापित की हैं (तन्त्रवार्तिक, पृ० २०९), जिनमें सबसे आश्चर्यजनक व्याख्या यह है कि पाँच भाइयों की एक दूसरी से मिलती-जुलती ऐसी पाँच पत्नियाँ थीं जिनको एक ही माना गया है। जैसा कि न्यायसुधा (पृ० १९४) का कथन है, वे व्याख्याएँ केवल व्याख्या करने की महती क्षमता एवं दक्षता की द्योतक हैं (परिहार-वैभवार्थम्), वास्तव में उचित व्याख्या तो यही थी कि पाण्डवों का आचरण इस विषय में दूषित था और किसी प्रकार अनुकरणीय नहीं माना जा सकता। अन्ध व्यक्ति यज्ञ सम्पादन नहीं कर सकता और न उसे उत्तराधिकार ही प्राप्त होता है। देखिए इस ग्रन्थ का खंड २, अध्याय ३ एवं खंड ३, अध्याय २७। किन्तु कुमारिल का कथन है कि धृतराष्ट्र ने व्यास की अलौकिक शक्ति द्वारा थोड़ी देर के लिए दृष्टि प्राप्त कर ली थी और अपने मृत पुत्रों को देख भी लिया था (आश्रमवासिक पर्व, अध्याय ३२-३७), अतः यज्ञों के समय भी उन्हें दृष्टि मिली होगी, या ऐसा कहा जा सकता है कि उन्होंने केवल दान मात्र किये जो यज्ञों के अंग में वर्णित हुए हैं। सुभद्रा के विषय में कुमारिल का कथन है कि आदिपर्व (२१९।१८ या २११।१८) में जो उसे वसुदेव की पुत्री और कृष्ण की भगिनी कहा गया है, ऐसा नहीं है। वास्तव में वह कृष्ण की विमाता की बहिन की पुत्री या उसके विपिता की बहिन की पुत्री की पुत्री थी (लाट देश में पितृव्य-स्त्री को बहिन कहा जाता है)। रुक्मिणी के साथ कृष्ण के विवाह के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। यह आश्चर्य है, जैसा कि खण्डदेव का कथन है, सुभद्रा वसुदेव की पुत्री नहीं थी। लगता है, खण्डदेव ने महाभारत की किसी अशुद्ध प्रति का अध्ययन किया था। वासुदेव (कृष्ण) एवं अर्जुन को जो मद्यप कहा गया है (उद्योग पर्व ५९।५ 'उभौ मध्वासवक्षीबौ') उसके विषय में कुमारिल ने ऐसी व्याख्या की है कि वे दोनों क्षत्रिय थे, केवल ब्राह्मणों के लिए किसी भी प्रकार की मद्य का सेवन वर्जित है (गौ० २।२५), क्षत्रियों और वैश्यों के लिए मधु (मधु या मधूक पुष्पों से निकाला हुआ आसव) एवं सीधु (एक प्रकार की मद्य) नामक दो आसव-प्रकार आज्ञापित थे और केवल पैष्टी (आटे से निकाली हुई मद्य) वर्जित थी (गौ० २।५ एवं मनु० ११।९३-९४)।

कुमारिल ने जैमिनि (१।३।५-६) की अन्य व्याख्याएँ भी उपस्थापित की हैं जिन्हें हम स्थानाभाव से यहाँ नहीं दे रहे हैं।

कुमारिल ने अपने काल के कुछ प्रचलित आचरणों का उल्लेख किया है और उन्हें अन्त में वर्जित एवं अप्रामाणिक ठहराया है। उनका कथन है—"आजकल भी अहिच्छत्र एवं मथुरा की नारियाँ आसव पीती हैं, उत्तर (भारत) के ब्राह्मण लोग घोड़ों, अयाल वाले खच्चरों, गदहों, ऊँटों एवं दो दन्त-पंक्ति वाले पशुओं का क्रय एवं विक्रय करते हैं और एक ही थाल में अपनी पत्नियों, बच्चों तथा मित्रों के साथ भोजन करते हैं, दक्षिण के ब्राह्मण मातुल-कन्या (ममेरी बहिन) से विवाह करते हैं और खाट (मंच) पर बैठकर खाते हैं, उत्तरी और दक्षिणी ब्राह्मण उन पात्रों के पक्वान्न

एवं ता सदृशरूपा द्रौपद्य एकत्वेनोपचरिता इति व्यवहारार्थापत्त्या गम्यते। तन्त्रवार्तिक (पृ० २०९), एवमर्जुनस्य मातुलकन्याया सुभद्राया परिणयेऽपि सुभद्राया वसुदेवकन्यात्वस्य साक्षात् क्वचिदप्यश्रवणात्। मीमांसाकौ० (पृ० ४८), किन्तु आदिपर्व (२१९।१८) में सुभद्रा स्पष्ट रूप से वसुदेव की पुत्री कही गयी है—'दुहिता वसुदेवस्य वासुदेवस्य च स्वसा।'

खा लेते हैं जिनमें से उनके मित्र अथवा सम्बन्धी पहले ही खा चुके रहते हैं अथवा जिनका स्पर्श खाते समय उन लोगों से हो गया रहता है। वे दूसरों (अन्य सभी वर्णों) द्वारा स्पर्श किये गये ताम्बूल का चर्वण करते हैं और ताम्बूल खाने के उपरान्त आचमन नहीं करते। धोबी द्वारा धोये और गदहों की पीठ पर लादे गये वस्त्र धारण करते हैं। महापातकियों (ब्रह्महत्या को छोड़कर) के स्पर्श से दूर नहीं रहते। चारों ओर मनुष्य, जाति या परिवार के लिए व्यवस्थित धर्म नियमों का उल्लंघन अधिक मात्रा में पाया जा रहा है, जो श्रुति एवं स्मृति के विरोध में पड़ता है और स्पष्टतः ऐसे अप्रामाणिक कृत्य दुष्कर्म-द्योतक हैं।" इस प्रकार भट्टोजि दीक्षित के शिष्य वरदराज (१६६ ई०) ने अपने गीर्वाणपदमंजरी नामक ग्रन्थ में एक काशीनिवासी ब्राह्मण एवं विजयनगर के एक संन्यासी के बीच हुई वार्ता में ब्राह्मण अतिथि से कहलाया है कि प्रत्येक देश में कुछ दुराचार पाये जाते हैं, यथा दक्षिण में मातुल-कन्या से विवाह, क्षत्रियों में चार वर्ष के पूर्व की विवाह, कर्णाटक में बिना स्नान किये भोजन करना, महाराष्ट्र में ज्येष्ठ पुत्र के पहले कनिष्ठ पुत्र का विवाह और पहाड़ी प्रदेश में नियोग की प्रथा (देखिए पी० पी० के० गोडे का लेख, भारतीय विद्या जिल्द ६, पृ० २७-३)।

शबर के मत से जैमिनि (१।३।८-९) ने आर्यों एवं म्लेच्छों द्वारा विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त यव, वराह एवं वेतस जैसे शब्दों की व्याख्या की है (यववराहाधिकरण में ये सूत्र पाये जाते हैं)। किन्तु कुमारिल को शबर का यह मत नहीं जँचा है। उन्होंने इन दोनों सूत्रों के लिए एक नया विषय चुना है जो स्मृति एवं सदाचार की पारस्परिक श्रेष्ठता पर प्रकाश डालता है, अर्थात् अवरोध होने पर किसको वरीयता या प्रमुखता दी जाय, इसे व्यक्त किया गया है। इस विषय में तीन सम्भव मत प्रस्तुत किये गये हैं—(१) दोनों समान रूप से बलवान् हैं अतः विरोध उपस्थित होने पर विकल्प सहायक होता है, (२) आचार अपेक्षाकृत बलवान है एवं (३) दोनों में स्मृति अधिक बलवान् है। प्रमुख बात तो यह है कि दोनों समान रूप से बलवान् हैं क्योंकि दोनों (स्मृति एवं सदाचार) का मूल वेद है। कुमारिल का अपना निष्कर्ष यह है कि विरोध उपस्थित होने पर स्मृति को अधिक वरीयता प्राप्त है, क्योंकि दोनों में अन्तर है। लोगों को मनु जैसी स्मृतियों पर पूर्ण विश्वास है, मनु आदि स्मृतिकार प्रबुद्ध अथवा ईश्वर प्रेरित ऋषि माने जाते हैं और विभिन्न वैदिक शाखाओं में बिखरे हुए नियमों के उद्बोधक कहे जाते हैं। किन्तु ऐसी बात आज के मनुष्यों के विषय में नहीं कही जा सकती, अतः उनके आचरणों को वह बल अथवा समर्थन नहीं प्राप्त हो सकता जो मनु आदि ऋषियों द्वारा व्यवस्थापित नियमों को प्राप्त होता है। शिष्टों के आचरण से ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि उसका मूल स्मृति में होगा और इसी प्रकार स्मृति का मूल श्रुति में पाया जा सकता है। इस प्रकार आचार वेद से दो स्तर नीचे है और स्मृति केवल एक स्तर नीचे। इसी से कुमारिल कहते हैं कि स्मृति और आचार के विरोध में स्मृति को वरीयता मिलनी चाहिए।

कुमारिल ने जैमिनि के उपर्युक्त सूत्रों की अन्य व्याख्या भी की है, जिसे हम यहाँ नहीं उपस्थित कर रहे हैं।

जैमिनि (१।३।१५-२३) ने होलाकाधिकरण या सामान्यश्रुतिकल्पनाधिकरण में कुछ विशिष्ट बातें दी हैं। इस अधिकरण में प्रथम और अन्तिम दो सूत्र बड़े महत्त्व के हैं। कुछ कृत्य यथा होलाका (वसन्त) का उत्सव पूर्वीय लोगों द्वारा मनाये जाते हैं, आह्नीनैबुक (किसी वृक्ष द्वारा बरगद अथवा वर्ष के बढ़ते हुए पौधे की पूजा) जैसे कुछ कृत्य दाक्षिणात्यों द्वारा मान्य हैं तथा ऋषभयज्ञ (ज्येष्ठ पूर्णिमा को बैलों को सम्मानित किया जाता है और उनकी दौड़ करायी जाती है) नामक कृत्य भारत के उत्तर-पश्चिमी लोगों द्वारा मान्य रहा है। प्रश्न उठता है कि जब हम ऐसा कहते हैं कि ये कृत्य अथवा विशिष्ट व्यवहार वेदों पर आधारित हैं तो अनुमानित तत्सम्बन्धी वेदवचन पूर्व के लोगों, दक्षिणी लोगों आदि तक ही सीमित क्यों रखे गये। पूर्वपक्ष यह है कि उन कृत्यों के आधार के लिए श्रुति का अनुमान करना केवल कुछ निश्चित व्यक्तियों (प्राच्यों, दाक्षिणात्यों आदि) तक ही सीमित रखा जाना चाहिए था। निश्चित निष्कर्ष यही है कि ये कृत्य सार्वजनीन माने जाने चाहिए, क्योंकि वैदिक व्यवस्थाओं से सम्बन्धित सामान्य नियम ऐसा है कि वे

सभी के लिए प्रयुक्त हैं। प्रत्येक वैदिक नियम के पालनकर्ता को तीन विधियो से जाना जाता है—(१) योग्यता से, (२) अनिषिद्धता से तथा (३) विशेष कर्तव्यो के प्रयोग से। जब ऐसा कहा जाता है कि स्वर्ग की इच्छा करनेवाले को यज्ञ करना चाहिए (स्वर्गकामो यजेत) तो इसका तात्पर्य है कि यह तीन प्रकार के द्विजो (ब्राह्मणो, क्षत्रियो एव वैश्यो) के लिए है, क्योकि ये ही लोग पवित्र अग्नियो मे होम कर सकते हैं और वेदाध्ययन कर सकते हैं, शूद्र नही। पतित लोग एव क्लीव वैदिक कृत्य नही कर सकते। "राजा राजसूयेन यजेत" वेद-कथन है, इसका तात्पर्य यह है कि राजा की (क्षत्रिय होने के कारण) यह विशिष्ट उपाधि या विशेषाधिकार है कि वह राजसूय यज्ञ कर सकता है। जब उपर्युक्त तीन विधियाँ न हो तो अन्य वैदिक विधि सामान्यत सबके लिए मान्य होती है (सर्वधर्म)। होलाका, वृषभयज्ञ आदि केवल कुछ देशो के लिए नही हैं, ये सबके प्रयोग के लिए हैं। यदि कोई पूर्व को छोडकर उत्तर चला जाय तो भी वह होलाका उत्सव कर सकता है, भले ही कोई प्राच्य व्यक्ति स्वय उसे न करे। इसके अतिरिक्त 'दाक्षिणात्य', 'प्राच्य' आदि शब्द सापेक्ष (अविविक्त) हैं। कोई दक्षिणी देश किसी दूसरे देश के उत्तर मे हो सकता है। अत होलाका आदि उत्सवो की परम्पराएँ किन्ही विशिष्ट देशो एव लोगो से सम्बन्धित नही हो सकती। ऐसी ही बातें अपने ढग से मेधातिथि (मनु ८।४६) ने भी कही हैं। तन्त्रवार्तिक का कथन है कि ऐसा कभी भी नही कहा जा सकता कि अमुक कृत्य अमुक देश के लिए विहित है। किसी देश मे जन्म लेने, रहने या वहाँ से आने या वहाँ आने के कारण ही व्यक्तियो को उस देश के गुण-धाम प्राप्त होते हैं।

तन्त्रवार्तिक ने व्याख्या की है कि जैमिनि (१।३।१५-२३) के प्रथम दो सूत्रो से एक अन्य प्रश्न उभर आता है—क्या गृह्यसूत्रो एव गौतमसूत्र जैसे अन्य धर्मसूत्रो के नियम केवल कुछ दलो के लिए प्रामाणिक हैं या सभी के लिए? कुमारिल का कहना है कि पुराण, मनुस्मृति एव इतिहास (यथा महाभारत) सभी के लिए समान रूप से प्रामाणिक हैं, गोभिल-गृह्यसूत्र एव गौतमधर्मसूत्र परम्परा से सामवेद के पाठको द्वारा स्वीकृत हैं, वसिष्ठधर्मसूत्र ऋग्वेद-पाठियो द्वारा स्वीकृत हैं, शङ्ख-लिखित के सूत्र शुक्ल-यजुर्वेद के अनुयायियो को तथा आपस्तम्ब एव बौधायन के सूत्र तैत्तिरीय शाखा के अनुयायियो को मान्य हैं। शास्त्रदीपिका का कथन है कि एक विद्वान् जो सामवेद का पाठक था, अपने ग्रन्थ को उन शिष्यो को भी पढाता था जो उससे सामवेद भी पढते थे और उसके विद्यार्थी आगे चलकर उसके ग्रन्थ को अन्य लोगो को पढ़ाते थे और इस प्रकार एक ऐसी परम्परा उठ खडी हुई कि सामवेद के पाठक गौतमसूत्र भी पढने लगे। अत ऐसा कहना कि गृह्य-सूत्र किसी विशिष्ट दल से सम्बन्धित थे, भ्रामक है। यही बात विशिष्ट व्यवहारो के विषय मे भी है। यह नही है कि कोई विशिष्ट उपाधि (कर्तव्य) या विशेषता सार्वजनीन नहीं हो सकती, अत होलाका जैसे कृत्य किसी विशिष्ट देश या जन-समुदाय के लिए ही मान्य नही हो सकते, वे सार्वजनीन रूप भी धारण कर सकते हैं।

वैधानिक परम्पराओ की विशेषताएँ पूर्व-मीमासा के लेखको द्वारा निम्न रूप से बतायी गयी हैं। वे परम्पराएँ प्राचीन होनी चाहिए, उन्हें श्रुति-स्मृति-सम्मत होना चाहिए, शिष्टो द्वारा उन्हे मान्य होना चाहिए, शिष्ट लोग उन्हे जान-बूझकर जीवन में कार्यान्वित करें, उनके पीछे दृष्टार्थ नही होना चाहिए तथा उन्हें अनैतिक नही होना चाहिए। परम्पराओ के अतिरिक्त सामान्य प्रयोगो या रीतियो के विषय मे पूर्वमीमासको ने कोई बन्धन नही डाला, केवल इतना ही कहा कि उन्हें भी अदृष्टार्थ होना चाहिए। खण्डदेव का कहना है कि केवल वे ही परम्पराएँ वेद पर आधारित मानी जायेंगी जो वेद एव स्मृतियों के विरोध मे न पड़ें और जिन्हे शिष्ट लोग इस विश्वास मे स्वीकार करें कि वे ऐसा करने से धर्मानुसरण ही करते है। मेधातिथि ने मनु (२।१८) की व्याख्या मे कहा है—"वह स्मृति, जो वेद के विरोध मे है या जिसके वचन परस्पर-विरोधी हैं या जो दृष्टार्थ है या लौकिक वृत्तियो को प्रतिपादित करती है, वेद पर आधारित नही मानी जा सकती।" मीमासाकौस्तुभ (पृ० ५१, जै० १।३।७) ने एक श्लोक उद्धृत कर कहा है—"केवल वे ही, जिनके पूर्वजो मे कुछ रीतियाँ कई पीढ़ियो से मान्य रहती आयी हैं, उन रीतियो को स्वीकार कर सकते हैं (जब कि वे रीतियाँ श्रुति-स्मृति

विरोधी न हो) अन्य लोग जिनके पूर्वजों में ऐसी रीतियाँ स्वीकृत नहीं रही हैं, ऐसा करेंगे तो अपराध माना जायगा।

कुमारिल ने तन्त्रवार्तिक (जै० १।३।१४ पृ० ८५९-८६) में बाध पर एक पाण्डित्यपूर्ण विवेचना उपस्थित की है। उनके द्वारा एकत्र बातों में कुछ पर इस विवेचना की समाप्ति में हम प्रकाश डालेंगे। उनका कहना है कि प्रत्यक्ष अनुमान के सामने अनुमान का, श्रुति के समक्ष स्मृति का कोई मूल्य नहीं है। वह स्मृति जो प्रामाणिक व्यक्ति द्वारा प्रणीत नहीं है और जिसके वचन परस्पर-विरोधी हैं, प्रामाणिक एवं अनात्मविरोधी स्मृति के समक्ष कुछ महत्त्व नहीं रखती। दृष्टार्थ वाली स्मृति अदृष्टार्थ वाली के आगे महत्त्वहीन है। श्रुतिमूलक अनुमान पर आधारित स्मृति या वैदिक वचन की प्रथमा में कही गयी वैदिक उक्तियों पर आधारित स्मृति स्वयं (प्रत्यक्ष) श्रुति-वचन पर आधारित स्मृति के समक्ष महत्त्वहीन है। (इसी प्रकार) रीति स्मृति के समक्ष कुछ अर्थ नहीं रखती और कोई रीति शिष्टों द्वारा स्वीकृत रीति के समक्ष महत्त्वहीन है।

अध्याय ३३

परम्पराएँ एवं धर्मशास्त्र-ग्रन्थ

हम इस अध्याय मे देखेंगे कि धर्मशास्त्र सम्बन्धी ग्र थो ने किस प्रकार परम्पराओ एव रीतियो की प्रामाणिकता एव उनकी अनुल्लघनीय शक्ति का विवेचन किया है। हारीत ने सदाचार की परिभाषा यो की है—'सत्' का अर्थ है साधु (अच्छा) और साधु लोग वे हैं जो क्षीण-दोष (अनैतिक कर्मरहित) है, ऐसे लोगो के आचरण सदाचार कहे जाते है।[1] मनु ने भी सदाचार की परिभाषा की है (२।१८)।

अधिकाश प्राचीन सूत्रो ने भी प्रमाणित किया है कि बहुत-सी परम्पराएँ एव रीतियाँ विभिन्न देशो एव ग्रामो में उद्भावित हुई। आश्वलायनगृह्यसूत्र (१।७।१-२) का कथन है—"वास्तव मे देशो (जनपदो) एव ग्रामो के बहुत-से धर्म (आचार या रीतियाँ) हैं, लोगो को विवाहो मे उनका अनुसरण करना चाहिए जो सबमे समान (सार्वजनीन) हैं, हम उनका वर्णन करेंगे।"[2] आप० गृ० सू० (२।१५) मे कहा गया है—"किस रीति की विधि का पालन करना चाहिए, इस विषय मे लोगो को स्त्रियो से पूछना चाहिए," और आप० ध० सू० (१।७।२०।८=२।११।२९।१४) ने व्यवस्था दी है कि आर्यो द्वारा सभी देशो मे सर्व-सम्मति से अनुमोदित आचरण के अनुसार तथा सम्यक् अनुशासित व्यक्तियो, वृद्धो, इन्द्रिय-निग्रहियो, अलोभियो और अदाम्भिको (छल-छद्मविहीनो) के आचरणो के अनुसार व्यक्ति को अपने कर्तव्य का निर्धारण करना चाहिए। और एक सूत्र में कहा गया है—कुछ आचार्यो का कहना है कि धर्मशेष (शास्त्रवर्णित धर्मनियमो से बाकी बचे हुए) कृत्य स्त्रियो मे और सभी जाति के मनुष्यो से समझने चाहिए (स्त्रीभ्यश्च सर्ववर्णेभ्यश्च धर्मशेषान्प्रतीयादित्येके। २।२।२९।१५)। बौ० ध० सू० (१।५।१३) का कहना है कि (श्राद्ध के सबन्ध मे)—"अन्य क्रियाओ के विषय मे लोक-रीतियो का पालन करना चाहिए।"[3] कतिपय गृह्यसूत्रो (पारस्कर २।१७, मानव गृह्यसूत्र १।४।६) ने कृषि कर्म, छुट्टियो अर्थात् अनध्याय आदि के आरम्भ करने के विषय मे लोगो द्वारा पालित होनेवाले आचरणो की ओर सकेत किया है। हम इनके विस्तार के विषय मे यहाँ नही पड़ेंगे। मनु (४।१७८) ने सभी मनुष्यो के लिए सामान्य व्यवस्था दी है—"व्यक्ति को उसी मार्ग का अनुसरण करना चाहिए जिस पर सज्जनो के पिता एव पितामह चलते आये हैं, ऐसा करने से उसकी कोई हानि नही होगी।"[4] सामान्य मनुष्यो के लिए यह विधि समझने एव अनुसरण करने के लिए

१ साधव क्षीणदोषा स्यु सच्छब्द साधुवाचक । तेषामाचरण यत्तु स सदाचार उच्यते ॥ हारीत (परा० मा० १, भाग १, पृ० १४४), विष्णुपुराण (३।११।३, वीपकलिका—याज्ञ० १।७)।

२ अथ खलूच्चावचा जनपदधर्मा ग्रामधर्माश्च तान् विवाहे प्रतीयात्। यत्तु समान तद्वक्ष्याम । आश्व० गृ० सू० (१।७।१-२)।

३ शेषक्रियायां लोकोनुरोद्धव्य । बौधायनधर्मसूत्र (१।५।१३)।

४ येनास्य पितरो याता येन याता पितामहा । तेन यायात्सता मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यति ॥ मनु (४।१७८)। और देखिए तन्त्रवार्तिक (१।३।७), मिता० (याज्ञ० १।१५४) एव मेधा० (मनु २।१८)।

सरल है। यह वचन स्पष्ट करता है कि परिवर्तन अथवा प्रगतिशीलता की गुंजाइश सर्वत्र अनुभूत होती रही है, परिवर्तन का भय निरर्थक है, जैसा कि बहुधा पहले और आजकल के कुछ लोग भ्रामक ढंग से समझते अथवा करते आये हैं। हमारे धर्मशास्त्रों ने नयी रीतियों अथवा श्रेष्ठ पुरुषों एवं शिष्टों की रीतियों को, जो समयानुसार समाजकल्याण एवं नयी व्यवस्थाओं के लिए स्थित्यनुकूल परिवर्तित होती रही हैं, सर्वत्र मान्यता दी है। आचार या सदाचार सुस्पष्ट अथवा प्रत्यक्ष होता है और विरोधी मतों की स्थिति में समझौता करने में इसे समझना बड़ा सरल होता है, इसी से प्राचीनतम स्मृतियों एवं पुराणों में इसकी प्रशंसा की गयी है। देखिए मनु (४।१५५-१५८), वसिष्ठ (६।१-८), अनुशासनपर्व (१०४।९-१), विष्णु (७१।९०-९२), मार्कण्डेय (३४), ब्रह्मपुराण (१२१।६९), विष्णुपुराण (३, अध्याय ११-१२) एवं कूर्मपुराण (उत्तरार्ध, अध्याय १५)।

परम्पराओं के अनुसरणीय स्वरूप के विषय में सामान्य नियम निम्न प्रकार का है। गौतम (११।२०) कहते हैं—"देश, जाति एवं कुल के धर्म जो वैदिक वचनों के विरोध में नहीं पड़ते, प्रामाणिक एवं अनुसरणीय हैं।" गौतम ने इसके आगे के दो सूत्रों में कहा है कि कृषक (खेतिहर), वणिक्, पशुपालक, कुसीदी (महाजन या सूदी चलानेवाले ऋणदाता अथवा ब्याज पर रुपया देनेवाले) एवं शिल्पी अपने-अपने वर्गों के लिए धर्म-व्यवस्थाएँ एवं रीतियाँ बना सकते हैं और इन व्यवस्थाओं अथवा रीतियों से उत्पन्न विवादों के निर्णयों में राजा को उन लोगों से सम्मति लेनी चाहिए जो इन वर्गों में श्रेष्ठता प्राप्त किये रहते हैं। वसिष्ठ (१।१७) का वचन है—"मनु ने घोषित किया है कि देशों, जातियों एवं कुलों की परम्पराएँ वेद-नियमों के अभाव में सम्मानित होनी चाहिए" और उन्होंने आगे चलकर एक स्थान (१९।७) पर व्यवस्था दी है कि "राजा को चाहिए कि वह इन परम्पराओं (धर्मों) को चारों वर्णों द्वारा पालित कराये।" यही बात आप० ध० सू० (२।६।१५।१) में भी कही है किन्तु यह मत क्यागता है बौधायनधर्मसूत्र (१।१।१९-२६) को मान्य नहीं है—"दक्षिण और उत्तर में पाँच प्रकार के व्यवहारों में मतैक्य नहीं है। हम दाक्षिणात्यों के नियमों की व्याख्या करेंगे जो ये हैं—जिनका उपनयन न हुआ हो उनके साथ (एक ही पात्र में) भोजन करना, पत्नी के साथ उसी प्रकार भोजन करना, पर्युषित भोजन (बासी भोजन) करना एवं मातुलकन्या या फूफी की पुत्री से विवाह करना। उत्तरी लोगों की विशेष पाँच रीतियाँ ये हैं—ऊर्णाविक्रय (ऊन बेचना), सीधु-पान (सीधु नामक आसव का जो ईख या सीरा से बनाया जाता है, पीना), दो दन्त-पंक्तियों वाले पशुओं का व्यापार, आयुधजीवी (अस्त्र-शस्त्र का पेशा करना) होना तथा समुद्र-यात्रा। अन्य देशों के लोग जब इन रीतियों का अनुसरण करते हैं तो पाप के भागी होते हैं। इन रीतियों को उन्हीं देशों में प्रामाणिकता मिली है जहाँ पर वे विशिष्ट रूप से मान्य होती रही हैं। गौतम का कहना है कि यह बात गलत है और झूठ है, उनके कहने के अनुसार वे रीतियाँ स्वीकार्य नहीं होनी चाहिए, क्योंकि वे शिष्टों की परम्परा के विरुद्ध हैं (या शिष्ट-स्मृतिविरोधी हैं)। तन्त्रवार्तिक (पृ० २११) ने आपस्तम्ब एवं बौधायन की उक्तियों की चर्चा की है और कहा है कि आपस्तम्ब का तत्सम्बन्धी सामान्य नियम वैधानिक नहीं माना जाना चाहिए, क्योंकि यह गौतम (११।२०) के विरोध में पड़ता है, और उसने (तन्त्रवार्तिक ने) बौधायन के वचन की मान्यता प्रकट की है कि वे विशेष आचरण, जो कुछ विशिष्ट स्थानों में प्रचलित हैं, उन विशेष स्थानों के लिए भी वैधानिक एवं अनुसरणीय नहीं समझे जाने चाहिए, क्योंकि वे मनु आदि प्रतिष्ठित सम्पूर्ण एवं प्रामाणिक धर्मशास्त्रकारों के विरोध में पड़ते हैं।

५ देशजातिकुलधर्माश्चाम्नायैरविरुद्धाः प्रमाणम्। कर्षकवणिक्पशुपालकुसीदिकारवः स्वे स्वे वर्गे। तेभ्यो यथाधिकारमर्थान्प्रत्यवहृत्य धर्मव्यवस्था। गौ० (११।२०-२२); देशधर्मजातिधर्मकुलधर्मान् श्रुत्यभावादब्रवीन्मनुः। वसिष्ठ० (१।१७)।

मनु ने कतिपय स्थानो पर परम्पराओ एव रीतियो के प्रतिष्ठापन की व्यवस्था दी है—"विजयी राजा द्वारा विजित देश की वैधानिक परम्पराओं को प्रामाणिकता एव अनुल्लघनीयता दी जानी चाहिए" (मनु ७।२०३), 'धर्मज्ञ राजा को चाहिए कि वह जाति, जानपदो (देशो), श्रेणियो एव कुलो के धर्मो (रीतियो या नियमो या विधियो) की जानकारी सावधानी से करे और उन्हे उन विशिष्ट स्थानो मे व्यवस्थित करे। शिष्टो (सद् व्यक्तियो) एव धर्मज्ञ द्विजो द्वारा प्रयुक्त जो धर्माचरण है उसे राजा द्वारा नियम के रूप मे प्रतिष्ठित करना चाहिए, बशर्ते वह जानपदो, कुलो एव जातियो की परम्पराओं के विरुद्ध न हों' (मनु ८।४१ एव ४६)।[6] मेधातिथि (मनु २।६) ने कहा है कि यह राजा का कर्त्तव्य है कि वह यह समझ ले कि जानपदो, कुलो, जातियो एव श्रेणियो की परम्पराएँ वेद-विरुद्ध तो नही हैं, अथवा अन्यो के लिए अहितकर तो नही हैं, अथवा पूर्णरूपेण अनैतिक (यथा अपनी माँ से विवाह करना) तो नही हैं, केवल वे ही परम्पराएँ राजा द्वारा प्रतिष्ठापित होनी चाहिए जो ऐसी नही हैं, शिष्टो के सदाचार वेद-स्मृतिकथनो के अभाव मे सम्मान्य होने चाहिए और यह समझना चाहिए कि वे वेद पर आधारित हैं (शिष्टो को वेदज्ञ, अलोलुप एव सदाचारी होना परमावश्यक है)। मेधातिथि ने इस प्रकार के सदाचार के कई उदाहरण दिये हैं और महाभारत (वनपर्व ३१३।११७) के वचनो का सहारा लिया है—"(सत्य) धर्म का तत्त्व अधेरी गुफा मे छिपा हुआ है, (ऐसी स्थिति मे एक मात्र) मार्ग वही है जिसका अनुसरण महाजन (शिष्ट जन) करते हैं।"[7] मनु (१।११८) ने घोषित किया है कि उन्होंने अपने शास्त्र (शास्त्र-विधान या व्यवस्था-विधि) मे देशो (जनपदो), जातियो एव कुलो के प्राचीन (बहुत दिनो से चलते आये हुए) कानूनो (या परम्पराओ) एव पाषडियो (नास्तिको या वेद-विरोधियो) तथा श्रेणी (व्यापारियो आदि के वर्ग) के नियमो का विवेचन किया है। याज्ञ० (१।३४३) ने व्यवस्था दी है कि जब विजयी राजा किसी देश को जीतता है तो उसे वहाँ की परम्पराओं, कानूनो एव व्यवहार-विधियो (कानूनी प्रणालियो) अथवा न्याय-विधियो तथा पीढ़ियो से चली आयी हुई कुलरीतियो (जब कि वे शास्त्र विरोधी न हो) को सुरक्षित रखना चाहिए और जैसा कि मिताक्षरा ने कहा है कि राजा को अपने देश की रीतियो को विजित देश पर लादकर विरोध नही खडा करना चाहिए। याज्ञ० (२।१९२) ने मनु और गौतम के समान प्रतिपादित किया है कि राजा को उसी प्रकार श्रेणियो (शिल्पियो के समुदायो, दलो अथवा वर्गो), नैगमो (व्यवसायियो), पाषडियो एव अन्य समुदायो (यथा आयुधजीवियो के समुदाय के समान अन्य समुदायो) की विभिन्न रीतियो को उसी प्रकार मान्यता देनी चाहिए जिस प्रकार वह विद्वान् ब्राह्मणो के प्रयोगो

६ जातिजानपदान्धर्मान् श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित्। समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत्॥ मनु (८।४१)। इस पर मेधातिथि ने यो टीका की है—"समीक्ष्य विचार्य किमाम्नायैर्विरुद्धा अथ न तथा पीडाकरा कस्यचिदुत न एव विचार्य येऽविरुद्धास्तान् प्रतिपादयेत् अनुष्ठापयेदित्यर्थः। मातृविवाहादि सार्वभौमेन निवारणीय। एककार्यापन्ना वणिक्कारुकुसीदचातुर्विद्यादय तेषां धर्मा श्रेणीधर्मा।" कुछ ग्रन्थों मे ऐसा आया है कि पारसीको मे माता से विवाह करने की अनैतिक प्रथा थी। देखिए यशस्तिलकचम्पू—'श्रूयते हि वगीमण्डले नृपतिदोषाद् भदेवेष्वासवोपयोग पारसीकेषु च स्वसवित्रीसयोग सिंहलेषु विश्वामित्रसृष्टि-प्रयोग इति।' (चौथा आश्वास, पृ० ९५)। देखिए स्मृतिमुक्ताफल (पृ० १३०) एव स्मृतिच० (१, पृ० १०)।

७ अथाप्यत्र न्यायो महाजनो येन गत स पन्था इति..। विद्वांसो ह्यत्र निष्कामा प्रवृत्तिपूर्वा अनिंद्याश्च लोके। अथाप्रामाणिकी प्रवृत्ति सापि वेदप्रामाण्यात् सिद्धैवेति। मेधा० (मनु २।१)। वनपर्व (३१३।११७) का मूल श्लोक यह है—'तर्कोऽप्रतिष्ठ श्रुतयो विभिन्ना नैको ऋषिर्यस्य मत प्रमाणम्। धर्मस्य तत्त्व निहित गुहायां महाजनो येन गत स पन्था॥ विश्वरूप (याज्ञ० १।९) ने भी 'धर्मस्य तत्त्व निहित गुहायाम्' ये शब्द उद्धृत किये हैं।

के निवासियों के बीच यदि रीति सम्बन्धी विरोध उठ खड़े हों तो निर्णय परम्परागत रीतियों के आधार पर ही किया जाना चाहिए, किन्तु इन स्थानों के निवासियों एवं अन्य लोगों में मतभेद उत्पन्न हो जायँ तो निर्णय शास्त्रों के मतानुकूल किया जाना चाहिए। अतः राजा को लोगों के विवादों को शास्त्र के अनुकूल निपटाना चाहिए, किन्तु शास्त्रवचनों के अभाव में उसे देश के दृष्ट (रीति) के अनुसार न्याय-निर्णय करना चाहिए। जो कुछ देश के लोगों की सम्मति से तय किया जाय, उसे राजा की मुद्रा द्वारा मुद्रित कर रक्षित करना चाहिए। इस प्रकार की परम्पराओं को उसी प्रकार मान्यता मिलनी चाहिए जो शास्त्र द्वारा निरूपित आदेशों को मिलती है और राजा को सावधानीपूर्वक उन पर विचार करके विवादों के विषयों में निर्णय करना चाहिए।" देखिए स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० २६), परा० मा० (३।६१), अपरार्क (पृ० ५९९), व्य० प्र० (पृ० २१-२२) एवं व्य० नि० (पृ० १५-१६)। यहाँ पर कात्यायन प्रमुख रूप से उन न्यायिक विवादों के विषय में कहते हैं जो देशों और कुलों के आचारों पर आधारित हैं किन्तु जिनके नियम की सामान्य प्रयोग-सिद्धि भी है। उन्होंने यह भी कहा है कि कानूनों (व्यवहारों) में भेद उत्पन्न होने पर शास्त्र को प्रमुखता मिलती है। पितामह ने भी ग्राम, गोष्ठ, पुर, श्रेणी की रीतियों के विषय में ऐसी ही बात कही है और कहा है कि बृहस्पति का भी ऐसा मत है (स्मृतिच० २, पृ० २६)। मनु (८।३) ने भी राजा को लोगों के विवाद-निर्णय में देश-दृष्ट हेतु (स्थानीय आचारों) एवं शास्त्र-दृष्ट (शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित नियमों) का सहारा लेने का आदेश दिया है। मेधातिथि ने मनु के इस कथन की टीका में स्थानीय आचारों से सम्बन्धित कुछ मनोरंजक दृष्टान्त उपस्थित किये हैं, दक्षिण के कुछ स्थानों में पुत्रहीन विधवा को न्यायकक्ष में बैठने के लिए एक वर्गाकार आसन मिलता है जहाँ उस पर न्यायिक कर्मचारियों द्वारा पासा फेंका जाता है और उसके उपरान्त उसे पति की सम्पत्ति प्राप्त होती है (देखिए ऋग्वेद १।२५।७ की व्याख्या में निरुक्त ३।५), उत्तर में यह रीति है कि जब कुछ लोग वर की ओर से विवाह के लिए वधू खोजने के लिए जाते हैं और कन्या के पिता के घर में भोजन कर लेते हैं तो इससे यह समझा जाता है कि मानो पिता ने उस वर को अपने दामाद के रूप में ग्रहण करने की स्वीकृति दे दी है। ये दोनों आचार अथवा व्यवहार किसी श्रुति अथवा स्मृति के विरोध में नहीं हैं। मेधातिथि ने कुछ ऐसी स्थानीय रीतियों का वर्णन किया है जो स्मृतिविरोधी हैं, यथा—वसन्त में जो अनाज दिया जाता है वह शरद में दूनी मात्रा में लिया जाता है, यह स्मृतियों द्वारा निर्धारित ब्याज की मात्रा के विरोध में पड़ता है।

श्रुति, स्मृति एवं सदाचार की पारस्परिक वरीयता के विषय में जो प्रश्न उपस्थित होता है, उसका समाधान सरल नहीं है, क्योंकि इस विषय में जो नियम प्रतिपादित हैं उनमें मतैक्य नहीं पाया जाता। मनु (२।६), वसिष्ठ (१।४-५) एवं याज्ञ० (१।७) ने धर्म के प्रमाणों के रूप में क्रम से श्रुति, स्मृति एवं सदाचार का उल्लेख किया है, इसी से मिताक्षरा का कथन है कि "विरोध की स्थिति में तीनों में प्रत्येक के पूर्ववर्ती प्रमाण को अपेक्षाकृत अधिक वरीयता एवं अनुल्लंघनीयता प्राप्त है (एतेषां विरोधे पूर्वपूर्वस्य बलीयस्त्वम्)। सभी स्मृतिकारों ने उन लोगों के लिए जो धर्म का ज्ञान करना चाहते हैं, श्रुति या वेद को सबसे अधिक प्रामाणिक मानने को कहा है (मनु २।१३ एवं याज्ञ० १।४०)। गौतम (१।५), मनु (२।१४) एवं जाबालि ने घोषित किया है कि जब दो वैदिक वचनों में विरोध उत्पन्न हो तो विकल्प का सहारा लेना चाहिए। इस विषय में जो बहुत-सी बातें कही गयी हैं, हम स्थानाभाव से उन पर यहाँ विचार नहीं करेंगे। हाँ, कुछ ऐसे नियम हैं जो सामान्य होते हैं और कुछ ऐसे हैं जो विशिष्ट कहे जाते हैं, इसी से स्थान-स्थान पर एवं विशिष्ट-विशिष्ट परिस्थितियों में अर्थवाद का सहारा लेकर नये-नये निर्णय किये गये हैं, यथा ब्रह्महत्या महापातक माना गया है (मनु ८।३८१) किन्तु आत्मरक्षा में ब्रह्महत्या करना पातक नहीं ठहराया गया है (मनु ८।३५०), गुरु की हत्या निषिद्ध है किन्तु आततायी गुरु की हत्या वर्जित नहीं मानी जाती। इस विषय में हम कुछ दृष्टान्त आगे देंगे, यहाँ इतना ही पर्याप्त है।

हमने पहले अध्याय में पूर्वमीमांसा द्वारा व्याख्यात उन नियमों की ओर संकेत कर दिया है जो श्रुति एवं स्मृति के नियमों के विरोध से सम्बन्धित हैं। जैमिनि (१।३।३-४) एवं शबर ने एक दृष्टान्त दिया है, यदि मनु (८।४१६) पर निर्भर होकर पूर्वपक्ष यह तर्क उपस्थित करे कि स्त्रियाँ सम्पत्ति नहीं पातीं अतः उन्हें वैदिक यज्ञ नहीं करना चाहिए, तो यह श्रुतिविरोधी व्याख्या कही जायगी और स्त्रियों द्वारा उसे मान्यता नहीं प्राप्त हो सकती। इस विषय में स्मृतियों ने भी कुछ सामान्य नियम दिये हैं। कौमारिल एवं जाबालि ने प्रतिपादित किया है कि श्रुति एवं स्मृति के विरोध में पहली को अधिक मान्यता मिलती है और यदि विरोध न हो तो यह समझना चाहिए कि स्मृति का यह वचन श्रुतिसमर्थित है। मिताक्षरा (याज्ञ० ३।८६) ने स्वीकार किया है कि वेदविहित बात स्मृतिविहित किसी विशिष्ट बात से बाधित नहीं की जा सकती। किन्तु उपर्युक्त श्रुतिसम्मत नियमों की कठोरता को भ्रष्ट करनेवाले सामान्य वचनों के रहते हुए भी विश्वरूप, मेधातिथि एवं विज्ञानेश्वर के समान टीकाकारों को यह स्वीकार करना पड़ा कि श्रुतियों में जो कुछ नियम प्रतिपादित हुए वे स्मृतिवचनों द्वारा अथवा प्रचलित मनोभावों द्वारा या तो बाधित किये गये या वर्जित किये गये या परित्यक्त किये गये। अग्निष्टोम यज्ञ में उदयनीया इष्टि की परिसमाप्ति के उपरान्त वैदिक वचनों द्वारा एक कृत्य प्रतिपादित किया गया था जिसके द्वारा मित्र और वरुण के लिए एक बाँझ गाय (अनुबन्ध्या) की बलि दी जाती थी। किन्तु कालान्तर में *इसे निन्द्य ठहराया गया और गाय के स्थान पर आमिक्षा (गर्म दूध और दही के मिश्रण) का प्रयोग होने लगा।* देखिए इस ग्रन्थ का खंड २, अध्याय ११। याज्ञ० (३।२३४) ने गोवध को उपपातकों में प्रथम स्थान दिया है। मेधातिथि (४।१७६) ने यह कहने के उपरान्त कि विश्वजित् यज्ञ में सम्पूर्ण सम्पत्ति के दान या गोवध जैसे कृत्य नहीं सम्पादित होने चाहिए (यद्यपि वे वेदानुमोदित हैं) कहा है कि उन्होंने ऐसी व्याख्या अपने पूर्ववर्ती लेखकों के मतों के अनुसार की है किन्तु उनके अनुसार श्रुतिवचन स्मृतिवचनों द्वारा बाधित नहीं हो सकता। और देखिए विश्वरूप (पृ० २६ याज्ञ० १।७)। कभी-कभी सैद्धान्तिक रूप से दुर्बल स्मृतिवचन को श्रुतिवचन से अधिक महत्ता मिल गयी है, यथा—वेद में सौत्रामणि इष्टि में ब्राह्मण से कटोरों को चाटने की व्यवस्था की है, जो कलियुग में वर्जित ठहराया गया है (देखिए आगे का अध्याय कलिवर्ज्य)।

सामान्य नियम यह है कि जब आचार या रीति श्रुतिवचन के विरोध में हो तो श्रुति (वेद) को ही मान्यता मिलती है। आपस्तम्ब ने इस नियम को कई बार बलपूर्वक प्रतिपादित किया है, यथा—आप० ध० सू० (१।१।४।८, १।१२।१।८-९ एवं २।६।१३।८-९ आदि)।

स्मृतिवचनों के पारस्परिक विरोध के समाधान का प्रश्न अपेक्षाकृत अधिक कठिनाई उत्पन्न करता है। बहुत प्राचीन काल से ही स्मृतिकारों के वचनों में आन्तरिक विरोध पाया जाता रहा है। कुछ दृष्टान्त उपस्थित हैं। आप० ध० सू० (१।६।१९।१२) ने जिन लोगों के यहाँ ब्राह्मण भोजन कर सकता है, के विषय में अपने पूर्ववर्ती दस लेखकों के मत प्रकाशित किये हैं। हमने ऊपर स्थानीय रीतियों की वैधानिकता के सम्बन्ध में गौतम एवं बौधायन के मतों पर प्रकाश डाल दिया है। मनु ने चार ऋषियों के तीन मत इस विषय में प्रकाशित किये हैं जो उस ब्राह्मण की स्थिति से सम्बन्धित हैं जो शूद्रा से विवाह करता है या उससे पुत्र या सन्तान उत्पन्न करता है। बौधा० ध० सू० (१।८।२) मनु (३।१३) विष्णु (२४।१।८) पारस्कर (१।४) एवं वसिष्ठ (१।२५) ने व्यक्त किया है कि ब्राह्मण लोग शूद्र पत्नी कर सकते हैं किन्तु याज्ञ० (१।५६) ने इसका विरोध किया है और कहा है कि मेरा ऐसा मत नहीं है। इन स्थितियों

१२. न हि प्रत्यक्षश्रुतिविहितस्य स्मृत्या बाधो न्याय्यः। मेधा० (मनु ४।१७६) तेन वेदविरुद्धाया स्मृतेर्बाध इति दर्शितम्। विश्वरूप (पृ० २६ याज्ञ० १।७)।

में मध्यकाल के निवन्धो और टीकाकारो को वाध्य होकर व्याख्या द्वारा नियम प्रतिपादित करने पडे। वहुत पहले एक वात प्रतिपादित की जा चुकी थी कि जव दो स्मृति-वचनो में विरोध हो तो शिष्टो के व्यवहार पर आधारित तर्क को अधिक वल देना चाहिए (याज्ञ० २।२१)।[13] मिताक्षरा ने कहा है कि ऐसी स्थिति मे ऐसा समझना चाहिए कि एक स्मृति-वचन सामान्य नियम देता है तो दूसरा स्मृति-वचन विशिष्ट नियम, जो सामान्य नियम की अपेक्षा अच्छा समझा जाता है, या ऐसा समझना चाहिए कि वह स्मृति-वचन भिन्न परिस्थितियो से सम्बन्धित है या अन्तिम रूप मे उसे विकल्प रूप मे लेना चाहिए। किन्तु इन निष्कर्षों तक पहुँचने मे शिष्टो के आचारो का अनुसरण करना चाहिए, जो किसी नियम को मान्यता देते हैं, किसी को छोड देते हैं या उसकी चिन्ता नही करते। वृहस्पति का कथन है—"किसी विवाद के निर्णय मे केवल शास्त्रो पर निर्भर नही रहना चाहिए, क्योकि निर्णय मे तर्क के अभाव से धर्म की हानि होती है।"[14] नारद (१।४०) ने मिताक्षरा के समान ही कहा है—"जव धर्मशास्त्र के वचनो मे विरोध हो तो ऐसा घोषित हुआ है कि (उस स्थिति मे) तर्क का सहारा लेना चाहिए। क्योकि लोक-व्यवहार (शिष्टो का आचरण) वलवान् होता है और उससे धर्म (स्मृति-वचन) अपेक्षाकृत दुवल पड जाता है (अथवा उससे धर्म का उचित ज्ञान हो जाता है)।" निष्कर्ष यह है कि जव शास्त्रीय नियम सकीर्ण सिद्ध हो जायँ या जव वे प्रगतिशील समाज के मतो की सगति मे न वैठ सकें तो शिष्टो के वचन को प्रामाणिकता मिलनी चाहिए।

एक नियम ऐसा भी था कि जव धर्मशास्त्र एव अर्थशास्त्र के नियमो मे विरोध पड जाय तो प्रथम को अधिक वल या प्रामाणिकता मिलनी चाहिए और दूसरे को तिरस्कृत कर देना चाहिए।[15] देखिए आप० ध० सू० (१।९।२४।२३), याज्ञ० (२।२१), नारद (१।३९) एव कात्यायन (२०)। अर्थशास्त्र के नियमो का सम्वन्ध लौकिक उद्देश्यों की पूर्ति मे है और धर्मशास्त्र के नियम अदृष्टार्थ है, अर्थात् उनसे पारलौकिक फल प्राप्त होते हैं, अत आध्यात्मिक दृष्टिकोण से उसे अपेक्षाकृत अधिक महत्ता प्राप्त है।

स्मृतियो के विरोध के समाधान के लिए कई प्रकार की विधियाँ प्रतिपादित हुई हैं। वृहस्पति का कथन है—"मनुस्मृति को प्रमुखता या प्रधानता प्राप्त है, क्योकि वह वेदार्थ उपस्थित करती है (अर्थात् वेदो के वचनो के अर्थ को एकत्र करती है), वह स्मृति जो मनु के अर्थ के विपरीत है, अच्छी नही मानी जाती, अर्थात् उसे प्रशसा नही मिलती।"[16]

१३ स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु वलवान् व्यवहारत । याज्ञ० (२।२१)।

१४ न्यायमनालोचयतो दोषमाह वृहस्पति । केवल शास्त्रमाश्रित्य न कर्तव्यो हि निर्णय । युक्तिहीने विचारे तु धर्महानि प्रजायते॥ व्य० मयूख (पृ० ७), परा० मा० (३, पृ० ३९), व्य० मातृका (पृ०२८१), स्मृतिच० (२, पृ० २४), व्य० प्र० (पृ० १३), धर्मशास्त्रविरोधे तु युक्तियुक्तो विधि स्मृत । व्यवहारो हि वलवान् धर्मस्तेनावहीयते॥ नारद (१।४०)। व्य० मातृका (पृ० २८२) के मत से 'युक्ति' का अर्थ है लोकव्यवहार। और देखिए व्यवहारतत्त्व (प० १९९), धर्मशास्त्रयोस्तु विरोधे लोकव्यवहार एवादरणीय। अवहीयते अवगम्यते, हि गतावित्यस्माद्धातो।

१५ यत्र विप्रतिपत्ति स्याद्धर्मशास्त्रार्थशास्त्रयो। अर्थशास्त्रोक्तमुत्सृज्य धर्मशास्त्रोक्तमाचरेत्॥ नारद (१।३९), मेधा० (मनु ७।१)।

१६ वेदार्थोपनिवद्ध(न्द्धृ ?)त्वात् प्राधान्य हि मनो स्मृतम्। मन्वर्थविपरीता तु या स्मृति सा न शस्यते॥ तावच्छास्त्राणि शोभन्ते तर्कव्याकरणानि च। धर्मार्थमोक्षोपदेष्टा मनुर्यावन्न दृश्यते॥ वृह० (कुल्लूक, मनु १।१)। और देखिए अपरार्क (पृ० ६२८), स्मृतिच० (१, पृ० ६ एव ७)।

यही बात वसिष्ठ ने भी कही है। मिताक्षरा (याज्ञ० १।३) ने मनुस्मृति आदि को 'महास्मृति' की संज्ञा दी है। कुछ लेखकों ने वैदिक वचन उद्धृत किया है—"मनु ने जो कुछ कहा है वह वास्तव में भेषज (औषध) है।" यहाँ मनु को (मनुस्मृति के लेखक मनु को) वेदों में उल्लिखित मनु के समनुरूप माना गया है।[17] किन्तु इससे अधिक सहायता नहीं प्राप्त होती। अतः एक अन्य दृष्टिकोण उपस्थित किया गया कि कुछ कालों में आचार के कुछ विशिष्ट नियम तथा कुछ विशिष्ट स्मृतियाँ विशिष्ट प्रामाणिकता रखती हैं। मनु (१।८५-८६—शान्तिपर्व २३२।२७-२८—पराशर १।२२-२३—बृहत्पराशर १, पृ० ५५) ने स्पष्ट कहा है कि किसी प्रचलित युग के विषय (या विभिन्न युगों के विषय) में धर्मों की गति विभिन्न है, यथा—कृत (सत्य) में तप प्रमुखतम धर्म था, त्रेता में ज्ञान, द्वापर में यज्ञ और कलि में दान प्रमुखतम धर्म है। इसका केवल तात्पर्य यह है कि किसी विशिष्ट युग में कोई विशिष्ट धर्म महत्त्वपूर्ण माना जाता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि एक युग का विशिष्ट धर्म दूसरे युग में वर्जित है। पराशर (१।२४—बृहत्पराशर ८, पृ० ५५) ने घोषित किया है कि कृतयुग में मनु द्वारा उद्घोषित नियम माने जाते थे और इसी प्रकार त्रेतायुग में गौतम द्वारा, द्वापर युग में शंख-लिखित द्वारा एवं कलियुग में पराशर द्वारा उद्घोषित धर्मों को मान्यता मिली है।[18] इस दृष्टिकोण से भी कठिनाइयाँ दूर नहीं होतीं, क्योंकि मध्यकाल के निबन्धों एवं टीकाओं से पता चलता है कि पराशर द्वारा जो उद्घोषित अथवा आकांक्षित किया गया था उसे लोगों ने या तो निन्द्य समझा अथवा मान्यता न दी। स्मृतियों की बहुत-सी व्यवस्थाएँ इसी कारण से कलिवर्ज्य (कलियुग में वर्जित) ठहरा दी गयीं और यह कहा गया कि जो कृत्य किसी समय शास्त्र द्वारा व्यवस्थित अथवा अनुमोदित था वह अब मान्य नहीं हो सकता, विशेषतः जब कि वह लोगों की दृष्टि में निन्द्य सिद्ध हो और उससे स्वर्ग की प्राप्ति न हो।[19] यही वचन याज्ञ० (१।१५६), बृहन्नारदीयपुराण (२२।१२), मनु (४।१७६), विष्णु (७१।८४-८५), विष्णुपुराण (३।११।७), शुक्र (३।६४) एवं बार्हस्पत्यसूत्र (५।१६) में भी कहा है। और देखिए इस खण्ड का अध्याय २७। मिताक्षरा ने उपर्युक्त वचनों को कुछ कृत्यों के वर्जित करने के लिए (यद्यपि वे प्राचीन काल में विहित ठहराये गये थे) प्रमाणस्वरूप माना है (याज्ञ० २।११७ एवं ३।१८)। व्यवहारप्रकाश (पृ० ३४२) आदि में भी यही बात कही गयी है। किन्तु, व्याख्या की ऐसी विधियाँ भी कुछ विषयों के विषय में व्यर्थ सिद्ध होती हैं। किसी की मृत्यु पर क्रिया आदि के लिए सूतक की अवधियों के विषय में स्मृतिवचनों में मतैक्य नहीं है और उनमें इतना विरोध है कि महान् लेखक विज्ञानेश्वर (याज्ञ० ३।२२) को कहना पड़ा कि वे इस विषय में स्मृतिवचनों के अनुरूप कोई विशिष्ट व्यवस्था नहीं दे सकेंगे, क्योंकि शिष्टों के वचनों के मतैक्य के अभाव में (बहुत-से शिष्ट उन वचनों से भिन्नता के कारण सहमत नहीं हैं) ऐसा करना व्यर्थ है। ऐसी ही कठिनाई में विश्वरूप (याज्ञ० ३।६) भी पड़ गये हैं। टीकाकारों (माधव, परा० मा० १।१, पृ० ८४ आदि) ने ऐसा कहा है कि साधारण लोग परिश्रमसाध्य धार्मिक कृत्यों (जिन्हें करने के लिए कठिन से कठिन नियम प्रतिपादित हैं) की अपेक्षा सरल नियमों की ओर दौड़ते हैं।[20]

१७. श्रुतिरपि यद्वै किंच मनुरवदत्तद् भेषजम्। स्मृतिमुक्ताफल (वर्णाश्रम पृ० ६)। यह वचन तै० सं० (२।२।१०।२) एवं काठक (११।५) में पाया जाता है।

१८. कृते तु मानवो धर्मस्त्रेतायां गौतमः स्मृतः। द्वापरे शंखलिखितः कलौ पाराशरः स्मृतः॥ पराशर (१।२४); स्मृतिचं० १, पृ० ११; आचाररत्न पृ० १९)।

१९. परित्यजेदर्थकामौ धर्मपीडाकरौ नृप। धर्ममप्यसुखोदर्कं लोकविद्विष्टमेव च॥ विष्णुपुराण (३।११।७); धर्ममपि लोकविक्रुष्टं न कुर्यात् लोकविद्विष्टं नाचरेत्। बार्हस्पत्यसूत्र (५।१६)।

२०. अतः कलौ प्राणिनां प्रयत्नसाध्ये धर्मे प्रवृत्त्यसम्भवात् सुकरो धर्मोऽत्र बुभुक्षितः। परा० मा० (१, भाग १, पृ० ८४)।

कुछ विषयों में ऐसी व्यवस्था दी गयी थी कि जहाँ स्मृतियों में विरोध हो तो बहुमत को मान्यता देनी चाहिए। गोभिलस्मृति (३।१४८-१४९) ने कहा है कि जहाँ (स्मृतियों के) वचनों में विरोध हो, प्रामाणिकता उसी को मिलनी चाहिए जो स्मृतिवचनों के बहुमत से समर्थित हो, किन्तु जहाँ दो वचन समान रूप में प्रामाणिक हों, वहाँ तर्क का सहारा लेना चाहिए।[२१] मेधातिथि (मनु २।२९ एवं ११।२१६), मिताक्षरा (याज्ञ० ३।३२५), स्मृतिच० (१ पृ० ५), अपरार्क (पृ० १०५३), मदनपारिजात (पृ० ११ एवं ९१) आदि के मत में सभी स्मृतियाँ शास्त्र की संज्ञा पाती हैं और जब एक ही विषय पर कुछ स्मृतिवचनों में विरोध हो तो वहाँ विकल्प होता है और जब कोई विरोध न हो तो सभी स्मृतियों के सभी नियम उस विषय में प्रयुक्त होते हैं। यह कथन 'सर्वशाखाप्रत्ययन्याय' या 'शाखान्तराधिकरण' नामक सिद्धान्त पर आधारित है (देखिए जैमिनि २।४।९ और उस पर शबर का भाष्य)।

ऐसा कहा गया है कि पाषण्ड सम्प्रदायों के ग्रन्थों का परित्याग होना चाहिए। मनु उन्हें स्मृतियों के नाम से ही पुकारते हैं, किन्तु वे वेदबाह्य (वैदिक मान्यता के बाहर वाली) कहलाती हैं। मनु (१२।९५) ने घोषित किया है—"वेदबाह्य स्मृतियाँ एवं सभी अन्य झूठे अथवा तर्कहीन मत मृत्यु के उपरान्त निष्फल माने गये हैं, क्योंकि वे तमोनिष्ठ अथवा अज्ञान पर आधारित हैं।"[२२] वेदान्तसूत्र (२।१।१) में भी 'स्मृति' शब्द सांख्यदर्शन-सम्बन्धी ग्रन्थों के लिए प्रयुक्त किया गया है। तन्त्रवार्तिक (पृ० १९५) का कथन है कि बौद्ध तथा अन्य नास्तिक सम्प्रदाय अपने सिद्धान्तों को वेद पर आधारित नहीं मानते, यह दुष्ट पुत्र द्वारा माता-पिता के प्रति व्यक्त घृणा के समान है, उनमें (उनके ग्रन्थों में) जो व्यवस्थाएँ प्रतिपादित हैं, वे चौदह विद्याओं के विरोध में पायी जाती हैं। केवल कुछ विषयों में, यथा इन्द्रिय-निग्रह, दान आदि से सम्बन्धित उक्तियों में समानता है। वे सब बुद्ध के समान ऐसे लोगों द्वारा प्रतिपादित हैं, जिन्होंने वेदमार्ग का परित्याग किया था और वेदविरोधी हो गये थे, वे ऐसे लोगों के लिए प्रतिपादित हुई थीं जो तीनों वेदों के बाहर थे और अधिकांश में शूद्र थे या ऐसे थे जो चारों वर्णों और आश्रमों के अन्तर्गत नहीं परिगणित होते थे। मेधातिथि (२।६) ने कुमारिल के इस कथन को स्वीकृत कर कहा है कि शाक्य, भोजक एवं क्षपणक लोग वेद को प्रमाण नहीं मानते, और उद्घोष करते हैं कि वेद अप्रामाणिक है और उसके विरोध में सिद्धान्त बघारते हैं। चतुर्विंशतिमत का कथन है कि अर्हत् (जिन), चार्वाक एवं बौद्धों के वचनों का परित्याग करना चाहिए क्योंकि वे विप्रलम्भक (भ्रामक) हैं।[२३]

अब हम स्मृतियों एवं पुराणों के विरोध के प्रश्न पर विचार करेंगे। हमने इस महाग्रन्थ के खंड २, अध्याय १ में दिखलाया है कि पुराण धर्मशास्त्र सम्बन्धी विषयों से सम्पृक्त हैं, अर्थात् पुराणों में धर्मशास्त्र सम्बन्धी बातों की बहुलता पायी जाती है। सूत्रों एवं आरम्भिक स्मृतियों ने पुराणों को धर्म का मूल नहीं माना है, यद्यपि गौतम (११।१९) एवं

२१ अल्पाना यो विघात स्यात्स बाधो बहुभि स्मृत । प्राणसमित (प्राण ?) इत्यादि वासिष्ठ बाधित यथा ॥ विरोधो यत्र वाक्याना प्रामाण्य तत्र भूयसाम्। तुल्यप्रमाणकत्वे तु न्याय एव (एव ?) प्रकीर्तित ॥ गोभिलस्मृति (३।१४८-१४९)। और देखिए वसिष्ठ (११।५७, जहाँ वैश्य ब्रह्मचारी के दंड की लम्बाई के विषय में कहा गया है) एव मलमासतत्त्व (पृ० ७६७)।

२२ या वेदबाह्या स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टय । सर्वास्ता निष्फला प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ता स्मृता ॥ मनु (१२।९५) एव तन्त्रवार्तिक (जै० १।३।५, पृ० १९६)।

२३ अर्हच्चार्वाकवाक्यानि बौद्धादिपठितानि च। विप्रलम्भकवाक्यानि तानि सर्वाणि वर्जयेत् ॥ चतुर्विंशतिमत (स्मृतिमु०, वर्णाश्रम, पृ० ७, स्मृतिच० १, पृ० ५)।

याज्ञ० (१।३) ने पुराणों को ऐसे ग्रन्थों की कोटि में गिना है जिनसे राजा या अन्य कोई धर्म ज्ञान प्राप्त कर सकता है, आप० ध० सू० (१।६।१९।१३, १।१०।२९।८ एवं २।९।२४।३) ने एक पुराण से उद्धरण लिये हैं और एक स्थान (२।९।२४।६) पर भविष्यपुराण का नाम लिया है। यह विचारणीय है कि आपस्तम्ब द्वारा पुराणों के उद्धृत कुछ मत कलिवर्ज्य नामक परिच्छेद में दिये गये मतों के विरोध में हैं और ऐसा कहा जाता है कि वे मध्यकाल के निबन्धों में आदित्य-पुराण से लिये गये हैं। हमने गत अध्याय में देख लिया है कि 'तन्त्रवार्तिक' ने पुराणों, मनुस्मृति एवं इतिहास को पूरे भारतवर्ष में सार्वजनीन माना है। जब कि मनु ऐसा कहते हैं कि स्मृति धर्म का मूल है तो उनके कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि स्मृति के अन्तर्गत पुराण भी सम्मिलित हैं (मनु २।१)। मनु (३।२३२) एवं याज्ञ० (१।१८९) ने 'पुराणानि' शब्द प्रयुक्त किया है जो स्पष्टतः बहुवचन में है। अतः स्पष्ट है कि स्मृतियों को बहुत-से पुराणों के विषय में जानकारी थी। मेधातिथि ने टिप्पणी की है कि उनका प्रणयन व्यास द्वारा हुआ था और उन्होंने संसार की सृष्टि आदि के विषय में वर्णन किया है। स्त्रीपर्व (१३।२) में भी बहुवचन का प्रयोग किया है और स्वर्गारोहणपर्व (५।४६।४७) में कृष्ण-द्वैपायन (व्यास) को अठारह पुराणों का प्रणेता माना है। आदिपर्व (१।२६७-२६८) का कथन है कि इतिहास और पुराण (के अध्ययन) से वेद को समृद्ध करना चाहिए और वेद उस मनुष्य से भय खाता है जिसका ज्ञान अल्प होता है (यह मेरी हानि करेगा—मामयं प्रहरिष्यति)। भागवतपुराण (१।४।२५) के मत से स्त्रियों, शूद्रों एवं केवल जन्म से ब्राह्मण होने वाले ब्राह्मणों (ऐसे ब्राह्मण जो वेद नहीं पढ़ते और केवल ब्राह्मणकुल में जन्म लेने के कारण ब्राह्मण कहे जाते हैं) पर व्यास ने कृपा करके महाभारत का प्रणयन किया।[२४] यही बात पुराणों के प्रणयन के उद्देश्य के विषय में भी कही जा सकती है। दक्षस्मृति (२।६९) ने कहा है कि इतिहास और पुराण का पाठ दिन (आठ भागों में विभाजित) के छठे एवं सातवें भाग में करना चाहिए।[२५] औशनसस्मृति (१ पृष्ठ ५१६, जीवानन्द) ने वेदाध्ययन के लिए उत्सर्जन के उपरान्त माघ मास से लेकर प्रत्येक मास के शुक्ल पक्ष को उचित माना है और इसी प्रकार वेदांगों और पुराण के अध्ययन के लिए कृष्ण पक्ष की व्यवस्था दी है।

ऐसा लगता है कि उपस्थित पुराणों में कुछ ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में ही प्रणीत हो चुके थे और प्रारम्भिक काल में ही उनमें धर्मशास्त्रीय विषय पाये जाते रहे हैं। हम आगे चलकर पुराणधर्म के विषय में एक पृथक् अध्याय लिखेंगे। सम्भवतः कुछ शताब्दियों के अन्तर्गत ही पुराण अति विख्यात हो गये, वेद तथा प्रारम्भिक स्मृतियों द्वारा व्यवस्थित कुछ वैदिक कृत्य अप्रचलित हो गये और नये प्रकार की पूजाविधियाँ एवं व्रत पुराणों द्वारा व्यवस्थित होकर जनसाधारण में फैलने लगे। व्यास-स्मृति (१।४) एवं संग्रह का कथन है कि स्मृति एवं पुराण के विरोध में स्मृति को वरीयता मिलनी चाहिए।[२६] अपरार्क (पृ०) ने उद्धरण देकर कहा है कि वही धर्म परम धर्म है जो वेद से समझा जाता है और वह धर्म अवर (जो वर न हो) निकृष्ट (अपकृष्ट) धर्म है जो पुराणों आदि

२४. स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा। इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्॥ भागवत (१।४।२५); तेनोक्तं भारतं तंत्रं धर्मज्ञाना मुक्तिसाधनम्। अत स्त्रीशूद्रादीनां संस्कारो वैदिको मतः॥ देखिए परिभाषा-प्रकाश (पृ० ९४)।

२५. इतिहासपुराणाद्यैः षष्ठसप्तमकौ नयेत्। दक्ष (२।६९, अपरार्क पृ० १५७)।

२६. श्रुतिस्मृतिपुराणानां विरोधो यत्र दृश्यते। तत्र श्रौतं प्रमाणं स्यात् तयोर्द्वैधे स्मृतिर्वरा॥ व्यास (१।४); श्रुतिस्मृतिपुराणेषु विरुद्धेषु यथाक्रमम्। पूर्वं पूर्वं बलीयः स्यादिति न्यायविदो विदुः॥ संग्रह (स्मृतिमुक्ताफल, वर्णाश्रम, पृ० ७)।

में उद्घोषित है (देखिए परिभाषाप्रकाश, पृ० २९ एवं कृत्यरत्नाकर, पृ० ३९)। अपरार्क (पृ० १५) ने आगे चलकर कहा है कि भविष्यत्पुराण के अनुसार पुराण व्यामिश्र (मिश्रित, शुद्ध वैदिक रूप में नहीं) धर्म उद्घोषित करते हैं।[२७]

पुराणों की प्रामाणिकता के विषय में मध्य काल के लेखकों में मतभेद है। मित्र मिश्र ने (याज्ञ० २।२१ की टीका में) कहा है कि धर्मशास्त्र (अर्थात् स्मृति) पुराण से अधिक प्रामाणिक नहीं है। अतः स्मृतिवचन एवं पुराण के विरोध में तर्क का उसी प्रकार आश्रय लेना चाहिए जिस प्रकार दो स्मृतियों का विरोध होने पर लिया जाता है। किन्तु, दूसरी ओर व्यवहारमयूख ने मनु (९।१२६) एवं देवल का हवाला देते हुए कहा है कि स्मृतिवचन के विरोध में पुराण-वचन का त्याग होना चाहिए और यह भी कहा है कि पौराणिक रीतियों में बहुत-सी स्मृति-विरोधी रीतियाँ पायी जाती हैं (मनु एवं देवल ने जुड़वाँ बच्चों में पहले उत्पन्न होनेवाले बच्चे को ज्येष्ठ घोषित किया है, किन्तु भागवत पुराण ने उसको जो बाद को उत्पन्न होता है, ज्येष्ठ घोषित किया है)। देखिए व्यवहारमयूख (पृ० ९७, ९८) और राजनीति-प्रकाश (पृ० ३७, ३९) जो मित्र मिश्र द्वारा विरचित है। निर्णयसिन्धु (३, पृ० २५१) ने भी यही बात कही है। पुराणों के प्रति पश्चात्कालीन या मध्यकालीन लेखकों की श्रद्धा उस सीमा तक बढ़ गयी कि उन्होंने पुराणों में उल्लिखित भविष्यवाणियों पर निर्भर रहना आरम्भ कर दिया। पुराणों में आया है कि कलियुग में चारों वर्ण अन्तर्हित हो जायँगे, केवल ब्राह्मण एवं शूद्र वर्तमान रहेंगे, अर्थात् क्षत्रिय एवं वैश्य का अस्तित्व समाप्त हो जायगा, यद्यपि मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर आदि स्मृतिकारों एवं विज्ञानेश्वर (मिताक्षरा के लेखक) आदि टीकाकारों ने कहा है कि कलियुग में भी चारों वर्ण पाये जाते हैं।[२८] देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २, अध्याय ७, जहाँ पर कलियुग में क्षत्रियों के अस्तित्व के विषय में प्रकाश डाला गया है।

अब हम स्मृतियों एवं परम्पराओं के विरोध की चर्चा करेंगे। वसिष्ठ (१।५) एवं याज्ञ० (१।७) के वचनों पर आधारित सामान्य नियम, जो मिताक्षरा (याज्ञ० १।७ एवं २।११७), स्मृतिचन्द्रिका (२, पृ० २६६), कुल्लूक (मनु १।२०) एवं अन्यों द्वारा समर्थित है, यह है कि स्मृति शिष्टों की रीतियों से अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक है। किन्तु

२७. अतः स परमो धर्मो यो वेदादधिगम्यते। अवरः स तु विज्ञेयो यः पुराणादिषु स्मृतः॥ व्यास (अपरार्क पृ० ९, परिभाषाप्रकाश पृ० २९ एवं कृत्यरत्नाकर पृ० ३९)। एवं प्रतिष्ठायामपि पुराणाद्युक्तैवेतिकर्त्तव्यता ग्राह्या नान्या। तेषामेव व्यामिश्रधर्मप्रमाणत्वेन भविष्यत्पुराणे परिज्ञातत्वात्। अपरार्क पृ० १५।

२८. यदि हम आधुनिक भारतीय समाज की व्यावहारिक गतिविधियों की सम्यक् समीक्षा करें तथा उन पर पड़े गम्भीर विदेशी संस्कृतिविषयक परिवर्तन-प्रभावों की परतों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करें, तो शताब्दियों पूर्व पुराणों में कही गयी बातों की सत्यता अपने आप अभिव्यक्त हो जायगी। क्षत्रियों एवं वैश्यों के जाति-कुलधर्म आज ब्राह्मणों द्वारा भी यथावत् सम्पादित हो रहे हैं। आज का ब्राह्मण अथवा शूद्र खेती-बारी, व्यापार, युद्ध, पठन-पाठन आदि कार्य कर रहा है, पुरानी सभी अर्थ-धर्म-सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ विलुप्त हो गयी हैं। प्राचीन समाजव्यवस्था लुप्त हो गयी है। अब उसका महत्त्व केवल भावनागत रह गया है। आज के तथाकथित सभी वर्णों के धर्माचारों में उलटफेर हो गया है, जो था, आज नहीं है, जो न था आज प्रकट हो गया है। सभी जाति के लोग सभी कर्म करने लग गये हैं। (—अनुवादक)

मनु (१२।१०८-१०९) एव वसिष्ठ (१।६) द्वारा प्रदर्शित है, आचार वह माना गया है जो उत्तम चरित्र वाले एव स्वार्थ-रहित शिष्टो एव ब्राह्मणो द्वारा उद्घोषित एव पालित होता रहा है। मेधातिथि (मनु २।६) का कथन है कि वेदज्ञ शिष्टो का आचार अनुल्लघनीय होता है। क्रमश प्रत्येक दृष्टार्थरहित रीति कालान्तर मे अनुल्लघनीय समझी जाने लगी और अन्त मे शूद्रो, प्रतिलोम जातियो एव वर्णसकर शाखाओ की रीतियाँ राजा द्वारा विज्ञापित की जाने लगी।

स्मृतियो, टीकाओ एव निबधो के मत मे सम्यक् रीतियो की विशिष्टताएँ पूर्व-मीमासा के लेखको द्वारा नियमित विशिष्टताओ के समान ही हैं, अर्थात् परम्पराओ एव रीतियो को प्राचीन होना चाहिए, श्रुति-स्मृति के नियमो की विरोधी न होना चाहिए, शिष्टो द्वारा अनुमोदित होना चाहिए, उन्हे इस प्रकार व्यवस्थित होना चाहिए कि अनधिकारी लोग उन्हें छू न सकें, उन्हे अनैतिक नही होना चाहिए अथवा उनका स्वरूप ऐसा नही होना चाहिए कि वे प्रचलित मनोभावो द्वारा निन्द्य ठहरा दी जायें। अप्रचलित परम्पराएँ त्याज्य होती हैं, जैसा कि हम कलिवर्ज्य के अध्याय मे आगे स्पष्ट करेंगे।

गौतम, मनु, बृहस्पति, कात्यायन आदि लेखको के आधार पर कहा जा सकता है कि परम्पराएँ एव रीतियाँ देशो (या जनपदो), पुरो एव ग्रामो, जातियो, कुलो तथा अन्य सम्प्रदायो, यथा—गणो, श्रेणियो, सघो, नैगमो एव वर्गों द्वारा व्यवस्थित, अनुमोदित अथवा मान्य होती हैं। इनके विषय मे तथा गोत्रो एव शाखाओ के रीति-रिवाजो के विषय मे हम आगे पढेंगे। अभी हम सामान्यत परम्पराओ के विषय मे ही कुछ आरम्भिक विचार उपस्थित करेंगे। मध्यकाल के धर्मशास्त्रलेखको ने यह स्पष्ट किया है कि प्रचलित स्मृति की व्यवस्थाओ के विरोध मे परम्पराएँ सुव्यवस्थित रूप से गठित होनी चाहिएँ और उन्हे विशिष्ट मान्य परम्पराओ के बाहर के विषयो की सीमा से दूर रहना चाहिए, अर्थात् समानता के आधार पर वे सीमा का अतिक्रमण कर अन्य परम्पराओ को छू नही सकती। उदाहरणार्थ, स्मृतिच० (१, पृ० ७१) एव स्मृतिमुक्ताफल (वर्णाश्रम, पृ० ३१) का कथन है कि यद्यपि किसी स्थान की परम्परा के अनुसार मातुलकन्या से विवाह हो सकता है, किन्तु मौसी या मौसी की पुत्री से विवाह सम्बन्ध कभी नही हो सकता, क्योकि प्रचलित मनोभाव इसके विरोध मे है और प्रचलित मनोभाव का आदर होना ही चाहिए (मनु ४।१७६)। इसी प्रकार सस्कारकौस्तुभ (पृ० ६१३) एव धर्मसिन्धु का कथन है कि जहाँ विवाह के लिए सपिड सम्बन्ध की सीमाओ को सकीर्ण करने के लिए स्थानीय अथवा कुल की रीति हो, वहाँ केवल वे ही, जो उस स्थान के रहनेवाले हो या उस कुल से सम्बन्धित हो, उस रीति का पालन कर सकते हैं, किन्तु यदि वह व्यक्ति, जो किसी अन्य स्थान का हो और किसी दूसरे कुल का हो, इस प्रकार की सपिड सम्बन्ध वाली रीति का अनुसरण करे तो वह पापी ठहराया जायगा। भारतवर्ष विशाल देश है, अत किसी एक स्थान का सदाचार किसी सुदूर स्थान के लिए अनुकरणीय नही हो सकता (परा० मा० १।२, पृ० ६५)।

अब हम कुछ गब्द देशो की परम्पराओ (रीतियो) के विषय मे लिखेंगे। वैदिक काल मे भी रीतियाँ कृत्य सबधी विस्तारो के विषय मे एक दूसरी से भिन्न थी। शतपथ ब्राह्मण (१।१।४।१३) का कथन है कि प्राचीन युगो मे यजमान की पत्नी ही हविष्कृत् के लिए उठती थी, किन्तु इस (शतपथ के) काल मे पत्नी या पुरोहित वैसा करने के लिए उठता है। व्यवहार सबधी अन्य प्रकार की विभिन्नताओ के लिए और देखिए उसी ब्राह्मण मे (१२।३।५।१ एव १२।६।१।४१)। ऐतरेय ब्राह्मण मे मतो का प्रकाशन एव उन्ही का परित्याग दोनो वर्णित हैं ('तत् तथा न कुर्यात्' या 'तत् तत् नादृत्यम्' १२।७, १७।१, १८।८, २८।१, २९।५)। और देखिए तै० ब्रा० (१।१।८, १।३।१ एव ३।८।८)। गृह्यसूत्रो एव धर्मसूत्रो के काल मे विभिन्न देशो मे विवाह सबधी एव अन्य विषय सबधी विभिन्न परम्पराएँ थीं जिनके विषय मे हमने इस अध्याय के आरम्भ में ही संकेत कर दिया है। बौधायन ने उत्तरीय और दक्षिणी लोगों के आचारो का अन्तर बतलाया

है। बहुत-से निबन्धकारों एवं टीकाकारों ने भी उत्तरीय और दक्षिणी लोगों के विभिन्न आचारों पर प्रकाश डाला है, किन्तु हम इस विषय के विस्तार में स्थानाभाव से नहीं पड़ेंगे।

विवाह के क्षेत्र में बहुत प्राचीन काल से ही देशों एवं कुलों के आचार स्वीकृत किये गये हैं। हमने इस अध्याय के आरम्भ में ही आश्व० गृ० सू० (१।७।१२) का उल्लेख कर दिया है। इस गृह्यसूत्र के टीकाकार हरदत्त एवं नारायण ने वर्णन किया है कि कुछ देशों में विवाह के उपरान्त ही पति-पत्नी में शरीर-सम्बन्ध स्थापित हो जाता है किन्तु इस गृह्यसूत्र (१।८।१०) के अनुसार लम्बी अवधि नहीं तो कम से कम तीन रातों तक ब्रह्मचर्य रखना चाहिए। किन्तु टीकाकारों ने यहाँ पर देश की रीति की अपेक्षा गृह्यसूत्र-वचन को वरीयता दी है। आप० गृ० सू० (२।१५) में कहा है कि लोगों को स्त्रियों से विधि सीखनी चाहिए अर्थात् देश के आचार के अनुसार विधि के पालन में स्त्रियों की सम्मति ली जानी चाहिए। इस गृह्यसूत्र के टीकाकार सुदर्शनाचार्य का कहना है कि कुछ विशिष्ट कृत्य, यथा—स्तम्भपूजा, अंकुरारोपण एवं प्रतिसर (कलाई में बाँधा जानेवाला धागा) रीति प्राप्त कृत्य हैं और वैदिक मंत्रों से सम्पादित होते हैं। काठक गृह्यसूत्र (२५।७) ने देशों एवं कुलों के आचारों अथवा रीतियों को विवाह के लिए मान्य ठहराया है और टीकाकारों ने ऐसे आचारों की चर्चा भी की है, यथा—देवपाल ने आवसथ-उद्देश के वचन कन्या के नाम के उच्चारण, कुलदेवता की पूजा, लता-वृक्षों के छूने की ओर संकेत किया है। टीकाकार ब्राह्मबल का कथन है कि कश्मीर में विवाह के समय सास अथवा कोई सधवा नारी वर और वधू के सिरों पर शुभसूचक माला बाँधती है, सास वर के पैरों, घुटनों, कंधों एवं सिर पर पुष्प रखती है और कन्या के शरीर के उन्हीं स्थानों पर उल्टी विधि से पुष्प (पहले दायें अंग पर, तब बायें अंग पर) रखे जाते हैं।

हरदत्त (गौतम ११।२०) ने निम्न रीतियों का उल्लेख किया है—चोल देश में जब सूर्य वृष राशि में रहता है तो कुमारियाँ विभिन्न रंग के चूर्णों से पृथ्वी पर सूर्य के वृत्त को परिचारकों के साथ खींचती हैं और प्रातः-सायं पूजा करती हैं; मार्गशीर्ष की पूर्णिमा को कुमारियाँ आभूषण धारण कर गाँव में घूमती हैं और इस भ्रमण से उन्हें जो कुछ प्राप्त होता है, उसे मन्दिर की मूर्ति पर चढ़ा देती हैं। जब सूर्य कर्क राशि में होता है तो वे उमा देवी की पूजा करती हैं और (जब चन्द्रमा पूर्वा फाल्गुनी नक्षत्र में रहता है) देवताओं को धन (मुद्ग) के दाने चढ़ाती हैं। जब सूर्य मीन राशि में होता है और चन्द्रमा उत्तरा फाल्गुनी में, तो गृहस्थ लोग लक्ष्मी की पूजा करते हैं। और देखिए आप० ध० सू० (२।६।१४।१०) एवं बृहस्पति तथा तन्त्रवार्तिक, जिनके कथनों का उल्लेख इस सिलसिले में ऊपर किया जा चुका है। इसी प्रकार के अन्य लेखकों द्वारा प्रस्तुत दृष्टान्त उपस्थित किये जा सकते हैं, किन्तु हम स्थानाभाव से उनका यहाँ उल्लेख नहीं करेंगे।

पारस्करगृह्यसूत्र (१।८) के मत से ग्राम-वचनों का भी पालन किया जाना चाहिए—"विवाह और अन्त्येष्टि कृत्यों के विषय में गाँव में प्रवेश करना चाहिए" (ग्राम-वृद्धों की सम्मति ली जानी चाहिए) क्योंकि "ग्राम इन दोनों विषयों में प्रमाण माना जाता है।"

प्राचीन काल से लेकर आज तक बहुत-सी जाति-आचारों एवं प्रचलनों को मान्यता मिलती रही है। गौतम (११।२०), वसिष्ठ (१।१७), मनु (१।११८, ८।४१ एवं ४६), कौटिल्य (३।७) तथा शुक्र (४।५।४७) ने जाति-आचारों की वैधानिकता पर बल दिया है और राजा द्वारा उन्हें रक्षित एवं शासित किया जाना माना है। याज्ञ० (१।३६१) ने उन लोगों को राजा द्वारा दण्डित होने योग्य माना है जो कुल, जाति, श्रेणी या वर्ग के आचारों से हट जाते हैं। कात्यायन (४) ने व्यवस्था दी है कि राजा को प्रतिलोम जातियों के स्थिर आचारों एवं पर्वतीय दुर्गों या दुर्गम्य स्थानों के निवासियों के व्यवहारों का भी तिरस्कार नहीं करना चाहिए, भले ही वे स्मृति-नियमों के विरोध में पड़ जाते हों। परिणामस्वरूप वे भिन्न-भिन्न ने कहा

है कि नैतिक दोषों से रहित अच्छे शूद्रों के आचार, उनके पुत्रों और अन्यों के लिए अनुल्लंघनीय हैं (भले ही वे वेद को न जानते हों)।

पश्चिमी देशों की तुलना में प्राचीन भारत में अत्यधिक धार्मिक सहिष्णुता पायी जाती थी। देखिए इस ग्रंथ का खण्ड २, अध्याय ७ एवं अध्याय १९ जहाँ पर हमने इस विषय में कुछ प्रकाश डाल दिया है। अशोक ने अपने सातवें स्तम्भाभिलेख (एपि० इ०, जिल्द २, पृ० २७२) में कहा है कि उसने संघों, ब्राह्मणों, आजीवकों और अन्य सम्प्रदायों (पाषण्डों) की परवाह (मत-रक्षा) की है। भगवद्गीता (९।२३-२५) ने घोषणा की है कि जो भक्त अन्य देवताओं की पूजा करते हैं वे स्वयं कृष्ण की ही पूजा करते हैं और जो पितरों एवं अन्य तत्त्वों की पूजा करते हैं, वे भी कांक्षित फल की प्राप्ति करते हैं। मानसोल्लास ने प्रतिपादित किया है कि दूसरे देवताओं के प्रति निन्दा एवं घृणा का परित्याग करना चाहिए और किसी मूर्ति या मंदिर को देखकर श्रद्धा प्रकट करनी चाहिए न कि घृणा की दृष्टि से आगे चला जाना चाहिए। विभिन्न प्रदेशों के लोगों ने निस्सन्देह एक-दूसरे के आचारों और रीतियों की खिल्ली उड़ायी है, उदाहरणार्थ जीवन्मुक्तिविवेक नामक दार्शनिक ग्रंथ का कहना है कि दक्षिण के ब्राह्मण उत्तर के ब्राह्मणों को मांसभोजी कहकर निन्दित करते हैं और उत्तर के ब्राह्मण दक्षिण के ब्राह्मणों को मातुलकन्या से विवाह करने के कारण गर्हित कहते हैं। उन्होंने इसलिए भी उनकी निन्दा की है कि दक्षिणी ब्राह्मण लोग मेलों अथवा यात्राओं में मिट्टी के बरतन लेकर जाते हैं। यह धार्मिक सहिष्णुता सम्बन्धी सामान्य मनोवृत्ति का ही फल था कि स्मृतियों एवं निबन्धों ने नास्तिक सम्प्रदायों के आचारों को राजा द्वारा शासित होने को रहा है। याज्ञवल्क्य ने व्यवस्था दी है कि राजा को श्रेणियों, व्यवसायियों, पाषण्डों एवं सैनिकों के धर्मों अथवा विधियों को खण्डित होने से बचाना चाहिए।[31] नारद (समयस्यानपाकर्म, १-३) ने कहा है कि राजा को पाषण्डों, व्यापारियों, श्रेणियों एवं अन्य वर्गों के समयों (रीतियों या विधानों) की रक्षा करनी चाहिए और जो भी परम्परागत आचार-कृत्य, उपस्थिति-विधि एवं जीविका-साधन आदि उनमें विशिष्ट रूप से पाये जायँ उनको राजा द्वारा बिना किसी परिवर्तन का रंग लगाये छूट मिलनी चाहिए। बृहस्पति ने प्रतिपादित किया है कि कृषकों, कारुओं, मल्लों (कुश्तीबाजों), कुसीदियों (ब्याज पर धन देनेवालों), श्रेणियों, नर्तकों, पाषण्डों, चोरों के विवादों का निर्णय उनकी रीतियों के अनुसार होना चाहिए।[32] इसमें कोई सन्देह नहीं है कि कुछ स्मृतियों ने नास्तिकों आदि के लिए कठिन नियम बना दिये हैं। गौतम (९।१७) के मत से स्नातक को म्लेच्छों, अपवित्र लोगों एवं पापियों (अधार्मिकों) से बातचीत नहीं करनी चाहिए।[33] मनु (९।२२५) का कथन है कि राजा को राजधानी के जुआरियों, नर्तकों, नास्तिकों (पाषण्डों), शौण्डिकों (सुराजीवियों) आदि को निकाल बाहर करना चाहिए। मनु (४।३०) ने पुनः कहा है कि नास्तिकों, दुष्टों आदि को शब्द द्वारा अर्थात् मौखिक रूप से भी आतिथ्य नहीं देना चाहिए। जहाँ नास्तिक लोगों का आधिपत्य हो गया हो वहाँ निवास नहीं करना चाहिए। याज्ञ० (२।७०) एवं नारद (ऋणादान १८०) के मत से पाषण्डियों या नास्तिकों को साक्षी नहीं बनाना चाहिए। इन उक्तियों की व्याख्या कई ढंग से की जा सकती है। सम्भवतः गौतम एवं मनु के वचन उन युगों के द्योतक हैं जब कि बौद्धों एवं जैनों तथा वेदधर्मानुयायियों के मनोभावों के बीच पड़ी गहरी खाई तब तक ताजी ही थी, अर्थात् उन्हीं दिनों वे वेदविरोधी धर्म उदित हुए थे और उनके विरोध में बातें कही जाने लगी थीं। किन्तु

३१ श्रेणिनैगमपाखण्डिगणानामप्ययं विधिः। भेदं चैषां नृपो रक्षेत्पूर्ववृत्तिं च पालयेत्॥ याज्ञ० (२।१९२)।

३२ कीनाशाः कारुका मल्लाः कुसीदश्रेणिनर्तकाः। लिंगिनस्तस्कराश्चैव स्वेन धर्मेण निर्णयः॥ बृह० (व्य० मा० पृ० २८१, व्य० नि०, पृ० ११, व्य० प्र०, पृ० २३)।

३३. न म्लेच्छाशुच्यधार्मिकैः सह सम्भाषेत। गौतम (९।१७)।

अध्याय ३४

कलिवर्ज्य

(कलियुग मे वर्जित कृत्य)

हमने गत अध्याय मे इसकी चर्चा कर दी है कि कतिपय स्मृतिवचनो के विरोधात्मक स्वरूपो के समाधान की विधियो में एक विधि अथवा एक स्थापना ऐसी थी कि उन वचनो मे कुछ युगान्तर (अतीत युग) मे सवधित कहे गये थे। उदाहरणार्थ जब हारीत ने स्त्रियो के लिए उपनयन-सस्कार की व्यवस्था दी तो स्मृतिचन्द्रिका (१, पृ० २४) एव पराशरमाधवीय (१,२,पृ० ८३) ने कहा कि वह वचन कल्पान्तर अर्थात् अन्य प्राचीन युग का द्योतक है। इस ग्रथ के द्वितीय खड मे कतिपय स्थानो पर कलियुग मे वर्जित बहुत मे कृत्यो की ओर सकेत कर दिया गया है। इस सबध मे एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जब पराशरस्मृति (१।२४) ने स्पष्ट रूप से कलियुग के धर्मों की व्यवस्था कर दी थी, तब भी आदित्यपुराण (जिसे १२वी शताब्दी एव पश्चात्काल के लेखको ने बहुधा उद्धृत किया है) ने निम्न बातें (जो पराशर द्वारा कलियुग के लिए व्यवस्थित ठहरायी गयी थी, ४।३० एव ११।२२) कलियुग मे वर्जित मानी हैं—विधवाविवाह (पराशरस्मृति ४।३०), ज्ञानी एव चरित्रवान् ब्राह्मणो के लिए जन्म-मरण-सम्बन्धी अशुद्धता की अवधि मे भिन्नता (पराशर० ३।५-६) एव शूद्रों की पाँच कोटियो के यहाँ भोजन करने के लिए ब्राह्मण को अनुमति (पराशर० ११।२१)।[1] अत युग सम्बन्धी सिद्धान्त के उद्भव एव विकास तथा कलिवर्ज्य के विषय मे छानबीन करना आवश्यक है।

महाभारत (शान्ति० ५९), मनु (१।८१), नारद (१।१-२), बृहस्पति एव पुराणो के अध्ययन से यह प्रकट होता है कि उनके कथनानुसार आदिकाल मे आदर्श समाज की स्थापना थी, जो क्रमश पश्चात्कालीन युगो मे अवनति को प्राप्त हो गयी और मानव की नैतिकताओ, स्वास्थ्य एव जीवन-विस्तार मे क्रमश ह्रास दिखाई देने लगा। किन्तु उन्होंने इस बात मे भी विश्वास रखा कि इस प्रकार की अधोगति सुदूर भविष्य मे नैतिक विशिष्टता के कारण समाप्त-सी हो जायगी। दुःख की बात यह है कि सभी उपस्थित ग्रथो मे यही बात प्रकट की गयी है कि उनका युग पापयुग है, किसी भी ग्रथ ने यह नही कहा कि विशिष्ट सुन्दर-युग निकट भविष्य मे प्रकट होनेवाला है।

वर्धमान नैतिक अध पतन वाले सिद्धान्त का मूल ऋग्वेद मे भी मिलता है। यम और यमी के प्रसिद्ध उपाख्यान मे यम ने एक जगह आक्रोश किया है (१०।१०।१०)—वे युग अभी आनेवाले ही है जब भगिनी (बहिन) अपने

१ पराशरस्मृति (४।३०) के कुछ मुद्रित सस्करणों मे आया है—नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ। पचस्वापत्सु नारीणा पतिरन्यो न विद्यते ॥ जिसे पराशरमाधवीय (२।१, पृ० ५३) ने त्रुटिपूर्ण माना है और कहा है कि कट्टर लोगों ने ही यह अनर्थ किया है। माधव ने 'पतिरन्यो न विद्यते' के स्थान पर 'पतिरन्यो विधीयते' को शुद्ध माना है और कहा है—'अय च पुनरुद्वाहो युगान्तरविषय ।' पराशरस्मृति का यह श्लोक नारद (स्त्रीपुसप्रकरण ९७) में भी पाया जाता है।

कृत क्षेपण में परिगणित हो जाते है, उसी प्रकार उस (रैक्व) के पास मनुष्यो द्वारा सम्पादित अच्छे कर्तव्यो का प्रभाव चला आता है।" यहाँ शकराचार्य ने व्याख्या की है कि ४ चिह्नो वाला क्षेपण कृत है और ३, २ या १ चिह्नो वाले उत्क्षेपण क्रमश त्रेता, द्वापर और कलि कहे जाते हैं। मुडकोपनिपद् (१।२।१) ने त्रेता की ओर सकेत किया है, "यही सत्य है, वे यज्ञ सबधी कृत्य जिन्हे ऋपियो ने मत्रो मे देखा, त्रेता मे कई प्रकार से सम्पादित हुए हैं।"[5] अन्तिम वाक्य की व्याख्या शकराचाय ने दो प्रकार से की है, जिसमे प्रथम यह है—होता, अध्वर्यु एव उद्गाता नामक तीन पुरोहितो के कर्मा के रूप मे जो निर्देशित है, वह तीनो वेदो पर आधारित है, और विकल्प से त्रेता युग की ओर सकेत करता है। इस विवेचन से यह प्रकट होता है कि वैदिक साहित्य के अतिम चरणो तक अर्थात् उपनिपदो तक कृत, त्रेता एव कलि द्यूत-क्रीडा मे पासा फेंकने के अर्थ मे प्रयुक्त होते थे और यह सन्देहात्मक है कि वे विश्व के विभिन्न युगो के द्योतक थे। यहाँ तक कि महाभारत मे भी कृत और द्वापर शब्द उसी अर्थ मे लिये जाते थे (विराटपर्व ५०।२४)। गोपथ ब्राह्मण (१।२८) मे द्वापर युग के आरम्भ की ओर सकेत है।

वेदागज्योतिप मे भी 'युग' शब्द पाँच वर्षो की अवधि का द्योतक है (पञ्चसवत्सरमय युगाध्यक्ष प्रजापतिम्)। प्राचीन पितामहसिद्धान्त के मत से वराहमिहिर की पचसिद्धान्तिका (१२।१) मे 'युग' का अर्थ होता है सूर्य और चन्द्रमा के पाँच वर्ष (रविशशिनो पञ्च युग वर्षाणि पितामहोपदिष्टानि)।[6] यही अर्थ शान्तिपर्व (११।३८) मे भी है। निरुक्त (१।२०) ने प्राचीन ऋपियो और पश्चात्कालीन ऋपियो मे अन्तर इस प्रकार व्यक्त किया है—प्राचीन ऋपि साक्षात्कृतधर्मा (धर्म के प्रत्यक्षदर्शी) थे और उन्होने असाक्षात्कृत धर्म वाले ऋपियो को शिक्षा द्वारा मत्रज्ञान दिया।[7] किन्तु इसने न तो चारो युगो के सिद्धान्त का वर्णन किया है और न किसी प्रकार का सकेत ही किया है। गौतम (१। ३-४) एव आप० ध० सू० (२।६।१३।७-९) ने स्पष्ट कहा है कि 'प्राचीन ऋपियो मे धर्मोल्लघन एव साहस के कार्य देखे गये हैं, किन्तु आध्यात्मिक महत्ता के कारण वे पापी नही हो सके, किन्तु पश्चात्कालीन मनुष्य को आध्यात्मिक शक्तिदौर्बल्य के कारण वैसा नही करना चाहिए, नही तो वह कष्ट मे पड जायगा।' यहाँ पर स्पष्टत प्राचीन ऋपियो एव पश्चात्कालीन ऋपियो के आध्यात्मिक गुणो के विपय मे अन्तर बताया गया है, किन्तु चारो युगो के नामो अथवा उनके सिद्धान्त के विपय मे कुछ भी नही कहा गया है। आप० ध० सू० (१।२।५।४) का कहना है कि आगे के मनुष्यो मे नियमातिक्रमण के कारण ऋपि उत्पन्न नही होते।[8] अत ऐसा कहना सम्भवत भ्रामक न सिद्ध होगा कि गौतम एव आपस्तम्ब के आरम्भिक धर्मसूत्रो के समय मे भी युग-सबधी सिद्धान्त का पूर्ण विकास नही हुआ था, यद्यपि दोनो ने यही कहा है कि वे पतन के युग मे हैं और मत्रद्रष्टा ऋपियो के उपरान्त वाले ऋपि लोग निकृष्ट हैं।

युगो की सिद्धान्त-सम्बन्धी निकटतम सीमा के स्थापन में हमे राजाओ द्वारा उपस्थापित शिलालेख आदि सहायता देते हैं। अशोक के शिलालेख (सख्या ४, ५) मे जो कालसी और दो अन्य स्थानो के हैं, निम्न शब्द आये हैं—'आव कप' (यावत कल्पम्) तथा गिरनार वाले मे 'आव सम्वर कप', जिसका अर्थ है "कल्प के अत तक" या "कल्प

५ तदेतत्सत्य मत्रेसु कर्माणि कवयो यान्यपश्यस्तानि त्रेताया बहुधा सततानि। मुडकोप० (१।२।१)।

६ माघशुक्लप्रपन्नस्य पौपकृष्णसमापिन । युगस्य पचवर्पस्य कालज्ञान प्रचक्षते॥ वेदागज्योतिप (५)।

७ साक्षात्कृतधर्माण ऋपयो बभूवुस्तेऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्सप्रादु । निरुक्त (१।२०)। और देखिए वनपर्व (१८३-६७)।

८ तस्मादृपयोऽवरेपु न जायन्ते नियमातिक्रमात्। आप० ध० सू० (१।२।५।४)।

के अंत तक जब कि सम्वर्त नामक बादल एवं अग्नियाँ समाप्त होंगी।"[९] देखिए कार्पस इंस्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम्, जिल्द १ पृ. ८ १ २ ३३। इससे प्रकट होता है कि कल्प (काल की वह लम्बी अवधि जिसके अन्त में विश्व का प्रलय होता है) की भावना जो युगों के सिद्धान्त का एक अंश है, ईसा के पूर्व तीसरी शताब्दी में उत्पन्न हो चुकी थी। रुद्रदामन् (१५ ई.) के जूनागढ़ अभिलेख में आया है—'आयु जिसका वेग युग के निधन (अंत) के सदृश घोर (भयानक) था। देखिए एपिग्रैफिया इण्डिका जिल्द ८ पृ. ३६ एवं ४१। पल्लव राजाओं (तीसरी या चौथी ई.) के प्रारम्भिक शिलालेखों में वे 'कलियुग के बुरे प्रभावों के कारण गर्त में पड़े धर्म को निकालने में सदैव तत्पर' कहे गये हैं (कलियुगदोषावसन्नधर्मोद्धरणनित्यसन्नद्धस्य)। गुप्तकाल (४१५ ११ ई.) के ९१वें वर्ष के एक अभिलेख में गुप्तकाल को कृत युग के सद्धर्म का पालक कहा गया है। और देखिए गुप्ताभिलेख संख्या ५५ पृ. २३७ एवं २४ जहाँ कृत युग का वर्णन है और ताम्रपत्र अभिलेख (एपि. इण्डि. जिल्द ८,पृ. १४) जहाँ कलियुग की ओर संकेत है। पश्चात्कालीन अभिलेखों का हवाला देना नितान्त आवश्यक नहीं है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि युगों और कल्पों के सिद्धान्त का उदय ईसा पूर्व चौथी या तीसरी शताब्दी में हो गया था और ईसा के उपरान्त प्रथम शताब्दी के आते आते उसका पूर्ण विकास हो गया। पूर्ण विकास के लिए लम्बी अवधि आवश्यक है। उदाहरणार्थ ब्रह्मगुप्त (ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त ११।१) का कथन है कि युगों मनुओं एवं कल्पों का सिद्धान्त जो आर्यभट द्वारा प्रतिपादित था स्मृतियों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त से भिन्न था।

यदि हम संस्कृत-साहित्य का पर्यवलोकन करें तो उपर्युक्त निष्कर्ष की सिद्धि हो जाती है। महाभारत (वन-पर्व के अध्याय १४ एवं १८८ शान्तिपर्व के अध्याय ६९ २३१ २३२) मनु (अ. १) विष्णु ध. सू. (२०।१-२१) पुराणों (यथा विष्णु १।३ ६।३ मार्कण्डेय ४६ ब्रह्म २२९-२३ मत्स्य १४२ १४४) एवं ब्रह्मगुप्त जैसे ज्योतिषियों के ग्रंथों में युगों एवं मन्वन्तरों के सिद्धान्त की चर्चा संक्षेप में निम्न रूप में मिलती है—कृत त्रेता द्वापर एवं कलियुग तथा सन्ध्या (जो प्रत्येक युग के पूर्व का काल है) एवं संध्यांश (जो प्रत्येक युग के उपरान्त का काल है) मिलकर १२ वर्ष होते हैं अर्थात् कृत त्रेता द्वापर और कलियुग क्रम से ४ ३ २ १ वर्षों की अवधि के होते हैं तथा सन्ध्या एवं सन्ध्यांश क्रम से ४ ३ २ १ वर्ष की अवधियों के होते हैं (अर्थात् कृत की सन्ध्या ४ वर्ष वाली एवं सन्ध्यांश ४ वर्ष वाला आदि-आदि)। किन्तु ये दिव्य वर्ष हैं। प्रत्येक दिव्य वर्ष ३६ मानवीय वर्षों के बराबर होता है। अतः चारों युगों के मानव वर्षों की जानकारी के लिए हमें १२ में ३६ का गुणा करना होगा (अर्थात् वास्तविक संख्या ४३,२ है)। कृतयुग अपनी सन्ध्या एवं सन्ध्यांश के साथ १७,२८ मानवीय वर्षों के बराबर होता है त्रेता १२,९६, वर्षों के बराबर, द्वापर ८६४ वर्षों के बराबर और कलियुग ४ ३२, वर्षों के बराबर होता है। ये चारों युग मिलकर कभी-कभी चतुर्युग (मनु १।७१) या केवल युग (वनपर्व १४८।१७ शान्ति प. २३१।२९) के नाम से पुकारे गये हैं इन चारों युगों के १ वर्ष ब्रह्मा के एक दिन के बराबर होते हैं जिसे कल्प की संज्ञा दी गयी है। यही बात ब्रह्मा की रात्रि की अवधि के बारे में भी है। कल्प के अंत में विश्व ब्रह्मा में लीन हो जाता है जिसे प्रलय कहा जाता है और ब्रह्मा की रात्रि के अन्त में विश्व का पुनः उदय होता है। ब्रह्मा के एक दिन में १४ मनु होते हैं। अतएव प्रत्येक मन्वन्तर लगभग ७१ चतुर्युगी (१ — —१४) के बराबर होता है। ब्रह्मा की आयु वर्ष है जिसका आधा समाप्त हो गया है अतः वर्तमान कल्प

९. मिलाइए 'ततः संवर्तको वह्निर्वायुना सह भारत। लोकमाविशते पूर्वमादित्यैरुपशोषितम्॥' वनपर्व (१८८।६९)।

ब्रह्मा के जीवन का अर्धांश अथवा द्वितीय परार्ध कहा जाता है और आज का चलता हुआ कल्प वाराह कहा जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से प्रकट होता है कि पुराणो के मत से विश्व की उत्पत्ति और उसका प्रलय कई वार हुआ है और इसी प्रकार कई मन्वन्तर (मनु० १८०) हुए है। अपनी विशेषताओ के आधार पर चारो युग एक दूसरे से भिन्न हैं। कृत इसलिए कहा जाता है कि इस युग मे प्रत्येक कार्य पूर्ण (कृत) कर दिया जाता है और कुछ छोडा नही जाता।[10] चारो युगो के प्रतीकात्मक रग हैं श्वेत, पीत, लोहित एव कृष्ण (वनपर्व १८९।३२)। कृत मे धर्म पूर्णता के साथ प्रचलित रहता है और चारो पैरो पर खडा रहता है (मनु ८।१६ एव वनपर्व १९०।९ आदि मे धर्म को आलकारिक रूप मे वृष (बैल) कहा गया है)[11] और यह आगे के युगो मे चौथाई रूप मे पतन को इस प्रकार प्राप्त होता है (मनु १।८१-८२=शान्ति २३२।२३-२८) कि कलि मे केवल एक चौथाई (अर्थात् केवल एक पैर) बच रहता है और तीन चौथाई (अर्थात तीन पैरो) मे अधर्म समाविष्ट हो जाता है। कृत मे सब लोग रोगो से मुक्त रहते हैं, अभिलषित फल प्राप्त करते हैं और मानव-जीवन चार सौ वर्षो के बराबर होता है। कृत युग की ये विशेषताएँ अन्य तीन युगो मे एक चौथाई रूप मे घटती जाती हैं (मनु १।८३=शान्ति २३२।२५)। चारो युगो के धर्म भिन्न होते हैं, कृत मे तप परम धर्म था, त्रेता मे दार्शनिक ज्ञान, द्वापर मे यज्ञ और कलि मे केवल दान (मनु १।८५-८६=पराशर १।२२-२३=शान्ति० २३२।२७-२८)।

कृत, त्रेता, द्वापर एव कलियुग के धर्मो की उद्घोषणा क्रम से मनु, गौतम, शख-लिखित एव पराशर ने की है (पराशरस्मृति १।२४)। कृत मे केवल एक वर्ण था किन्तु कलि के अन्त मे सभी शूद्र हो जायँगे (ब्रह्म० २२९।५२, मत्स्य० १४४।७८)। पराशर (१।२५-२८) ने चारो युगो की विशेषताओ का वर्णन किया है जिसे यहाँ हम स्थानाभाव से नही दे रहे हैं। मनु (९।३०१-३०२) के मत से युग काल के सकीर्ण अथवा बँधे-बँधाये भाग नही हैं। राजा अपने आचरण द्वारा एक युग की विशेषताओ को दूसरे मे प्रवाहित कर सकता है। मेधातिथि (मनु ९।३०१) ने व्याख्या की है कि राजा को इस गलतफहमी मे नही पडना चाहिए कि कलि-काल कोई ऐतिहासिक भाग है और वह इसलिए कलि या कृत नही हो सकता, बल्कि बात तो यह है कि राजा अपने आचरण द्वारा प्रजाजनो मे कतिपय युगो की परिस्थितियो को उत्पन्न कर सकता है।

वनपर्व (१४९।११-३८), वायु० (३२ एव ५७-५८), लिंग० (३९), मत्स्य० (१४२-१४४), गरुड० (२२३), नारदीय० (पूर्वार्ध ४१) एव अन्य पुराणो मे चारो युगो के स्वभाव का वर्णन है जिसे हम यहाँ स्थानाभाव के कारण उल्लिखित नही कर सकते। किन्तु महाभारत एव पुराणो मे वर्णित कलियुग के स्वभाव के विषय की जानकारी आवश्यक है। वनपर्व (अध्याय १८८ एव १९०), युगपुराण (गर्गसहिता का अ०), हरिवश (भविष्य० अ० ३।५), ब्रह्म० (२२९-२३०), वायु० (५८ एव ९९।३९१-४२८), मत्स्य० (१४४।३२-४७), कूर्म० (१।३०), विष्णु पु० (६।१।२), भागवत (१२।२), ब्रह्माण्ड (२।३१), नारदीय (पूर्वार्ध ४१, २१-८८), लिंग (४०), नृसिंह (५४। ११-४९) एव अन्य ग्रथो ने अधिकाशत समान श्लोको मे कलियुग के विषय मे बहुत ही निराशाजनक, अन्धकारपूर्ण एव अत्यन्त हृदयस्पर्शी बातें कही हैं।

प्रमुख बातें ये हैं कि कलियुग मे शूद्र एव म्लेच्छ राजाओ का राज्य होगा, नास्तिक सम्प्रदायो की प्रधानता

१० कृतमेव न कर्त्तव्य तस्मिन् काले युगोत्तमे। वनपर्व (१४९।११)।

११ कृते चतुष्पात्सकलो निर्व्याजोपाधिवर्जित । वृष प्रतिष्ठितो धर्मो मनुष्ये भरतर्षभ॥ वनपर्व (१९०।९)।

होगी, जाति-सम्बन्धी कर्तव्यों एवं सुविधाओं में उलट-फेर होगा और शारीरिक एवं नैतिक शक्तियों का ह्रास हो जायगा।

पुराणों के समय के विषय में मतैक्य न होने के कारण युगों से सम्बन्धित सिद्धान्त के पूर्ण विकास-काल के विषय में कहना कठिन है, किन्तु इतना निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि चौथी शताब्दी ई० के आते-आते यह सिद्धान्त भली-भाँति विकसित हो चुका था। आर्यभट (कालक्रियापाद १) ने कहा है कि जब महायुग के (कृत, त्रेता एवं द्वापर) तीन पाद और ३६ वर्ष व्यतीत हो चुके थे तो वे २३ वर्ष के थे। आज की गणना के अनुसार वे सन् ४९९ ई० में २३ वर्ष के थे, स्पष्ट है उनका जन्म ४७६ ई० में हुआ था। वराहमिहिर (५ ५ से ५८७ ई०) ने अपनी पुस्तक पंचसिद्धान्तिका में बहुत-से ज्योतिष सिद्धान्तों के आँकड़ों का निष्कर्ष दिया है, जिसमें रोमक सिद्धान्त भी सम्मिलित है जिसके विषय में ब्रह्मगुप्त का कथन है कि यह स्मृतियों के बाहर की वस्तु है, क्योंकि इसने (रोमक सिद्धान्त ने) युगों, मन्वन्तरों एवं कल्पों को, जिन्हें स्मृतियों ने कालगणना में उपयोगी माना है, छोड़ दिया है। रघुवंश (१५।९६) में कालिदास ने धर्म को त्रेता में केवल तीन पैरवाला कहा है। यह उस समय की बात है जब राम ने इस संसार से विदा होने के लिए विचार किया था। आज का कोई भी विद्वान् कालिदास को पाँचवीं शताब्दी के उपरान्त का नहीं कह सकता। अतः युग-सम्बन्धी सिद्धान्त ४ ई० से पहले ही पूर्णता को प्राप्त हो चुका होगा। डॉ० का० प्र० जायसवाल का कथन है कि गर्गसंहिता वाले युगपुराण का अध्याय लगभग ५ ई० पू० सन् में प्रणीत हुआ था। सम्भवतः उनका यह विचार ठीक है।

आजकल कलिवर्ष ५ ६१ (बीता हुआ) १९६ ई० या शक संवत् १८८२ या विक्रम संवत् २ १६ के बराबर है (यह हिन्दी अनुवाद सन् १९६ में किया गया है)। किन्तु कलियुग के आरम्भ की तिथि के विषय में कई मत हैं। उपर्युक्त गणना के विषय में निश्चित तिथि ई० पू० ३१ २ की १८वीं फरवरी का शुक्रवार है। एक मत यह है कि कलियुग का आरम्भ महाभारत की लड़ाई के समय से हुआ (आदिपर्व २।१३, शल्य ६ ।२५ एवं वन १४९।३८)। यह मत एहोल अभिलेख में उल्लिखित है जहाँ यह कहा गया है कि कलियुग का आरम्भ महाभारत की लड़ाई से हुआ और ३७३५ वर्ष (बीते हुए) शक संवत् ५५६ के बराबर है (ए० इ०, जिल्द ६, पृ० ७)। आर्यभट को यह गणना ज्ञात थी क्योंकि उन्होंने कहा है कि जब वे २३ वर्ष के थे तो महायुग के तीन पाद एवं ३६ वर्ष व्यतीत हो चुके थे (कालक्रियापाद, १)। पुराणों में जो मत प्रकाशित है वह यह है कि जब कृष्ण ने अपना अवतार समाप्त कर स्वर्गारोहण किया तो कलियुग का आरम्भ हुआ। इस मत से कलियुग का आरम्भ प्रथम मत के कई वर्ष उपरान्त माना जायगा। देखिए मौसलपर्व (अ० १।१३ एवं २।२) जहाँ कृष्ण के दिवंगत होने के पूर्व के ३६ वर्ष की ओर संकेत किया गया है। युगपुराण ने गौतमी की मृत्यु के दिन से कलियुग का आरम्भ माना है (दे० जे० बी० ओ० आर० एस०, जिल्द १४ पृ० ४)। वराहमिहिर का एक पृथक् मत है। उनका कहना है कि जब युधिष्ठिर राज्य कर रहे थे तो सप्तर्षि मघा नक्षत्र में थे। यह काल शक-संवत् में २५२६ वर्ष जोड़कर उपस्थित किया गया। इससे युधिष्ठिर कलियुग के ६५३वें वर्ष में माने जायँगे (आज की गणना के अनुसार) न कि द्वापर में या कलियुग के

१२ यस्मिन् कृष्णो दिवं यातस्तस्मिन्नेव तदा दिने। प्रतिपन्नं कलियुगं तस्य संख्यां निबोधत॥ वायु (९९।४२८-४२९); ब्रह्माण्ड (२।७४।२४१)।

१३ आसन् मघासु मुनयः शासति पृथ्वीं युधिष्ठिरे नृपतौ। षड्द्विकपञ्चद्वियुतः शककालस्तस्य राज्ञश्च॥ बृहत्संहिता (१३।३)।

आरम्भ मे। राजतरगिणी (१।५६) ने वृहत्सहिता को उद्धृत कर कहा है कि कौरव एव पाण्डव कलियुग के ६५३वे वप मे थे (१।५१)। विद्वानो ने बहुत प्रयास करके इस भेद को मिटाना चाहा है और इस विषय मे वृहत्सहिता के शब्द 'षड्द्विक-पञ्च-द्वियुत' को कई प्रकार से समझाया है, जो सतोषप्रद समाधान देने मे असमर्थ है। हम 'द्विक' शब्द को 'दो' के अर्थ मे क्यो न लें? लीलावती एव वृहत्सहिता ने इसे 'दो' के अर्थ मे ही लिया है।

शककाल, जो उपर्युक्त श्लोक मे आया है, वह पञ्चसिद्धान्तिका (१।८) एव वृहत्सहिता (८।२०-२१) मे प्रयुक्त शकेन्द्रकाल या शकभूपाल से भिन्न है, ऐसा मानना कठिन है। वराहमिहिर ने कोई ऐसा सकेत नही दिया है कि हम उसे भिन्न मानें। श्री चि० वि० वैद्य ने शककाल को बुद्ध के निर्वाण का काल माना है (महाभारत, एक समीक्षा, पृ० ८०-८१)। किन्तु ऐसा मानना अनुचित है। उनका 'षड्-द्विक-पञ्च-द्वियुत' को २५६६ (न कि २५२६) मानना बुरा नही है, क्योकि उससे युधिष्ठिर के काल-निर्णय के तर्क पर कोई बुरा प्रभाव नही पडता। इस व्याख्या मे युधिष्ठिर ई० पू० २४८८ ई० मे माने जायेंगे न कि २४४८ ई० मे। किन्तु 'षट्' (६), 'द्विक्' (२) आदि शब्दो के साधारण मूल्यों को न मानने मे कोई तर्क नही है।

यदि भास्कर वर्मा के निधानपुर ताम्रपत्रो की तिथि की उचित समीक्षा की जाय तो वराहमिहिर की स्थिति के पक्ष मे बल प्राप्त हो जाता है। इन ताम्रपत्रो ने भास्कर वर्मा की वशावली को निश्चित करने के लिए उस नरक से आरम्भ किया है जिसका पुत्र भगदत्त कौरवो की ओर से लडा था और अर्जुन द्वारा मारा गया था (द्रोणपर्व, अ० २९)। भास्कर वर्मा सातवी शताब्दी मे हर्षवर्धन का समकालीन था। वह पुष्य वर्मा से १२वी पीढी मे था। अर्जुन से मारे जानेवाले भगदत्त का पुत्र वज्रदत्त था जिसके वशजो ने कामरूप (आसाम) पर ३००० वर्षो तक राज्य किया और तब पुष्य वर्मा राजा हुआ। यदि हम प्रत्येक राज्य-काल के लिए २० वर्षो की औसत अवधि मानें तो पुष्य वर्मा पाँचवी शताब्दी के आरम्भ मे पडता है। यदि हम पुष्य वर्मा एव वज्रदत्त के बीच के ३००० वर्ष जोड दें तो हम वज्रदत्त को ई० पू० २५०० सन मे पाते हैं जो महाभारत के सम्भावित काल का द्योतक है। यह वराहमिहिर की गणित तिथि (युधिष्ठिर के राज्यकाल की तिथि) ६५३ कलियुग (ई० पू० २४४८ ई०) की समीपता का द्योतक है। यदि हम यह मान लें कि महाभारत की लडाई ई० पू० ३१०१ मे हुई या कलियुग इसी समय मे आरम्भ हुआ, तो पुष्य वर्मा, जो महाभारत के ३००० वर्षो के उपरान्त आविर्भूत हुआ, ई० पू० १०१ में रखा जायगा और ऐसी स्थिति मे पुष्य वर्मा एव भास्कर वर्मा मे ७०० या ७५० वर्षो की दूरी पड जायगी। १२ राजाओ के लिए ७०० या ७५० वर्षो की अवधि से प्रत्येक राजा के लिए लगभग ६० वर्षो का राज्यकाल मानना पडेगा जो सम्भव नही है। अत निधानपुर अभिलेख से महाभारत की तिथि ई० पू० ३१०१ नही जँचती, प्रत्युत इससे वराहमिहिर की ई० पू० २५०० वाली तिथि को बल मिल जाता है।

कुछ पुराणो के कुछ ऐतिहासिक वचनो से महाभारत एव कलियुग के आरम्भ के काल पर प्रकाश पडता है। वायुपुराण (९९।४-१५) एव मत्स्यपुराण (२७३।३६) का कथन है कि परीक्षित के जन्मकाल से लेकर महापद्मनन्द के राज्याभिषेक की अवधि १०५० वर्षो की है। भागवतपुराण (१२।२।२६) मे यह अवधि १०१५ वर्षो की है। यहाँ पुराण-उक्तियो मे कुछ त्रुटि है। मत्स्य (२७१।१७।३०) ने जरासन्ध के पुत्र सहदेव के वशज, मगध के बार्हद्रथ राजाओ के नाम गिनाये हैं और कहा है कि यह वश सहस्र वर्षो तक राज्य करेगा। इसके आगे (२७२।२-५) चलकर पाँच ऐसे राजाओ का वर्णन किया है जिनके उपरान्त शिशुनाक वश चलेगा और कहा है कि पाँचो राजा मिलकर ३६० वर्ष तक राज्य करेंगे, जिनमें अन्तिम राजा महानदि (श्लोक ६-१३) होगा, जिसका शूद्रा से उत्पन्न पुत्र महापद्म (२७२।१८) होगा। अत यदि इन तीन वशो के वर्ष जोडे जायें तो हमे १५०० की अवधि प्राप्त होगी। यह बात भागवतपुराण (९।२२।४८ एव १२।१-२) एव वायुपुराण (९९।३०८-३२१) द्वारा समर्थित है।

वायुपुराण का कथन है कि बार्हद्रथ वंश १००० वर्ष तक राज्य करेगा, उसके उपरान्त ५ प्रौतिहोत्र राजा (प्रद्योत आदि) १३८ वर्ष तक राज्य करेंगे और इसके उपरान्त शिशुनाक (भागवत एवं ब्रह्माण्ड पुराण ३।७४।१३४-१३५ में 'शिशुनाग' शब्द आया है) वंश ३६२ वर्ष तक राज्य करेगा (स्पष्टतः १५०० वर्ष)। ये अवधियाँ विष्णुपुराण (४।२१ एवं २४) एवं ब्रह्माण्डपुराण (३।७४।१२१-१३५) द्वारा भी उपस्थित की गयी हैं। श्रीधर ने भागवत (१२।२।२६) की टीका में कहा है कि परीक्षित एवं नन्द (महापद्म) के बीच १४९८ वर्ष की अवधि है (जैसा कि भागवत में कहा है) तथा शिशुनाग वंश ने ३६० वर्षों तक राज्य किया। अतः वायुपुराण या मत्स्यपुराण या भागवतपुराण में शुद्ध पाठ 'पञ्चशतोत्तरम्' ठीक है न कि 'पञ्चाशदुत्तरम्' या 'पञ्चदशोत्तरम्'। परीक्षित और नन्द के बीच में १५०० वर्षों की अवधि को मानते हुए तथा आधुनिक विद्वानों के मतानुसार यह मानते हुए कि नन्द राजा ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में हुए, यह कहा जा सकता है कि अर्जुन के पौत्र परीक्षित, महाभारत युद्ध एवं कलियुग का आरम्भ तीनों ईसा पूर्व १९वीं शताब्दी में रखे जा सकते हैं। अतः उपर्युक्त विवेचनों के उपरान्त महाभारत की तीन विभिन्न तिथियाँ हुईं—३१०१ (ई० पू०), २४४८ (ई० पू०) एवं लगभग १९०० (ई० पू०)। ये तीनों तिथियाँ ईसा के उपरान्त ५वीं शताब्दी से लेकर प्राप्त शास्त्रों द्वारा प्रमाणित हैं। कोई ऐसा नहीं कह सकता कि इन तीनों में कोई एक परम्परा ही युक्तिसंगत है। केवल यही कहा जा सकता है कि किसी को एक परम्परा जँचती है तो दूसरे को दूसरी या तीसरी। ईसापूर्व १९वीं शताब्दी वाली तिथि पुराणों द्वारा कतिपय राजाओं के नामों और उनके राज्यकालों के वृत्तान्तों के साथ विस्तारपूर्वक स्थापित है अतः मेरी समझ में महाभारत युद्ध के लिए यह तिथि अन्य दोनों की अपेक्षा अधिक ठीक जँचती है। कल्पनात्मक अथवा खींचातानी से युक्त व्याख्याओं तथा सदिग्ध गणना के आधार पर कही गयी बातों की अपेक्षा यह कहना उत्तम है कि हम महाभारत युद्ध के लिए कोई निश्चित तिथि निकालने में असमर्थ हैं। इन महत्त्वपूर्ण पुराणों की उत्तम पाण्डुलिपियों की आलोचनात्मक व्याख्याएँ करके उनके शुद्ध संस्करण उपस्थित तो कर सकते हैं, किन्तु उनके विद्वान् पाठकों में (जिनकी द्वारा स्थापित) विभिन्न मतों में एकता स्थापित करने में समर्थ नहीं हो सकते क्योंकि विद्वान् अपनी-अपनी विभिन्न परीक्षण प्रणालियाँ उपस्थित करने में दक्षता प्रकट करने लगते हैं (मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना)। भारतीय-इतिहास के अनन्य विद्वान् श्री पार्जिटर ने अपनी प्रख्यात पुस्तक 'दि पुराण टेक्स्ट ऑव दि डायनेस्टिज ऑव दि कलि एज' द्वारा इस विषय में एक बहुत विस्तारपूर्ण स्तुत्य कार्य किया है।

महाभारत युद्ध की तिथि से सम्बन्धित विभिन्न सिद्धान्तों की व्याख्या जो कतिपय विद्वानों द्वारा उपस्थापित की गयी है, हम स्थानाभाव से उन्हें यहाँ नहीं दे रहे हैं। किन्तु दो एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यहाँ दिये जा रहे हैं।

अपनी पुस्तक 'दि क्रोनोलॉजी ऑव ऐंश्येण्ट इण्डिया' (अ० २, पृ० ९१-१०४) में श्री वेंकटेश केतकर एवं ने महाभारत द्वारा उपस्थापित ज्योतिष-आँकड़ों की जाँच की है और बृहत्संहिता के वक्तव्य की भ्रामक व्याख्या करके तथा कलियुग के आरम्भ के सम्बन्ध में मतभेद के फलस्वरूप युग को ईसा पूर्व ११७७ ई० पर रखकर यह निष्कर्ष निकाला है कि महाभारत युद्ध ई० पू० ११९४ ई० के अन्तिम भाग में हुआ था। यह सिद्धान्त स्पष्टतः उपर्युक्त तीन सिद्धान्तों के विरोध में उठ खड़ा होता है। हमने देख लिया है कि उपर्युक्त तीनों सिद्धान्त प्राचीन एवं प्रामाणिक ग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन पर आधारित हैं।

इस विवादग्रस्त समस्या पर मैक्समीक्रम की 'इण्डिका' के कतिपय अंशों पर आधारित सूचना कुछ प्रकाश डालती है। एक स्थान (पृ० ११५, मैक्क्रिण्डल आदि द्वारा वर्णित प्राचीन भारत) पर आया है—"उनमें (भारत के) डेनिस से अलेक्जेण्डर महान् तक ६०४२ वर्ष होते हैं जिनमें ३ अभिनिवेश भाग जोड़ दिये गये हैं, अथवा उन १५३ राजाओं के राज्यकाल को लेकर की गयी है जिन्होंने इस बीच की अवधि में राज्य किया।" एरियन (सोरी) के वक्तव्य में राजाओं की संख्या १५४ है। इसके विरोध में प्लिनि (दूसरी शताब्दी) की 'इण्डिका' की स्थापना है—"डायोनिसस

से सैंड्राकोट्टस (चन्द्रगुप्त) तक भारतीयो ने १५३ राजाओ के नाम परिगणित किये और ६०८२ वर्षो की अवधि दी, किन्तु इन सबो मे एक गणतंत्र राज्य तीन बार स्थापित हुआ दूसरा गणतन्त्र ३०० वर्षो और एक अन्य दूसरा १२० वर्षो तक चलता रहा। भारतीयो का यह भी कहना है कि डायोनिसस हेराक्लीज से १५ पीढ़ियो पहले हुआ था और उसके अतिरिक्त किसी अन्य ने भारत पर आक्रमण नही किया।" यह उक्ति बडी महत्त्वपूर्ण है क्योकि यह सिद्ध करती है कि ई० पू० चौथी शताब्दी मे कोई एक बहुत शताब्दियो से चलती आयी किवदन्ती प्रसिद्ध थी जो भारतीय सभ्यता एव सुव्यवस्थित शासन के इतिहास को ई० पू० चौथी शताब्दी से पहले ६ हजार वर्ष तक ले जाती थी। किन्तु मेगस्थनीज ने जो लिखा है, उसके विषय मे सदेह उत्पन्न हो जाता है और वर्षो तथा राजाओ की सख्या के विषय मे कुछ भिन्नता उत्पन्न हो जाती है। इसके अतिरिक्त महाभारत युद्ध की तिथि एव कलियुग के आरम्भ के विषय मे कोई सीधा सबध नही स्थापित किया जा सकता, जब तक कि 'हराक्लीज' को हम कुछ विद्वानो के मतानुसार 'हरि-कृष्ण' न मान लें।[14] हेराक्लीज के विषय की चर्चा कृष्ण के जीवन से सम्बन्धित किवदन्तियो से कुछ मेल खाती है (मैक्रिण्डल का ग्रथ, पृ० २०१-२०३)—"वह सौरासेन्वाय (शूरसेन) द्वारा सम्मानित हुआ था, सौरासेन्वाय एक भारतीय जाति है और उसके अधिकार मे मेथोरा (मथुरा) और क्लेयीसोबोरा नामक दो विशाल नगर हैं, हेराक्लीज की बहुत पत्नियाँ थी।" किन्तु हेराक्लीज के जीवन के कुछ वृत्तान्त मेल नही भी खाते, यथा "उसकी पण्डैया नामक एक पुत्री थी जिसकी सात वर्ष की अवस्था मे हेराक्लीज ने एक शक्तिशाली जाति उत्पन्न करने के लिए उससे शरीर-सम्बन्ध स्थापित किया।" यहाँ पर पण्डैया अथवा 'पाण्डैअ' शब्द को लेकर पाण्डवो एव कुन्ती या दक्षिण के पाण्डय राज्य से सम्बधित कुछ सन्देह उत्पन्न हो सकता है जो कुछ सीमा तक जँच भी सकता है। इसके अतिरिक्त १५३ या १५४ राजाओ के लिए ६,००० वर्ष एक बहुत लम्बी अवधि है। ऐसा नही कहा जा सकता कि ये ६,००० वर्ष (जिसमे प्रत्येक राज्य-कार्य के लिए औसत ४० वर्ष पडते हैं) राजाओ के कालो की ओर सकेत करते हैं, क्योकि हमे ज्ञात है कि वायु एव मत्स्य पुराणो ने राज-वशो की अवधियाँ दी हैं, राजाओ के राज्यकाल और प्रत्येक वश के राजाओ के नामादि भी दिये है। यह बात ठीक है कि कतिपय राजाओ के नामो, उनकी सख्या एव राज्यकालो की अवधि के विषय मे पुराणो मे कही-कही अन्तर पड गया है। ऐसा लगता है कि वे पुराण जिनमे ऐतिहासिक विवरण उपस्थित किया गया है, कई बार सशोधित हुए हैं, यथा वायुपुराण (९९।३८३) ने गुप्त राजाओ का उल्लेख किया है किन्तु मत्स्यपुराण इस विषय मे मौन है। प्रस्तुत पुराणो के विषय मे ऐसा नही कहा जा सकता कि उन्होंने ऐतिहासिक वशो के विषय मे कल्पनात्मक बातें भर दी हैं, क्योकि उनके सामने पहले की प्राचीन किवदन्तियाँ एव लेख आदि अवश्य रहे होंगे। उन्होने नये राजाओं के नामो एव उनके राज्य-कालो की अवधियो का आविष्कार नही किया है। उन्होंने, इसमे सन्देह नही कि एक-दूसरे मे पायी जानेवाली विभिन्नताओ को दूर नही किया और जो कुछ किवदन्तियो मे अथवा लेखो मे उन्हे प्राप्त हुआ, लिखित कर दिया। आज हम अभाग्यवश प्राचीन काल के सयमित इतिहास के विषय मे पुराणो को आधार नही मान सकते, किन्तु पुराण हमारे ध्यान को हठात अपनी ओर खीचते हैं और हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हम उनकी यथातथ्य परिचर्या करें।

१४ देखिए श्री सी० वी० वैद्य की पुस्तक 'महाभारत, ए क्रिटिसिज्म' (पृ० ७५-७६) जहाँ पर उन्होंने ६०४२ अथवा ६४५१ नामक सख्याओं की अवज्ञा करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि कृष्ण ई० पू० ३१०१ ई० के आसपास अवस्थित थे, क्योंकि हेराक्लीज एव सेण्ड्राकोटट्स (चन्द्रगुप्त) के बीच १३८ राजा लगभग २७६० वर्षो तक राज्य करते रहे होंगे (प्रत्येक राज्यकाल के लिए २० वर्षो की औसत अवधि दी गयी है)।

अब हम महाभारत के काल के विषय में उसमें प्राप्त ज्योतिष-संकेतों के आधार पर विवेचना उपस्थित करेंगे।

महाभारत युद्ध एवं कलियुग के कालों के विषय में बहुत-से ग्रन्थ एवं निबन्ध आदि प्रकाशित हुए हैं। दो-एक की चर्चा यहाँ अपेक्षित है। श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भारतीय ज्योतिष शास्त्रा का इतिहास' (द्वितीय संस्करण सन् १९११) में इस विषय में लिखा है (पृ० १ ७-१२७)। और देखिए वि० वि० वैद्य (महाभारत एक समीक्षा १९ ४ पृ० ५५-७८ अनुक्रमणिका टिप्पणी ५)। वैद्य ने महाभारत युद्ध के काल के विषय में परम्परा के आधार पर ई० पू० ३१ १ को ठीक माना है। श्री एन० जगन्नाथ राव ने अपनी पुस्तक 'महाभारत का युग' (अंग्रेजी १९३१) में लिखा है कि मेगस्थनीज द्वारा उल्लिखित 'सैण्ड्राकोट्स' मौर्य चन्द्रगुप्त नहीं है प्रत्युत वह गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त है। उनके कथन से इस प्रकार चन्द्रगुप्त मौर्य का समय लगभग ई० पू० १५३५ होगा। उन्होंने बृहत्संहिता के शककाल को पारसी सम्राट् साइरस का काल माना है जो लगभग ई० पू० ५५ माना जाता है। इस प्रकार उनके मतानुसार महाभारत युद्ध ई० पू० ११३९ ई० में हुआ। श्री राव का ग्रन्थ गम्भीरता से नहीं लिखा गया इसकी उक्तियाँ विचित्र हैं। श्री पी० सी० सेनगुप्त ने भारतीय वंशावली-सम्बन्धित कुछ समस्याओं के विषय में विस्तार के साथ एक मनोरंजक निबन्ध उपस्थित किया है (एन एनल्स ऑव दि बी० ओ० आर० इन्स्टीट्यूट, पूना जिल्द १२, पृ० १ १ ३६१) जिसमें उन्होंने महाभारत युद्ध की ई० पू० ११९८ ई० तिथि को मान्यता दी है। 'केसरी' (पूना) के सम्पादक श्री जे० एस० करन्दीकर ने अपने कुछ लेखों (मराठी में) द्वारा महाभारत एवं पुराणों के ज्योतिष-आँकड़ों की जाँच की है और यह निष्कर्ष निकाला है कि महाभारत का युद्ध ई० पू० १९३१ ई० में किया गया था। यद्यपि मैं इनकी बहुत-सी उक्तियों से सहमत नहीं हूँ तथापि विद्वानों द्वारा उपस्थापित कतिपय तिथियों में जो दो युक्तिसंगत अथवा उत्तम तिथियाँ समझी जा सकती हैं उनमें इनकी प्रतिपादित तिथि को रखने में कोई संकोच नहीं करता। प्रो० पी० सी० सेनगुप्त ने एक निबन्ध (जे० आर० ए० एस० १९३७ जिल्द ३ पृ० १ १ ११९) में यह दर्शाया है कि महाभारत युद्ध लगभग २४४९ में हुआ। यह भी एक सम्भावित तिथि है जिसके पीछे बृहत्संहिता की परम्परा का प्रमाण है (युधिष्ठिरकाल के उपरान्त शककाल २५२६ वर्षों के उपरान्त आता है)। और देखिए प्रो० सेनगुप्त का निबन्ध (वही सन् १९३८, जिल्द ४ पृ० ३९१ ४११)। डॉ० के० एल० दफ्तरी ने महाभारत की सभी ज्योतिष-सम्बन्धी उक्तियों को बड़े परिश्रम के साथ जाँचकर निष्कर्ष निकाला है कि महाभारत युद्ध ई० पू० ११९७ ई० में हुआ (नागपुर विश्वविद्यालय व्याख्यानमाला सन् १९४२)। किन्तु हम उनके निष्कर्ष को स्वीकार करने में असमर्थ हैं। प्रो० सेनगुप्त ने भी उनकी उक्तियाँ अमान्य ठहरायी हैं (जे० ए० एस० बी० १९४३ जिल्द ९, पृ० २२१ २२८)। प्रो० के० जी० अमलनेर ने अपने निबन्ध (बी० बी० आर० आई० १९४४ जिल्द २५, पृ० ११९ १३१) में बहुमत के सिद्धान्त का समर्थन किया है और बहुत छान-बीन के उपरान्त ई० पू० ३१ १ ई० को ठीक माना है। लगता है उन्होंने डॉ० दफ्तरी एवं प्रो० सेनगुप्त की आलोचनाओं का अध्ययन नहीं किया था। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि महाभारत की तिथि को ज्योतिष के आँकड़ों से सिद्ध करना सरल नहीं है क्योंकि सभी तिथि के अन्य सिद्धान्त ई० पू० ११९१ एवं ई० पू० ३१ १ के बीच में ही घूमते दृष्टिगोचर होते हैं और किसी प्रकार एक निश्चिता में आ ही नहीं पाते। इसके कई कारण हैं।

पहली बात यह है कि महाभारत में वर्णित बहुत से संकेत अथवा बातें सुस्पष्ट नहीं हैं। दूसरी बात यह है कि बहुत-से विद्वानों ने इस महाकाव्य का भारतयुद्ध के उपरान्त केवल तीन वर्षों में अर्थात् बहुत अल्प अवधि में लिखा जाना माना है (आदि पर्व अ० ६२।५२—५६।१२)। तीसरी बात यह है कि युद्ध के समय की तिथिनिर्धारिका (पंचांग) के विषय में हम अभी अन्धकार में हैं। बहुत-से विद्वानों का ऐसा कहना है कि उस समय की व्यवहृत पंजिका

(ऋग्वेद के) 'वेदाङ्गज्योतिष' के नियमों से मेल खाती थी। इस विषय में मतैक्य नहीं है कि उस समय मासों का अन्त अमावस्या से होता था या पूर्णिमा से, अर्थात् वे अमान्त थे अथवा पूर्णिमान्त।[15] वैदिककाल में भी मास पूर्णिमान्त होता था, इस विषय में कोई विवाद नहीं है। उदाहरणार्थ तै० स० के मत से पूर्वाफाल्गुनी वर्ष की अन्तिम रात्रि है और उत्तराफाल्गुनी उसका मुख (अर्थात् आरम्भ)। इसी प्रकार तै० स० (७।४।८।२) ने घोषित किया है कि चित्रा पूर्णमासी वाले वर्ष का मुख है, किन्तु शाखायन ब्राह्मण (४।८) का कहना है कि फाल्गुनी पूर्णमासी वर्ष का मुख है। महाभारत के लेखक, या लेखकों ने किसी भयानक घटना के अत्यधिक अशुभ सूचक तत्त्वों को एक ही स्थान पर एकत्र कर दिया है और यह नहीं सोचा है कि वे इस प्रकार अपनी विशेषताओं के कारण एक स्थान पर नहीं रखे जा सकते (उद्योगपर्व १४३।५-२९ एवं भीष्मपर्व २।१६-३३)। उदाहरणार्थ, अरुन्धती वसिष्ठ के पास गयी (भीष्म, २।३१), घोडी ने गाय के बछडे को जन्म दिया, कुतिया ने शृगाल जन्मा (भीष्म० ३।६) तथा देवताओं की प्रतिमाएँ कॉप उठीं, हँस पडीं एवं रक्त उगलने लगीं (भीष्म० २।२६ जिसकी तुलना बृहत्संहिता ४५।८ से एवं गर्ग के श्लोकों से की जा सकती है)। ऐसा कई बार कहा गया है कि चन्द्र और सूर्य का ग्रहण अनुचित तिथि (अपर्वणि) में हुआ है या दोनों राहु से ग्रसित हुए हैं (भीष्म० ३।२८ एवं ३२।३३ तथा आश्वमेधिक ७७।१५)। इन्हीं श्लोकों में आया है कि सूर्य और चन्द्र के ग्रहण एक ही दिन हुए और एक ही मास के १३वें दिन हुए। इन सब बातों को लेकर विद्वानों की गणना में बहुत मतभेद हो गया है, किन्तु हम इन विस्तारों के चक्कर में न पडेंगे। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि कुसमय में होनेवाले ग्रहणों में विपत्तियाँ घिर आती हैं। वराहमिहिर (बृहत्संहिता ५।२६, ९७-९८) का कहना है कि यदि चन्द्रग्रहण सूर्यग्रहण के पहले या उपरान्त एक ही पक्ष में प्रकट होता है तो भयंकर फल दीख पडते हैं।

जब कृष्ण ने कौरवों में शान्ति स्थापना की चर्चा आरम्भ कर दी तब से जो ज्योतिष सम्बन्धी आँकडे हमारे सामने उपस्थित होते हैं उनमें कुछ महत्त्वपूर्ण आँकडों की चर्चा यहाँ की जा रही है। उद्योगपर्व (८३।६-७) में आया है कि कृष्ण ने शान्तिदूतता का कार्य शरद ऋतु के अन्त में और जाडे के आगमन पर जब कि चन्द्र रेवती नक्षत्र में था या मैत्र मुहूर्त में था, तब कार्तिक मास में आरम्भ किया (कौमुदे मासि)।[16] आजकल आश्विन और कार्तिक शरद् ऋतु के द्योतक हैं तथा मार्गशीर्ष और पौष हेमन्त के। यह श्लोक एक कठिनाई उत्पन्न करता है। कार्तिक की पूर्णिमा को चन्द्र कृत्तिका नक्षत्र में और तीन दिन पहले अर्थात् कार्तिक शुक्ल द्वादशी के दिन वह रेवती नक्षत्र में होता है। यदि हम इसे 'शरदन्ते' शब्द के साथ ले जायँ तो मास पूर्णिमान्त हो जाता है, किन्तु दूसरे अर्थ में (यदि मास अमान्त हो) यह

१५ कनिष्ककाल के खरोष्ठी के अभिलेखों से पता चलता है कि उत्तर-पश्चिमी भारत में उन दिनों मास पूर्णिमान्त थे (एपि० इन्०, जिल्द १८, पृ० २६६ एवं वही, जिल्द १९ पृ० १०)। अपरार्क (पृ० ४२३) ने ब्रह्मपुराण से 'अश्वयुक् कृष्णपक्षे तु श्राद्धं कार्यं दिने दिने' उद्धृत कर कहा है कि भाद्रपद कृष्णपक्ष को इस श्लोक में आश्विन का कृष्ण पक्ष कहा गया है। भविष्यपुराण (उत्तरपर्व १३२।१७) में फाल्गुन की पूर्णिमा मास के अंत की द्योतक है (किमर्थं फाल्गुनस्यान्ते पौर्णमास्यां जनार्दन। उत्सवो जायते लोके ग्रामे ग्रामे पुरे पुरे)। मत्स्यपुराण (१५९।४ ६) में आया है कि स्कंद एवं विशाख चैत्र के कृष्ण पक्ष के १५वें दिन उत्पन्न हुए थे, और चैत्र के शुक्ल पक्ष में ५वें दिन इन्द्र ने दोनों से एक लडका उत्पन्न किया और छठे दिन उसे राजा के रूप में अभिषिक्त कर दिया। इससे प्रकट होता है कि मत्स्य में चैत्र पूर्णिमान्त है, अमान्त नहीं।

१६ मैत्रे मुहूर्ते सम्प्राप्ते मृद्वर्चिषि दिवाकरे। कौमुदे मासि रेवत्यां शरदन्ते हिमागमे॥ उद्योगपर्व (८३। ६-७)। और देखिए शत० ब्रा० (१०।४।२।१८, २५, २७) एवं तै० ब्रा० (३।१०।१।१)।

कहना अत्यन्त अनुचित होगा कि कार्तिक शुक्ल द्वादशी के दिन आरम्भ था। असफल होने पर कृष्ण पाण्डवों के पास लौट आये और दुर्योधन से जो कुछ बातचीत हुई थी उसकी चर्चा की (इसमें कार्तिक शुक्ल द्वादशी के बाद कुछ दिन अवश्य लगे होंगे)। कृष्ण ने जो बातें कहीं उनमें दो महत्त्वपूर्ण हैं पहली यह कि दुर्योधन ने अपने मित्रों से कहा है— 'युद्ध के लिए कुरुक्षेत्र को चलो आज चन्द्र पुष्य नक्षत्र में है' (उद्योगपर्व १५० ३)। यदि कृष्ण अपने शान्तिकर्म के लिए उस समय तक चले जब कि चन्द्र रेवती नक्षत्र में था (कार्तिक शुक्ल पक्ष के १२वें दिन) तो दुर्योधन के ये शब्द उनकी उपस्थिति में कहे गये या कार्तिक कृष्ण पञ्चमी के दिन (या मार्गशीर्ष कृष्ण पञ्चमी के दिन यदि मास पूर्णिमान्त था) कहे गये। कृष्ण की दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है जो उन्होंने कर्ण से जिन्हें उन्होंने अपनी ओर मिलाना चाहा कही—"यह वह सौम्य मास है जब ईंधन एवं चारा सरलता से प्राप्त होता है यह वह समय है जो न अधिक गर्म है न ठंडा है आज से सातवें दिन अमावस्या होगी उस दिन संग्राम किया जा सकता है उस दिन इन्द्र देवता का रक्षण प्राप्त होता है। अतः स्पष्टतः यह बात मास के शुक्ल पक्ष की अष्टमी या उसके आस-पास हुई होगी किन्तु उस मास का नाम क्या है? यदि गणना पूर्णिमान्त से होती थी तो वह मास मार्गशीर्ष था यदि गणना अमान्त थी तो कार्तिक। एक बात और है, इन्द्र ज्येष्ठा नक्षत्र का देवता है और अमावस्या में ज्येष्ठा नक्षत्र पाया जाना चाहिए (उद्योग० १४२। १६।१८)। आजकल यह कार्तिक अमावस्या में सम्भव है, मार्गशीर्ष अमावस्या को आजकल ज्येष्ठा नक्षत्र नहीं पाया जाता। किन्तु उपर्युक्त कथन (उद्योग० १४२।१६ १८) शल्यपर्व (३५।१) के कथन का विरोधी है, क्योंकि वहाँ चन्द्र पुष्य में कहा गया है। यदि कर्ण से कृष्ण ने उस दिन बात की जब कि चन्द्र अमावस्या वाले ज्येष्ठा नक्षत्र में था तो शल्यपर्व की उक्ति से प्रकट होता है कि युद्ध का आरम्भ कार्तिक अमावस्या के १६वें या १७वें दिन से हुआ किन्तु यह बात कहीं अन्य स्थान पर नहीं पायी जाती। इसी प्रकार से बहुत-से ज्योतिष-सम्बन्धी आँकड़े उपस्थित किये जा सकते हैं, जिनके आधार पर युद्ध-समय सम्बन्धी व्याख्याएँ उपस्थित की जाती हैं।

महाभारत युद्ध के आरम्भ की तिथि एवं नक्षत्र के विषय में गहरा मतभेद है, हम उसके विस्तार में यहाँ नहीं पड़ेंगे क्योंकि स्वयं उस महाकाव्य में इसके विषय में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। विद्वानों ने श्लोकों के शब्दों को इधर उधर परिवर्तित कर बहुत-सी अटकल-पच्चू बातें की हैं। हम जानते हैं कि महाभारत के पीछे शताब्दियों की परम्पराएँ हैं उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन कर देना श्रेयस्कर नहीं है। हम उसके काल-निर्णय के विषय में अन्य साक्ष्यों का सहारा लेना होगा किन्तु स्थानाभाव से हम उनके विवेचन में यहाँ नहीं पड़ेंगे।

कलियुग का आरम्भ आज (सन् १९६) से केवल ५ ६१ वर्ष पहले हुआ और यह युग ४ ३२ वर्षों तक चलता रहेगा (जैसा कि पुराणों का कथन है) तो यह कहना उचित ही है कि हम लोग अभी कलियुग की देहली पर खड़े हैं और यह हमारी कल्पना के बाहर की बात है कि आज से लगभग ४ २७ वर्षों के उपरान्त कलियुग के अन्त में कौन-सी घटनाएँ या दुर्घटनाएँ घटित होंगी। पुराणों में भविष्यवाणी की है कि इस महान् युग के अन्त में शम्भल ग्राम में भगवान विष्णु कल्कि के रूप में प्रादुर्भूत होंगे और म्लेच्छों शूद्र-राजाओं पाखण्डियों आदि का नाश करेंगे और धर्म की स्थापना करेंगे जिससे कृतयुग का पुनरारम्भ होगा। यहाँ पर भी अन्य बातों की भाँति पौराणिक गाथाओं में मतभेद पाया जाता है। ब्रह्मपुराण (५८। ५९) एवं मत्स्यपुराण (१४४।५०-६४) का कथन है कि प्रमति नामक विष्णु के अवतार होंगे तथा म्लेच्छों पाखण्डियों एवं शूद्र राजाओं का नाश करेंगे किन्तु वायुपु० (९८। ४-११ एवं ९९। १९६-१९७) वनपर्व (१९० ९३-९७) एवं भागवत (१२।२।१९ २३) का कथन है कि कल्कि म्लेच्छों को जीतेंगे और धर्मविजयी के समान चक्रवर्ती राजा होंगे और इस प्रकार कृत युग का आरम्भ करेंगे। कहीं-कहीं कल्की नाम आया है तो कहीं-कहीं उन्हें ब्राह्मण-विष्णु का पुत्र कहा गया है (विष्णुयश को शम्भल ग्राम का मुखिया कहा गया है)। कहीं-कहीं तो ऐसा कहा गया है कि उनका प्रादुर्भाव हो चुका है और कहीं-कहीं उन्हें अभी आगे प्रादुर्भूत होनेवाला माना गया

है। पुराणों में चारों युग कई बार व्यतीत होते और आरम्भ होते दिखाये गये हैं, अत कल्कि का अवतार अतीत एव भविष्य दोनों कालों में वर्णित है। कल्किपुराण (१।२।३३ एव ११३।३२-३३) का कहना है कि कल्कि माहिष्मती के राजा विशाखयूप के समकालीन थे और वायु० (९९।३१२-३१४), मत्स्य० (३७।१४) एव विष्णु० (४।२४) का कथन है कि विशाखयूप प्रद्योत वश का तीसरा राजा था। कल्किपुराण ने कल्कि के विषय में अतीत काल का कई बार प्रयोग किया है किन्तु आरम्भ मे (१।१०) वह भविष्य के लिए कहा गया है। एक मनोरजक बात जयराम-कृत पर्णाल पर्वत-ग्रहणाख्यान (१६७३ ई०) में बीजापुरी सेना के सेनापति बहलोल खान द्वारा वजीर खवास खाँ से कहलायी गयी है जो यह है—"हिन्दू शास्त्रों में कुछ लोगों का कहना है कि विष्णु के दसवें अवतार कल्कि का प्रादुर्भाव होगा जो यवनों का नाश करेंगे। शिवाजी उस कल्कि के अग्रदूत के रूप में आ गये है।"

यद्यपि पुराणों ने कलियुग के नैतिक और भौतिक पतन के विषय में विस्तारपूर्वक निन्दा के शब्द कहे है, किन्तु उन्होंने कहीं भी कलियुग में वर्जित विषयों (कर्मों) के बारे में कुछ नहीं सकेत किया। अब हमें यह देखना है कि 'कलि-वर्ज्य' के विषय को कब प्रमुखता प्राप्त हुई और वे कौन-सी बातें हैं जिन्हें पहले युगों में वर्जित नहीं माना गया था और जो कालान्तर में निन्द्य एव वर्जित ठहरायी गयीं।

आप० ध० सू० (२।६।१४।६-१०) ने पैतृक सम्पत्ति को सम्पूर्ण रूप में या अधिकांश रूप में ज्येष्ठ पुत्र को देना शास्त्रविरुद्ध माना है। इसने दूसरे स्थान (२।१०।२७।२-६) पर कुछ अन्य लोगों के मत की ओर सकेत करते हुए कि स्त्री विवाहित होने पर वर के सम्पूर्ण कुटुम्ब को दे दी जाती है, नियोग-प्रथा को निन्द्य घोषित किया है। ये दोनों आचार (उद्धार या ज्येष्ठ पुत्र को भाग देना एव नियोग) कलिवर्ज्य के अन्तर्गत आते हैं। अपरार्क ने बृहस्पति को उद्धृत कर उन आचारों की ओर सकेत किया है जो प्रारम्भिक स्मृतियों में प्रतिपादित किन्तु कलियुग में वर्जित मान लिये गये हैं। यथा नियोग एव कतिपय गौण पुत्र द्वापर एव कलि युगों में मनुष्यों की आध्यात्मिक शक्ति के ह्रास के कारण असम्भव ठहरा दिये गये है। अपरार्क (७३९) एव दत्तकमीमासा ने शौनक का हवाला देकर कहा है कि औरस या दत्तक पुत्र के अतिरिक्त अन्य पुत्रों को कलियुग में वर्जित माना गया है। प्रजापति (१५१) ने कहा है कि श्राद्धों में मास एव मद्य की प्राचीन प्रथा अब कलियुग में वर्जित ठहरा दी गयी है। व्यास (निर्णयसिन्धु में उद्धृत) एव अन्य ग्रन्थों ने कलियुग के ४४०० वर्षों के उपरान्त अग्न्याधान एव सन्यास ग्रहण करना वर्जित माना है।[17] लघु-आश्वलायन-स्मृति (२१।१४-१५) का कथन है कि कुण्ड एव गोलक नामक पुत्र जो पहले युगों में स्वीकृत थे और जिनका सस्कार किया जाता था, कलियुग में वर्जित हैं। विश्वरूप एव मेधातिथि ने कलिवर्ज्य के विषय में एक भी उद्धरण नहीं दिया है, यह विचारणीय है। अन्य पश्चात्कालीन टीकाकारों ने ऐसा कहा है कि वेदाध्ययन के लिए अशुचिता की अवधियों को कम करना कलि में वर्जित है। मेधातिथि (मनु ९।११२) ने कुछ स्मृतियों का मत नियोग एव उद्धार विभाग के विषय में केवल अतीत युगों के लिए ही समीचीन ठहराया है, क्योंकि स्मृतियाँ विशिष्ट युगों तक ही अपने को बाँधती हैं (मनु १।८५), किन्तु उन्होंने इस मत का खण्डन किया है और मनु की व्याख्या करते हुए कहा है कि धर्म (गुण या वस्तुओं

१७ अतएव कलौ निवर्तन्ते इत्यनुवृत्तौ शौनकेनोक्तम्—दत्तौरसेतरेषां तु पुत्रत्वेन परिग्रहः—इति। अपरार्क पृ० ७३९। मद्यमप्यमृत श्राद्धे कलौ तत्तु विवर्जयेत्। मासान्यपि हि सर्वाणि युगधर्मक्रमाद् भवेत्।। प्रजापति (१५१)। चत्वार्यब्दसहस्राणि चत्वार्यब्दशतानि च। कलेर्यदा गमिष्यन्ति तदा त्रेतापरिग्रहः। सन्यासस्तु न कर्तव्यो ब्राह्मणेन विजानता।। चतुर्विंशतिमत (पृ० ५५ की टीका में भट्टोजि दीक्षित द्वारा उद्धृत)। और देखिए इस ग्रथ का खड २, अ० २८

के स्वभाव) युग-युग में उसी प्रकार परिवर्तित होते हैं जिस प्रकार ऋतु पर ऋतु। इससे प्रकट होता है कि उन्होंने यह नहीं माना कि आचार जो एक युग में प्रचलित हैं, दूसरे में वर्जित ठहराये गये हैं। विज्ञानेश्वर ने एक श्लोक उद्धृत किया है जिसमें नियोग प्रथा, ज्येष्ठ पुत्र को विशिष्ट भाग देना एवं यज्ञ में गोहत्या कलियुग में निन्द्य एवं वर्जित माने गये हैं। स्मृतिच० ने क्रतु को उद्धृत किया है जो कलियुग में चार कृत्यों को वर्जित मानता है, यथा नियोग, विधवा-विवाह, यज्ञ में गोवध तथा कमण्डलु-धारण। नारदीय-महापुराण में कलिवर्ज्य के विषय में चार श्लोक हैं जिनमें पूर्वप्रचलित कुछ कृत्य कलियुग में वर्जित माने गये हैं, यथा समुद्रयात्रा, कमण्डलु-धारण, अपने से नीच जाति की कन्या से विवाह, नियोग, मधुपर्क में पशु-हनन, श्राद्ध में मांसदान, वानप्रस्थाश्रम, विवाहित अक्षत-योनि कन्या का पुनर्विवाह, नैष्ठिक ब्रह्मचर्य, नरमेध, अश्वमेध, महाप्रस्थान-गमन, गोमेध। अपरार्क (पृ० ९८) ने ब्रह्मपुराण को उद्धृत कर विधवा-विवाह, नियोग, स्त्री-स्वातन्त्र्य को कलियुग में इसलिए वर्जित माना है कि मनुष्य इस युग में पापी होते हैं। अपरार्क (पृ० २११) ने पुनः किसी स्मृति (जिसका नाम नहीं दिया गया है) को उद्धृत कर निम्न कृत्य वर्जित ठहराये हैं—यज्ञ में गोवध, नियोग (देवर द्वारा), सभा का सम्मान, कमण्डलु-धारण, सीता की भाँति मद्य-पान, परमहंस नामक संन्यासी होना। अन्य पाँच वर्जित कृत्य ये हैं—नरमेध, गोवध, कमण्डलु-धारण, निवाय एवं अक्षत-कन्या का पुनर्दान। अपरार्क (पृ० ४११) ने मार्कण्डेय पुराण को उद्धृत कर मधुपर्क में गौ के स्थान पर स्वर्णपात्र की व्यवस्था दी है और कहा है कि पूर्व में कलि में पशु यज्ञ को वर्जित माना है। स्मृतिच० (१ पृ० १२) ने एक पुराण का उद्धरण दिया है—विधवा-विवाह, ज्येष्ठांश, गोवध, नियोग एवं कमण्डलु-धारण ये पाँच कलि में वर्जित हैं। हेमाद्रि एवं स्मृत्यर्थसार का वचन है—अग्निहोत्र, गवालम्भ (गोवध), संन्यास, पलपैतृक (श्राद्ध में मांसदान), देवर से पुत्रोत्पत्ति कलि में वर्जित हैं। और देखिए स्मृतिमुक्ताफल (वर्णाश्रम पृ० १७६, मतिधर्मसंग्रह पृ० २)। हेमाद्रि ने दानखण्ड में वराहपुराण को उद्धृत कर निम्न पाँच बातों को कलि में वर्जित ठहराया है—अश्वमेध, गोवध, नरमेध, नरमेध, अक्षत-कन्या का पुनर्दान, कमण्डलु-धारण एवं देवर से पुत्रोत्पत्ति। स्मृत्यर्थसार (पृ० २) में बिना किसी ग्रन्थ का हवाला दिये २६ कलिवर्ज्यों का उल्लेख किया है। स्मृतिचन्द्रिका, हेमाद्रि के चतुर्वर्गचिन्तामणि (१ भाग २, पृ० १११), पराशरमाधवीय (१ भाग १, पृ० १३३-१३७), मदनपारिजात (पृ० १५-१६), मदनरत्न (समयोद्योत), उद्वाहतत्त्व (पृ० ११२), समयमयूख, मित्र मिश्र के समयप्रकाश (पृ० २६१-२६३), निर्णयसिन्धु (३ पूर्वार्ध अन्त में), नृसिंहप्रसाद (चतुर्विंशतिमत), स्मृतिमुक्ताफल (वर्णाश्रम पृ० ११), स्मृतिकौस्तुभ, धर्मसिन्धु (पृ० १५७-१५८) तथा अन्य ग्रन्थों ने किसी पुराण (कुछ ने आदित्यपुराण का नाम दिया है) के श्लोकों को उद्धृत कर ५५ कलिवर्ज्यों के नाम दिये हैं। नीलकण्ठ (१७वीं शताब्दी का पूर्वार्ध) के बड़े भाई दामोदर द्वारा कृत कलिवर्ज्यविनिर्णय या कलिवर्ज्यनिर्णय में बहुत-सी बातें वर्णित हैं और इसमें आदित्य पुराण, ब्रह्मपुराण आदि को उद्धृत किया है।

ऊपर जिन कलिवर्ज्यों की ओर संकेत किया गया है वे सुव्यवस्थित ढंग से नहीं रखे गये हैं। हम सर्वप्रथम यहाँ उन कलिवर्ज्यों की चर्चा करेंगे जो व्यवहार (कानून) से सम्बन्धित हैं, इसके उपरान्त अन्यों का वर्णन क्रमानुसार होगा और अन्त में उनका वर्णन होगा जो उदाहरणों में नहीं पाये जाते।

(१) ज्येष्ठांश, उद्धार या उद्धार-विभाग—ज्येष्ठ पुत्र को जब सम्पूर्ण पैतृक सम्पत्ति या कुछ विशिष्ट अंश दे दिया जाता है तो उसको ज्येष्ठांश या उद्धार या उद्धार-विभाग की संज्ञा मिलती है, वह कलि में वर्ज्य है। देखिए इस खण्ड का अध्याय २७।

१८. नारदीय महापुराण (पूर्वार्ध २४।१३-१६)। और देखिए उद्वाहतत्त्व (पृ० ११२); निर्णयसिन्धु (पृ० ३६०); स्मृत्यर्थसार (पृ० २) एवं मदनपारिजात (पृ० १६)।

(२) **नियोग**—इसके विषय में हमने इस ग्रन्थ के खण्ड २, अध्याय १३ में विस्तार के साथ लिखा है। जब पति या पत्नी पुत्रहीन होते हैं तो पति के भाई अर्थात् देवर या किसी सगोत्र आदि द्वारा पत्नी से सन्तान उत्पन्न की जाती है तो यह प्रथा नियोग कहलाती है। अब यह कलिवर्ज्य है।

(३) **गौण पुत्रों में औरस एवं दत्तक पुत्र को छोड़कर सभी कलिवर्ज्य हैं।** देखिए इस खण्ड का अध्याय २७।

(४) **विधवाविवाह**—देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २, अध्याय १४। कुछ वसिष्ठ (१७।७४) आदि स्मृति-शास्त्रों ने अक्षत कन्या के पुनर्दान और अन्य विधवाओं (जिनका पति से सम्बन्ध स्थापित था) के विवाह में अन्तर बतलाया है और प्रथम में पुनर्विवाह उचित और दूसरे में अनुचित ठहराया है। किन्तु कलिवर्ज्य वचनों ने दोनों को वर्जित माना है।

(५) **अन्तर्जातीय विवाह**—इस पर हमने इस ग्रन्थ के खण्ड २, अध्याय ९ में लिख दिया है। यह कलिवर्ज्य है।

(६) **सगोत्र कन्या या मातृसपिण्ड कन्या** (यथा मामा की पुत्री) से विवाह कलिवर्ज्य है। देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २, अ० ९, जहाँ इस विषय में विस्तारपूर्वक कहा गया है। कलिवर्ज्य होते हुए भी मामा की पुत्री से विवाह बहुत-सी जातियों में प्रचलित रहा है। नागार्जुनकोण्डा (३री शताब्दी ई० के उपरान्त) के अभिलेख में आया है कि शान्तमूल के पुत्र वीरपुरुषदत्त ने अपने मामा की तीन पुत्रियों से विवाह किया (एपि० इन०, जिल्द २०, पृ० १)।

(७) **आततायी रूप में उपस्थित ब्राह्मण की हत्या कलिवर्ज्य है।** देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २, अ० ३ एवं अ० ९।

(८) **पिता और पुत्र के विवाद में साक्ष्य देनेवालों को अर्थदण्ड देना कलिवर्ज्य है।** प्राचीन भारत में साधारणतः पति-पत्नी एवं पिता-पुत्रों के विवाद को यथासम्भव बढ़ने नहीं दिया जाता था। मत्स्यपुराण के काल में सम्भवतः यह कलिवर्ज्यों में नहीं गिना जाता था।

(९) **तीन दिनों तक भूखे रहने पर नीच प्रवृत्ति वालों (शूद्रों में भी) से अन्न ग्रहण (या चुराना) ब्राह्मण के लिए कलिवर्ज्य है।** गौतम (१८।२८-२९), मनु (११।१६) एवं याज्ञ० (३।४३) ने इस विषय में छूट दी थी। प्राचीन काल में भूखे रहने पर ब्राह्मण को छोटी-मोटी चोरी करके खा लेने पर छूट मिली थी, किन्तु कालान्तर में ऐसा करना वर्जित हो गया।

(१०) **प्रायश्चित्त कर लेने पर भी समुद्र-यात्रा करनेवाले ब्राह्मण से सम्बन्ध करना कलिवर्ज्य है।** प्रायश्चित्त करने पर व्यक्ति पाप-मुक्त तो हो जाता है, किन्तु इस नियम के आधार पर वह लोगों से मिलने-जुलने के लिए अयोग्य ठहरा दिया गया है। बौधायनधर्मसूत्र (१।१।२२) ने समुद्र-संयान (समुद्र-यात्रा) को निन्द्य माना है और उसे महापातकों में सर्वोपरि स्थान दिया है (२।१।५१)। मनु ने समुद्र यात्रा से लौटे ब्राह्मण को श्राद्ध में निमन्त्रित होने के लिए अयोग्य ठहराया है (३।१५८), किन्तु उन्होंने यह नहीं कहा है कि ऐसा ब्राह्मण जातिच्युत हो जाता है या उसके साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं करना चाहिए। उन्होंने उसे केवल श्राद्ध के लिए अयोग्य सिद्ध किया है। औशनसस्मृति ने भी ऐसा ही कहा है। ब्राह्मण लोग समुद्र पार करके स्याम, कम्बोडिया, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो आदि देशों में जाते थे। राजा और व्यापारी-गण भी वहाँ आते-जाते थे। देखिए बावेरू जातक (जिल्द ३, संख्या ३३९, फौस्वॉल), मिलिन्द-पन्हो, राजतरंगिणी (४।५०३-५०६), मनु (८।१५७), याज्ञ० (२।३८), नारद (४।१७९) आदि। वायुपुराण (४५।७८-८०) ने भारतवर्ष को नौ द्वीपों में विभाजित किया है, जिनमें प्रत्येक समुद्र से पृथक् है और वहाँ सरलता से नहीं जाया जा सकता। इन द्वीपों में जम्बूद्वीप भारत है और अन्य आठ द्वीप ये हैं—इन्द्र, कसेरु, ताम्रपर्णी, गभस्तिमान्, नाग, सौम्य (स्याम ?), गन्धर्व, वारुण (बोर्नियो ?)। स्पष्ट है, पौराणिक भूगोल के अनुसार भारतवर्ष में आधुनिक भारत एवं बृहत्तर भारत सम्मिलित थे। यद्यपि प्राचीन ग्रन्थों ने शूद्रों के लिए समुद्र-यात्रा वर्जित नहीं मानी थी, किन्तु

जाय के शूद्र सम्भवतः अपने को अन्य जातियों के समान उच्च घोषित करने के लिए अपने लिए भी समुद्र-यात्रा वर्जित मानते हैं।

(११) सत्र—सत्र यज्ञ-सम्बन्धी कालों से सम्बन्धित हैं। पहले कुछ सत्र १२ दिनों, वर्ष भर, १२ वर्षों या उससे भी अधिक अवधियों तक चलते रहते थे। उन्हें केवल ब्राह्मण लोग ही करते थे (जैमिनि ६।६।१६-२१)। शबर के मत से सत्रों के आरम्भकर्ता को १७ वर्षों से कम का तथा २४ वर्षों से अधिक का नहीं होना चाहिए। सत्र करनेवालों में सभी लोग (चाहे वे यजमान हों या पुरोहित हों) याज्ञिक (यजमान) माने जाते थे। देखिए इस ग्रन्थ का खंड २, अध्याय ३५, जहाँ सत्रों का वर्णन है। सत्रों के कलिवर्ज्य होने का कारण यह है कि उनमें बहुत समय, धन आदि लगता था और लोग परिश्रम-साध्य वैदिक यज्ञों के स्थान पर सरल कृत्य करना अच्छा समझने लगे थे।

(१२) कमण्डलु-धारण—बौधायन (१।४) ने मिट्टी या काठ के जलपूर्ण पात्रों के विषय में कई सूत्र दिये हैं। प्रत्येक स्नातक को शौच (शुद्धि) के लिए अपने पास जलपूर्ण पात्र रखना पड़ता था। उसे उस पात्र को बस्त्र से ढोना या हाथ से रखना पड़ता था। ऐसा करना पर्यग्निकरण (शुद्धि के लिए अग्नि के चारों ओर घुमाने या छुलाने) के समान माना जाता था। स्नातक को बिना पात्र या कमण्डलु लिये किसी के घर या ग्राम या यात्रा में जाना वर्जित था। देखिए वसिष्ठ (१२।१४-१७) मनु (४।३६) एवं याज्ञ० (१।१३३) जहाँ इसके विषय में व्यवस्थाएँ दी गयी हैं। विश्वरूप ने व्याख्या की है कि स्नातक इसे स्वयं नहीं भी धारण कर सकता है, उसके लिए कोई अन्य भी उसे लेकर चल सकता है। वास्तव में उसे ढोना परिश्रम-साध्य एवं अस्वास्थ्यकर था, अतः ऐसा करना समय से अव्यवहार्य हो गया। इसी से यह कलिवर्ज्य हो गया।

(१३) महाप्रस्थान-यात्रा—बृहन्नारदीय पुराण (पूर्वार्ध २४।१६) ने भी इसे वर्जित माना है। मनु (६।३२) एवं याज्ञ० (३।५५) का कहना है कि वानप्रस्थाश्रमी जब किसी असाध्य रोग से पीड़ित हो जाता था और अपने आश्रम के कर्तव्य का पालन नहीं कर सकता था तो उस दशा में उसे उत्तर-पश्चिम दिशा में महाप्रस्थान कर देने की अनुमति प्राप्त थी। इस प्रस्थान में व्यक्ति तब तक चलता जाता था जब तक कि वह थककर गिर न जाय और फिर न उठ सके। इसी प्रकार ब्रह्म-हत्या के अपराधी को धनुर्धरों के बाणों से बिद्ध होकर मर जाने या अपने को अग्नि में झोंक देने की अनुमति प्राप्त थी। अपरार्क (पृ० ८७७-८७९) ने आदिपुराण को उद्धृत कर कहा है कि यदि कोई व्यक्ति जो असाध्य रोग से पीड़ित होने के कारण हिमालय की ओर महाप्रस्थान यात्रा करता है या अग्नि-प्रवेश द्वारा आत्महत्या करता है या किसी प्रपात से गिरकर अपने को मार डालता है तो वह पाप नहीं करता, प्रत्युत स्वर्ग को जाता है। आदिपुराण (या आदित्य-पुराण) एक स्थान पर महाप्रस्थान यात्रा की प्रशंसा करता है तो दूसरे स्थान पर उसे कलिवर्ज्य मानता है। यह विचित्र-सी बात है। कलिवर्ज्यविनिर्णय ने इस विषय में पाण्डवों की महाप्रस्थान यात्रा का उल्लेख किया है।

(१४) गोसव नामक यज्ञ में गोवध कलिवर्ज्य है। प्राचीन काल में बहुत-से अवसरों पर गोवध होता था। अग्निष्टोम की उदयनीया इष्टि के अन्त में गाय (अनुबन्ध्या) की बलि दी जाती थी। मधुपर्क में जो किसी सम्मानित अतिथि को दिया जाता था, एक गाय या तो मारी जाती थी या अतिथि की इच्छा के अनुसार स्वतन्त्र कर दी जाती थी। देखिए इस ग्रन्थ का खंड २, अ० १०। तीन या चार अष्टका श्राद्धों में से किसी में एक गाय काटने की व्यवस्था थी (देखिए आश्वलायनगृह्यसूत्र २।४।१३, गोभिलगृह्यसूत्र ३।१०।१८)। आप० ध० सू० (२।७।१६।२५) का कथन है कि यदि श्राद्ध में गाय का मांस दिया जाय तो पितर एक वर्ष तक तृप्त रहते हैं। प्राचीन काल में गोसव या गोमेध नामक यज्ञ होता था जो एक ऐसा उत्सव था जिसकी दक्षिणा दस सहस्र गायों के रूप में थी और जो कुछ लोगों के मत से केवल वैश्य द्वारा ही सम्पादित होता था (कात्यायनश्रौतसूत्र २२।११।३-८)। शूलगव नामक कृत्य में आहुति देने के लिए एक बैल मारा जाता था (देखिए इस ग्रन्थ का खंड २, अ० ३४)। कालान्तर में गाय मारना बुरा माना जाने लगा,

गोहत्या अत्यन्त घृणित समझी जाने लगी और कलिवर्ज्य-सम्बन्धी उक्तियों ने इस विषय में इस प्रकार की मान्यता को, जो शताब्दियों से चली आ रही थी, केवल पंजीकृत कर दिया।

(१५) **सौत्रामणी में मद्यपान का प्रयोग** कलिवर्ज्य है। सौत्रामणी सोमयज्ञ नहीं है, प्रत्युत यह पशुयज्ञ के साथ एक इष्टि है। यह शब्द सुत्रामन् (इन्द्र के एक नाम) से बना है। आजकल इसके स्थान पर दूध दिया जाता है, जिसे आपस्तम्बश्रौतसूत्र ने प्राचीन काल में भी प्रतिपादित किया था। गौतम (८।२०) ने सौत्रामणी को सात हविर्यज्ञों में रखा था। राजसूय के अन्त में या अग्निचयन में या तब जब कोई व्यक्ति अत्यधिक सोमपान करने से वमन करने लगता था या अधिक मलत्याग करने लगता था, तो इसका सम्पादन होता था। इस विषय में देखिए इस ग्रन्थ का खंड २, अध्याय ३५।

(१६) **अग्निहोत्रहवणी का चाटना तथा चाटने के उपरान्त भी उसका प्रयोग** कलिवर्ज्य है। अग्निहोत्र में स्रुव को दाहिने हाथ में तथा स्रुच (अग्निहोत्रहवणी) को बायें हाथ में रखा जाता था तथा अग्निहोत्रहवणी में स्रुव द्वारा दुग्धपात्र से दूध निकालकर डाला जाता था। अग्निहोत्र होम के उपरान्त अग्निहोत्रहवणी को दो बार चाट लिया जाता था जिससे दुग्ध के अवशिष्ट अंश साफ हो जायँ, इस प्रकार चाटने के उपरान्त उसे कुश के अंकुरों से पोंछकर उसका प्रयोग पुनः किया जाता था। सामान्यतः यदि कोई पात्र एक बार चाट लिया जाता है तो किसी धार्मिक कृत्य में उसे फिर से प्रयोग करने के पूर्व पुनः शुद्ध कर लेना परमावश्यक है। किन्तु यह नियम अग्निहोत्रहवणी एवं सोम के चमसों (पात्र, प्यालों) के विषय में लागू नहीं था। किन्तु अब यह कृत्य कलिवर्ज्य है।

(१७) **वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना** अब कलिवर्ज्य है। धर्मशास्त्र में इसके विषय में नियम सविस्तर दिये गये हैं। देखिए गौतम (३।२५-३४), आप० ध० सू० (२।९।२१।१८ से २।९।२३।२ तक), मनु (६।१-३२), वसिष्ठ (९।१-११) एवं याज्ञ० (३।४५-५५)। और देखिए इस ग्रन्थ का खंड २, अ० २७। सन्यास के विषय में हम आगे लिखेंगे।

(१८) **वैदिक अध्ययन एवं व्यक्ति की जीवन-विधि के आधार पर अशौचावधि में छूट** अब कलिवर्ज्य है। अघ का अर्थ है अशौच, वृत्त (जीवन-विधि) का सम्बन्ध है पवित्र अग्निहोत्र करने या शास्त्रानुमोदित नियमों के अनुसार जीवन-यापन करने से (मनु ४।७-१०)। किसी सपिण्ड की मृत्यु पर ब्राह्मण के लिए अशौचावधि दस दिनों की होती है (गौतम १४।१, मनु ५।५९ एवं ८३), किन्तु अंगिरा (मिताक्षरा, याज्ञ० ३।२२) ने सभी वर्णों के लिए इस विषय में दस दिनों की अशौचावधि प्रतिपादित की है। दक्ष (६।६) एवं पराशर (३।५) का कहना है कि वह श्रोत्रिय ब्राह्मण जो वैदिक अग्निहोत्र करता है और वेदज्ञ है, अशौच से एक दिन में मुक्त हो जाता है, अग्निहोत्र न करनेवाला वेदज्ञ ब्राह्मण तीन दिनों में, किन्तु जो दोनों गुणों से हीन है, दस दिनों में मुक्त होता है। अपरार्क (पृ० ९९४) एवं हरदत्त (गौतम १४।१) ने इसी विषय में बृहस्पति के वचन दिये हैं। मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२८-२९) का कथन है कि अशौचावधि का संकोच (कम करना) सब बातों के लिए सिद्ध नहीं है, इसका प्रयोग केवल विशिष्ट बातों तक ही सीमित है, यथा दानग्रहण, अग्निहोत्र-सम्पादन, वेदाध्ययन तथा वे कृत्य जिनके सम्पादन में अशौचावधि में संकोच न करने के कारण कष्ट या कोई विपत्ति आ सकती है। मिताक्षरा के इस कथन से यह स्पष्ट सिद्ध है कि विज्ञानेश्वर (११वीं शताब्दी के अन्त में) अशौचावधि के संकोच की वर्जना के विषय में अनभिज्ञ थे और उसके विषय में उन्होंने किसी प्रकार का आदर नहीं प्रदर्शित किया है। अशौचावधि के संकोच के मूल में सम्भवतः यही आशय था कि इसमें गड़बड़ी हो सकती थी, क्योंकि एक व्यक्ति अपने को विद्वान् कहकर छुटकारा पा सकता है तो उसका पड़ोसी ऐसा अधिकार नहीं जता सकता।

(१९) **ब्राह्मणों के लिए प्रायश्चित्तस्वरूप मृत्यु-दण्ड** कलिवर्ज्य है। मनु (११।८९) ने व्यवस्था दी है कि

यदि कोई व्यक्ति जान-बूझकर ब्रह्महत्या करता है तो उसके लिए कोई प्रायश्चित्त नहीं है। उन्होंने (११।९०) सुरापान से पापमोचन के लिए खौलती हुई सुरा पीकर मर जाने की व्यवस्था दी है और कहा है (११।१४६) कि यदि कोई जान-बूझकर सुरापान करे तो उसके लिए मृत्यु के अतिरिक्त कोई दूसरा प्रायश्चित्त नहीं है। विष्णुधर्मसूत्र (अ० ३४) का कथन है कि माता, पुत्री या पुत्र-वधू के साथ व्यभिचार अतिपातक (महापातक) है, ऐसे पापियों के लिए अग्निप्रवेश से बड़ा कोई अन्य प्रायश्चित्त नहीं है। और देखिए गौतम (२१।७)। कुछ स्मृतियों ने ऐसे महान् अपराधों के लिए प्रपात से गिरकर मरने या अग्निप्रवेश के अतिरिक्त अन्य किसी प्रायश्चित्त की व्यवस्था नहीं दी है। किन्तु आगे चलकर ब्राह्मण का शरीर क्रमशः अधिक पवित्र माना जाने लगा, अतः ब्राह्मण पापी के लिए मृत्यु का दण्ड प्रायश्चित्त रूप में वर्जनीय समझा गया, चाहे उसका पाप कितना भी गम्भीर क्यों न हो। किन्तु यह छूट क्षत्रियों आदि के लिए नहीं थी।

(२) पतित की संगति (सहाचरण) से प्राप्त अपवित्रता या पाप कलिवर्ज्य है। मनु (११।१८०=शान्ति० १६५।३७=बौधायन ध० सू० २।१।८८) तथा विष्णुधर्मसूत्र (३५।२-५) ने कहा है कि वह व्यक्ति पतित हो जाता है जो किसी महापातकी के संसर्ग में एक वर्ष तक रहता है, उसके साथ एक ही आसन या वाहन पर बैठता है या उसके साथ बैठकर एक ही पंक्ति में खाता है। किन्तु वह व्यक्ति उसी क्षण पतित हो जाता है जो किसी पापी का पुरोहित बनता है या उसे सावित्री या वेद पढ़ाने के लिए उसका उपनयन-संस्कार करता है या उसके साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करता है। पराशर (१।२५-२६) का कहना है कि कृतयुग में पतित से बोलने, त्रेता में उसको देखने, द्वापर में पतित के घर में बना भोजन खाने से व्यक्ति पतित हो जाता है, किन्तु कलियुग में अपराध-कर्म करने से व्यक्ति पतित होता है। कृत युग में वह जनपद, जहाँ पतित निवास करता है, छोड़ देना पड़ता है और त्रेता में पतित के ग्राम को, द्वापर में उसके केवल कुल को एवं कलि में केवल पतित को छोड़ देना पड़ता है। पराशर (१२।७९) ने निस्सन्देह यह कहा है कि बैठने या साथ सोने या एक ही वाहन या आसन का प्रयोग करने, उससे बोलने या एक ही पंक्ति में पतित के साथ खाने से पाप उसी प्रकार अपने में आ जाते हैं जैसे जल में तैल की एक बूँद फैल जाती है। किन्तु इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि पतित का संसर्ग बुरा है, इससे यह न समझना चाहिए कि पतित के संसर्ग से कोई व्यक्ति उसी समय अपवित्र अथवा पापी हो सकता है। मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२६१) ने देवल की एक स्मृति को उद्धृत कर संसर्ग की उत्पत्ति निम्न नौ प्रकारों में बाँटी है, यथा—संलाप से, स्पर्श से, निःश्वास से (एक ही कक्ष में रहने से), सहयान से, सहासन से, सहाशन (एक पंक्ति में साथ बैठकर खाने) से, याजन (पुरोहिती) से या वेदाध्ययन से या वैवाहिक-सम्बन्ध स्थापन से।[19] माधव का कथन है कि पराशर ने कलि में कई प्रकार के संसर्गों में पातित्य नहीं माना है, अतः उन्होंने संसर्ग के लिए कोई प्रायश्चित्त निर्धारित नहीं किया। यही बात निर्णयसिन्धु एवं भट्टोजि दीक्षित ने भी कही है। और देखिए उद्वाहतत्त्व। अधिकांश में सभी निबन्ध इस विषय में एकमत हैं कि मनु एवं बौधायन द्वारा प्रतिपादित संसर्ग-सम्बन्धी कठिन नियम कालान्तर में संशोधित हो गये, क्योंकि कलियुग में पापी से बातचीत करना या उसे देखना पाप-कर्म नहीं समझा गया।

१९. संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन्। याजनाध्यापनाद्यौनान्न तु यानासनाशनात्॥ मनु (११।१८०); बौ० ध० सू० (२।१।८८)। त्यजेद् देशं कृतयुगे त्रेतायां ग्राममुत्सृजेत्। द्वापरे कुलमेकं तु कर्तारं तु कलौ युगे॥ कृते सम्भाषणात्पापं त्रेतायां चैव दर्शनात्। द्वापरे चान्नमादाय कलौ पतति कर्मणा॥ पराशर (१।२५-२६)। आसनाच्छयनाद्यानात् सम्भाषात्सहभोजनात्। संक्रामन्ति हि पापानि तैलबिन्दुरिवाम्भसि॥ पराशर (१२।७९)। संलापस्पर्शनिःश्वाससहयानासनाशनात्। याजनाध्यापनाद्यौनात्पापं संक्रमते नृणाम्॥ देवल (मिता० याज्ञ० ३।२६१; अपरार्क पृ० १०८०)।

(२१) **चोरी के अतिरिक्त अन्य महापातकों के लिए गुप्त प्रायश्चित्त कलिवर्ज्य है।** हारीत (परा० माध० २, भाग २, पृ० १५३) ने उस ब्राह्मण के लिए गुप्त प्रायश्चित्त की व्यवस्था की है जिसने धर्मशास्त्र का पण्डित होते हुए भी कोई ऐसा पाप किया है जिसे कोई अन्य नहीं जानता। गौतम (अ० २४) ने ब्रह्महत्या, सुरापान, व्यभिचार और सोने की चोरी जैसे महापातकों के लिए गुप्त (छिपे तौर से किये जानेवाले, अर्थात् जिन्हें कोई अन्य न जाने) प्रायश्चित्तों की व्यवस्था की है। वसिष्ठ (अ० २५) ने भी इसका समर्थन किया है और कहा है (२५।२) कि केवल वे ही लोग गुप्त प्रायश्चित्तों के अधिकारी हैं जो वैदिक अग्निहोत्र करते हैं, अनुशासित और वृद्ध या विद्वान् (श्रुति-धर्म, स्मृति-धर्म आदि में विज्ञ) हैं। विष्णु ध० सू० (५५) ने गुप्त प्रायश्चित्तों का विवेचन किया है। पराशर (९।६१) ने सामान्य नियम दिया है कि व्यक्ति को अपने अपराध की घोषणा कर देनी चाहिए। कलिवर्ज्य-सम्बन्धी उक्तियों में ऐसा आया है कि महापातकों में से केवल चोरी के लिए गुप्त प्रायश्चित्त करना चाहिए, यद्यपि प्रारम्भिक युगों में अन्य महापातकों के लिए भी ऐसी व्यवस्था थी। निर्णयसिन्धु के मतानुसार गुप्त प्रायश्चित्त की अनुमति केवल ब्राह्मणों को ही मिली है। धर्मसिन्धु का कथन है कि कलियुग में ब्रह्महत्या एवं अन्य महापातकों के कारण प्रायश्चित्त करने से व्यक्ति नरक में गिरने से बच नहीं सकता, किन्तु सामाजिक सम्बन्धों के लिए वह योग्य सिद्ध हो जाता है। परन्तु सोने की चोरी जैसे महापातक का प्रायश्चित्त करने से व्यक्ति नरक में गिरने से भी बच जाता है और सामाजिक सम्बन्धों के योग्य भी हो जाता है। कलिवर्ज्यविनिर्णय के मतानुसार कलियुग में सभी गुप्त प्रायश्चित्त निषिद्ध अथवा वर्जित हैं।

(२२) **वैदिक मन्त्रों के साथ वर (दूल्हे), अतिथि एवं पितरों के सम्मान में पशूपाकरण (पशु-बलि का कार्य) कलिवर्ज्य है।** प्राचीन काल में कई अवसरों पर पुरोहित (यज्ञ के समय या स्वागतार्थ), राजा, स्नातक, आचार्य, श्वशुर, चाचा, मामा एवं वर (दूल्हे) को मधुपर्क दिया जाता था। आरम्भ में किसी सम्मानित अतिथि के लिए गाय या बैल का वध किया जाता था, किन्तु कालान्तर में जब गाय अति पवित्र मानी जाने लगी तो किसी अन्य पशु का मांस दिया जाने लगा, जब मांस-प्रयोग भी निन्द्य कर्म समझा जाने लगा तो पायस एवं अन्य खाने योग्य फल-मूल की व्यवस्था हो गयी। देखिए मांस-भोजन के विषय में इस ग्रन्थ का खंड २, अध्याय २२। याज्ञ० (१।२५८-२५९) ने श्राद्ध में पितरों के लिए भाँति-भाँति के पशुओं के मांसदान की अति प्रशंसा की है। १७वीं शताब्दी के नैयायिक विश्वनाथ ने ब्राह्मणों द्वारा यज्ञों, श्राद्ध, मधुपर्क, जीवन-भय में एवं किसी अन्य ब्राह्मण द्वारा आज्ञापित होने पर मांस-भोजन का समर्थन किया है और उन लोगों की भर्त्सना की है जो बौद्ध सिद्धान्तों के अनुयायियों के समान मांस-भोजन को वर्जित मानते हैं। विश्वनाथ ने धन के लोभ से ब्रह्महत्या करनेवालों, मातुलकन्या या अन्य मातृसपिण्डों से विवाह करनेवालों के लिए प्रायश्चित्त की व्यवस्था दी है, यद्यपि ये दोनों कार्य कलिवर्ज्य ठहराये गये हैं।

(२३) **असवर्ण स्त्रियों के साथ व्यभिचार करने के उपरान्त प्रायश्चित्त करने पर भी जातिसंसर्ग कलिवर्ज्य है।** अपनी जाति या उच्च जाति या नीच जाति की नारी के साथ व्यभिचार करने पर प्रायश्चित्त के विषय में मतैक्य नहीं है। प्राचीन सूत्र इस विषय के अपराधियों के प्रति अति कठोर हैं, किन्तु स्मृतियों ने कुछ ढिलाई प्रदर्शित की है। गौतम (२३।१४-१५) एवं वसिष्ठ (२१।१-३) ने नीच जाति के पुरुष को जब वह किसी उच्च जाति की नारी से व्यभिचार करता है, कई प्रकार से मार डालने की व्यवस्था दी है। यदि कोई ब्राह्मण किसी चाण्डाल या श्वपाक नारी से सम्भोग करे तो उसे पराशर (१०।५-७) के मत से तीन दिनों का अनशन, शिखा के साथ सिर-मुण्डन, तीन प्राजापत्य तथा ब्रह्मकूर्च करने पड़ते हैं, ब्राह्मण-भोजन कराना पड़ता है, लगातार गायत्री-जप करना पड़ता है, दो गौ दान में देनी पड़ती हैं और तब कहीं वह शुद्ध हो पाता है। किन्तु इसी दुष्कर्म के लिए शूद्र को एक प्राजापत्य एवं दो गायों का दान करना पड़ता है। यदि कोई नीच जाति का व्यक्ति किसी उच्च जाति की नारी से सम्भोग करे (यथा शूद्र ब्राह्मण नारी से) तो संवर्त (श्लोक १६६-१६७) ने एक महीने तक केवल गोमूत्र एवं यावक (जौ की लप्सी) पर

(२९) यज्ञ में बलि होनेवाले पशु का ब्राह्मण द्वारा हनन कलिवर्ज्य है। श्रौत यज्ञ में पशु की हत्या गला घोंट कर की जाती थी। जो व्यक्ति श्वासावरोध कर अथवा गला घोंटकर पशु-हनन करता था उसे शामित्र कहा जाता था। कौन शामित्र हो, इस विषय में कई मत हैं। जैमिनि (३।७।२८-२९) ने स्वयं अध्वर्यु को शामित्र कहा है, किन्तु सामान्य मत यह है कि वह ऋत्विजों के अतिरिक्त कोई अन्य व्यक्ति होता था। आश्वलायनश्रौतसूत्र (१२।९।१२-१३) ने कहा है कि वह ब्राह्मण या अब्राह्मण हो सकता है। अधिक विस्तार के लिए देखिए इस ग्रन्थ का द्वितीय खंड, अ० ३२। पशुयज्ञ कालान्तर में निन्द्य या वर्जित मान लिये गये, अतः ब्राह्मण का शामित्र होना भी वर्जित है।

(३०) ब्राह्मण द्वारा सोमविक्रय कलिवर्ज्य है। केवल ब्राह्मण ही सोमरस-पान कर सकते थे। सोम लता क्रय की जाती थी, जिसके विषय में प्रतीकात्मक मोल-तोल होता था। कात्या० श्रौ० सू० (७।६।२४) एवं आप० श्रौ० सू० (१०।२०।१२) के मत से प्राचीन काल में सोम का विक्रेता कुत्स गोत्र का कोई ब्राह्मण या कोई शूद्र होता था। मनु (३।१५८ = शान्ति० १४५।७) एवं नारद (दत्ताप्रदानिक ७) ने सोम-विक्रेता ब्राह्मण को श्राद्ध में निमन्त्रित किये जाने के अयोग्य ठहराया है और उसके यहाँ भोजन करना वर्जित माना है। मनु (१०।८८) ने ब्राह्मण को जब कृषि करे, तिल, सोम आदि विक्रय करने से मना किया है। देखिए इस ग्रन्थ के द्वितीय खंड का अध्याय ३३।

(३१) अपने दास, चरवाहे (गोपालक), वंशानुगत मित्र एवं साझेदार के घर पर गृहस्थ ब्राह्मण द्वारा भोजन करना कलिवर्ज्य है। गौतम (१७।६), मनु (४।२५३ = विष्णु ५७।१६), याज्ञ० (१।१६६) एवं पराशर (११।१९) का कहना है कि ब्राह्मण इन लोगों का तथा अपने नापित (नाई) का भोजन कर सकता है। हरदत्त (गौतम १७।६) एवं अपरार्क (पृ० २४४) का कथन है कि ब्राह्मण अत्यन्त विपत्तिग्रस्त परिस्थितियों में इन शूद्रों के यहाँ भोजन कर सकता है। इससे यह विदित होता है कि १२वीं शताब्दी तक यह कलिवर्ज्य या तो ज्ञात नहीं था अथवा इसको मान्यता नहीं प्राप्त हुई थी। कलिवर्ज्यों ने भोजन और विवाह के विषयों में संकीर्णता को और कठिनतर बना दिया।

(३२) अति दूरवर्ती तीर्थों की यात्रा कलिवर्ज्य है। ब्राह्मण को वैदिक एवं गृह्य अग्नियाँ स्थापित करनी पड़ती थीं। यदि वह दूर की यात्रा करेगा तो इसमें बाधा उत्पन्न होगी। आप० श्रौ० सू० (४।१६।१८) ने व्यवस्था दी है कि लम्बी यात्रा में अग्निहोत्री को अपने घर की अग्निवेदिका की दिशा में मुँह कर मानसिक रूप से अग्निहोत्र एवं दर्श-पूर्णमास की सारी विधि करनी पड़ती है। देखिए इस विषय में गोभिलस्मृति (२।१५७) भी। स्मृतिकौस्तुभ का कहना है कि यह कलिवर्ज्य समुद्र पार के या भारतवर्ष की सीमाओं के तीर्थस्थानों के विषय में है। आश्चर्य है कि यह कलिवर्ज्य ब्राह्मण को दूरस्थ तीर्थ की यात्रा करने से मना तो करता है किन्तु बड़े यज्ञों के सम्पादन द्वारा धन कमाने के लिए यात्रा करने से नहीं रोकता।

(३३) गुरु की पत्नी के प्रति शिष्य की गुरुवत् वृत्तिशीलता कलिवर्ज्य है। आप० ध० सू० (१।२।७।२७), गौतम (२।३१-३४), मनु (२।२१०) एवं विष्णु (३२।१-२) ने कहा है कि शिष्य को गुरु की पत्नी या पत्नियों के प्रति वही सम्मान प्रदर्शित करना चाहिए जिसे वह गुरु के प्रति प्रदर्शित करता है (केवल प्रणाम करते समय चरण छूना एवं उच्छिष्ट भोजन करना मना है)। शिष्य बहुधा युवावस्था के होते थे और गुरुपत्नी युवा हो सकती थी। अतः मनु (२।२१२, २१६ एवं २१७ = विष्णु ३२।१३-१५) का कहना है कि बीस वर्ष के विद्यार्थी को गुरुपत्नी का सम्मान पैर छूकर नहीं करना चाहिए, प्रत्युत वह गुरुपत्नी के समक्ष पृथ्वी पर लेटकर सम्मान प्रकट कर सकता है, किन्तु यात्रा से लौटने पर केवल एक बार पैरों को छूकर सम्मान प्रकट कर सकता है। अतः स्पष्ट है कि यह कलिवर्ज्य मनु एवं विष्णु के नियमों का पालन करता है। स्मृतिकौस्तुभ एवं धर्मसिन्धु (३, पृ० ३५८) का कहना है कि इस कलिवर्ज्य से याज्ञ० (१।४९) का वह नियम कट जाता है जिसके अनुसार नैष्ठिक ब्रह्मचारी मृत्यु पर्यन्त अपने गुरु या गुरुपुत्र या (इन दोनों के अभाव में) गुरुपत्नी के यहाँ रह सकता है।

(३४) आपत्तिकाल मे ब्राह्मण द्वारा जीविका-साधन के लिए अन्य विधियो का अनुसरण कलिवर्ज्य है। ब्राह्मणो की जीविका (वृत्ति) के विशिष्ट साधन ये है—दानग्रहण, वेदाध्यापन एव यज्ञो मे पुरोहिती करना (पौरोहित्य)। इसके लिए देखिए गौतम (१०।२), आप० (२।५।१०।५), मनु (१०।७६।११।८८), वसिष्ठ (२।१४) एव याज्ञ० (१।११८)। प्राचीन काल से ही यह प्रतिपादित था कि यदि ब्राह्मण उपर्युक्त साधनो से जीविका न चला सके तो आपत्ति काल मे क्षत्रिय एव वैश्य की वृत्तियाँ धारण कर सकता है (गौतम ७।६-७, बौधा० २।२।७७-८१, वसिष्ठ २।२२, मनु १०।८१-८२ एव याज्ञ० ३।३५)। और देखिए इस ग्रथ का खड २, अ० ३। यह कलिवर्ज्य केवल पुस्तको के पृष्ठो तक सीमित रह गया है। आरम्भिक काल से ब्राह्मणो ने सभी प्रकार की वृत्तियाँ अपनायी हैं और यह नियम सम्मानित नही हो सका है।

(३५) अग्रिम दिन के लिए सम्पत्ति (या अन्न) का सग्रह न करना कलिवर्ज्य है। मनु (४।७) एव याज्ञ० (१।१२८) ने ब्राह्मणो को चार भागो मे बाँटा है—(१) वे जो एक कुशल भर अन्न एकत्र रखते हैं, (२) जो एक कुम्भी भर अन्न एकत्र रखते हैं, (३) जो केवल तीन दिनो की आवश्यकता की पूर्ति के लिए अन्न सग्रह करते हैं तथा (४) वे जो आनेवाले कल के लिए भी अन्न-सग्रह नही करते। स्मृतियो ने इनमे से प्रत्येक पूर्ववर्ती से उत्तरवर्ती को अधिक गुणशाली माना है। कुशूल-धान्य के अर्थ के विषय मे मतैक्य नही है, कोई इसे तीन वर्षों के लिए और कोई इसे केवल १२ दिनो के अन्न सग्रह के अर्थ मे लेते हैं, यही बात कुम्भीधान्य के विषय मे भी है, किसी ने इसे साल भर के और किसी ने केवल ६ दिन के अन्नसग्रह के अर्थ मे लिया है। देखिए इस ग्रथ का खड २, अध्याय ३। मिताक्षरा (याज्ञ० १।१२८) का कथन है कि तीन दिनो या एक दिन के लिए भी अन्न सग्रह न करना सभी ब्राह्मणो के लिए नही है, प्रत्युत यह उनके लिए है जो **यायावर** कहे जाते हैं। इससे प्रकट होता है कि मिताक्षरा को यह कलिवर्ज्य कथन या तो ज्ञात नही था या उसने इस पर गम्भीरता से विचार नही किया। इस कलिवर्ज्य का तात्पर्य यह है कि कलियुग मे अति दरिद्रता एव सग्रहाभाव का आदर्श ब्राह्मणो के लिए आवश्यक नही है।

(३६) नवजात शिशु की दीर्घायु के लिए होनेवाले जातकर्म होम के समय (वैदिक अग्नि के स्थापनार्थ) जलती लकडी का ग्रहण कलिवर्ज्य है। गार्हपत्य अग्नि को प्रकट करने के लिए अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष की दो टहनियाँ जिन्हे **अरणी** कहा जाता है, रगडी जाती हैं। कुछ शाखाओ मे जातकर्म कृत्य मे अग्नि उत्पन्न करने के लिए अरणियाँ रगडी जाती थी, और उनसे उत्पन्न अग्नि आगे चलकर बच्चे के चूडाकरण, उपनयन एव विवाह के सस्कारो मे प्रयुक्त होती थी। इससे यह समझा जाता था कि बच्चा लम्बी आयु का होगा।

(३७) ब्राह्मणो द्वारा लगातार यात्राएँ करते रहना कलिवर्ज्य है। महाभारत (शान्ति २३।१५) का कथन है कि जिस प्रकार सर्प बिल मे छिपे हुए चूहो को निगल जाता है, उसी प्रकार यह पृथ्वी अविरोद्धा (आक्रामक से न लडने वाले) राजा एव अप्रवासी (यात्रा न करनेवाले) ब्राह्मण को निगल जाती है। प्रवासी-ब्राह्मण का तात्पर्य है उस ब्राह्मण से जो प्रसिद्ध आचार्यो के यहाँ विद्याध्ययन के लिए जाता रहता है। यह कलिवर्ज्य उस लम्बी यात्रा से सम्बन्धित है जो निरुद्देश्य की जाती है, उससे नही जो विद्याध्ययन एव धार्मिक कृत्यो के लिए की जाती है।

(३८) अग्नि प्रज्वलित करने के लिए मुँह से फूँकना कलिवर्ज्य है। मनु (४।५३) एव ब्रह्मपुराण (२२१। १०२) ने मुखाग्निधमन क्रिया को वर्जित ठहराया है, क्योकि ऐसा करने से थूक की बूँदो से अग्नि अपवित्र हो सकती है। हरदत्त (आप० ध० सू० १।५।१५।२०) ने कहा है कि वाजसनेयी शाखा मे आया है कि अग्नि को मुख से फूँककर उत्तेजित करना चाहिए, क्योकि ऐसा उच्छ्वास विधाता के मुख से निकला हुआ समझा जाता है (पुरुषसूक्त, ऋग्वेद १०। ९०।१३)। अत हरदत्त एव गोभिलस्मृति (१।१३५-१३६) के अनुसार श्रौत अग्नि मुख की फूँक से जलायी जा

रखने के प्रायश्चित्त की व्यवस्था दी है। यदि ब्राह्मण किसी शूद्र या चाण्डाल नारी से व्यभिचार करे तो संवर्त (१६९-१७०) के मत से उसे चान्द्रायण-व्रत करना पड़ता है, किन्तु पराशर (१०।१७-२०) ने इससे अधिक कठिन प्रायश्चित्त की व्यवस्था दी है। किन्तु कलिवर्ज्य की व्यवस्था ऐसी है कि प्रायश्चित्त के उपरान्त भी असवर्ण नारियों के साथ व्यभिचार के अपराधी व्यक्ति अपनी जाति के लोगों के साथ सम्बन्ध नहीं स्थापित कर सकते, अर्थात् वे जातिच्युत हो जाते हैं। और देखिए धर्मसिन्धु (३, पूर्वार्ध पृ० ३५८) जहाँ यही बात शूद्रों के लिए कही गयी है। यह कलिवर्ज्य निस्सन्देह नैतिकता की कठोरता के लिए व्यवस्थापित है, किन्तु इससे जाति-शुद्धि-विषय की रक्षा भी हो जाती है।

(२४) किसी नीच जाति के व्यक्ति से सम्भोग करने पर माता (या उसके जैसी सम्मान्य स्त्री) का परित्याग कलिवर्ज्य है। स्त्रियों के व्यभिचार के लिए प्रायश्चित्त के विषय में सूत्रों एवं स्मृतियों की व्यवस्थाएँ सभी कालों में एक-सी नहीं रही हैं। गौतम (२३।१४) एवं मनु (८।३७१) के मत से किसी नीच जाति के पुरुष से सम्भोग करने वाली स्त्री को राजा द्वारा कुत्तों से नोचवा डाला जाना चाहिए। किन्तु अन्य स्मृतियाँ (स्वयं मनु ११।१७७) इतनी कठोर नहीं हैं, प्रत्युत वे व्यभिचारिणी से सम्बन्धित व्यवहार (बर्ताव) के विषय में अधिक उदार हैं। मनु (११।५९) एवं याज्ञ० (३।२३५) ने पुरुष के व्यभिचार (पारदार्य) को उपपातक कहा है और सभी उपपातकों के लिए चान्द्रायण या प्रायश्चित्त की व्यवस्था दी है (मनु ११।११७ एवं याज्ञ० ३।२६५)। वसिष्ठ (२१।१२) के मत से तीन उच्च वर्णों की नारियाँ यदि किसी शूद्र से व्यभिचार करायें और उन्हें कोई सन्तानोत्पत्ति न हुई हो तो उन्हें प्रायश्चित्त से शुद्ध किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। याज्ञ० (१।७२) ने कहा है कि वह नारी व्यभिचार के अपराध से बरी हो जाती है जिसे व्यभिचार के उपरान्त मासिक धर्म हो जाय, किन्तु यदि व्यभिचार से गर्भाधान हो जाय तो वह त्याज्य है। मिताक्षरा (याज्ञ० १।७२) ने कहा है कि याज्ञ० और वसिष्ठ के मत को एक ही अर्थ में लेना चाहिए और परित्याग का तात्पर्य घर से निकाल देना नहीं है, प्रत्युत उसे धार्मिक कृत्यों तथा उसके साथ सम्भोग से उसे वंचित कर देना मात्र है। वसिष्ठ (२१।१०) ने चार प्रकार की स्त्रियों को त्याज्य माना है—पति के शिष्य से या पति के गुरु से सम्भोग करनेवाली तथा पतिहन्त्री या नीच जाति के पुरुष से व्यभिचार करनेवाली नारी। याज्ञ० (३।२९६-२९७) ने कहा है कि पतित नारियों के लिए नियम पुरुषों के समान है, किन्तु उन्हें भोजन, वस्त्र एवं रक्षण मिलना चाहिए और नीच जाति के पुरुष से सम्बन्ध करने पर उन्हें जो पाप लगता है, वह स्त्रियों के तीन महापातकों में परिगणित होता है। देखिए मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२९७)। उपर्युक्त कलिवर्ज्य में आया है कि वह स्त्री जो अपने सम्बन्ध (माता, बड़ी बहिन आदि) के कारण व्यक्ति से सम्मान पाने का अधिकार रखती है, उसके द्वारा न तो त्याज्य है और न सड़क पर छोड़ दिये जाने के योग्य है, भले ही वह किसी नीच जाति के व्यक्ति के साथ व्यभिचार करने की अपराधिनी हो। स्पष्ट है, यह कलिवर्ज्य वचन स्त्रियों के प्रति प्राचीन वचनों की अपेक्षा अधिक उदार है। और देखिए इस विषय में इस ग्रन्थ का खंड २, अ० ११। आप० धर्मसू० (१।१०।२८।९) ने कहा है कि पुत्र को अपनी माता की सेवा करनी चाहिए और उसकी आज्ञाओं का पालन करना चाहिए, चाहे वह पतित ही क्यों न हो। अत्रि (१९५-१९६) एवं देवल (५०-५१) का वचन है—"यदि कोई स्त्री असवर्ण पुरुष के सम्भोग से गर्भ धारण कर ले तो वह सन्तानोत्पत्ति तक अशुद्ध है। किन्तु जब वह गर्भ से मुक्त हो जाती है या उसका मासिक धर्म आरम्भ हो जाता है, तब वह सोने के समान पवित्र हो जाती है।" अत्रि (१९७-१९८) ने यह कहा है कि यदि स्त्री अपनी इच्छा से किसी अन्य के साथ सम्भोग करे या वह वंचित होकर ऐसा करे या उसकी इच्छा के विरुद्ध कोई वैसा करे या छिपकर वैसा करे तो वह त्याज्य नहीं होती, मासिक धर्म तक उसे ठहर जाना चाहिए और वह पुनः रजस्वला होने पर पवित्र हो जाती है। अत्रि एवं देवल की व्याख्या कलिवर्ज्य वचन से और आगे बढ़ती है, क्योंकि यह व्यभिचारिणी माँ को त्याज्य नहीं कहता, पर नीच जाति से सम्भोग करनेवाली अन्य स्त्रियों के त्याग की अनुमति देता है। देवल ने म्लेच्छों द्वारा बलपूर्वक उपभुक्त एवं गर्भवती बनायी गयी नारियों को 'सान्तपन'

नामक प्रायश्चित्त द्वारा पवित्र बना लेने की व्यवस्था दी है (४७-४९)। और देखिए अत्रि (२०१-२०२) एव पराशर (१०।२४-२५)।

(२५) **दूसरे के लिए अपने जीवन का परित्याग** कलिवर्ज्य है। विष्णुधर्म सू० (३।४५) का कथन है कि जो लोग गौ, ब्राह्मण, राजा, मित्र, अपने धन, अपनी स्त्री की रक्षा करने मे प्राण गँवा देते हैं वे स्वर्ग प्राप्त करते हैं। उन्होंने आगे (१६।१८) यहाँ तक कह डाला है कि अस्पृश्य लोग (जो चारो वर्णो की सीमा के बाहर हैं) भी ब्राह्मणो, गायो, स्त्रियो एव बच्चो के रक्षार्थ प्राण गँवाने पर स्वर्ग प्राप्त करते हैं। आदित्यपुराण (राजधर्मकाण्ड, पृ० ९१) मे भी यही श्लोक है। और देखिए समयमयूख एव भट्टोजि दीक्षित (चतुर्विंशतिमत, पृ० ५४)। यह कलिवर्ज्य मत आत्मत्याग की वर्जना इसलिए करता है कि इससे केवल स्वर्ग की प्राप्ति होती है। यह कलिवर्ज्य केवल द्विजो के लिए है, शूद्रो के लिए नही (कलिवर्ज्यविनिर्णय १।२०)।

(२६) **उच्छिष्ट (खाने से बचे हुए जूठे भोज्य पदार्थ)** का दान कलिवर्ज्य है। मधुपर्क प्राशन मे सम्मानित अतिथि मधु, दूध एव दही का कुछ भाग स्वय ग्रहण करता था और शेष किसी ब्राह्मण (या पुत्र या छोटे भाई) को दे देता था। अब यह कलिवर्ज्य है। देखिए इस ग्रन्थ का खड २, अ० १०, जहाँ मधुपर्क के विषय मे सविस्तर लिखा गया है। आप० ध० सू० (१।१।४।१-६) ने कहा है कि शिष्य गुरु का उच्छिष्ट प्रसाद रूप मे पा सकता है, किन्तु गुरु को चाहिए कि वह वैदिक ब्रह्मचारियों के लिए वर्जित मधु या मास या अन्य प्रकार का भोज्य पदार्थ शिष्य को न दे। याज्ञ० (१।२१३) का कथन है कि यदि कोई सुपात्र व्यक्ति दान ग्रहण कर उसे अपने पास न रखकर किसी और को दे देता है, तो वह उन उच्च लोको की प्राप्ति करता है जो उदार दानियो को प्राप्त होते हैं।

(२७) **किसी विशिष्ट देवमूर्ति की (जीवन भर) विधिवत् पूजा करने का प्रण करना** कलिवर्ज्य है। इस प्रकार के वर्जन का कारण समझना कठिन है। अत इस विषय मे भट्टोजि दीक्षित, कलिवर्ज्यविनिर्णय, समयमयूख एव अन्य लोगो द्वारा उपस्थापित व्याख्याएँ सन्तोषप्रद नही हैं। निर्णयसिन्धु की व्याख्या अपेक्षाकृत अच्छी है, क्योकि इसने इस वर्ज्य को पारिश्रमिक पर की जानेवाली किसी विशिष्ट प्रतिमा-पूजा तक सीमित रखा है। अपरार्क (८५० एव ९२३) ने किसी स्मृतिवचन को उद्धृत कर देवलक की परिभाषा दी है और कहा है कि देवलक वह ब्राह्मण है जो किसी प्रतिमा का पूजन पारिश्रमिक के आधार पर तीन वर्षो तक करता है, जिसके लिए वह श्राद्धो के पौरोहित्य के लिए अयोग्य हो जाता है। स्पष्ट है, इस कथन के अनुसार देवलक ब्राह्मण वित्तार्थी है। मनु (३।१५२) ने देवलक को श्राद्धो तथा देवताओ के सम्मान मे किये गये कृत्यो मे निमन्त्रित किये जाने के लिए अयोग्य घोषित किया है। कुल्लूक ने देवल को उद्धृत कर इस विषय मे कहा है कि जो व्यक्ति किसी देवस्थान के कोष पर निर्भर रहता है, उसे देवलक कहा जाता है। वृद्ध हारीत (८।७७-८०) के मत से केवल शिव के वित्तार्थी पूजक देवलक कहे जाते हैं।

(२८) **अस्थिसचयन के उपरान्त अशौचवाले व्यक्तियो को छूना** कलिवर्ज्य है। शव-दाह के उपरान्त अस्थि-सचयन के दिन के विषय मे धर्मशास्त्रकारो मे मतभेद है। इसी कारण मिताक्षरा ने अपने-अपने गृह्यसूत्रो के अनुसरण की बात कही है। मिताक्षरा (याज्ञ० ३।१७) ने कहा है कि सवर्त (३८) के मत से अस्थियाँ पहले, तीसरे, सातवें या नवें दिन सचित की जानी चाहिए, विष्णुध० सू० (१९।१०-११) के मत से चौथे दिन अस्थियाँ सगृहीत कर गगा मे बहा दी जानी चाहिए और कुछ लोगो के मत से उनका सग्रह दूसरे दिन होना चाहिए। मिताक्षरा ने पुन (याज्ञ० ३।१८) देवल का इसी विषय मे उद्धरण देकर कहा है कि अशुद्धि की अवधि के तिहाई भाग की समाप्ति के उपरान्त व्यक्ति स्पर्श के योग्य हो जाते है और इस प्रकार चारो वर्णो के सदस्य क्रम से ३, ४, ५ एव १० दिनो के उपरान्त स्पर्श के योग्य हो जाते हैं। और देखिए सवर्त (३९।४०)। उपस्थित कलिवर्ज्य वचन ने यह सब वर्जित माना है और अशुद्धि के नियमो के विषय मे कठिन नियम दिये हैं।

(२९) यज्ञ में बलि होनेवाले पशु का ब्राह्मण द्वारा हनन कलिवर्ज्य है। श्रौत यज्ञ में पशु की हत्या गला घोंट कर की जाती थी। जो व्यक्ति पशुसंज्ञपन कर अथवा गला घोंटकर पशु-हनन करता था उसे शामित्र कहा जाता था। कौन शामित्र हो इस विषय में कई मत हैं। जैमिनि (३।७।२८-२९) ने स्वयं अध्वर्यु को शामित्र कहा है, किन्तु सामान्य मत यह है कि वह ऋत्विजों के अतिरिक्त कोई अन्य व्यक्ति होता था। आश्वलायनश्रौतसूत्र (१२।९।१२-१३) ने कहा है कि वह ब्राह्मण या अब्राह्मण हो सकता है। अधिक विस्तार के लिए देखिए इस ग्रन्थ का द्वितीय खंड, अ० ११। पशुयज्ञ कालान्तर में निन्द्य या वर्जित मान लिये गये, अतः ब्राह्मण का शामित्र होना भी वर्जित है।

(३०) ब्राह्मण द्वारा सोमविक्रय कलिवर्ज्य है। केवल ब्राह्मण ही सोमरस-पान कर सकते थे। सोम लता क्रय की जाती थी, जिसके विषय में प्रतीकात्मक मोल-तोल होता था। कात्या० श्रौ० सू० (७।६।२४) एवं आप० श्रौ० सू० (१०।२०।१२) के मत से प्राचीन काल में सोम का विक्रेता कुत्स गोत्र का कोई ब्राह्मण या कोई शूद्र होता था। मनु (३।१५८=शान्ति० ९९।१७) एवं नारद (दत्ताप्रदानिक ७) ने सोम-विक्रेता ब्राह्मण को श्राद्ध में निमन्त्रित किये जाने के अयोग्य ठहराया है और उसके यहाँ भोजन करना वर्जित माना है। मनु (१०।८८) ने ब्राह्मण को पशु, हवि, मांस, तिल, सोम आदि विक्रय करने से मना किया है। देखिए इस ग्रन्थ के द्वितीय खंड का अध्याय ११।

(३१) अपने दास, चरवाहे (गोरक्षक), वंशानुगत मित्र एवं साझीदार के घर पर गृहस्थ ब्राह्मण द्वारा भोजन करना कलिवर्ज्य है। गौतम (१७।६), मनु (४।२५३=विष्णु ५७।१६), याज्ञ० (१।१६६) एवं पराशर (११।१९) का कहना है कि ब्राह्मण इन लोगों का तथा अपने नापित (नाई) का भोजन कर सकता है। हरदत्त (गौतम १७।६) एवं अपरार्क (पृ० २४४) का कथन है कि ब्राह्मण अत्यन्त विपत्तिग्रस्त परिस्थितियों में इन शूद्रों के यहाँ भोजन कर सकता है। इससे यह विदित होता है कि १२वीं शताब्दी तक यह कलिवर्ज्य या तो ज्ञात नहीं था अथवा इसको मान्यता नहीं प्राप्त हुई थी। कलिवर्ज्यों ने भोजन और विवाह के विषयों में संकीर्णता को और कठिनतर बना दिया।

(३२) अति दूरवर्ती तीर्थों की यात्रा कलिवर्ज्य है। ब्राह्मण को वैदिक एवं गृह्य अग्नियाँ स्थापित करनी पड़ती थीं। यदि वह दूर की यात्रा करेगा तो इसमें बाधा उत्पन्न होगी। आप० श्रौ० सू० (४।१६।१८) ने व्यवस्था दी है कि लम्बी यात्रा में अग्निहोत्री का अपने घर की अग्नियों की दिशा में मुँह कर मानसिक रूप से अग्निहोत्र एवं दर्श-पूर्णमास की सारी विधि करनी पड़ती है। देखिए इस विषय में लोगाक्षिस्मृति (२।१५७) भी। स्मृतिकौस्तुभ का कहना है कि यह कलिवर्ज्य समुद्र पार के या भारतवर्ष की सीमाओं के तीर्थस्थानों के विषय में है। आश्चर्य है कि यह कलिवर्ज्य ब्राह्मण को दूरस्थ तीर्थों की यात्रा करने से मना तो करता है किन्तु उसे धनी के सम्पादन द्वारा धन कमाने के लिए यात्रा करने से नहीं रोकता।

(३३) गुरु की पत्नी के प्रति शिष्य की गुरुवत् वृत्तिशीलता कलिवर्ज्य है। आप० ध० सू० (१।२।७।२७), गौतम (२।३१-३४), मनु (२।२१०) एवं विष्णु (३२।१-२) ने कहा है कि शिष्य को गुरु की पत्नी या पत्नियों के प्रति वही सम्मान प्रदर्शित करना चाहिए जिसे वह गुरु के प्रति प्रदर्शित करता है (केवल प्रणाम करते समय चरण छूना एवं उच्छिष्ट भोजन करना मना है)। शिष्य बहुधा अल्पवयस्क के होते थे और गुरुपत्नी युवा हो सकती थी। अतः मनु (२।२१२, २१६ एवं २१७), विष्णु (३२।१३-१५) का कहना है कि बीस वर्ष के विद्यार्थी को गुरुपत्नी का सम्मान पैर छूकर नहीं करना चाहिए, प्रत्युत वह गुरुपत्नी के समक्ष पृथ्वी पर लेटकर सम्मान प्रकट कर सकता है, किन्तु यात्रा से लौटने पर केवल एक बार पैरों को छूकर सम्मान प्रकट कर सकता है। अतः स्पष्ट है कि यह कलिवर्ज्य मनु एवं विष्णु के नियमों का पालन करता है। स्मृतिकौस्तुभ एवं धर्मसिन्धु (३ पृ० ३५८) का कहना है कि इस कलिवर्ज्य में श्राद्ध (२।१४०) का वह नियम आ जाता है जिसके अनुसार वैदिक ब्रह्मचारी मृत्यु पर्यन्त अपने गुरु या गुरुपुत्र या (इन दोनों के अभाव में) गुरुपत्नी के यहाँ रह सकता है।

(३४) **आपत्तिकाल मे ब्राह्मण द्वारा जीविका-साधन के लिए अन्य विधियो का अनुसरण** कलिवर्ज्य है। ब्राह्मणो की जीविका (वृत्ति) के विशिष्ट साधन ये है—दानग्रहण, वेदाध्यापन एव यज्ञो मे पुरोहिती करना (पौरोहित्य)। इसके लिए देखिए गौतम (१०।२), आप० (२।५।१०।५), मनु (१०।७६।१।८८), वसिष्ठ (२।१४) एव याज्ञ० (१।११८)। प्राचीन काल मे ही यह प्रतिपादित था कि यदि ब्राह्मण उपर्युक्त साधनो से जीविका न चला सके तो आपत्ति काल मे क्षत्रिय एव वैश्य की वृत्तियाँ धारण कर सकता है (गौतम ७।६-७, बौधा० २।२।७७-८१, वसिष्ठ २।२२, मनु १०।८१-८२ एव याज्ञ० ३।३५)। और देखिए इस ग्रथ का खड २, अ० ३। यह कलिवर्ज्य केवल पुस्तकों के पृष्ठों तक सीमित रह गया है। आरम्भिक काल से ब्राह्मणो ने सभी प्रकार की वृत्तियाँ अपनायी हैं और यह नियम सम्मानित नही हो सका है।

(३५) **अग्रिम दिन के लिए सम्पत्ति (या अन्न) का सग्रह न करना** कलिवर्ज्य है। मनु (४।७) एव याज्ञ० (१।१२८) ने ब्राह्मणो को चार भागो मे बाँटा है—(१) वे जो एक कुशल भर अन्न एकत्र रखते हैं, (२) जो एक कुम्भी भर अन्न एकत्र रखते हैं, (३) जो केवल तीन दिनो की आवश्यकता की पूर्ति के लिए अन्न सग्रह करते हैं तथा (४) वे जो आनेवाले कल के लिए भी अन्न-सग्रह नही करते। स्मृतियो ने इनमे से प्रत्येक पूर्ववर्त्ती से उत्तरवर्ती को अधिक गुणशाली माना है। कुशूल-धान्य के अर्थ के विषय मे मतैक्य नही है, कोई इसे तीन वर्षो के लिए और कोई इसे केवल १२ दिनो के अन्न सग्रह के अर्थ मे लेते हैं, यही बात कुम्भीधान्य के विषय मे भी है, किसी ने इसे साल भर के और किसी ने केवल ६ दिन के अन्नसग्रह के अर्थ मे लिया है। देखिए इस ग्रथ का खड २, अध्याय ३। मिताक्षरा (याज्ञ० १।१२८) का कथन है कि तीन दिनो या एक दिन के लिए भी अन्न सग्रह न करना सभी ब्राह्मणो के लिए नही है, प्रत्युत यह उनके लिए है जो **यायावर** कहे जाते हैं। इससे प्रकट होता है कि मिताक्षरा को यह कलिवर्ज्य कथन या तो ज्ञात नही था या उसने इस पर गम्भीरता से विचार नही किया। इस कलिवर्ज्य का तात्पर्य यह है कि कलियुग मे अति दरिद्रता एव सग्रहाभाव का आदर्श ब्राह्मणो के लिए आवश्यक नही है।

(३६) **नवजात शिशु की दीर्घायु के लिए होनेवाले जातकर्म होम के समय (वैदिक अग्नि के स्थापनार्थ) जलती लकडी का ग्रहण** कलिवर्ज्य है। गार्हपत्य अग्नि को प्रकट करने के लिए अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष की दो टहनियाँ जिन्हें **अरणी** कहा जाता है, रगडी जाती हैं। कुछ शाखाओ मे जातकर्म कृत्य मे अग्नि उत्पन्न करने के लिए अरणियाँ रगडी जाती थी, और उनसे उत्पन्न अग्नि आगे चलकर बच्चे के चूडाकरण, उपनयन एव विवाह के सस्कारो मे प्रयुक्त होती थी। इससे यह समझा जाता था कि बच्चा लम्बी आयु का होगा।

(३७) **ब्राह्मणों द्वारा लगातार यात्राएँ करते रहना** कलिवर्ज्य है। महाभारत (शान्ति २३।१५) का कथन है कि जिस प्रकार सर्प बिल मे छिपे हुए चूहों को निगल जाता है, उसी प्रकार यह पृथ्वी अविरोद्धा (आक्रामक से न लडने वाले) राजा एव अप्रवासी (यात्रा न करनेवाले) ब्राह्मण को निगल जाती है। प्रवासी-ब्राह्मण का तात्पर्य है उस ब्राह्मण से जो प्रसिद्ध आचार्यो के यहाँ विद्याध्ययन के लिए जाता रहता है। यह कलिवर्ज्य उस लम्बी यात्रा से सम्बन्धित है जो निरुद्देश्य की जाती है, उससे नही जो विद्याध्ययन एव धार्मिक कृत्यो के लिए की जाती है।

(३८) **अग्नि प्रज्वलित करने के लिए मुँह से फूँकना** कलिवर्ज्य है। मनु (४।५३) एव ब्रह्मपुराण (२२१। १०२) ने मुखाग्निवमन क्रिया को वर्जित ठहराया है, क्योंकि ऐसा करने से थूक की बूँदो से अग्नि अपवित्र हो सकती है। हरदत्त (आप० ध० सू० १।५।१५।२०) ने कहा है कि वाजसनेयी शाखा मे आया है कि अग्नि को मुख से फूँककर उत्तेजित करना चाहिए, क्योंकि ऐसा उच्छ्वास विधाता के मुख से निकला हुआ समझा जाता है (पुरुषसूक्त, ऋग्वेद १०। ९०।१३)। अत हरदत्त एव गोभिलस्मृति (१।१३५-१३६) के अनुसार श्रौत अग्नि मुख की फूँक से जलायी जा

सकती थी किन्तु स्मार्त अग्नि अथवा साधारण अग्नि इस प्रकार नहीं जलायी जानी चाहिए (उसे पंखा या बाँस की फुँकनी से जलाना चाहिए)। कलिवर्ज्य उक्ति में श्रौत अग्नि को भी मुख से उत्तेजित करना वर्जित माना है।

(३९) बलात्कार आदि द्वारा अपवित्र स्त्रियों (जब कि उन्होंने प्रायश्चित्त कर लिया हो) की शास्त्रानुमोदित सामाजिक संसर्ग-सम्बन्धी अनुमति कलिवर्ज्य है। वसिष्ठ (२८।२ ३) का वचन है—"जब स्त्री बलात्कार द्वारा या चोरों द्वारा भगायी जाने पर अपवित्र कर दी गयी हो तो उसे छोड़ना नहीं चाहिए मासिक धर्म आरम्भ होने तक बाट देखनी चाहिए (तब तक उससे प्रायश्चित्त कराते रहना चाहिए) और उसके उपरान्त वह पवित्र हो जाती है।" यही बात अत्रि ने भी कही है। मत्स्यपुराण (२२७।१२६) इस विषय में अधिक उदार है और उसका वचन है कि बलात्कारी को मृत्युदण्ड मिलना चाहिए किन्तु इस प्रकार अपवित्र की गयी स्त्री को अपराध नहीं लगता। पराशर (१ ।२७) ने कहा है कि यदि स्त्री किसी दुष्ट व्यक्ति द्वारा एक बार बलात् अपवित्र कर दी जाय तो वह प्राजापत्य व्रत के प्रायश्चित्त द्वारा पवित्र हो जाती है (मासिक धर्म होने के उपरान्त)। देवल जैसे पश्चात्कालीन स्मृतिकार ने कहा है कि किसी भी जाति की कोई स्त्री यदि म्लेच्छ द्वारा अपवित्र कर दी जाय और उसे गर्भ धारण हो जाय तो वह सान्तपन व्रत के प्रायश्चित्त से शुद्ध हो सकती है। किन्तु यह कलिवर्ज्य निर्दोष एवं अभागी स्त्रियों के प्रति कठोर है क्योंकि यह प्रकट करता है कि प्रायश्चित्त के उपरान्त भी ऐसी स्त्रियाँ सामाजिक संसर्ग के योग्य नहीं मानी।

(४) सभी वर्णों के सदस्यों से संन्यासी द्वारा शास्त्रानुमोदित भिक्षा लेना कलिवर्ज्य है। स्मृतिमुक्ताफल (प २ १ वर्णाश्रम) ने काठक ब्राह्मण आरुणि-उपनिषद् पराशर (गद्य में) को इस विषय में उद्धृत कर कहा है कि यति सभी वर्णों के सदस्यों के यहाँ से भोजन की भिक्षा माँग सकता है। यही बात बौधा ध सू (२।१ ।९९) ने एक उदाहरण देकर कही है। वसिष्ठ (१ ।७) ने कहा है कि यति को पहले से न चुने हुए सात घरों से भिक्षा माँगनी चाहिए और अत्रि (१ ।२४) कहा है कि उसे ब्राह्मणों के घरों से प्राप्त भोजन पर ही जीना चाहिए। उपर्युक्त कलिवर्ज्य यतियों को भी भोजन के विषय में जाति-नियम पालन करने को बाध्य करता है।

(४१) नवीन उदक (नये वर्षाजल) का दस दिनों तक सेवन न करना कलिवर्ज्य है। हरदत्त (आप ध सू १।५।१५।२) भट्टोजि दीक्षित (चतुर्विंशतिमत पृ ५४) स्मृतिचन्द्रिका (पृ ४०९) ने एक श्लोक उद्धृत किया है—"अजाएँ (बकरियाँ) गायें भैंसें एवं ब्राह्मण-स्त्रियाँ (प्रसवोत्पत्ति के उपरान्त) दस रात्रियों के पश्चात् शुद्ध हो जाती हैं और इसी प्रकार पृथ्वी पर एकत्र नवीन वर्षा का जल भी।" किन्तु इस कलिवर्ज्य के अनुसार वर्षाजल के विषय में दस दिनों की लम्बी अवधि अमान्य ठहरा दी गयी है। भट्टोजि दीक्षित ने एक स्मृति का सहारा लेकर कहा है कि उचित ऋतु में गिरा हुआ वर्षाजल पवित्र होता है किन्तु तीन दिनों तक इसे पीने के काम में नहीं लाना चाहिए। जब वर्षा असाधारण ऋतु में होती है तो उसका जल दस दिनों तक अशुद्ध रहता है और उस यदि कोई व्यक्ति उस अवधि में पी ले तो उसे एक दिन और एक रात भोजन ग्रहण से वंचित होना चाहिए। भट्टोजि दीक्षित का कहना है कि कलिवर्ज्य वचन केवल दस दिनों की अवधि को अमान्य ठहराता है, किन्तु तीन दिनों तक न पीने के नियम को अमान्य नहीं ठहराता।

(४२) ब्रह्मचर्य व्रत के अन्त में गुरुदक्षिणा माँगना कलिवर्ज्य है। प्राचीन आचार के अनुसार गुरुदक्षिणा के विषय में कोई मन्त्रणा नहीं होता था। देखिए बृहदारण्यकोपनिषद् (७।१।२)। गौतम (२।५४-५५) ने कहा है कि विद्याध्ययन के उपरान्त विद्यार्थी को जो कुछ वह दे सके उसे स्वीकार करने के लिए गुरु से प्रार्थना करनी चाहिए, या गुरु से पूछना चाहिए कि वह उन्हें क्या दे और गुरुदक्षिणा देने या गुरु द्वारा आज्ञापित कार्य करने के उपरान्त या यदि गुरु उसे बिना कुछ लिये हुए घर जाने की आज्ञा दे दे तो उसको (विद्यार्थी को) स्नान (ऐसे अवसर पर जो कृत्य स्नान के साथ किया जाता है) करना चाहिए। देखिए मनु (२।२४५-२४६) और इस ग्रन्थ का खंड २, अ ७। याज्ञ

(१।५।१) ने भी ऐसी ही बात कही है। इन्हीं व्यवस्थाओं के कारण हमें प्राचीन साहित्य में ऐसे उपाख्यान उपलब्ध होते हैं जिनमें आचार्यों (गुरुओं) या उनकी पत्नियों की विचित्र-विचित्र माँगों के दृष्टान्त व्यक्त हैं। यह कलिवर्ज्य वचन गुरु द्वारा अपेक्षित माँगों को अमान्य तो ठहराता है किन्तु विद्यार्थी द्वारा अपनी ओर से दी गयी दक्षिणा को वर्जित नहीं कहता।

(४३) ब्राह्मण आदि के घरों में शूद्र द्वारा भोजन आदि बनाना कलिवर्ज्य है। आप० ध० सू० (२।२।३।१-८) ने कहा है कि वैश्वदेव के लिए भोजन तीन उच्च वर्णों का कोई भी शुद्ध व्यक्ति बना सकता है और विकल्प से यह भी कहा है कि शूद्र भी किसी आर्य का भोजन बना सकता है, यदि वह प्रथम तीन उच्च वर्णों की देख-रेख में ऐसा करे, जब वह अपने बाल, शरीर का कोई अंग या वस्त्र छूने पर आचमन करे, अपने शरीर एवं सिर के बाल, दाढ़ी एवं नाखून प्रति दिन या महीने के प्रति आठवें दिन या प्रतिपदा एवं पूर्णिमा के दिन कटाये तथा वस्त्र सहित स्नान करे। इस कलिवर्ज्य ने इस अनुमति को दूर कर दिया है।

(४४) अग्नि-प्रवेश या प्रपात से गिरकर वृद्ध लोगों द्वारा आत्महत्या करना कलिवर्ज्य है। अत्रि ने कुछ विषयों में आत्महत्या निंद्य नहीं ठहरायी है। उनका (२१८-२१९) कथन है—"यदि कोई बूढ़ा हो गया हो (७० वर्ष के ऊपर), यदि कोई (अत्यधिक दुर्बलता के कारण) शरीर-शुद्धि के नियमों का पालन न कर सके, यदि कोई इतना बीमार हो कि सभी औषधें व्यर्थ सिद्ध हो जाती हों और यदि कोई इन परिस्थितियों में प्रपात से गिरकर या अग्नि-प्रवेश करके या जल द्वारा या अनशन से आत्महत्या कर लेता है, तो उसके लिए सूतक केवल तीन दिनों का रहता है और चौथे दिन उसका श्राद्ध किया जा सकता है।" यही बात अपरार्क (पृ० ५३६) ने भी अपने ढंग से कही है। देखिए इस ग्रंथ का खंड २, अ० २७। यह कलिवर्ज्य उन लोगों के लिए भी वर्जना-स्वरूप है जो जान-बूझकर महापातकों का अपराध करके फलत प्रायश्चित्त के लिए अग्नि-प्रवेश करके या प्रपात से गिरकर आत्महत्या कर डालना चाहते हैं। देखिए मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२२६)। शुद्धितत्त्व (पृ० २८४-२८५) का कथन है कि कलियुग में केवल शूद्र लोग जल-प्रवेश आदि से आत्महत्या कर सकते हैं, ब्राह्मणों आदि के लिए यह वर्जित है।

(४५) शिष्टों द्वारा गोतृप्ति मात्र जल से आचमन-क्रिया करना कलिवर्ज्य है। मनु (५।१२८), वसिष्ठ (३।३५), बौधा० ध० सू० (१।५।६५), याज्ञ० (१।१९२) एवं विष्णु (२३।४३) के अनुसार पृथ्वी पर इकट्ठा हुआ जल पवित्र माना जाता है और इससे आचमन किया जा सकता है, यदि वह एक गाय की प्यास बुझाने भर के लिए पर्याप्त हो। किन्तु यह कलिवर्ज्य स्वास्थ्य-सम्बन्धी बातों के आधार पर पृथ्वी पर एकत्र अल्प जल को आचमन आदि के लिए वर्जित मानता है।

(४६) यति द्वारा उस घर में, जिसके निकट वह सायंकाल ठहरा हो, (भिक्षार्थ) रहना कलिवर्ज्य है। आप० ध० सू० (२।९।२१।१०) एवं मनु (६।४३, ५५-५६) के मत से यति अग्नि नहीं जलाता, वह गृहहीन होता है और वह दिन में केवल एक बार अपराह्न में या सन्ध्या समय तब भिक्षा माँगता है जब कि लोगों के रसोईघर से धूम न उठ रहा हो, जब जलते हुए कोयले बुझ गये हों और जब लोग खा-पी चुके हों। वसिष्ठ (१०।१२-१५) का कहना है कि सन्यासी को अपना निवास बदलते रहना चाहिए, उसे गाँव की सीमा (सरहद) पर या मंदिर में, किसी निर्जन घर में या किसी पेड़ के नीचे ठहरना चाहिए या लगातार किसी वन में रहना चाहिए। शंख (७।६) का कथन है कि सन्यासी (यति) को किसी खाली घर में या वहाँ जहाँ सूरज डूब जाय, ठहरना चाहिए। शंख की इस व्यवस्था को कलिवर्ज्य की इस उक्ति ने अमान्य ठहराया है। कृष्ण भट्ट (निर्णयसिन्धु, पृ० ९३१०) के मत से इन शब्दों का अर्थ मनु (६।५६) की उस व्यवस्था के विरोध में पड़ जाता है कि सन्यासी को सन्ध्या समय जब रसोईघरों से धूम निकलना बन्द हो गया हो, ग्राम में घर-घर से भिक्षा माँगनी चाहिए, अर्थात् यह कलिवर्ज्य-उक्ति दुपहर में भिक्षा माँगने की अनुमति देती है। एक प्रकार से यह अच्छी व्याख्या है।

यह उपर्युक्त कलिवर्ज्यों की पूर्ण सूची है जो आदित्यपुराण से (एक या दो को छोड़कर) उद्धृत की गयी है। अब हम उन कलिवर्ज्यों को जो अन्य ग्रन्थों में इतस्ततः बिखरे पड़े हैं, इस विवेचन को पूर्ण करने के लिए आगे दे रहे हैं।

(४७) संन्यास ग्रहण—व्यास ने कलियुग के ४४०० वर्षों के उपरान्त संन्यास को वर्जित ठहराया है किन्तु देवल ने (निर्णयसिन्धु ३ पूर्वार्ध पृ० ३७, स्मृतिमुक्ताफल वर्णाश्रम पृ० १७६, यतिधर्मसंग्रह पृ० २१) एक अपवाद इस सीमा तक दिया है कि जब तक समाज में चारों वर्णों का विभाजन चलता रहे एवं वेद का अध्ययन चलता रहे तब तक कलियुग में सन्यास लिया जा सकता है। निर्णयसिन्धु ने व्याख्या की है कि तीन दण्डों वाला (त्रिदण्ड) सन्यास ही वर्जित है न कि एक दण्ड वाला। बौधायन (२।१०।५३ एकदण्डी वा) ने विकल्प दिया है कि सन्यासी त्रिदंडी या एकदंडी हो सकता है किन्तु दक्ष (१।५८) ने यति को त्रिदंडी ही कहा है। मनु (१२।१० = दक्ष ७।३१) ने कहा है कि वह व्यक्ति त्रिदंडी है जो अपने शरीर, वाणी एवं मन पर नियन्त्रण रख सकता है। दक्ष (७।२९, अपरार्क पृ० ९५१) का कथन है कि यति को त्रिदंडी इसलिए नहीं कहा गया है कि वह बाँस के तीन दण्डों को धारण करता है, प्रत्युत इसलिए कि वह आध्यात्मिक नियन्त्रण रख सकता है (श्लोक २९)। दक्ष (१।१२-१३) ने कहा है कि जिस प्रकार मेखला, मृगचर्म एवं काष्ठदण्ड वैदिक ब्रह्मचारी के बाह्य लक्षण हैं उसी प्रकार तीन दण्ड यति के लिए विशिष्ट चिह्न हैं। देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २, अ० २७। यदि कलिवर्ज्य का यह वचन सन्यास को सर्वथा वर्जित ठहराता है तो यह भी कहा जा सकता है कि वास्तव में सन्यास धर्म का पालन कभी नहीं किया गया और न इसको कभी वास्तविक सम्मान ही मिला। फिर भी आज भी प्रति वर्ष सैकड़ों-हजारों सन्यासी होते चले जा रहे हैं। यदि जैसा कि निर्णयसिन्धु का वचन है, यह कलिवर्ज्य केवल तीन दण्डों को अमान्य ठहराता है तो यह व्यर्थ का वर्ज्य है, क्योंकि इससे केवल बाहरी लक्षणों को महत्ता मिलती है न कि तत्सम्बन्धी वास्तविक रहस्य को।

(४८) अग्निहोत्र का पालन या अग्न्याधान करना—व्यास (मद्दोजि दीक्षित चतुर्विंशतिमत पृ० ९५) ने कलियुग में श्रौत-अग्निहोत्र को संन्यास के साथ वर्जित कर दिया है, किन्तु जैसा कि हमने गत कलिवर्ज्य में देख लिया है देवल ने इस विषय में अपवाद दिया है। कुछ निबन्धों एवं लेखकों ने यथा निर्णयसिन्धु एवं भट्टोजि ने व्याख्या की है कि कलियुग में सर्वाधान अग्निहोत्र ही वर्जित है न कि अर्धाधान अग्निहोत्र। अग्निहोत्र का अर्थ है 'आधान' अर्थात् श्रौत अग्नियों को स्थापित रखना। जब कोई व्यक्ति तीन श्रौत अग्नियाँ स्थापित करता है तो वह ऐसा अपनी आवी स्मार्त अग्नि के साथ करता है और आवी स्मार्त अग्नि को अलग रखता है। इसी को अर्धाधान कहते हैं। जब वह स्मार्त अग्नि को अलग नहीं रखता तो वह सर्वाधान कहलाता है। यह बात लौगाक्षि (निर्णयसिन्धु, ३ पृ० ३७) भट्टोजि आदि ने भी कही है। मिताक्षरा (याज्ञ० १।९७) ने भी सर्वाधान एवं अर्धाधान का उल्लेख किया है। अतः इन व्याख्याओं के अनुसार सर्वाधान को प्राचीन युगों में अनुमति प्राप्त थी (एक व्याख्या से कलियुग में ४४०० वर्षों तक) किन्तु कलियुग में (कम से कम कलि के ४४०० वर्षों के उपरान्त) केवल अर्धाधान की अनुमति मिली है।

(४९) नरमेध—इस विषय में विशेष जानकारी के लिए देखिए नारदीय पुराण (पूर्वार्ध २४।१४-१६)। तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।४।१।१९) ने नरमेध की विधि का वर्णन किया है (ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते क्षत्राय राजन्यम्। मरुद्भ्यो वैश्यम्। तपसे शूद्रम्)। प्राचीनतम उक्तियाँ यह नहीं व्यक्त करतीं कि कोई मानव मारा जाता था, सारी विधि प्रतीकात्मक मात्र है। वाजसनेयी संहिता (३०।५) के बहुत-से वचन तैत्तिरीय ब्राह्मण के समान हैं। तै० ब्रा० (३।४।१ = वाज० सं० ३०।५) में आया है—"ब्राह्मण ब्राह्मण को लिया जाना चाहिए (आध्यात्मिक शक्ति) क्षत्रिय क्षत्र को (शैनिक शक्ति) वैश्य मरुतों को" आदि। शाप० श्री० सू० (२०।२४) के मत से ब्राह्मण या क्षत्रिय इस यज्ञ को सम्पादित करता है जिसके द्वारा वह शक्ति एवं वीर्य तथा सारी समृद्धि की उपलब्धि करता है। इसमें अग्नि एवं सोम को ११ पशु भेंट किये जाते हैं जिनके लिए ११ यज्ञ-यूप (स्तम्भ) होते हैं। जब ब्राह्मण एवं अन्यों पर धर्मनिरूपण का

कृत्य हो जाता है तो वे कतिपय देवताओ को समर्पित किये जाते हैं और तब यूपो से उन्हे अलग कर दिया जाता है, ११ बकरे काटे जाते हैं और उनका मास एव उनके शरीराशो की आहुतियाँ दी जाती हैं। वाजसनेयी सहिता के टीकाकार के मत से इसका आरम्भ चैत्र शुक्ल दशमी से होता है और यह ४० दिनो तक चलता रहता है। इस अवधि मे २३ दीक्षाएँ, १२ उपसद् एव ५ सुत्य किये जाते हैं (वे दिन, जब सोमरस निकाला जाता है)। इस याग के उपरान्त यजमान सन्यासी होकर वन मे चला जाता है (आप० श्रौ० २०।२४।१६-१७)।

(५०) **अश्वमेध**—तै० स० (५।३।१२।२) का कथन है—"जो अश्वमेध यज्ञ करता है, वह ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त हो जाता है" (तरति ब्रह्महत्या योऽश्वमेधेन यजते)। इस वैदिक प्रमाण के रहते हुए भी बृहन्नारदीय एव अन्य पुराणो ने इसे वर्जित कर दिया है, किन्तु किसी ने इस वर्जना पर कान नही दिया और ऐतिहासिक काल के कतिपय राजाओ ने इसे सम्पादित किया (ई० पू० २०० सन से १८वी शताब्दी तक, राजा जयसिंह अन्तिम अश्वमेध यज्ञ करनेवाले हैं। देखिए इस ग्रथ का खड २, अ० ३५)।

(५१) **राजसूय**—यह एक जटिल कृत्य था जो अनवरत दो वर्षो तक चलता रहता था। इसे कोई क्षत्रिय ही कर सकता था। देखिए इस ग्रथ का खड २, अ० ३४। कलिंगराज खारवेल ने इसे सम्पादित किया था (एपि० इ०, जिल्द २०, पृ० ७१ एव ७९)। नानाघाट के अभिलेख (आर्क्योलॉजिकल सर्वे ऑव वेस्टर्न इण्डिया, जिल्द ५, पृ० ६०) से पता चलता है कि रानी नायनिका ने भी इसे सम्पादित किया था।

(५२) **नैष्ठिक ब्रह्मचर्य**—वैदिक ब्रह्मचारियो के दो प्रकार थे, (१) उपकुर्वाण (जो घर लौटते समय कुछ गुरुदक्षिणा देते थे) एव (२) **नैष्ठिक** (जो मृत्यु पर्यंत ब्रह्मचारी या विद्यार्थी रहते थे)। देखिए इस ग्रथ का खड ३, अ० २९। हारीत, दक्ष (१।७) तथा अन्य लोगो ने इन दोनो प्रकारो का उल्लेख किया है किन्तु याज्ञ० (१।४९), व्यास (१।४१) एव विष्णुध० सू० (२८।४६) ने नैष्ठिक का नाम और वर्णन दोनो दिये है। मनु (२।२४३-२४४), याज्ञ० (१।४९-५०) एव वसिष्ठ (७।४-५) ने कहा है कि नैष्ठिक ब्रह्मचारी को मृत्यु पर्यंत गुरु के साथ रहना चाहिए। गुरु की मृत्यु के उपरान्त उसके पुत्र के साथ या गुरुपत्नी के साथ रहना चाहिए और अग्निहोत्र करते रहना चाहिए, यदि वह मृत्यु पर्यंत अपनी इन्द्रियो का निग्रह करता रहता है तो ब्रह्मत्व को प्राप्त करता है और पुन जन्म नही लेता, अर्थात् मुक्त हो जाता है। यह बहुत ही कष्टसाध्य जीवन था, वासनाएँ प्रबल होती हैं, अत बृहन्नारदीय आदि ने नैष्ठिक ब्रह्मचर्य को वर्जित कर दिया है।

(५३) **लम्बी अवधि का ब्रह्मचर्य**—बौ० ध० सू० (१।२।१-५) ने घोषणा की है—प्राचीन काल मे वेदाध्ययन के लिए छात्र-जीवन प्रत्येक वेद के हिसाब से ४८ या २४ या १२ वर्षो तक चलता था, या (तै० स० के) प्रत्येक काण्ड के लिए कम से कम एक-एक वर्ष निश्चित था, या यह (छात्रजीवन) तब तक चलता था जब तक वेद कण्ठस्थ न हो जाय। क्योकि जीवन क्षणभगुर है और वेद आज्ञापित करता है—'जब तक बाल काले हैं, वह अग्निहोत्र करता रहे।' आप० ध० सू० (१।१।२।११-१६) का कथन है कि ब्रह्मचारी को अपने आचार्य (गुरु) के यहाँ ४८, २४ या कम से कम १२ वर्षो तक रहना चाहिए। मनु (३।१) ने भी कहा है, गुरु के यहाँ तीनो वेदो के अध्ययन करने का सकल्प ३६ वर्षो या उसके आधे समय तक या चौथाई समय तक या उस समय तक करना चाहिए जब तक कि वेद कण्ठस्थ न हो जायँ। कलियुग मे वेदाध्ययन के लिए ४८, ३६ या २४ वर्षो (गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने के पूर्व) की लम्बी अवधियाँ वर्जित हैं। यह कोई नयी बात नही थी। याज्ञ० (१।३६) ने प्रत्येक वेद के लिए १२ वर्षो की अवधि की अनुमति दी है या ५ वर्ष की भी अनुमति उन्हे दे दी है जो सभी वेदो का अध्ययन नही करना चाहते, केवल एक ही वेद पढना चाहते हैं। इस प्रकार वेदाध्ययन की अल्पावधि याज्ञवल्क्य के मत मे कम से कम ५ वर्ष है। बहुत ही कम लोग ४८ या ३६ वर्षो तक वेदाध्ययन करते रहे होंगे। शबर (जैमिनि १।३।२) ने बौधायन के उस वचन को

श्रुति-विरुद्ध माना है या मृत्यु के आने वाले समय तक अग्निहोत्र करते रहने के सम्बन्ध में है और इसी से इसे अमान्य ठहराया है। इस विषय में देखिए सदाचार सम्बन्धी इस खंड का अध्याय १२।

(५४) पशुयज्ञ—मार्कण्डेय पुराण (अपरार्क पृ० ९९९) ने कलियुग में पशुयज्ञ वर्जित कर दिया है। यद्यपि जनता की सामान्य भावना यही रही है कि श्राद्ध एवं मधुपर्क में मांसदान न किया जाय तथापि सभी युगों में पशुयज्ञ होते रहे हैं और आज भी विरोधों के रहते हुए भी यही परिपाटी चलती आ रही है।

(५५) मद्यपान—वैदिक काल में पुरोहित लोग सोम का पान करते थे और सुरा का प्रयोग साधारण लोग करते थे जो साधारणतः देवताओं को नहीं दी जाती थी। सोम और सुरा का भेद लोगों को ज्ञात था (तै० सं० २।५।१।१, वाज० सं० १९।७ एवं शत० ब्रा० ५।१।५।२८)। शत० ब्रा० (५।१।५।२८) में अन्तर बतलाया है—"सोम सत्य है, समृद्धि है और है प्रकाश; सुरा असत्य है, विपन्नता है और है अन्धकार।" सौत्रामणी इष्टि में एक ब्राह्मण सुरा पान के लिए पारिश्रमिक पर बुलाया जाता था और यदि कोई ब्राह्मण नहीं मिलता था तो सुरा चींटियों के ढूह पर उड़ेल दी जाती थी (तै० ब्रा० १।८।६ एवं शतपथ ब्रा० १२।५।१४-१५)। काठकसंहिता (१२।१२) से पता चलता है कि उस काल तक आते-आते ब्राह्मणों ने सुरापान को पापमय मान लिया था। छान्दोग्योपनिषद् (५।१०।९) में सुरापान पाँच प्रकार के महापापों में गिना गया है। आश्वलायनगृह्यसूत्र (२।५।१-५) में आया है कि अन्वष्टका के कृत्यों में जब पुरुष-पितरों को पिण्डदान किया जाता है तो नारी-पितरों, यथा—माता, पितामही एवं प्रपितामही को सुरा एवं भात का माँड दिया जाता है। निर्णयसिन्धु (३, पृ० ११७) ने आश्वलायन के इस वचन का उल्लेख किया है और कहा है कि कलिवर्ज्य वचन से मदमाते करनेवाले पदार्थों के साथ इसे भी वर्जित माना है।

मद्य शब्द उन सभी प्रकार के पेय पदार्थों की ओर संकेत करता है जिन्हें पीकर लोग मतवाले हो उठते हैं। सुरा के तीन प्रकार कहे गये हैं—(१) गुड़ या राब से उत्पन्न की हुई, (२) मधु या मधूक-पुष्पों (महुआ) या अंगूरों से उत्पन्न तथा (३) आटे से उत्पन्न की हुई (मनु ११।९४, विष्णु २२।८२ एवं संवर्त ११७)। विष्णु (२२।८३-८४) ने मद्य के दस प्रकार गिनाकर उन्हें ब्राह्मणों के लिए अस्पृश्य माना है। गौ० (२।२५), आप० ध० सू० (१।५।१७।२१), मनु (११।९५) ने ब्राह्मणों के लिए जीवन के सभी स्तरों में मद्य को वर्ज्य माना है। आप० (१।७।२१।८), वसिष्ठ (१।२०), मनु (११।५४) एवं विष्णु (३५।१) ने सुरापान को पाँच महापातकों में गिना है और याज्ञ० ने इस सिलसिले में सुरा के स्थान पर 'मद्य' का प्रयोग किया है। बौधा० (१।१।२२) ने उत्तरदेशीय ब्राह्मणों के विशिष्ट पाँच आचरणों में सीधु को भी सम्मिलित किया है और उसे निन्द्य माना है। मनु के सुरा-सम्बन्धी तीन प्रकारों के विषय में विभिन्न व्याख्याएँ उपस्थित की गयी हैं। विश्वरूप (याज्ञ० ३।२२२), मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२५३), अपरार्क (पृ० १ ९) आदि ने कहा है कि सुरा पैष्टी (आटे से बना पेय पदार्थ) है और ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्यों के लिए वर्जित है, इसका पान महापातकों में गिना जाता है। इन लोगों ने सभी युगों में ब्राह्मणों के लिए मदोन्मत्त करनेवाले पदार्थों का पान वर्जित माना है, किन्तु पैष्टी (जो राब या महुआ से न बनायी जाय) के अतिरिक्त अन्य मदोन्मत्त करने वाले पदार्थों को क्षत्रिय एवं वैश्यों के लिए वर्जित नहीं ठहराया है। मनु (११।९३) का कहना है कि सुरा अन्नों (चावल) के उच्छिष्ट से बनायी जाती है, अतः तीन उच्च जातियों के सदस्यों के लिए त्याज्य है। इससे स्पष्ट होता है कि मनु ने सुरा का अर्थ केवल पैष्टी (चावल के आटे से बना पेय पदार्थ) लिया है। विष्णु (२२।८४) ने स्पष्ट कहा है कि क्षत्रिय और वैश्य मद्यों के दस प्रकारों के स्पर्श से अपवित्र नहीं होते। उद्योगपर्व (५९।५) में कृष्ण और अर्जुन मदोन्मत्त दिखलाये गये हैं और तन्त्रवार्तिक ने इसे बुरा नहीं माना है, क्योंकि वे दोनों क्षत्रिय थे। शूद्रों के लिए मद्य पीना वर्जित नहीं माना गया था। सभी वर्णों के ब्रह्मचारियों को किसी प्रकार का भी मद्य सेवन मना था। अपरार्क (पृ० ११) ने ब्रह्मपुराण को उद्धृत कर कहा है कि कलियुग में तीन उच्च वर्णों के लिए मद्यपान वर्ज्य है, किन्तु ब्राह्मणों

के लिए सभी युगो मे। किन्तु यह कथन भ्रामक है, क्योकि आदिपर्व मे आया है, कि शुक्राचार्य ने ही सर्वप्रथम ब्राह्मणो के लिए मद्य वर्जित ठहराया। देखिए इस ग्रथ का खड २, अ० २२। कलिवर्ज्य वचन ने सभी द्विजो के लिए मद्यपान वर्जित माना है, किन्तु क्षत्रियो एव वैश्यो ने इस उक्ति पर कभी ध्यान नही दिया। यहाँ तक कि आजकल कुछ ब्राह्मण इसका शौक से सेवन करते हैं। कलिवर्ज्यविनिर्णय, कृष्ण भट्ट एव स्मृतिकौस्तुभ ने कहा है कि 'वामागम' सबन्धी शाक्त ग्रथो मे तीनो वर्णो द्वारा देवप्रतिमा पर मद्य चढ़ाना मान्य ठहराया गया है, और क्षत्रियो द्वारा विनायक-शमन-सबधी कृत्यो तथा मूल नक्षत्र मे उत्पन्न बच्चे के लिए मद्य-प्रयोग ठीक माना गया है, किन्तु इस कलिवर्ज्य ने यह सब अमान्य घोषित कर दिया है।

यदि हम उपर्युक्त ५५ कलिवर्ज्यों का विश्लेषण करें तो हमे मनोरजक परिणाम प्राप्त होंगे। इनमे एक-चौथाई का सबध श्रौत विषयो से है। बहुत-से ऐसे वचन हैं जो अग्निहोत्र, अश्वमेध, राजसूय, पुरुषमेध, सत्र, गोसव, पशुयज्ञ आदि यज्ञो को वर्जित करते हैं, और बहुत-से ऐसे हैं जो यज्ञ-विषयक बातो से सम्बन्धित हैं (देखिए स० ११, १४-१६, २९-३०, ३८, ४८-५१ एव ५४)। इनमे प्रथम नौ का सम्बन्ध वैधानिक विषयो एव सम्बन्धो से है। कुछ तो केवल जाति-सम्बन्धी हैं (स० ५, १०, ३१, ४० एव ४३)। कुछ वैवाहिक सम्बन्ध की पवित्रता, जटिल नैतिकता तथा स्त्रियो से सम्बन्ध रखनेवाली एव शुचिता एव भद्रता की भावना से उद्भूत हैं (स० २, ३, ४, ५, ९, १५, २३, २४, ३३, ३९ एव ५५)। कुछ दया, न्याय एव सर्वसमता की भावनाओ पर आधारित हैं (स० १, ८, २४, २५, ४२)। कुछ ब्राह्मणो के शरीर की पवित्रता एव उनकी उच्च सामाजिक स्थिति से सम्बन्धित हैं (स० ७, १०, २७, २९ एव ३०)। कुछ की उत्पत्ति स्वास्थ्य-सम्बन्धी सुविचारणाओ पर आधारित है (स० १२, १६, २८, ३८, ४१ एव ४५)। कुछ का उदय पाप, प्रायश्चित्त एव सस्कार-सम्बधी शुद्धता एव अशुद्धता की भावनाओ से हुआ है (स० १३, १८-२१, २८ एव ४४)। इनमे से दो ऐसे हैं जो वानप्रस्थ एव सन्यास आश्रमो को वर्ज्य ठहराते हैं, जिससे आश्रम-सम्बन्धी प्राचीन योजना खडित-सी हो जाती है (देखिए १७ एव ४७)।

उपर्युक्त कलिवर्ज्य-सम्बन्धी विवेचन उन लोगो का मुँहतोड जवाब है जो "अप्रगतिशील पूर्व" के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। प्राचीन काल के अत्यधिक स्थिर समाजो के अन्तर्गत भी सामाजिक भावनाओ एव आचारो मे पर्याप्त गम्भीर परिवर्तन होते रहे हैं। बहुत-से ऐसे आचार एव व्यवहार, जिनके पीछे पवित्र वेदो (जो स्वयमुद्भूत एव अमर माने गये हैं) का आधार था, और जिनके पीछे आप०, मनु एव याज्ञवल्क्य की स्मृतियो की प्रामाणिकता थी, वे या तो त्याज्य ठहराये गये या प्रचलित मनोभावो के कारण गर्हित माने गये। महान् विचारको ने कलियुग के लिए ऐसी व्यवस्थाएँ प्रचलित की जिनके फलस्वरूप धार्मिक आचार-विचारो एव नैतिकता-सम्बन्धी भावनाओ मे यथोचित परिवर्तन किया जा सका। कलिवर्ज्य वचनो ने ऐसे लोगो को भी पूर्ण उत्तर दिया जो धर्म (विशेषत आचार धर्म) को अपरिवर्तनीय एव निर्विकार मानते रहे हैं। इस अध्याय के विवेचन से पाठको को लगा होगा कि वेद एव प्राचीन ऋषियो तथा व्यवहार-प्रतिपादको के अत्यन्त प्रामाणिक सिद्धान्त अलग रख दिये गये, क्योकि वे प्रचलित विचारो के विरोध मे पडते थे। जो महानुभाव भारतीय समाज से सम्बन्ध रखनेवाले विवाह, उत्तराधिकार आदि विषयो मे सुधार करना चाहते है, उन्हे इस अध्याय मे उल्लिखित बातें प्रेरणा देंगी, इसमे कोई सन्देह नही है। हमने यह देख लिया है कि कलिवर्ज्य उक्तियो के रहते हुए भी आज बहुत-से घोर और घृणित आचार हमारे समाज मे अभी तक घुन की तरह पडे हुए है, यथा मातुल-कन्या-विवाह, सन्यास, अग्निहोत्र और श्रौत पशुयज्ञ। यद्यपि ये अब उतने प्रचलित नही हैं।

कुछ ग्रथ कलिवर्ज्य वचनो के साथ दो और वचन जोड देते हैं जिनका तात्पर्य यह है—"शाप अथवा अनिष्टकारी वचन, अशुभ चिह्न, स्वप्न, हस्तविद्या, अलौकिक वचनो का श्रवण, मनौती (प्रार्थना स्वीकृत हो जाने पर किसी देवता

की भेंट आदि देने का वचन) कतिपय ज्योतिषियों द्वारा भविष्यवाणियाँ—कदाचित् ही ये सब सत्य के द्योतक हैं। हम लोगों को अपनी इच्छापूर्ति के लिए अथवा अच्छे फलों की प्राप्ति के लिए इन सब बातों में विश्वास नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार कुछ ऐसे भी धर्म हैं जिन्हें हमें कलियुग में छोड़ देना चाहिए, क्योंकि वे मनुष्यों द्वारा अधर्म कार्यों के अन्तर्गत सम्मिलित कर लिये गये हैं।

प्राचीन स्मृतियों ने कलिवर्ज्य का वर्णन नहीं किया है और न विश्वरूप, मेधातिथि एवं विज्ञानेश्वर की टीकाओं ने कलिवर्ज्यों की लम्बी सूचियाँ ही दी हैं। सर्वप्रथम ये सूचियाँ स्मृत्यर्थसार, स्मृतिचन्द्रिका एवं हेमाद्रि द्वारा ही प्रकाशित की गयीं (और ये सब अथवा लेखक १२वीं १३वीं शताब्दी के हैं)। अतः अत्यन्त सम्भव अनुमान यही है कि कलिवर्ज्यों की ये सूचियाँ सर्वप्रथम १०वीं या ११वीं शताब्दी में उपस्थित की गयीं।

अध्याय ३५

आधुनिक भारतीय व्यवहार-शास्त्र में आचार

यद्यपि 'आग्ल भारतीय' व्यवहार-शास्त्र (एग्लो-इण्डियन लॉ) मे पाये जानेवाले आचारो का विस्तृत विवेचन इस पुस्तक के क्षेत्र के वाहर है, तथापि आधुनिक काल के आचारो के विपय मे कुछ शब्द इस अध्याय मे लिख देना विपयान्तर न होगा। जव अँग्रेजो ने भारत मे राजनीतिक सत्ता स्थापित करना आरम्भ कर दिया, उन्हे भारतीयो के आचारो की महत्ता स्वीकार करनी पडी। इस विपय मे सर्वप्रथम सन् १७५३ ई० मे वम्बई मे स्थापित मेयर के न्यायालय का चाटर (शासनपत्र) प्रसिद्ध है, जिसमे अप्रत्यक्ष रूप से मनु (७।२०३) एव याज्ञ० (१।३४३) के सिद्धान्त प्रविष्ट हो गये और इस प्रकार हठात् भारतीयो के व्यवहारो एव आचारो को ब्रिटिश राजकीय पत्रो मे प्रतिष्ठा मिल गयी।[1] ब्रिटिश पार्लियामेन्ट एव भारतीय विधानसभाओ ने कालान्तर मे शासन एव न्याय-सम्वन्वी व्यवहार (कानून) मे इन आचारो को महत्ता प्रदान की है। देखिए इस विपय मे पाद-टिप्पणी।[2] इस तरह क्रमश नये-नये कानूनो द्वारा उत्तराधिकार, रिक्थ, विवाह, जाति, धार्मिक सस्थाओ आदि के विपय मे प्राचीन आचार-व्यवहार सवधी नियमो को प्रतिष्ठा मिलती चली गयी।

विवादो की चर्चाओ के सिलसिले मे वहुत-से आधारभूत तत्त्व प्रकट होते चले गये। प्रश्न यह उठा कि किसी नियम के प्रतिपादन ये कितने पुराने प्रमाणो को स्थान दिया जाय। मिताक्षरा (याज्ञ० २।२७) ने स्मार्त काल (जितने पुराने काल तक स्मरण की पहुँच हो सके) को, किसी भोग के सम्वन्ध मे एक सौ वर्ष की अवधि का माना है, किन्तु कात्यायन एव व्यास ने केवल साठ वर्ष की सीमा वाँध दी है।[3] किसी आचार के प्रचलन के प्रमाण के लिए २०, ३०, ८० या ९० वर्ष भी न्यायालयो द्वारा स्वीकृत हुए है और यह कहा गया है कि यदि प्रमाण के विरोध मे कोई अन्य साक्ष्य (गवाही)

१—Vide Lopes v Lopes 5 Bom H C R (O C J) 172, 183

२—37, Geo III Chap 142 (1796 AD), Sec 13, Bombay Regulation IV of 1827, Sec 26, The Government of India Act of 1915 (5 & 6 Geo V Chap 61, Sec 112), Government of India Act 1935 (25 Geo V Chap 2, Sec 223), the Madras Civil Courts Act (III of 1873, Sec 16), the Bengal, North-West Provinces and Assam Civil Courts Act (XII of 1887 Sec 37), Central Provinces Laws Act (XX of 1875, Sec 5), the Oudh Laws Act (XVIII of 1876, Sec 3), the Bengal Laws Act (XVI of 1872, Sec 5)

३. मुख्या पैतामही भुक्ति· पैतृकी चापि समता। त्रिभिरेतैरविच्छिन्ना स्थिरा पष्टयव्दिकी मता॥ कात्या० (अपरार्क पृ० ६३६)। वर्पाणि विंशति भुक्ता स्वामिनाव्याहता सती। भुक्ति सा पौरुपी भूमेर्द्विगुणा तु द्विपौरुपी। त्रिपौरुपी च त्रिगुणा न ततोन्वेष्य आगम.॥ व्यास (स्मृतिचन्द्रिका, भ० २, पृ० ७५)।

न उठ खड़ा हो तो इतने पुराने आचार वैधानिक ही समझे जायेंगे और यह कहा जायगा कि उनके पीछे पूर्वजों की परम्पराएँ रही हैं। आचार की प्रामाणिकता की सिद्धि के लिए उदाहरणों की आवश्यकता होती है, किन्तु इस विषय में उदाहरणों की संख्या पर कोई बल नहीं दिया जाता ऐसा आधुनिक न्यायालयों ने निर्णय दिया है। कुछ विशिष्ट विषयों में विशिष्ट उदाहरणों की आवश्यकता नहीं भी समझी जाती किन्तु ऐसे लोगों की सम्मतियाँ जो किसी आचार के अस्तित्व की जानकारी रखने के योग्य समझे जाते हैं, अधिक बल रखती हैं भले ही उनके पीछे कोई विशिष्ट उदाहरण या दृष्टान्त न हो। इस विषय में यह कह देना आवश्यक है कि पुराने काल के बहुत-से आचार, विशेषतः कुआचार किसी अचानक घटना प्रचलित मनोभाव में परिवर्तन या सम्बन्धित व्यक्तियों की सहमति के कारण कभी-कभी अप्रचलित मान लिये जाते हैं। किसी जाति में यदि ममेरी बहिन से विवाह आचार द्वारा व्यवस्थित है तो इससे यह अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि मौसी या फूफी की पुत्री से भी विवाह करना वैधानिक होगा। देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २, अ ९। किसी आचार की सिद्धि प्रयोग अथवा रीति की एकरसता एवं अनवरतता पर निर्भर रहती है ऐसा नहीं है कि आचार की उत्पत्ति केवल आचरण अनुकरण एवं अबोधता या पारस्परिक समझौते से होती है। आचार अयुक्तिसंगत नहीं होना चाहिए। हमने देख लिया है कि हिन्दू समाज में पुत्रियों को उत्तराधिकार से वंचित करना अयुक्तिसंगत नहीं माना गया है। प्राचीन काल में किसी मन्दिर अथवा उसकी पूजा पर किसी विशिष्ट जाति का अधिकार आचारसंगत या युक्तिसंगत समझा जा सकता था किन्तु यह आज की सुसंस्कृत वृत्तियों की दृष्टि से गर्हित-सा लगता है।

आचार को अनैतिक नहीं होना चाहिए। आचार की अनैतिकता सम्पूर्ण जाति की भावना से समझी या जाँची जा सकती है। वह आचार, जो नीच जातियों की स्त्री को बिना तलाक दिये या बिना जाति को कुछ धन दिये दूसरा विवाह करने की अनुमति देता है अनैतिक समझा जाता है और बम्बई के उच्च न्यायालय ने इस विषय में स्पष्ट निर्णय दिया है। बम्बई के उच्च न्यायालय ने नर्तकियों द्वारा दत्तक-पुत्रिका ग्रहण करना अवैधानिक माना है किन्तु मद्रास के उच्च न्यायालय ने इसे वैधानिक माना है यदि उस पुत्रिका का ग्रहण वेश्यावृत्ति के उद्देश्यों से न किया जाय। ब्रह्मपुराण (१११।१५ एवं ४४-४६) का कथन है कि जातियों में कई प्रकार के विवाह प्रचलित हैं यथा वधू को बलपूर्वक उठा ले जाकर विवाह करना अथवा (वर के) वृत्तियों से विवाह करना। कुछ जातियों में कृपाण-विवाह प्रचलित है। आधुनिक काल में कृपाण एवं तलवार-विवाह न्यायालयों द्वारा शूद्रों के लिए भी अवैधानिक कहा गया है।

बहुत-से आचार एवं रीतियाँ आज कानूनों द्वारा वर्जित कर दिये गये हैं यथा सती, शिशु-हत्या, वयस्क अवस्था तक बच्चों के विवाह, मन्दिरों में देवदासियों के रूप में स्त्रियों का समर्पण। ऐसा हो जाने पर कोई न्यायालय आज किसी को इन विषयों में आचार का सहारा नहीं लेने देगा।

जिस प्रकार किसी समय प्रचलित आचार एवं व्यवहार समाप्त हो सकते हैं अथवा अमान्य ठहराये जा सकते हैं, यह बात गत अध्याय के वक्तव्यों से प्रमाणित हो जाती है। उस अध्याय में कुछ वैधानिक वक्तव्यों का भी वर्णन कर दिया गया है।